उन्नत मौद्रिक अर्थशास्त्र

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
नयी दिल्ली-११०००२

अनुक्रम

तृतीय भाग

चतुर्थ भाग

पंचम भाग

1
मुद्रा की प्रकृति
(Nature of Money)

प्रारम्भिक

"मुद्रा मानवीय खोजों की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आधारशिला है। ज्ञान की प्रत्येक शाखा में आधारभूत खोज रहती है जैसे यन्त्रों में पहिया, विज्ञान में अग्नि, राजनीति में वोट आदि। इसी प्रकार अर्थशास्त्र में, मानवीय सामाजिक अस्तित्व के व्यावसायिक दृष्टिकोण से मुद्रा ही एक महत्त्वपूर्ण खोज है, जिस पर समस्त क्रियाएं निर्भर होती हैं।"[1] प्रारम्भ से ही मानव ऐसी वस्तुओं की खोज करता रहा है जो उसको सुख पहुंचाएं। प्रारम्भिक अवस्था में मानव आत्मनिर्भर होते थे, आवश्यकताएं सीमित व जीवन सादा रहता था। परन्तु सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्य की आवश्यकताएं भी बढ़ीं, जिन्हें वह स्वयं पूर्ण करने में असमर्थ रहा। परिणामस्वरूप उसकी आवश्यकताएं अपूर्ण रहने लगीं और उसे अपार कष्ट का सामना करना पड़ा जिसने आविष्कार को जन्म दिया और विशिष्टीकरण को प्रोत्साहित किया एवं आधिक्य वस्तुओं को विनिमय में देकर अन्य व्यक्तियों से अपनी आवश्यकता की वस्तुओं को प्राप्त करने के प्रयास किए जाने लगे। कुछ समय के पश्चात् शिकार करने के लिए हथियारों की आवश्यकता पड़ी, जिसकी पूर्ति ऐसे लोग करने लगे जो स्वयं अस्त्र-शस्त्र बनाने में निपुण थे। कुछ अन्य व्यक्तियों ने शिकार से तंग आकर पशुपालन प्रारम्भ कर दिया। इसी प्रकार खेती करने वाले एवं कपड़ा बुनने जैसे अनेक छोटे-छोटे उद्योग-धन्धे प्रारम्भ हो गए। परिणामस्वरूप समाज में विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन करने वाले वर्गों का उदय हो गया।

वर्तमान आर्थिक पद्धति विनिमय पद्धति पर ही आधारित है क्योंकि विनिमय एक ऐसी धुरी है जिसके चारों ओर आर्थिक मशीनरी चक्कर लगाती है। मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए विनिमय क्रिया पर ही आधारित है। एक व्यक्ति द्वारा उत्पादित किया गया समस्त माल स्वयं उसके द्वारा उपभोग नहीं हो पाता, बल्कि उसका अधिकांश भाग दूसरे व्यक्तियों की आवश्यकता की पूर्ति करने में विनिमय द्वारा कार्य में लाया जाता है। विनिमय अर्थव्यवस्था मुद्रा के बिना भी कुशलतापूर्वक कार्य कर सकती है, परन्तु मुद्रा के अभाव में विनिमय की असुविधाओं को दूर नहीं किया जा सकता और इसी कारण मानव के इतिहास में मुद्रा को एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया जाता है। मुद्रा के उपयोग ने व्यापार एवं विनिमय को विविध प्रकार की सुविधाएं दी हैं। वर्तमान उत्पादन प्रायः बाजार की बिक्री एवं खपत पर निर्भर करता है। आन्तरिक एवं विदेशी व्यापार की मात्रा में वृद्धि करने के लिए, मुद्रा का उपयोग आवश्यक है। मनुष्य व्यापार करने में लगा रहा तथा विनिमय द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता रहा। सामाजिक प्रगति के साथ-साथ विनिमय का कार्य भी अधिक लाभप्रद होता गया तथा विनिमय ने समाज में एक महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया। विनिमय पर ही उत्पादन, उपभोग एवं वितरण निर्भर करता है।

1. "Money is one of the most fundamental of all Man's inventions. Every branch of knowledge has its fundamental discovery. In mechanics it is the wheel, in science fire, in politics the vote. Similarly, in economics, in the whole commercial side of Man's social existence, money is the essential invention on which all the rest is based.'—G. Crowther: 'An Outline of Money' (Thomas Nelson & Sons Ltd., New York) 1958, p. 4.

वस्तु विनिमय प्रणाली
(Barter System)

विनिमय का अर्थ

"तुलनात्मक कम-आवश्यक वस्तु से तुलनात्मक अधिक-आवश्यक वस्तु के अदल-बदल को विनिमय कहते हैं"—(जेवन्स)[1]। इस प्रकार दो पक्षों के मध्य धन या वस्तु का वैधानिक, ऐच्छिक एवं पारस्परिक हस्तांतरण ही विनिमय कहलाता है। एक वस्तु या सेवा किसी दूसरी वस्तु या सेवा के बदले में प्राप्त की जाए तो उसे वस्तु-विनिमय कहते हैं। "व्यापारिक पशु के रूप में मनुष्य की प्रारम्भिक अवस्था में उसका व्यापार मुख्यतः विनिमय पर ही आधारित था।"[2] प्रारम्भ में अनेक प्रकार की वस्तुओं को मुद्रा के रूप में प्रयोग किया गया। सभ्यता के विकास के साथ-साथ इन रूपों में परिवर्तन होते रहे। विनिमय के लिए यह समझा जाने लगा कि धन का हस्तांतरण निम्न गुणों से युक्त होना आवश्यक है—(1) धन का हस्तांतरण पारस्परिक होना चाहिए, (2) धन का हस्तांतरण ऐच्छिक होना चाहिए, एवं (3) धन का हस्तांतरण वैधानिक होना चाहिए। यदि किसी हस्तांतरण में ये गुण नहीं हैं तो ऐसे हस्तांतरण को दान या भेंट कहेंगे। विनिमय का प्रमुख उद्देश्य आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करना होता है, जिससे मनुष्यों की आवश्यकता की सन्तुष्टि हो सके। वर्तमान समय में विनिमय के लिए मुद्रा का उपयोग होता है, क्योंकि वस्तु विनिमय में अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

वस्तु विनिमय के गुण

प्रो० म्यूलर के अनुसार वस्तु विनिमय में निम्न गुण पाए जाते थे :—

(1) पारस्परिक सम्पर्क में वृद्धि : वस्तु विनिमय के अन्तर्गत मनुष्य आवश्यकता की वस्तुएं प्राप्त करने दूर-दूर स्थानों तक जाने लगे जिसमें पारस्परिक सम्पर्क में वृद्धि हुई।

(2) राष्ट्रीय आय में वृद्धि : जो व्यक्ति जिस वस्तु के उत्पादन में कुशल होता था उसी के उत्पादन पर अपनी सारी शक्ति लगा देता था, जिससे उत्पादन एवं राष्ट्रीय आय में वृद्धि हो गयी थी।

(3) अधिकतम सतुष्टि : प्रत्येक उत्पादक अतिरिक्त वस्तुएं बेचकर बदले में आवश्यकता की वस्तुएं प्राप्त करता था जिसमें अधिकतम उपयोगिता का लाभ उठाकर वह अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त कर सकता था।

(4) गुलामी से मुक्ति : व्यक्ति काम के बदले वस्तुएं प्राप्त करता था और अतिरिक्त मात्रा को अन्य वस्तुओं से बदलकर आवश्यकता की पूर्ति करता था, जिससे उसे गुलामी से मुक्त रहने के अवसर प्राप्त हुए।

वस्तु विनिमय की सम्भावना
(Possibility of Barter System)

वस्तु विनिमय केवल निम्न परिस्थितियों में ही सम्भव हो सकता था —

(1) सीमित उत्पादन : वस्तु विनिमय उसी समाज में सम्भव हो सकता था जहां पर केवल सीमित वस्तुओं का ही उत्पादन सम्भव हो पाता हो।

(2) मुद्रा का कम प्रचार : जिस देश में मुद्रा का प्रचार कम मात्रा में हो, वहीं पर वस्तु विनिमय भी सम्भव हो सकता था जैसे भारत के गावों में मुद्रा के कम प्रचार के कारण वस्तु विनिमय प्रथा प्रचलित रही।

(3) सीमित क्षेत्र : सीमित क्षेत्र में ही वस्तु विनिमय सफलतापूर्वक सम्पन्न हो सकता था। वर्तमान समय में लेन-देन के क्षेत्र में वृद्धि होने से वस्तु विनिमय में कठिनाइयां उत्पन्न हुईं।

1. "Exchange is the barter of the comparatively superfluous with the comparatively necessary."
—Jevons.

2. "In the earliest stages of Man as a commercial animal, his trading consisted entirely of barter."—G. Crowther : 'An Outline of Money' (Thomas Nelson & Sons Ltd.) 1958, p. 2.

(4) पिछड़ी अवस्था : यदि देश की अर्थव्यवस्था पिछड़ी हुई अवस्था मे है तो लेन-देन कम मात्रा मे होने के कारण वस्तु विनिमय सफलतापूर्वक चल सकता है।

(5) मुद्रा में कम विश्वास : जनता का मुद्रा मे कम विश्वास होने पर भी वस्तु विनिमय पद्धति सफल हो सकती है जैसे अधिक स्फीति के समय वस्तु विनिमय ही व्यवसाय का आधार रहा।

(6) परिवहन का अविकसित होना : यदि देश मे परिवहन के साधनों का सीमित विकास हुआ है तो आपसी लेन-देन सीमित होंगे, और बेंकिंग सुविधाओ का अभाव बना रहेगा जिससे वस्तु विनिमय सम्भव हो सकेगा।

वस्तु विनिमय को कठिनाइयां

वस्तु विनिमय की प्रमुख कठिनाइया निम्नलिखित हैं—

(1) दोहरे संयोग का अभाव (Lack of Double Coincidence) : विनिमय के लिए दो वस्तुओ एव दो व्यक्तियो की उपस्थिति से ही कार्य पूर्ण नही हो पाता, बल्कि ऐसे दो व्यक्तियो की उपस्थिति आवश्यक है, जिनके पास वह वस्तु आधिक्य मे हो, जिसकी दूसरे व्यक्ति को आवश्यकता है। उदाहरणार्थ यदि कोई व्यक्ति अनाज को कपड़े मे बदलना चाहता है, तो उसे ऐसे व्यक्ति की तलाश करनी होगी जो न केवल अनाज की माग करता हो, बल्कि उसके पास देने को कपड़ा भी फालतू हो। ऐसा दोहरा सयोग व्यावहारिक जगत मे संयोग से ही प्राप्त होता है, क्योंकि यह कोई आवश्यक नही है कि एक व्यक्ति के पास जो वस्तु आधिक्य मे हो, उसकी आवश्यकता किसी ऐसे व्यक्ति को ही हो जिसके पास पहले व्यक्ति की आवश्यकता की वस्तु आधिक्य मे हो। इस प्रकार जब तक ऐसी परस्पर आवश्यकताओ का दोहरा संयोग सम्भव न हो उस समय तक वस्तु विनिमय सम्भव ही नही हो सकता। प्रारम्भ मे जब मनुष्य की आवश्यकताए अत्यन्त सीमित मात्रा मे थी, उस समय ऐसे दोहरे संयोग प्रायः मिल जाते थे, परन्तु आवश्यकताओ की वृद्धि होने पर, आवश्यक वस्तुओ की मांग बढने लगी और दोहरे संयोग स्थापित करने मे कठिनाइया उपस्थित होने लगी।

(2) वस्तुओं की अविभाजकता (Indivisibility of Articles) : विनिमय की जाने वाली वस्तुओ मे कुछ वस्तुएं ऐसी होती थी, जिन्हें छोटी-छोटी इकाइयो मे विभाजित करना सम्भव नही होता, और यदि ऐसा किया भी जाए तो उनकी उपयोगिता कम या समाप्त हो जाती है। इस प्रकार जब किसी व्यक्ति के पास ऐसी अविभाजक वस्तु होती थी, जिसके बदले मे उसे कम मूल्य की विभिन्न प्रकार की वस्तुए विभिन्न व्यक्तियो के पास उपलब्ध हो सकती थी, तो इसके प्राप्त करने मे उसे अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। उदाहरणार्थ एक बैल या बकरी अविभाजनीय होने से उसे काटकर बेचने से जो मूल्य प्राप्त होगा वह सम्पूर्ण बैल के बेचने से कम होगा। यदि एक व्यक्ति के पास एक बैल हो और वह उसके बदले मे गेहू, कपडा, तेल आदि लेना चाहता हो तो उन वस्तुओं को प्राप्त करना कठिन होगा, क्योकि उसे एक ऐसे व्यक्ति का मिलना कठिन होगा जिसे बैल की आवश्यकता हो और उसके बदले में उसके पास गेहूं, कपड़ा व तेल आदि वस्तुए आधिक्य मे हों जिनकी बैल के स्वामी को आवश्यकता हो। यदि बैल के टुकड़े करके विभिन्न व्यक्तियो से वस्तुएं प्राप्त की जाए, तो उसे अधिक हानि सहन करनी होगी। इस प्रकार वस्तु की अविभाजकता भी वस्तु विनिमय की कठिनाई को जन्म देती है।

(3) मूल्य के हस्तांतरण का अभाव (Lack of Transfer of Value) : मूल्य या क्रय शक्ति को एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजना प्राय. कठिन होता था और विनिमय की जाने वाली वस्तुओ को ले जाना सम्भव नही होता था। उदाहरणार्थ यदि किसी व्यक्ति के पास 4 मकान या 100 बैल हैं, तो उन्हें एक स्थान से हटाकर दूसरे स्थान तक ले जाना सम्भव नही होता था। यदि बैलो को ले जाया भी जाए तो उन्हे दूर तक ले जाना सरल नही था। मूल्य के इस हस्तातरण की कठिनाई के कारण समाज का विकास तीव्र गति से सम्भव न हो सका।

(4) स्थगित भुगतान का अभाव (Lack of Deferred Payment)—समाज मे अनेक व्यवहार ऐसे होते हैं, जिनका भुगतान तत्काल न करके कुछ समय बाद किया जाता है, परन्तु विनिमय के अन्तर्गत ऐसी उपयुक्त वस्तुए उपलब्ध नही हो पाती थी, जिन्हें स्थगित भुगतानों के लिए रोक कर रखा जा सके, क्योकि समस्त वस्तुएं दीर्घकालीन एवं टिकाऊ नही होती हैं तथा इन वस्तुओ को यदि थोड़े समय के लिए संचय करके रखा भी जाए तो उनकी कीमतो मे इतना उच्चावचन हो जाता था कि व्यक्तियो को हानि का सामना करना पडता था, जिससे स्थगित भुगतान मे इसका उपयोग सम्भव न हो सका।

(5) सामान्य मूल्य मापक का अभाव (Lack of Common Value Measure) : वस्तु विनिमय में मूल्य का कोई सामान्य मापक न होने से वस्तुओं की अदल-बदल का अनुपात निश्चित करने में अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। वस्तु विनिमय में यह जानना आवश्यक है कि कितनी वस्तु के बदले दूसरी कितनी वस्तु दी जाए—जैसे एक व्यक्ति अपने कम्बल का मूल्य 15 किलो दूध समझे, जबकि दूध का मालिक कम्बल को घटिया समझकर बदले में 10 किलो दूध ही देने को तत्पर हो तो सौदा सम्भव नहीं हो सकता था। इस प्रकार जब तक विनिमय की जाने वाली वस्तुओं का अनुपात निश्चित न हो जाए उस समय तक वस्तुओं का विनिमय करना सम्भव न हो सकेगा। इसके अतिरिक्त मनुष्य की आवश्यकताओं में अनेक वस्तुएं सम्मिलित होती हैं और उन सब को प्राप्त करने के लिए अनेक वस्तु-अनुपात ज्ञात करने होंगे, जिन्हें ज्ञात करना एवं याद रखना अत्यन्त कठिन होगा।

(6) मूल्य संचय का अभाव (Lack of Store of Value) : वस्तु विनिमय के अन्तर्गत वस्तुओं को भविष्य के प्रयोग के लिए क्रय शक्ति के संचय के रूप में संचय करने की कोई उचित व्यवस्था नहीं होती। समस्त वस्तुएं नाशवान होती हैं और उन्हें भविष्य के लिए सुरक्षित नहीं रखा जा सकता। उदाहरणार्थ यदि धन को गेहूं, साग, सब्जी आदि के रूप में संचय करके रखा जाय तो वह एक-दो वर्ष से अधिक सुरक्षित नहीं रखे जा सकते। इस प्रकार वस्तुओं को मूल्य संचय के रूप में सुरक्षित रखना कठिन हो जाता है।

वस्तु विनिमय की इन कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए, मनुष्य के लिए यह आवश्यक हो गया कि कोई ऐसा साधन खोजा जाए जिससे कि ये कठिनाइयां दूर की जा सकें। यह नवीन साधन ऐसा होना चाहिए जो विनिमय का माध्यम एवं मूल्य-मापक का कार्य कर सके। इसके लिए मुद्रा का प्रयोग बढ़ा। "यह लगभग असम्भव है कि वस्तु विनिमय करने वाले व्यक्तियों की सामूहिक पारस्परिक इच्छाएं, जैसे वस्तु के भेद, गुण एवं मूल्य के सम्बन्ध में पूर्ण हो सकें, विशेषकर एक आधुनिक अर्थव्यवस्था में जहां एक ही दिन में लाखों व्यक्ति, लाखों वस्तुओं का विनिमय करते हों।"[1]

वस्तु विनिमय की कठिनाइयों को निम्न चार्ट के रूप में रखा जा सकता है :—

वस्तु विनिमय की कठिनाइयां

दोहरे संयोग का अभाव	वस्तुओं की अविभाज्यता	मूल्य के हस्तांतरण का अभाव	स्थगित भुगतान का अभाव	सामान्य मूल्य मापक का अभाव	मूल्य संचय का अभाव

आधुनिक युग में वस्तु विनिमय
(Barter in Modern Age)

यदि आज के औद्योगिक युग में वस्तु विनिमय का प्रयोग किया जाए तो अनेक उलझनें उत्पन्न होंगी, जोकि निम्न हैं :—

(1) पूंजी निर्माण का अन्त : वस्तु विनिमय व्यवस्था के अन्तर्गत संचय का कोई उचित माध्यम न होने के कारण पूंजी का निर्माण सम्भव नहीं हो सकेगा। वस्तु विनिमय प्रणाली में आधुनिक बाजार व्यवस्था का अन्त होकर बड़े पैमाने की औद्योगिक अर्थव्यवस्था समाप्त हो जाएगी।

(2) विशिष्टीकरण की समाप्ति : वस्तु विनिमय में प्रत्येक दुकानदार वस्तु के बदले वस्तुएं ही प्राप्त करेगा

1 "It is next to impossible that all the wishes of bartering individuals should coincide as to the kind, quality and value of the things which are mutually desired, especially in a modern economy in which on a single day millions of persons may exchange millions of commodities and services." — G N Halm . 'Monetary Theory', p. 1.

जिससे दुकानो का विशिष्टीकरण समाप्त हो जाएगा। इससे आधुनिक व्यापार का सुव्यवस्थित क्रम ही समाप्त हो जाएगा।

(3) साख का अन्त : वस्तु विनिमय मे एक वस्तु के बदले दूसरी वस्तु तुरन्त स्वीकार करनी होगी जिससे समस्त सौदे नकद मे होंगे और इस प्रकार से उधार लेन-देन समाप्त हो जाएगा।

(4) लाभ-हानि खातों का अभाव - वस्तु विनिमय के अन्तर्गत व्यापारी लाभ-हानि का व्योरा तैयार नही कर सकेंगे और वास्तविक लाभ का हिसाब लगाना कठिन होगा।

वर्तमान समय मे वस्तु विनिमय का स्थान मुद्रा विनिमय ने ले लिया है, फिर भी यह सोचना गलत है कि वस्तु विनिमय प्रथा सर्वथा समाप्त हो ही गई है। आज अविकसित एवं विकसित राष्ट्रो में वस्तु विनिमय प्रणाली किसी न किसी रूप मे प्रचलित है। उदाहरणार्थ नवीन कार के व्यापार मे उसके मूल्य के भुगतान मे काफी मात्रा मे पुरानी कारें दी जाती हैं तथा शेष भाग मुद्रा के रूप मे भुगतान होता है। इसी प्रकार अर्द्ध-विकसित राष्ट्रो मे गावो मे कृषक द्वारा अपनी आवश्यकताओ की अनेक वस्तुओ के रूप मे मुद्रा देने के स्थान पर खेतो पर उत्पन्न होने वाला अनाज दिया जाता है। आर्थिक भार एवं कठिनाइयों के समय भी वस्तु विनिमय प्रणाली ही उपयोगी सिद्ध होती है। सं० रा० अमेरिका मे भी सन् 1932 व 1933 के घरेलू संकट के समय वस्तु विनिमय का सहारा लिया गया। इसी प्रकार जर्मनी में द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् भारी मुद्रा-प्रसार होने पर वस्तु विनिमय पर ही निर्भर रहना पड़ा। भारत के अनेक गावों मे आज भी मजदूरी का भुगतान नकदी मे न होकर वस्तुओ के रूप मे किया जाता है। इसी प्रकार जब किसी राष्ट्र मे मुद्रा की कुल मात्रा व्यापारिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने मे असमर्थ हो तो वस्तु विनिमय प्रणाली का ही चलन होता है। वर्तमान समय में विदेशी व्यापार मे वस्तु विनिमय का चलन विश्वव्यापी स्तर पर प्रारम्भ हो गया है। विदेशी माल के बदले मे विदेशी मुद्रा में भुगतान करने के स्थान पर द्विपक्षीय एवं बहुपक्षीय समझौतो द्वारा भुगतान करने के प्रयास किए जाते हैं। विश्व के अर्द्ध-विकसित राष्ट्र व्यापारिक समझौते वस्तु विनिमय के आधार पर ही करते हैं। वर्तमान समय मे द्विपक्षीय समझौता पुरानी वस्तु विनिमय पद्धति का एक सुधरा हुआ रूप ही है। इन समझौतों का विदेशी व्यापार मे महत्त्व बढ़ता ही जा रहा है।

मुद्रा का प्रादुर्भाव
(Evolution of Money)

समाज के विकास के साथ-साथ वस्तु विनिमय की कठिनाइयां बढ़ती गईं और मनुष्य को अनेक प्रकार की असुविधाएं होने लगी। ऐसे समय मे यह अनुभव किया गया कि कोई ऐसी प्रणाली प्रयोग की जाए जो वस्तु विनिमय की कठिनाइयो को दूर करते हुए समाज की आर्थिक एवं सामाजिक उन्नति मे सहायक सिद्ध हो सके। वस्तु विनिमय की कठिनाइयों से बचने के लिए ही मुद्रा का जन्म हुआ, जिसके आधार पर वस्तुओ व सेवाओ के मूल्यो को मापा जाने लगा। "जैसे ही मुद्रा की खोज हुई, यह मानव की इच्छाओं का उद्देश्य बन गई, क्योकि यह कोई भी वस्तु खरीद सकेगी और यह समस्त वस्तुओं से श्रेष्ठ समझी जाने लगी। वास्तव मे मूल्य क्या था और मनुष्य वास्तव में क्या चाहता था, वह एक ऐसी सम्पत्ति थी, जिसे मुद्रा क्रय कर सकेगी।"[1] मुद्रा के रूप मे कार्य करने वाली वस्तु सदैव से ही एक मूल्यवान वस्तु रही। मुद्रा के जन्म के सम्बन्ध मे कहा जाता है कि इसकी खोज किसी ने नही की वरन् यह मनुष्य को स्वतः ही प्राप्त हो गई। समाज में जैसे-जैसे विनिमय का चलन बढ़ता गया वैसे ही वैसे प्रगतिशील जातियों ने किसी न किसी रूप मे विनिमय माध्यम का प्रयोग किया और उसी को मुद्रा के रूप मे प्रयोग किया जाने लगा। प्रथम विचार का विचार है कि मुद्रा का जन्म विशिष्टीकरण के साथ हुआ। वस्तु विनिमय मे वस्तुओ के मूल्य आकने की समस्या बनी रहती थी, अतःमूल्य के एक समान मापक की खोज की गई। परन्तु इससे समस्त कठिनाइयों का अन्त नही हो सका और यह कठिनाई उस समय दूर हुई, जबकि मूल्य का मापक विनिमय के माध्यम का भी कार्य करने लगा। इस प्रकार मुद्रा के महत्त्व को अनुभव करके इसका प्रचलन व प्रयोग बढ़ा।

प्रारम्भ मे वस्तुओ को ही मुद्रा के रूप मे प्रयोग किया गया। इसके लिए ऐसी वस्तुओं का चुनाव किया जाता था जो सर्वसाधारण द्वारा स्वीकृत हों तथा जिनकी विस्तृत व अपरिवर्तनीय माग हो। प्रारम्भ मे गेहूं, चावल, तम्बाकू आदि

1. "As soon as money was invented it became the object of men's desire. Since it would purchase anything, it became supremely worth having What was really of value, what men really wanted, was the wealth that money would buy."—G. Crowther : 'An Outline of Money', p. 5.

ही इसके लिए प्रयोग किया गया। सभ्यता के विकास के साथ-साथ गहनों सम्बन्धी वस्तुओं की मांग बढ़ी और कीमती धातुओं को विनिमय के रूप में प्रयोग किया जाने लगा। बाद में स्वर्ण, चांदी एवं तांबे को मुद्रा के रूप में प्रयोग किया जाने लगा। ये वस्तुएं कीमती व टिकाऊ होती थी, इनकी मांग अधिक रहती थी और इन्हें सर्वसाधारण द्वारा स्वीकार किया जाता था। समय एवं परिस्थितियों के साथ-साथ मुद्रा का स्वरूप भी बदलता रहा है।

बाद में सिक्कों को मुद्रा के रूप में प्रयोग किया जाने लगा। प्रारम्भ में धातुओं को छड़ों के रूप में प्रयोग किया गया। सिक्कों पर किसी न किसी प्रकार की सरकारी मुद्रा रहती थी, जिससे उसे सरलता से पहचाना जा सके। कागज को भी मुद्रा के रूप में प्रयोग किया जाने लगा जिसे कागजी मुद्रा के नाम से जानते थे। इस प्रकार कागजी मुद्रा बैंक एवं सरकारी मुद्रा के रूप में प्रचलित हुई जो विभिन्न स्थितियों से होकर गुजरी। मनुष्यों ने इस कागजी मुद्रा पर कम विश्वास किया। फिर भी बड़े-बड़े व्यवहारों में कागजी मुद्रा का ही प्रयोग किया जाता था। प्रथम विश्व-युद्ध तक कागजी मुद्रा को स्वर्ण में परिवर्तन करने की सुविधा प्राप्त थी। कागजी मुद्रा के साथ-साथ मुद्रा का प्रचलन भी बढ़ा, जो व्यवसायी वर्ग में अधिक लोकप्रिय सिद्ध हुआ। वर्तमान समय में साख या बैंक मुद्रा समस्त बड़े व्यवहारों में प्रयोग की जाती है। साख मुद्रा के आधार पर अपने ही देश एवं विदेश में भुगतान करने में काफी सुविधा प्राप्त हो जाती है। परन्तु इसका स्वरूप मुद्रा से सर्वथा भिन्न होता है। यह एक विधि ग्राह्य नहीं है और इसी कारण इसकी स्वीकृति स्वैच्छिक है, अनिवार्य नहीं। इसका व्यवहार प्राय आपसी विश्वास पर निर्भर करता है। वर्तमान समय में संसार के विकसित राष्ट्रों में भुगतान का एक बड़ा हिस्सा बैंक-मुद्रा द्वारा ही दिया जाता है। "मुद्रा, सभ्यता के अन्य प्रमुख तत्वों की भांति, एक प्राचीन संस्था के रूप में है, जिसके सम्बन्ध में कुछ वर्षों पूर्व बताया गया था।"[1] मुद्रा का विकास कई स्थितियों में हुआ है। कभी वास्तविक वस्तुओं को मुद्रा के रूप में प्रयोग किया जाता था। "सोना व चांदी को वास्तव में मुद्रा के रूप में चुना गया, क्योंकि अन्य वस्तुओं की तुलना में इनका अभाव था, और इस अभाव ने उसे मूल्यवान बना दिया।"[2] किसी भी पदार्थ का मूल्य उसकी मांग एवं पूर्ति द्वारा ही निर्धारित किया जाता है। इसलिए किसी भी वस्तु के मूल्यवान होने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी मांग हो व साथ ही साथ अभाव भी हो। स्वर्ण व चांदी की मांग, जेवर एवं अन्य सजावट के कार्यों में भी प्रयोग होने से बढ़ी और उसे मूल्यवान धातु समझा गया। वर्तमान समय में स्वर्ण के स्थान पर कागजी मुद्रा एवं बैंक नोट आदि का प्रचलन काफी बढ़ गया है।

मुद्रा के विकास को निम्न प्रकार रखा जा सकता है :—

(1) आखेट युग में मुद्रा : इस युग में खालों का प्रयोग मुद्रा के रूप में होने लगा। रोम कार्थेज तथा रूस में चमड़े की मुद्रा ही चलन में थी।

(2) चरागाह युग में मुद्रा : इस युग में बैल को मूल्य का मापक माना गया। होमर की कविताओं में उल्लेख है कि दासों का मूल्य 9 बैलों के बराबर था। इसी प्रकार दासों का मूल्य भी बैलों में ही आंका गया। जर्मनी में जुर्माना भी पशुओं में किया जाता था। दक्षिणी सूडान में दिनका नामक चरवाह जाति अपनी सम्पत्ति का मापन पशुओं में करती है।

(3) कृषि युग में मुद्रा : इस युग में अनाज को मुद्रा के रूप में काम में लिया जाने लगा। ग्रीस, नार्वे एवं अमेरिका के मेरीलैण्ड नामक प्रदेश में अनाज को ही वैधानिक मुद्रा घोषित किया गया। तम्बाकू को भी मुद्रा के रूप में प्रयोग किया गया। 1618 में वर्जीनिया में तम्बाकू को ऋणों के भुगतान में 3 शि० प्रति पौंड के हिसाब से स्वीकार किया गया था।

(4) औद्योगिक युग में मुद्रा : मशीनों के प्रयोग से धातु मुद्रा को प्रयोग में लाया जाने लगा। परन्तु अधिक भार व अधिक जगह घेरने के कारण इसके प्रचलन में अनेक कठिनाइयां उपस्थित हुईं।

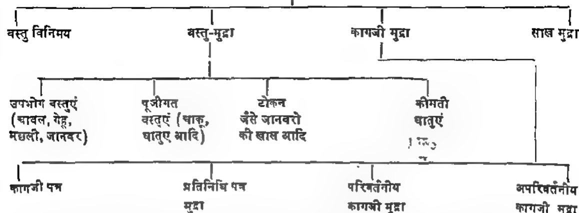
(5) आधुनिक युग में मुद्रा : वर्तमान समय में कहीं-कहीं पर चांदी व सोने की मुद्राओं का चलन है। अधिकांश देशों में भारीपन, महंगापन, एवं अधिक स्थान घेरने के कारण धातु मुद्राएं समाप्त होती जा रही हैं। इनके स्थान पर कागजी मुद्रा का प्रचलन बढ़ता जा रहा है। अमेरिका में चैक का प्रचलन भी कष्टदायक माना जाने लगा है और अब केवल

1 "Money, like certain other essential elements in civilisation, is a far more ancient institution than we were taught to believe some few years ago "—J. M. Keynes : 'A Treatise on Money' (Macmillan & Co. Ltd. London) 1953, p. 13.

2. "Gold and silver were originally chosen as money because they were, among other things, fairly scarce and their scarcity made them valuable."— G. Crowther : 'An Outline of Money', p. 9.

टेलीफोन पर सूचना देने से ही जमा या खर्च लिखकर व्यवहार किए जाने लगे हैं।

मुद्रा के विकास को निम्न चार्ट द्वारा समझाया जा सकता है :



मुद्रा के विकास के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि प्राचीन समय मे मुद्रा के आगमन के पूर्व पत्थर, दांत एवं अन्य वस्तुएं मुद्रा के रूप मे प्रयोग की जाती रही हैं। जर्मनी में 1945-1946 मे सिगरेटो को भुगतान के रूप मे प्रयोग किया जाता था। भिन्न-भिन्न समय मे माध्यम के रूप मे जिन-जिन वस्तुओं का प्रयोग किया गया उन्हे निम्न प्रकार रखा जा सकता है[1] :—

मिट्टी	गायें	बकरे	लोहा
खालें	पत्थर	दास-लोग	निकिल
दांत	खुर	चावल	कागज
जानवर	लोहा	चाय	चमड़ा
सूअर	तांबा	तम्बाकू	पेस्तकागज
घोड़े	पीतल	ऊन	ताश
भेड़ें	चांदी	नमक	व्यक्तियों के ऋण
सूखी खालें	सोना	अनाज	बैंकों के ऋण
	छड़ें	शराब	सरकारी ऋण
		चाकू	

उपर्युक्त सारिणी के अध्ययन से स्पष्ट है कि मुद्रा के रूप में भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं को विनिमय माध्यम के रूप में प्रयोग किया गया। इन वस्तुओं को उचित ढंग से वर्गीकृत ढंग से रखना सम्भव नही है। इन समस्त वस्तुओं में विनिमय के माध्यम का गुण विद्यमान रहा जो मुद्रा का प्रमुख लक्षण माना जाता है। मुद्रा के विकास का इतिहास दिलचस्प एवं आश्चर्यजनक रहा है।

1. Taken from L.V. Chandler's book : 'The Economics of Money and Banking', iv ed, (Harper & Row, New York, 1964)—reproduced by M. C. Vaish : 'Monetary Theory', pp. 10-11.

2

मुद्रा की परिभाषा एवं कार्य
(Definition and Functions of Money)

प्रारम्भिक

अर्थशास्त्रियों मे प्रत्येक विषय पर मतभेद देखा जाता है और इस मत-भिन्नता का प्रमुख कारण यह है कि उनके अध्ययन का विषय मनुष्य एवं उसका व्यवहार है जो अनिश्चित एवं जटिल है। मुद्रा का प्रयोग राजा-महाराजाओं के युग मे होता था, जबकि राजदरबार मे जाने वाले प्रत्येक व्यक्ति के पास एक मुद्रा होती थी जो सकेत-चिह्न की भांति प्रयोग की जाती थी। निर्धारित मुद्रा दिखाने वाले व्यक्ति को ही महल के पहरेदार अन्दर आने की अनुमति देते थे। धीरे-धीरे परिचय चिह्न का काम देने वाली मुद्रा वस्तुओं के क्रय-विक्रय का माध्यम बन गयी। वर्तमान समय मे भी मुद्रा एक सकेत चिह्न मात्र ही है, जिसमे सोना चादी तो नाम मात्र को होती है, परन्तु सरकारी मोहर होने के कारण उसके द्वारा सम्पूर्ण लेन-देन किए जाते हैं। कागज के नोट तो केवल सकेत चिह्न ही होते हैं। अंग्रेजी भाषा का 'Money' शब्द लेटिन भाषा के 'Moneta' से बना है। रोम मे देवी जूनो के मन्दिर मे मुद्रा बनायी जाती थी और देवी जूनो को मोनेटा के नाम से पुकारते थे। इसी प्रकार लेटिन मे मुद्रा के लिए पैक्यूनियां शब्द का प्रयोग किया जाता था जो पैकस से बना है जिसका अर्थ पशुधन से है। मुद्रा के सम्बन्ध मे विभिन्न अर्थशास्त्रियो द्वारा भिन्न-भिन्न परिभाषाएं दी गई हैं, जिनमे इतनी भिन्नता पाई जाती है कि एक साधारण व्यक्ति उलझन मे पड जाता है।

मुद्रा की परिभाषाएं
(Definitions of Money)

मुद्रा की परिभाषाओं को निम्न वर्गों में रखकर अध्ययन किया जा सकता है—

I. वर्णनात्मक परिभाषाएं

इस वर्ग मे उन परिभाषाओं को सम्मिलित किया जाता है जो वर्णन को अधिक महत्व देती हैं। इसमे निम्न परिभाषाएं आती हैं—

(1) हार्टले विदर्स : "मुद्रा वह है जो मुद्रा का कार्य करे।"[1] इस प्रकार विदर्स के अनुसार मुद्रा के चार प्रमुख होते हैं, जैसे, विनिमय का माध्यम, मूल्य मापन, मूल्य का सचय एवं स्थगित भुगतानों में उपयोगी। जो कोई भी वस्तु वर्णित कार्य करती है उसी को मुद्रा माना जा सकता है।

(2) टॉमस के अनुसार . "मुद्रा समाज के समस्त सदस्यों पर एक प्रकार का दावा, आदेश या वचन है, जो ... अपनी इच्छानुसार कभी भी पूर्ण किया जा सकता है। यह लक्ष्य पूर्ति का साधन है, जो स्वय के लिए न होकर, अन्य वस्तुओं को प्राप्त करने या दूसरों की सेवाओं पर अधिकार मिलने का एक साधन है।"[2]

1 "Money is what money does"—Hartley Withers : 'The Meaning of Money'.

2. "Money is a kind of claim upon all other members of the community, a sort of order or promise to deliver, which can be enforced whenever the owner pleases. It is a means to an end not for its own sake but as means obtaining other articles or of commanding the services of others" – Thomas Elements of Economics', p. 400.

(3) कौलबोर्न : "मूल्य मापक एवं भुगतान के रूप में मुद्रा को परिभाषित किया जा सकता है।"[1]

(4) ट्रस्कॉट : "मुद्रा का कार्य करने वाली वस्तु मुद्रा है, चाहे वह धातु, सिक्का, सिगरेट या सीपियों की माला ही क्यों न हों।"[2]

(5) नोगारो : "मुद्रा एक वस्तु है जो विनिमय के माध्यम एवं मूल्य के सामान्य माप के रूप में कार्य करती है।"[3]

(6) व्हाइटलेसी : "यदि वस्तु की एक विशेष इकाई मूल्य निर्धारित करने, वस्तुओं एवं सेवाओं का विनिमय करने तथा अन्य मौद्रिक कार्य करने मे सामान्यतया प्रयोग हो, तो वह मुद्रा है, चाहे उसकी वैधानिक एवं भौतिक विशेषताएं कुछ भी हो।"[4]

इस परिभाषा को लक्ष्य पूर्ति का एक साधन माना गया है जिससे दूसरी वस्तुओं या सेवाओं पर अधिकार प्राप्त हो जाता है, परन्तु मुद्रा सचय या हस्तातरण के रूप मे भी प्रयोग की जा सकती है जिसका उल्लेख इस परिभाषा मे नही किया गया है। इन परिभाषाओ मे ऋण सम्बन्धी दावो एव व्यावसायिक दायित्वो के भुगतान को ही सम्मिलित किया गया है जबकि विकसित अर्थव्यवस्था मे चैक को भुगतान का सरल साधन माना गया है, जिसकी इस परिभाषा मे उपेक्षा की गयी है।

II. सामान्य स्वीकृति आधार

इस वर्ग मे उन परिभाषाओ को सम्मिलित किया जाता है जो सामान्य गुण पर अवलम्बित हैं। इस वर्ग की प्रमुख परिभाषाए निम्नलिखित हैं—

(1) सेलिगमेन (Seligmen) : "मुद्रा एक ऐसी वस्तु है, जिसे सामान्य स्वीकृति प्राप्त हो।"[5]

(2) ऐली (Ely) : "जो कोई भी वस्तु विनिमय के माध्यम के रूप मे स्वतन्त्रतापूर्वक एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को हस्तातरित होती रहती है, और ऋणों के अन्तिम भुगतान मे साधारणतया स्वीकार कर ली जाए वही मुद्रा है।"[6]

(3) मार्शल (Marshall) : "मुद्रा में वे समस्त वस्तुए सम्मिलित की जाती हैं जो कि (किसी दिए हुए समय या स्थान पर) साधारणतया बिना सन्देह अथवा विशेष प्रकार की जाच-पड़ताल के, वस्तुओ और सेवाओ के खरीदने के साधन एवं व्ययो का भुगतान करने में प्रचलित हो।"[7]

(4) कैन्ट (Kent) : "मुद्रा कोई भी ऐसी वस्तु है, जो विनिमय का माध्यम अथवा मूल्य के मापक के रूप मे प्राय: उपयोग एव साधारणतया स्वीकार की जाती है।"[8]

1. "Money may be defined as the means of valuation and of payment."—Coulborn.

2. "Whatever serves as money is money, whether it be a metal, coin, cigarette or a string of shells."—Trescott.

3. "Money is a commodity which serves as an intermediary in exchanges and as a common measure of value."—Nagaro.

4. "If a particular unit is commonly employed to state values, exchange goods and services or perform other money functions, then it is money, whatever its legal or physcial characteristics"—Whitelesey

5. "Money is one thing that possesses general acceptabihty."—Seligmen.

6. Money is "anything that passes freely from hand to hand as a medium of exchange and is generally received in final discharge of debts."—Ely.

7. "Money includes all those things which are (at any given time or place) generally current without doubt or special enquiry as a means of purchasing commodities or services and of defraying expenses."—Marshall.

8. "Money is anything which is commonly used and generally accepted as a medium of exchange or as a standard of value."—Kent.

(5) कीन्स (Keynes) : "मुद्रा वह है जिसके हस्तांतरण से ऋण एवं मूल्य सम्बन्धों को पूर्ण किया जा सकता है और जिसे सामान्य क्रय-शक्ति के रूप में संचित किया जा सकता है।"[1]

(6) वाकर (Walker) : "मुद्रा वह है, जो वस्तुओं के पूर्ण भुगतान करने, ऋणों के अन्तिम भुगतान में इस बात की चिन्ता किए बिना कि भुगतान करने वाले का चरित्र या साख कैसी है तथा प्राप्त करने वाले व्यक्ति पर बिना ध्यान दिए हुए कि वह उसका स्वयं उपभोग करेगा या अन्य किसी व्यक्ति को देने में प्रयोग करेगा एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को स्वतन्त्रतापूर्वक हस्तांतरित होती है।"[2]

(7) राबर्टसन (Robertson) : "मुद्रा वह है जो किसी वस्तु के रूप में वस्तुओं की कीमतों को चुकाने एवं अन्य प्रकार के व्यावसायिक दायित्वों को निपटाने में व्यापक रूप में स्वीकार की जाती है।"[3]

(8) क्राउथर (Crowther) : "मुद्रा वह कोई भी चीज है, जो विनिमय के साधन के रूप में (अर्थात् ऋणों को निपटाने का साधन) प्राय. स्वीकार की जाती है तथा साथ ही मापक एवं मूल्य संचय का कार्य भी करती है।"[4]

(9) कोल (Cole) . "मुद्रा केवल क्रय-शक्ति है—ऐसी वस्तु जो अन्य वस्तुएं खरीदती है—यह एक ऐसी वस्तु है जो स्वभाव से व्यापक रूप में भुगतान के साधन के रूप में प्रयोग एवं साधारणतया ऋणों के निपटारे के रूप में स्वीकार की जाती है।"[5]

(10) हाम (Halm) : "मुद्रा शब्द का उपयोग विनिमय का माध्यम व मूल्य मान दोनों को ही सूचित करने में किया जाता है।'[6]

(11) वाघ (Waugh) "मुद्रा में उन समस्त वस्तुओं का समावेश किया जाता है, जो एक समाज के अन्दर एक विनिमय-माध्यम के रूप में एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को हस्तांतरण होने के रूप में, सामान्य स्वीकृति रखती हैं... कोई भी वस्तु ऐसे व्यापक रूप में स्वीकार नहीं की जाती है और इस अर्थ में मुद्रा सदैव स्थानीय होती है, कुछ स्थानों पर वह मुद्रा है और अन्य स्थानों में वह इस रूप में स्वीकार नहीं की जाती है।"[7]

(12) पीगू किसी वस्तु को मुद्रा कहलाने के लिए उसकी विस्तृत क्षेत्र में विनिमय माध्यम के रूप में स्वीकृति प्राप्त होना आवश्यक है। अर्थात् एक बड़ी सख्या में जनता उसे वस्तुओं एवं सेवाओं के भुगतान के रूप में स्वीकार करते

1 "Money is that by the delivery of which debts contracts and price contracts are discharged and in the shape of which a store of general purchasing power is held."—J.M. Keynes.

2 "Money is that which passes freely from hand to hand, in full payment of goods, in final discharge of indebtedness, being accepted equally without reference to the character or credit of person tendering it, and without any attention on the part of the person receiving it himself to consume or otherwise use it than by passing it on, sooner or later, in exchange."—Walker.

3 "A commodity which is used to denote anything which is widely accepted in payment of goods, or in discharge of other business obligations."—Robertsons.

4. "Anything that is generally acceptable as a means of exchange (i.e. as a means of settling debts) and at the same time acts as a measure and a store of Value."—Geoffrey Crowther: 'An Outline of Money', p. 20.

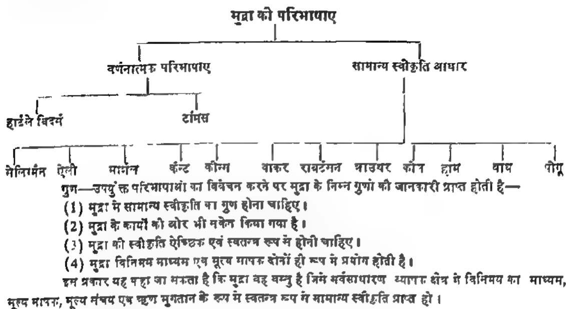
5 "Money is simply purchasing power—something which buys things—it is anything which is habitually and widely used as a means of payment and is generally acceptable in the settlement of debts."—G.D H. Cole.

6 "The word money has been used to designate the medium of exchange as well as the standard of value."—Halm.

7 "Money consists of those things which, within a society, are of general acceptability passing from hand to hand as a medium of exchange...Nocommodity is, however, so widely acceptable and in this sense money is always local, it is money in some places and in other places it is not acceptable"—Waugh

को तत्पर हों।"[1]

मुद्रा की परिभाषा को निम्न चार्ट द्वारा दिखा सकते हैं :—



गुण—उपर्युक्त परिभाषाओं का विवेचन करने पर मुद्रा के निम्न गुणों की जानकारी प्राप्त होती है—

(1) मुद्रा में सामान्य स्वीकृति का गुण होना चाहिए।

(2) मुद्रा के कार्यों की ओर भी संकेत किया गया है।

(3) मुद्रा की स्वीकृति ऐच्छिक एवं स्वतन्त्र रूप में होनी चाहिए।

(4) मुद्रा विनिमय माध्यम एवं मूल्य मापक दोनों ही रूप में प्रयोग होती है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मुद्रा वह वस्तु है जिसे सर्वसाधारण व्यापक क्षेत्र में विनिमय का माध्यम, मूल्य मापक, मूल्य संचय एवं ऋण भुगतान के रूप में स्वतन्त्र रूप से सामान्य स्वीकृति प्राप्त हो।

मुद्रा की उचित परिभाषा

मुद्रा वह वस्तु है जिसे सरकारी मान्यता प्राप्त हो तथा जिसका प्रयोग जनता द्वारा वर्तमान एवं भविष्य के भुगतानों के लिए किया जाता हो।

मुद्रा के कार्य
(Functions of Money)

प्रो॰ चैंडलर का मत है कि आर्थिक अर्थव्यवस्था में मुद्रा का केवल एक मौलिक कार्य है, जो माल एवं सेवाओं के लेन देन को सरल बनाता है। इससे समय एवं परिश्रम की बचत होती है। आधुनिक मुद्रा वाणिज्य के लिए पहिए का कार्य करती है। वर्तमान समय में मुद्रा के अनेक कार्य होते हैं, परन्तु क्राउथर ने मुद्रा के तीन कार्य ही बताए थे। उनके अनुसार, "मुद्रा का कार्य मूल्य मापक, विनिमय का माध्यम एवं धन का संचय करना है।"[2] आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा के अनेक कार्य[3] बताए हैं और अध्ययन की सुविधा के लिए प्रो॰ किनले (Kinley) ने इन्हें निम्न भागों में विभाजित किया है—

(1) मुख्य कार्य (Primary Functions)

(2) सहायक कार्य (Subsidiary Functions)

1. "In order of anything to be classed as money, it must be accepted fairly widely as an instrument of exchange, which means that good number of people are ready to accept it in payment for goods and services provided by them."—Pigou.

2. "Money must serve as a measure of value, as a medium of exchange and as a store of wealth." G Crowther : 'An Ontline of Money', p. 20.

3. अर्थशास्त्र में मुद्रा के चार कार्य बताए हैं—विनिमय का माध्यम, मूल्य मापक, स्थगित भुगतानों का मान, तथा मूल्य संचय। ("Money is a matter of functions four—A Medium, A Measure, A Standard and A Store.")

(3) आकस्मिक कार्य (Contingent Functions)

(4) अन्य कार्य (other Functions)

इन कार्यों का विवरण निम्न प्रकार है—

(1) मुख्य कार्य (Primary Functions)

इसमें केवल उन मौलिक कार्यों को सम्मिलित किया जाता है, जो मुद्रा हर राष्ट्र में हर समय करती है। मुद्रा के प्रमुख कार्य में निम्न दो कार्यों को सम्मिलित करते हैं—

(i) विनिमय का माध्यम (Medium of Exchange) तथा

(ii) मूल्य का सामान्य माप (Common Measure of Value)

(i) विनिमय का माध्यम वर्तमान समय में सम्पूर्ण आर्थिक जीवन विनिमय पर ही निर्भर होने से, मुद्रा का उपयोग बढ़ गया है क्योंकि मुद्रा का महत्वपूर्ण कार्य विनिमय का माध्यम है। मुद्रा के अभाव में विनिमय प्रत्यक्ष रूप में होता था, परन्तु इसके आदान-प्रदान करने वाले व्यक्तियों की पारस्परिक आवश्यकताओं में समन्वय होना अत्यन्त आवश्यक होता है। परन्तु ऐसा समन्वय अत्यन्त कठिनाई से ही प्राप्त हो पाता था। मुद्रा के उपयोग से इस प्रकार की पारस्परिक आवश्यकताओं में समन्वय स्थापित करने की कठिनाई समाप्त हो गई। मुद्रा ने इस कार्य द्वारा आधुनिक अर्थव्यवस्था को वस्तु विनिमय की कठिनाइयों से बचाया है तथा श्रमिक उत्पादन में विशिष्टीकरण एवं श्रम विभाजन द्वारा अपार वृद्धि की है। इस प्रकार "वर्तमान में मुद्रा, प्रत्येक व्यवहार में, केवल शर्तों को ही निर्धारित नहीं करती बल्कि विनिमय में माध्यम का कार्य भी करती है।"[1] मुद्रा के उपयोग से समस्त विनिमय कार्य दो भागों में विभाजित हो गया है। प्रथम भाग में वस्तुओं को मुद्रा में विनिमय किया जाता है जिसे विक्रय कहते हैं तथा दूसरे भाग में मुद्रा के बदले अपनी आवश्यकता की वस्तुओं को प्राप्त किया जाता है जिसे क्रय कहते हैं। इस प्रकार समाज में आवश्यकताओं समस्त वस्तुओं का आदान-प्रदान प्रत्यक्ष रूप में न होकर अप्रत्यक्ष रूप में मुद्रा के माध्यम द्वारा किया जाता है। मुद्रा में सर्वमान्यता का गुण होने के कारण यह कार्य करने में किसी भी प्रकार की कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता क्योंकि मुद्रा को किसी भी वस्तु के बदले प्राप्त किया जा सकता है तथा उसी प्रकार मुद्रा के बदले किसी भी वस्तु को सरलता से प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार मुद्रा ने विनिमय के माध्यम के रूप में कार्य करके आर्थिक जगत में उत्पन्न होने वाली अनेक प्रकार की कठिनाइयों का समाधान किया है।

(ii) मूल्य का सामान्य माप मूल्य मापन के रूप में मुद्रा ने वस्तु विनिमय की असुविधाओं को समाप्त कर दिया है। मुद्रा के उपयोग से समस्त वस्तुओं के मूल्यों को एक सामान्य माप पर निर्धारित किया जाता है जिससे समस्त वस्तुओं के मापन में सुविधाएं प्राप्त होती हैं। "यह एक माप या मूल्य का प्रमाप माप के रूप में कार्य करती है, जिसकी सहायता से अन्य वस्तुओं की तुलना की जा सकती है।"[2] वस्तु विनिमय पद्धति में वस्तुओं के मूल्यों को वस्तुओं में ही प्रकट किया जाता था, जिसमें मूल्यांकन करने में अनेक प्रकार की कठिनाइयों एवं असुविधाओं का सामना करना पड़ता था। परन्तु मुद्रा का उपयोग होने से वस्तुओं के मूल्य पूर्ण शुद्धता के साथ मापे जाते हैं, जिससे विनिमय अनुपात की गणना करना अत्यन्त सरल हो गया है। मुद्रा के मूल्य मापन का कार्य करने से व्यापारिक व्यवहारों में अत्यन्त सुविधा प्राप्त हो गई है, जिससे व्यापारिक जगत काफी लाभान्वित हुआ है।

मुद्रा के मूल्य में समय-समय पर परिवर्तन होते रहने से, इसके द्वारा मापी जाने वाली वस्तुओं के मूल्य भी समय-समय पर बदलते रहते हैं, जिससे यह कहा जाता है कि मुद्रा मूल्यों के माप का कोई निश्चित माप नहीं है। यह मुद्रा का दोष है जिससे मुद्रा के उपयोग पर बुरा प्रभाव पड़ सकता है। आज भी मुद्रा इस दोष के होते हुए भी सफलतापूर्वक कार्य सम्पन्न कर रही है।

1. "In every transaction, money now not only fixes the terms, but mediates in the exchange." G Crowther : 'An Outline of Money', p. 3.

2. 'It acts as a yardstick, or standard measure of value to which all other things can be compared." G. Crowther : p. 3.

विनिमय माध्यम एवं मूल्य माप में सम्बन्ध : मुद्रा के दोनों कार्यों में गहरा सम्बन्ध पाया जाता है क्योंकि वस्तु एवं सेवा का विनिमय करने से पूर्व उसका मूल्य मापन करना आवश्यक होता है। जैसे दुकानदार जब ग्राहक को यह बता देता है कि घी का भाव 24 रुपये प्रति किलो है तो ग्राहक यह निश्चित करता है कि उसे कितना घी खरीदना है और वह घी के बदले में मूल्य रुपयों में चुका देता है। अतः मूल्य-मापन के अभाव में विनिमय कार्य सम्भव नहीं है। इसी प्रकार से विदेशी व्यापार में भी आयातकर्ता निर्यातक से माल उसी समय क्रय करता है जबकि माल का मूल्य एवं भुगतान की शर्तें निश्चित हो जाती हैं। इस प्रकार विनिमय माध्यम का किया मूल्य-मापन के बाद ही प्रारम्भ होती है।

इसके विपरीत वस्तु का मूल्य-मापन सदैव उसी वस्तु में होता है जो मूल्य की मापक हो। जैसे भारत में रुपया विनिमय का माध्यम है तो प्रत्येक वस्तु का मूल्य रुपये में ही मापा जाता है। इसी प्रकार अमेरिका में विनिमय का माध्यम डालर होने से मूल्य भी इन्हीं मुद्राओं में निर्धारित किए जाते हैं।

सहायक कार्य (Subsidiary Functions)

सहायक कार्यों में उन कार्यों को सम्मिलित किया जाता है जो मुद्रा द्वारा आर्थिक जीवन का एक निश्चित सीमा तक विकास होने पर, सम्पादित किये जाते हैं। ये कार्य मुद्रा के प्रमुख कार्यों से ही सम्बन्धित हैं तथा उससे ही उत्पन्न होते हैं। मुद्रा के सहायक कार्यों में निम्न को सम्मिलित किया जाता है—

(i) स्थगित भुगतान का प्रमाप (Standard of Deferred Payment)

(ii) मूल्य का सचय (Store of Value) एवं

(iii) मूल्य का हस्तांतरण (Transfer of Value)

(i) स्थगित भुगतान का प्रमाप मुद्रा का उपयोग केवल तात्कालिक व्यवहारों के भुगतान करने में ही नहीं किया जाता, बल्कि भविष्य में भुगतान की शर्त के आधार पर भी व्यवहारों के भुगतान में किया जाता है। आज का सारा आर्थिक ढांचा साख पर आधारित है और साख मुद्रा के रूप में ही दी जाती है। उधार देते समय ब्याज की दर एवं भुगतान की किश्तें मुद्रा में तय कर दी जाती हैं जिससे ऋणी को यह निश्चय हो जाता है कि उसे कब कितनी राशि चुकानी है। भारत में योजनाकाल में देश-विदेश से जो ऋण लिए गए, वह रुपए, डॉलर, पौण्ड, मार्क, येन आदि में लिए गए। स्थगित भुगतान[1] के व्यवहारों को निपटाने के लिए मुद्रा एक अच्छा साधन मानी जाती है। वस्तुओं के रूप में स्थगित भुगतान करने में अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है और वस्तुओं के मूल्यों में परिवर्तन होने से यह कठिनाई और अधिक बढ़ जाती है, लेकिन मुद्रा के प्रयोग ने इन समस्त कठिनाइयों को दूर कर दिया है। एक व्यक्ति जो धन आज उधार लेता है, उसी राशि को भविष्य में सरलता से भुगतान कर सकता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति कुछ निश्चित समय पश्चात् भुगतान करने की शर्त पर जो माल खरीदता है, उसका भुगतान समय आ जाने पर मुद्रा के रूप में सरलता से किया जा सकता है। मुद्रा के इस कार्य का महत्व वर्तमान जगत में काफी बढ़ गया है और अधिकतर व्यावसायिक व्यवहार स्थगित भुगतान पद्धति आधार पर ही किये जाते हैं। स्थगित भुगतान का कार्य मुद्रा भली प्रकार कर लेती है और यह कार्य वस्तुओं द्वारा सम्भव नहीं है। मुद्रा का मूल्य स्थायी रहता है, मुद्रा में सर्वमान्यता का गुण विद्यमान रहता है तथा मुद्रा टिकाऊ होने से भावी भुगतान करने में किसी प्रकार की कोई कठिनाई नहीं होती। व्यावसायिक व्यवहारों में वृद्धि साख के आधार पर होने से व्यापारिक जगत में काफी प्रोत्साहन मिला है। मुद्रा के स्थगित भुगतान के गुण के कारण इसका महत्त्व बढ़ गया है।

(ii) मुद्रा का सचय : मुद्रा का प्रयोग तत्काल वस्तुओं की खरीद करने एवं भविष्य में वस्तुएं प्राप्त करने में किया जा सकता है। इस प्रकार मुद्रा को तत्काल व्यय न करके कुछ समय तक रोककर भविष्य में प्रयोग किया जाता है और मुद्रा को मूल्य के सचय के रूप में उपयोग किया जाता है। इससे पूर्व वस्तु-विनिमय प्रणाली में भविष्य के भुगतान के लिए क्रय की शक्ति वस्तुओं के रूप में रखा जाता था, परन्तु ऐसा संग्रह करना सदैव जोखिमपूर्ण ही हुआ करता था, क्योंकि यह वस्तुएं दीर्घकाल तक रखी नहीं जा सकतीं और शीघ्र ही नष्ट हो जाती हैं, साथ ही इन्हें संचय करने के लिए उपयुक्त व

1. स्थगित भुगतान से आशय ऐसे भुगतान से है, जिसमें वस्तुओं की खरीद करने के बाद एक निश्चित अवधि के पश्चात् उसका भुगतान सुविधा होने पर कर दिया जाता है।

पर्याप्त स्थान की भी आवश्यकता पडती है, जिसमे अधिक धन व्यय करना पडता है। मनुष्य स्वभाव से भविष्यदर्शी होने के कारण भविष्य की आकस्मिक विपत्तियो एवं सामाजिक आवश्यकताओ के लिए अपनी वर्तमान आय का कुछ भाग बचाकर रखना चाहता है जोकि सुरक्षित हो और उसका प्रयोग चाहे जब किया जा सकता है। मुद्रा के प्रयोग से यह समस्त कठिनाइयाँ दूर हो गई हैं और इसे दीर्घकाल तक संचय करने पर भी इसकी उपयोगिता मे कोई कमी नही आती तथा इसकी सहायता से भविष्य मे कभी भी आवश्यक वस्तुएं सरलता व सुविधानुसार खरीदी जा सकती हैं। संचय की सुविधा होने से पूजी के निर्माण को काफी बढ़ावा मिला है, जिससे देश के आर्थिक विकास मे काफी सफलता प्राप्त होती है। आर्थिक अस्थिरता के समय मुद्रा का मूल्य सचय के रूप मे महत्त्व बढ जाता है। उदाहरणार्थ 1929 मे अमेरिका मे मन्दी आने पर बचत मे वृद्धि हो गई थी और धन का विनियोग प्रतिभूतियो मे रुक गया था। सकट के समय व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को मकान, भूमि या अन्य किसी रूप मे रखने के स्थान पर तरल रूप मे रखना अधिक पसन्द करता है। नकद को रखने की प्राथमिकता का प्रमुख कारण गैर-नकद वस्तुओ की तुलना मे मुद्रा के मूल्य मे निश्चितता का होना है। मुद्रा का भविष्य के लिए सरलता से संचय करने पर भी उसके मूल्य मे कोई परिवर्तन नहीं होता।

(iii) मूल्य का हस्तातरण : मुद्रा विनिमय-माध्यम का कार्य भी करती है और इस कार्य के कारण ही मुद्रा मूल्य हस्तातरण की सर्वोत्तम साधन मानी जाती है। मुद्रा की सहायता मे मूल्य के हस्तातरण की सुविधाएं प्राप्त हो गई हैं। उत्पादन लागत को न्यूनतम करने के उद्देश्य से श्रम विभाजन पर अधिक जोर दिया जाता है जिससे उत्पादक को उपभोक्ता से पृथक् कर दिया गया है और इस प्रकार विनिमय के क्षेत्र मे काफी विस्तार हो गया है और वस्तुओ का क्रय एव विक्रय स्थानीय न होकर दूर-दूर तक फैल गया है। इस दूरस्थ विक्रय के कारण मूल्य को दूर-दूर के स्थानों तक भेजना आवश्यक हो गया है और इस मूल्य को भेजने का कार्य मुद्रा द्वारा सरलता से किया जा सकता है। मुद्रा के अभाव मे उपभोक्ता एव उत्पादक का व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित होना अत्यन्त आवश्यक था, परन्तु मुद्रा के प्रयोग होने से इस प्रकार के व्यक्तिगत सम्बन्धों को स्थापित करना नितान्त आवश्यक नही है और बिना किसी भी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित किए हुए मुद्रा की सहायता से किसी भी वस्तु के मूल्य को सरलता से हस्तानरण किया जा सकता है। मुद्रा को मूल्य के रूप मे अंकित करके एक स्थान एवं एक व्यक्ति से दूसरे स्थान तथा व्यक्ति को सरलता से स्थानान्तरित किया जा सकता है। उदाहरणार्थ 1 करोड रुपए की धनराशि को ग्वालियर से मद्रास जैसे दूरस्थ स्थान तक बैंक ड्राफ्ट की सहायता से सरलता से भेजा जा सकता है। यदि यही राशि वस्तुओं जैसे गेहू या अन्य नाशवान पदार्थों के रूप मे भेजी जाती, तो ऐसे हस्तातरण मे अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पडता।

आकस्मिक कार्य (Contingent Functions)

दो मुख्य एव तीन सहायक कार्यों के अतिरिक्त मुद्रा वर्तमान समय मे आकस्मिक कार्य भी करती है। यह कार्य आर्थिक जीवन के विकास से पूर्व मुद्रा द्वारा सम्पन्न नही होते थे और वर्तमान मे भी यह कार्य सर्वत्र नहीं पाए जाते। परन्तु आर्थिक जीवन के विकास के साथ-साथ, वर्तमान समय मे प्रो० किनले (Kinley) के अनुसार मुद्रा चार प्रकार के आकस्मिक कार्य भी करती है। यह आकस्मिक कार्य निम्नलिखित हैं—

(i) सामाजिक आय का वितरण (distribution of social income)
(ii) सीमान्त उपयोगिता का समानीकरण (equalisation of marginal utility)
(iii) साख पद्धति का आधार (basis of credit system) एवं
(iv) सम्पत्ति को तरलता व समानता प्रदान करना (imparting liquidity and uniformity of wealth)

(i) सामाजिक आय का वितरण : मुद्रा द्वारा, उत्पत्ति के विभिन्न घटको के स्वामी के रूप मे कार्य करने वाले व्यक्तियों के मध्य, राष्ट्रीय आय का वितरण सरलता से किया जा सकता है। वर्तमान समय मे उत्पादन विभिन्न व्यक्तियों के सहयोग के अभाव मे सम्भव नहीं है। उत्पादन कार्यों मे अनेक व्यक्ति भूमिपति, श्रमिक, पूजीपति, व्यवस्थापक एवं साहसी के रूप मे कार्य करते हैं और उनके सहयोग से जो उत्पादन होता है उस पर किसी एक व्यक्ति का अधिकार न होकर समस्त उत्पत्ति के विभिन्न घटको का सहयोग रहता है और प्राप्त उत्पादन का वितरण भी विभिन्न घटको में उनके सहयोग के अनुसार कर

अन्य कार्य (Other Functions)

मुद्रा के अन्य कार्यों में निम्न दो कार्यों को सम्मिलित किया जाता है—

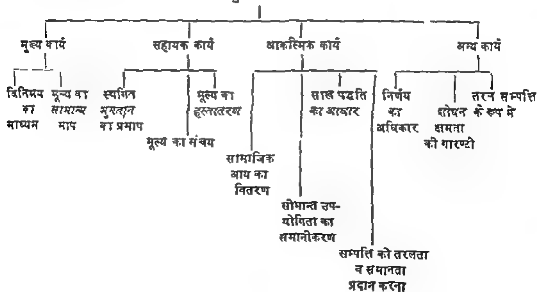
(i) निर्णय का अधिकार (Right of Decision), (ii) शोधनक्षमता की गारन्टी (Gaurantee to Solvency), (iii) तरल सम्पत्ति के रूप में (Liquidity)

(i) निर्णय का अधिकार : मुद्रा में ऐसी क्रय शक्ति निहित है जिसकी सहायता से अन्य वस्तुओं को सरलता से खरीदा जा सकता है। जिस व्यक्ति के पास मुद्रा है वह अपनी इच्छानुसार किसी भी वस्तु को सरलता से खरीद कर प्राप्त कर सकता है। वस्तु विनिमय प्रणाली के अन्तर्गत व्यक्ति को वस्तुओं को खरीदने का निर्णय करने का अवसर प्राप्त नहीं होता था। प्राय. व्यक्ति की इच्छाओं में परिवर्तन होता रहता है, जो इच्छा आज है, वह भविष्य में बदल सकती है। वस्तु विनिमय में यदि भविष्य में इच्छाओं में परिवर्तन होता है, तो व्यक्ति उन्हें पूर्ण करने में असमर्थ रहता था और उसे निर्णय लेने के अधिकार से वंचित रखा जाता था। परन्तु मुद्रा ने निर्णय के अधिकार की इस असमर्थता को समाप्त कर दिया है और व्यक्ति मुद्रा की सहायता से अपने पुराने निर्णयों को त्याग कर नवीन निर्णय को कार्यान्वित कर सकता है।

(ii) शोधनक्षमता की गारन्टी : वर्तमान व्यावसायिक संस्थाओं में यह आवश्यक है कि संस्था अपने दायित्वों का भुगतान करने में तत्पर रहे। व्यवसाय में चाहे कितनी ही सम्पत्ति क्यों न हो, यदि वे उचित समय पर अपने दायित्वों का भुगतान करने में असमर्थ रहता है तो उसे दिवालिया माना जाता है। ऐसी परिस्थिति में अपनी शोधनक्षमता को बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि अपने पास पर्याप्त मात्रा में तरलता के रूप में मुद्रा हो। इस प्रकार की तरलता मुद्रा द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। तरलता का यह नियम व्यापारिक बैंकों पर अधिक लागू होता है क्योंकि उन्हें अपने पास एक न्यूनतम मात्रा में तरलता के रूप में मात्रा सदैव रखनी आवश्यक होती है। इस प्रकार मुद्रा को पर्याप्त मात्रा में अपने पास रखना ही शोधनक्षमता की गारन्टी कहलाता है। इसी प्रकार व्यापारी भी अपनी शोधनक्षमता की गारण्टी के रूप में कुछ निश्चित धनराशि सदैव मुद्रा के रूप में ही रखना अधिक पसन्द करते हैं।

(iii) तरल सम्पत्ति के रूप में : मुद्रा का कार्य तरलता प्रदान करना भी है और इसी कार्य के कारण प्रत्येक व्यक्ति मुद्रा को नकदी में ही रखना पसन्द करता है।

इस प्रकार वर्तमान समय में मुद्रा द्वारा अनेक प्रकार के कार्य सम्पन्न किये जाते हैं। मुद्रा के विभिन्न कार्यों को निम्न चार्ट द्वारा भी दिखाया जा सकता है—



इस प्रकार मुद्रा द्वारा अनेक प्रकार के महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित किये जाते हैं। वर्तमान समय मे आर्थिक विकास के साथ-साथ मुद्रा के कार्यों मे भी निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। मुद्रा की सेवाओं के आधार पर ही आधुनिक जगत मे व्यावसायिक क्रियाओ मे वृद्धि हो रही है। मुद्रा के अभाव में आर्थिक जगत में अनेक प्रकार की कठिनाइयो का सामना करना पड़ा है। इन कठिनाइयो को मुद्रा के उपयोग से समाप्त कर दिया गया है। वर्तमान समय में बैंक साख का उपयोग भी बढ रहा है जिसमें मुद्रा के आदान-प्रदान करने के स्थान पर बैंक के खातो मे ही आवश्यक प्रविष्टिया कर दी जाती हैं। इस प्रकार मुद्रा को प्रभावित किये बिना ही विनिमय कार्य भली प्रकार सम्पन्न हो जाते हैं।

मुद्रा एव आर्थिक विकास

एक अन्य दृष्टिकोण से मुद्रा के कार्यों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से हो सकता है :—

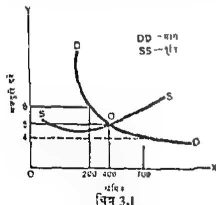
(i) तकनीकी कार्य—प्राचीन अर्थशास्त्रियो ने मुद्रा को निष्क्रिय माना था जो समाज मे आर्थिक क्रियाओ को प्रभावित नही कर सकती। इसमे मुद्रा के पूर्व मे उल्लिखित परम्परागत कार्य आते हैं।

(ii) प्रावैगिक कार्य—हेन्सन, पान, लर्नर, कीन्स व इजिन आदि ने मुद्रा को एक प्रावैगिक शक्ति माना है जिसमें मुद्रा आर्थिक क्रियाओ को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है। मुद्रा की सहायता से उत्पादन, रोजगार व आय मे वृद्धि की जा सकती है।

वर्तमान समय में मुद्रा मूल्य-स्तर को प्रभावित करती है तथा सरकार को घाटे के बजट बनाने में मदद करती है।

मूल्य वस्तु की माग व पूर्ति पर निर्भर होने के साथ-साथ उसके औसत व स्थायी उत्पादन लागत पर निर्भर करता है, और यह व्यवस्था मौद्रिक पद्धति एवं वस्तु-विनिमय वाली अर्थव्यवस्था दोनो मे ही समान रूप से लागू होती है। वस्तुओ का आपसी सम्बन्ध मुद्रा से प्रभावित नही हो पाता और वस्तुओ का सम्बन्ध केवल मुद्रा से विनिमय मूल्य के रूप मे निर्धारित हो जाता है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का मत था कि दीर्घकाल मे मुद्रा की पूर्ति मुद्रा की माग से समायोजित हो जायेगी और मुद्रा को कम महत्त्व दिया जाता था।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो के दृष्टिकोण मे दोष—वर्तमान समय मे प्रतिष्ठित मत उचित नही जान पडता क्योकि आजकल वर्तमान विनिमय की सुविधाओं से हम परिचित हो चुके हैं और मानव जीवन का कोई भी ऐसा क्षेत्र नही है, जिसे विनिमय पद्धति अथवा मौद्रिक पद्धति ने प्रभावित नही किया हो। व्यक्ति या समाज का ऐसा कोई पहलू न होगा जहा पर मुद्रा का प्रभाव न पडा हो। वर्तमान समय मे मुद्रा का प्रमुख कार्य सामान्य आर्थिक क्रियाओ को नियन्त्रित करना है तथा सामान्य सामाजिक सुधारो को प्रस्तुत करना है। किसी भी राष्ट्र की मौद्रिक पद्धति ही उसके आर्थिक विकास को प्रदर्शित करती है। क्राउथर का मत है कि जो महत्त्व यन्त्रशास्त्र में पहिये का, विज्ञान मे अग्नि तथा राजनीति मे मत का है, वही स्थान मनुष्य के आर्थिक जीवन मे मुद्रा के आविष्कार का है। विनिमय की पद्धति ही एक राष्ट्र के आर्थिक विकास का कारण एव परिणाम है। विनिमय की पद्धति मे परिवर्तन होने से ही औद्योगिक जीवन के रूप मे हर एक प्रकार के परिवर्तन हुए हैं। "यान्त्रिक मशीनरी के परिवर्तन ने उत्पादन पद्धतियो मे परिवर्तन सम्भव किया, फलस्वरूप जटिल मौद्रिक पद्धति मे तीव्र विकास हुआ, जिसने अन्तर्राष्ट्रीय एव राष्ट्रीय स्तर पर साख के ढाचे को प्रभावित किया, जिसकी प्रमुख विशेषताएं वर्तमान उत्पादन एव वितरण उद्योग मे पाई जाती हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण औद्योगिक आन्दोलन वित्तीय अथवा मौद्रिक दृष्टि से ही अध्ययन किया जाता है।"[1] मुद्रा के विभिन्न रूपो एव विनिमय के सम्पूर्ण ढाचे ने उद्योग व व्यापार के विकास को प्रभावित किया है। जहा मुद्रा का कम उपयोग हुआ, वहा व्यापार का विकास भी अल्प मात्रा मे ही हुआ तथा वस्तुओ का बाजार-मूल्य भी निम्न ही रहा। इसके विपरीत, एक विकसित मौद्रिक अर्थव्यवस्था मे, साख की सहायता से उद्योग एव व्यापार का उच्च व सगठित ढंग से विकास हुआ। वर्तमान औद्योगिक सभ्यता श्रम विभाजन एव मशीनरी के उपयोग पर निर्भर करती है जोकि शुद्ध वस्तु विनिमय व्यवस्था मे प्राप्त करना असम्भव है। वर्तमान समय मे व्यापार एव उद्योग का विकास पूजी के संचय पर ही निर्भर करता है जो कि मुद्रा द्वारा ही सम्भव हो सकता है। एडम स्मिथ ने मुद्रा की तुलना एक ऐसी सडक से की थी जहां से समस्त उत्पादन विपणि तक पहुच जाता हो परन्तु जिस पर घास का एक दाना भी नही उग पाता हो। मुद्रा ही पूजी का एक सामान्य रूप है, जिसे सरलतापूर्वक दूरस्थ स्थानो तक विनियोग के रूप मे हस्तातरित किया जा सकता है। इस सरलता के अभाव मे विनियोग स्थानीय बाजारो तक ही सीमित हो जाते और दूरस्थ स्थानों पर औद्योगिक विकास की सम्भावनाएं साकार रूप ग्रहण नही कर पाती।



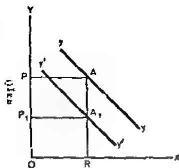
चित्र 3.1

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री बेकारी का पूर्ण उत्तरदायित्व श्रमिको पर डालते थे। श्रमिक प्रचलित दर को स्वीकार नही करते जिससे बेकारी बढती है। चित्र 3.1 मे माग व पूर्ति बराबर होने से मजदूरी 5 रु० पर तय हो जाती है—

मजदूरी 6 रु० होने पर माग 200 रह जाती है और मजदूरी 4 रु० होने पर माग 700 हो जाती है। परन्तु जब मजदूरी 5 रु० हो तो माग 400 हो जाती है और बेकारी का निवारण होकर सन्तुलन स्थापित हो जाता है।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो का यह तर्क त्रुटिपूर्ण था कि मजदूरी मे कटौती करके बेरोजगारी दूर की जा सकती है। मजदूरी कम करने से एक

1. "Corresponding to the changes of productive methods under mechanical machinery, we should find the rapid growth of a complex monetary system reflecting in its international and national character, in its elaborate structure of credit, the leading characteristics of which we find in modern productive and distributive industry. The whole industrial movement might be regarded from financial or monetary point of view."—J. A. Hobson : 'Evolution of Modern Capitalism'.



चित्र 3.2

ओर लागत कम होती है तो दूसरी ओर आय व कुल माग मे कमी होती है, जिससे उत्पादन मे कमी होकर रोजगार घट जायेगा। इसे चित्र 3.2 मे दिखाया गया है :— चित्र में माग y y है और मजदूरी p है। यदि मजदूरी घटाकर P_1 कर दी जाय तो माग घटकर y^1 y^1 हो जाती है और रोजगार पर कोई प्रभाव नही पडा वह पहले की भाति A R ही रहा।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों द्वारा दिया गया तर्क अनुपयोगी 1929-30 की मन्दी मे नजर आया जब कम मजदूरी पर भी मजदूर रोजगार की तलाश मे इधर उधर मारे-मारे फिरते थे और उन्हें कोई काम नही मिलता था। उस समय अति उत्पादन का सामना करना पडा और पूर्ति माग का सृजन नहीं कर सकी व कम ब्याज दरो पर भी अतिरिक्त बचतें विनियोजित न हो सकीं।

समाज की सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था ही मुद्रा की सम्भावनाओ पर आधारित है। और इन सम्भावनाओं के टलने पर ही अर्थव्यवस्था के लिए खतरा उत्पन्न हो जाता है। चलन की मात्रा मे वृद्धि होने या बैंक साख में वृद्धि होने पर मुद्रा की मात्रा मे भी वृद्धि हो जाती है, जबकि वस्तुओं व सेवाओं की पूर्ति मे कोई परिवर्तन नही हो पाते हैं, फलस्वरूप मूल्य स्तर मे वृद्धि हो जाती है जिससे साहसी के लाभ मे वृद्धि होकर अर्थव्यवस्था मे रोजगार, आय एव उत्पादन की सम्भावना मे वृद्धि हो जाती है। आगे चलकर अति उत्पादन होने पर माल का स्टॉक बढ जाता है, जिससे मूल्य गिरने प्रारम्भ हो जाते हैं और अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव पडता है। अर्थव्यवस्था मे इस प्रकार के उच्चावचनों का होना एक मौद्रिक घटना ही है। मुद्रा को सेवक की भाति रखकर उपयोगी कार्य पूर्ण किये जा सकते हैं, तथा उसके स्वामी बन जाने पर अर्थव्यवस्था को हानि पहुचने का भय सदैव बना रहता है।

मुद्रा का महत्त्व (Importance of Money)

वर्तमान समय मे जीवन का ऐसा कोई भी पहलू न होगा, जिसमें मुद्रा ने अपना प्रवेश व उसे प्रभावित न किया हो। मानव समाज की सामाजिक, राजनीतिक एव आर्थिक उन्नति मुद्रा पर ही निर्भर करती है। मुद्रा की सहायता से आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक जीवन सरलतापूर्वक चलाया जा सकता है। मुद्रा के महत्त्व को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(1) आर्थिक जीवन मे मुद्रा का महत्त्व

मुद्रा के प्रयोग से बड़े पैमाने पर उत्पादन ही सम्भव नही हो पाया बल्कि इसने विभिन्न प्रकार की वस्तुओं को बडे पैमाने पर वितरण की सुविधाए प्रदान करके वर्तमान जीवन निर्वाह को विकसित किया है। मुद्रा ने उपभोक्ता की माग मे वृद्धि की है तथा बाजार सगठन, परिवहन सुविधाओं आदि के विकास के साथ-साथ बडे पैमाने पर उत्पादन क्रियाओं को सम्भव बनाया है। परिवहन की सुविधाओं ने सीमित माग की निर्भरता को समाप्त कर दिया है तथा मुद्रा ने वस्तु की माग को व्यक्तिगत स्तर से उठाकर, बाजार के माध्यम से सम्पूर्ण समुदाय तक विस्तृत कर दिया है। मुद्रा के बढते हुए महत्त्व को जानने के लिए पिछडे हुए राष्ट्रों की असगठित मौद्रिक पद्धति पर दृष्टि डाली जा सकती है जहा मुद्रा के अभाव मे आर्थिक क्रियाओं के क्रियान्वयन मे अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। समाज में मुद्रा का महत्त्व बढता ही जा रहा है और इस सम्बन्ध मे राबर्टसन के विचारो से मुद्रा के महत्त्व का अनुमान लगाया जा सकता है। श्री राबर्टसन के अनुसार "मौद्रिक अर्थव्यवस्था की उपस्थिति समाज को यह खोज करने मे सहायता करती है कि जनता क्या चाहती है और कितना चाहती है, जिससे यह निर्णय किया जा सके कि क्या और कितना माल उत्पादित करके, सीमित उत्पादन शक्ति का अधिकतम उपयोग सम्भव किया जा सके। इससे समाज के प्रत्येक सदस्य को यह विश्वास हो जाता है कि आमोद-प्रमोद के साधनो मे, जो उसके पास उपलब्ध हैं, वह वास्तविक रूप मे अधिकतम आनन्द प्राप्त कर सकता है,

जो उसकी सीमा के अन्तर्गत आ जाते हैं।"[1] मार्शल ने आर्थिक जगत में मुद्रा के महत्त्व को, मुद्रा के इतिहास का सम्बन्ध सभ्यता के विकास के साथ जोड़कर, बताया है। मौद्रिक अर्थव्यवस्था के विकास ने आर्थिक जगत में आर्थिक स्वतन्त्रता सम्भव बनाई है जिसने वर्तमान समय में पूंजीवादी या स्वतंत्र उपक्रम व्यवस्था को जन्म दिया है। मुद्रा ही पूंजीवाद का चिन्ह माना गया है। समाज की आदतें एवं विचार मुद्रा के महत्त्व से जुड़ी हुई हैं। समस्त आर्थिक क्रियाएं मुद्रा से ही जुड़ी हुई रहती हैं। यह कहा जाता है कि, "वर्तमान विश्व में उद्योग मुद्रा के लिबास में जकड़े हुए हैं।"[2] व्यक्ति या समाज की सफलता या असफलता मुद्रा में ही नापी जाती है व साथ ही हमारे निर्णय भी मुद्रा में ही अंकित किये जाते हैं। "मुद्रा एक ऐसा केन्द्र बिन्दु है जिसके चारों ओर आर्थिक विज्ञान चक्कर लगाता है।"[3] मुद्रा के आर्थिक क्षेत्र में महत्त्व का अनुमान निम्न प्रकार से लगाया जा सकता है :—

(i) **आधुनिक व्यवसाय का आधार**—मुद्रा आधुनिक व्यवसाय का आधार है। व्यवसायी अपनी उत्पादन क्रियाओं को नियोजित करते समय उत्पादन लागत, विक्रय मूल्य एवं लाभ की मात्रा से सम्बन्धित रहता है और इन सबकी गणना मुद्रा के रूप में की जाती है। एक व्यवसायी का नवीन उद्योग प्रारम्भ करने या पुराने को विस्तृत करना लाभ प्राप्ति की सम्भावना पर ही निर्भर करता है। इस प्रकार "मुद्रा उत्पादन के साधनों को संग्रहण करने का एक आवश्यक लक्षण है। व्यवसायी मुद्रा या उसी के अनुरूप अन्य वस्तुओं का उपयोग अपने कारखाने की रचना में सामग्री क्रय करने में करता है, वह सामग्री एवं अन्य वस्तुओं की पूर्ति करने में मुद्रा का उपयोग करता है, वह मुद्रा के आधार पर ही उत्पादन कार्यों के लिए आवश्यक कच्ची सामग्री की प्राप्ति के लिए बोली लगाता है और वह मुद्रा का उपयोग आवश्यक श्रमशक्ति एवं प्रशासन अधिकारियों के संगठन करने में लगाता है।"[4] समाज में श्रमिक, पूंजीपति, भूमिपति एवं संगठनकर्ता अपनी सेवाएं मुद्रा के बदले ही बेचते हैं। इनकी पूर्ति इनके मौद्रिक पुरस्कार के आधार पर घटती-बढ़ती रहती है। विभिन्न प्रकार की भूमि एवं पूंजी का वितरण अधिक मौद्रिक पुरस्कार मिलने की भावना से प्रेरित होता है। इस प्रकार व्यवसाय का सम्पूर्ण क्षेत्र मुद्रा से प्रभावित होता है।

(ii) **आर्थिक घटनाओं का मापदण्ड**—देश की आर्थिक घटनाओं का मापदण्ड मुद्रा द्वारा ही सम्भव हो सकता है। मुद्रा के अभाव में आर्थिक अनिश्चितता बनी रहती है। अर्थशास्त्री के लिए मुद्रा का वही महत्त्व है जो बजाज के लिए मीटर एवं व्यापारी के लिए तराजू का है।

(iii) **मूल्य यंत्र का आधार**—मुद्रा मूल्य यंत्र का आधार है। मूल्य, उत्पादकों को केवल उन वस्तुओं के उत्पादन में प्रोत्साहित करता है जिनके मूल्य बढ़ने की सम्भावना बनी रहती है। मूल्य पद्धति के द्वारा ही जनता का निर्णय एक दूसरे से मेल खा जाता है और विनिमय एवं विशिष्टीकरण को कुशलतापूर्वक सगठित किया जा सकता है। मूल्यों के द्वारा ही देश की आर्थिक क्रियाओं को रुचि, तकनीकी एवं साधनों से समायोजित किया जा सकता है। यदि एक वस्तु का मूल्य

1. "The existence of a monetary economy helps society to discover what people want and how much they want it and so to decide what shall be produced and in what quantities and to make best use of its limited productive power. And it helps each member of society to ensure that the means of enjoyment to which he has access yield him the greatest amount of actual enjoyment which is within his reach."—D. H Robertson · 'Money', p. 5.

2. "In the modern world industry is closely enfolded in a garment of money."—A C. Pigou : 'Industrial Fluctuations', p 117—reproduced by M. C. Vaish : 'Monetary Theory', p 16.

3. "Money has become the centre around which economic science clusters."—Mill

4. "Money is the indispensable pre-requisite to the assembling of the concrete instruments of production. The businessman uses money, or its equivalent to purchase materials for the construction of his factory; he uses his money in buying the supplies and materials necessary for its equipment; he bids competitively in the markets of the world for the raw materials used in the process of manufacturing; and he employs money as a means of attracting to his organisation the requisite labour force and corps of administrative officials"—H G Moulton, The Financial Organisation of Society, (3rd ed.) p. 3.

शील नही होती। इसके विपरीत अधिक सर्वीली व जटिल मुद्रा एवं विनिमय प्रणाली के अन्तर्गत मूल्य एवं आय स्तर ऊंचे होते हैं, व्यापार एवं उद्योग तुलनात्मक दृष्टि से विकसित अवस्था में होते हैं तथा उनका संगठन भी उच्च कोटि का होता है।

(viii) आर्थिक जीवन की रचना—मुद्रा देश के आर्थिक जीवन की रचना मे महत्त्वपूर्ण योगदान देती है। मुद्रा के स्वरूपो में परिवर्तन के साथ-साथ देश के आर्थिक जीवन का ढाचा एवं रूप भी परिवर्तित होता रहता है। देश की प्रगति का अनुमान मुद्रा प्रणाली से सहज ही लगाया जा सकता है। मुद्रा के कार्य में नमी होने पर देश की स्थिति बिगडने लगती है, विश्व की महान मन्दी (1929) इस बात की साक्षी है। देश का आर्थिक जीवन मुद्रा पर निर्भर करता है जिससे मुद्रा को सही दिशा में रखना आवश्यक हो जाता है। मुद्रा के विकास ने ही आर्थिक उदारतावाद को जन्म दिया है जो कि पूजीवादी एवं स्वतंत्र व्यवस्था का आधार है।

(2) सामाजिक सुधार में मुद्रा का महत्त्व

मुद्रा ने अनेक सामाजिक कुरीतियो को हतोत्साहित किया है तथा अनुबन्ध करने की स्वतन्त्रता व प्रतिस्पर्द्धा को प्रोत्साहित करके सामाजिक एवं आर्थिक दासता से मुक्ति दिलाने मे सहायता की है। मुद्रा के अभाव में मजदूरी एवं लगान का निर्धारण व भुगतान वस्तुओ मे किया जाता था जो श्रमिकों को पूंजीपतियो का दास बनाने में सहायता करती थी। परन्तु मुद्रा के प्रयोग से मजदूरी, लगान एवं अन्य व्ययों का भुगतान मुद्रा में किया जाने लगा है जिससे श्रमिक दास प्रथा से मुक्त हो गये हैं तथा अपने श्रम का पूर्ण मूल्य प्राप्त करके अधिकाधिक लाभ प्राप्त करते हैं। श्रमिक अपनी इच्छानुसार स्थान एवं व्यवसाय का परिवर्तन करने को स्वतन्त्र होते हैं और उनकी निर्भरता मे कमी हो जाती है। इस प्रकार मुद्रा के द्वारा अनेक प्रकार के सामाजिक सुधारों को सम्भव बनाया गया है तथा देश के सामाजिक साधनों व आर्थिक कल्याण में पर्याप्त मात्रा में वृद्धि की गई है। वर्तमान समय में लगभग समस्त आर्थिक क्रियाएं मुद्रा पर ही आधारित हो गई हैं। यह कहा जाता है कि "लगभग समस्त महान् राजनीतिक पहलू और समस्त जटिल सामाजिक समस्याएं एवं लगभग समस्त अन्तर्राष्ट्रीय हित एक ही आर्थिक मान पर निर्भर हो गये हैं।"[1]

(3) राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग

मौद्रिक अर्थव्यवस्था मे श्रम विभाजन एव विनिमय को अधिक महत्त्व दिये जाने के कारण मुद्रा ने राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग मे वृद्धि की है। मुद्रा के कारण गांव व शहर, प्रान्त व राज्य के व्यक्ति एक दूसरे के सम्पर्क मे आते हैं जो राष्ट्रीय एकता को बढावा देता है। इसी प्रकार जब एक देश के निवासी दूसरे देश के निवासियो के साथ सम्पर्क मे आते हैं तो उससे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग मे वृद्धि होती है एव आर्थिक वृद्धि के साथ-साथ राजनीतिक एवं सामाजिक क्षेत्र मे भी वृद्धि सम्भव हो जाती है, फलस्वरूप परस्पर तनाव व झगडे समाप्त होकर एकता की भावना मे वृद्धि होती है, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग मे वृद्धि होती है।

(4) राजनैतिक क्षेत्र में महत्त्व

मुद्रा से राजनैतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति मे काफी सहायता प्राप्त हुई। मुद्रा के कारण राजनैतिक दलों की स्थिति अधिक सुदृढ बन जाती है और वह देश के विकास के लिए अधिक तीव्रता से संघर्ष करने मे जुट जाती है। मुद्रा ने राजनीतिक चेतना मे वृद्धि की है। जब जनता राज्य या सरकार को कर देती है तो जनता के हृदय मे एक राजनीतिक चेतना जागृत हो जाती है और वह देश की राजनैतिक गतिविधियों मे रुचि लेने लगती है तथा इस बात का विशेष ध्यान रखती है कि उससे प्राप्त कर (Tax) की आय को सार्वजनिक कल्याण में व्यय किया गया अथवा नहीं। मुद्रा ने ही जनतन्त्रीय

1. "Almost all great political issues and almost all absorbing social problems and almost all international complications rest upon a pecuniary standard."—Devenport : 'Economics of Enterprise', p 23.

संस्थाओं की स्थापना को सम्भव बनाकर देश हित में कार्य किया है, जिससे देश का शासन-प्रबन्ध कुशलता व मितव्ययिता से चलने लगा है।

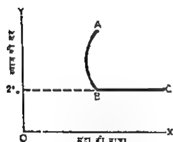
(5) अनार्थिक क्षेत्रों में महत्त्व

वर्तमान समय मे मुद्रा का उपयोग वस्तुओं एवं व्यक्तियों की तुलना करने मे भी किया जाने लगा है। किसी भी व्यक्ति की सफलता या असफलता उसके व्यक्तिगत गुणों से न माप कर मुद्रा, पुरस्कार एवं मौद्रिक आय मे मापी जाती है। वर्तमान समय मे जो पुरस्कार दिये जाते हैं, वे भी मुद्रा मे ही व्यक्त एव घोषित किये जाते है। मनुष्य की प्रगति उसकी मौद्रिक आय एवं सम्पत्ति से लगाई जाती है। धनवान व्यक्ति की समाज में प्रतिष्ठा बढ़ जाती है, जबकि गरीब व्यक्ति को समाज में उचित स्थान नहीं दिया जाता है। दैनिक क्रियाएं एव भौतिक उन्नति मुद्रा में ही मापी जाती हैं। मनुष्य के बौद्धिक विकास का स्तर उसकी मौद्रिक आय से ही जाना जाता है।

इस प्रकार मुद्रा का महत्त्व विभिन्न क्षेत्रों में है।

आधुनिक अर्थशास्त्र में मुद्रा
(Money in Modern Economics)

कीन्स का 'सामान्य सिद्धान्त' से ही आधुनिक मुद्रा के सिद्धान्त का प्रारम्भ होता है। कीन्स ने अपने सामान्य सिद्धान्त का मुद्रा सिद्धान्त से जोड़ दिया। मुद्रा मानव की आर्थिक क्रियाओं को सीधे प्रभावित करती है। मुद्रा की सहायता से उत्पादन व रोजगार के स्तर मे वृद्धि करके आय में वृद्धि की जा सकती है। मुद्रा को एक प्रवैगिक शक्ति माना है। सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था मे वित्तीय क्षेत्र एक महत्त्वपूर्ण अग है जिसमें क्रियाएँ मुद्रा द्वारा प्रभावित होती हैं। मुद्रा ब्याज की दर को प्रभावित करके विनियोग व आर्थिक क्रियाओं को प्रभावित करती है। मुद्रा की मात्रा बचत, ब्याज, रोजगार उत्पादन व विनियोग आदि को प्रभावित करती है। मुद्रा द्वारा ही अर्थव्यवस्था की जटिलता पर काबू पाया जा सकता है। मुद्रा का सिद्धान्त पूजीवादी अर्थव्यवस्था मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। उत्पादन मे समस्त घटकों को पुरस्कार मुद्रा मे ही प्राप्त होता है। पूजी व भूमि की गतिशीलता, विभिन्न प्रयोगों मे अच्छे पुरस्कार प्राप्त होने की आशा से प्रभावित होते है। पूजीवादी अर्थव्यवस्था मुद्रा अर्जन की सम्भावनाओं पर टिकी है। इन सम्भावनाओं के भंग होने पर अर्थव्यवस्था मे खतरे उत्पन्न हो जाते हैं। मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने एवं वस्तुओं की पूर्ति पूर्ववत रहने से देश में स्फीतिक परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इससे लाभ मे वृद्धि होती है जो आगे चलकर पतन की ओर अग्रसर होता है। अधिक उत्पादन हो जाने पर मूल्य गिरने लगते हैं जिसमें अर्थव्यवस्था पर बुरे प्रभाव पड़ते हैं। मुद्रा के मूल्य मे उतार-चढ़ाव के आर्थिक, सामाजिक, व राजनैतिक प्रभाव काफी गम्भीर होते हैं।



चित्र 3 3

कीन्स का मत है कि ब्याज की दर बचत एवं विनियोग मे सन्तुलन नहीं लाती, बल्कि आय द्वारा यह सन्तुलन स्थापित किया जा सकता है। व्यापार की सम्भावनाएँ अच्छी न होने पर व्यापारी विनियोग करना पसन्द नहीं करता। ब्याज की दर को एक स्तर से नीचे नहीं लाया जा सकता, चाहे मुद्रा की पूर्ति को कितना ही क्यों न बढ़ा दिया जाये। कुछ ऐसी शक्तियां होती हैं जो ब्याज को एक निश्चित स्तर से नीचे गिरने से रोकती हैं। इस स्थिति मे तरलता पसन्दगी मागवक्र पूर्णरूप से लोचशील बन जाती है। ब्याज की दर एक न्यूनतम दर के बाद और अधिक नीचे नहीं गिरती जैसाकि चित्र 3.3 मे BC रेखा द्वारा दिखाया गया है—

ब्याज दर से कम दर होने पर बंक जितनी भी मुद्रा डालेगी उस सबको लोग अपने पास रख लेंगे और ब्याज मे कमी नहीं होगी जिसे तरलता जाल कहा जाता है।

मुद्रा का प्रवाह एवं आर्थिक प्रणाली
(Flow of Money and Economic System)

वर्तमान आर्थिक अर्थव्यवस्था की प्रमुख विशेषता मुद्रा का निरन्तर प्रवाह है। मुद्रा का वह भाग जो उपभोक्ताओं द्वारा वस्तुओं को क्रय करने के रूप में थोक, फुटकर व्यापारी या उत्पादक को दिया जाता है, वह धन फिर से मजदूरी, ब्याज, लगान व लाभ के रूप में, उत्पादन के सहकारी साधन के रूप में उपभोक्ता तक पहुंच जाता है। इस प्राप्ति का कुछ भाग करों के रूप में सरकार को चला जाता है तथा शेष भाग आर्थिक क्रियाओं में उपभोग किया जाता है। किसी भी राष्ट्र के आर्थिक पद्धति के स्थायित्व एवं उचित ढंग से कार्य करने के लिए यह आवश्यक है कि वहाँ मुद्रा का प्रवाह ठीक प्रकार से बना रहे। मुद्रा के प्रवाह में रुकावटें उत्पन्न होने पर देश की समस्त अर्थव्यवस्था बिगड़ जाती है। सन् 1929-30 की महान् मन्दी पूंजी बाजार के अस्त-व्यस्त हो जाने का ही परिणाम थी जबकि विश्व के अधिकांश राष्ट्रों को बेरोजगारी एवं अति-उत्पादन जैसे संकट का सामना करना पड़ा। इसी प्रकार युद्धोपरान्त मुद्रा के प्रवाह में आनुपातिक दृष्टि से वृद्धि होने पर योरुप के अधिकांश राष्ट्रों को अतिरिक्त-मुद्राप्रसार (hyper-inflations) का सामना करना पड़ा था। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी घटनाएं भी हैं जिन्हें मुद्रा के उचित प्रवाह द्वारा भी नहीं रोका जा सकता जैसे अकाल, सूखा, बाढ़ भूकम्प आदि। समाज में रहने वाला प्रत्येक व्यक्ति अर्थव्यवस्था में दोहरा भाग लेता है। एक तरफ मनुष्य अपनी उत्पादक सेवाओं का स्वामी होता है और दूसरी तरफ वह उपभोक्ता भी होता है जिस पर समस्त उत्पादन का प्रवाह मोड़ दिया जाता है। व्यक्ति श्रमिक, मजदूर या मालिक के रूप में उत्पादन कार्यों से जो अपना हिस्सा प्राप्त करता है उसे अपनी उपभोक्ता की वस्तुओं को प्राप्त करने में व्यय कर देता है। कारखानों से वस्तुएं उत्पादित होकर बाजार के द्वारा उपभोक्ताओं के घर तक पहुंचा दी जाती हैं और जब वस्तुएं उपभोक्ता द्वारा क्रय की जाती हैं तो मुद्रा का प्रवाह घरों से कारखानों की ओर होने लगता है और जब मजदूरी, वेतन, ब्याज आदि के रूप में मुद्रा दी जाती है तो मुद्रा का प्रवाह कारखानों से उपभोग केन्द्रों की ओर होने लगता है। इस प्रकार मुद्रा का आदान-प्रदान एवं प्रवाह निरन्तर चलता रहता है और अर्थव्यवस्था को लाभान्वित करता है। देश में आर्थिक स्थिरता एवं विकास के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि दोनों ओर (कारखानों से उपभोक्ता तक तथा उपभोक्ताओं से कारखानों तक) से प्रवाह ऊंचा एवं स्थिर रहे तथा उसमें समान अनुपात से वृद्धि हो। यदि दोनों ओर से प्रवाह सन्तुलित है तो मूल्यों में स्थिरता बनाई जा सकती है। परिणामस्वरूप देश में स्वस्थ आर्थिक विकास के साथ-साथ आय, उत्पादन एवं बिक्री में स्थिरता बनी रहेगी। यदि किसी अवधि में वस्तुओं एवं सेवाओं में वृद्धि हुए बिना मुद्रा के प्रवाह में वृद्धि हो जाये तो अर्थव्यवस्था में मुद्रा प्रसार दृष्टिगोचर होने लगता है। इसके विपरीत यदि वस्तुओं व सेवाओं की तुलना में मुद्रा के प्रवाह में कमी हो जाये तो देश में मुद्रा संकुचन की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी, परिणामस्वरूप बेरोजगारी, राष्ट्रीय आय में कमी, मूल्यों में कमी, व्यवसाय में गिरावट, उत्पादन एवं बिक्री में कमी आदि बातें अर्थव्यवस्था में नजर आने लगती हैं और आर्थिक क्रियाओं पर बुरा प्रभाव डालती हैं। अतः यह आवश्यक है कि दोनों प्रकार से मुद्रा का प्रवाह सन्तुलित बना रहे, जिससे समाज में पर्याप्त मात्रा में वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन होता रहे तथा बाजार में उनकी बिक्री निरन्तर चलती रहे। इस प्रकार मुद्रा संकुचन या मन्दी के समय जब देश में निराशा, बेरोजगारी, कम आय उत्पादन व बिक्री में कमी आदि लक्षण दिखाई देते हैं, तो समाज में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि करके उसे सुधारने के उपाय अपनाये जाते हैं। इस काल में राष्ट्र के केन्द्रीय बैंकिंग अधिकारी (Central Banking Authority) उत्पादक उपयोग द्वारा अतिरिक्त क्रय शक्ति बाजार में प्रदान करके, बेकार पड़े साधनों के लिए अतिरिक्त मांग उत्पन्न करते हैं, फलस्वरूप समाज में एक सचयी प्रभाव पड़ता है, जिससे अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार एवं ऊंची आय की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार मन्दी काल में मुद्रा के प्रवाह में वृद्धि करके अर्थव्यवस्था में उत्पादन एवं रोजगार में वृद्धि करके सुधार लाया जा सकता है। अमेरिका का न्यू डील नीति (New Deal Policy) एवं फ्रांस का 'ब्लम प्रयोग' (Blum Experiment) इस बात के उदाहरण हैं कि मुद्रा के प्रवाह में वृद्धि करके आर्थिक पद्धति में किस प्रकार स्थायित्व लाया जा सकता है।

वस्तुओं एवं सेवाओं के प्रवाह एवं मुद्रा भुगतान के प्रवाह में संतुलन बनाये रखने के लिए अनेक प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। वस्तुओं एवं सेवाओं के प्रवाह के आकार में सदैव परिवर्तन होते रहते हैं। वस्तुओं की पूर्ति में सामयिक परिवर्तन के साथ-साथ, सूखा एवं बाढ़ आदि का भी काफी प्रभाव पड़ता है। युद्ध का खतरा भी वस्तुओं के उत्पादन की प्रवृति में परिवर्तन ला देता है जैसे 1962 के चीनी आक्रमण से एवं 1965 के पाकिस्तानी आक्रमण व उसके

शक्ति अधिक होती है। पूंजीवादी समाज में उत्पादन का संगठन लाभ अर्जित करने के उद्देश्य से भावी माग के आधार पर किया जाता है। देश की भावी माग सदैव क्रय-शक्ति पर निर्भर करती है। समाज में क्रय शक्ति का असमान वितरण होने पर अनेक प्रकार के प्रभाव पड़ते हैं। यह प्रभाव निम्न प्रकार हैं—

(i) प्रभावपूर्ण मांग का प्रदर्शन—निर्धन वर्ग क्रय-शक्ति की कमी के कारण जीवनोपयोगी एवं आवश्यक आवश्यकताओं को प्राप्त करने के लिए प्रभावपूर्ण माग को प्रदर्शित करता है।

(ii) बचत में वृद्धि—धनी वर्ग में बचत की भावना बढ़ने पर कुल माग में वृद्धि सम्भव नहीं हो पाती, फलस्वरूप उत्पादन में कमी होकर, मन्दी आने का खतरा सदैव बना रहता है।

(iii) विलासिता की मांग में वृद्धि—यदि धनी वर्ग में उपभोग की प्रवृत्ति अधिक है तो आरामदायक एवं विलासिता की वस्तुओं की माग में वृद्धि हो जाती है, फलस्वरूप देश के साधन विलासिता की वस्तुओं के उत्पादन में लग जाते हैं और गरीब वर्ग द्वारा उपभोग की जाने वाली आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति में कमी हो जाती है।

इस प्रकार मुद्रा उत्पत्ति एवं वितरण को बहुत अधिक प्रभावित करती है, जिससे उसका सामाजिक महत्व काफी बढ़ गया है।

वर्तमान अर्थव्यवस्था में मुद्रा का महत्त्व
(Significance of Money in Modern Economy)

वर्तमान अर्थव्यवस्था में मुद्रा का स्थान महत्त्वपूर्ण है और देश की समस्त आर्थिक क्रियाएं मुद्रा में ही व्यक्त की जाती हैं। मुद्रा का उपयोग इतना अधिक बढ़ गया है कि उसके बिना आर्थिक क्रियाओं का होना कठिन हो गया है। अत मुद्रा की व्यवस्था को बनाये रखना आवश्यक सा हो गया है, परन्तु उसके मूल्यों में परिवर्तनों को रोकना आवश्यक हो गया है। मुद्रा के मूल्यों में नियन्त्रण प्राय देश की केन्द्रीय सरकार द्वारा किया जाता है। मुद्रा से कोई भी वस्तु सरलता से प्राप्त की जा सकती है, परन्तु मुद्रा स्वयं कुछ भी उत्पादन नहीं कर पाती। यह कहा जाता है कि मुद्रा केवल एक मध्यस्थ मात्र है जो उत्पादन व वितरण की आर्थिक क्रियाओं को सरल व सुविधाजनक बनाता है। मुद्रा के प्रयोग से वस्तुओं व सेवाओं की क्रियाएं सरल हो जाती हैं। मुद्रा ने उत्पादन के क्षेत्र में श्रम-विभाजन, पूंजी सचय, श्रमिकों की गतिशीलता आदि में वृद्धि करके उत्पादन बढ़ाने के प्रयास किये हैं। उत्पादक अपने सीमित साधनों से अधिकतम लाभ प्राप्त करने के प्रयास करता है। उपभोक्ता मुद्रा का व्यय इस प्रकार करता है कि उसे अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त हो। क्रय, विक्रय, पुरस्कार, मूल्यांकन आदि मुद्रा में ही घोषित किये जाते हैं। मुद्रा के प्रयोग से श्रमिकों एवं कृषकों को स्वतन्त्र जीवन बिताने का अवसर प्राप्त होता है, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि हुई है तथा कर आदि की राशि मुद्रा में वसूल करके उसे जनता के हितार्थ व्यय की जाती है। इतना सब होने पर भी यह सही है कि मुद्रा का मूल्य स्थायी नहीं है और वह वस्तुओं के मूल्य समान रूप से नापने में असमर्थ रहती है। मुद्रा में जब मूल्य संचित किया जाता है तो मुद्रा प्रसार में हानि होती है और मुद्रा संकुचन में लाभ। उत्पत्ति के साधनों को पुरस्कार मुद्रा में ही दिया जाता है और उस प्राप्त आय को आवश्यकता की वस्तुएं प्राप्त करने में व्यय कर दिया जाता है।

पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा का महत्त्व
(Significance of Money in a Capitalist Economy)

पूंजीवादी अर्थव्यवस्था लाभ की भावना पर आधारित होती है और लाभ की ही प्रेरणा से पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में गतिशीलता लाई जाती है। लाभ की भावना के अभाव में आर्थिक क्रियाओं की गति मन्द पड़ जाती है। वर्तमान समय में समाज का प्रत्येक व्यक्ति लाभ की भावना से ही कार्य करता है। "पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में कार्य करने वाले सिद्धान्त, यद्यपि अतिसाधारण रूप में हैं, फिर भी यह स्पष्ट है कि मुद्रा ऐसी पद्धति के कार्यकलापों में एक महत्त्वपूर्ण भाग रखती है।"[1]

1. Our picture of the working principles of the capitalist economy, though grossly oversimplified, shows nevertheless that money plays the most important part in the mechanism of such a system."—George N. Halm: 'Monetary Theory' (Asia Publishing House Bombay) 1963, p. 9.

बाजार अर्थव्यवस्था के कार्यों के लिए मुद्रा का उपयोग अति आवश्यक है। एक पूंजीवाद अर्थव्यवस्था मे मुद्रा के महत्त्व को निम्न प्रकार रखा जा सकता है :—

(1) साख बाजार का विकास—देश के साख बाजार के विकास के लिए मुद्रा का विशेष महत्त्व है। वस्तु-विनिमय की अर्थव्यवस्था मे वस्तुओं को इस आधार पर उधार लिया जाता था कि उन्हें कुछ समय पश्चात् वापस कर दिया जायेगा। इस व्यवस्था मे केवल उतने ही साख बाजार सम्भव हो सकते थे, जितने प्रकार की वस्तुएं उपलब्ध रहती थी। विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के लिए एकरूप बाजार का होना सम्भव नही था। मुद्रा मे उधार लेकर व मुद्रा में ही भुगतान देकर, देश मे एक समान प्रकार के बाजार की स्थापना की जा सकती है। साख व्यवहारो का उद्देश्य समान मेवाए एवं समान मूल्य का निर्माण करना है जो मुद्रा या साख बाजार के विकास होने पर ही सम्भव हो सकता है। जनता की मांग एवं पूर्ति, एक निश्चित समय पर प्रदान की गई मुद्रा की पूर्ति पर निर्भर करेगी। मुद्रा के आधार पर किसी भी वस्तु को सरलता से प्राप्त किया जा सकता है। ऋणो को मुद्रा के रूप मे ही सरलता से दिया जा सकता है तथा उस कोष की कीमत या मूल्य को ब्याज की दर के आधार पर व्यक्त किया जा सकता है। ब्याज की दर प्रतिशत के आधार पर निर्धारित की जाती है और इस प्रकार धनराशि और समयावधि से स्वतन्त्र रहती है।

(2) मूल्यांकन का सामान्य आधार—मुद्रा वस्तुओं के मूल्यांकन का सामान्य आधार प्रस्तुत करती है। किसी भी वस्तु का अनुमान केता को प्राप्त होने वाली मानसिक सन्तुष्टि से लगाया जाता है, परन्तु यह अनुमान काल्पनिक होता है, क्योंकि विभिन्न व्यक्तियो की मौद्रिक आय भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है।

(3) मुद्राप्रसार एवं संकुचन सम्बन्धी प्रभाव—मुद्रा द्वारा देश मे मुद्रा प्रसार एवं मुद्रा संकुचन सम्बन्धी प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगते हैं। यदि मुद्रा को स्थायी व मूल्यांकन की एक इकाई मानी जाये, तो मुद्रा का विनिमय मूल्य तुलनात्मक दृष्टि से स्थिर रहना चाहिए। मुद्रा का मूल्य उसके क्रय करने की योग्यता पर निर्भर करता है और जब मूल्य बढ़ते हैं तो यह योग्यता गिर जाती है एवं मूल्यो के घटने पर योग्यता बढ़ जाती है।

(4) आर्थिक गणना का आधार—मुद्रा जनता को क्रेता एवं विक्रेता वर्ग मे विभाजित करके वस्तु विनिमय की माग व पूर्ति मे विभाजित व परिवर्तित कर देती है। माग एवं पूर्ति ही बाजार मूल्यो को निर्धारित करती है जो स्वयं मुद्रा मे व्यक्त किये जाते हैं। उत्पादन की दिशा का निर्धारण वर्तमान एवं भावी मूल्यों पर आधारित होता है। उत्पादन लागत एवं मूल्यों के अन्तर को उत्पादक का लाभ या हानि के नाम से जानते हैं। लाभ या हानि के आधार पर ही उत्पादन की मात्रा को घटाया या बढ़ाया जाता है। इस प्रकार पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के निजी क्षेत्र मे समस्त उत्पादन आर्थिक गणना पर आधारित होते हैं।

(5) उपभोक्ता की सार्वभौमिकता—पूंजीवादी अर्थव्यवस्था मे उपभोक्ता वस्तुओं को क्रय करने मे स्वतन्त्र होता है जिसमे प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्रतापूर्वक यह निर्धारित करता है कि उसे कौन सी वस्तुएं क्रय करनी हैं, इसी के आधार पर उत्पादन को समायोजित किया जाता है। मुद्रा के प्रयोग ने उपभोक्ता को यह स्वतन्त्रता प्रदान की है कि वह अपनी इच्छानुसार वस्तुओं को खरीदें। मुद्रा की इस क्रय-शक्ति का किसी भी प्रकार से उपयोग किया जा सकता है। मुद्रा के अभाव मे, उत्पादकों पर निर्भर रहना पड़ता और उनके द्वारा उत्पादित की गई वस्तुओं से ही सन्तोष करना पड़ता और उपभोक्ता की सार्वभौमिकता समाप्त हो गई होती।

(6) बचत एवं पूंजी का स्रोत—साख बाजार मे मुद्रा बचत को प्रोत्साहित करती है एवं उन व्यक्तियों को उधार देने मे प्रयोग की जाती है जिनके व्यय उनकी आय मे अधिक होते हैं। मुद्रा को संचय किया जा सकता है तथा कुल माग को घटाया जा सकता है, फलस्वरूप उत्पादन, रोजगार एवं आय मे कमी हो जाती है। ब्याज की दर कम होने पर मुद्रा संचय को हतोत्साहित कर सकती है तथा ब्याज की अधिक दर पूंजी के निर्माण मे वृद्धि कर सकती है।

(7) उत्पादन का निर्णय—पूंजीवादी अर्थव्यवस्था मे समस्त वस्तुएं मुद्रा मे ही नापी जाती हैं और इन मौद्रिक मूल्यों के आधार पर ही यह निर्णय लिया जाता है कि कौन सी वस्तु कितनी मात्रा मे उत्पादित की जावे। मुद्रा के अभाव मे ऐसे निर्णय लेना कठिन हो जाता है।

(8) वितरण मे सरलता—उत्पादन कार्य अनेक व्यक्तियो द्वारा किया जाता है, जिन्हें पृथक् मे पारिश्रमिक देना निश्चित किया जाता है। उत्पत्ति के साधनों को उनका पारिश्रमिक वस्तुओं के पूर्ण होने से पूर्व ही दिया जाता है, जिस

कार्य में मुद्रा ही सहायता प्रदान करती है। मुद्रा के रूप में विभिन्न व्यक्तियों का पारिश्रमिक सुगमता से निश्चित कर दिया जाता है तथा आवश्यकतानुसार अग्रिम भुगतान भी दिया जा सकता है।

(9) आय का उचित प्रयोग—मुद्रा की सहायता से आवश्यकताओं की तीव्रता एवं सीमान्त उपयोगिता को सरलता से नापा जा सकता है। एक उपभोक्ता अपनी सीमित आय से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने में सफल हो जाता है, जो शायद मुद्रा के अभाव में सम्भव नहीं था।

(10) पूंजीपतियों के लाभ पर प्रभाव—मुद्रा में व्यक्त किये गये मूल्यों के आधार पर ही व्यापारिक निर्णय लिये जाते हैं तथा व्यापार का विस्तार या संकुचन किया जाता है। लाभ की मात्रा कम होने पर पूंजीपति अपने कारोबार को एक स्थान से हटाकर दूसरे स्थान पर ले जाते हैं।

समाजवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा का महत्त्व
(Significance of Money in a Socialist Economy)

साम्यवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा का कोई स्थान नहीं माना जाता। लेनिन, मार्क्स एवं अन्य साम्यवादी लेखकों ने मुद्रा के प्रति एक विरोधी विचार ही अपनाया। मार्क्स का विचार था कि मुद्रा के कारण ही श्रमिकों का शोषण होता है और इसी के आधार पर स्वामियों को बचत मूल्य प्राप्त होता है। उनकी राय में साम्यवाद के अन्तर्गत आदर्श विश्व का का निर्माण करने के लिए मुद्रा व्यवस्था को समाप्त करके वस्तु-विनिमय की नीति को ही अपनाना उचित रहेगा। इन विचारों पर निर्भर होकर रूस में मुद्रा के उन्मूलन के प्रयास किये गये और वहां 1917 में बोल्शेविस्टों (Bolshevists) को सत्ता प्राप्त होने पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण एवं वस्तुओं के मुफ्त वितरण द्वारा मुद्रा के उपयोग को समाप्त करने के असफल प्रयास किये गये। इस असफलता को स्वयं लेनिन ने स्वीकार किया। "अक्टूबर 1921 में लेनिन ने यह स्वीकार किया कि बोल्शेविस्ट अपने विश्वास पर महान गलती कर चुका था, कि साम्यवाद की प्रारम्भिक अवस्था को, समाजवादी निर्णय एवं नियन्त्रण की स्थिति से गुजरे बिना प्राप्त किया जा सकता है।"[1] इसी प्रकार ट्राटस्की (Trotsky) ने भी समाजवादी नियोजन के लिए मुद्रा की आवश्यकता को स्वीकार किया। उनका विचार था कि बाजार व्यवस्था द्वारा किसी योजना का निर्माण करना आवश्यक होगा। "सरकारी कार्यालयों द्वारा बनाये गये अनुमानों को व्यापारिक गणना के आधार पर अपना आर्थिक औचित्य प्रमाणित करना चाहिए। किसी सुदृढ़ मौद्रिक इकाई के अभाव में व्यापारिक गणना के प्रयास गड़बड़ी ही उत्पन्न करेंगे।"[2] परिणामस्वरूप 1921 की नवीन आर्थिक नीति में अनेक संकीर्ण साम्यवादी धारणाओं का परित्याग कर दिया गया और मुद्रा की धारणा को भी समाप्त करने के विचार थे। परन्तु सरकार ने मुद्रा महत्त्व को ध्यान में रखते हुए व्यापक रूप में केन्द्रीय नियोजन एवं सामूहीकरण की नीति अपनाते समय मुद्रा एवं अधिकोषण को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। देश में उत्पादन एवं आय सम्बन्धी व्यवहार मुद्रा में ही किये जाते हैं तथा मजदूरी व वेतन आदि का भुगतान मुद्रा में ही करके प्राप्तकर्ता को पूर्ण स्वतन्त्रता दी जाती है कि वह अपनी आय को अपनी इच्छानुसार वस्तुओं के क्रय करने में व्यय कर दे।

समाजवादी अर्थव्यवस्था में देश की सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु यह आवश्यक है कि मुद्रा को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया जाये। देश में मजदूरी का वितरण वस्तु के रूप में होने पर भी आर्थिक साधनों का उपयोग मितव्ययितापूर्ण ढंग से किया जाना चाहिए। देश के आर्थिक साधनों का उचित हिसाब लगाने के लिए मुद्रा से बढ़कर अन्य कोई वस्तु नहीं है। "यदि उत्पादन के लक्ष्य तानाशाह द्वारा निर्धारित किये गये हों, तो साधनों का आवंटन, इन उद्देश्यों की पूर्ति में मूल्य प्रक्रिया द्वारा सम्भव हो सकता है जो कि साधन की सहायता के लिए विभिन्न उद्देश्यों के सम्बन्ध में सीमान्त

1. "Lenin, for example, admitted in October 1921 that the Bolshevists had been greatly mistaken in their belief that they could reach even the initial stage of Communism without having passed a period of socialistic calculations and control."—Vol. 43 of the Russian edition of Lenin's : Collected Works, Moscow, 1924-26.

2. "The blue prints produced by offices must demonstrate their economic expediency through commercial calculation Without a firm monetary unit commercial accounting can only increase the chaos."—L. D. Trotskey : 'Sovil Economy in Danger', p. 30.

उपयोगिता का अन्दाज लगाया जा सकता है।"[1] लर्नर ने भी कहा है कि "मूल्य पद्धति के बिना किसी भी आर्थिक पद्धति के कार्यों में कठिनाई होगी, एवं व्यवस्था का संचालन कुशलतापूर्वं सम्भव नहीं हो सकेगा।"[2]

इस प्रकार सुरक्षापूर्वक यह कहा जा सकता है कि एक समाजवादी अर्थव्यवस्था में मौद्रिक अर्थव्यवस्था रहेगी तथा समस्या का महत्त्वपूर्ण भाग आधुनिक अर्थव्यवस्था पर प्रभाव डालेगा। समाजवादी अर्थव्यवस्था मे पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की तुलना मे कम महत्त्व रहता है। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था मे मुद्रा उपयोगिता पर राज्य करती है परन्तु समाजवादी अर्थव्यवस्था मे उपयोगिता मुद्रा पर राज्य करती है तथा जन-कल्याण प्राप्त करने के अधिकतम प्रयास किये जाते हैं।

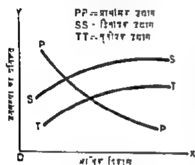
नियोजित अर्थव्यवस्था में मुद्रा का महत्त्व
(Significance of Money in a Planned Economy)

नियोजित अर्थव्यवस्था मे मुद्रा के महत्त्व को निम्न प्रकार जाना जा सकता है :—

(1) **ऋणों की व्यवस्था**— जब देश मे करो या अन्य बचत साधनो द्वारा पर्याप्त राशि एकत्रित करना सम्भव न हो, तो विदेशी ऋणो की व्यवस्था करनी होती है, जिसे प्रायः मुद्रा मे ही प्राप्त किया जाता है।

(2) **घाटे की वित्त-व्यवस्था**—यदि आय से व्यय अधिक हो जाये और व्ययो को पूरा करने के अन्य साधन उपलब्ध न हो तो हीनार्थ प्रबन्धन (Deficit financing) की व्यवस्था द्वारा वित्त प्रबन्ध करना पड़ता है, जिसके लिए पर्याप्त मात्रा मे सरकार को अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा (inconvertible paper money) जारी करनी पड़ती है। इस प्रकार हीनार्थ प्रबन्धन के लिए भी मुद्रा का ही सहारा लेना पड़ता है।

(3) **योजनाओ का निर्माण**— अविकसित एवं अर्द्धविकसित राष्ट्रो मे नियोजित अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत, बड़ी बड़ी योजनाओ के द्वारा, देश के आर्थिक विकास के लिए योजनाओ का निर्माण किया जाता है। इन योजनाओ मे विशाल मात्रा मे धनराशि व्यय की जाती है और उसकी पूर्ति मुद्रा की उपलब्धता द्वारा ही सम्भव हो पाती है।



चित्र 3.5

(4) **विदेशी बाजार मे क्रय-विक्रय**—देश के आन्तरिक बाजार में क्रय-विक्रय के लिए पत्र मुद्रा से काम चलाया जाता है, परन्तु विदेशी बाजारो मे क्रय-विक्रय केवल विदेशी मुद्रा विदेशी विनिमय अथवा स्वर्ण मे ही सम्भव हो पाता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आयात को सीमित एवं निर्यात को बढ़ाकर विदेशी मुद्रा प्राप्त की जाती है अथवा अन्तर्राष्ट्रीय कोष एवं बैंक से विदेशी मुद्रा मे सहायता ली जाती है, जिसका उपयोग देश के आर्थिक विकास मे सुगमता से किया जा सकता है। विकासशील अर्थव्यवस्था मे कृषि ही जीवन-निर्वाह का साधन होने पर मुद्रा विनिमय के अवसर कम हो जाते हैं। आर्थिक विकास के साथ-साथ प्राथमिक उद्योगो (कृषि, मछली आदि) मे लगे व्यक्तियों का अनुपात कम होता जाता है और द्वितीयक व तृतीयक उद्योगो मे लगे व्यक्तियो का अनुपात बढ़ता जाता है जैसाकि चित्र 3.5 से स्पष्ट है।

1. "Even if the aims of production should be determined by a dictator, the allocation of resources according to these aims would have to be the result of the working of a pricing process by means of which it is possible to compare the usefulness of the available resources in different fields of employment."—G. N. Halm : 'Monetary Theory', p. 13.

2. "Without a pricing system it is impossible for an economic system of any complexity to function with any reasonable degree of efficiency."—A. P. Lerner : Economic Theory and Socialist Economy, Vol. II, . 55.

मुद्रा के दोष
(Dangers of Money)

मुद्रा के अनेक लाभ होने पर भी उसमे निम्नलिखित दोष पाये जाते हैं :—

1. आर्थिक दोष

आर्थिक दृष्टि से मुद्रा के प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं :—

(1) धन का असमान वितरण—मुद्रा को संग्रह करके रखने की सुविधा होने के कारण, लोग उसे संग्रह करने का प्रयास करते हैं और अधिक धन संचय हो जाने पर उत्पादन में अधिक हिस्सा प्राप्त करने के प्रयत्न करते हैं। इस प्रवृत्ति के कारण देश में धन का वितरण असमान रूप से हो जाता है, जो अनेक बुराइयों को जन्म देता है।

(2) मुद्रा एवं क्रय-शक्ति में भेद—मुद्रा एवं क्रय-शक्ति एक ही बात न होकर दो भिन्न बातें हैं। कभी-कभी मुद्रा होते हुए भी वस्तुओं को प्राप्त करना कठिन हो जाता है, जिससे मुद्रा का कोई महत्व नहीं रह पाता। मुद्रा प्रसार के समय जब वस्तुओं के भाव बहुत अधिक बढ़ जाते हैं, तो वहां की जनता मुद्रा के बदले कभी-कभी पर्याप्त मात्रा में वस्तुओं को प्राप्त करने में असमर्थ रहती है।

(3) मुद्रा मूल्यों में उच्चावचन—मुद्रा का मूल्य अस्थिर रहता है, पत्र मुद्रा एवं बैंक मुद्रा के प्रयोग के कारण यह अस्थिरता और अधिक बढ़ गई है, परिणामस्वरूप वस्तुओं के मूल्यों में भी घट-बढ़ होती रहती है और मूल्यों में स्थायित्व सम्भव नहीं हो पाता। इस प्रकार के उच्चावचन से समाज के विभिन्न वर्गों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। मुद्रा प्रसार के समय सम्पत्ति प्राय: व्यापारियों के हाथों में केन्द्रित हो जाती है और निर्धनों को बढ़े हुए मूल्यों का सामना करना पड़ता है। इसके विपरीत मुद्रा संकुचन की अवस्था में व्यापारियों को वित्तीय हानि होती है तथा श्रमिकों को बेरोजगारी का सामना करना पड़ता है और मध्यम वर्ग लाभ उठाता है। इस प्रकार मुद्रा के मूल्यों में उच्चावचन के कारण समाज में धन के वितरण पर कुप्रभाव पड़ता है।

(4) युद्धकाल में अस्थिरता—युद्धकाल में मुद्रा के मूल्य में अस्थिरता आ जाती है और देश की आन्तरिक अर्थव्यवस्था पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् विश्व में अनेक यूरोपीय राष्ट्रों ने मुद्रा प्रसार का अनुभव किया, जिससे उनकी मुद्रा का आन्तरिक मूल्य बहुत गिर गया और जनता की जिन्दगी भर की अर्जित की गई बीमा एवं विनियोग की राशि का मूल्यांकन बहुत कम रह गया। जर्मनी में मार्क के मूल्य में असाधारण कमी के कारण जर्मनी की अर्थव्यवस्था तथा उत्पादन एवं वितरण पर बुरा प्रभाव पड़ा।

(5) विश्व-मन्दी का प्रभाव—1929 में घोर विश्व-मन्दी ने भी राष्ट्र की मुद्रा को झकझोर कर अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव डाला। मुद्रा संकुचन के समय मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है और प्रत्येक व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को तरलता में बदलने का प्रयास करता है, फलस्वरूप वस्तुओं की मांग गिर जाती है एवं उत्पादन में कमी होकर बेरोजगारी बढ़ती है। इससे श्रमिक वर्ग पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

(6) ऋणग्रस्तता में वृद्धि—मुद्रा ने ऋण लेने की क्रिया को सरल बना दिया है जिससे ऋण लेने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला है तथा व्यक्ति मितव्ययिता के स्थान पर फिजूलखर्ची का आदी हो गया है। मुद्रा के कारण उद्योगों को भी ऋण के रूप में पूंजी सरलता से प्राप्त हो जाती है जिससे अति-उत्पादन होकर समाज की अर्थव्यवस्था पर विपरीत प्रभाव पड़ते हैं।

(7) श्रमिकों का शोषण—मुद्रा ने समाज को दो वर्गों में विभाजित करके, श्रमिकों के शोषण को प्रोत्साहित किया है। मजदूरी प्रणाली के अन्तर्गत पूंजीपति श्रमिकों के शोषण करने का प्रयास करता है, जिससे धनी अधिक धनी और निर्धन अधिक निर्धन हो गये हैं।

2. नैतिक दोष

नैतिक दृष्टि से मुद्रा के प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं :—

(8) अभौतिक गुणों पर प्रभाव—मुद्रा द्वारा भौतिक वस्तुओं के अतिरिक्त अभौतिक वस्तुओं (जैसे सच्चाई, प्रेम, विश्वास आदि) को भी मुद्रा में ही व्यक्त किया जाता है। जिन व्यक्तियों के पास मुद्रा होती है, उनके समस्त अवगुण

छिन जाते हैं और जिनके पास मुद्रा नहीं है, उनके गुण भी अवगुणों में परिवर्तित हो जाते हैं।

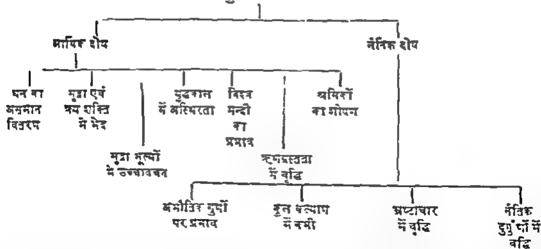
(9) **कुल कल्याण में कमी**—मुद्रा ने साधनों पर ध्यान केन्द्रित कराके, भौतिक कल्याण में वृद्धि की, परन्तु अभौतिक कल्याण में कमी लाकर, कुल कल्याण पर बुरा प्रभाव डाला है।

(10) **भ्रष्टाचार में वृद्धि**—मुद्रा ने समाज में भ्रष्टाचार को बढ़ावा दिया है तथा राजनैतिक संगठन भी मुद्रा से प्रभावित हो गये हैं। मुद्रा की शक्ति के कारण ही विकसित राष्ट्र अविकसित राष्ट्रों का शोषण करने से नहीं चूकते।

(11) **नैतिक दुर्गुणों में वृद्धि**—मुद्रा ने मनुष्य में मोह एवं लोभ उत्पन्न करके चोरी, डकैती, हत्या, गबन, विश्वासघात आदि, बुरे कार्यों को करने के लिए प्रोत्साहित करके नैतिक दुर्गुणों में अपार मात्रा में वृद्धि की है। 'मुद्रा को ही चोरी एवं हत्या का कारण माना जाता है, तथा धोखा भी मुद्रा के कारण ही दिया जाता है। मुद्रा उस समय भी बदनाम होती है जबकि एक वेश्या मुद्रा लेकर अपने शरीर को बेचती है तथा जब मुद्रा (घूस) लेकर न्याय के विरुद्ध निर्णय सुना देता है। मुद्रा के कारण ही नैतिकवादी व्यक्ति गिर जाते हैं जबकि वह भौतिकवाद का विरोध करते हैं। इस प्रकार मुद्रा के लोभ से ही समस्त बुराइयां उत्पन्न हो जाती हैं।"[1]

मुद्रा के उपरोक्त दोषों के कारण ही मुद्रा मानव जाति के लिए वरदान न होकर एक अभिशाप बन गई है। परन्तु यह दोष मुद्रा के न होकर मनुष्य स्वभाव में निहित हैं। यदि मनुष्य मुद्रा का प्रयोग सावधानी से करें तो उत्पन्न होने वाली बुराइयों को रोका जा सकता है। मुद्रा अनियन्त्रित ढंग से कार्य करके समाज के विभिन्न वर्गों के लिए संकट लाती रहती है एवं इसकी मात्रा में परिवर्तन होने पर आर्थिक स्थिरता को बढ़ावा मिलता है। वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मुद्रा पद्धति को सुनियोजित किया जा रहा है। मुद्रा के प्रयोग से अनेक लाभ उठाये जा सकते हैं। "मुद्रा मानव को अनेक प्रकार के लाभ पहुंचाने का एक साधन है, एवं अनियन्त्रित होने की दशा में, संकट एवं अशान्ति का स्रोत भी बन सकती है।"[2] अतः मुद्रा का प्रयोग सावधानी एवं सतर्कता के साथ किया जाना चाहिए और उसे समाप्त नहीं किया जा सकता।

मुद्रा के दोषों को निम्न चार्ट के रूप में रखा जा सकता है :—



1. "Money is regarded as the cause of theft and murder, of deception and betrayal. Money is blamed when the prostitute sells her body and when the bribed judge prevents the law. It is money against which the moralist declaims when he wishes to oppose excessive materialism. Significantly enough, avarice is called the love of money and all evils are attributed to it."—Ludwig Von Mises : The Theory of Money and Credit, p. 93.

2. "Money which is a source of so many blessings to mankind becomes also, unless we can control it, a source of peril and confusion."—D. H. Robertson : Money, p. 16.

इस प्रकार स्पष्ट है कि आधुनिक अर्थव्यवस्था मे मुद्रा को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। परन्तु मुद्रा के कारण ही मुद्रा प्रसार एवं मुद्रा सकुचन के दोष दृष्टिगोचर होते हैं तथा धन का कुछ ही हाथो मे केन्द्रीयकरण हो जाता है। यदि मुद्रा का उन्मूलन कर दिया जाये तो मुद्रा के अनेक लाभो से वंचित होना पडेगा। वर्तमान समय मे समाज मुद्रा के प्रयोग का आदी हो गया है और इसके अभाव मे जीवन-निर्वाह करना सरल एवं सम्भव नही है। अत उचित यही है कि मुद्रा की व्यवस्था को बनाये रखकर मुद्रा के मूल्यो मे स्थायित्व लाया जाये जिससे मुद्रा के लाभों को अर्जित किया जा सके। मुद्रा के मूल्यो को नियन्त्रित करने के लिए प्राय: देश की केन्द्रीय बंक नियन्त्रण करने का कार्य करती है।

4
मुद्रा का वर्गीकरण
(CLASSIFICATION OF MONEY)

प्रारम्भिक

विभिन्न समयों पर भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं ने मुद्रा के रूप में कार्य किया और उनमें समय के परिवर्तन के साथ-साथ अनेक प्रकार के परिवर्तन होते गये। वस्तु-विनिमय की कठिनाइयों ने मुद्रा को जन्म दिया और वर्तमान आधुनिक समाज में मुद्रा के द्वारा ही समस्त विनिमय कार्य किये जाते है। मुद्रा के विभिन्न स्वरूप चलन में पाये जाते हैं, जिनमें सिक्के, पत्र-मुद्रा, साख मुद्रा, बैंक आदि प्रमुख है। वर्तमान समय में विकसित राष्ट्रों में मुद्रा के रूप में बैंक मुद्रा का उपयोग अधिक लोकप्रिय हो रहा है। अर्द्धविकसित एवं अविकसित राष्ट्रों में भी पत्र-मुद्रा एवं सिक्कों को विनिमय के रूप में प्रयोग किया जाता है। अर्द्धविकसित राष्ट्रों में भी अब सिक्कों का महत्व कम होता जा रहा है। मुद्रा विभिन्न रूपों में विनिमय के माध्यम के रूप में प्रयोग की जाती है, जिनका विस्तृत अध्ययन मुद्रा के वर्गीकरण के अध्ययन से ही हो सकता है।

मुद्रा का वर्गीकरण

मुद्रा के वर्गीकरण के विभिन्न आधार हैं जिनका विवरण निम्न प्रकार दिया जा सकता है :—

1. हिसाब के आधार पर

इसमें निम्न को सम्मिलित किया जाता है—

(1) वास्तविक मुद्रा (Money Proper), एवं

(2) हिसाब की मुद्रा (Money of Account)।

(1) वास्तविक मुद्रा (Money Proper)—प्रो० कीन्स के अनुसार हिसाब की मुद्रा एक पद के समान है और उस पद को धारण करने वाली मुद्रा वास्तविक मुद्रा है। बेनहम ने वास्तविक मुद्रा को चलन की इकाई कहा है। मुद्रा वह है जो कि राष्ट्र में विनिमय के माध्यम के रूप में प्रयोग की जाती है। इस प्रकार कोई भी चीज जो केवल विनिमय के माध्यम के रूप में सुविधापूर्वक प्रयोग की जा सकती हो, उसी को मुद्रा के नाम से जानेंगे और उसमें सामान्य क्रय शक्ति का गुण विद्यमान रहता है।

"मुद्रा स्वयं ऋण-अनुबंधों एवं मूल्य अनुबन्धों को निपटाने का कार्य करती है, और जिसके रूप में एक सामान्य क्रय-शक्ति एकत्रित की जाती है,"[1] मुद्रा के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के चलन नोट एवं विभिन्न मूल्यों के सिक्कों को सम्मिलित किया जाता है।

1. "Money itself, namely that by delivery of which debt-contracts and price-contracts are discharged, and in the shape of which a store of general purchasing power i held,"—J. M. Keynes: A Treatise on Money, p 3.

मुद्रा के भेद—मुद्रा के विभिन्न भेद निम्न प्रकार हैं—

(i) वस्तु मुद्रा (Commodity Money)—वस्तु मुद्रा को पूर्ण रूपेण मुद्रा भी कहते हैं, क्योंकि इसका वास्तविक मूल्य एवं अंकित मूल्य एक समान होते हैं, इस कारण इसे प्रमाप मुद्रा (Standard Money) भी कहते हैं। "वस्तु मुद्रा में स्वतन्त्रतापूर्वक प्राप्त व गैर-एकाधिकार वस्तु की इकाइयों को सम्मिलित किया जाता है, जो मुद्रा के उद्देश्य के लिए चुनी गई हो, परन्तु अन्य वस्तुओं की भांति उसकी पूर्ति भी दुर्लभता एवं उत्पादन लागत द्वारा शासित होती है।"[1] इस वर्ग में केवल वे मुद्रा ही रखी जाती हैं जिनका आन्तरिक एवं वाह्य मूल्य एक समान हो। अमेरिका का स्वर्ण प्रमाण-पत्र वस्तु मुद्रा का ही उदाहरण है।

विशेषताएं—वस्तु मुद्रा की प्रमुख विशेषताएं निम्न हैं :—

(अ) एकाधिकार का अभाव—तत्कालीन वस्तु मुद्रा पर किसी सरकार का एकाधिकार नहीं होता था, जिससे मुद्रा बाजार में दुर्लभता या स्फीति नहीं पायी जाती थी।

(ब) प्रतिनिधि—वस्तु मुद्रा समय की प्रतिनिधि मुद्रा होती थी जो उस समय की जनता के दैनिक कार्य में आती थी।

(स) उपयोगी—वस्तु मुद्रा समाज की कुछ प्रत्यक्ष आवश्यकताओं की पूर्ति करती थी। कौड़िया, सीपिया आदि सजावट में काम में लायी जाती थी।

वस्तु मुद्रा के दोष—वस्तु मुद्रा में निम्न दोष पाये जाते थे :—

(अ) भिन्नता—विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न वस्तुएं मुद्रा के रूप में प्रयोग होने के कारण उन क्षेत्रों में पारस्परिक विनिमय सम्भव नहीं था।

(ब) सचय में कठिनाई—वस्तुएं जो मुद्रा के रूप में प्रयोग की गई वे शीघ्र नष्ट होने वाली थी, जिससे उन्हें सम्पत्ति के रूप में संचय करना सम्भव नहीं था।

(स) मूल्य निर्धारण में कठिनाई—एक ही वर्ग की समस्त वस्तुएं समान गुणों की न होने के कारण उनका मूल्य निर्धारण करना भी सरल नहीं था।

(ii) प्रतिनिधि मुद्रा (Representative Money)—प्रतिनिधि मुद्रा अपनी मुख्य मुद्रा का प्रतिनिधित्व करने वाली होती है, जो धातु या कागज की बनाई जाती है। इस मुद्रा का चलन मुख्य मुद्रा के कारण रहता है। इसको बलात् मुद्रा (fiat money) भी कहा जाता है, जो कि सांकेतिक मुद्रा का ही एक रूप है। "बलात् मुद्रा प्रतिनिधि (या सांकेतिक) मुद्रा है (ऐसी वस्तु जिसके पदार्थ का आन्तरिक मूल्य उसके मौद्रिक-मूल्य से सदैव भिन्न होता है), छोटी मूल्यों की मुद्रा के अतिरिक्त यह प्रायः कागज की बनाई जाती है, और सरकार द्वारा सृजित एवं निर्गमित की जाती है, परन्तु नियमानुसार स्वयं के अतिरिक्त, परिवर्तन योग्य नहीं होती, और इसका भौतिक मान (objective standard) के रूप में कोई स्थिर मूल्य नहीं होता।"[2]

(iii) प्रबन्धित मुद्रा (Managed Money) प्रबन्धित मुद्रा वस्तु मुद्रा एवं प्रतिनिधि मुद्रा का एक मिश्रित रूप कहा जा सकता है। प्रबन्धित मुद्रा, वस्तु मुद्रा उस समय बन जाती है जबकि अधिकारीगण इसके पीछे शतप्रतिशत कोष रख देते हैं, और दूसरी तरफ यह बलात् मुद्रा उस समय बन जाती है जबकि इसका सम्बन्ध भौतिक-मुद्रा-मान से समाप्त

1 "Commodity money is composed of actual units of a particular freely obtainable, non-monopolised commodity which happens to have been chosen for the familiar purposes of money, but the supply of which is governed—like that of any other commodity—by scarcity and cost of production "—J M Keynes . A Treatise on Money, p 7

2 Fiat money is, representative (or token) money (i e something the intrinsic value of the material substance of which is divorced from its monetary face value)—now generally made of paper except in the case of small denominations—which is created and issued by the State, but is not convertible by law into anything other than itself, and has no fixed value in terms of an objective standard."—J M Keynes : op cit , p 7.

कर दिया जाये। "प्रबन्धित मुद्रा बलात् मुद्रा के समान होती है, सिवाय इसके कि राज्य इसके निर्गमन की ऐसी शर्तों का प्रबन्ध करता है कि उसके परिवर्तन या अन्य विधि द्वारा, भौतिक प्रमाप के रूप में इसका निश्चित मूल्य होगा।"[1]

2. **हिसाब की मुद्रा (Money-of-Account)**—यह मुद्रा स्थायी स्वभाव की होती है और इसमें विकास सम्बन्धी परिवर्तन सम्भव नहीं होते। "हिसाब की मुद्रा को ऋण और मूल्य एवं सामान्य क्रय शक्ति में व्यक्त किया जाता है, जो कि मुद्रा सिद्धान्त का मुख्य विचार है।"[2] भारत में रुपया, ब्रिटेन में स्टर्लिंग, अमेरिका में डालर, फ्रांस में फ्रैंक एवं जर्मनी में मार्क हिसाब की मुद्रा है। अतः "हिसाब की मुद्रा ऋण के साथ यथार्थ में होती है, जो कि स्थगित भुगतान एवं मूल्य सूची का अनुबन्ध होती है, जो कि क्रय या विक्रय के अनुबन्ध के लिए प्रस्तुत की जाती है।"[3] इस प्रकार से ऋण एवं मूल्य सूचियों को चाहे वे अलिखित हों या दस्तावेज के रूप में लिखित हों, उन्हें केवल हिसाब की मुद्रा में ही व्यक्त किया जा सकता है।

प्राय मुद्रा एवं हिसाब की मुद्रा में कोई भेद नहीं किया जाता, परन्तु असाधारण परिस्थितियों में मुद्रा हिसाब की मुद्रा से भिन्न हो सकती है। उदाहरणार्थ, प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात भीषण मुद्रा प्रसार के कारण जर्मन-मार्क का मूल्य घटने पर, वहाँ के लोगों ने मार्क पर से विश्वास हट जाने से अपने खाते अमेरिकन डालर में रखने प्रारम्भ किये। इस प्रकार जर्मनी की मुद्रा यद्यपि मार्क थी, परन्तु हिसाब की मुद्रा अमेरिकन डालर था। हिसाब की मुद्रा एक सैद्धान्तिक रूप है, जबकि मुद्रा का रूप व्यावहारिक है। सैद्धान्तिक रूप में स्थायित्व बना रहता है जबकि व्यावहारिक रूप परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। वास्तविक मुद्रा किसी देश में चलने वाली मुद्रा का भौतिक रूप होता है, जबकि हिसाब की मुद्रा से आशय उसके पद से है। पद वर्षों तक वैसा ही बना रहता है, परन्तु उसका प्रतिनिधित्व करने वाली वस्तु का रूप परिवर्तित हो सकता है। जर्मनी में सन् 1933 में हिसाब की मुद्रा फ्रैंक या डालर थी, परन्तु चलन की मुद्रा मार्क ही थी। इस आधार पर मुद्रा एवं वास्तविक मुद्रा में भेद किया जा सकता है। 'शायद मुद्रा एवं वास्तविक मुद्रा में अन्तर यह कहकर किया जा सकता है कि हिसाब की मुद्रा एक वर्णन या स्वत्व है और मुद्रा एक वस्तु है जो उस वर्णन का उत्तर देती है।"[4] कीन्स ने इन दोनों का अन्तर समझाते हुए हिसाब की मुद्रा की तुलना 'इंगलैण्ड के सम्राट' तथा वास्तविक मुद्रा की तुलना 'सम्राट जार्ज' से की है। इस प्रकार 'इंगलैंड के सम्राट' पद की भाँति हिसाब की मुद्रा में स्थायित्व बना रहता है, और 'सम्राट जार्ज' की तरह मुद्रा में सदैव परिवर्तन होता रहता है। मनुष्य के हिसाब की मुद्रा के प्रयोग होने के कारण वस्तु-विनिमय के स्थान पर मुद्रा के युग ने कदम रखा। वर्तमान समय में प्राय समस्त कार्य मुद्रा में ही व्यक्त किये जाते हैं तथा सम्पूर्ण समाज में मुद्रा का उपयोग ही सबसे अधिक किया जाता है।

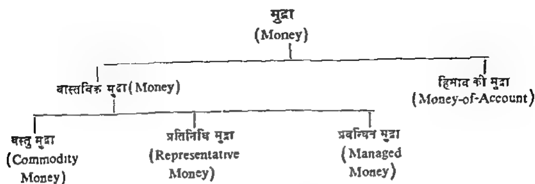
1. "Managed money is similar to fiat money, except that the State undertakes to manage the conditions of its issue in such a way that, by convertibility or otherwise, it shall have a determinate value in terms of an objective standard." J. M. Keynes: op cit, p. 8.

2. "Money-of-Account, namely that in which Debts and Prices and General Purchasing Power are expressed, is the primary concept of a theory of money"—J. M. Keynes, op.cit., p. 3.

3. A Money-of-Account comes into existence along with Debts, which are contracts for deferred payment, and price-lists, which are offers of contracts for sale or purchase."—Ibid.

4. "Perhaps we may elucidate the distinction between money and money-of account by saying that the money-of-account is the description or title and the money is the thing which answers to the description."—J. M. Keynes: op cit., pp. 3-4.

मुद्रा के वर्गीकरण को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—



2. मुद्रा अधिकारी के आधार पर वर्गीकरण

मुद्रा अधिकारी के आधार पर मुद्रा को निम्न वर्गों में रखा जा सकता है—

(1) वास्तविक मुद्रा (Money-Proper)

(2) बैंक मुद्रा (Bank-Money)।

(1) वास्तविक मुद्रा—यह वह मुद्रा होती है जो एक दिये हुए राजनीतिक क्षेत्र में सर्वसम्मति से स्वीकार की जाती है। यह एक विधि ग्राह्य मुद्रा होती है जिसमें विनिमय के कार्य करने की शक्ति कानून द्वारा निहित होती है। इस प्रकार किसी भी व्यक्ति पर ऋण होने पर वह उसके भुगतान में कानूनी रूप प्रदान कर सकता है। ऐसी परिस्थिति में प्राप्तकर्ता उसे लेने से मना नहीं कर सकता है। भारत में रिजर्व बैंक द्वारा निर्गमित सब प्रकार की मुद्रा वास्तविक मुद्रा के ही उदाहरण हैं। "वास्तविक मुद्रा की सुपुर्दगी द्वारा अनुबन्ध या ऋण का निपटारा हो जाता है।"[1]

वास्तविक मुद्रा के कई रूप हो सकते हैं जो कि निम्न प्रकार हैं—

(i) वस्तु मुद्रा—इसमें वस्तु की वे इकाइयां चुनी जाती हैं, जो मुद्रा का कार्य करने के उपयुक्त समझी जाती हैं। इनका अपना निजी मूल्य भी होता है, जो उत्पादन लागत एवं दुर्लभता के आधार पर निर्धारित किया जाता है। धातु की बनी मुद्रा को इसमें सम्मिलित करते हैं। कोई भी वस्तु जो सरलता से पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो और जिसे जनता ने सुविधा की दृष्टि से मुद्रा का दर्जा दे दिया हो उसे वस्तु मुद्रा कहेंगे।

(ii) प्रतिनिधि मुद्रा—इसका आशय ऐसी पत्र मुद्रा से है जिसका भौतिक मुद्रा के रूप में एक निश्चित मूल्य अंकित होता है और इसे भौतिक मुद्रा में परिवर्तन किया जा सकता है।

(iii) बलात मुद्रा—इसमें कागज एवं छोटे सिक्कों को सम्मिलित किया जाता है जिनका स्वयं कोई आन्तरिक मूल्य नहीं होता और जो किसी भी अन्य प्रकार की मुद्रा में परिवर्तनीय नहीं होती। यह मुद्रा सरकारी आदेशों पर ही स्वीकार की जाती है।

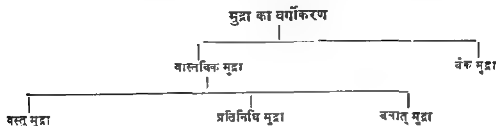
(2) बैंक मुद्रा—बैंक मुद्रा ऋण की एक स्वीकृति है जो सरकारी मुद्रा के स्थानापन्न के रूप में कार्य करती है। "बैंक मुद्रा एक निजी ऋण की स्वीकृति है जो हिसाब की मुद्रा में व्यक्त की जाती है, जो वास्तविक मुद्रा के स्थान पर, व्यवहारों को निपटाने के लिए एक हाथ से दूसरे हाथ में हस्तांतरित होती रहती है।"[2] इस बैंक मुद्रा में प्रायः व्यापारिक

1. "Money proper, answering to it, delivery of which will discharge the contract or the debt."—J. M. Keynes, op cit, p. 5.

2. "Bank-money is simply an acknowledgement of a private debt, expressed in the money-of-account, which is used by passing from one hand to another, alternatively with money-proper, to settle a transaction"—J. M. Keynes, op cit, p. 6

बैंकों के नोट एवं बैंक की जमा सम्मिलित की जाती है। बैंक मुद्रा के अन्तर्गत ऐसे विनिखो को भी सम्मिलित करते हैं जो बैंक द्वारा निर्गमित किये जाते हैं। चैक बैंक-ड्राफ्ट, साख-पत्र आदि इसी वर्ग में आते हैं। प्रत्येक राष्ट्र मे केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्गमित किये गये नोटों को सरकार द्वारा प्रमाणित माना जाता है। प्रत्येक राष्ट्र में बैंक जमा का अपना महत्वपूर्ण स्थान होता है। विकसित राष्ट्रों में अधिकांश भुगतान चैक द्वारा ही किये जाते हैं। वर्तमान समय मे यह बहुत लोकप्रिय हो गया है और प्रत्येक राष्ट्र में इसका प्रयोग बढ रहा है।

मुद्रा अधिकारी आधार पर मुद्रा के वर्गीकरण को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—



3. वैधानिक मान्यता के आधार पर वर्गीकरण

इस आधार पर मुद्रा को निम्न प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है—

(1) ऐच्छिक मुद्रा (Optional money)

(2) विधि ग्राह्य मुद्रा (Legal tender money)

(1) ऐच्छिक मुद्रा—यह मुद्रा जनसाधारण द्वारा स्वीकार तो की जाती है, परन्तु किसी भी व्यक्ति को उसे लेने के लिए कानूनी ढंग से बाध्य नहीं किया जा सकता। ऐसी मुद्रा को स्वीकृति के लिए प्रस्तुत करने पर देने वाले की साख देखी जाती है। यदि उसे धन प्राप्त होने की सम्भावना होगी तो वह इस मुद्रा को स्वीकार करेगा। बिल, हुण्डी, बैंक मुद्रा आदि ऐच्छिक मुद्रा के अन्तर्गत ही आते हैं। इसमे वे विलेख आते हैं जिन्हें स्वीकार करना जनता की इच्छा पर निर्भर करता है। बैंक मुद्रा को ऐच्छिक मुद्रा भी कहा जाता है।

(2) विधि ग्राह्य मुद्रा—वह मुद्रा जो ऋणों एवं दायित्वों के शोधन करने मे देश की सरकार द्वारा स्वीकार की गई हो, विधि ग्राह्य मुद्रा कहलाती है और इसका पालन न करने पर राजदण्ड देने की व्यवस्था की जाती है। वर्तमान समय मे विधि ग्राह्य मुद्राएं प्रायः सरकार के आदेश के कारण चलती हैं, क्योंकि उनमे धात्विक मूल्य बहुत कम होता है। विधि ग्राह्य मुद्रा दो प्रकार की हो सकती है—प्रमाणित मुद्रा एवं सांकेतिक मुद्रा। प्रमाणित मुद्रा का धात्विक एवं लिखित मूल्य समान होता है। सांकेतिक मुद्रा में धात्विक मूल्य घोषित मूल्य से कम होता है।

रूप—विधि ग्राह्य मुद्रा दो प्रकार की होती है—

(अ) सीमित विधि ग्राह्य मुद्रा (Limited legal tender money)—इसमें एक निश्चित सीमा तक भुगतान स्वीकार करना अनिवार्य होता है और उस सीमा से अधिक लेना कानून द्वारा अनिवार्य नहीं होता और उस सीमा से अधिक की प्राप्ति को लेने से इन्कार किया जा सकता है।

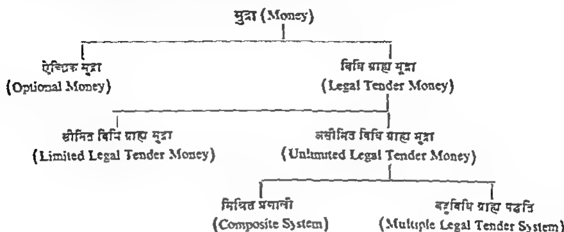
(ब) असीमित विधि ग्राह्य मुद्रा (Unlimited legal tender money)—इसमें भुगतानों को स्वीकार करने की कोई निश्चित सीमा नहीं होती और उसे अनिश्चित सीमा तक अनिवार्य रूप से स्वीकार करनी ही होगी। इस प्रकार एक देनदार अपने लेनदार को ऋणों का भुगतान इस मुद्रा मे असीमित मात्रा में कर सकता है और प्राप्त करने वाला लेने से इन्कार नहीं कर सकता। यदि वह इन्कार करता है तो कानून द्वारा उसे दण्ड देने की व्यवस्था की जा सकती है। उदाहरणार्थ, भारत का रुपया असीमित विधि ग्राह्य मुद्रा है।

असीमित विधि ग्राह्य मुद्रा को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(1) मिश्रित प्रणाली (Composite System)—इसमें मुद्रा मूल्य-स्तर के आधार पर लेनदेन मे स्वीकृत की जाती है।

(ii) बहु-विधि ग्राह्य पद्धति (Multiple legal tender system)—इसके अन्तर्गत दो या दो से अधिक धातु के सिक्के प्रामाणिक सिक्कों के रूप में चलन प्रणाली में रहते हैं और इन सिक्कों को किसी भी सीमा तक सरलता से भुगतान किया जा सकता है तथा सीमा का कोई बन्धन नहीं होता है।

वैधानिक मान्यता के आधार पर वर्गीकरण को निम्न चार्ट द्वारा भी दिखाया जा सकता है—



4. मुद्रा पदार्थ के आधार पर वर्गीकरण

यह वर्गीकरण अति प्राचीन है और इस आधार पर मुद्रा का वर्गीकरण निम्न प्रकार किया जा सकता है—

(1) पदार्थ मुद्रा (Commodity Money)

(2) धातु मुद्रा (Metallic Money)

(3) पत्र मुद्रा (Paper Money)

(1) पदार्थ मुद्रा—प्राचीन समय में धातुओं के अतिरिक्त अन्य पदार्थ जैसे पशु, खाल, अनाज आदि को वस्तु विनिमय प्रथा के अन्तर्गत मुद्रा के रूप में प्रयोग किया जाता था, जिसे पदार्थ मुद्रा के अन्तर्गत सम्मिलित करते हैं। परन्तु नाशवानता, वहनीयता का अभाव, संचय का अभाव, मूल्यों में अस्थिरता आदि अनेक बुराइयों के कारण इसका प्रचलन धीरे-धीरे समाप्त हो गया और आज विकसित राष्ट्रों में इसका प्रयोग बिलकुल बन्द हो गया है।

(2) धातु-मुद्रा—जो मुद्रा धातु की बनी हुई हो उसे धातु मुद्रा कहते हैं। इसमें सोना एवं चाँदी के सिक्के सम्मिलित किये जाते हैं। धातु मुद्रा में कुछ गुण पाये जाते हैं, जैसे कि उसका मूल्य अंकित मूल्य के समान होना, मूल्य में स्थिरता होना, टिकाऊपन होना, प्रसार का भय नहीं, पुनः प्रयोग की सुविधा एवं जनता को लाभ प्राप्त होना आदि। धातु मुद्रा के दोषों में अपव्यय, भुगतान में कठिनाई, अधिक स्थान घेरना, वहनीयता आदि को सम्मिलित किया जा सकता है। इन दोषों के कारण ही विश्व के प्राय सभी देशों में धातु मुद्रा का प्रयोग कम हो गया है। धातु मुद्रा को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(अ) धातुमान (Metallic standard)—इसमें प्रामाणिक एवं अन्य सहायक मुद्राओं का चलन सम्मिलित किया जाता है। देश में लेनदेन की सुविधा के लिए प्रामाणिक एवं सांकेतिक दोनों ही प्रकार के सिक्कों का चलन होता है। धातुमान के प्रमुख रूप निम्नलिखित हैं—

(i) एकधातुमान—इसमें एक ही धातु का बना हुआ प्रामाणिक सिक्का ही चलन में रहता है। इसके लिए प्रायः सोने या चाँदी के सिक्के चलन में लाये जाते हैं।

(ii) द्विधातुमान—इस प्रणाली में दो धातुओं के प्रामाणिक सिक्के एक साथ चलन में रहते हैं और दोनों धातुओं के प्रामाणिक सिक्के एक साथ प्रचलित होते हैं। परस्पर विनिमय के लिए एक अनुपात निश्चित कर दिया जाता है तथा भुगतान के लिए दोनों प्रकार के सिक्कों का महत्त्व समान होता है।

का सुझाव दिया था, परंतु अनेक कारणों से इस प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया गया। ये कारण निम्न थे—

(i) यह बैंक भारतीय बैंकों के हित मे कार्य नहीं कर पाता।

(ii) इसका उद्देश्य प्रारंभ से ही अधिकाधिक लाभ अर्जित करना था, अतः इसे केंद्रीय बैंक के अधिकार प्रदान करना उचित नही था।

(iii) यह एक पूर्णतः व्यापारिक बैंक था जिसकी देश-भर मे 300 शाखाएं होने से व्यापारिक बैंको से प्रतिस्पर्धा होने के भय से इसे केंद्रीय बैंक नहीं बनाया जा सका।

(iv) इस बैंक की प्रबंध व्यवस्था पूर्णतया विदेशियों के हाथो में थी, जिससे इसे केंद्रीय बैंक मे परिवर्तित करने पर जनता का विश्वास कम होने का भय था।

सरकारी नियंत्रण

सरकार ने इम्पीरियल बैंक पर कुछ नियंत्रण लगाये जो कि निम्नलिखित थे—

(i) सरकार द्वारा नियुक्ति—प्रबंध मंडल के अधिकांश सदस्यों की नियुक्ति सरकार द्वारा की जाती थी। सरकार को 2 व्यवस्थापक गवर्नर, मुद्रा नियंत्रक एवं स्थानीय मंडल के सचिव व 4 गवर्नरों की नियुक्ति करने का अधिकार था।

(ii) खातों की जांच—सरकार को बैंक के खातों को जांचने के पूर्ण अधिकार प्राप्त थे। खातों को जांचने का कार्य अंकेक्षकों द्वारा किया जाता था, जिनकी नियुक्ति एकाउन्टेंट जनरल द्वारा की जाती है।

(iii) व्यापारिक बैंकों के अधिकार—बैंक को व्यापारिक बैंक के समस्त कार्य करने के अधिकार प्राप्त थे, परंतु यह 6 माह से अधिक अवधि के लिए ऋण नहीं दे सकता था।

(iv) विदेशी विनिमय पर प्रतिबंध—बैंक अपनी निजी आवश्यकताओं के अतिरिक्त विदेशी विनिमय में लेन-देन नही कर सकता था।

(v) प्रबंध व्यवस्था—बैंक की प्रबंध व्यवस्था 3 स्थानीय कार्यालयों द्वारा होती थी तथा कोई अन्य मंडल सरकारी अनुमति के बिना कार्य नहीं कर सकता था।

(vi) वित्तीय नीति—सरकार वित्तीय नीति के संबंध मे बैंक को आदेश दे सकती थी तथा कोई भी सूचना प्राप्त की जा सकती थी।

इम्पीरियल बैंक का महत्त्व
(Importance of Imperial Bank)

इम्पीरियल बैंक का देश की अर्थव्यवस्था मे बहुत अधिक महत्त्व था जिसके प्रमुख कारण निम्न थे—

(i) विस्तृत कार्यक्षेत्र—इम्पीरियल बैंक की पूरे देश में 300 से भी अधिक शाखाएं होने से इसका कार्यक्षेत्र काफी विस्तृत था तथा देश के विभिन्न भागों मे सरलता व मितव्ययता से बैंकिंग सुविधाएं प्रदान की जा सकती थीं।

(ii) एजेंट का कार्य—जहां पर रिजर्व बैंक की शाखाएं नही थी, वहां पर इसने एजेंट का कार्य करके सरकार का समस्त कार्य किया।

(iii) जनता का विश्वास—इस बैंक की नीतियां एवं साधन अच्छे होने से जमा की राशि काफी अधिक रहती थी और जनता को इस बैंक मे अधिक विश्वास था।

इम्पीरियल बैंक के दोष
(Defects of Imperial Bank)

इम्पीरियल बैंक की कार्यप्रणाली में प्रमुख दोष निम्न थे—

(i) केंद्रीय बैंक के रूप में असफल—इम्पीरियल बैंक अन्य व्यापारिक बैंकों के साथ प्रतियोगिता करता था जिससे यह बैंक केंद्रीय बैंक के कार्यों को सफलतापूर्वक संपन्न करने मे असमर्थ रहा तथा देश मे केंद्रीय बैंक का अभाव

तथा शेष के लिए 3½% वाले सरकारी ऋण पत्रों के निर्गमन की व्यवस्था की गई जिसका भुगतान 1965 में करना था। स्टेट बैंक मे कोई भी व्यक्ति या संस्था 200 अंशो से अधिक क्रय नही कर सकते परंतु यह सीमा किसी निगम, स्वायत्त संस्था निजी एव सार्वजनिक धार्मिक ट्रस्टो पर लागू नही होती है। इसकी व्यवस्था प्रजातांत्रिक है क्योकि कोई भी व्यक्ति 1% से अधिक मतदान देने का अधिकारी नही है।

प्रबंध व्यवस्था—प्रबंध केन्द्रीय बोर्ड तथा 7 स्थानीय कार्यालयो द्वारा होता है।

(अ) केंद्रीय बोर्ड—बेंक की स्थापना के समय संचालक मडल के सदस्यों की सख्या 20 होती थी जिसमें से निजी अंशधारियो द्वारा 6 सचालक नियुक्त किए जाते थे। परतु 1 दिसंबर, 1964 को अधिनियम में संशोधन करके सचालक मंडल का गठन निम्न प्रकार रखा गया—

(1) संचालक मंडल की सिफारिश पर सरकार द्वारा 1 अध्यक्ष तथा 1 उपाध्यक्ष की नियुक्ति की जाती है।

(2) स्थानीय मंडल का सभापति केंद्रीय संचालक मंडल का पदेन सदस्य होता है। वर्तमान समय मे स्थानीय मंडल के सदस्यों की सख्या 7 है।

(3) सरकार न्यूनतम 2 व अधिकतम 6 सचालक नियुक्त कर सकती है।

(4) सरकार के अनुमोदन पर संचालक मडल द्वारा कम से कम 2 प्रबंध संचालक नियुक्त किए जाएगे।

(5) यदि निजी अंशधारियों पर 10% से कम अंश हैं तो वे 2 संचालक नियुक्त कर सकते हैं।

(ब) स्थानीय बोर्ड (Local Boards)—स्टेट बंक का केंद्रीय कार्यालय बबई में है, परंतु इसके 7 स्थानीय मंडल भी हैं, जो कि कानपुर, अहमदाबाद, मद्रास, हैदराबाद, नई दिल्ली, बबई एव कलकत्ता में हैं। स्थानीय बोर्ड का गठन निम्न प्रकार है—

(i) संचालक मंडल के सदस्य—संचालक मंडल के कार्यक्षेत्र में रहने वाले सदस्य संबंधित स्थानीय बोर्ड में भी रहते हैं।

(ii) अंशधारियों द्वारा चुना सदस्य—प्रत्येक क्षेत्र में निवास करने वाले अंशधारियो द्वारा प्रत्येक मंडल के लिए एक सदस्य चुना जाता है, बशर्ते पूजी के कम से कम 2½% अंश उनके पास हो।

(iii) गवर्नर—सभापति द्वारा स्थानीय मण्डल के सदस्यो मे से 1 सदस्य को रिजर्व बंक का गवर्नर नियुक्त किया जाता है।

(iv) अध्यक्ष—स्टेट बैंक के अध्यक्ष प्रत्येक स्थानीय बोर्ड में पदेन अध्यक्ष होते हैं।

(v) सरकार द्वारा नियुक्ति—प्रत्येक स्थानीय मण्डल में रिजर्व बैंक की सलाह के 6 सदस्य सरकार द्वारा नियुक्त किए जाते हैं।

(vi) स्टेट बैंक द्वारा नियुक्त—मण्डल का कोषाध्यक्ष एवं सचिव पदेन सदस्य होते हैं, जो कि स्टेट बंक द्वारा नियुक्त किए जाते हैं।

स्टेट बैंक के उद्देश्य

स्टेट बैंक की स्थापना के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित थे—

(1) बैंकिंग विकास—स्टेट बैंक का मुख्य उद्देश्य भारत के ग्रामीण क्षेत्रो में अधिकाधिक शाखाएं खोलकर बैंकिंग सुविधाओं का विकास करना था। धारा 16 (5) के अनुसार यह निश्चित किया गया कि स्टेट बैंक प्रथम 5 वर्षों में देशभर मे 400 नई शाखाएं खोलेगा और इसकी पूर्ति 1 जून, 1960 को हो गयी। बैंक ने भावी विकास के लिए सुझाव देने हेतु प्रो० कर्वे की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की जिसने आगामी 5 वर्षों मे 300 नवीन शाखाएं खोलने का सुझाव रखा। इसके लिए कर्मचारियों को प्रशिक्षण देने की व्यवस्था करना था। 1965 मे तीसरी विस्तार योजना प्रारभ की गई। बैंक को 80% शाखाएं ग्रामीण क्षेत्रों मे खोली गयी। बैंक का विस्तार निम्न प्रकार था—

जाता है। यदि मौद्रिक इकाई को किसी भी वस्तु में व्यक्त नहीं किया जाता, तो राष्ट्र अपरिवर्तनीय प्रमाप में आधारित माना जाता है।"[1]

देश की मौद्रिक पद्धति की प्रकृति के दो प्रकार से महत्व है—(i) उसे घरेलू आवश्यकताओं के उपयुक्त होना चाहिए। (ii) उसे विदेशी व्यापार में भी उपयोग किया जा सके। एक उपयुक्त मौद्रिक पद्धति में घरेलू आवश्यकता एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की आवश्यकता दोनों को ही सन्तुष्ट करने का गुण रहना चाहिए।

मौद्रिक मान एवं मूल्यमान (Monetary Standard and Standard of Value)

मौद्रिकमान—किसी देश की सम्पूर्ण मौद्रिक व्यवस्था को कहते हैं जिसमें मुद्रा के कोष का आधार, नियम, एवं मुद्रा सम्बन्धी क्रियायें सम्मिलित रहती हैं।

मूल्यमान—यह धातु होती है जिसमें अन्य समस्त वस्तुओं के मूल्य मापे जाते हैं, जैसे रुपया, डालर, मार्क आदि। अतः मूल्यमान मौद्रिकमान व्यवस्था का ही एक अंग है।

मौद्रिक मान का वर्गीकरण

मौद्रिक मान को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है—

(1) धातुमान

(2) पत्र मुद्रामान

1. धातुमान

इसके अन्तर्गत सोना, चांदी, अथवा अन्य कोई वस्तु मुद्रा के रूप में प्रचलित रहती है। इन समस्त वस्तुओं में सोना या चांदी ही अधिक लम्बे समय तक मुद्रा के रूप में कार्य करते हैं, क्योंकि (i) इनकी ढलनशीलता श्रेष्ठ होती है, (ii) इनके रूप व रंग आकर्षक रहते हैं, (iii) यह धातुएं मूल्यवान होती हैं एवं (iv) इनके गुण एवं मूल्य में शीघ्र ह्रास नहीं होता।

विशेषताएं—धातुमान की प्रमुख विशेषतायें निम्न हैं—

(1) धातु का स्वतन्त्र आयागमन—जिस धातु की प्रधान मुद्रा बनाई जाती है, उसके आयात एवं निर्यात में पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है और उस धातु से सरलता से विदेशी व्यापार किया जा सकता है।

(2) विशेष धातु का प्रयोग—देश की प्रधान मुद्रा किसी विशेष धातु की बनी होती है, जिसका आकार, रूप, आदि सरकार द्वारा घोषित किया जाता है। यदि दो धातुओं की मुद्राएं चलन में हों तो उनके पारस्परिक विनिमय अनुपात भी सरकार द्वारा घोषित कर दिये जाते हैं।

(3) टंकण स्वतन्त्र होना—जिस धातु की मुद्रा बनाई जाती है, उसका टंकण स्वतन्त्र होता है और कोई भी व्यक्ति धातु ले जाकर उसे मुद्रा में परिवर्तित करा सकता है।

धातुमान के रूप—धातुमान के प्रमुख रूप निम्नलिखित हैं—

(1) एकधातुमान (Mono-metallism)

(2) द्वि-धातुमान (Bi-metallism)

(3) मिश्रित धातुमान (Symmetallism)

(4) संयुक्त वस्तुमान (Composite Commodity Standard)

(1) एकधातुमान (mono-metallism)—इसके अन्तर्गत देश में एक धातु की प्रामाणिक मुद्रा ही चलन

1. "If a country's unit is expressed as being equal to a specified amount of gold, then the country is on a gold standard. If the unit is expressed in terms of silver, the country is on a silver standard. It the monetary unit is not expressed in terms of any commodity the country is on an inconvertible standard."—Paul M. Horvitz : Monetary Policy and Financial System.

में होती है, जिसका अंकित एवं आन्तरिक मूल्य समान होता है और वह असीमित विधि ग्राह्य होती है, इसका टंकण भी स्वतन्त्र होता है। विशेषताएं—एक धातुमान की विशेषताएं निम्न हैं :—

(i) स्वर्ण या रजतमान—यदि स्वर्ण मुद्राएं चलन में हों तो स्वर्णमान, और रजतमुद्राओं के प्रचलन होने पर रजतमान के नाम से मुद्रा-व्यवस्था को पुकारा जाता है।

(ii) स्वतंत्र टंकण—धातु को मुद्रा का टंकण स्वतंत्र होता है।

(iii) प्रधान मुद्रा—एक धातु की प्रधान मुद्रा चलन में होती है और सहायक मुद्राएं हल्की धातु की बनी होती हैं।

(iv) असीमित विधिग्राह्य—एक धातु की मुद्राओं को असीमित विधिग्राह्य घोषित किया जाता है।

गुण—एक धातुमान के मुख्य गुण निम्नलिखित हैं :—

(i) दर निर्धारण में सरलता—एक धातुमान के अन्तर्गत टकसाली समता के आधार पर विनिमय दर का निर्धारण सरलतापूर्वक किया जा सकता है।

(ii) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग—अनेक राष्ट्रों द्वारा इसे अपनाने में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में वृद्धि होती है तथा विदेशी व्यापार को भी बढ़ाया जा सकता है।

(iii) जनता का विश्वास—इसमें सोने एवं चांदी जैसी बहुमूल्य धातुओं के प्रयोग होने से जनता का अधिकतम विश्वास प्राप्त किया जा सकता है।

(iv) ग्रेशम के नियम से बचत—इस मान में एक ही धातु के प्रयोग होने से ग्रेशम[1] का नियम लागू नहीं हो पाता।

(v) विदेशी भुगतान में सुविधा—एक धातुमान में विदेशी भुगतान करना सरल होता है, क्योंकि धातु के सिक्कों की सहायता से सरलता से भुगतान किया जा सकता है। इससे विदेशी व्यापार में भी सरलता बनी रहती है।

दोष—एक धातुमान के प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं :—

(i) अपनाने में कठिनाई—इस मान को विश्व के समस्त राष्ट्र एक साथ नहीं अपना सकते क्योंकि उस धातु की पूर्ति पर्याप्त मात्रा में सम्भव न हो सकेगी।

(ii) मूल्यों में परिवर्तन—देश में मुद्रा के रूप में प्रयोग होने वाली धातु के मूल्य में, पूर्ति की घट बढ़ के कारण, परिवर्तन होता रहता है, फलस्वरूप मुद्रा के मूल्य में भी परिवर्तन होता रहता है जिसका मुद्रा पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

(iii) लोच का अभाव—इसमें मुद्रा की मात्रा धातु कोषों पर निर्भर रहने के कारण मुद्रा प्रणाली में लोच का अभाव बना रहता है और मुद्रा को आवश्यकता पड़ने पर घटाया या बढ़ाया भी नहीं जा सकता।

रूप—एकधातुमान के प्रमुख रूप निम्नलिखित हैं—

(1) स्वर्णमान (Gold Standard)

(2) रजत मान (Silver Standard)

(1) स्वर्णमान—यदि प्रधान मुद्रा का निर्माण स्वर्ण से होता है तो उसे स्वर्णमान कहेंगे। इसके विभिन्न रूप होते हैं जिनका विस्तृत अध्ययन अगले अध्यायों में किया गया है।

(2) रजतमान—इस मान में चांदी के सिक्कों का एक निश्चित वजन एवं शुद्धता के साथ चलन किया जाता है, सिक्के असीमित विधि ग्राह्य होते हैं तथा उनका टंकण स्वतन्त्र होता है। इसमें चांदी के आयात व निर्यात पर भी कोई प्रतिबन्ध नहीं होता।

विशेषताएं—रजतमान की प्रमुख विशेषताएं निम्न हैं—

(i) प्रमाणित मुद्रा—चांदी की प्रमाणित मुद्रा चलन में रहती है, ढलाई स्वतन्त्र रहती है तथा भुगतान

1. ग्रेशम के नियम के अनुसार बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को सदैव चलन से बाहर निकाल देती है।

असीमित मात्रा में किया जा सकता है।

(ii) सांकेतिक मुद्रा का प्रयोग—चांदी की मुद्रा के साथ-साथ कागज के नोट एवं अन्य हल्की मुद्राओं का चलन भी सांकेतिक मुद्रा के रूप में किया जाता है।

(iii) मुद्रा का आधार चांदी—देश की सम्पूर्ण मुद्रा का आधार चांदी ही रहता है और समस्त प्रकार की कागजी एवं सांकेतिक मुद्राएं चांदी में परिवर्तनशील होती हैं।

(iv) स्वतन्त्र आयात निर्यात—इसमें चांदी की धातु एवं मुद्राओं के आयात-निर्यात पर किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं रहता।

(v) स्वतंत्र ढलाई—इसमें चांदी को मुद्राओं की ढलाई स्वतंत्र होती है।

चांदी स्वर्ण से सस्ती होने के कारण छोटे भुगतानों के लिए अधिक उपयोगी रही। इसी कारण 19वीं शती तक समस्त राष्ट्रों ने चांदी को ही प्रमाणित मुद्रा के रूप में उपयोग किया। परन्तु चांदी के साथ-साथ स्वर्ण का भी प्रयोग होने से स्वतंत्र रूप से रजतमान चलन में नहीं रहा।

भारत में रजतमान का उपयोग काफी लम्बे समय तक रहा। सन् 1835 तक चांदी की मुद्रा में 180 ग्रेन वजन एवं 165 ग्रेन शुद्ध चांदी थी। 1873 में चांदी की पूर्ति में वृद्धि होने से चांदी के मूल्यों में कमी हो गई व भारत की विनिमय दर भी कम हो गई। फलस्वरूप 1893 में रुपये की स्वतन्त्र ढलाई बन्द कर दी गई। भारत में चांदी की प्रमाणित मुद्रा ही चलन में रही और 1902 में फिर से उसकी स्वतन्त्र ढलाई प्रारम्भ कर दी गई। 1940 में द्वितीय विश्वयुद्ध के दबाव के कारण रुपये में चांदी की मात्रा को घटाकर 90 ग्रेन कर दिया गया और 1943 में नवीन सिक्के को प्रारम्भ किया गया जिसमें चांदी की मात्रा केवल नाममात्र को थी। इस प्रकार भारत से स्वर्णमान सन् 1940 में समाप्त कर दिया गया और उसके स्थान पर जो रुपया निकाला गया, उसमें चांदी की मात्रा नहीं के बराबर थी। बाद में लोहे के सिक्के चलन में लाये गये, जिनमें चांदी की मात्रा के होने का प्रश्न उत्पन्न ही नहीं होता। रजतमान युग की मांग के अनुकूल नहीं माना जाता। प्राचीनकाल में मुद्रा को एक संकेत के रूप में अपनाया गया था और आज वह पूर्ण रूप से सांकेतिक बन गयी है।

(2) द्विधातुमान (Bi-metallism)—जब देश में दो धातुओं के सिक्के एक साथ चलन में हों और दोनों ही प्रामाणिक सिक्के का कार्य करें, तो उसे द्विधातुमान कहते हैं। अन्य शब्दों में, जब कोई देश एक साथ स्वर्णमान एवं रजतमान को अपना ले तो उसे द्विधातुमान कहेंगे।

विशेषताएं—द्विधातुमान की प्रमुख विशेषताएं निम्न हैं—

(1) समान अंकित एवं धात्विक मूल्य—इसमें दो प्रकार के सिक्के रहते हैं तथा दोनों के बने सिक्कों का अंकित मूल्य एवं धात्विक मूल्य समान रहता है।

(2) दो सिक्कों का चलन—इसमें सोने एवं चांदी के दो सिक्के एक ही साथ चलन में रहते हैं तथा दोनों ही सिक्के विनिमय के माध्यम एवं मूल्य-मापन का कार्य करते हैं।

(3) असीमित विधि ग्राह्य—दोनों प्रकार की धातुओं का असीमित विधि ग्राह्य के रूप में प्रयोग किया जा सकता है और भुगतान पाने वाला लेने से इन्कार नहीं कर सकता।

(4) वैधानिक सम्बन्ध—दोनों ही सिक्कों के मध्य टकसाल द्वारा एक वैधानिक सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाता है।

(5) स्वतन्त्र ढलाई—इन सिक्कों की ढलाई स्वतन्त्र होती है और कोई भी व्यक्ति अपनी धातु को ले जाकर मुद्रा में ढलवा सकता है।

(6) स्वतन्त्र आयात-निर्यात—दोनों ही प्रकार के सिक्कों के आयात एवं निर्यात पर किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं रहता है।

इतिहास—18वीं शताब्दी में तीव्र गति से औद्योगिक विकास होने से धातु से मुद्रा की आवश्यकता पूर्ण करना कठिन हो गया और इसी उद्देश्य से रजत या चांदी की मुद्रा को निकालकर उसे स्वर्ण मुद्रा के समान महत्त्व दिया गया और यहीं से द्विधातुमान का आरम्भ हुआ। सन् 1792 में अमरीका में इसका प्रारम्भ किया गया जबकि स्वर्ण एवं चांदी का पारस्परिक अनुपात 1 : 15 था। इसी समय फ्रांस में यह अनुपात 1 : 15½ था। इस अनुपात में अन्तर के कारण अमेरिका

से स्वर्ण एवं फ्रांस से चांदी का निर्यात होना प्रारम्भ हो गया। यह स्थिति 1834 तक बनी रही और बाद में यह अनुपात 1 : 16 करने से फ्रांस से अमेरिका को स्वर्ण का निर्यात होने लगा। अमेरिका में 1792 में द्विधातुमान अपनाया गया, किन्तु 1834 तक चांदी ही मुद्रा के रूप में चलन में रही। 1834 में अमेरिका में सोने का डालर चलन में आ गया और धीरे-धीरे चादी के सिक्के गायब होने गये। 1865 में योरोप में लेटिन मुद्रा संघ का निर्माण किया गया और इसके सदस्य राष्ट्रों ने द्विधातुमान प्रणाली का उपयोग किया। जर्मनी ने 1867 के मौद्रिक सम्मेलन के बाद चांदी की मुद्रा का परित्याग कर दिया। 1870 के बाद चांदी के मूल्यों में गिरावट आ जाने से एक एक करके लगभग सभी राष्ट्रों ने चांदी की मुद्रा का प्रयोग बन्द कर दिया। 1879 तक अमेरिका द्विधातुमान प्रणाली को अपनाये हुए था। 1861 के बाद गृह-युद्ध के कारण अमेरिका में केवल पत्र-मुद्रा ही चलन में रह सकी। चांदी के गिरते हुए मूल्यों ने अमेरिका में मुद्रा स्फीति की स्थिति उत्पन्न कर दी। बाद में धीरे-धीरे अमेरिका में भी चांदी को प्रमाणित मुद्रा को समाप्त कर दिया गया और 19 वीं शताब्दी के अन्त तक द्विधातुमान विश्व के समस्त राष्ट्रों से समाप्त कर दिया गया। सन् 1890 तक योरोप के राष्ट्रों से द्विधातुमान समाप्त-सा हो गया।

द्विधातुमान के गुण—द्विधातुमान के प्रमुख गुण निम्नलिखित हैं :—

(1) **स्थायी मूल्यों का श्रेष्ठ आधार**—द्विधातुमान के मूल्यस्तर में स्थायित्व बना रहता है तथा इसमें प्रयोग की जाने वाली दोनों धातुओं की कीमतों का औसत उसकी पृथक्-पृथक् कीमत से अधिक स्थायी रहता है। एक धातु की अपेक्षा दोनों धातुओं की सम्मिलित पूर्ति में स्थायित्व अधिक रहता है। देश में गैर-मौद्रिक कार्यों के लिए सोना एवं चांदी एक दूसरे के स्थानापन्न माने जाते हैं। यदि सोने का उत्पादन बढ़ता है और मूल्य में कमी हो जाती है। तो सोने की बढ़ी हुई पूर्ति व मूल्यों में वृद्धि, चांदी के उत्पादन लागत को भी बढ़ा देती है, फलस्वरूप चांदी की पूर्ति घटकर उसका मूल्य बढ़ने लगता है। इस प्रकार दोनों धातुओं के कोष की कीमत में भारी परिवर्तन सम्भव नहीं हो पाते। इस प्रवृत्ति को क्षतिपूरक क्रिया कहते हैं।

(2) **सुरक्षित कोष में वृद्धि**—कागजी मुद्रा के लिए कोष में पर्याप्त मात्रा में धातु रखना आवश्यक हो जाता है, जिससे जनता का विश्वास प्राप्त किया जा सके। सुरक्षित कोष के लिए विश्व में पर्याप्त मात्रा में स्वर्ण उपलब्ध नहीं हो पाता, अतः सोने के साथ-साथ चांदी को भी रखा जाता है जिससे सुरक्षित कोष में वृद्धि हो सके। इस प्रकार देश के सुरक्षित कोष में स्वतः ही वृद्धि सम्भव हो जाती है।

(3) **मुद्रा मात्रा में वृद्धि**—द्विधातुमान के प्रयोग द्वारा मुद्रा की मात्रा में वृद्धि सम्भव हो सकती है। विश्व में सोने का भण्डार मुद्रा की पूर्ति के लिए पर्याप्त नहीं है, परन्तु द्विधातुमान को अपनाने से मौद्रिक स्टॉक में वृद्धि हो जाती है, फलस्वरूप व्यापार एवं वाणिज्य का विस्तार होता है जो शायद एक धातुमान में सम्भव नहीं हो पाता। इस प्रकार मुद्रा की कुल मात्रा में वृद्धि हो जाती है।

(4) **व्यापक रूप से अपनाया जाना**—द्विधातुमान में सोने एवं चांदी दोनों ही धातुओं के प्रयोग के कारण इस मान को विश्व के अधिकांश राष्ट्र व्यापक रूप से अपना सकते हैं तथा इस पर व्यापार व व्यवसाय को निर्भर कर सकते हैं।

(5) **बैंकों के लिए सुविधाजनक**—इस मान में बैंकों को अपने कोषों का संचालन करना सरल एवं सुविधाजनक हो जाता है क्योंकि वे दोनों ही प्रकार की मुद्रा में अपने कोष का निर्माण सरलता से कर सकते हैं, विनियोग की मात्रा में वृद्धि सम्भव कर सकते है, तथा कम ब्याज पर रुपया उधार दे सकते हैं।

(6) **धातु मूल्य स्तर में स्थायित्व**—इसमें दोनों धातुओं की कीमतों का औसत प्रत्येक धातु की पृथक्-पृथक् मूल्य में अधिक स्थायी होता है। इसमें एक धातु की मांग एवं पूर्ति सम्बन्धी दशाएं दूसरी धातु की मांग एवं पूर्ति दशाओं के प्रभाव को निष्क्रिय कर देती हैं। यदि एक धातु की पूर्ति में कमी हो जाती है तो दूसरी धातु की पूर्ति में वृद्धि होकर मौद्रिक स्टॉक में कमी नहीं हो पाती। देश के अमौद्रिक कार्यों के लिए सोना एवं चांदी को एक दूसरे के स्थानापन्न के रूप में प्रयोग किया जा सकता है। इस प्रकार यदि एक धातु के मूल्य में वृद्धि हो तो सरकारी हस्तक्षेप द्वारा उसके मूल्य को पुनः सामान्य स्तर पर लाया जाता है।

(7) **क्षतिपूरक प्रक्रिया**—इसमें दो धातुएं चलन में रहती हैं और दोनों का विनिमय अनुपात सरकार द्वारा निश्चित कर दिया जाता है। यदि एक धातु के मूल्य में वृद्धि हो जाये तो सरकार उस धातु को अधिक मात्रा में ढाल देती है और उसके मूल्य को सामान्य स्तर पर लाया जाता है। इसी प्रकार यदि मूल्य में कमी हो जाये तो उसे टकसाल में जमा कर

दिया जाता है और पूर्ति में कमी होकर मूल्य में फिर वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार क्षतिपूरक प्रक्रिया द्वारा धातुओं के मूल्यों में विशेष परिवर्तन नहीं हो पाते।

(8) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में वृद्धि—इसमें अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ावा मिलता है और विनिमय दरें बहुत सरल हो जाती हैं। देश में दो धातुओं के प्रचलन के कारण किसी भी धातु में विदेशी भुगतान सरलता से सम्पन्न किया जा सकता है। इससे विदेशी भुगतानों में काफी सरलता प्राप्त होती है और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार प्रोत्साहित होता है।

द्विधातुमान के दोष—द्विधातुमान के प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं—

(1) सट्टेबाजी को बढ़ावा—इस मान में एक धातु के मूल्य में उच्चावचन होने पर सट्टेबाजी में प्रोत्साहन होने लगता है जिससे इस धातु के मूल्य में और अधिक उतार चढ़ाव सम्भव हो जाते हैं, जो देश के लिए हानिकारक हो सकते हैं।

(2) धातु की व्यवस्था करना कठिन—द्विधातुमान में दो धातुओं के सिक्के पूर्ण रूप से चलन में रहते हैं और कभी-कभी दोनों प्रकार की धातु व्यवस्था करना कठिन कार्य हो जाता है। इन धातुओं के निरन्तर प्रयोग में रहने के कारण घिसावट अधिक हो जाती है और बहुत-सी धातु बेकार चली जाती है।

(3) ग्रेशम का नियम लागू होना—द्विधातुमान में ग्रेशम का नियम लागू होता है। जब देश में सोना एवं चांदी का विनिमय अनुपात सरकारी अनुपात की अपेक्षा भिन्न हो जाता है तो ग्रेशम के नियम के अनुसार बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को चलन से बाहर निकाल देती है। इस प्रकार व्यवहार में द्विधातुमान की अपेक्षा केवल एक ही धातु चलन में रह जाती है।

(4) संचालन में कठिनाई—दोनों धातुओं के मूल्य के मध्य एक स्थायी अनुपात सदा स्थिर नहीं हो पाता, जिससे द्विधातुमान के संचालन में बाधाएं उत्पन्न होती हैं।

(5) ऋण भुगतानों में अस्थिरता—द्विधातुमान में बाजार अनुपात एवं सरकारी अनुपात में अन्तर होने पर व्यवसाय में बहुत गड़बड़ी हो जाती है तथा ऋण भुगतानों में भी अनावश्यक अस्थिरता आ जाती है।

(6) अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता में बाधा—द्विधातुमान में सोना एवं चांदी के मूल्य देश के अन्दर समान रहते हैं, जिससे किसी भी राष्ट्र को इन धातुओं के सौदों में कोई लाभ प्राप्त नहीं होता, फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सहकारिता में कोई विशेष वृद्धि सम्भव नहीं हो पाती।

दोषों को दूर करने के उपाय—द्विधातुमान के दोषों को दूर करने के लिए निम्न उपाय प्रयोग में लाये जा सकते हैं—

(i) टकसाली मूल्य में परिवर्तन—मुद्राओं के बाजार मूल्य में परिवर्तन होने पर उनके टकसाली मूल्य में भी परिवर्तन कर दिया जाना चाहिए, जिससे ग्रेशम का नियम लागू न हो।

(ii) अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता—यदि विश्व के सभी राष्ट्र द्विधातुमान को अपनायें तो इसमें द्विधातुमान की क्षतिपूरक क्रिया की सफलता अधिक होगी और अतिरिक्त पूर्ति वाली धातु स्वयं ही टकसालों में जमा हो जायेगी और सोना व चांदी के बाजारी मूल्यों में अधिक उतार-चढ़ाव नहीं होगा।

अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुमान

यदि द्विधातुमान को आन्तरिक स्तर पर ही अपनाया जाये तो सोना एवं चांदी के मूल्यों में उतार-चढ़ाव आने पर यह व्यवस्था समाप्त हो जाती है। परन्तु यदि विश्व के लगभग सभी राष्ट्र या अधिकांश राष्ट्र द्विधातुमान को अपना लें, तो धातुओं के मूल्यों में उतार-चढ़ाव समाप्त होकर यह व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के लिए उपयुक्त रहेगी। ऐसा करने से ग्रेशम का नियम लागू नहीं होगा और द्विधातुमान सफलतापूर्वक संचालित हो सकेगा।

यदि केवल एक या सीमित राष्ट्रों ने ही द्विधातुमान को अपनाया जाये तो इसे सफलतापूर्वक अपनाना सम्भव नहीं हो सकेगा। "स्थिर अनुपात रखने से यह सम्भव है कि एक धातु का अधिमूल्यन एवं दूसरी धातु का

कम मूल्यन हो जाये।"[1] अतः द्विधातुमान को सम्पूर्ण विश्व द्वारा अपनाने से अधिक सफलता प्राप्त की जा सकती है। ऐसा करने से यह भी सम्भव है कि समस्त राष्ट्र एक समान टकसाली अनुपात को अपनावें, ये टकसाली अनुपात बाजार मूल्य से समायोजित हो, तथा माग व पूर्ति मे परिवर्तन होने से अनुपातों मे भी समायोजन कर लिया जाये।

लाभ—अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर द्विधातुमान को अपनाने से निम्न लाभ प्राप्त हो सकते हैं—

(1) टकसाली अनुपात एव बाजार अनुपात में समायोजन किया जा सकता है।

(2) देश मे द्विधातु मुद्राओं—रजत मुद्राओं एव स्वर्ण मुद्राओं—के मध्य आपस मे स्थायी विनियम दरों का विकास सम्भव हो सकेगा।

कठिनाइयां—अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुमान के अपनाने मे निम्न कठिनाइयां उपस्थित हो सकती हैं—

(1) पूर्ण रोजगार का अभाव—यद्यपि इस मान में मूल्य-स्तर अधिक स्थिर रहेगा, फिर भी इस बात की कोई गारंटी नहीं होती कि वह बिन्दु ही पूर्ण रोजगार का बिन्दु होगा। इस प्रकार इस मान में पूर्ण रोजगार का अभाव रह सकता है।

(2) अल्पकालीन परिवर्तन—इसमे क्षतिपूर्ति क्रिया द्वारा दीर्घकाल में मूल्य मे स्थायित्व लाया जा सकता है, परन्तु इसके द्वारा अल्पकालीन परिवर्तनों को रोकना सम्भव नहीं हो पाता।

(3) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का अभाव—इस मान को अपनाने में अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सहयोग प्राप्त करने की आवश्यकता होती है, जो वर्तमान परिस्थितियों मे प्राय सम्भव नहीं है।

द्विधातुमान का भविष्य—वर्तमान समय में विश्व के अधिकांश राष्ट्र अधिक विकास करने मे जुटे हुए हैं, जिनके लिए देश मे पर्याप्त मात्रा मे मुद्रा का उपलब्ध होना अति आवश्यक है। विश्व के राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे वृद्धि कर रहे हैं और उनके लिए भी अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुमान को अपनाने के लिए प्रत्येक राष्ट्र मे पर्याप्त मात्रा मे सोने अथवा चांदी के कोषों का होना अत्यन्त आवश्यक है परन्तु विश्व मे स्वर्ण व रजत का वितरण बहुत असमान होने से इस मान को अपनाना व्यावहारिक नहीं होगा। अत. द्विधातुमान को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अपनाना सम्भव दिखाई नहीं देता। भविष्य मे भी इसके अपनाने की कल्पना करना व्यर्थ ही है, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पूर्ण सहयोग प्राप्त होना न तो सम्भव ही है और न व्यावहारिक ही। द्विधातुमान सदैव के लिए आर्थिक विकास के भवन के नीचे दफना दिया गया है और उसके पुनर्जीवन की आशा भी दृष्टिगोचर नहीं होती है।

द्विधातुमान के रूप

द्विधातुमान के प्रमुख रूप निम्न हैं—

(i) समानान्तर द्विधातुमान (Parallel Bi-metallism)

(ii) लगड़ा द्विधातुमान (Limping Bi-metallism)

(i) समानान्तर द्विधातुमान—इसमें दोनों धातुओं की विनिमय दर सरकार द्वारा निश्चित न करके बाजार मे पूरी छोड़ दी जाती है और यह दर बाजार की क्रियाओं द्वारा ही निश्चित हो जाती है। इसमे पारस्परिक दरों में उच्चावचन का भय बना रहता है।

(ii) लगड़ा द्विधातुमान—इस मान में दो प्रकार की धातुओं की प्रधान मुद्राएं चलन मे होती हैं, परन्तु इनमें से केवल एक धातु की मुद्रा की ढलाई ही स्वतन्त्र रूप मे हो पाती है। इसी कारण इसे लंगड़ा द्विधातुमान कहते हैं। इस धातुमान की मुख्य विशेषताएं निम्न हैं :—

(अ) दो धातुओं की प्रधान मुद्राएं चलन मे रहती हैं।

(ब) दोनों प्रकार की धातुओं मे धातु की मात्रा अंकित मूल्य के समान होती है।

(स) दोनों मुद्राओं में से केवल एक मुद्रा का टंकण मुक्त होता है।

(द) दोनों धातुओं की मुद्राएं असीमित विधिग्राह्य होती हैं।

1. "The fixed ratio is bound at any time to over-value one metal and under-value the other." Geoffrey Crowther : An Outline of Money.

(इ) दोनों ही धातुओं के पारस्परिक अनुपात सरकार द्वारा निश्चित कर दिये जाते हैं।

(3) मिश्रित धातुमान (Symmetallism)—ब्रिटेन के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री मार्शल ने सन् 1887 में एक ऐसे धातुमान की स्थापना की सिफारिश की जिसमें दो धातुओं को मूल्यमान के रूप में प्रयोग करके द्विधातुमान के लाभ तो प्राप्त किये जा सकें, परन्तु इसमें ग्रेशम का नियम लागू न हो। ऐसे पाँसे या छड़ें तैयार की जायें जिनमें सोना एवं चाँदी एक निश्चित अनुपात में मिली हुई हों, तथा मुद्रा को सोने एवं चाँदी में बदलने की सुविधा न हो। इस प्रकार के मान को मिश्रित धातुमान के नाम से पुकारा गया। इस प्रकार की व्यवस्था का लाभ यह होगा कि इस पर सोने एवं चाँदी की कीमतों में परिवर्तन का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा, तथा दूसरे ग्रेशम का नियम भी लागू नहीं होगा। यह धातुमान मार्शल का एक कल्पित मान है, जिसका प्रयोग किसी भी देश में नहीं किया गया। और चूँकि यह मान व्यावहारिक नहीं है इसी कारण से विश्व के किसी भी राष्ट्र द्वारा इसे अभी तक नहीं अपनाया गया है।

(4) संयुक्त वस्तुमान (Composite Commodity Standard)—इसमें ऐसी मुद्रा व्यवस्थाओं को सम्मिलित किया जाता है, जिसमें कई वस्तुओं को कोष में रखकर मुद्रा को निकालने की व्यवस्था की जाती है। इस मान की प्रमुख व्यवस्था निम्नलिखित है[1]—

(i) वस्तु फण्ड—देश में एक ऐसे फण्ड का निर्माण किया जाना चाहिए जिसमें समाज में अतिरिक्त वस्तुओं को संग्रह किया जा सके।

(ii) मूल्य निश्चित करना—फण्ड में संग्रह के रूप में रखी गई वस्तुओं का मूल्य उसी प्रकार निश्चित करना चाहिए जिस प्रकार कि स्वर्ण का मूल्य डालर में निश्चित किया जाता है।

(iii) मुद्रा अधिक विश्वसनीय—इस आधार पर जो मुद्रा निर्गमित की जायेगी वह अधिक विश्वसनीय होगी, क्योंकि उसके पीछे वस्तुओं का कोष, संग्रह के रूप में रखा जाता है।

(iv) व्यापारिक स्थितियों में स्थायित्व—इस कोष का उपयोग व्यापारिक क्रियाओं में स्थायित्व लाने एवं आकस्मिक संकटों से बचने हेतु किया जाना चाहिए।

(v) वस्तुओं का चुनाव—इसमें केवल वे ही वस्तुएं चुनी जानी चाहिएँ जिनका देश के बाजार में नियमित रूप से क्रय विक्रय सम्भव हो, जिन पर तकनीकी परिवर्तनों का न्यूनतम प्रभाव पड़े, जिन्हें संग्रह करने में विशेष प्रकार की कोई कठिनाई न हो, तथा जो न तो शीघ्र नष्ट होने वाली हों और न ही उनके मूल्यों में शीघ्र उतार-चढ़ाव ही सम्भव हो।

संयुक्त वस्तुमान के गुण—संयुक्त वस्तुमान प्रथा के प्रमुख गुण निम्न हैं—

(i) मूल्यों के उतार-चढ़ाव पर रोक—इस व्यवस्था में वस्तुओं के मूल्यों के उतार-चढ़ाव को रोका जा सकेगा क्योंकि आवश्यक पड़ने पर वस्तुओं की पूर्ति में कमी या वृद्धि सरकार द्वारा सम्भव हो सकेगी।

(ii) मुद्रा विस्तार पर रोक—इसमें मुद्रा का प्रसार एवं संकुचन आवश्यकतानुसार सम्भव हो सकेगा।

(iii) आय व व्यवसाय में स्थायित्व—इससे जनता की आय एवं व्यवसाय में स्थायित्व लाया जा सकेगा, क्योंकि सरकार के पास पर्याप्त मात्रा में वस्तुओं का उचित भण्डार होने के कारण रोजगार एवं लेनदेन में पर्याप्त व्यवस्था की जा सकती है।

(iv) उचित व्यवस्था—इस मान की व्यवस्था सरलता से की जा सकती है तथा सूचनाओं की सहायता से आवश्यक जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

संयुक्त वस्तुमान के दोष—इस मान के प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं :—

(i) वस्तु कोष व्यवस्था करना कठिन—इसमें मुद्रा के पीछे जो वस्तुएं कोष में रखी जायेंगी, उनकी उपयुक्त व्यवस्था करना एक कठिन कार्य होगा। इन वस्तुओं का हिसाब भी ठीक ढंग से नहीं रखा जा सकेगा।

(ii) आर्थिक सत्ता का केन्द्रीकरण—इसमें बड़े-बड़े उत्पादक अपने समूह बना लेंगे तथा माल का संग्रह करके

1. इस मान की संक्षिप्त रूपरेखा प्रो० बेंजामिन ग्राहम द्वारा प्रस्तुत की गई थी।

उसे ऊंचे भाव पर सरकार को बेचकर अधिक लाभ प्राप्त करके आर्थिक सत्ता का केन्द्रीयकरण करेंगे।

(iii) व्यवस्था करना कठिन—सरकारी कोष के लिए माल खरीदने के लिए काफी मात्रा में प्रमाणपत्र प्रस्तुत करने होंगे जो एक कठिन कार्य एवं समस्या है। वर्तमान समय में व्यवसाय का स्वरूप इतना अधिक बढ़ गया है कि व्यापारी सरकार की इस पेचीदी व्यवस्था से बचने के प्रयास करेंगे, जिससे इस मान की व्यवस्था करना एक कठिन कार्य होगा।

(iv) मंहगी एवं हानिपूर्ण व्यवस्था—इसमें काफी मात्रा में वस्तुओं को संग्रह के रूप में रखना होगा, जो स्वयं एक मंहगी क्रिया है तथा दूसरे वस्तुओं को रखने में टूट-फूट एवं खराब होने का भय सदैव बना रहता है।

संयुक्त वस्तुमान व्यवस्था एक काल्पनिक व्यवस्था बनकर रह गई है तथा इसे किसी भी राष्ट्र द्वारा व्यावहारिक रूप नहीं दिया गया है। इसमें अनेक प्रकार की कठिनाइयां उपस्थित होती हैं, जिससे इनका पालन कोई भी राष्ट्र करने को तत्पर नहीं है।

(v) सूचनांक मान (Tabular Standard)—यह एक ऐसा वस्तुमान है जिसे पारस्परिक लेनदेन में न्यायपूर्ण भुगतान व्यवस्था के लिए अपनाया जा सकता है। इस मान में यह सिद्धान्त रहता है कि मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन होने से ऋणी या ऋणदाता को कोई लाभ या हानि नहीं होनी चाहिए। भारत में बैंक कर्मचारियों के पारिश्रमिक में सूचनांकों में वृद्धि होने पर मंहगाई भत्ते में क्रमिक वृद्धि होने की व्यवस्था है।

निष्कर्ष—वर्तमान समय में विश्व के लगभग समस्त राष्ट्रों की आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार की हो गई है कि अपने आर्थिक विकास को बनाये रखने के लिए स्वर्ण या चांदी जैसी मंहगी धातुओं को मुद्रा के रूप में स्वीकार करना सम्भव नहीं है। विश्व के आर्थिक अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रथम विश्वयुद्ध, मन्दीकाल एवं द्वितीय विश्वयुद्ध के समय किसी भी राष्ट्र द्वारा प्रमाणित स्वर्ण मुद्रा या रजत मुद्रा को अपनाना एक कठिन कार्य हो गया और इसे धीरे-धीरे छोड़ देना पड़ा। वर्तमान समय में प्रत्येक राष्ट्र आर्थिक विकास के कार्यों में संलग्न है और ऐसी परिस्थिति में मंहगे मान को अपनाना सम्भव ही नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (I.B.R.D) एवं अन्तर्राष्ट्रीय समझौता बैंक (Bank of International Settlements) ने भी इस ओर ध्यान आकर्षित कराया कि विश्व के कोषों में निरन्तर वृद्धि नहीं हो रही और जनता के अपने निजी कोष में पर्याप्त मात्रा में वृद्धि हो रही है और इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए मूल्य स्तर में स्थायित्व लाने का भरसक प्रयास करना चाहिए।

वर्तमान समय में किसी भी प्रकार के धातुमान को अपनाना निम्नलिखित कारणों से सम्भव नहीं है—

(i) धातु की व्यवस्था करना कठिन—विश्व के अधिकांश राष्ट्र आर्थिक विकास के लिए अधिकाधिक विनियोग करने के प्रयास में लगे हुए हैं, जिससे अधिक मात्रा में मुद्रा की आवश्यकता पड़ती है और मुद्रा के लिए आवश्यक मात्रा में धातु की व्यवस्था करना सम्भव नहीं हो पाता।

(ii) धातु को निधि में रखना—वर्तमान समय में विश्व के अधिकांश राष्ट्रों में मुद्रा प्रसार बढ़ रहा है, जिससे मुद्रा के मूल्य में निरन्तर कमी हो रही है। इस कारण सोना एवं चांदी को ही भविष्य निधि के रूप में रखा जाता है।

(iii) मंहगी व्यवस्था—धातुमान को अपनाने में धातु-मुद्रा चलन में डाली जाती है और यह एक प्रकार से बहुत मंहगी व्यवस्था मानी जाती है।

(iv) लेनदेन [redacted] माध्यम—जनता हल्की मुद्रा को ही लेनदेन का माध्यम बनाना चाहती है, क्योंकि इसे लाना ले जाना अधिक सरल व सुविधाजनक है। यदि धातु मुद्रा भारी हो, तो भुगतान करने में अधिक समय लगता है। अतः कागज के नोट द्वारा भुगतान करना अधिक सुविधाजनक माना जाता है।

अतः धातुमान एक भूतकाल की व्यवस्था मात्र ही रह गया है और उसका केवल सैद्धान्तिक महत्त्व ही रह गया है। भविष्य में भी इस प्रकार के मान के अपनाये जाने की कोई सम्भावना नहीं है। विश्व में जब तक मुद्रा प्रसार का सहारा लिया जाता रहेगा, उस समय तक कागजी मान ही अपनाया जा सकेगा।

2. पत्र-मुद्रा मान

पत्र-मुद्रामान एक सांकेतिक मुद्रा व्यवस्था है जो सरकार द्वारा चलाई जाती है तथा जो सरकार की साख पर निर्भर करती है। यदि जनता का सरकार मे विश्वास है तो मुद्रा मे भी विश्वास बना रहता है और इसी कारण इसे पत्रमान अथवा साखमान कहते हैं। वास्तव में पत्रमुद्रा एक संकट की उपज है। जब देश में धातुमान आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक आवश्यकताओ को पूर्ण करने में असमर्थ हो तो पत्र-मुद्रामान का सहारा लिया जाता है।

विशेषताएं—पत्र-मुद्रामान की प्रमुख विशेषताएं निम्न हैं—

(i) मुद्रा का कोई मूल्य नहीं—पत्र-मुद्रामान के अन्तर्गत जो मुद्रा चलाई जाती है, वह केवल सरकारी आदेश पर आधारित होती है और उसका अपना कोई भी मूल्य नहीं होता।

(ii) मुद्रा की क्रय शक्ति—इस मान में मुद्रा की क्रय शक्ति किसी भी वस्तु के तुल्य रखने का प्रयास नही किया जाता।

(iii) वायदे का अभाव—सरकार कागजी नोटो के पीछे कुछ भी देने का वायदा नही करती है और न ही मुद्रा का मूल्य किसी भी वस्तु के तुल्य निश्चित किया जाता है।

परिस्थितियाँ—पत्रमान प्रायः निम्न परिस्थितियों मे अपनाया जाता है—

(i) आर्थिक विकास—आधुनिक समय मे अनेक राष्ट्र आर्थिक विकास के प्रयास कर रहे हैं, जिसमें उन्हें भारी मात्रा मे पूँजी की आवश्यकता होती है। इस मांग की पूर्ति केवल कागजी मुद्रा द्वारा ही पूर्ण की जा सकती है। पत्र-मुद्रामान एक अनिवार्य रूप ग्रहण करता जा रहा है तथा समस्त राष्ट्रों मे अपरिवर्तनशील पत्रमुद्रा ही चलन मे है, जिसके बदले सरकार किसी भी प्रकार की धातु देने का वायदा नही करती।

(ii) युद्धकाल व आपत्तिकाल—युद्ध एव आपत्तिकाल मे देश मे प्रशासनिक व्ययों मे बहुत वृद्धि हो जाती है जिसकी पूर्ति आन्तरिक करों एवं विदेशों से ऋण लेकर करने के प्रयास किये जाते हैं। जब इन दोनो ही साधनों से खर्च की पूर्ति सम्भव नही हो पाती तो सरकार को बाध्य होकर प्रादिष्ट मुद्रा (fiat money) निर्गमित करनी पड़ती है, जिसमे कोष के रूप में प्रतिज्ञा-पत्र ही रखे जाते हैं और मूल्यवान धातु कोष मे नही रखी जाती।

पत्र-मुद्रामान के लाभ—पत्र-मुद्रामान के प्रमुख लाभ निम्न हैं—

(i) सरल व सुविधाजनक—पत्र-मुद्रा एक सरल एवं सुविधाजनक प्रणाली है, जिसमे केन्द्रीय सरकार द्वारा आवश्यकतानुसार नोट निर्गमित किये जाते हैं। इसमे धातुमान की कठिनाइयो से बचा जा सकता है।

(ii) मितव्ययी—यह एक मितव्ययी मान है जिसे गरीब राष्ट्र भी सरलता से अपना सकते हैं, क्योंकि धातु रखने एवं उसे प्राप्त करने का व्यय बच जाता है।

(iii) संकट का साथी—सरकार आवश्यकतानुसार नोटों की मात्रा को घटा या बढ़ा सकती है, जिसमे किसी भी प्रकार की कोई कठिनाई नहीं होती। इस मान को संकट का साथी भी कहते हैं। यह मान विकासशील देशों के लिए विशेष उपयोगी एवं सहायक रहा है।

प्रो० राबर्टसन का मत था कि अनेक देशों मे आर्थिक विकास की गति कम होने का मुख्य कारण वहा पर उचित मात्रा में स्वर्ण कोष का पाया जाना है। प्रादिष्ट मान आर्थिक विकास के लिए अपूर्व शक्ति-स्रोत माना गया और उसे उचित ढंग से व्यवस्थित किया जाना चाहिए था।

दोष—पत्रमान के प्रमुख दोष निम्न हैं—

(i) मुद्रा स्फीति का भय—इस पद्धति मे मुद्रा प्रसार का भय बना रहता है क्योंकि इसे बढ़ाने में किसी भी प्रकार का कोष रखने की आवश्यकता नही होती है। आवश्यकता से अधिक मात्रा मे मुद्रा का प्रचलन बढ़ जाने से मुद्रा प्रसार के दोष दिखाई देने लगते हैं। उदाहरणार्थ फ्रांस में सन 1790 मे प्रादिष्टमान अपनाने पर नोटों की मात्रा 40 करोड़ फ्रॅंक निश्चित की गयी जिसे 1796 तक बढ़ाकर 4,558 करोड़ फ्रॅंक अर्थात 114 गुना कर दिया गया। मूल्तर का मत था कि इन नोटो का लगभग 75% भाग का मूल्य रद्दी कागज से अधिक नहीं था।

(ii) विदेशी भुगतान में कठिनाई—मुद्रामान के अन्तर्गत दो या अधिक राष्ट्रों के मध्य विदेशी भुगतान करने की

कठिनाइयां उपस्थित होती हैं। परन्तु आजकल अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा सभी महत्वपूर्ण देशों की मुद्राओं की पारस्परिक विनिमय दरें निर्धारित कर दी जाती हैं।

श्रेष्ठ मुद्रामान के लक्षण
(Characteristics of Good Monetary Standard)

विश्व का प्रत्येक राष्ट्र अपनी सुविधानुसार मुद्रामान को अपनाता है जिसमें लोच या मूल्य स्थायित्व अथवा किसी अन्य तत्व को महत्व दिया जाता है। विश्व के समस्त राष्ट्रों के लिए एक सर्वमान्य मुद्रामान का होना असम्भव है। एक मुद्रामान के निम्न आधार हो सकते हैं—

(i) मितव्ययिता (Economy)—एक अच्छे मुद्रामान के लिए यह आवश्यक है कि वह मितव्ययी हो। स्वर्णमान में यह गुण विद्यमान नहीं है, जबकि पत्र-मुद्रामान में मितव्ययिता का गुण उपलब्ध रहता है।

(ii) प्रबन्ध में सरलता (Convenience in Administration)—मुद्रामान में कठिनाई एवं जटिलता को स्थान प्राप्त नहीं होना चाहिए, बल्कि वह सरल व सुविधाजनक हो।

(iii) जनता का विश्वास (Confidence of People)—मुद्रामान में जनता का विश्वास होना चाहिए, जो कि स्वयं शासन व्यवस्था पर निर्भर करता है। यदि देश में कुशल शासन व्यवस्था है तो जनता का विश्वास बना रहता है तथा उसका संचालन भी सुविधापूर्वक होने लगता है।

(iv) लचक (Elasticity)—अच्छे मुद्रामान में पर्याप्त लोच का होना आवश्यक है, जिससे राष्ट्र की विकास आवश्यकताओं को सरलता से पूर्ण किया जा सके। यदि मुद्रामान में लोच का अभाव है तो उस मान को श्रेष्ठ मान नहीं कहा जा सकता।

(v) मूल्य में स्थायित्व (Stability in Price)—मुद्रामान में मुद्रा के मूल्यों में विशेष उतार-चढ़ाव नहीं होना चाहिए। आन्तरिक एवं विदेशी दोनों ही प्रकार के लेनदेन में मुद्रा के मूल्य में स्थायित्व बने रहना चाहिए।

(vi) परिवर्तनशीलता (Convertibility)—मुद्रा प्रणाली में सोने एवं चांदी में परिवर्तनशीलता का गुण होना चाहिए जिससे वह प्रणाली ठीक व व्यवस्थित ढंग से कार्य कर सके।

(vii) नियमों की निश्चितता (Certainty of Rules)—यदि मुद्रामान के नियम स्पष्ट एवं निश्चित हों तो उस मुद्रामान को अच्छा मान कहा जायेगा।

(viii) मुद्रा प्रसार से बचाव (Safety from Inflation)—मुद्रामान में ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि उससे मुद्रा प्रसार होने का भय नहीं रहे तथा देश को आर्थिक संकटों का सामना न करना पड़े।

भारत में मुद्रामान
(Monetary Standard in India)

ब्रिटिश काल में भारतीय रुपये को कभी भी स्वतन्त्रता नहीं मिली और उसका स्टर्लिंग से सदैव गठबन्धन रहा। सन् 1926 तक भारत में स्टर्लिंग मान प्रचलित था और इस बात पर जोर दिया जाता था कि रुपये एवं पौण्ड की एक निश्चित विनिमय दर सदैव बनी रहे। इस काल में इंगलैण्ड स्वर्णमान पर आधारित था, जिससे उस समय के भारतीय मुद्रा-मान को स्वर्ण विनिमय मान कहते हैं। सन् 1926 में हिल्टन यंग कमीशन की सिफारिशों पर स्वर्ण धातुमान स्थापित किया गया और व्यवहार में स्टर्लिंग विनिमय मान ही अपनाया गया। 1931 में जब इंग्लैण्ड ने स्वर्णमान को त्याग दिया गया। उस समय भारत ने अधिकृत ढंग से स्टर्लिंग मान को ही स्वीकार किया।

उस समय अपनाये गये स्टर्लिंग विनिमय मान की प्रमुख विशेषताएं निम्न थीं—

(i) विनिमय दर—रुपये व स्टर्लिंग की विनिमय दर 1 शि० 6 पैन्स निर्धारित की गई और इस दर को बनाये रखने का प्रयास किया गया।

(ii) असीमित मात्रा में खरीद—देश की रिजर्व बैंक को यह अधिकार था कि वह असीमित मात्रा में स्टर्लिंग की मात्रा को खरीद या बेच सकेगा।

(iii) कोष का निर्माण—भारत में 1935 में रिजर्व बैंक की स्थापना के साथ कागजी नोट निकालने का

एकाधिकार उसे सौंप दिया गया और इस प्रकार व्यवस्था की गई कि उन कागजी नोटों के पीछे स्टर्लिंग प्रतिभूतियां ही कोष में रखी जायें।

(iv) मुद्रा स्फीति की स्थिति—द्वितीय विश्वयुद्ध तक स्टर्लिंग मान को अपनाये रखा गया। भारत के खाते में पर्याप्त मात्रा में पौंड पावना (Sterling balance) जमा हो गया था, जिनके आधार पर रिजर्व बैंक द्वारा नोट निर्गमित किये जाते थे, फलस्वरूप देश में मुद्रा स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो गई। यह मुद्रा स्फीति देश में स्टर्लिंग विनिमय मान को अपनाने का ही परिणाम थी।

स्वतन्त्रता से पूर्व भारतीय रुपये की विनिमय दर स्टर्लिंग की स्थिति पर ही निर्भर रहती थी और स्टर्लिंग के हितों को ध्यान में रखा जाता था। सन् 1946 में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना होने पर भारत ने उसकी सदस्यता ग्रहण की तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण विनिमय मान की स्थापना हुई। इस मान की प्रमुख विशेषताएं निम्न हैं—

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण विनिमय मान की विशेषताएं

स्वर्ण कोष का निर्माण	विनिमय दर में परिवर्तन	विदेशी सहायता	रुपये का स्वर्ण मूल्य	विदेशी विनिमय मान

(i) स्वर्ण कोष का निर्माण—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष में प्रत्येक सदस्य राष्ट्र का एक अभ्यंश (quota) रहता है, जिसका एक निश्चित भाग स्वर्ण में रखा जाता है। यह भाग समस्त स्वर्ण कोषों का 10% अथवा अपने अभ्यंश का 25% (जो भी कम हो) होगा। भारत द्वारा रखे गये स्वर्ण का मूल्य निम्न प्रकार है—

18 दिसम्बर 1946 से 1959 तक	27 मि० डालर
15 सितम्बर 1959 से 1966 तक	77 मि० डालर
12 मार्च से 1966 से अब तक	115 मि० डालर

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष में भारत का अभ्यंश 3.5 प्रतिशत है, किन्तु भारत ने स्वर्ण निधि का 2.3 प्रतिशत भाग ही जमा करवाया है। इस प्रकार भारत का वर्तमान मुद्रामान स्वर्ण विनिमय मान के नाम से जाना जाता है।

(ii) विनिमय दर में परिवर्तन—भारतीय रुपये की विनिमय दर में स्वतन्त्रतापूर्वक परिवर्तन करना सम्भव नहीं है। भारत विनिमय दर में 10 प्रतिशत तक तो स्वतन्त्रतापूर्वक परिवर्तन कर सकता है, परन्तु उससे अधिक मात्रा में परिवर्तन करने के लिए मुद्रा कोष की पूर्व अनुमति प्राप्त करना आवश्यक होता है। भारतीय रुपये की विनिमय दर में जो परिवर्तन हुए उसका विवरण निम्न प्रकार है—

18 दिसम्बर 1946 से 1949 तक	1 डालर=3.30852 रुपये
22 सितम्बर 1949 से 1966 तक	1 डालर=4.76190 रुपये
9 जून 1966 से अब तक	1 डालर=7.50 रुपये

(iii) विदेशी सहायता—विदेशी विनिमय दर को बनाये रखने के लिए मुद्रा कोष से किसी भी राष्ट्र की मुद्रा में धनराशि उधार ली जा सकती है। इस प्रकार रुपये की विनिमय दर को ठीक स्तर पर बनाये रखने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कोष से पर्याप्त सहायता प्राप्त होती है। भारत प्रतिवर्ष आर्थिक विकास के लिए विदेशी सहायता प्राप्त करता है।

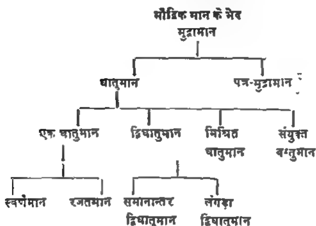
(iv) रुपये का स्वर्ण मूल्य—भारतीय रुपये का मूल्य स्वर्ण में निश्चित किया जाता है और यह मूल्य समय-समय पर परिवर्तित होता रहता है जो निम्न प्रकार रहा है—

1946 से 1949 तक	1 रुपया=.268601 ग्राम सोना
1949 से 1966 तक	1 रुपया=.186621 ग्राम सोना
1966 से आज तक	1 रुपया=.118489 ग्राम सोना

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य बनने पर रुपये का स्वर्ण मूल्य .268601 ग्राम सोना रखा गया था जिसे अवमूल्यन (1966) के बाद घटाकर .118489 ग्राम सोना कर दिया गया।

(v) विदेशी विनिमय मान—भारतीय रुपये का सम्बन्ध उन समस्त 111 राष्ट्रों की मुद्राओं से हो गया है जो 1969 तक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्य हैं। व्यवहार में रुपये की विनिमय दर अमरीकी डालर में ही निश्चित की जाती है। इसी प्रकार विश्व के अन्य राष्ट्रों की दरें भी डालर में ही निश्चित होती हैं, जिससे भारतीय रुपये का सम्बन्ध सदस्य राष्ट्रों की मुद्राओं से जुड़ गया है और इसी कारण से भारतीय मुद्रामान को विदेशी विनिमय मान के नाम से जाना जाता है।

निम्न चार्ट द्वारा भारतीय मौद्रिक मान के भेदों को एक दृष्टि में समझा जा सकता है।



भारतीय मुद्रा प्रणाली की विशेषतायें

भारत में वर्तमान मुद्रामान विदेशी विनिमय मान के नाम से जाना जाता है। इस मान की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं—

(i) लोचदार व्यवस्था—भारतीय मुद्रामान में पर्याप्त लोच है और आवश्यकतानुसार इसकी मात्रा में कमी या वृद्धि की जा सकती है। इसी व्यवस्था के कारण भारतीय योजनाओं के लिए हीनार्थ प्रबन्धन की व्यवस्था करके योजनाओं को सफल बनाया गया।

(ii) पर्याप्त विश्वास—भारतीय रुपये में आन्तरिक एवं बाह्य राष्ट्रों की जनता का पर्याप्त विश्वास है क्योंकि भारत अपने दायित्वों का समय पर भुगतान करता है और इस दिशा में मुद्रा कोष की सहायता विशेष उल्लेखनीय रही है।

(iii) स्वतन्त्र मुद्रामान—भारतीय मुद्रामान एक स्वतन्त्र मुद्रामान है और वह किसी भी राष्ट्र की मुद्रा में होने वाले परिवर्तनों से प्रभावित नहीं होता। भारतीय मुद्रामान का प्रत्यक्ष सम्बन्ध मुद्राकोष के सदस्य राष्ट्रों से है और उस पर किसी भी प्रकार का कोई बन्धन नहीं है।

(iv) मितव्ययिता—देश में सोने एवं चांदी के सिक्कों का प्रचलन न होने से धातु की घिसावट नहीं होती और रिजर्व बैंक भी मूल्यवान धातु को संग्रह के रूप में रखने को बाध्य न होने से बहुमूल्य धातु बेकार कोष में न पड़ी रहकर, उसका पूर्ण सदुपयोग किया जाता है।

(v) निश्चितता एवं विश्वसनीय—भारत में मुद्रा का चलन रिजर्व बैंक के अधिनियम के अन्तर्गत किया जाता है जिससे देश की मुद्रा प्रणाली में निश्चितता है व साथ ही जनता का विश्वास प्राप्त है।

(vi) स्वयं-चालकता—भारतीय मुद्रा में स्वयं सचालकता का गुण है, जिसके कारण सरकारी हस्तक्षेप के बिना वह देश की आवश्यकताओं के अनुरूप समायोजित होती रहती है।

(vii) विनिमय दर में स्थायित्व होना—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सहायता से भारतीय रुपये की विनिमय की दर में स्थायित्व लाया गया है। इसके विपरीत एशिया एवं दक्षिणी अमेरिका के राष्ट्रों में मुद्रा स्फीति हुई है जिससे वहां की विनिमय दरों में काफी गिरावट आई है।

भारतीय मुद्रा व्यवस्था के दोष—भारतीय मुद्रा व्यवस्था में भी कुछ दोष मौजूद हैं, जो कि निम्नलिखित हैं—

(i) सुरक्षित कोष सीमित—भारत में सुरक्षित कोष की मात्रा निश्चित कर दी गई है जो 200 करोड़ रुपये हैं (जिनमें स्वर्ण 115 करोड़ रुपये) और इसी के आधार पर सरकार पत्र-मुद्रा जारी करती है।

(ii) आन्तरिक मूल्य स्तर का बलिदान—भारतीय मुद्रा के आन्तरिक मूल्य स्थिरता का बलिदान करके बाह्य मूल्य को स्थिर रखने के प्रयास किये गये हैं जो कि उचित नहीं है।

(iii) मुद्रा प्रसार का डर—सरकार के भरसक प्रयास करने पर भी युद्धकाल एवं उसके बाद में मुद्रा प्रसार जारी रहा। पंचवर्षीय योजनाओं में घाटे की अर्थव्यवस्था का सहारा लिया गया और मुद्रा की मात्रा में काफी वृद्धि हुई। वर्तमान समय में लगभग 3900 करोड़ रुपये से भी ज्यादा की पत्र-मुद्रा देश में चलन में है।

(iv) सरलता का अभाव—भारतीय मुद्रा प्रणाली में सरलता का अभाव है और इसे जटिल प्रणाली माना गया है।

भारतीय मुद्रा प्रणाली में दोष होने के बाद भी यह कहा जा सकता है कि अनेक राष्ट्रों की तुलना में भारतीय मुद्रा प्रणाली एक अच्छी प्रणाली है। भारतीय अर्थव्यवस्था कृषि-प्रधान होने के बाद भी औद्योगीकरण की ओर तीव्रगति से बढ़ रही है। मिश्रित अर्थव्यवस्था में विद्यमान मुद्रा व्यवस्था को उपयुक्त कहा जा सकता है।

6

स्वर्णमान
(GOLD STANDARD)

प्रारम्भिक—एक धातुमान के विभिन्न रूपो मे स्वर्णमान को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इसमे जनता को अधिकतम विश्वास बना रहता है। स्वर्णमान दीर्घकालीन विकास का फल है। "स्वर्णमान एक ऐसी पद्धति है जिसमे राष्ट्रीय मुद्रा का मूल्य स्वर्ण मे निश्चित किया जाता है, और इस प्रकार अन्य स्वर्णमान वाले राष्ट्रों की मुद्रा मे व्यावहारिक रूप मे उसका मूल्य निश्चित हो जाता है, परन्तु जो राष्ट्र स्वर्णमान पर आधारित नहीं है, उनसे नही हो पाता।"[1] स्वर्णमान का महत्व अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर माना गया है। "19वी शताब्दी के अन्तिम एव बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे स्वर्णमान एक प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था के रूप मे था। प्रथम विश्व युद्ध काल तक इस मान ने इस प्रकार कार्य किया कि विश्व मे आन्तरिक एव बाह्य सन्तुलन बनाये रखा परन्तु 20वी शताब्दी मे इसका कार्यक्रम सन्तोषप्रद रहा।"[2] विनिमय दरो मे परिवर्तन होने से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर बुरा प्रभाव पडता है। "स्वर्णमान एक ऐसा साधन है जो विनिमय दरो मे स्थायित्व लाने मे उत्तम माना जाता है।"[3]

परिभाषायें

स्वर्णमान के सम्बन्ध मे यह धारणा है कि इस व्यवस्था मे सोने की मुद्रा का चलन मे रहना आवश्यक है, किन्तु वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं है। यदि किसी देश में उसकी प्रचलित मुद्रा प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में मुद्रा मे परिवर्तनीय हो, तो उसे उस राष्ट्र का स्वर्णमान कहते हैं। इस सम्बन्ध मे प्रसिद्ध विद्वानों द्वारा दी गई प्रमुख परिभाषाएं निम्न हैं—

(1) कौलबोर्न के अनुसार, "स्वर्णमान एक ऐसी व्यवस्था है, जिसमे राष्ट्र की मुख्य मुद्रा की एक इकाई निर्धारित किस्म के स्वर्ण की एक निश्चित मात्रा मे बदली जा सकती है।"[4]

1 "The gold standard is a method by which the value of a national currency is ffixed in terms of gold and has therefore a practically fixed value in relation to the currencies of other gold standard countries, though not, of course, to those of countries which are not under the gold standard."—G D H Cole Money, Trade and Investment (London 1954), p. 268.

2 "The gold standard was the dominant international monetary system in the last third of the nineteeth century and the first third of the twentieth. Up to the First World War it operated in such a way as to achieve tolerable degree of internal and external balance in the world; after its restoration in the twenties it worked much less satisfactorily" A C L Pay · Outline of Monetary Economics (London 1957), p. 482.

3 "The gold standard can best be regarded as a device for maintaining the stability of the exchange rates"—Crowther : p. 277

4. "The gold standard is an arrangement whereby the chief piece of money of a currency is exchangeable with a fixed quantity of gold of a specified quality."—Coulborn : A Discussion on Money, p. 117.

(2) राबर्टसन के अनुसार, "स्वर्णमान एक ऐसी स्थिति को प्रकट करने में उपयोगी होगा, जिसमें कोई राष्ट्र अपनी मौद्रिक इकाई का मूल्य स्वर्ण की एक निश्चित मात्रा के बराबर रखती है।"[1]

(3) हाट्रे के अनुसार, "स्वर्णमान का आधार मौद्रिक इकाई के मूल्य को स्वर्ण का मूल्य स्थिर करके स्वर्ण के मूल्य से गठबन्धित कर देना है।"[2]

(4) केमरर के अनुसार, "स्वर्णमान वह मुद्रा पद्धति है, जहां मूल्य की इकाई जिसमें मूल्य मजदूरी एवं ऋणों को व्यक्त एवं भुगतान किया जाता है, उसका मूल्य स्वतन्त्र स्वर्ण बाजार में स्वर्ण की एक निश्चित मात्रा के बराबर होता है।"[3]

(5) क्राउथर की मान्यता के अनुसार, "जब यह कागजी मुद्रा विधि द्वारा एक निश्चित अनुपात में स्वर्ण में परिवर्तनशील हो, तो ऐसी मुद्रा व्यवस्था को स्वर्णमान कहा जाता है।"[4]

(6) वाल्टर हेन्स् के अनुसार, "एक विशुद्ध स्वर्णमान वह मौद्रिक व्यवस्था है, जिसमें एक राष्ट्र, (i) अपनी मुद्रा का मूल्य स्वर्ण के निश्चित भार में परिभाषित करे, (ii) स्वर्ण एवं अन्य समस्त मुद्रा के रूपों को परिवर्तनशील की सुविधा हो, एवं (iii) देश व विदेश में स्वर्ण का आवागमन स्वतन्त्र होता है।"[5]

उपर्युक्त परिभाषाओं के अध्ययन से स्पष्ट है कि स्वर्णमान मूल्य मापक का कार्य करता है, परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि इसमें स्वर्ण के सिक्के चलन में हों ही। इस मान में कागजी मुद्रा एवं सांकेतिक मुद्रा चलन में रह सकते हैं, परन्तु वे स्वर्ण में परिवर्तनीय होते हैं।

मूल तत्व—स्वर्णमान के मूल तत्व निम्न प्रकार हैं :—

(i) स्वर्णमान में स्वर्ण की मुद्राएं चलन में रहना आवश्यक नहीं है।

(ii) देश की मुद्रा प्रायः स्वर्ण में परिवर्तनशील होती है। कभी-कभी मुद्रा के बदले स्वर्ण केवल विदेशी भुगतान के लिए ही मिलता है।

(iii) देश की मुद्रा का सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार से स्वर्ण से जुड़ा रहता है।

स्वर्णमान की विशेषताएं

स्वर्णमान की प्रमुख विशेषतायें निम्न हैं—

(i) स्वर्ण का निश्चित भार—देश की प्रामाणिक मुद्रा को निर्धारित स्वर्ण-भार में निश्चित कर दिया जाता है तथा उसकी दर भी स्वर्ण में निश्चित कर दी जाती है।

(ii) स्वर्ण खरीदने, बेचने की व्यवस्था—मुद्रा अधिकारी को टकसाली मूल्य पर स्वर्ण खरीदने व बेचने की व्यवस्था करनी पड़ती है।

1. "A gold standard will be used to denote a state of affairs in which a country keeps the value of its monetary unit and the value of a defined weight of gold at an equality with one another."—Robertson : Money, p. 53.

2. "The foundation of the gold standard is the tying of the value of the monetary unit to the value of gold by fixing of the price of gold."—Hawtrey : Gold Standard.

3. "Gold Standard is a money system where the unit of value in which prices and wages and debts are customarily expressed and paid consists of the value of a fixed quantity of gold in a free gold market."—Kamerrer.

4. "When this paper money is made by law freely interchangeable with gold at a fixed ratio, the currency is on the gold standard."—Crowther : An Outline of Money (London 1958), p. 279.

5. "A pure gold standard is a monetary system in which a nation (i) defines its currency as a given weight of gold (ii) provides convertibility at par between gold and all other forms of currency, and (iii) permits free movement of gold both at home and abroad."—W. W. Haines.

(iii) आयात व निर्यात पर प्रतिबन्ध का अभाव—इसमें स्वर्ण के खरीदने एवं बेचने पर किसी भी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता है।

(iv) सभी मुद्राएं स्वर्ण में परिवर्तनशील—देश मे प्रचलित प्राय. सभी मुद्राएं स्वर्ण मे परिवर्तनशील होती हैं।

(v) असीमित विधि ग्राह्य—स्वर्ण मुद्राएं असीमित रूप से विधि ग्राह्य होती हैं और किसी भी मात्रा तक उन्हें भुगतान के रूप में दिया जा सकता है।

(vi) स्वतन्त्र टंकन—स्वर्णमान में मुद्रा का टंकन स्वतन्त्र रहता है।

स्वर्णमान के गुण—स्वर्णमान के प्रमुख गुण निम्न हैं:

(i) जनता का पूर्ण विश्वास—इसमे मुद्रा या तो स्वर्ण की होती है, या स्वर्ण में परिवर्तनीय होती है, जिससे इसमे सामान्य स्वीकृति के गुण पाये जाने से जनता का पूर्ण विश्वास बना रहता है।

(ii) आन्तरिक मूल्य में स्थिरता—मुद्रा की बाह्य क्रय शक्ति मे परिवर्तन न होने से स्वर्णमान मे मुद्रा के आन्तरिक मूल्य-स्तर मे भी स्थिरता बनी रहती है। इसमें भुगतान शेष प्राय: साम्य की स्थिति मे रहता है जिसमे मुद्रा की मात्रा मे परिवर्तन नहीं हो पाते।

(iii) स्वयं चालकता—स्वर्णमान मे भुगतान सन्तुलन स्वर्ण के आयात अथवा निर्यात द्वारा स्वत. ही ठीक हो जाता है, जिससे उसमे स्वय सचालकता का गुण पाया जाता है और सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यक्ता नहीं रहती है।

(iv) विनिमय दरों में स्थिरता—चलन इकाइयों का मूल्य अनुपात मुद्रा की स्वर्ण की मात्रा के आधार पर निश्चित किया जाता है। विनिमय दर टकसाली दर से कम या अधिक निर्धारित होती है जिसमे अन्तर पाया जाता है। सरकार विदेशी विनिमय को खरीदकर या बेचकर विनिमय दर के परिवर्तनों को रोकने का प्रयास करती है।

स्वर्णमान के दोष—स्वर्णमान के प्रमुख दोष निम्न हैं:

(i) आन्तरिक मूल्य स्थिरता की हानि—बाह्य विनिमय स्थिरता को बनाये रखने के लिए आन्तरिक मूल्य स्थिरता का बलिदान करना पड़ता है, फलस्वरूप देश की अर्थव्यवस्था निश्चित अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों पर आधारित हो जाती है। इस प्रकार एक राष्ट्र की स्थिरता या अस्थिरता का दूसरे राष्ट्र के आर्थिक विकास पर तुरन्त प्रभाव पड़ता है। जैसे 1929-30 की आर्थिक मन्दी का प्रभाव विश्व के प्राय: सभी राष्ट्रों पर पड़ा।

(ii) आन्तरिक स्वतन्त्रता का अभाव—इसमे आन्तरिक स्वतन्त्रता को त्यागकर अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय स्थिरता की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है जो देश के आर्थिक विकास के लिए हानिप्रद रहता है।

(iii) सरलता का अभाव—स्वर्णमान मे सरलता का अभाव पाया जाता है क्योंकि इसके विभिन्न स्वरूप होते हैं, जिन्हें सरलता से समझना सम्भव नहीं हो पाता।

(iv) चलन मात्रा में उच्चावचन—स्वर्ण की मात्रा मे होने वाले परिवर्तनों का प्रभाव देश की चलन मात्रा पर पड़ता है। जैसे-जैसे स्वर्ण मात्रा मे परिवर्तन होता है, वैसे ही वैसे चलन मात्रा मे उच्चावचन हो जाते हैं।

(v) स्वयं सचालकता का अभाव—अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग बने रहने पर स्वय संचालकता का गुण विद्यमान रहता है, परन्तु सहयोग मे कमी होने पर यह विशेषता लुप्त हो जाती है। इसी प्रकार यदि भुगतान सन्तुलन काफी लम्बे समय तक असन्तुलित बना रहे तो स्वर्णमान भी स्वय संचालकता का गुण खो बैठता है।

(vi) अनुकूल परिस्थितियों का मान—शान्तिकाल मे स्वर्णमान सफलतापूर्वक कार्य करता है, परन्तु युद्ध एव अन्य आपत्तिकालीन परिस्थितियों मे इसे अपनाना कठिन हो जाता है। विश्व के आर्थिक विकास के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि आर्थिक सकट आने पर स्वर्णमान का परित्याग करना पड़ा।

स्वर्णमान के कार्य
(Functions of Gold Standard)

चलन मात्रा को नियन्त्रित करना	विनिमय दर मे स्थायित्व	अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान में सुविधा

स्वर्णमान के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं—

(i) चलन को मात्रा को नियन्त्रित करना (Controlling the Volume of Currency)—देश में यदि स्वर्ण की मुद्रा चलन में हो तो मुद्रा की मात्रा को स्वर्ण कोषों के आधार पर घटाया या बढ़ाया जा सकता है। परन्तु यह निश्चित है कि किसी भी देश के पास स्वर्ण के कोष इतने अधिक नहीं होते कि वह अनिश्चित मात्रा तक मुद्रा का प्रसार कर सके। मुद्रा के सिक्के सामान्य स्थितियों में सदैव मुद्रा प्रसार के विरुद्ध रुकावट का कार्य करते हैं, फलस्वरूप वस्तुओं के मूल्यों में भी विशेष वृद्धि नहीं हो पाती और मुद्रा के आन्तरिक मूल्य में स्थायित्व बना रहता है।

इसी प्रकार जब स्वर्ण मुद्रा चलन में न होकर कोष में रखी जाये तथा उसके स्थान पर कागज के नोट प्रचलित हों, जिनके बदले में स्वर्ण देने की गारण्टी बनी रहती है और स्वर्णदर सरकार द्वारा पहले ही निर्धारित कर दी जाती है। इस व्यवस्था में यदि स्वर्ण न हो तो कागजी व अन्य सांकेतिक मुद्रा की मात्रा में भी वृद्धि नहीं की जा सकती जिसमें मुद्रा प्रसार का भय नहीं रहता और मुद्रा के आन्तरिक मूल्य में स्थायित्व बना रहता है। "चलन नियम यह दर्शाते हैं कि कागजी नोट केवल उसी समय निर्गमित किये जा सकते हैं जबकि उसके लिए कोष में रखने के लिए पर्याप्त मात्रा में स्वर्ण हो।"[1] मुद्रा की इस प्रतिबन्धक शक्ति के कारण केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों को अधिक ऋण नहीं दे पाते, जिससे बैंकों की साख निर्माण शक्ति सीमित हो जाती है। परिणामस्वरूप देश की मुद्रा के मूल्य में पर्याप्त स्थायित्व बना रहता है। स्वर्णमान के सम्बन्ध में यह माना जाता है कि उसमें मुद्रा प्रसार का भय नहीं होता, परन्तु यह मान्यता असत्य ही सत्य है, क्योंकि सरकार आवश्यकता पड़ने पर बिना रोक-टोक कागजी मुद्रा का प्रचलन करती जाती है और स्वर्ण को केवल विदेशी भुगतान के लिए ही प्रयोग किया जाता है, फलस्वरूप मुद्रा के आन्तरिक मूल्य में गिरावट आने का भय बन जाता है। इस प्रकार मुद्रा व्यवस्था की लोच मुद्रा की क्रयशक्ति के लिए एक नियमित खतरा बनी रहती है।

(ii) विनिमयदर में स्थायित्व (Stability of Exchange Rates)—स्वर्णमान में मुद्रा की विनिमय दरें[2] प्रायः स्थिर रहती थीं, क्योंकि मुद्राओं के मूल्य प्रायः स्वर्ण में निर्धारित किये जाते थे और स्वर्ण मूल्यों में उच्चावचन न्यूनतम होते हैं। परिणामस्वरूप मुद्राओं की आपसी विनिमय दरों में भी उच्चावचन नहीं हो पाते। मुद्रा की विनिमय दरों में जो भी उतार-चढ़ाव होते थे, वे अल्पकालीन एवं सीमित होते थे। मुद्रामान स्वर्ण पर आधारित होने से विश्व के अनेक राष्ट्रों की मुद्राओं को आपस में जोड़ा जाता है और किसी भी एक राष्ट्र में होने वाले आर्थिक परिवर्तनों के फलस्वरूप विनिमय दरों में होने वाले परिवर्तनों को रोकने के प्रयास किये जाते हैं क्योंकि अन्य राष्ट्र इस प्रकार की स्थिरता में रुचि रखने लगते हैं। स्वर्ण का क्रय-विक्रय स्वतन्त्र होने से अस्थायी कठिनाइयों को स्वर्ण खरीद या बेचकर दूर किया जा सकता है। इस प्रकार "स्वर्णमान वाले राष्ट्र में मौद्रिक अधिकारियों (जिसका प्रायः अभिप्राय केन्द्रीय बैंक से है) का यह दायित्व है कि निश्चित मूल्यों पर असीमित मात्रा में स्वर्ण को खरीद एवं बिक्री कर सकें।"[3]

1. "Currency laws frequently stipulate that notes can only be issued if there is a certain backing of a gold held in reserve against them."—Crowther: An Outline of Money, p. 281.

2. विनिमय दर से आशय, अपनी मुद्रा के बदले कितनी मात्रा में विदेशी मुद्रा प्राप्त होने से है। जैसे यदि एक भारतीय रुपये के बदले 6·5 बेल्जियम फ्रैंक अथवा 13 अमरीकी सैन्ट मिलें, तो रुपये की विनिमय दर 6·5 फ्रैंक अथवा 13 सैन्ट होगी।

3. "A country on the gold standard imposes upon its monetary authorities (which usally means the central bank) the obligation of buying all gold offered to it and of selling all gold demanded from it in unlimited quantities at fixed prices."—Crowther: op.cit., p. 282.

देश में मुद्रा की आन्तरिक क्रयशक्ति एवं विदेशी विनिमय दर में गहरा सम्बन्ध रहता है। यदि मुद्रा की आन्तरिक क्रय शक्ति गिर जाती है तो विनिमय दर में भी गिरावट होने लगती है। इस प्रकार एक में कमी होने पर दूसरी में भी स्वाभाविक रूप से कमी आ जाती है। अतः विनिमय दर में स्थिरता लाने के लिए यह आवश्यक है कि मुद्रा के आन्तरिक मूल्य-स्तर में स्थायित्व रखा जाये। सरकार द्वारा मुद्रा को स्वर्ण में परिवर्तित करने की गारण्टी देकर ही विनिमय दर में स्थायित्व लाया जा सकता है। वर्तमान समय में मुद्राकोष के समस्त सदस्य अपनी मुद्राओं का मूल्य स्वर्ण में निश्चित करते हैं, परन्तु सरकार द्वारा स्वर्ण देने की गारण्टी न देने से विनिमय दरों में निरन्तर गिरावट आती जाती है। न्यूयार्क की एक बैंक के सर्वेक्षण के आधार पर 1957-1967 के दस वर्षों में विभिन्न राष्ट्रों की मुद्राओं में जो कमी आई उसका वर्णन निम्न प्रकार है—

मुद्रा के मूल्य में कमी (1957-1967)

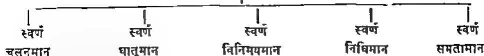
(आधार वर्ष 1957=100)

राष्ट्र का नाम	मुद्रा मूल्य का सूचक अङ्क (1967)	मुद्रा के मूल्य में वार्षिक ह्रास
1. ब्राजील	2	31·6
2 अर्जेन्टाइना	[illegible]	24 8
3. चिली	11	20 1
4. वियतनाम	31	11·1
5. कोरिया	36	9 6
6. तुर्की	45	7 7
7. भारत	54	6 0
8. फ्रांस	62	4 7
9. तैवान	62	4·6
10 जापान	66	4·1
11. पाकिस्तान	72	3·3
12. नीदरलैण्ड	73	3·1
13. न्यूजीलैण्ड	74	3 0
14. ब्रिटेन	75	2 8
15. जर्मनी	79	2·2
16. बेल्जियम	80	2·2
17. आस्ट्रेलिया	80	2 2
18 कनाडा	82	2 0
19 स० रा० अमरीका	84	1·7

इस प्रकार स्पष्ट है कि मुद्रा के वार्षिक मूल्य में वार्षिक ह्रास 1·7% से 31·6% तक हुआ है। यदि राष्ट्र की मुद्राएं स्वर्ण में परिवर्तनशील होती तो यह उच्चावचन सम्भव नहीं हो पाते।

(iii) अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान में सुविधा—स्वर्णमान अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों को सुविधाजनक बना देता है व विदेशी व्यापार को प्रोत्साहित करता है क्योंकि समस्त राष्ट्रों की विनिमय दर स्वर्ण में घोषित की जाती है तथा निर्यात करने वाले व्यापारी व उस राष्ट्र की सरकार को यह विश्वास होता है कि माल का भुगतान स्वर्ण में ही कर दिया जायेगा। इस प्रकार विदेशी व्यापार में माल का क्रय व विक्रय स्वतन्त्रतापूर्वक चलता रहता है और किसी भी प्रकार की कोई कठिनाई उपस्थित नहीं होती। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि स्वर्ण मान से विदेशी व्यापार में वृद्धि होती है तथा अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों में सुविधा प्राप्त हो जाती है।

स्वर्णमान के विभिन्न प्रकार
(Various Forms of Gold Standard)



स्वर्णमान के विभिन्न रूप निम्नलिखित हैं—

(1) स्वर्ण चलनमान (Gold Currency Standard)
(2) स्वर्ण धातुमान (Gold Bullion Standard)
(3) स्वर्ण विनिमय मान (Gold Exchange Standard)
(4) स्वर्ण निधिमान (Gold Reserve Standard)
(5) स्वर्ण समतामान (Gold Parity Standard)

(1) स्वर्ण चलनमान

स्वर्ण के इस रूप को कई नामों से जाना जाता है जैसे पूर्ण स्वर्णमान (Full gold standard), स्वर्ण प्रचलन मान (Gold circulation standard), स्वर्ण मुख्य मान (Gold standard proper), स्वर्ण टंकन मान (Gold coin standard) आदि।

विशेषताएं—इस मान की प्रमुख विशेषताएं निम्न हैं—

(i) स्वर्ण सिक्के प्रचलन में—स्वर्ण के सिक्के प्रचलन में रहते हैं तथा यह निश्चित कर दिया जाता है कि सोने के सिक्के में कितनी मात्रा में स्वर्ण होगा।

(ii) असीमित विधि ग्राह्य—भुगतान के लिए स्वर्ण मुद्रा को असीमित मात्रा में प्रयोग किया जा सकता है।

(iii) स्वतन्त्र आयात-निर्यात—स्वर्ण के आयात व निर्यात पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता और उसे स्वेच्छापूर्वक आयात व निर्यात किया जा सकता है।

(iv) चलन मात्रा स्वर्ण कोष पर निर्भर—देश की चलन मात्रा स्वर्ण कोष पर आधारित रहती है और स्वर्ण कोष के घटने अथवा बढ़ने से चलन की मात्रा में भी घट-बढ़ हो जाती है।

(v) मुद्राएं स्वर्ण में परिवर्तनीय—स्वर्ण की बचत एवं सुविधा के लिए कागजी मुद्रा एवं सांकेतिक मुद्रा का प्रचलन व प्रयोग किया जाता है, परन्तु वे सब मुद्रा स्वर्ण में परिवर्तनीय होती हैं।

(vi) स्वतंत्र ढलाई—सोने के सिक्कों की ढलाई स्वतन्त्र होती है।

(vii) स्वर्ण का महत्व—स्वर्ण मुद्रामान के अन्तर्गत स्वर्ण ही सम्पूर्ण मुद्रा प्रणाली का आधार माना जाता है, जिससे सम्पूर्ण व्यवसाय का आधार स्वर्ण ही माना जाता है।

स्वर्ण मुद्रामान के गुण—स्वर्णमान के प्रमुख गुण निम्न हैं :—

(i) स्वयं संचालकता—इसमें किसी भी प्रकार के मौद्रिक प्रबन्ध की आवश्यकता नहीं रहती तथा माग व पूर्ति के आधार पर स्वत: ही सन्तुलन बने रहने से स्वयं संचालकता का गुण विद्यमान रहता है। मुद्रा की अधिक आवश्यकता पड़ने पर धातु को सिक्कों में ढलवा लिया जाता है और आवश्यकता न पड़ने पर सिक्कों को गलवा दिया जाता है। इसी प्रकार विश्व के अन्य राष्ट्रों के साथ भुगतान सन्तुलन का साम्य भी स्थापित हो जाता है। सन्तुलन विपक्ष में होने पर स्वर्ण का निर्यात होने लगता है और पक्ष में होने पर स्वर्ण के आयात में वृद्धि हो जाती है।

(ii) विनिमय दर में स्थिरता—इसमें विदेशी विनिमय की दर को सरलता से ज्ञात किया जा सकता है और इसमें न्यूनतम परिवर्तन होते हैं। परिवर्तन स्वर्ण बिन्दुओं (Gold specie points) तक सीमित होते हैं, फलस्वरूप विदेशी व्यापार में जोखिम की सम्भावना न्यूनतम हो जाती है।

(iii) अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यमान की स्थापना—स्वर्ण मे सर्वग्राह्यता का गुण होने से उसे सब स्थानो पर सरलता से स्वीकार किया जाता है, जिससे स्वर्ण के सिक्के अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा का कार्य करने लगते है।

(iv) आन्तरिक मूल्य में स्थिरता—मुद्रा की मात्रा स्वर्ण पर निर्भर होने से मुद्रा के आन्तरिक मूल्य स्तर में स्थिरता बनी रहती है और अधिक उच्चावचन नही हो पाते।

(v) जनता का पूर्ण विश्वास—इस मान मे जनता को पूर्ण विश्वास बना रहता है क्योकि सिक्कों का आन्तरिक एव वाह्य मूल्य समान होता है, उसमे सर्वग्राह्यता का गुण होता है तथा मुद्रा स्वर्ण मे परिवर्तनीय होती है।

(vi) सरल व्यवस्था—स्वर्ण मुद्रामान मे सोने की मुद्राएं चलन मे रहती हैं और कागज के नोट भी स्वर्ण मुद्राओं मे बदले जा सकते हैं। अत यह एक सरल व्यवस्था रहती है क्योकि प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि स्वर्ण मुद्रा का देश विदेश मे समान उपयोग रहता है।

स्वर्णचलन मान के दोष—स्वर्ण चलनमान के मुख्य दोष निम्न हैं—

(i) सहयोग बिना स्वयं संचालकता का अभाव—जब अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सहयोग हो तभी समय इनमे स्वय संचालकता का गुण पाया जाता है। यदि विदेशी व्यापार पर नियत्रण या स्वर्ण निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा देंतो स्वयं संचालकता समाप्त हो जाती है।

(ii) स्वर्ण का अपव्यय—सोने के सिक्के चलन मे रहने से स्वर्ण की घिसावट होती है तथा स्वर्ण सिक्को के लिए स्वर्ण की आवश्यकता अधिक होती है।

(iii) निर्धन राष्ट्र में असम्भव—स्वर्ण के अभाव में निर्धन राष्ट्र इस मान को अपनाने में कठिनाई अनुभव करते हैं।

(iv) विनिमय दर में स्थिरता लाने के अन्य ढग भी हैं—स्वर्णमान द्वारा ही केवल विनिमय दर मे स्थिरता नही लाई जा सकती, बल्कि प्रतिबन्धित कागजी मुद्रामान द्वारा भी स्थिरता प्राप्त की जा सकती है।

(v) आन्तरिक स्थिरता काल्पनिक—स्वर्ण की खोज होने या स्वर्ण पूर्ति मे वृद्धि हो जाने पर स्वर्ण मुद्रा का मूल्य भी परिवर्तित होता रहता है, परिणामस्वरूप मुद्रा के आन्तरिक मूल्यो मे स्थिरता का अभाव पाया जाता है।

(vi) अनुकूल परिस्थितियों का मान—स्वर्ण चलन मान स्वर्ण कोषो की मात्रा पर निर्भर करता है। यदि इनमे कमी हो जाये तो इसे चालू रखना कठिन हो जाता है।

इस प्रकार "यदि एक चलन पद्धति मे स्वर्ण मुद्रा चलन में हो या कागजी नोटों के समान किसी अन्य धातु का चलन रहे तो उसे पूर्ण स्वर्णमान कहते हैं।"[1]

(2) स्वर्ण धातुमान

इसका आविष्कार प्रथम विश्वयुद्ध की कठिनाई के कारण हुआ। युद्धकाल मे प्राय: सभी योरोपीय राष्ट्रों को मुद्रा के प्रसार की आवश्यकता अनुभव हुई, परन्तु स्वर्ण कोष के अभाव के कारण यह सम्भव नही था कि स्वर्ण चलन मान को अपनाया जाये। अतः स्वर्ण धातु को कोष मे रखकर कागजी मुद्रा को चलन में लाया गया। इस प्रकार स्वर्ण धातुमान वह मुद्रामान है जिसमें स्वर्ण को चलन में रहने के स्थान पर कोष में रखा जाता है। "जब स्वर्ण चलन में नही रहे, लेकिन केन्द्रीय बैंक कानूनी दायित्वों के अन्तर्गत एक निश्चित मूल्य एव असीमित मात्रा (कभी-कभी न्यूनतम मात्रा निश्चित कर दी जाती है परन्तु अधिकतम नही) में चलन के बदले स्वर्ण क्रय करने या विक्री करने की जिम्मेदारी हो तो उसे स्वर्ण धातुमान कहते है, जिसमें मुद्रा स्वर्ण में परिवर्तित न करके स्वर्ण धातु में परिवर्तित की जाती है।"[2] भारत में 1926 से स्वर्ण धातु-

1. "A currency system in which gold coins either from the whole circulation or else circulate equally with notes is known as the full gold standard."—Crowther, op.cit., p. 279.

2. "When gold coins do not circulate, but the central bank is nevertheless under legal obligation to buy and sell gold in exchange for currency at a fixed price and in unlimited amounts (sometimes with a minimum amount fixed but never a maximum) it is known as the gold bullion standard, as the curreny is then convertible not into gold coin but into gold bullion."—Crowther, op cit, p 279-280

मान को अपनाया गया। हिल्टन यंग आयोग की सिफारिशों के आधार पर भारत सरकार ने 21·24 रु० प्रति तोले के हिसाब से स्वर्ण क्रय एवं विक्रय करने की घोषणा की। यह स्वर्ण 40-40 तोले के टुकड़ों में खरीदा या बेचा जा सकता था। किन्तु एक बार में कम से कम 400 औंस (1,065 तोले) सोना खरीदना या बेचना आवश्यक था।

विशेषताएं—इस मान की प्रमुख विशेषताएं निम्न हैं—

(i) सिक्कों का मूल्य स्वर्ण में व्यक्त—*देश में घटिया व सांकेतिक मुद्रा का चलन रहता है तथा इनका मूल्य स्वर्ण में ही व्यक्त किया जाता है।*

(ii) सभी मुद्राओं को स्वर्ण में बदलने का आश्वासन—सरकार सभी प्रकार की मुद्राओं को एक पूर्व निर्धारित दर पर सोने की धातु में बदलने का आश्वासन देती है, परन्तु इसके लिए एक न्यूनतम सीमा निर्धारित कर दी जाती है, जिससे कम में सोना नहीं बेचा जाता।

(iii) विदेशी भुगतानों के लिए स्वर्ण—*विदेशी भुगतानों के लिए सोना सरकार द्वारा दिया जाता है और इसके लिए पर्याप्त मात्रा में अपने पास स्वर्ण कोष रखती है।*

(iv) स्वर्ण आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध नहीं—इस मान में स्वर्ण आयात-निर्यात पर किसी भी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं रहता है।

(v) निश्चित प्रतिशत में ही स्वर्ण—*इसमें पत्र-मुद्रा के पीछे 100 प्रतिशत स्वर्णकोष न रखकर एक निश्चित मात्रा में ही स्वर्ण का कोष रखा जाता है।*

(vi) स्वर्ण विनिमय माध्यम नहीं—इस मान में स्वर्ण मूल्य मापक का कार्य करता है लेकिन सिक्के चलन में नहीं रहने तथा स्वर्ण विनिमय के माध्यम का कोई कार्य नहीं करता।

स्वर्ण धातुमान के लाभ—स्वर्ण धातुमान के प्रमुख लाभ निम्न हैं—

(i) स्वर्ण का सार्वजनिक हित में उपयोग—स्वर्ण का उपयोग व्यक्तिगत लाभ के लिए न होकर सार्वजनिक लाभ के लिए किया जाता है क्योंकि स्वर्ण सरकार के कोष में जमा रहता है।

(ii) लोच—इस मान में अधिक लोच बनी रहती है। कुछ प्रतिशत भाग ही स्वर्ण में रखने से अधिक मूल्य की मुद्रा निर्गमित की जा सकती है। सरकार भी अधिनियम में परिवर्तन करके स्वर्ण कोष के अनुपात को घटा या बढ़ा सकती है।

(iii) जनता का विश्वास—चलन मुद्रा को स्वर्ण की छड़ों में बदलने का प्रबन्ध रहने से जनता का विश्वास सदैव बना रहता है।

(iv) स्वयं संचालकता का गुण—मुद्रा माँग से कम हो जाने पर जनता स्वर्ण को क्रय कर लेती है, जिससे स्वर्ण कोषों में कमी हो जाती है और मुद्रा की पूर्ति इसकी माँग के बराबर हो जाती है। इसके विपरीत माँग बढ़ जाने पर व्यक्ति स्वर्ण बेचना प्रारम्भ कर देते हैं फलस्वरूप स्वर्ण कोषों में वृद्धि हो जाती है और वह माँग के अनुरूप हो जाती है।

(v) निर्धन राष्ट्रों द्वारा अपनाना—इस मान में अधिक मात्रा में स्वर्ण कोषों की आवश्यकता न पड़ने से इसे निर्धन राष्ट्र भी सरलता से अपना सकते हैं।

(vi) विनिमय दर में स्थिरता—इसमें स्वर्ण चलन में रहने के स्थान पर मुद्रा अधिकारी के पास रहता है, जिससे विनिमय दर में स्थिरता स्थापित की जा सकती है।

(vii) मितव्ययिता—स्वर्ण के सिक्के प्रचलन में न रहने से सोने के सिक्के में घिसावट नहीं हो पाती। सोने के सिक्कों को ढालने का व्यय भी बच जाता है तथा सोने के उपयोग में भी बचत हो जाती है।

स्वर्ण धातुमान के दोष—स्वर्ण धातुमान में भी अनेक दोष पाये गये जिससे इसकी स्थापना के 6 वर्षों के अन्दर ही यह पद्धति समाप्त कर दी गई। इस मान के प्रमुख दोषों को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(i) संकट के समय अनुपयुक्त—यह मान अनुकूल परिस्थितियों का ही मान है तथा संकट के समय इसे अपनाना कठिन रहता है।

(ii) सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता—इस मान में नियन्त्रित पद्धति का गुण पाया जाता है क्योंकि इसमें कागजी मुद्रा एवं सांकेतिक मुद्रा का प्रचलन किया जाता है, जिससे इसमें स्वयं संचालकता का गुण समाप्त हो जाता है।

(iii) अधिक खर्चपूर्ण—यह मान अधिक खर्चीला माना जाता है क्योंकि एक ओर तो स्वर्ण धातु सुरक्षित कोष

मे बेकार पडी रहती है तथा दूसरी ओर मुद्रा पर नियंत्रण करने मे सरकारी व्यय किया जाता है।

(iv) भूल व धोखे के अवसर—इसमे सरकारी हस्तक्षेप के कारण भूल एव धोखे के अधिक अवसर बने रहते हैं।

(v) जनता के विश्वास में कमी—मुद्रा सोने से अप्रत्यक्ष रूप से जुडी रहती है, जिससे जनता का विश्वास कम हो जाता है।

स्वर्ण चलनमान एवं स्वर्ण धातुमान में अन्तर

स्वर्ण चलनमान	स्वर्ण धातुमान
1. स्वतंत्र टंकण वाली स्वर्ण मुद्राए चलन मे रखना अनिवार्य है।	1. इसमें स्वर्ण मुद्राएं चलन में रखना आवश्यक नहीं है।
2. स्वर्ण मूल्य का मापक एव विनिमय का माध्यम होता है।	2 स्वर्ण मूल्य का मापक होता है, विनिमय का माध्यम नही।
3. इसमें अधिक स्वचलित व्यवस्था होती है।	3. इसमें स्वर्ण कोष केवल आनुपातिक होता है और यह व्यवस्था कम स्वचालित है।
4. इसमें जनता का विश्वास अधिक रहता है।	4 इसमें जनता का कम विश्वास रहता है।
5. इसमें स्वर्ण एव पत्र मुद्राए चलती हैं जो कि स्वर्ण में परिवर्तनशील होती हैं।	5 इसमें मुख्य रूप में पत्र मुद्राएं चलन में रहती हैं जो स्वर्ण में परिवर्तनशील होती हैं।
6. आन्तरिक मूल्य स्तर एव विदेशी विनिमय दर में स्थायित्व रहता है।	6 इसमें विदेशी विनिमय दरो के स्थायित्व पर विशेष बल दिया जाता है।
7. इसमें स्वर्ण मुद्राए चलन में रहती हैं जिनकी घिसाई होते रहने से यह एक महगी व्यवस्था मानी जाती है।	7. इसमे स्वर्ण मुद्राए चलन मे नही रहती जिससे यह कम खर्चीली व्यवस्था है।

(3) स्वर्ण विनिमय मान

देश की चलन मुद्रा का स्वर्ण के साथ कोई सम्बन्ध नही होता और देश की चलन मुद्रा को किसी ऐसी विदेशी मुद्रा के साथ एक निश्चित विनिमय दर पर जोड दिया जाता है जो स्वय स्वर्ण मे परिवर्तनीय हो। आन्तरिक आवश्यकताओं के लिए चलन मुद्रा को स्वर्ण मे परिवर्तित नही किया जाता। इस प्रकार देश की मुद्रा को प्रत्यक्ष रूप से न बदलकर अप्रत्यक्ष रूप से स्वर्ण मे परिवर्तित किया जा सकता है। इस प्रकार "द्वितीय रूप स्वर्ण विनिमय मान होता है, जिसमें केन्द्रीय बैंक की यह जिम्मेदारी होती है कि चलनमुद्रा को स्वर्ण मे परिवर्तित न करके किसी ऐसी मुद्रा मे परिवर्तित करना जो कि स्वय स्वर्ण मे परिवर्तनीय हो।"[1]

इस मान का जन्म प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात ही हुआ और 20वी सदी के आरम्भ मे भारत ने भी इसे अपना लिया था।

रूप—इसके दो रूप होते हैं जो निम्न हैं—

(i) शुद्ध स्वर्ण विनिमय मान—इसमे स्वर्ण कोष बिलकुल नही रखा जाता, परन्तु स्वर्ण सम्बन्धी सभी आवश्यकताओं के लिए विदेशी स्वर्ण कोष पर निर्भर रहना पडता है।

(ii) मिश्रित विनिमय मान—इसमें कुछ स्वर्ण अपने देश मे तथा शेष विदेशों में रखा जाता है।

विशेषतायें—इस मान की प्रमुख विशेषतायें निम्न हैं—

1 A third form is the gold exchange standard, under which the legal obligation resting upon the central bank is to redeem the currency not in gold itself but in some other currency which is itself convertible into gold."—Crowther, op cit., p. 280.

(i) विनिमय दर का सम्बन्ध—देश में प्रामाणिक मुद्रा का सम्बन्ध निश्चित विनिमय दर पर ऐसे राष्ट्र द्वारा जोड़ दिया जाता है जिसकी मुद्रा स्वर्ण में परिवर्तनीय हो। इससे इस निर्धन राष्ट्र को भी स्वर्णमान के लाभ प्राप्त हो जाते हैं।

(ii) उपयोग विनिमय माध्यम के रूप में नहीं—इसमें स्वर्ण का उपयोग न तो मूल्य मापक और न ही विनिमय माध्यम के रूप में किया जाता है। अप्रत्यक्ष रूप से सभी वस्तुएं सोने की कीमतों में दिखाई जाती हैं।

(iii) स्वर्ण से परोक्ष सम्बन्ध—मुद्रा का स्वर्ण से प्रत्यक्ष सम्बन्ध न होकर परोक्ष सम्बन्ध होता है और केवल विदेशी विनिमय द्वारा ही विदेशों में विदेशी भुगतानों के लिए ही स्वर्ण प्राप्त किया जा सकता है।

(iv) दो कोषों का निर्माण—इस मान में प्रायः दो कोषों का निर्माण किया जाता है—एक कोष स्वर्ण व विदेशी मुद्रा के रूप में देश में रखा जाता है तथा दूसरा विदेशी मुद्राओं व विदेशी प्रतिभूतियों के रूप में विदेशों में रखा जाता है।

(v) स्वतन्त्र बाजार का अभाव—इसमें स्वर्ण के स्वतन्त्र बाजार का अभाव पाया जाता है।

(vi) विदेशी भुगतानों में उपयोग—स्वर्ण या विदेशी विनिमय का उपयोग विदेशी भुगतानों के रूप में ही किया जाता है।

(vii) परिवर्तन का अभाव—देश की चलन मुद्रा स्वर्ण में न होकर कागजी मुद्रा एवं सांकेतिक सिक्कों के रूप में प्रयोग की जाती है। यह मुद्रा स्वर्ण में परिवर्तनीय नहीं होती।

स्वर्ण चलनमान तथा स्वर्ण विनिमय मान—तुलना

स्वर्ण चलनमान	स्वर्ण विनिमय मान
1. इसमें स्वर्ण मुद्राएं चलन में रहती हैं।	1 इसमें स्वर्ण मुद्राएं चलन में नहीं रहती हैं।
2 कागजी नोटों के पीछे शत-प्रतिशत स्वर्ण कोष में रखा जाता है।	2 नोटों के पीछे बहुत कम स्वर्ण कोष में रखा जाता है।
3 स्वर्णकोष देश में रहने से मुद्रा व्यवस्था स्वतंत्र रहती है।	3 स्वर्णकोष विदेशों में रहने से मुद्रा प्रणाली विदेशी मुद्रा व्यवस्था पर निर्भर रहती है।
4. कागज के नोट चलन में रहते हैं जो कि स्वर्ण में परिवर्तनशील होते हैं।	4 कागज के नोट चलन में रहते हैं, परन्तु नोटों के बदले स्वर्ण विदेशी भुगतान के लिए ही दिया जाता है।
5 स्वर्ण मुद्रा प्रचलित होने से जनता का बहुत विश्वास बना रहता है।	5. पत्र मुद्रा चलन में रहने से जनता का कम विश्वास रहता है।
6 यह व्यवस्था अधिक स्वचालित रहती है।	6 यह व्यवस्था प्रतिबन्धित होती है।

गुण—इस मान के प्रमुख गुण निम्न हैं—

(i) मितव्ययिता—स्वर्ण के सिक्के चलन में न होने से घिसावट की बचत, सरकार मुद्रा को स्वर्ण में परिवर्तन करने को बाध्य न होने से स्वर्ण कोषों का अभाव व बचत एवं स्वर्ण का स्वतन्त्र बाजार न होने से यह मान मितव्ययी है।

(ii) विदेशी विनियोगों के लाभ—विदेशों में रखे जाने वाले विनियोगों पर सरकार को आय प्राप्त होती है जिससे विदेशी विनिमय में वृद्धि होती है।

(iii) विदेशी भुगतानों में सुविधा—सरकार विदेशी विनिमय दर को नियमित करती है जिससे विदेशी भुगतानों में सुविधा बनी रहती है।

(iv) लोच—चलन मुद्रा की मात्रा स्वर्ण कोषों पर आधारित नहीं होने से उसे आवश्यकतानुसार घटाया या बढ़ाया जा सकता है। आन्तरिक कार्यों के लिए स्वर्ण देना अनिवार्य नहीं होता।

(v) निर्धन राष्ट्र के लिए उपयोगी—यह मान एक निर्धन राष्ट्र द्वारा भी अपनाया जा सकता है तथा विनिमय दर का सम्बन्ध किसी शक्तिशाली राष्ट्र के साथ जोड़कर उसमें स्थिरता लाई जा सकती है।

दोष—इस मान के प्रमुख दोष निम्न हैं—

(i) मुद्रा प्रणाली को खतरा—आधार राष्ट्र के पास सीमित मात्रा में ही स्वर्ण कोष रहता है, परन्तु इस पर

उन गौण राष्ट्रों का भी अधिकार रहता है जिनके साथ मुद्रा का सम्बन्ध जोड़ दिया गया है। इस प्रकार देश की मुद्रा प्रणाली को सदैव खतरा ही बना रहता है।

(ii) सरकारी हस्तक्षेप—चलन मुद्रा पर सरकारी नियंत्रण तथा सरकार द्वारा मौद्रिक प्रबन्ध करने के कारण इस पर सरकारी हस्तक्षेप बना ही रहता है।

(iii) हानि का भय—विदेशी भुगतान की सुविधा के लिए आधार देश में स्वर्ण कोष रखना पड़ता है और यह राशि प्रायः बैंक में ही जमा की जाती है। यदि यह बैंक असफल हो जायें तो गौण राष्ट्र को हानि होने का भय बना रहता है।

(iv) मूल्य-स्तर में कठिनाई—इसमें तरल सम्पत्ति का एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र को सरलता से हस्तान्तरण सम्भव नहीं होने से मूल्य स्तर की स्थिरता बनाये रखना प्रायः कठिन हो जाता है।

(v) विभिन्न प्रकार के कोष—इस मान को अपनाने से विभिन्न प्रकार के कोषों की व्यवस्था करनी पड़ती है। ऐसी व्यवस्था से अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं।

(vi) संचालन में अधिक व्यय—विदेशों में पर्याप्त मात्रा में स्वर्ण रखने से उसका उपयोग देशहित में नहीं हो पाता और इनके संचालन में अधिक व्यय होता है।

(vii) मुद्रा संकुचन का अभाव—चलन मुद्रा का प्रसार तो सरलता से किया जा सकता है, परन्तु मुद्रा संकुचन करना कठिन हो जाता है।

(viii) विदेशी चलन पर निर्भर होना—यह मान आधार देश के स्वर्णमान के ठीक प्रकार से चलने पर निर्भर करता है। यह मान उसी समय तक ठीक प्रकार से चलता है जब तक कि मुद्रा का सम्बन्ध स्वर्ण से हो परन्तु स्वर्णमान के परित्याग करने पर देश की मुद्रा का स्वर्ण के साथ सम्बन्ध स्वतः ही टूट जाता है।

स्वर्ण धातुमान एवं स्वर्ण विनिमय मान—तुलना

स्वर्ण धातुमान	स्वर्ण विनिमय मान
1. इसमें स्वर्ण के सिक्के चलन में नहीं होते परन्तु मुद्रा के बदले सोना दिया जाता है।	1. इसमें स्वर्ण के सिक्के चलन में नहीं होते किन्तु मुद्रा के बदले विदेशी भुगतान के लिए स्वर्ण दिया जाता है।
2. इसमें मुद्रा स्फीति का भय कम रहता है।	2. इसमें मुद्रा स्फीति का भय अधिक रहता है।
3. इसमें मुद्रा व्यवस्था स्वतन्त्र होती है।	3. इसमें मुद्रा का गठबन्धन किसी विदेशी मुद्रा से होता है।
4. इसमें स्वर्ण के पर्याप्त कोष रखे जाते हैं जिससे मुद्रा के बदले में सोना दिया जा सके।	4. इसमें स्वर्ण की साधारण मात्रा कोष में रखी जाती है और विदेशी भुगतान के लिए ही सोना प्राप्त होता है।
5. इसमें जनता का विश्वास अधिक रहता है।	5. इसमें जनता का विश्वास कम रहता है।

(4) स्वर्ण निधिमान

यह स्वर्णमान का ही एक संशोधित रूप है जो 1936 से सितम्बर 1939 तक ही पाश्चात्य देशों में प्रचलित रहा।

विशेषतायें—इस मान की प्रमुख विशेषतायें निम्न हैं—

(i) विनिमय समीकरण कोष की स्थापना—इसमें प्रत्येक राष्ट्र की केन्द्रीय बैंक में विनिमय समीकरण कोष रखने पड़ते थे और आवश्यकता पड़ने पर स्वर्ण को एक कोष से दूसरे कोष में हस्तान्तरित कर दिया जाता था। इस कोष का उद्देश्य विनिमय दर में स्थिरता प्राप्त करना था।

(ii) आन्तरिक अर्थव्यवस्था पर प्रभाव नहीं—विदेशी विनिमय की माँग एवं पूर्ति का समायोजन समीकरण कोष द्वारा कर दिया जाता था, जिससे देश की आन्तरिक अर्थव्यवस्था पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था।

(iii) सरकार द्वारा ही स्वर्ण का आयात-निर्यात—व्यापारियों को स्वर्ण के आयात एवं निर्यात का कोई अधिकार नहीं था। केवल सरकार अपनी विदेशी विनिमय दर को स्थायित्व प्रदान करने के लिए स्वर्ण का आयात व निर्यात

कर सकती थी।

(iv) जनता से गोपनीयता—इस कोष में कितना और क्यों परिवर्तन हो रहा है, इस बात को जनता से छुपाया जाता था।

गुण—इस मान के प्रमुख गुण निम्न हैं—

(i) आन्तरिक अर्थव्यवस्था अप्रभावित—विनिमय दर में स्थायित्व लाने के लिए आन्तरिक अर्थव्यवस्था में परिवर्तन करना आवश्यक नहीं होता।

(ii) मितव्ययी उपयोग—इसमें स्वर्ण का उपयोग केवल मौद्रिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए ही मितव्ययिता के साथ किया जाता है।

(iii) मूल्यों में स्थायित्व—स्वर्ण का आयात या निर्यात केवल सरकार द्वारा ही किया जाता है, जिससे स्वर्ण के मूल्यों में स्थायित्व बना रहता है।

(iv) मुक्त अर्थव्यवस्था—स्वदेशी अर्थव्यवस्था पर विदेशी आर्थिक घटनाओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ पाता और वह मुक्त बनी रहती है।

(v) लोचपूर्ण—यह मान लोचपूर्ण है और आवश्यकतानुसार मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन किया जा सकता है।

दोष—इस मान के प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं—

(i) कम विश्वास—इस मान में जनता को विश्वास कम होता है।

(ii) क्रियाशीलता में कठिनाई—यह मान उसी समय सफलतापूर्वक कार्य कर सकता है जबकि देश में स्थापित विनिमय समीकरण कोष में पर्याप्त मात्रा में स्वर्ण की मात्रा हो।

(iii) जनता से छिपाव—कोषों की कार्यप्रणाली एवं कोष में रखे गये स्वर्ण की मात्रा को जनता से छुपाकर रखा जाता है।

द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होते ही स्वर्ण सम्बन्धी समझौते का अन्त हो गया और स्वर्ण निधिमान समाप्त हो गया।

(5) स्वर्ण समतामान

इसका प्रारम्भ अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना के साथ हुआ। स्वर्ण समतामान वह मौद्रिक मान कहलाता है, जिसमें विश्व के विभिन्न राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सदस्यता ग्रहण करके अपनी मुद्रा की विदेशी विनिमय दर, स्वर्ण की एक निश्चित मात्रा के बराबर रखने का दायित्व स्वीकार करते हैं। विभिन्न देशों की मुद्राओं की विनिमय दर स्वर्ण के माध्यम से ही स्थापित हो पाती है, जिससे विनिमय दर में स्थिरता बनी रहती है। समस्त सदस्य देशों की मुद्राओं की पारस्परिक समता निश्चित करने के साथ-साथ उनका स्वर्ण मूल्य भी निर्धारित कर दिया जाता है। किसी देश की मुद्रा के मूल्य में गिरावट या वृद्धि होने की सम्भावना होने पर मुद्रा कोष उसे निश्चित स्तर पर बनाये रखने के प्रयत्न करता है।

विशेषताएं—इस मान की प्रमुख विशेषताएं निम्न हैं—

(i) स्वर्ण कोष—सभी सदस्य राष्ट्रों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के पास एक निश्चित मात्रा में कोष जमा कराना होता है। इसका मूल्यांकन 35 डालर प्रति औंस के हिसाब से किया जाता है। इस कोष के पास विभिन्न देशों का लगभग 230 करोड़ डालर मूल्य का सोना जमा है। कोष द्वारा प्रत्येक देश की विनिमय दर में स्थिरता लाने के प्रयास किये जाते हैं।

(ii) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग—अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग इस व्यवस्था का मूल आधार है जिससे विश्व की मौद्रिक व्यवस्था में दृढ़ता एवं स्थायित्व स्थापित हो जाता है। इस प्रकार मौद्रिक व्यवस्था में होने वाले उच्चावचनों को रोकना सम्भव हो गया है।

(iii) लोचदार मुद्रा व्यवस्था—इसमें न तो स्वर्ण के सिक्के चलन में होते हैं, और न ही स्वर्ण भण्डार रखकर मुद्रा के बदले स्वर्ण देना पड़ता है। इसके विपरीत विदेशी विनिमय दर में स्थायित्व लाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से सहायता मिल जाती है, फलस्वरूप यह एक अत्यन्त लोचदार मौद्रिक व्यवस्था है जिसमें मुद्रा की मात्रा में कमी या वृद्धि की

जा सकती है।

(iv) आपसी विनिमय दरों का निर्धारण—सदस्य राष्ट्रों की मुद्राओं की केवल स्वर्ण में ही समता स्थापित नहीं करते बल्कि उनकी आपस की विनिमय दरें भी निश्चित कर दी जाती हैं क्योंकि समस्त सदस्य राष्ट्रों का मौद्रिक आधार समान होता है। मुद्रा कोष इन दरों को बनाये रखने के प्रयत्न करता है।

(v) मुद्रा की स्वर्ण समता—सदस्य राष्ट्रों की मुद्राओं का मूल्य स्वर्ण में निश्चित कर दिया जाता है और इस प्रकार स्वर्ण की समता दर निर्धारित कर दी जाती है। सदस्य राष्ट्रों की मुद्राओं की इस समता में बिना अनुमति कोई परिवर्तन सम्भव नहीं हो सकता। विश्व के कुछ राष्ट्रों की स्वर्ण समता निम्न प्रकार है—

मुद्राओं की स्वर्ण समता
(Gold Parity of Currencies)

(ग्रामों में)

राष्ट्र का नाम	मुद्रा का नाम	प्रति इकाई स्वर्ण समता
1. बेल्जियम	फ्रैंक	0 017773
2. कनाडा	डालर	0 822021
3 जर्मनी	मार्क	0 222168
4. ईरान	रियाल	0 011732
5. जापान	येन	0 002469
6. नेपाल	रुपया	0 087770
7. न्यूजीलैण्ड	डालर	0 995310
8 दक्षिणी अफ्रीका	रैंड	1·244140
9. ब्रिटेन	पौण्ड	2·132810
10 संयुक्त राज्य अमेरिका	डालर	0 888671
11 संयुक्त अरब गणराज्य	पौण्ड	2 551870
12. पाकिस्तान	रुपया	0·186621
13. नीदरलैण्ड	गिल्डर	0 245489
14. मैक्सिको	पैसो	0·071094
15 इटली	लिरा	0 001422
16. भारत	रुपया	0·118489
17. श्रीलंका	रुपये	0·149297
18 बर्मा	क्यात	0 186621
19. आस्ट्रेलिया	डालर	0 995310

इस प्रकार इस मौद्रिक व्यवस्था को अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण समतामान से जाना जाता है।

(vi) स्वर्ण का कार्य—इस मान में स्वर्ण न तो विनिमय माध्यम और न ही मूल्यमान का कार्य करता है।

(v) आन्तरिक व्यवस्था में स्वतन्त्रता—इस मान को अपनाने वाले राष्ट्रों को अपनी आन्तरिक मौद्रिक व्यवस्था अपनाने में पूर्ण स्वतन्त्रता बनी रहती है।

स्वर्ण समतामान के गुण—इस मान के प्रमुख गुण निम्न हैं—

(i) लोचपूर्ण—यह अन्य मानों की तुलना में अधिक लोचपूर्ण है।

(ii) विनिमय दरों में स्थायित्व—इस मान में विनिमय दर में स्थायित्व बना रहता है।

(iii) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग—इस मान में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में वृद्धि हो जाती है।

(iv) मितव्ययिता—स्वर्ण का उपयोग न होने से स्वर्ण में मितव्ययिता प्राप्त होती है।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान
(International Gold Standard)

आन्तरिक मूल्य स्तर में स्थायित्व लाने के लिए स्वर्णमान का अपनाना आवश्यक नहीं है, परन्तु विभिन्न राष्ट्रों की मुद्राओं से सम्बन्ध स्थापित करने एवं विनिमय दर में स्थिरता लाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान का अपनाना आवश्यक हो जाता है। "अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान का सम्बन्ध मुद्रा की बाह्य कीमत तथा विनिमय दर में स्थायित्व बनाये रखने की समस्या से है।"[1] आन्तरिक स्वर्णमान का महत्व केवल उसी समय तक रहा जब तक जनता ने स्वर्ण को रखना पसन्द किया। दो विश्वयुद्धों एवं आर्थिक कठिनाइयों ने इस स्थिति को समाप्त कर दिया और आन्तरिक कार्यों के लिए कागजी मुद्रा का प्रयोग होने लगा। इस प्रकार 'घरेलू स्वर्णमान, वास्तव में, प्राकृतिक मृत्यु से समाप्त हो रहा है तथा स्वर्ण का उपयोग मुद्रा के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध को नियमित करने में किया जाने लगा है।"[2] वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान का महत्व बढ़ रहा है। आन्तरिक स्तर पर स्वदेशी मुद्रा का प्रचलन स्वर्ण को कोष में रखे बिना किया जा रहा है तथा चलन से स्वर्ण का उपयोग हट गया है क्योंकि स्वर्ण कोष में कमी हो गई है तथा दूसरी ओर कुछ राष्ट्रों ने स्वर्ण का भारी मात्रा में संचय कर लिया है। 1939 से पूर्व स्वर्ण का अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य अमरीकी खजाने के क्रय मूल्य पर आधारित रहता था। विश्व के राष्ट्रों के स्वर्ण कोष में परिवर्तन होते रहे जो सामने के पृष्ठ पर दिये चार्ट द्वारा समझे जा सकते हैं।

"स्वर्णमान पद्धति का यह एक भाग है कि जो राष्ट्र इसे स्वीकार करता है उसे अपनी मुद्रा के स्वर्ण मूल्य के लिए एक निश्चित मूल्य पर स्वर्ण की किसी भी मात्रा को बेचने को तत्पर होना चाहिए।"[3] इस प्रकार विश्व के अनेक राष्ट्र अपनी मुद्रा का मूल्य स्वर्ण की एक निश्चित मात्रा में घोषित कर दें तो उस व्यवस्था को अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के अन्तर्गत रखा जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के गुण—अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं—

(i) विनिमय दरों में स्थायित्व (Stability in Exchange Rates)—विश्व के अनेक राष्ट्रों की मुद्राएं स्वर्ण पर आधारित होने के कारण, उनका एक सामान्य आधार बन जाता है और उनकी मुद्राओं की कीमतें स्वर्ण के एक निश्चित अनुपात में निश्चित कर दी जाती हैं तथा प्रत्येक मुद्रा दूसरे राष्ट्र की विनिमय दर को उचित स्तर पर बनाये रखने में योगदान देता है। जब किसी राष्ट्र का व्यापार सन्तुलन विपक्ष में हो जाता है तो विनिमय दर में उतार होने की आशंका बनी रहती है जिसके लिए स्वर्ण निर्यात करके इसे सन्तुलित किया जा सकता है और विनिमय दर को स्थिर रखा जा सकता है। इस प्रकार विनिमय दरों में होने वाले परिवर्तन सीमित कर दिये जाते हैं और वे उतार-चढ़ाव प्राय: स्वर्ण बिन्दुओं (gold specie points)[4] तक ही सीमित हो जाते हैं। विनिमय दर में स्थिरता होने से विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है तथा विदेशी भुगतान में भी सुविधा बनी रहती है।

(ii) मुद्रा का आधार स्वर्ण—इस व्यवस्था में मुद्रा का आधार स्वर्ण माना जाता है जिसका कम भार में भी

1. "The international gold standard is concerned with the external value of the currency and with the problem of maintaining the stability of the foreign exchanges."—G. Crowther, p 297.

2. "The domestic gold standard in fact, is dying a natural death, and gold is increasingly being left to its other task of regulating the international relationships of currencies."—Ibid., p 296

3. "It is a part of the gold standard system that a country which accepts it must be prepared to receive at the price which corresponds to the gold value of its own currency any amount of gold that anyone may choose to sell to it at that price"—G D H. Cole : op cit, pp. 282-283

4. विनिमय दर में उतार-चढ़ाव की सीमा को स्वर्ण बिन्दु कहते हैं। उतार-चढ़ाव की ऊपरी सीमा को उच्चतम स्वर्ण बिन्दु एवं नीची सीमा को निम्नतम स्वर्ण बिन्दु के नाम से पुकारा जाता है। इस बिन्दु से ऊपर या नीचे विनिमय दर हो जाने पर स्वर्ण का आयात या निर्यात होने लगता है।

विश्व के राष्ट्रों के स्वर्ण कोष[1]

(मिलियन डालर मे)

	1938	1945	1953
1. जापान	230	—	18
2. पर्शिया (Persia)	26	149	138
3. टर्की	29	241	143
4 मैक्सिको	28	292	144
5. इण्डोनेशिया	80	201	145
[illegible] मिस्र	55	53	174
7 दक्षिणी अफ्रीका	220	914	176
8. स्वीडन	321	482	219
9 युरुगुए (Uruguay)	72	195	223
10 भारत	274	274	247
11 अर्जेन्टाइना	444	1197	268
12. ब्राजील	32	354	317
13. इटली	193	24	346
14. पुर्तगाल	86	433	361
15 वेनेजुएला (Venezuela)	—	169	373
16 फ्रान्स	2,757	1,550	575
17. हालैण्ड	998	270	737
18. बेल्जियम	780	733	776
19. कनाडा	180	354	986
20. स्विट्जरलैण्ड	701	1,342	1,406
21. ब्रिटेन	2,877	2,476	2,518
22. सं० रा० अमरीका	14,592	20,083	22,091

ऊंचा मूल्य रखा जाता है और यदि स्वर्ण की मुद्रा इकाई को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर निश्चित कर दिया जाये तो स्वर्णमान विश्व व्यापार के लिए अधिक महत्वपूर्ण होगा।

(iii) अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण का अभाव—इसमे मुद्रा का किसी अन्य मुद्रा से गठबन्धन न करके स्वर्ण को अपनी मुद्रा का आधार बनाया जाता है और स्वर्णमान अपनाने वाले प्रायः सभी राष्ट्र आपसी सम्बन्ध बनाये रखते हैं और उन पर किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का कोई नियंत्रण नहीं रहता है। वास्तव मे स्वर्णमान की अपनी एक अनुशासन व्यवस्था है जिसमे प्रायः राष्ट्रीय हितो को बलिदान कर देना पड़ता है।

(iv) अन्तर्राष्ट्रीय तरलता—स्वर्ण को विश्व के प्रायः सभी राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकार करते हैं। स्वर्ण को कोष मे रखकर सरलता से कागजी मुद्रा की निकासी की जा सकती है और स्वर्ण कोष मे वृद्धि करके अन्तर्राष्ट्रीय तरलता मे वृद्धि की जा सकती है, फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों मे सरलता हो जाती है और इस व्यवस्था को अपनाने वाले राष्ट्रों को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर महत्त्व प्रदान किया जाता है।

(v) स्वर्ण धातु का महत्त्व बढ़ना—स्वर्णमान अपनाने से विश्व मे स्वर्णमान का महत्व बढ़ जाता है और स्वर्ण खानों वाले राष्ट्रों को लाभ प्राप्त होता है, रोजगार मे वृद्धि एवं व्यापारिक सम्बन्धों में सुधार होता है।

(vi) स्वर्ण का उचित वितरण—इसमे स्वर्ण का आयात व निर्यात स्वतन्त्र रहता है, जिससे भुगतान सन्तुलन

1. G. D. H. Cole: Money, Trade and Investment (London 1954), p. 282.

की स्थिति बिगड़ने पर सरलता से स्वर्ण का आयात व निर्यात किया जा सकता है। स्वर्ण के स्वतन्त्रतापूर्वक आवागमन से किसी एक ही देश में स्वर्ण का केन्द्रीयकरण सम्भव नहीं हो पाता।

(vii) स्वयं संचालित व्यवस्था—स्वर्णमान एक सरल एवं स्वयंसंचालित व्यवस्था होती है। स्वर्ण का निर्यात होने पर मुद्रा की मात्रा कम हो जाती है, वस्तुओं के मूल्य गिर जाते हैं तथा निर्यात में वृद्धि होकर आयात गिरने लगते हैं। फलस्वरूप स्वर्ण आयात होने लगेगा तथा स्वर्ण कोष में वृद्धि हो जायेगी। इस प्रकार यह एक स्वयंसंचालित व्यवस्था है जिसमें स्वर्ण की व्यवस्था स्वयं हो जाती है।

(viii) साख विस्तार—स्वर्णमान वाले राष्ट्रों में साख का विस्तार प्राय: अन्य राष्ट्रों के समान ही होता है। पूंजी के स्वतन्त्र आयात निर्यात द्वारा स्वर्णमान वाले राष्ट्रों में साख नीतियों में समानता बनी रहती है।

(ix) स्वर्ण मूल्य में स्थिरता—अनेक मुद्राओं का आधार होने के कारण स्वर्ण के मूल्य में स्थिरता बनी रहती है। मुद्रा के कोष का आधार होने के कारण उसका दायित्व बढ़ जाता है, फलस्वरूप समस्त राष्ट्र मूल्य-स्तर बनाये रखने का प्रयास करते हैं। स्वर्ण मूल्य में स्थायित्व होने से वस्तुओं के मूल्यों में भी स्थायित्व बना रहता है।

(x) मुद्रा स्फीति से सुरक्षा—स्वर्ण की मात्रा सीमित होने से मुद्रा की मात्रा में वृद्धि करना सम्भव नहीं हो पाता क्योंकि उसके लिए उस प्रतिशत स्वर्ण कोष में रखना आवश्यक होगा। इससे वस्तुओं के मूल्यों में भी अधिक वृद्धि सम्भव नहीं हो सकेगी।

(xi) अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान—स्वर्णमान के अन्तर्गत किसी भी देश के लिए भुगतान करने में कोई भी मुद्रा प्राप्त कर लेने में कोई कठिनाई उपस्थित नहीं होती है।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के दोष—इस मान के प्रमुख दोष निम्न हैं—

(i) संकट का हस्तांतरण—इसमें स्वर्ण के आगमन से किसी एक राष्ट्र के आर्थिक संकट को दूसरे देशों को सरलता से हस्तांतरित किया जा सकता है। "यह अवसाद को फैलाने का एक साधन माना जाता है तथा कभी-कभी एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र में वृद्धि भी सम्भव करता है।"[1]

(ii) मूल्य स्थायित्व की अवहेलना—इसके अपनाने से मूल्य स्थायित्व एवं विनिमय स्थायित्व में समन्वय स्थापित करना सम्भव नहीं हो पाता। विनिमय मूल्य में स्थिरता लाने के लिए आन्तरिक मूल्य स्थायित्व को बलिदान कर देना पड़ता है।

(iii) अपव्ययी—इसमें स्वर्ण धातु का अपव्यय होता है क्योंकि कोषों में स्वर्ण की मात्रा बेकार पड़ी रहती है और उसका कोई भी उपयोग सम्भव नहीं हो पाता। इससे देश के विकास कार्यों के लिए भी स्वर्ण उपलब्ध नहीं हो पाता।

(iv) विकास के लिए अनुपयुक्त—देश का विकास बड़ी-बड़ी योजनायें बनाकर ही किया जा सकता है जिसके लिए पर्याप्त मात्रा में वित्तीय प्रबन्ध होना आवश्यक है जो अधिक मात्रा में मुद्रा का प्रसार किये बिना सम्भव नहीं होता। परन्तु स्वर्णकोषों की मात्रा सीमित होने के कारण मुद्रा का अधिक मात्रा में निर्गमन करना प्रायः सम्भव नहीं हो पाता।

(v) आर्थिक स्थिरता को खतरा—स्वर्णमान ने देश में आर्थिक अस्थिरता को जन्म दिया है तथा मुद्रा प्रसार एवं मुद्रा सकुचन को जन्म दिया है।

(vi) अपूर्ण स्वचालन—स्वर्णमान की व्यवस्था स्वचालित व्यवस्था से पूर्ण नहीं है। इसमें मुद्रा सकुचन या प्रसार देश की आर्थिक स्थिरता के लिए हानिप्रद सिद्ध होता है।

(vii) सकुचन से प्रभावित—माल सकुचन करने पर देश को सकुचन के दोषों को सहन करना पड़ता है जबकि मुद्रा प्रसार में यह आवश्यक नहीं है।

(viii) सुख का साथी—स्वर्णमान व्यावहारिकता की कसौटी पर खरा नहीं उतरा है। स्वर्णमान को अपनाने का मुख्य कारण देश की जनता का पत्रमुद्रा में विश्वास दिलाना है जिससे वह उसे स्वर्ण में कभी भी परिवर्तित कर सके। परन्तु जब वास्तविक परिवर्तन का समय आता है तो इस व्यवस्था को समाप्त करना पड़ता है। इस शताब्दी में दो बार

1 "It has been a means of spreading depressions and sometimes booms from one country to another".—John H. Williams : The Post-War Monetarty Plans (Published in American Economic Review) March 1944 Supplement, p. 373.

(1814-18 तथा 1830-34) में स्वर्णमान की परीक्षा हुई और दोनों ही बार वह बुरी तरह से असफल रहा।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की सफलता की शर्तें

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की सफलता के लिए निम्न शर्तों का पालन होना आवश्यक है—

(i) अधिकांश राष्ट्रों द्वारा स्वर्णमान अपनाना—अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय शक्ति के माप एवं विनिमय के माध्यम के रूप में अच्छा कार्य करने के लिए यह आवश्यक है कि इसे अधिक से अधिक राष्ट्र अपनावें।

(ii) विदेशी व्यापार की स्वतन्त्रता—विदेशी व्यापार पर कोई प्रतिबन्ध न होने पर स्वर्णमान सफल हो सकता है। व्यापार की स्वतन्त्रता होने पर ऐसे अनेक राष्ट्र, जिनके यहां स्वर्ण का उत्पादन नहीं होता, वे भी स्वर्ण प्राप्त कर सकते हैं। विदेशी व्यापार स्वतन्त्र होने पर स्वर्ण कोष समान रूप से वितरित हो सकेंगे।

(iii) राजनैतिक स्थिरता—आन्तरिक अशान्ति एवं राजनैतिक अस्थिरता की स्थिति में सरकार के टूटने का भय सदैव बना रहता है और वे धन का संग्रह करने लगते हैं तथा स्वर्ण को विदेशों में विनियोग करने लगते हैं, फलस्वरूप स्वर्णकोष कम हो जाते हैं और अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

(iv) नियमों का पालन—स्वर्णमान की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर नियमों का पालन किया जाना चाहिए।

(v) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग—स्वर्णमान का पालन करने वाले राष्ट्रों में आपसी अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग होना अति आवश्यक है जिससे स्वयं संचालकता का गुण विद्यमान रह सके।

(vi) पर्याप्त लोच—देश की अर्थव्यवस्था में पर्याप्त लोच होनी चाहिए जिससे दरों में परिवर्तन होने पर भी उसे ठीक प्रकार से समायोजित किया जा सके।

(vii) अन्तर्राष्ट्रीय ऋणभार कम होना—इसकी सफलता के लिए यह आवश्यक है कि उस राष्ट्र पर अन्तर्राष्ट्रीय ऋण भार कम से कम हो, क्योंकि उसका कोष भुगतान करने में ही समाप्त हो जायेगा।

(viii) स्वर्णकोषों का समान वितरण—स्वर्णमान देशों के पास पर्याप्त मात्रा में स्वर्णकोषों का होना आवश्यक है, तथा साथ ही उनका वितरण भी समान रूप होना आवश्यक है।

अतः "अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के लिए यह आवश्यक है कि इसमें ऐसे ढंगों को सम्मिलित किया जाये, जिससे मांग एवं पूर्ति के असाम्य को ठीक किया जा सके।"[1]

स्वर्णमान के नियम
(Rules of Gold Standard)

स्वर्णमान की सफलता अनुकूल परिस्थितियों एवं मान्यताओं पर निर्भर करती है। इन मान्यताओं को ही स्वर्णमान के नियम कहते हैं। प्रो० कीन्स ने इन परिस्थितियों को स्वर्णमान खेल के नियम का नाम दिया था। स्वर्णमान के नियम निम्नलिखित है—

(i) स्वतन्त्र व्यापार की स्थिति—स्वर्णमान अपनाने वाले राष्ट्रों में आपसी व्यापार की स्वतन्त्रता होनी चाहिए, जिससे समस्त राष्ट्रों में मूल्यों के समान होने की प्रवृत्ति पाई जाये। स्वतन्त्र आयात एवं निर्यात से मूल्य स्तर समान बने रहते हैं।

(ii) स्वर्ण भण्डार व मुद्रा की मात्रा में सम्बन्ध—स्वर्णमान में देश की सरकार के लिए यह आवश्यक है कि वह स्वर्ण भण्डार एवं मुद्रा की मात्रा में सम्बन्ध बनाये रखे। यदि स्वर्ण भण्डार में भी वृद्धि हो तो मुद्रा की मात्रा में वृद्धि कर दी जानी चाहिए, जिससे मूल्य स्तर, व्यापारिक स्थिति एवं विनिमय दरों में समानता व स्थिरता बनी रहें।

(iii) पूंजी का नियन्त्रित आवागमन—पूंजी का तीव्र गति से आवागमन स्वर्णमान को खतरा उत्पन्न

1. "The international gold standard must therefore include a set of devices for ensuring that any disequilibrium between demand and supply is corrected."—Crowther : p. 300.

करता है। जिस समय पूंजी आती है तो मुद्रा स्फीति तथा वापस जाने पर मुद्रा सकुंचन होता है। अतः स्वर्णमान के लिए विदेशी पूंजी के आवागमन पर नियन्त्रण होना चाहिए।

(iv) स्वर्ण का निर्बाध आयात-निर्यात—स्वर्णमान मे विभिन्न राष्ट्रो मे स्वर्ण का आयात-निर्यात स्वतन्त्र होना चाहिए। वह स्वर्णमान का एक आधारभूत नियम है जिसके पालन न करने पर स्वर्णमान दीर्घकाल तक चालू नही रह सकता। स्वर्ण का कोष कम हो जाने पर उस देश के स्वर्ण भण्डार मे कमी हो जायेगी और स्वर्णमान का परित्याग करना होगा।

(v) मुद्रा का स्थिर होना—विश्व के विकसित राष्ट्रो मे मुद्रा का मूल्य स्थिर होना चाहिए जिससे उसका ठीक प्रकार से पालन किया जा सके।

(vi) भुगतान स्थिति मे साम्य होना—स्वर्णमान राष्ट्रो की भुगतान सम्बन्धी स्थिति मे साम्य होना चाहिए जिससे स्वर्ण का आवागमन अत्यधिक मात्रा मे सम्भव न हो सके। यदि भुगतान स्थिति मे महान अन्तर है तो हो सकता है कि किसी राष्ट्र को अपना समस्त स्वर्ण देने को विवश होकर स्वर्णमान का परित्याग करना पड़े।

(vii) आपसी ऋण सम्बन्धी व्यवस्था—राष्ट्रो के मध्य आपसी ऋण सम्बन्धी सुविधाए ऐसी हों कि उन्हें स्वर्णमान का परित्याग किये बिना अस्थाई मात्रा मे ऋण प्राप्त हो सके।

(viii) परस्पर विश्वास एवं राजनैतिक स्थिरता—स्वर्णमान राष्ट्रो मे परस्पर विश्वास हो तथा उनमे राजनीतिक दृष्टि से स्थिरता कायम रहे, जिससे अनार्थिक कारणो के लिए उन्हे स्वर्ण भेजने की आवश्यकता न हो।

(ix) मुद्रा प्रणाली मे लोच एव प्रतिस्पर्धा—स्वर्णमान अपनाने वाले राष्ट्रो मे मुद्रा प्रणाली लोचदार होनी चाहिए, जिससे स्वर्ण कीमतो, मजदूरियो एव उत्पादन लागत आदि को प्रभावित किया जा सके।

(x) पारस्परिक व्यापार पर प्रतिबन्ध का अभाव—स्वर्णमान वाले राष्ट्रो के मध्य वस्तुओ व सेवाओ के आवागमन पर किसी भी प्रकार प्रतिबन्ध होना चाहिए।

"इस प्रकार स्वर्णमान का उत्तम नियम यह है कि स्वर्ण के आगमन पर साख का विस्तार हो, और स्वर्ण के बाहर जाने पर साख का सकुचन कर देना चाहिए।"[1]

स्वर्णगतियों का सिद्धान्त
(Theory of Gold Movement)

यह सिद्धान्त बताता है कि स्वर्णमान देशो के भुगतान सन्तुलन में असाम्यता का सुधार स्वर्ण के आवागमन द्वारा होता है जिसमे नीचे मूल्य-स्तर वाले देश मे स्वर्ण का आगमन तथा ऊचे मूल्य स्तर वाले देश मे स्वर्ण का बहिर्गमन होना है। इस समायोजन की प्रक्रिया से भुगतान शेषो मे सन्तुलन स्थापित हो जाता है। स्वर्ण का आयात होने पर मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि तथा निर्यात होने पर मुद्रा की मात्रा मे कमी हो जाती है। परन्तु स्वर्णमान के स्वयं-चालकता गुण के कारण यह स्थिति स्थायी नही रहती।

अधिक निर्यात करने से स्वर्ण आयात बढ़ेगा जिससे वस्तुओ के मूल्य बढ़ेंगे और विदेशो मे माग कम होगी, जिससे निर्यात मे कमी होने लगेगी। इसके विपरीत मूल्य बढ़ने के कारण आयात बढ़ेंगे जिसके लिए स्वर्ण का निर्यात करना होगा, जिससे मूल्य सामान्य स्तर पर पुनः आ जायेगा और अर्थव्यवस्था पुन सतुलित हो जायेगी।

इसके विपरीत आयात अधिक होने पर स्वर्ण का निर्यात करना होगा जिससे मुद्रा का संकुचन होगा, मूल्य गिरेंगे न निर्यात प्रोत्साहित होंगे और व्यापार पुन देश के पक्ष मे हो जायेगा जिसे स्वर्ण आयात द्वारा पूरा करेंगे। इससे मूल्य सामान्य स्तर पर पुन आ जायेगा और अर्थव्यवस्था पुन सन्तुलित हो जायेगी। इसी को स्वर्णमान की स्वयचालित व्यवस्था कहते है। स्वर्णमान के कार्यवाहन को चित्र 7.1 द्वारा स्पष्ट किया गया है—

चित्र 6।

1. 'Thus the golden rule of the gold standard is - Expand credit when gold is coming in; contact credit when gold is going out.'—Crowther; op cit, p 304.

स्वर्णमान का विकास
(Growth of Gold Standard)

विश्व की प्राचीन सभ्यताओं में स्वर्ण का महत्व सदैव से रहा है। स्वर्णमान का वास्तविक इतिहास सन् 1816 से प्रारम्भ होता है जबकि ब्रिटेन ने इस मान को अपनाया था। यूरोपीय राष्ट्रों ने 1873 से इसे अपनाना प्रारम्भ किया और जर्मनी में इसे प्रारम्भ किया गया। 1878 में फ्रांस ने इसे अपनाया और अमरीका ने उसे 1900 से पालन किया। "आधुनिक मौद्रिक इतिहास के प्रारम्भिक विकास में, जबकि वास्तविक स्वर्ण सिक्के मुद्रा पूर्ति का एक आवश्यक अंग था, स्वर्ण आवागमन का घरेलू साख स्थिति पर प्रभाव पड़ा और वह प्रायः स्वचालित थी, क्योंकि जब स्वर्ण के निर्यात होने पर मुद्रा पूर्ति में स्वयं कमी हो जाती थी।"[1] स० रा० अमरीका ने 1896 के पश्चात स्वर्ण मुद्रामान अपना लिया और द्विधातुमान को सदैव के लिए समाप्त कर दिया। सन् 1900 तक विश्व के प्रायः सभी राष्ट्रों ने स्वर्णमान को अपना लिया था। प्रथम विश्व युद्ध ने पूर्व स्वर्णमान को अपनाना मौद्रिक प्रणालियों का एक आवश्यक लक्ष्य बन गया था। इस प्रकार '1914 से पूर्व विश्व की परिस्थितियों में स्वर्णमान ने ठीक प्रकार से कार्य किया। विनिमय दरों में स्थायित्व न्यूनतम प्रयत्नों द्वारा प्राप्त किया गया, और यह समझा गया कि वह प्राकृतिक है।"[2]

स्वर्णमान अपनाये जाने के कारण

19वीं शताब्दी तक विश्व के अधिकांश राष्ट्रों द्वारा स्वर्णमान को अपनाया गया। "उन दिनों विभिन्न राष्ट्रों का आर्थिक ढांचा आजकल के ढांचे से शायद ही भिन्न रहा होगा।"[3] स्वर्णमान अपनाने की जो लहर आई उसके प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं—

(i) रजत के मूल्यों में कमी—सन् 1870 के पश्चात रजत मूल्यों में भारी गिरावट आई, परिणामस्वरूप विभिन्न राष्ट्रों ने रजत की मुद्रा का परित्याग करके स्वर्ण को मुद्रा का आधार बनाया।

(ii) मुद्रा स्फीति काल—19वीं शताब्दी में यूरोप तथा अमरीका के अनेक राष्ट्रों ने भारी मात्रा में कागजी मुद्रा को निकालकर मुद्रा स्फीति प्रारम्भ की, फलस्वरूप अनेक बैंक फेल हो गये। इस कार्यवाही को रोकने के लिए अधिक मात्रा में नोट निर्गमित करने पर शत-प्रतिशत स्वर्ण कोष रखना अनिवार्य कर दिया गया, जिससे मुद्रा प्रसार की व्यवस्था पर कठोर नियन्त्रण लगाया जा सके।

(iii) ब्रिटेन में औद्योगिक प्रगति—उस समय ब्रिटेन उद्योग एवं व्यापार की दृष्टि से अत्यन्त प्रगतिशील राष्ट्र था, और वह स्वर्णमान व्यवस्था का पूर्ण रूप से समर्थन कर रहा था। विश्व के अनेक राष्ट्र ब्रिटेन से अपने व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करना चाहते थे और इसके लिए उन्होंने स्वर्णमान का अपनाना स्वीकार किया। कुछ राष्ट्रों ने इस मान को औद्योगिक प्रगति में सहायक समझकर अपना लिया।

1. "*In the earlier stages of modern monetary history, when actual gold coin was still the most important part of the money supply, the reaction of a gold movement upon the domestic credit position was almost automatic, for when gold was exported, the export itself was a contraction of the money supply.*"—G. Crowther : op cit., pp. 304-305.

2. "In the conditions of the world before 1914, the gold standard worked remarkably well. Stability of exchange rates was maintained with so little conscious effort that it came to be regarded as natural."—G. Crowther : op cit., p. 305.

3. "The economic structures of the various nations in those days were hardly any less divergent than they are today."—Ibid., p. 305.

स्वर्णमान का पतन
(Breakdown of Gold Standard)

स्वर्ण चलनमान प्रथम विश्वयुद्ध प्रारम्भ होने तक भली प्रकार कार्य करता रहा। परन्तु युद्धकाल मे अनेक मुद्रा प्रणालियां लड़खड़ा गईं। सरकार का सुरक्षा व्यय बढ गया, जनता के उपयोग के लिए वस्तुओं की कमी हो गई, मूल्यों मे वृद्धि एवं जनता को कष्ट होने लगा। युद्ध के प्रारम्भ होते ही विश्व के विभिन्न राष्ट्रों पर युद्ध का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा और स्वर्णमान का परित्याग कर दिया गया। युद्धकाल मे प्रत्येक देश की अर्थव्यवस्था पर बहुत भार पड़ता है, क्योंकि युद्ध का व्यय कर-व्यवस्था के द्वारा पूरा नही किया जा सकता और इसके लिए मुद्रा प्रसार का ही सहारा लेना पड़ता है, जिससे स्वर्णमान को बनाये रखना असम्भव हो जाता है। युद्धकाल मे मुद्रा स्फीति के कारण समस्त राष्ट्रों में मंहगाई बढ गई। युद्ध के समाप्त होने पर स्वर्णमान को स्थापना की ओर ध्यान दिया जाने लगा। उस समय देश की अर्थव्यवस्था को सुधारने का एकमात्र इलाज स्वर्णमान माना जाने लगा। और सभी राष्ट्र स्वर्णमान को पुन. अपनाने की माग कर रहे थे। फलस्वरूप सर्वप्रथम 1919 मे स० रा० अमरीका ने स्वर्णमान को अपनाया और उसके पश्चात जर्मनी, ब्रिटेन व फ्रास ने भी इसे अपनाया। सन् 1928 तक प्राय समस्त राष्ट्रो ने स्वर्णमान को पुनः अपना लिया, जिन्होने युद्धकाल मे इसका परित्याग कर दिया था। परन्तु यह सफलतापूर्वक अधिक समय तक कार्य न कर सका। स्वर्णमान जिन असाधारण परिस्थितियो मे स्थापित किया गया था वे और अधिक असाधारण होती गई और 1929 मे ही स्वर्णमान का परित्याग कर दिया गया।

स्वर्णमान के पतन के कारण
(Causes af Breakdown of Go'J Standard)

अप्रैल 1925 मे ग्रेट ब्रिटेन ने स्वर्णमान को अपनाया और सितम्बर 1931 मे इसे समाप्त कर दिया गया। ब्रिटेन के पश्चात ग्रीस व पुर्तगाल, दक्षिणी अफ्रीका एवं जापान ने भी इसका परित्याग कर दिया। अमरीका ने 1933 एवं फ्रास 1936 से स्वर्णमान को समाप्त कर दिया। 1914 मे जो विश्वयुद्ध प्रारम्भ हुआ उसने स्वर्णमान को अधिक समय तक चलने नही दिया। इस समाप्ति के प्रमुख कारण निम्नलिखित थे—

(1) स्वर्णमान के नियमो का खण्डन—स्वर्णमान की सफलता स्वर्णमान के नियमो का पालन करने पर निर्भर करती है। परन्तु प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व एव बाद मे इन नियमो का पालन न करने से स्वर्णमान का परित्याग करना पड़ा। स्वर्णमान के नियम के अनुसार राष्ट्रों के मध्य पारस्परिक व्यापार पर कोई प्रतिबन्ध नही होना चाहिए, परन्तु अमरीका एवं फ्रास ने सर्वप्रथम इस नियम का पालन नही किया। वस्तुओं के आयात पर भारी आयात-कर लगाये गये, फलस्वरूप ऋणी राष्ट्रो को स्वर्ण मे ही ऋणो का भुगतान करना पड़ा। इसी प्रकार स्वर्णमान मे स्वर्ण का आवागमन स्वतन्त्रतापूर्वक होना चाहिए, परन्तु इगलैण्ड व फ्रान्स ने इस नियम की अवहेलना की। व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाने से विभिन्न राष्ट्रो के मूल्य-स्तर मे भिन्नता आ गई। शक्तिशाली एकाधिकार की स्थापना की गई और दुर्बल राष्ट्रो को इन मूल्यो से प्रतिस्पर्धा करना भी कठिन हो गया। इस प्रकार स्वर्णमान के विभिन्न नियमो के पालन न करने से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे अनेक कठिनाइयां उपस्थित हुई और अन्त मे स्वर्णमान समाप्त हो गया।

(2) युद्ध सम्बन्धी क्षतिपूर्ति का भुगतान—युद्ध की समाप्ति पर विजयी राष्ट्रो ने हारे हुए देशों से युद्ध का हर्जाना देने की माग की और उन्हें युद्धकालीन ऋण भी वापस करने को विवश किया गया। हारे हुए राष्ट्र हर्जाने की राशि वस्तुओं के रूप मे देना चाहते थे, परन्तु लेनदार राष्ट्रो ने न केवल इसे अस्वीकार किया, बल्कि वस्तुओं के आयात पर भारी आयात-कर भी लगा दिये गये और विवश होकर इन राष्ट्रो को स्वर्ण मे ही भुगतान करना पड़ा। फलस्वरूप विश्व का लगभग 80% स्वर्ण कोष अकेले स० रा० अमरीका के पास जमा हो गया और अन्य राष्ट्रो के पास इतना कम स्वर्ण भण्डार रह गया कि वे स्वर्णमान को सफलतापूर्वक चलाने मे असमर्थ रहे।

(3) आर्थिक आत्मनिर्भरता की भावना—प्रथम विश्वयुद्ध काल मे प्राय उन सभी वस्तुओ का अभाव बना रहा जिन्हें वे विदेशो से आयात करते थे। भविष्य मे इस प्रकार के कष्ट से बचने के उद्देश्य से विभिन्न राष्ट्रो ने आर्थिक दृष्टि से अधिकाधिक आत्मनिर्भर होने के सफल प्रयास किये और देशी उद्योगो को विकसित करने के उद्देश्य से सरक्षण का भी सहारा लिया गया जो स्वर्णमान के नियमों के विरुद्ध था। फलस्वरूप स्वर्णमान की स्वय संचालकता का अन्त

हो गया और अन्त में उसे छोड़ देना पड़ा।

(4) विश्व की महान् मन्दी—सन् 1929 की विश्व की महान मन्दी के कारण स्वर्णमान का पतन हो गया। इस मन्दी का प्रारम्भ अमेरिका के वाल स्ट्रीट संकट से प्रारम्भ हुआ जो तुरन्त ही अन्य राष्ट्रों में फैल गया। मन्दी का प्रभाव ऑस्ट्रिया में प्रकट हुआ। वहाँ के सबसे बड़े बैंक आस्ट्रियन क्रेडिट एस्टाल्ट की आर्थिक स्थिति बिगड़ रही थी और बैंक के प्रति अविश्वास उत्पन्न हो गया। इससे ऑस्ट्रियन बैंक बन्द हो गया और यूरोप के अधिकांश देशों के बैंकों में पूंजी निकलनी प्रारम्भ हो गयी। जर्मनी में यही स्थिति रही और 1931 में जर्मनी ने अपनी मुद्रा का स्वर्ण में परिवर्तन बन्द कर दिया। अविश्वास की यह लहर इंगलैंड में स्वर्णमान के पतन से 1932 तक विश्व के 41 देशों ने स्वर्णमान का परित्याग कर दिया। विश्व के प्रायः सभी राष्ट्रों में मुद्रा का अभाव होने से मांग व उत्पादन के सन्तुलन में साम्य न रह सका, फलस्वरूप मूल्य-स्तर गिरने लगे और अमेरिका के सट्टा बाजार के सटोरियों को हानि का सामना करना पड़ा, जिसका प्रभाव विश्व के अन्य राष्ट्रों पर भी पड़ा, बैंक फेल होने लगे और धीरे-धीरे व्यवस्था इतनी बिगड़ गई कि मुद्रा को स्वर्ण में परिवर्तन करना सम्भव न होने से स्वर्णमान का ही अन्त हो गया।

(5) साख मुद्रा में वृद्धि—युद्ध के पश्चात् लगभग सभी राष्ट्रों में बैंकिंग व साख का इतना अधिक विस्तार हो गया कि देश की केन्द्रीय बैंक उन पर नियन्त्रण करने में असमर्थ रही, फलस्वरूप मूल्य स्तर में वृद्धि होकर व्यापाराधिक्य असन्तुलित हो गया।

(6) आर्थिक संकटों का सामना—प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् विश्व के अनेक राष्ट्रों को आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा, जिससे स्वर्णमान अधिक लंबे समय तक न चल सका।

(7) निर्भरता समाप्त करना—स्वर्णमान में एक देश की अर्थव्यवस्था अन्य देशों की अर्थव्यवस्था पर आधारित होती है और एक देश के संकट का प्रभाव अन्य देशों पर भी पड़ता है। अतः ऐसी निर्भरता को दूर करने के उद्देश्य से ही स्वर्णमान को समाप्त किया गया।

(8) स्वर्णमान के रूपों में समानता का अभाव—युद्धोपरान्त अधिकांश राष्ट्रों ने स्वर्णमान के लिए एक समान रूप में न अपनाकर भिन्न-भिन्न स्वरूपों को अपनाया जिससे बेईमानी व छलकपट को बढ़ावा मिला और स्वर्णमान को स्थगित करना पड़ा।

(9) लोचहीन अर्थव्यवस्था—युद्ध के बाद अनेक राष्ट्रों की अर्थव्यवस्था लोचहीन हो गई, जिसमें लागत एवं मूल्यों में लोच का अभाव होकर समान परिवर्तन सम्भव न हो सके। एकाधिकार, श्रमसंघ व अन्य इसी प्रकार के समुदायों के निर्माण होने से कीमतें एवं श्रम लागतें स्थिर हो गई और स्वर्ण की गति के अनुसार अर्थव्यवस्था में परिवर्तन सम्भव न हो सका।

(10) शरणार्थी पूंजी का अभाव—विदेशी पूंजी पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये गये जिससे विदेशी पूंजी केवल सुरक्षित राष्ट्रों की ओर ही आकर्षित होने लगी जिसे शरणार्थी पूंजी कहा गया। इसका आगमन आकस्मिक होने से मूल्य-स्तर के परिवर्तनों को नहीं रोका जा सका और स्वर्णमान को समाप्त करना पड़ा।

(11) स्वर्णकोष का असमान वितरण—प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का स्वतन्त्र प्रवाह अवरुद्ध हो गया और विश्व के समस्त राष्ट्रों के मध्य स्वर्ण का वितरण असमान हो गया। जिन राष्ट्रों में स्वर्णकोष अधिक थे, उन्होंने उसे रोके रहने के लिए निर्यात पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिये जिससे स्वर्णमान की स्वयं संचालकता समाप्त हो गई और अन्त में स्वर्णमान को छोड़ना पड़ा।

(12) अस्वाभाविक विनिमय दरें—नवीन स्वर्णमान को अपनाते समय कुछ राष्ट्रों ने अपनी प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिए अपनी मुद्रा की विनिमय दरों को बहुत ऊंची कर दी तथा कुछ राष्ट्रों ने उसे बहुत नीची रखीं। फलस्वरूप विनिमय दरें सर्वथा असंगत बनी रहीं जिन्हें दीर्घकाल तक बनाये रखना सम्भव नहीं था और बाद में जाकर इन मुद्राओं से सम्बन्धित मुद्राओं को अपने स्वर्णमान का परित्याग करना पड़ा।

(13) अशांति का वातावरण—प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् राष्ट्रों में आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक अशांति का वातावरण बना रहा। मंहगाई व वेतनमान में वृद्धि ने हड़ताल व तालाबन्दी की स्थिति उत्पन्न करके उत्पादन व व्यापार में अस्थिरता उत्पन्न कर दी। राजनैतिक संघर्ष के कारण अशान्ति का वातावरण उत्पन्न हो गया जिसका मुद्रा व्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ा और स्वर्णमान का अन्त कर देना पड़ा।

नवीन व्यवस्था

अमरीका द्वारा स्वर्णमान का परित्याग करते ही डालर का स्वर्ण मे मूल्य गिरना प्रारम्भ हो गया जो 31 जनवरी 1934 तक 34.4 डालर प्रति औंस हो गया। देश मे बेरोजगारी फैलकर आर्थिक स्थिति खराब हो गयी थी, जिसमे सुधार करने के लिए मुद्रा व्यवस्था में सुधार करना आवश्यक था। 31 जनवरी 1934 को तात्कालीन राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने डालर का 41% अवमूल्यन कर दिया और स्वर्ण का मूल्य 20·67 डालर प्रति औंस से बढ़ाकर 35 डालर प्रति औंस घोषित कर दिया, जिससे अमरीका के निर्यातो मे वृद्धि की जा सकें।

स्वर्णमान का भविष्य
(Future of Gold Standard)

प्राचीन समय मे धातु ने मुद्रा का कार्य किया और बाद मे उसका स्थान कागजी मुद्रा ने ले लिया। स्वर्णमान के अनेक लाभ होने से इसे विश्व के कई राष्ट्रो मे अपनाया गया। स्वर्णमान एक स्वतन्त्र वातावरण मे ही सफलतापूर्वक कार्य कर सकता है। प्रथम विश्वयुद्ध मे पूर्व अनुकूल वातावरण के कारण वह सफल हो सका। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद की परिस्थितिया बिगड जाने से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं स्वर्ण के आगमन पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगा दिये, जिससे पुन. स्थापित होने के उपरान्त भी उसे बाद मे तोड दिया गया। स्वर्ण का अधिक महत्त्व होने से विभिन्न राष्ट्रो के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय हिसाब-किताब के निपटारे का एक माध्यम बना रहा परन्तु ये समझौते भी द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ होने से समाप्त हो गये थे और फिर मे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मौद्रिक सहयोग प्राप्त करने की चेष्टा की गई। वर्तमान समय मे मुद्रा स्फीति एव व्यापार सतुलन के विपक्ष मे होने के कारण विश्व के अधिकाश राष्ट्रो मे स्वर्णमान अपनाना सम्भव प्रतीत नही होता। वर्तमान स्थिति के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भविष्य मे स्वर्णमान अपनाना सम्भव नही है। इसे न अपनाने के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं—

(1) **विश्व स्वर्ण कोष मे कमी**—विश्व मे स्वर्ण कोषों का भण्डार अत्यन्त कम मात्रा मे है, जिनके आधार पर भविष्य मे स्वर्णमान को अपनाना सर्वथा असम्भव-सा प्रतीत होता है। विश्व मे स्वर्ण कोषो का वितरण भी असमान है, क्योकि अमरीका, जर्मनी, फ्रान्स और जापान के पास विश्व के स्वर्ण कोष का 50% से अधिक जमा है। अतः कोष में स्वर्ण रखकर आन्तरिक मुद्रा मे परिवर्तनशीलता घोषित करने वाला मान अपनाना अधिकाश देशो के लिए असम्भव-सा है।

(2) **अन्तर्राष्ट्रीय साख सस्थाएं**—स्वर्णमान की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य विदेशी विनिमय दर को स्थिर करना एवं विदेशी भुगतानो को सरल बनाना होता है और यह दोनो ही कार्य अन्तर्राष्ट्रीय साख सस्थाओ द्वारा भली प्रकार सम्पन्न किये जाते हैं। इसी प्रकार अल्पकालीन कार्यों के लिए व्यापारिक बैंक योगदान देते हैं और ऐसी परिस्थिति मे स्वर्णमान को अपनाना लाभदायक प्रतीत नही हो पाता।

(3) **ऋणग्रस्तता**—द्वितीय विश्वयुद्ध काल मे विश्व के अधिकाश राष्ट्रो ने अमरीका से ऋण लिये। इन ऋणो का न तो भुगतान ही हो पाया है और न ब्याज का कोई प्रबन्ध सम्भव हो सका है। नयी दिल्ली मे आयोजित की गई अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं विकास सम्मेलन III (UNCTAD III) मे इस बात पर विचार किया गया कि विकसित राष्ट्र अपनी आय का एक प्रतिशत भाग भी विकासशील राष्ट्रों को सहायता के रूप मे नही दे रहे हैं। वर्तमान समय मे जबकि विश्व के अधिकाश विकासशील राष्ट्र विनिमय संकट का सामना कर रहे हैं, ब्याज दरें निरन्तर बढ रही है, वाछित सहायता प्राप्त करना सम्भव नहीं हो रहा है, ऐसी परिस्थिति मे स्वर्णमान अपनाने की कल्पना करना भी व्यर्थ रहेगा।

(4) **केन्द्रीय बैंकों का सीमित कार्य**—विश्व के प्रायः सभी देशो मे केन्द्रीय बैंको की स्थापना कर दी गई है, परन्तु ये बैंक अपनी सीमाओ मे बंधे हुए हैं, जिससे स्वतन्त्र व्यापार व स्वतन्त्र लेनदेन की नीति को अपनाना सम्भव नही है। कुछ राष्ट्र तो अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक नीति को अपनाने की स्थिति मे नही हैं, फलस्वरूप केन्द्रीय बैंको का कार्यक्षेत्र काफी सीमित हो गया है और स्वर्णमान को अपनाना सम्भव नहीं हो पाता।

(5) **अशान्ति व राजनैतिक अस्थिरता**—एशिया एव अफ्रीका के अनेक राष्ट्रो को राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त होने से वहा अशान्ति व राजनैतिक अस्थिरता व्याप्त है, वहा आन्तरिक अशान्ति का वातावरण है, श्रमिको व कर्मचारियों के आन्दोलन जोर पकड रहे हैं। ऐसी राजनैतिक अस्थिरता की हालत मे स्वर्णमान को अपनाना लाभप्रद सिद्ध नही होगा।

(6) विकास योजनायें—वर्तमान समय में विकासशील राष्ट्र योजनायें निर्माण करके विकास कार्यों में संलग्न हैं, जिसके लिए घाटे की व्यवस्था से भी काम चलाना पड़ता है और यह समस्त कार्य कागजी मुद्रामान द्वारा ही सम्भव हो सकते हैं। अतः आधुनिक व्यवस्था में स्वर्णमान अपनाना सम्भव नहीं होगा।

(7) स्वर्णकोष का केन्द्रीयकरण—संसार के कुछ राष्ट्रों के पास स्वर्णकोष का अधिकांश भाग है जबकि अन्य राष्ट्रों पर इसकी मात्रा बहुत कम है। स्वर्णकोषों का साम 80% भाग 9 विकसित राष्ट्रों के पास है, शेष राष्ट्रों के पास केवल 20% भाग है। ऐसी परिस्थिति में स्वर्णमान को अपनाना सम्भव ही नहीं है।

वर्तमान मुद्रा व्यवस्था—एक विश्लेषण
(Present Monetary System—An Analysis)

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् विश्व में एक बार फिर से अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग प्राप्त करने के प्रयास किये गये। अत सन् 1944 में ब्रेटनवुड्स (अमरीका) में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर एक सम्मेलन हुआ जिसमें विश्व के लगभग 44 राष्ट्रों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में दो संस्थायें स्थापित करना निश्चित किया गया, जिनमें से एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund) एवं द्वितीय विश्व बैंक है।

इस प्रकार विश्व में एक ऐसे मुद्रामान की स्थापना हो गई है जिसे अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण विनिमय मान कहते हैं। इसे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रामान भी कहते हैं।

सम्मेलन के उद्देश्य

इस सम्मेलन के प्रमुख उद्देश्य थे—

(i) विदेशी विनिमय दर में स्थिरता लाना।

(ii) विभिन्न राष्ट्रों की आर्थिक प्रगति में सहायता प्रदान करना,

विशेषतायें

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रामान की प्रमुख विशेषतायें निम्नलिखित हैं—

(1) स्वर्णकोष का प्रबन्ध—इस कोष के समस्त सदस्यों के लिए अभ्यंश (quota) निर्धारित किये गये हैं, जिसमें से 25% भाग स्वर्ण में मुद्रा कोष में जमा कराना अनिवार्य होगा। इसके लिए अपनी-अपनी मुद्रा में केन्द्रीय बैंक में मुद्राकोष खाते में जमा कर लेते हैं। वर्तमान समय में स्वर्ण का अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य 35 डालर प्रति औन्स है।

(2) व्यापार व भुगतान सन्तुलन —मुद्रा कोष विभिन्न राष्ट्रों के विदेशी व्यापार में आने वाली रुकावटों को समाप्त करने के प्रयत्न करता है। मुद्राकोष द्वारा कोई भी मुद्रा उधार ली जा सकती है और उससे भुगतान पूर्ण किया जा सकता है और कुछ समय पश्चात् व्यापारिक स्थिति में सुधार होने पर मुद्रा कोष का ऋण वापस कर दिया जाता है। इस प्रकार मुद्रा कोष एक स्वयंचालित मान कहा जा सकता है।

(3) केन्द्रीय बैंक के मित्र व पथदर्शक—स्वर्णमान को संचालित करने में केन्द्रीय बैंकों की नीति को समन्वय करने वाली अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्रीय संस्था का अभाव था, जिसे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने दूर कर दिया है। इस प्रकार मुद्रा कोष मुद्रा व्यवस्था बनाये रखने में केन्द्रीय बैंकों के मित्र एवं पथदर्शक का कार्य करता है।

(4) विनिमय दरों में स्थिरता—मुद्रा कोष के माध्यम से विभिन्न राष्ट्रों द्वारा निर्धारित की गई विदेशी विनिमय दरों में स्थायित्व स्थापित करने के प्रयत्न किये जाते हैं और इनमें उतार-चढ़ाव एक निश्चित सीमा तक ही स्वीकृत होते हैं। यदि किसी राष्ट्र को व्यापार सन्तुलन में कोई कठिनाई उपस्थित हो जाये, तो मुद्राकोष अविलम्ब आर्थिक सहायता देकर विनिमय दरों में स्थिरता लाने के सफल प्रयास करता है। यदि किसी कारण से यह स्थिरता लाना सम्भव न हो तो उस देश को मुद्रा के अवमूल्यन करने की सलाह दी जाती है।

(5) मुद्रा का स्वर्ण में मूल्यांकन—मुद्रा कोष के सदस्य राष्ट्रों को अपनी विनिमय दरें स्वर्ण में निश्चित करनी होती हैं और इसी कारण से मुद्रामान को स्वर्ण विनिमय के नाम से पुकारा जाता है।

वर्तमान समय में जबकि समस्त राष्ट्रो में राष्ट्रीय भावना जागृत हो रही है, स्वर्णमान की स्थापना की कल्पना करना भी सम्भव नही है। स्वर्ण के मूल्यो मे अस्थिरता के कारण मौद्रिक क्षेत्र मे स्वर्ण का महत्व गिर गया है, अत: भविष्य मे स्वर्णमान के स्थान पर प्रबन्धित पत्र-मुद्रामान को ही अपनाया गया है। प्रत्येक राष्ट्र सरक्षण एव अन्य प्रागुल्किक नीतियो द्वारा देश के विकास के लिए प्रयत्न कर रहा है। वर्तमान समय मे स्वर्णमान का भविष्य अन्धकारमय है और इसके स्थान पर वर्तमान स्वर्ण विनिमय परम्परागत स्वर्णमान की तुलना मे अधिक सरल, मितव्ययी एव व्यापक है। इस प्रकार इस व्यवस्था मे अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान सरल हो गये हैं तथा मुद्रा प्रणालिया अधिक सुव्यवस्थित हो गई हैं।

नया स्वर्णमान पुराने से श्रेष्ठ

आधुनिक स्वर्णमान को निम्न दृष्टिकोण से पुराने स्वर्णमान से श्रेष्ठ माना गया है :—

(i) आवश्यकता की पूर्ति —यदि सदस्य देश द्वारा किसी ऐसी मुद्रा की माग की जाये जिसका भण्डार मुद्रा कोष के पास कम हो गया हो तो मुद्राकोष मुद्रा स्वर्ण के बदले क्रय करके उस देश की आवश्यकता की पूर्ति करता है।

(ii) निर्धन राष्ट्रों द्वारा अपनाना—इसमे प्रत्येक देश के लिए पृथक्-पृथक् कोषो मे स्वर्ण रखने की आवश्यकता नहीं है, अत: इसे निर्धन देश भी अपना सकते हैं।

(iii) अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्रीय संस्था—यह स्वर्णमान सही अर्थ मे अन्तर्राष्ट्रीय मान है, क्योंकि इसका सचालन करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के रूप मे एक उच्चावचन अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्रीय सस्या है जो आवश्यकता पड़ने पर देशो को डालर दे सकता है।

अत वर्तमान स्वर्णमान पुराने स्वर्णमान से अधिक सरल, व्यापक एवं मितव्ययितापूर्ण है।

7

मूद्रा का मूल्य
(VALUE OF MONEY)

प्रारम्भिक—प्राय: मुद्रा की क्रय शक्ति ही उसका मूल्य मानी जाती है। "तुलनात्मक दृष्टि से यह कहना सरल है कि मुद्रा का मूल्य वही है जो वह क्रय करेगी। यह एक सरल अतिरिक्त प्रयास है कि ऊँचे मूल्य हो जाने पर मुद्रा का मूल्य गिर जाता है।"[1]

मुद्रा का मूल्य

विदेशी विनिमय के रूप मे	क्रय-शक्ति के रूप मे	ब्याज दर के रूप मे

अर्थशास्त्र मे मुद्रा के मूल्य का आशय कई प्रकार से लगाया जा सकता है, जैसे—

(i) विदेशी विनिमय के रूप मे,

(ii) क्रय-शक्ति के रूप मे, एव

(iii) ब्याज दर के रूप में।

(i) विदेशी विनिमय—मुद्रा के मूल्य का सम्बन्ध विदेशी विनिमय दर से लगाया जाता है अर्थात् स्वदेशी मुद्रा के बदले जो मात्रा विदेशी मुद्रा की प्राप्त हो उसे ही उसका मूल्य कहेगे। जैसे । ब्रिटिश पौण्ड का अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य 2·6 डालर के समान है, और यह दर घटकर 2 5 डालर हो जाये तो यह कहा जायेगा कि पौण्ड के मूल्य का ह्रास हो रहा है।

(ii) क्रय-शक्ति—मुद्रा की क्रय-शक्ति से भी मुद्रा का मूल्य जाना जाता है। यह विभिन्न वस्तुओ के औसत से सम्बन्धित होती है। यह माप सूचनांकों द्वारा होता है। यदि वस्तु मूल्यो का सूचनाक 1951 मे 100 था और 1976 मे यह बढ़कर 220 हो जाये तो इसका तात्पर्य यह होगा कि वस्तु मूल्य मे 120 प्रतिशत वृद्धि हो गयी है और मुद्रा मूल्य गिर गया है।

(iii) ब्याज दर—मुद्रा बाजार मे मुद्रा का क्रय-विक्रय किया जाता है और उसके बदले में जो ब्याज दी जाती है उसी को मुद्रा का मूल्य कहा जाता है।

इस प्रकार वस्तुओं के मूल्य मुद्रा में व्यक्त किये जाते हैं, परन्तु मुद्रा का मूल्य मुद्रा मे ही व्यक्त करना उचित नही रहता। मुद्रा के मूल्य से आशय उसकी क्रय-शक्ति से लगाया जाता है। "मुद्रा के मूल्य से हमारा आशय मुद्रा की एक इकाई के बदले सामान्य रूप से क्रय की जाने वाली वस्तुओ की मात्रा से लगाया जाता है।"[2] अत: मुद्रा की क्रय-शक्ति को वस्तुओं व सेवाओं के रूप मे, जनता की उपयोगिता के आधार पर ही व्यक्त करना चाहिए। "चूंकि मुद्रा की क्रय-शक्ति

1. *It is comparatively easy to say that the value of money is what it will buy It is only a simple additional step to realise that the higher are prices the lower is the value of money*"—Crowther, op cit, p. 84

2. "By the value of money, we mean the amount of things in general which will be given in exchange for a unit of money."—D. H Robertson : Money, p. 17.

मुद्रा की इकाई द्वारा क्रय की जाने वाली वस्तुओं एवं सेवाओं की मात्रा पर निर्भर करती है, अतः संयुक्त वस्तु के मूल्य से इसे मापा जा सकता है, जो अनेक व्यक्तिगत वस्तुओं एवं सेवाओं से व्यय करने के उद्देश्य के महत्व के आधार पर मिलकर बनी है।"[1] मुद्रा मूल्य सामान्य मूल्य-स्तर से विपरीत धारणा लिए होता है। सामान्य मूल्य-स्तर विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का औसत मात्र होता है। फिशर के अनुसार, "मुद्रा की क्रय-शक्ति, मूल्यों के स्तर से विपरीत दिशा में होती है और मुद्रा की क्रय-शक्ति का अध्ययन एवं मूल्य-स्तरों का अध्ययन लगभग समान होता है।"[2] यदि सामूहिक रूप से मूल्यों में वृद्धि होती है तो मुद्रा मूल्य घट जाता है और उनमें कमी होने पर वह बढ़ जाता है। मुद्रा के मूल्य में परिवर्तनों का अनुमान किसी एक वस्तु के आधार पर नहीं लगाना चाहिए, बल्कि विभिन्न वस्तुओं की औसत कीमतों के आधार पर ज्ञात करना चाहिए। किनले के अनुसार "मुद्रा का मूल्य, सीमान्त विनिमय में प्रदान की गई सेवाओं का पूंजीकृत मूल्य है।"[3] निरपेक्ष रूप में मुद्रा को मापना असम्भव है, अतः उचित यही होता है कि विशेष प्रकार के सौदों के लिए मुद्रा का मूल्य मापा जाये। इसके अतिरिक्त मुद्रा के मूल्य में होने वाले सामयिक परिवर्तनों को मापना अधिक कठिन एवं महत्वपूर्ण है। व्यावहारिक जीवन में भी सापेक्षिक दृष्टि से ही मुद्रा का महत्व जाना जा सकता है और मुद्रा का निरपेक्ष मूल्य कोई विशेष महत्व नहीं रखता। मुद्रा की पूर्ति अन्य वस्तुओं से सदैव भिन्न होती है और मुद्रा एक सीमित चलन वाली वस्तु कहलाती है। वर्तमान समय में कागजी मुद्रा की प्रत्येक इकाई को बार-बार प्रयोग किया जा सकता है, जबकि वस्तुओं की इकाइयां एक ही बार उपयोग में लाई जाती हैं। मुद्रा एक उच्चतम वस्तु मानी जाती है क्योंकि वह समस्त वस्तुओं के मूल्य मापक का कार्य करती है। इस प्रकार समाज में समस्त वस्तुओं के क्रय-विक्रय का कार्य मुद्रा द्वारा ही किया जाता है।

मुद्रा एवं वस्तुओं में अन्तर

प्रो० रावर्टसन की मान्यता है कि मुद्रा भी वस्तु की ही भांति है, अतः उसका मूल्य भी मांग एवं पूर्ति द्वारा ही निर्धारित होती है। वास्तव में मुद्रा एवं अन्य वस्तुओं में अन्तर निम्नलिखित है—

(1) मूल्य का अन्तर—मुद्रा का वस्तु के रूप में कम मूल्य होता है, जबकि वस्तु का अपना मूल्य होता है और उसकी अपनी उपयोगिता होती है।

(2) विनिमय का माध्यम—समाज की समस्त वस्तुयें विनिमय के लिए मुद्रा पर निर्भर करती हैं और मुद्रा ही वस्तुओं के मूल्य निर्धारित करती है और वस्तुओं की सक्रिय मात्रा मुद्रा की क्रय शक्ति को प्रभावित करती है।

(3) निर्गमन में भिन्नता—मुद्रा का निर्गमन वस्तुओं से भिन्न माना जाता है। वस्तुओं का उत्पादन श्रम, पूंजी एवं भूमि आदि तत्वों के सहयोग से होता है, परन्तु मुद्रा का प्रचलन, उसकी मात्रा, किस्म आदि सरकार की मुद्रा नीति पर निर्भर करते हैं।

(4) उपयोग का अन्तर—मुद्रा अनेक व्यक्तियों को हस्तांतरित होती रहती है जबकि वस्तुयें एक बार में ही अन्तिम उपभोग में आ जाती है।

मुद्रा का मूल्य बिना योग्यता के अर्थहीन होता है, क्योंकि मुद्रा के मूल्य के अन्तर्गत मूल्य होते हैं जो उपयोग

1. "Since the purchasing power of money in a given context depends upon the quantity of goods and services which a unit of money will purchase it follows that it can be measured by the price of a composite commodity made up of the various individual goods and services in proportion corresponding to their importance as object of expenditure."—J. M. Keynes : A Treatise on Money, Vol. 1.

2. "The purchasing power of money is the reciprocal of the level of price so that the study of purchansing power of money is indentical with the study of price level"—Irving Fisher: The Purchasing Power of Money, p. 14

3 "The value of money is the capitalised value of the service rendered in the marginal exchange"—D. Kinley : Money, p. 135

के आधार पर ज्ञात किये जाते हैं। अत. इसके समाधान के लिए मुद्रा के मूल्य के कुछ निश्चित प्रमापों की स्थापना करना आवश्यक हो जाता है। इसके लिए प्राय तीन प्रमाप स्थापित किये जाते हैं।

(i) बाजार में वस्तुओं के लिए दर्शाये गये मूल्य के रूप मे मुद्रा के मूल्य का अध्ययन किया जाता है।

(ii) मुद्रा के मूल्य का आशय परिवार द्वारा क्रय की जाने वाली वस्तुओं एवं सेवाओं से लगाया जाता है।

(iii) तृतीय अर्थ मे इसका आशय श्रमिकों को दी जाने वाली मजदूरी से लगाया जाता है।

इस प्रकार मुद्रा के मूल्य की सही परिभाषा देना कठिन कार्य है। अनेक स्थानों मे मुद्रा के मूल्य से आशय थोक मूल्य, फुटकर मूल्य अथवा श्रम मूल्य से भी लगाया जा सकता है। मुद्रा एवं वस्तुओ का एक निकट सम्बन्ध यह है कि मुद्रा की मात्रा द्वारा ही वस्तुओं के मूल्य निर्धारित किये जाते हैं और इसी प्रकार वस्तुओ की मात्रा द्वारा ही मुद्रा का मूल्य निर्धारित किया जाता है। इस प्रकार मुद्रा एवं वस्तुओ का आपसी सम्बन्ध काफी घनिष्ठ है।

मुद्रा का वस्तु सिद्धान्त
(*Commodity Theory of Money*)

द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व प्राय सभी राष्ट्रों मे किसी न किसी धातु के सिक्के चलन मे रहते थे। इससे पूर्व अनेक प्रकार की धातुयें विनिमय के माध्यम के रूप मे प्रयोग की जाती थी। प्रत्येक मुद्रा किसी न किसी धातु की बनी हुई होती है और प्रत्येक इकाई का मूल्य उसमे निहित वस्तुओ के मूल्यों पर निर्भर करता है। इसमे मुद्रा इकाई का स्वयं कोई महत्व नही होता, बल्कि उसका मूल्य वस्तु के मूल्य पर निर्भर करेगा। मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन वस्तु के मूल्य मे होने वाले परिवर्तनों पर निर्भर करेगा। इसमे मुद्रा का मूल्य निर्धारण करने में सरकारी नीति को कोई भी महत्व नही दिया जाता। यह भी मान्यता है कि स्वर्णकोषों के पर्याप्त मात्रा मे होने पर ही मुद्राओ के मूल्य में स्थायित्व लाया जा सकता है। मुद्रा के पीछे रखे जाने वाले कोषो का महत्व पुन. बढ रहा है। विश्व मे मुद्रा स्फीति के कारण स्वर्ण मूल्य में वृद्धि करना सम्भव नही हो पाता। इस प्रकार वस्तु सिद्धान्त को स्वीकार करने का अर्थ यह होगा कि स्वर्णमान को पुन. अपनाया जा रहा है। वस्तु सिद्धान्त इतिहास की कल्पना-मात्र है और व्यवहार मे उसका कोई विशेष महत्व नही है।

मुद्रा के सामान्य सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वस्तु का मूल्य उसकी माग एवं पूर्ति की सापेक्षिक-शक्तियों द्वारा निर्धारित किया जाता है। जिस प्रकार माग बढने से मूल्य बढने तथा मूल्य घटने से माग घटने लगती है उसी प्रकार माग मे वृद्धि होने पर मूल्य मे वृद्धि होने की प्रवृत्ति पाई जाती है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु का मूल्य उस बिन्दु पर निर्धारित हो जाता है जहा माग एवं पूर्ति समान हों। "एक राष्ट्रीय मुद्रा का आन्तरिक एवं बाह्य मूल्य होता है। मुद्रा के आन्तरिक मूल्य से आशय घरेलू वस्तुओं एवं सेवाओं की क्रय शक्ति से होता है, जबकि उसका बाह्य मूल्य विदेशी विनिमय दर होती है जो कि विदेशी मुद्रा की घरेलू मूल्य होती है।"[1] मुद्रा का मूल्य भी वस्तु की भाति उसकी माग एवं पूर्ति द्वारा निश्चित किया जाता है।

मुद्रा की माग (Demand for Money)

एक असाधारण वस्तु की माग उससे प्राप्त होने वाली उपयोगिता पर निर्भर करती है, मुद्रा की मांग भी उसकी उपयोगिता के कारण ही है परन्तु इसका स्वरूप भिन्न प्रकार का होता है और मुद्रा की उपयोगिता केवल वस्तुओं को क्रय करने के लिए ही है। मुद्रा की माग उसके विनिमय माध्यम होने पर निर्भर करती है। अतः वस्तुओ व सेवाओ की मात्रा का जो विनिमय किया जाता है उसी को मुद्रा की मांग कहते हैं।

1. "A National Currency has internal and external value. The internal value of a currency refers to the purchasing power of that currency in terms of domestic goods and services while its external value is its foreign rates, that is the domestic price of a foreign currency."—Kurihara, K. K : Monetary Theory and Public Policy, p. 11.

मुद्रा की मांग = मूल्य × वस्तुओं व सेवाओं की मात्रा

सूत्र रूप में D = P × T

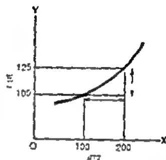
यहां पर D = मुद्रा की मांग, P = मूल्य

T = वस्तुओं व सेवाओं की मात्रा।

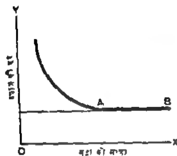
प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा की मांग में आशय विनिमय के सौदे की मात्रा से लगाया है। इसे व्यावसायिक दृष्टिकोण कहा जाता है।

कीन्स के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति 3 कार्यों के लिए मुद्रा की मांग करता है—

(1) सौदा उद्देश्य—प्रत्येक व्यक्ति अपनी आय का एक भाग दैनिक कार्यों के लिए रखता है जिसे सौदा उद्देश्य कहते हैं। चित्र 7.1 में दिखाया गया है कि जब आय 100 है तो मांग 100 है और आय 200 होने पर मांग बढ़कर 125 हो जाती है।



चित्र 7·1



चित्र 7.2

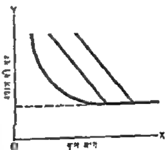
(2) सट्टा उद्देश्य—सट्टेबाज भविष्य में होने वाले ब्याज की दर में परिवर्तनों से लाभ उठाने हेतु मुद्रा अपने पास नकदी में रखते हैं जिसे सट्टा उद्देश्य कहते हैं। इसके लिए मुद्रा की मांग अत्यन्त अनिश्चित एवं शीघ्र परिवर्तनशील होती है। ब्याज दर घटने पर मुद्रा की मांग बढ़ती है तथा ब्याज दर बढ़ने पर मांग घटती है जैसा कि चित्र 7·2 में दिखाया गया है।

(3) दूरदर्शिता उद्देश्य—प्रत्येक व्यक्ति आकस्मिक दायित्वों व आवश्यकताओं के लिए नकद मुद्रा अपने पास रखना पसन्द करते हैं। इस उद्देश्य से उत्पन्न मुद्रा की मांग स्थिर होती है, जिसमें भारी परिवर्तन नहीं आते हैं।

मुद्रा की कुल मांग

मुद्रा के सौदा उद्देश्य, सट्टा उद्देश्य एवं दूरदर्शिता उद्देश्य से उत्पन्न मुद्रा की मांग के योग को मुद्रा की कुल मांग कहते हैं।

सूत्र रूप में $M = M_1 + M_2 + M_3$ यहां पर M = कुल मांग M_1 = सौदा उद्देश्य की मांग M_2 = सट्टा उद्देश्य की मांग, M_3 = दूरदर्शिता उद्देश्य से उत्पन्न मांग। इसे चित्र 7·3 द्वारा भी दिखाया गया है।



चित्र 7·3

मांग को प्रभावित करने वाली बातें

मुद्रा की मांग वस्तुओं की मात्रा पर निर्भर करती है और वस्तुओं की मात्रा निम्न बातों से प्रभावित होती है—

(1) उत्पत्ति के साधनों की कार्यक्षमता—वस्तुओं का उत्पादन उत्पत्ति के साधनों की कार्यक्षमता पर निर्भर करता है। यदि साधन कम हैं, परन्तु उनकी कार्यक्षमता अधिक है तो कुल उत्पादन में वृद्धि होगी। इसके विपरीत यदि

साधन अधिक होते हुए भी अनुत्पादक व कम कुशल हैं तो उत्पादन की मात्रा भी कम हो जायेगी।

(2) वस्तुओं के हस्तान्तरण की गति—प्राचीन समय में उत्पादक स्वयं उपभोक्ता होता था और विनिमय की आवश्यकता नहीं होती थी व मुद्रा की माग कम हो जाती थी। आजकल श्रम विभाजन एवं विशिष्टीकरण के कारण उत्पादक से वस्तुएं उपभोक्ता तक पहुंचने में अनेक मध्यस्थों का सहारा लिया जाता है, फलस्वरूप मुद्रा की माग में वृद्धि हो जाती है।

(3) रोजगार स्तर—यदि उत्पत्ति के साधनों का रोजगार स्तर पूर्ण है तो उत्पत्ति की मात्रा अधिक होती है, इसके विपरीत पूर्ण स्थिति से कम रोजगार स्तर पर उत्पत्ति की मात्रा कम हो जाती है। इस प्रकार जब किसी राष्ट्र की अर्थव्यवस्था निम्न रोजगार स्तर की ओर बढ़ रही हो तो मुद्रा की माग अधिक हो जाती है। यदि ऐसे अवसर पर नवीन मुद्रा का प्रसार कर दिया जाये तो स्फीतिक स्थिति उत्पन्न होगी जो देश के लिए हानिप्रद होगी।

(4) उत्पत्ति का पैमाना—बड़े पैमाने पर उत्पत्ति करने एवं व्यापारिक संगठनों में प्रतियोगिता होने पर अधिक मात्रा में उत्पादन सम्भव किया जाता है जिससे मुद्रा की मात्रा की आवश्यकता बढ़ जाती है। इसके विपरीत लघु स्तर पर उत्पादन करने एवं एकाधिकार की परिस्थिति होने पर उत्पत्ति की मात्रा में कमी हो जाती है और मुद्रा की माग में भी कमी हो जाती है।

(5) उत्पत्ति के साधनों की मात्रा—यदि देश में उत्पत्ति के साधन अधिक हैं तो उत्पादन अधिक होगा एवं पूजी की माग बढ़ेगी। इसके विपरीत उत्पत्ति के साधनों में कमी होने पर उत्पादन कम होगा तथा मुद्रा की माग भी कम हो जायेगी।

(6) अन्य बातें—मुद्रा की माग पर अन्य बातों का भी प्रभाव पड़ता है जैसे नवीन प्रतिभूतियों का निर्गमन जनसंख्या का आकार, प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता, राष्ट्र का औद्योगिक क्षेत्रफल आदि। इनमें वृद्धि होने पर मुद्रा की माग बढ़ जाती है और कमी होने पर माग घट जाती है।

इस प्रकार *"एक व्यक्ति की कुल प्रभावशाली माग एक निश्चित समयावधि में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से* (साख द्वारा) व्यय की गई मुद्रा की मात्रा से निर्धारित की जाती है।"[1] यही नियम सम्पूर्ण समाज के लिए माग के निर्धारण करते समय लागू किया जाता है।

मुद्रा की पूर्ति (Supply of Money)

मुद्रा की पूर्ति से आशय उन समस्त वस्तुओं की सामूहिक मात्रा से है जो किसी समय में देश के अन्दर विनिमय के माध्यम के रूप में प्रचलित होती हैं। इसमें समस्त प्रकार की प्रामाणिक, सांकेतिक व अन्य मुद्रा को सम्मिलित कर लिया जाता है। इस सम्बन्ध में मुद्रा की पूर्ति से आशय मुद्रा की समस्त मात्रा या चलन में मुद्रा की मात्रा से लगाया जाता है। इस प्रकार किसी देश में धातु मुद्रा, कागजी मुद्रा एवं साख मुद्रा के सम्मिलित योग को चलन की मात्रा में सम्मिलित किया जाता है।

मुद्रा की पूर्ति को प्रभावित करने वाले तत्व

देश में मुद्रा की पूर्ति निम्न तत्वों से प्रभावित होती है—

(1) सरकार का अधिकार—सरकार को नोट छापने के अधिकार होने से मुद्रा की पूर्ति को प्रभावित किया जाता है। यदि किसी समय नोटों की मात्रा में वृद्धि हो जाये तो मुद्रा की पूर्ति में भी वृद्धि हो जाती है।

(2) व्यक्तिगत स्वभाव व द्रवता पसन्दगी—यदि जनता वस्तु विनिमय प्रणाली से काम चला लेती है या अपनी बचत को नकद रूप में रखना पसन्द करती है तो इससे मुद्रा की पूर्ति में कमी हो जाती है।

1. "The total effective demand of an individual is determined by the amount of money spent by him directly or indirectly (through credit) *during a certain period of time.*"—*G. N. Halm* : Monetary Theory, p.19.

(3) साख मुद्रा का प्रभाव—यदि देश में साख मुद्रा का अधिक प्रसार है तो मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि होगी और मुद्रा प्रसार को रोकने के लिए केन्द्रीय बैंक द्वारा साख नियंत्रण की नीति अपनाई जाती है। साख नियंत्रण ढीला हो जाने पर साख मुद्रा के चलन मे वृद्धि हो जाती है और नियत्रण में कठोरता अपनाने पर साख मुद्रा मे कमी होकर मुद्रा की पूर्ति में कमी हो जाती है।

(4) मुद्रा की गति—मुद्रा का वेग अधिक होने पर थोडी सी मुद्रा की मात्रा ही अधिक मुद्रा इकाइयो का कार्य कर सकती है। इसके विपरीत यदि चलन वेग कम है तो अधिक मुद्रा की आवश्यकता पडेगी। देश में चलन मुद्रा एव साख मुद्रा दोनों ही मुद्रा की पूर्ति को प्रभावित करती हैं।

(5) नकद कोष—प्रत्येक बैंक को अपने पास निर्धारित मात्रा मे नकद कोष रखना पड़ता है और केन्द्रीय बैंक उसमे आवश्यक मात्रा मे घटा-बढी करने के आदेश दे सकती है। यदि नकद कोष मे अधिक मात्रा रखी जाती है तो वह चलन से बाहर हो जाती है और मुद्रा की पूर्ति को कम कर देती है।

(6) स्वर्ण का सुरक्षित कोष—प्राचीन समय मे धातु के सिक्को की मात्रा स्वर्ण कोष पर निर्भर रहती थी। इसी प्रकार जनता का विश्वास प्राप्त करने के लिए कागजी मुद्रा के पीछे स्वर्ण की व्यवस्था की जाती थी। सुरक्षित कोष मे वृद्धि होने पर मुद्रा की मात्रा को बढाया जा सकता था, अन्यथा नही।

(7) वस्तु की मात्रा—यदि देश मे वस्तुओ व सेवाओ की मात्रा मे वृद्धि हो जाती है तो मुद्रा की पूर्ति को बढाया जाता है।

मुद्रा का मूल्य निर्धारण

जिस प्रकार एक वस्तु का मूल्य उसकी माग और पूर्ति के साम्य पर निर्धारित होता है, उसी प्रकार मुद्रा का मूल्य भी उसकी माग एव पूर्ति के साम्य पर स्थापित हो जाता है। जब कभी भी माग एव पूर्ति मे परिवर्तन होता है तो पुराना साम्य बिगड जाता है और नया संतुलन स्थापित हो जाता है तथा मुद्रा का नवीन मूल्य निर्धारित हो जाता है।

मुद्रा का राजकीय सिद्धान्त
(State Theory of Money)

कहा जाता है कि मुद्रा का मूल्य सरकार द्वारा निर्धारित होता है। प्रो॰ क्नैप के अनुसार "चलन मुद्रा की आत्मा उसकी इकाइयो मे निहित पदार्थ मे नही है, बल्कि उन वैधानिक अध्यादेशो मे है जो इसके प्रयोग का नियमन करते हैं।"[1] आधुनिक काल मे मुद्रा के निर्गमन, नियमन एव मात्रा निर्धारण आदि का कार्य सरकार करती है और जनता उसे व्यवहार मे लाती है। सरकार कभी-कभी विभिन्न वस्तुओ के मूल्य भी निर्धारित कर देती है।

सिद्धान्त की आलोचनायें—(1) इन तर्कों मे यथेष्ट शक्ति है, परन्तु सम्पूर्ण सत्यता नही पायी जाती। केवल राजकीय सत्ता के आधार पर मुद्रा का चलन स्थापित रखना असम्भव है।

(2) मुद्रा मूल्य निर्धारित करने मे मुद्रा की मात्रा का प्रभाव पड़ता है न कि सरकार का।

(3) वस्तुओ के मूल्य नियत्रण द्वारा मुद्रा का मूल्य निर्धारित करना सम्भव नहीं हो पाता।

अत स्पष्ट है कि मुद्रा के मूल्य में सरकार की इच्छानुसार परिवर्तन नही होते, बल्कि उसके निर्धारण मे शासन का हाथ कम होता है।

1. The soul of currency is not in the material of the pieces, but in the legal ordinances which regulate their use."—G F. Knapp : The State Theory of Money, p 2.

मुद्रा की गति
(Velocity of Money)

मुद्रा का कार्य वस्तुओं व सेवाओं में विनिमय करना है और इस कार्य को करने मे मुद्रा एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के हाथों में हस्तांतरित होती रहती है। इस प्रकार किसी दिये हुए समय में मुद्रा की कोई इकाई वस्तुओं एवं सेवाओं को खरीदने के लिए कितनी बार एक हाथ से दूसरे हाथ में हस्तांतरित होती है, उसके औसत को ही मुद्रा की गति कहेंगे। मुद्रा की मात्रा को उसकी गति से गुणा करने पर मुद्रा की पूर्ति को ज्ञात किया जा सकता है। मुद्रा की पूर्ति उसकी चलन की गति पर निर्भर करती है। इस प्रकार मुद्रा की मात्रा को यथास्थिर रखने पर उसकी चलन गति में कमी या वृद्धि करने पर मुद्रा की पूर्ति में कमी या वृद्धि की जा सकेगी।

गति को प्रभावित करने वाली बातें

मुद्रा की गति को प्रभावित करने वाली प्रमुख बातें निम्नलिखित हैं—

(1) नकद खरीदने की आदत—यदि समाज मे वस्तुओं को नकद में खरीदने की आदत है तो बार-बार नकद रुपया देने के कारण समाज मे चलन की गति बढ़ जायेगी। यदि समाज मे उधार क्रय करने की आदत है तो तत्काल भुगतान न करने के कारण मुद्रा की गति घट जायेगी।

(2) भुगतान अवधि—यदि क्रय किये गये सामान का भुगतान वर्ष मे एक या दो बार ही किया जाता है तो मुद्रा की चलन गति कम हो जायेगी। इसके विपरीत यदि भुगतान थोड़े-थोड़े समय के उपरान्त किया जाये तो चलन की गति तीव्र होगी।

(3) मजदूरी भुगतान का ढंग—यदि मजदूरी दैनिक न देकर साप्ताहिक या मासिक आधार पर दी जाती है तो मजदूरों को अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अधिक मात्रा में नकद धनराशि रखनी होगी, फलस्वरूप मुद्रा की चलन की गति मे वृद्धि होगी।

(4) मूल्य अनुमान—यदि भविष्य मे मूल्यों के बढ़ने की सम्भावना हो तो जनता अपनी मुद्रा के बदले में वस्तुएं खरीदना अधिक पसन्द करेगी, जिससे मुद्रा की गति मे वृद्धि होगी। इसके विपरीत यदि मुद्रा संकुचन के कारण मूल्य गिरने की सम्भावना हो तो क्रय-विक्रय क्रियाओं मे कमी हो जाती है, जिससे मुद्रा की चलन गति मे कमी होगी।

(5) राजनैतिक स्थिरता—यदि देश मे राजनैतिक स्थिरता है तथा परस्पर प्रेम, विश्वास व आस्था है तो मुद्रा की चलन गति कम हो जाती है। इसके विपरीत यदि सरकार अस्थायी हो, परस्पर अविश्वास हो तो उधार की प्रथा कम हो जाती है और मुद्रा के चलन की गति भी गिर जाती है।

(6) जमा का हस्तांतरण—यदि धनराशि एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के खाते मे जल्दी-जल्दी हस्तांतरित की जाती है तो गति मे कमी हो जाती है। इसके विपरीत व्यवस्था होने पर गति मे वृद्धि हो जाती है।

(7) उधार सुविधायें—यदि माल को उधार पर प्राप्त करने की सुविधाओं मे वृद्धि हो जाती है तो मुद्रा का उपयोग कम होने से उसकी गति में कमी हो जायेगी। यदि उधार सुविधायें उपलब्ध नहीं हैं तो गति मे वृद्धि हो जायेगी।

(8) जनसंख्या की मात्रा—देश में जनसंख्या घनी व अधिक होने पर मुद्रा एक हाथ से दूसरे हाथ में हस्तांतरित होती रहती है और चलन की गति भी बढ़ जाती है। इसके विपरीत जनसंख्या कम हो जाने पर मुद्रा की चलन गति भी कम हो जाती है।

(9) आर्थिक विकास—यदि आर्थिक दृष्टि से देश विकसित है तो वहां अधिक मात्रा मे विनिमय होगा और मुद्रा की गति मे वृद्धि होगी। इसी प्रकार यदि राष्ट्र अविकसित है तो चलन मुद्रा की गति मे कमी हो जायेगी।

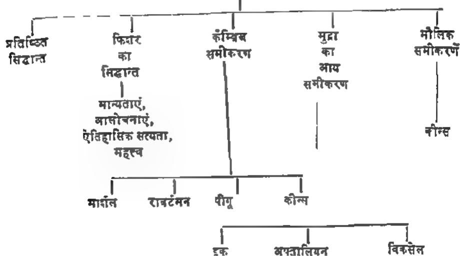
(10) परिवहन के साधन—यदि देश मे परिवहन के उन्नत साधन हैं तो वस्तुओं का विक्रय अधिक होने लगता है, फलस्वरूप मुद्रा की गति बढ़ जाती है। इसके विपरीत परिवहन के साधनों के अभाव में मुद्रा की गति भी गिर जाती है।

(11) द्रवता पसन्दगी—यदि समाज मे नकद में अधिक धन रखने की प्रथा है तो देश में चलन की गति कम होगी। इसके विपरीत यदि कम मात्रा मे नकद धन रखा जाये तो मुद्रा की चलन गति भी अधिक होगी।

8

मुद्रा का परिमाणिक सिद्धान्त

(QUANTITY THEORY OF MONEY)



प्रारम्भिक—प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा के सम्बन्ध में यह धारणा बना ली थी कि मुद्रा की माग सदैव के लिए स्थिर होती है और उसमें परिवर्तन सम्भव नहीं होते। फलस्वरूप मुद्रा की माग किसी भी प्रकार से उसके मूल्य को प्रभावित नहीं कर सकती है। इसके विपरीत यह भी धारणा बना ली गई कि मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन सम्भव हो सकते हैं। इस प्रकार मूल्य निर्धारण में मुद्रा की माग की अपेक्षा मुद्रा की पूर्ति का सक्रिय हाथ रहता है और इसी कारण मुद्रा का मूल्य उसकी मात्रा के आधार पर निर्धारित होता है और इसी सिद्धान्त को उन्होंने 'मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त' के नाम से जाना। इस प्रकार "मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन वस्तुओं एवं सेवाओं को बदले में प्राप्त करने की साधारण योग्यता को प्रभावित करता है।"[1] अतः अन्य वस्तुओं के ऊंचे मूल्य मुद्रा के निम्न विनिमय मूल्य तथा अन्य वस्तुओं का निम्न मूल्य मुद्रा के ऊंचे विनिमय मूल्य को प्रदर्शित करते हैं। अतः कहा जाता है कि मुद्रा का मूल्य सदैव सामान्य मूल्य-स्तर के विपरीत होता है।

मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त सर्वप्रथम 1952 में डेविड ह्यूम (David Hume) द्वारा प्रतिपादित किया गया। इस सिद्धान्त में थोड़े से संशोधन करके इसे 19वीं शताब्दी में अपनाया गया। इस सिद्धान्त द्वारा मूल्य स्तर एवं मुद्रा

1. "A change in the value of money affects our general ability to command goods and services in exchange."—Kurihara Kenneth K. : Monetary Theory and Public Policy, p. 11.

मात्रा के मध्य कारण व परिणाम का सम्बन्ध स्थापित किया गया। परन्तु समय के साथ-साथ यह अनुभव किया गया कि विकासशील समाज मे जनसंख्या की वृद्धि एवं तकनीकी सुधार के साथ-साथ उत्पादन की प्रवृत्ति मे सुधार होता रहता है, फलस्वरूप मुद्रा की गति भी परिवर्तित होती रहती है। इस सिद्धान्त मे मूल्य स्तर एवं मुद्रा मात्रा के परिवर्तनों मे पर्याप्त सीमा तक एक दूसरे से प्रभावित होने का सम्बन्ध बना रहता है।

(1) प्रतिष्ठित सिद्धान्त

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो ने मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त को मौद्रिक सिद्धान्त के रूप मे रखा क्योकि वह मुद्रा को ही विनिमय का साधन मानते थे। इनके अनुसार अन्य वस्तुओं के मूल्यो की भांति मुद्रा का मूल्य भी मुद्रा की पूर्ति या मात्रा से प्रभावित होता है और यह प्रभाव समानुपातिक ढंग से होता है। उनका विचार था कि जब मुद्रा के परिमाण में कमी या वृद्धि होती है तो समाज की सम्पूर्ण मौद्रिक अर्थव्यवस्था में परिवर्तन हो जाता है, और मूल्य स्तर उसी अनुपात में परिवर्तित हो जाता है। मुद्रा का मूल्य सामान्य मूल्य स्तर के विपरीत होने से मुद्रा के परिमाण में वृद्धि होने से मुद्रा का मूल्य उसी अनुपात में कम तथा परिमाण में कमी होने से उसी अनुपात में अधिक हो जाने की सामान्य प्रवृत्ति पाई जाती है जो परिमाण सिद्धान्त की ओर प्रदर्शित होती है।

"मुद्रा की मांग की दशाएं दी हुई हो, तो उसका मूल्य परिमाण के विपरीत दिशा मे बदलता है, अन्य शब्दों मे, मूल्यो का सामान्य स्तर, उपलब्ध मुद्रा के परिमाण के साथ बदलता रहता है।"[1] मुद्रा की माग प्रायः विनिमय कार्यों के लिए होती है और विनिमय कार्य वस्तुओ व सेवाओ के उत्पादन के परिमाण मे निर्धारित किया जाता है। उत्पत्ति के साधनों की कार्यक्षमता के आधार पर उत्पादन की मात्रा का निर्धारण किया जाता है, इस कारण प्रायः मुद्रा की माग को स्थिर ही माना जाता है। इसके विपरीत मुद्रा की पूर्ति का आशय मुद्रा की वास्तविक मात्रा से लगाया जाता है और इसकी गणना करते समय चलन गति को ध्यान मे रखा जाता है। प्रायः मुद्रा की माग स्थिर रहती है इस कारण मुद्रा की पूर्ति मे परिवर्तन ही मूल्यो मे परिवर्तन के लिए जिम्मेदार होते हैं।

यदि समाज मे मौद्रिक आय आकस्मिक ढंग से बढ जाये और वस्तुओ व सेवाओ का परिमाण वही रहे तो सामान्य मूल्य स्तर ऊंचा हो जायेगा। इसके विपरीत यदि मौद्रिक आय मे कोई वृद्धि नही होती है, तो मूल्य स्तर पर भी विपरीत प्रभाव नही पड़ेगा। विनिमय के माध्यम के रूप मे प्रयोग की जाने वाली वस्तुओ मे स्वर्ण धातु का ही प्रमुख महत्व है। इसका प्रमुख कारण है कि यह धातु तुलनात्मक दृष्टि से सीमित मात्रा मे पाई जाती है, इसे बिना हानि छोटे-छोटे भागो मे विभाजित किया जा सकता है तथा विभिन्न टुकड़ो का भार प्रायः समान होता है, उपयोग मे नष्ट नही होती तथा उसका मूल्य भी प्रायः स्थिर बना रहता है।

मुद्रा की मांग के तत्त्व

मुद्रा की मांग को निर्धारित करने वाले प्रमुख तत्त्व निम्नलिखित हैं :—

(1) व्यापार—माल खरीदने एवं बेचने वाले व्यक्तियों को मुद्रा की आवश्यकता होती है।

(2) सट्टे के लिए—समाज के कुछ व्यक्ति सट्टा करने के लिए भी नकद मुद्रा चाहते हैं और इस कार्य के लिए वे मुद्रा की माग करते हैं।

(3) दैनिक लेनदेन—दैनिक लेनदेन करने एवं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी मुद्रा की आवश्यकता होती है।

(4) उद्योग—माल निर्माण करने के लिए भी पूजी की आवश्यकता होती है। विकासशील देशो मे उद्योगो के विकास के लिए अधिक मुद्रा की आवश्यकता होती है।

1. "Given the conditions of demand for money, its value varies inversely as the quantity available or in other words, the general level of prices varies directly as the quantity of money available"—Robertson : Money, p. 32.

परिभाषाएं

मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की प्रमुख परिभाषायें निम्नलिखित हैं—

(1) सेयर्स के अनुसार—"मुद्रा के परिमाण में परिवर्तन होने से मुद्रा का मूल्य विपरीत दिशा में तथा मूल्य-स्तर उसी दिशा में परिवर्तित हो जाता है।"[1]

(2) कैसल के अनुसार—"मुद्रा के विद्यमान परिमाण से एक निश्चित संख्या में भुगतान का प्रदर्शन होता है और मूल्य स्तर उसी के अनुरूप समायोजित होने के लिए बाध्य हो जाता है।"[2]

(3) मिल के अनुसार—"अन्य बातें समान रहने पर मुद्रा का मूल्य उसकी मात्रा के विपरीत दिशा में परिवर्तित होता है, उसकी मात्रा में प्रत्येक वृद्धि से मूल्य में कमी तथा मात्रा में प्रत्येक कमी से मूल्य में आनुपातिक वृद्धि होती है।"[3]

(4) टासिग के अनुसार—"अन्य बातें समान रहने पर मुद्रा का परिमाण दुगुना कर देने पर कीमतें पूर्व की अपेक्षा दुगुनी तथा मुद्रा का मूल्य आधा रह जायेगा। यदि अन्य बातें समान रहने पर मुद्रा का परिमाण आधा कर दिया जाये तो कीमतें पूर्व की अपेक्षा आधी तथा मुद्रा का मूल्य दुगुना हो जायेगा।"[4]

(5) विकसेल के अनुसार—"मुद्रा के मूल्य या क्रय-शक्ति में या उसके परिमाण की तुलना में विपरीत दिशा में परिवर्तन होते हैं, जिससे मुद्रा के परिमाण में वृद्धि या कमी, अन्य बातें समान रहने पर वस्तुओं व सेवाओं के रूप में उसकी क्रय-शक्ति में आनुपातिक कमी या वृद्धि कर देंगे और इस प्रकार सभी वस्तुओं की कीमतों में उसी के अनुरूप वृद्धि या कमी हो जायेगी।"[5]

इस प्रकार स्पष्ट है कि मुद्रा की मात्रा एवं मुद्रा मूल्य में विपरीत सम्बन्ध रहता है तथा मुद्रा के परिमाण में परिवर्तन होने से ही मुद्रा के मूल्य में विपरीत परिवर्तन हो जाते हैं।

परिभाषा की विशेषताएं

मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की परिभाषाओं की प्रमुख विशेषतायें निम्नलिखित हैं—

(1) पूर्ति व मूल्य में सम्बन्ध—मुद्रा की पूर्ति एवं वस्तु मूल्यों में सीधा सम्बन्ध रहता है। यदि मुद्रा की पूर्ति घटा दी जाये तो वस्तु मूल्यों में कमी और यदि मुद्रा की पूर्ति बढ़ा दी जाये तो वस्तु मूल्यों में भी वृद्धि हो जाती है।

(2) अन्य बातें समान रहें—अन्य बातें समान रहने पर ही मुद्रा की पूर्ति एवं मूल्यों में सम्बन्ध स्थापित कर सकेंगे।

(3) विपरीत सम्बन्ध—मुद्रा की पूर्ति एवं मुद्रा के वस्तु मूल्यों में विपरीत सम्बन्ध रहता है। यदि मुद्रा की पूर्ति बढ़ जाती है तो मुद्रा का मूल्य कम और यदि मुद्रा की पूर्ति कम हो जाये तो मुद्रा का मूल्य भी बढ़ जाता है।

1. "The value of money changes inversely and the price level directly to the changes in the quantity of money."—R. S. Sayers.

2. "The existing quantity of money must involve a definite performance of payment to which the level of prices is obliged to adjust itself."—Gustav Cassel: The Theory of Social Economy. p 420.

3. "The value of money, other things being the same, varies inversely as its quantity, every increase in its quantity lowering the value and every diminution raising it, in a ratio exactly equivalent "—J. S. Mill · Principles of Political Economy (1909 edition), p 493.

4. "Double the quantity of money and other things being equal, prices will be twice as high as before and the value of money half Half the quantity of money and other things being equal price will be one half of what they were before and the value of money double."—Taussing: Principles of Economics, Vol. I, p. 250.

5. "The value of purchasing power of money varies in inverse proportion to its quantity, so that an increase or decrease in the quantityof money, other things being equal, will cause a proportionate decrease or increase in its purchasing power in terms of other goods, and thus a corresponding increase or decrease in all Commodity Prices."—Wicksell: Lectures on Political Economy.

(4) आनुपातिक सम्बन्ध—मुद्रा की पूर्ति एवं उसके मूल्य मे आनुपातिक सम्बन्ध रहता है। यदि मुद्रा की पूर्ति दुगुनी कर दी जाये तो उसका मूल्य आधा और मुद्रा की मात्रा आधी हो जाने पर उसका मूल्य भी दुगुना हो जाता है।

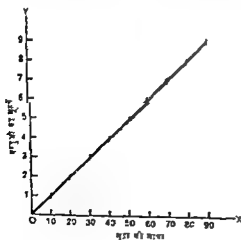
मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त में मुद्रा की माग को कोई महत्त्व न देकर मुद्रा के परिमाण को महत्त्व दिया जाता है। इसके विपरीत वस्तुओ के मूल्य निर्धारण में माग एवं पूर्ति दोनो को ही समान महत्त्व दिया जाता है और दोनो के साम्य की स्थिति पर उसका मूल्य निर्धारित हो जाता है। मिल तथा टॉसिग का यह विचार है कि मुद्रा एवं वस्तुओ मे एक निश्चित सम्बन्ध सदैव बना रहता है।

उदाहरण—इस सिद्धान्त को निम्न उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है—

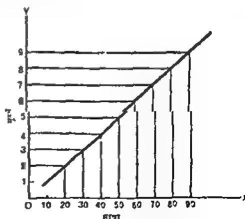
मुद्रा एवं वस्तुओं के मूल्य

वर्ष	मुद्रा की मात्रा (लाख में)	वस्तुओं की मात्रा (लाख में)	प्रति इकाई मूल्य	मुद्रा की एक इकाई का मूल्य
1940	20	10	2	1·00
1945	30	10	3	0 33
1950	40	10	4	0·25
1955	50	10	5	0 20
1960	60	10	6	0·17
1965	70	10	7	0 14
1970	80	10	8	0 12
1975	90	10	9	0 11

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि होने के साथ-साथ उसके मूल्य मे कमी हो जाती है और मुद्रा की मात्रा मे कमी के फलस्वरूप उसके मूल्य में आनुपातिक वृद्धि हो जाती है। इसे चित्र 8·1 व 8 2 द्वारा भी प्रदर्शित किया जा सकता है।



चित्र 8 1



चित्र 8·2

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त समीकरण—इस सिद्धान्त के लिए निम्न समीकरण दिया गया—

(1) सामान्य समीकरण—

$$P = \frac{MV}{T}$$

अथवा

$$PT = MV$$

यहां

P = सामान्य मूल्य स्तर (General Price Level)

T = व्यवसाय की मात्रा (व्यापार) (Volume of Trade)

M = चलन मुद्रा की मात्रा (Quantity of Money in Circulation)

V = मुद्रा की चलन गति (Velocity of Money)

मुद्रा की मांग को PT द्वारा मुद्रा की पूर्ति को MV द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। यहां पर T तथा V को स्थिर मानकर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि मुद्रा के परिमाण (M) में होने वाले परिवर्तन का मूल्य स्तर (P) पर समानुपातिक प्रभाव पड़ता है तथा मुद्रा की मात्रा बढ़ जाने पर सामान्य मूल्य स्तर भी उसी अनुपात में बढ़ जाता है तथा मुद्रा की मात्रा कम हो जाने पर सामान्य मूल्य स्तर भी उसी अनुपात में गिर जाता है।

'अन्य बातें समान रहें' से तात्पर्य

यह सिद्धान्त अन्य बातें समान रहने पर ही क्रियाशील होता है, जो कि निम्नलिखित हैं—

(1) वस्तु विनिमय में परिवर्तन न होना—समाज में विनिमय सम्बन्धी कार्य मुद्रा के अभाव में भी किया जा सकता है और ऐसे वस्तु विनिमय सौदों को व्यवसाय की मात्रा में सम्मिलित नहीं किया जाता। इस सिद्धान्त के लागू होने के लिए यह आवश्यक है कि वस्तु विनिमय की मात्रा एवं व्यवसाय की मात्रा में कोई परिवर्तन न किया जाये।

(2) मुद्रा व साख की गति स्थिर रहना—इस सिद्धान्त के पालन के लिए यह आवश्यक है कि मुद्रा एवं साख की गति में कोई परिवर्तन न हो। चलन की गति की स्थिरता के लिए यह आवश्यक है कि प्रति व्यक्ति उत्पादन, जनसंख्या, रुचि आदि में कोई परिवर्तन न किया जाये।

(3) व्यापार स्थिर रहना—इस सिद्धान्त के लागू करने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि मुद्रा द्वारा किये जाने वाले व्यापार की मात्रा में कोई परिवर्तन न हो।

(4) मुद्रा एवं साख-मुद्रा के अनुपात स्थिर रहना—वर्तमान समय में साख-मुद्रा का महत्व काफी बढ़ गया है और इसकी मात्रा में कमी या वृद्धि होने पर मुद्रा की मात्रा पर भी प्रभाव पड़ता है। साख मुद्रा का प्रचलन बैंकों द्वारा किया जाता है जो उनके नकद कोषों के आधार पर निर्भर करता है। चलन में मुद्रा की मात्रा के बढ़ने से बैंकों में अधिक धन जमा किया जाता है तथा साख मुद्रा में भी वृद्धि हो जाती है अतः इस सिद्धान्त के लागू होने के लिए आवश्यक है कि मुद्रा एवं साख मुद्रा के अनुपात में कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिए।

(5) मुद्रा का संचय न होना—यह माना गया है कि जितने भी नोट व सिक्के चलन में हों वे सब चलन में मौजूद हैं और उन्हें संचय करके नहीं रखा गया है।

इन समस्त बातों का वास्तविक जगत में पाया जाना कठिन होने से यह समस्त बातें भी अवास्तविक मानी जाती हैं।

(2) फिशर का सिद्धान्त

प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने वस्तुओं की मात्रा एवं वस्तुओं के मूल्य का सम्बन्ध मुद्रा की मात्रा से ही जोड़ा था और उन्होंने मुद्रा की चलन गति को बिलकुल ही भुला दिया। बाद के अर्थशास्त्रियों ने इस सिद्धान्त में गति को भी सम्मिलित किया। किन्तु उसमें भी अपूर्णता बनी रही क्योंकि उसमें साख की मात्रा एवं साख की गति को सम्मिलित नहीं किया गया था, जिसका वर्तमान अर्थव्यवस्था में काफी महत्व बढ़ गया है। इस दोष को प्रो० इर्विंग फिशर ने दूर किया और उन्होंने

मुद्रा एवं साख की मात्रा के अतिरिक्त उसकी चलन गति पर भी ध्यान दिया और इस सिद्धान्त को निम्न समीकरण के रूप में रखा—

$$P = \frac{MV + M'V'}{T} \text{ अथवा}$$

$$PT = MV + M'V'$$

यहा पर—

P=सामान्य मूल्य स्तर

M=प्रचलित मुद्रा की मात्रा

V=प्रचलित चलन मुद्रा की गति।

M'=साख मुद्रा की मात्रा।

V'=साख मुद्रा की चलन गति।

T=व्यापार की कुल मात्रा।

उपर्युक्त समीकरण द्वारा मुद्रा एवं सामान्य मूल्य स्तर के मध्य के सम्बन्ध ज्ञात करने का एक उपयोगी साधन है। इस सिद्धान्त को निम्न उदाहरण द्वारा अधिक स्पष्ट किया जा सकता है—

माना—

M=2000 V=8

M'=1000 V'=4 T=4000

अब समीकरण का प्रयोग करने पर—

$$P = \frac{MV + M'V'}{T}$$

$$P = \frac{(2000 \times 8) + (1000 \times 4)}{4000}$$

$$= \frac{16{,}000 + 4000}{4000} = \frac{20{,}000}{4000}$$

$$= 5 \cdot 0$$

इस प्रकार एक वस्तु की एक इकाई का मूल्य 5 0 रुपये होगा। इसी प्रकार मुद्रा की एक इकाई का मूल्य ज्ञात करने के लिए 1/5 0 अर्थात् 0·2 वस्तुए होगा।

फिशर समीकरण की मान्यतायें

फिशर की मान्यतायें निम्न प्रकार हैं—

(1) साख मुद्रा की मात्रा का स्थिर रहना—फिशर की यह मान्यता है कि एक निश्चित समयावधि मे समाज मे साख मुद्रा की मात्रा प्राय स्थिर रहती है और इसमें कोई परिवर्तन नहीं होता।

(2) व्यापार की मात्रा मे परिवर्तन न होना—अल्पकाल मे व्यापार की मात्रा मे कोई परिवर्तन नही होते, ऐसी धारणा या मान्यता है, क्योंकि व्यापार की मात्रा उत्पादन के परिमाण, प्राकृतिक साधन आदि पर निर्भर करती है।

( ) मूल्य स्तर अप्रभावशील—इस सिद्धान्त मे मूल्य स्तर एक निष्क्रिय घटक है और यह बात अन्य घटकों से प्रभावित होती है, लेकिन स्वयं उनको निर्धारण नही करता।

(4) चलन गति का स्थिर रहना—मुद्रा की गति एक औसत दर है जो मुद्रा की मात्रा पर निर्भर न होकर जनता के स्वभाव, देश के आर्थिक विकास, बैंकिंग सुविधा आदि पर निर्भर करती है। दीर्घकाल मे इन वस्तुओं मे कोई परिवर्तन नही होता फलस्वरूप चलन गति स्थिर रहती है। यही नियम साख मुद्रा के सम्बन्ध मे चलन गति के लिए लागू होते हैं।

(5) वस्तु विनिमय का अप्रचलन होना—पिछड़ी अर्थव्यवस्था मे वस्तु विनिमय अब भी विद्यमान है, परन्तु सिद्धान्त में यह माना गया है कि वस्तु-विनिमय प्रथा प्रचलित नहीं है। यदि वस्तु-विनिमय है भी तो उसकी मात्रा को स्थिर

माना गया है। अतः यह सिद्धान्त वस्तु-विनिमय की उपस्थिति तथा परिवर्तन को महत्व नहीं देता।

(6) साख-पत्र की समान मात्रा—इस सिद्धान्त में यह माना गया है कि साख-पत्रों की मात्रा समान रहनी चाहिए। परन्तु व्यवहार में साख-पत्रों को मुद्रा का ही एक अंग माना गया है।

इस प्रकार फिशर ने समस्त तत्वों को स्थिर माना, परन्तु व्यवहार में यह सिद्धान्त लागू नहीं होता।

मुद्रा की गति को प्रभावित करने वाले तत्व
(Factors Affecting Velocity of Circulation)

मुद्रा की गति भी स्वतंत्र न होकर निम्न तत्वों से प्रभावित होती है—

(1) मुद्रा की मात्रा—मुद्रा की मात्रा अधिक होने पर मुद्रा की गति कम होगी क्योंकि मुद्रा को बार-बार भुगतान के काम में लेने की आवश्यकता नहीं होती। इसी प्रकार मुद्रा की मात्रा कम होने पर गति अधिक हो जाती है।

(2) मजदूरी भुगतान की अवधि—यदि मजदूरी का भुगतान साप्ताहिक या दैनिक होता है तो मुद्रा की गति तीव्र होती है। यदि वेतन मासिक मिलता है तो गति प्रायः कम हो जाती है।

(3) उधार की सुविधायें—जहां उधार लेनदेन की प्रथा अधिक हो वहां पर गति कम होती है। मुद्रा की गति पर उधार की अवधि का भी प्रभाव पड़ता है। यदि लम्बी अवधि के लिए उधार देने की प्रथा हो तो मुद्रा की गति कम हो जाती है।

(4) मूल्य स्थायित्व—मूल्यों में स्थायित्व होने पर लेनदेन ठीक चलता है, परन्तु मूल्यों में निरन्तर उतार चढ़ाव होने पर लेनदेन की गति तीव्र हो जाती है और कभी-कभी मूल्य बढ़ने की आशंका से और भी बढ़ जाती है।

(5) देश का आर्थिक विकास—तीव्र आर्थिक विकास वाले देश में लेनदेन का क्रय तीव्र होने से गति अधिक होती है।

(6) संचार व्यवस्था—देश में संचार व्यवस्था उत्तम होने पर मुद्रा की गति अधिक होती है और व्यापार की मात्रा बढ़ जाती है।

(7) उपभोग क्रम—जनता में धन बचाने की आदत होने पर मुद्रा की गति कम हो जाती है क्योंकि लोग मुद्रा को शीघ्र ही वस्तुओं में बदल लेते हैं।

(8) भुगतान विधि—देश में भुगतान नकदी में होने पर मुद्रा की गति अधिक होगी। देश में बैंकिंग का विकास होने पर मुद्रा की गति प्रायः कम हो जाती है।

(9) ऋण की सुविधायें—ऋण की सुविधाएं होने पर मुद्रा की गति कम हो जाती है।

(10) राजनैतिक शान्ति—देश में शान्ति, प्रेम, विश्वास होने पर मुद्रा की चलन गति कम हो जाती है।

(11) क्रय की किस्म—उधार क्रय की प्रथा होने पर मुद्रा की चलन गति कम हो जाती है।

(12) इच्छता सम्पत्ती—व्यक्ति द्वारा अपने दैनिक कार्यों के लिए अधिक धन रखने पर मुद्रा की चलन गति कम हो जाती है।

(13) जनसंख्या का घनत्व—देश में जनसंख्या अधिक होने पर चलन गति अधिक होगी, और जनसंख्या कम होने पर गति कम होगी।

(14) उधार की पूर्ति—भावी भुगतान लम्बी अवधि का हो और भुगतान बड़ी मात्रा में हो तो चलन गति कम होगी। छोटी मात्रा में बार-बार भुगतान करने पर गति अधिक होगी।

सिद्धान्त की आलोचनाएं (Criticism of Theory)

सरल एवं विस्तार सहित स्पष्ट किये जाने के उपरान्त भी इस सिद्धान्त की कटु आलोचना की गई, प्रमुख आलोचनाएं निम्न प्रकार रखी जा सकती हैं—

(1) मुद्रा एवं मूल्य का गलत सम्बन्ध—इस सिद्धान्त का पालन मन्दी काल में नहीं हो पाता। मन्दी के समय में यदि मौद्रिक अधिकारी अधिक मात्रा में मुद्रा की मात्रा चलन में छोड़ देता है तो भी मूल्यों में वृद्धि नहीं हो पाती बल्कि

इसके विपरीत मूल्यों मे गिरावट आने लगती है, जबकि इस सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा का परिमाण बढ़ने पर मूल्यों मे वृद्धि होनी चाहिए थी।

(2) समीकरण मे असंगतियां—समीकरण में MV मे अतुलनीय घटकों को परस्पर गुणा करने की असंगति पाई जाती है क्योंकि M का सम्बन्ध समय से तथा V का सम्बन्ध मुद्रा मे होने वाले परिवर्तन से लगाया जाता है।

(3) अवास्तविक मान्यतायें—समीकरण मे कुछ बातों को सर्वथा अपरिवर्तनशील एव स्वतन्त्र माना गया है, जबकि वास्तविक जीवन मे यह सम्भव नही होता। इस सम्बन्ध मे निम्न तर्क महत्त्वपूर्ण हैं—

(i) मुद्रा की गति—मूल्यों मे निरन्तर वृद्धि होने पर गति मे भी वृद्धि हो जाने की सम्भावना बनी रहती है। इसके विपरीत मूल्यो मे कमी हो जाने पर उनके मूल्य और अधिक गिरने की सम्भावना बन जाती है। इससे मुद्रा की गति मे शिथिलता आ जाती है। उदाहरणार्थ, 1923 मे जर्मनी का मुद्रा प्रसार तथा 1930 की विश्व मन्दी मे मुद्रा की गति मे शिथिलता आई, जबकि जनता मुद्रा प्रसार मे मूल्यो के बढ़ने तथा मन्दीकाल मे मूल्यो के गिरने की आशंका से भयभीत रहती थी।

(ii) व्यवसाय का स्वतन्त्र न रहना—फिशर यह मानकर चलते हैं कि व्यवसाय एक स्वतंत्र प्रक्रिया है और मूल्य स्तर से उसका कोई भी सम्बन्ध नही होता। परन्तु वास्तव मे ऐसा नहीं है, क्योंकि मूल्यों मे वृद्धि होने पर व्यवसाय मे वृद्धि होती है तथा मन्दी की स्थिति मे मूल्य गिरने लगते हैं तथा मुद्रा की गति कम हो जाती है।

(iii) मुद्रा एवं गति का स्वतन्त्र न होना—समीकरण में यह माना गया है कि मुद्रा एवं गति दोनो ही स्वतंत्र हैं। परन्तु वास्तव मे मुद्रा की मात्रा बढ़ने पर उसकी गति कम हो जाती है और मात्रा कम होने पर गति बढ़ जाती है। विकासशील अर्थव्यवस्था मे फिशर की धारणा गलत सिद्ध हो जाती है क्योंकि वहा पर मुद्रा स्फीति के प्रभाव के कारण मुद्रा की गति मे तीव्रता से वृद्धि होती है और मूल्यो मे भी वृद्धि हो जाती है। विकसित राष्ट्रों मे मुद्रा की गति पर विशेष प्रभाव नही पड़ पाता।

(4) मूल्यो मे परिवर्तन की व्याख्या करने में असमर्थ—यह सिद्धान्त सापेक्षिक मूल्यो मे मौद्रिक कारणो से होने वाले परिवर्तनो का अध्ययन करने मे असमर्थ रहता है।

(5) अमौद्रिक घटकों का प्रभाव—सिद्धान्त में यह माना गया है कि मूल्यों पर मुद्रा की मात्रा का ही प्रभाव पड़ता है, वास्तव मे यह सही नही है क्योंकि इसके अतिरिक्त अन्य बातों का भी प्रभाव मुद्रा के मूल्य पर पड़ता है जैसे राजनैतिक अशान्ति, बाढ़ की परिस्थिति, मानसून की असफलता आदि के समय मूल्यों में वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार यह समीकरण मूल्यों के उतार-चढ़ाव का सही विश्लेषण नहीं कर पाता।

(6) मूल्य सचय को महत्व न देना—इस समीकरण मे मुद्रा को केवल विनिमय का माध्यम ही माना गया है और मूल्य सचय के महत्त्व को सर्वथा भुला दिया गया है। वास्तविक जगत मे मुद्रा का उपयोग आवश्यकता की वस्तुओं की सन्तुष्टि के अतिरिक्त सावधानी एवं सट्टे के कार्यों के लिए भी होता है।

(7) परिवर्तित परिस्थितियां—यह सिद्धान्त केवल स्थिर अवस्था वाली परिस्थितियों मे लागू होता है जहा अन्य समस्त बातें समान या स्थिर रहती हैं परन्तु वास्तविक जगत स्थिर न होकर परिवर्तनशील है और समयानुसार परिस्थितियों में परिवर्तन होता रहता है जिसे इस सिद्धान्त में स्पष्ट नही किया गया है।

(8) मांग व पूर्ति नियम की उपेक्षा—सिद्धान्त में केवल मुद्रा की पूर्ति पर ही ध्यान दिया गया है तथा माग पक्ष को बिल्कुल ही भुला दिया गया है। अन्य वस्तुओं की भांति मुद्रा का मूल्य भी उसकी माग एव पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों द्वारा ही निर्धारित होता है।

(9) युद्धकालीन परिस्थिति में लागू न होना—युद्धकालीन परिस्थितियों में जबकि मुद्रा स्फीति का सहारा लिया जाता है, उस समय उत्पादन की मात्रा में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि के साथ-साथ वृद्धि होती रहती है परन्तु अवस्फीति के समय जब मुद्रा की मात्रा को कम किया जाता है तो मूल्यों में आनुपातिक वृद्धि या कमी नहीं हो पाती।

(10) परिवर्तन के कारणों की उपेक्षा—इस सिद्धान्त मे यह नहीं बताया गया कि मूल्य स्तर मे परिवर्तन किन कारणों से होता है। इस प्रकार मूल्य मे होने वाले परिवर्तनों की उपेक्षा की जाती है।

(11) सेवाओं के भुगतान को भुला देना—इस सिद्धान्त मे वस्तुओं के मूल्यो के परिवर्तनो को ध्यान में रखा गया है, परन्तु सेवाओं के लिए जो भुगतान नकद या साख के रूप मे किये जाते हैं, उन्हें भुला दिया गया है।

(12) नकद जमा व बचत जमा के अन्तर को भुलाना—इस सिद्धान्त में नकद जमा एवं बचत जमा के अन्तर को स्वीकार नहीं किया गया तथा अधिविकर्ष एवं अन्य बैंकिंग सुविधाओं को एकदम भुला दिया गया है। इस प्रकार यह एक स्पष्ट सिद्धान्त नहीं है और इस पर पूर्ण विश्वास नहीं किया जा सकता।

(13) अनुमान लगाना कठिन—समीकरण में जितनी बातें दी गई हैं, उनका ठीक-ठीक अनुमान लगाना भी बहुत कठिन है क्योंकि चलन में कितनी मुद्रा है उसकी क्या गति है, साख मुद्रा एवं उसकी गति तथा व्यवसाय की मात्रा आदि का पता लगाना सहज कार्य नहीं है। यह केवल कल्पना मात्र पर ही आधारित होते हैं, जिससे निष्कर्ष भ्रमात्मक तथा अशुद्ध निकल सकते हैं। इस प्रकार फिशर का समीकरण एक गणितीय विवेचन मात्र है और वह वस्तु की प्रति इकाई मूल्य निर्धारित करने में असमर्थ है।

(14) मूल्यों पर बाह्य प्रभाव—वर्तमान समय में एक राष्ट्र में वस्तुओं के मूल्य अन्य देशों के मूल्यों से प्रभावित होते हैं। प्रत्येक राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में बाजार प्राप्त करने के प्रयास करता है तथा अपने मूल्यों को तुलनात्मक आधार पर निश्चित करता है। ऐसी स्थिति में फिशर की यह मान्यता कि मूल्य स्तर सदैव मुद्रा की मात्रा से प्रभावित होते हैं, सही नहीं है।

(15) व्यापार चक्र का प्रभाव—समीकरण में मुद्रा की पूर्ति को ही मूल्य का निर्धारक तत्व माना गया है परन्तु व्यापार चक्र की स्थिति में मुद्रा की पूर्ति प्रायः प्रभावहीन होती है। उदाहरण के लिए तेजी काल में सरकार द्वारा चाहे कितनी ही मात्रा में मुद्रा का संकुचन क्यों न किया जाये, फिर भी देश में वस्तुओं के मूल्यों में कमी नहीं हो पाती। इसी प्रकार मन्दी के समय में चाहे कितनी ही मुद्रा की मात्रा में वृद्धि कर दी जाये, परन्तु वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि सम्भव नहीं हो पाती। 1934 में अमरीका में सरकार द्वारा चलन में अधिक मुद्रा लायी गई परन्तु जनता द्वारा इसे स्वीकार नहीं किया गया।

(16) दीर्घकालीन महत्व—यह सिद्धान्त अल्पकाल के स्थान पर दीर्घकाल में भली प्रकार लागू होता है क्योंकि अल्पकाल में मुद्रा की मात्रा, गति आदि बातों का सही-सही अनुमान लगाना सम्भव नहीं है, जबकि मनुष्य को अल्पकाल में ही अधिक कष्ट उठाने पड़ते हैं और दीर्घकाल में तो वह सामना करने का आदी हो जाता है। इस प्रकार यह सिद्धान्त अल्पकालीन एवं दैनिक मानवीय क्रियाओं के प्रभाव की उपेक्षा कर देता है।

परिमाण समीकरण की ऐतिहासिक मान्यता

फिशर का समीकरण अनेक दोषों से पूर्ण होते हुए भी कुछ ऐतिहासिक तथ्यों की ओर संकेत करता है जो इसकी सत्यता का प्रमाण देते हैं। यह तथ्य निम्नलिखित हैं—

(1) मन्दीकाल—1929 तथा बाद के वर्षों में समस्त राष्ट्रों में मन्दी का दौर आया जिससे मुद्रा संकुचन के परिणामस्वरूप मूल्यों में तीव्र गति से कमी आयी।

(2) धातु मुद्रा का प्रभाव—19वीं शताब्दी में ऑस्ट्रेलिया, अमरीका, दक्षिणी अफ्रीका आदि में सोने एवं चांदी *की अनेक खानें खोजी गयीं। इनसे प्राप्त सोना एवं चांदी विदेशों को निर्यात किया गया जिसकी मुद्राएं बनकर सभी देशों में* मूल्यों में वृद्धि हुई।

(3) युद्धकालीन स्फीति—दूसरे विश्वयुद्ध काल में अनेक देशों में कागजी मुद्रा की मात्रा में बहुत वृद्धि होने से मूल्यों में भी बहुत वृद्धि हुई। भारत में तो स्फीति का प्रभाव रुपये की आन्तरिक एवं विदेशी दर पर पड़ा जिससे रुपये का दो बार 1949 व 1966 में अवमूल्यन किया गया।

फिशर के सिद्धान्त का महत्व

अनेक कमियां होने के उपरान्त भी फिशर का सिद्धान्त ऐतिहासिक महत्व की ओर ध्यान दिलाता है। इस सम्बन्ध में निम्न तर्क दिये जा सकते हैं—

(1) खानों की खोज—19 वीं शताब्दी में दक्षिणी अफ्रीका, ऑस्ट्रेलिया अमरीका आदि राष्ट्रों में स्वर्ण या चांदी की नवीन खानों की खोज की गई और प्राप्त धातु को अन्य राष्ट्रों को निर्यात किया गया, जिससे मुद्रा स्फीति हुई एवं वस्तु के

मूल्यों में भी वृद्धि हुई जो इस सिद्धान्त की सत्यता को प्रदर्शित करता है।

(2) युद्धकालीन परिस्थितियां—प्रथम व द्वितीय विश्वयुद्ध काल में प्रायः सभी राष्ट्रों में कागजी मुद्रा की मात्रा में पर्याप्त वृद्धि हुई जिसके फलस्वरूप मूल्यों में वृद्धि हो हुई। भारत में योजना काल में मुद्रा प्रसार के कारण मूल्यों में वृद्धि हुई।

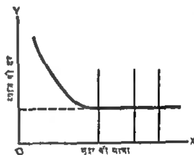
(3) मन्दी काल—1929 एवं उसके बाद के वर्षों में मुद्रा सकुचन के कारण समस्त राष्ट्रों में मन्दी की स्थिति उत्पन्न हो गई, फलस्वरूप वस्तुओं के मूल्यों में भारी गिरावट इस सिद्धान्त की सत्यता को प्रदर्शित करती है।

(4) वर्तमान युग—वर्तमान समय में भी मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त सत्य सिद्ध होता है। वर्तमान में मुद्रा एवं साख की मात्रा में वृद्धि के कारण मूल्य स्तर में वृद्धि होती जा रही है जिस पर सरकार द्वारा उचित नियन्त्रण लगाने के प्रयास किये जाते हैं।

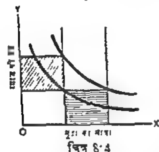
इस प्रकार स्पष्ट है कि फिशर का सिद्धान्त कुछ मौलिक तथ्यों की अवहेलना करने के उपरान्त भी सत्यता की ओर ध्यान दिलाता है और इसी कारण प्रत्येक राष्ट्र मुद्रा की मात्रा को सीमित करके आर्थिक प्रगति के प्रयास में लगा हुआ है।

मुद्रा की मात्रा का माग से सम्बन्ध

मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने पर कुल माग में वृद्धि होना तीन बातों पर निर्भर करेगा—उपभोग प्रवृत्ति, विनियोग प्रवृत्ति एवं तरलता पसन्दगी। यदि यह तीनों तत्व स्थिर हो तो मुद्रा में वृद्धि होने पर प्रभावपूर्ण माग नही बढ़ेगी, यदि नकदी की मांग पूर्णतया लोचदार है या विनियोग प्रवृत्ति पूर्णतया ब्याज सापेक्ष है। यदि नकदी की माग पूर्णतया ब्याज सापेक्ष है तो खुले बाजार की क्रियाओं द्वारा प्रतिभूतियों के क्रय करने पर भी ब्याज दर में कोई परिवर्तन नही होगा जैसा कि चित्र 8 3 में दिखाया गया है।



चित्र 8 3



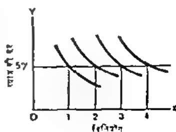
चित्र 8·4

यदि नकदी की माग ब्याज दर के सम्बन्ध में अधिक लोचदार नही है तो खुले बाजार की क्रियाओं द्वारा मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने से ब्याज की दर में कमी आ सकती है जैसा कि चित्र 8 4 में दिखाया गया है।

चित्र में ब्याज दर गिरने पर भी विनियोग में वृद्धि होना आवश्यक नही माना है।

पूँजी की सीमान्त उत्पादकता तीव्र गति से बढ़ने पर, ब्याज की बढ़ती हुई दर भी उद्योगपति को अधिक विनियोग करने से नही रोक पाती जैसा कि चित्र 8·5 में स्पष्ट है।

ब्याज दर 5% स्थिर होने पर भी सीमान्त उत्पादकता बढ़ाने पर विनियोग भी बढ़कर 1, 2, 3, 4 हो जाता है।



चित्र 8·5

(3) कैम्ब्रिज समीकरण
(Cambridge Equation)

कैम्ब्रिज समीकरण को कैम्ब्रिज के प्रसिद्ध अर्थशास्त्रियों के नाम के साथ जोड़ा जाता है जिनमें मार्शल, कीन्स, पीगू एवं राबर्टसन के नाम उल्लेखनीय हैं। इसमें मुद्रा के मूल्य संचय कार्य को अधिक महत्व दिया गया है। यह समीकरण इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करता है कि समाज में रहने वाले व्यक्ति अपनी आय का कुछ भाग नकदी में अपनी भावी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु बचाकर अवश्य रखते हैं। इस प्रकार इस समीकरण में व्यक्तियों के नकदी अधिमान (liquidity preference) को अधिक महत्व दिया जाता है। मार्शल के शब्दों में इसे निम्न शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है।

"समाज की प्रत्येक अवस्था में जनता अपनी आय का कुछ भाग द्रव्य के रूप में संचय करना पसन्द करती है, जो कुल आय का पाँचवाँ, दसवाँ और बीसवाँ हिस्सा हो सकता है। साधनों को बड़े पैमाने पर मुद्रा में रखने से एक ओर तो लोगों को व्यवसाय करने का कार्य अधिक सरल एवं सुविधाजनक हो जाता है तथा दूसरी ओर सौदा करने की शक्ति में भी वृद्धि हो जाती है, परन्तु दूसरी ओर ऐसा करने से साधन उस आय से वंचित हो जाते हैं जो विनियोग करने से प्राप्त होती जैसे अतिरिक्त उपस्कर या मौद्रिक आय या अतिरिक्त मशीनरी या पशु के रूप में विनियोजित राशि। अपनी आय को मुद्रा के रूप में संचित करने का निर्णय करते समय मनुष्य सदैव मुद्रा द्वारा प्राप्त होने वाली सुविधा की तुलना उस हानि से करता है जो उसे आय तथा धन को एकत्रित करने से प्राप्त नहीं होती।"[1]

सिद्धान्त की प्रमुख बातें

इस सिद्धान्त की प्रमुख बातें निम्नलिखित हैं —

(1) मुद्रा पसन्दगी—मनुष्य अपनी आय को द्रव्य के रूप रखना अधिक पसन्द करते हैं क्योंकि उसे शीघ्रता से प्राप्त किया जा सकता है तथा बदले में किसी भी वस्तु को प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार मुद्रा की माँग पर मुद्रा पसन्दगी का भी अधिक प्रभाव पड़ता था।

(2) मुद्रा की माँग—मुद्रा का स्वयं कोई महत्व नहीं है परन्तु उसे विनिमय के रूप में प्रयोग किया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आय का एक भाग दैनिक व्ययों को पूरा करने के लिए नकद रूप में रखना चाहता है जिससे समाज में मुद्रा की माँग में वृद्धि हो जाती है।

(3) अन्य बातों का प्रभाव पड़ना—वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाने पर जनता अपने पास नकद कोष रखना पसन्द करती है। धन का वितरण समान हो जाने पर मुद्रा की माँग बढ़ जाती है। समाज में साख मुद्रा का प्रयोग बढ़ने से लोग अपने पास नकद मुद्रा कम से कम मात्रा में रखना पसन्द करते हैं। मुद्रा की गति कम हो जाने पर मुद्रा की माँग बढ़ जाती है। आय प्राप्त होने तथा व्यय करने में जितना अधिक समय लगेगा, उतनी ही अधिक मात्रा में द्रव्य को अपने पास रखने की आवश्यकता बढ़ेगी। देश में जनसंख्या में वृद्धि हो जाने पर मुद्रा की माँग में वृद्धि एवं कमी हो जाने पर माँग में कमी हो जाती है। मन्दी काल में लोग रुपये को व्यापार में लगाने के स्थान पर अपने पास रखना अधिक पसन्द करते हैं। इसके विपरीत तेजी काल में उधार रुपये लेकर भी व्यवसाय में लगाने के प्रयास किये जाते हैं।

1. "In every state of society there is some fraction of their income which people find it worthwhile to keep in the form of currency, it may be a fifth or a tenth or a twentieth. A large command of resources in the form of currency renders their business easy and smooth and put them at an advantage in bargaining, but on the other hand it locks up in a barren form resource that might yield an income, or gratification if invested, say, in extra furniture; or money income, if invested in extra machinery or cattle. A man fixes the appropriate fraction after balancing one against another the advantages of a further ready command and the advantages of putting more of his resources into a form in which they yield him no direct income or other benefit"—Marshal l. Money, Credit and Commerce, 1 IV 3.

इस प्रकार केम्ब्रिज समीकरण में मुद्रा की मात्रा के स्थान पर मुद्रा की माग को अधिक महत्व दिया गया है।

मुद्रा की मांग

समाज मे मुद्रा की माग निम्नलिखित बातो से प्रभावित होती है

(1) मूल्य—समाज मे वस्तुओं व सेवाओं के मूल्य ऊंचे होने पर मुद्रा की माग अधिक हो जाती है अन्यथा मुद्रा की माग कम रहती है।

(2) राष्ट्रीय आय का वितरण—आय का समान वितरण मुद्रा की माग को बढा देता है। आय का वितरण विषमतापूर्ण होने पर निर्धन वर्ग की आय कम होकर मुद्रा की माग भी कम हो जाती है।

(3) जनसंख्या में वृद्धि—जनसख्या मे वृद्धि होने से वस्तुओं की मांग बढ़ेगी और उससे मुद्रा की माग बढ जायेगी।

(4) आय की अवधि—जनता की आय नियमित होने पर मुद्रा की माग कम हो जाती है। आय प्राप्ति की लम्बी अवधि होने पर मुद्रा की माग अधिक और अवधि कम होने पर मुद्रा की माग कम होगी।

(5) आर्थिक उन्नति—देश मे आर्थिक विकास की गति सन्तोषप्रद होने पर मुद्रा की माग अधिक होगी। आर्थिक विकास की गति शिथिल होने पर मुद्रा की माग भी कम हो जायेगी।

कैम्ब्रिज सिद्धान्त के समीकरण

इस सिद्धान्त को विभिन्न समीकरणों के रूप में रखा गया, जिनका वर्णन निम्न प्रकार है—

(1) मार्शल का समीकरण—मार्शल की यह धारणा थी कि समाज मे व्यक्ति अपनी आय का कुछ भाग नकद ही रखना पसन्द करते हैं और यही नकद राशि देश में प्रचलित कुल मुद्रा के मूल्य को प्रदर्शित करती है। इस प्रकार मुद्रा की माग की जाने वाली मात्रा का कुल वार्षिक आय एव सम्पत्ति की मात्रा से एक स्थिर अनुपात मे एक सम्बन्ध होता है। इसे समझाने के लिए एक समीकरण दिया गया जो कि निम्न प्रकार है—

$$M = Ky + K'A$$

यहा—

M = कुल चलन की मुद्रा

y = कुल वार्षिक आय

K = वार्षिक आय का वह भाग जो जनता नकद मे अपने पास रखना चाहती है।

K' = जनता की सम्पत्ति का वह भाग जिसे जनता नकद मे रखना चाहती है।

A = सम्पत्ति का कुल मूल्य।

उपरोक्त समीकरण में आय भाग एव सम्पत्ति भाग दो पृथक्-पृथक् दिखाये गये। जनता जो भाग सम्पत्ति के रूप मे निर्माण करती है उसे भी वह समय-समय पर व्यय करना चाहती है और इसी कारण उसका कुछ भाग नकद के रूप में रखना चाहती है परन्तु व्यवहार मे यह पाया गया है कि लोग अपनी आय का एक भाग ही उपभोग में व्यय कर पाते हैं। मार्शल के पश्चात् उनके समर्थकों ने समीकरण मे से सम्पत्ति वाले भाग को अनावश्यक समझकर भुला दिया और उस समीकरण को निम्न रूप में रखा गया—

$$M = Ky$$

इसी समीकरण को मुद्रा के मूल्य के रूप मे व्यक्त करने पर इस प्रकार लिखेंगे—

$$M = PKy \quad \text{अथवा}$$

$$P = \frac{Ky}{M}$$

परन्तु कीन्स ने अपने सिद्धान्त मे यह माना है कि पूर्ण रोजगार की अवस्था से पूर्व मुद्रा पूर्ति मे वृद्धि के कारण उत्पादन मे वृद्धि होती है। देश मे बेरोजगारी का अस्तित्व रहने पर रोजगार की मात्रा मे परिवर्तन मुद्रा की मात्रा के

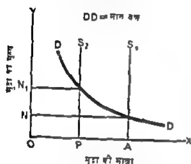
K=वास्तविक आय का वह भाग जो मुद्रा के रूप मे रखा जाता है।
M=मुद्रा की इकाइयों की समस्त मात्रा।
P=सामान्य मूल्य स्तर।

इसी समीकरण मे पीगू ने साख मुद्रा को भी सम्मिलित किया और नवीन समीकरण को निम्न प्रकार रखा—

$$P=\frac{M}{KR}[c+h(1-c)]$$

यहा—
c=कुल मुद्रा का वह अश जो नकद मे रखा जाता है।
1—c=कुल मुद्रा का वह भाग जो बैंकों मे जमा किया जाता है।
h=बैंकों मे जमा का वह भाग जो नकद रूप मे रखा जाता है।

मुद्रा की माग वक्र आयताकार हारवरबोला (क्रय शक्ति को मुद्रा की मात्रा से गुणा करने पर गुणनफल समान रहे) होता है इसलिए x अक्ष y अक्ष के समीप तक पहुच जाता है, परन्तु उसे कभी छू नही सकता जैसा कि चित्र 8·7 मे बताया गया है —



चित्र 8 7

मुद्रा की मात्रा दुगुनी कर देने पर मुद्रा का मूल्य आधा रह जाता है। इस प्रकार मुद्रा का मूल्य मुद्रा की मात्रा का फलन है। अत. मुद्रा की मात्रा मे परिवर्तन होने से मूल्य स्तर मे सीधे व अनुपाती परिवर्तन हो जाते हैं। चित्र 8 7 मे D D माग वक्र है जो नीचे की ओर गिरता हुआ है। S_1 व S_2 पूर्ति वक्र हैं। चित्र 8 7 से स्पष्ट है कि मुद्रा की पूर्ति OP से बढकर OA होने पर मूल्य AN_1 से घटकर AN रह जाता है। चूकि माग वक्र आयताकार हाइपरबोला है अत मुद्रा के मूल्य मे ये परिवर्तन एक ही अनुपात मे हुए हैं।

व्यवहार मे साख मुद्रा को ही मुद्रा मे ही सम्मिलित करके इसके सरल रूप अर्थात् $P=\frac{M}{KR}$ को ही प्रयोग किया जाता है। पीगू ने K, R, c तथा h को स्थिर माना है, इससे सरल समीकरण को रखना ही अधिक उचित माना जाता है।

उदाहरण—माना—
(i) देश की राष्ट्रीय आय or R=400 करोड़ रुपये
(ii) देश मे प्रचलित मुद्रा की मात्रा or M=120 करोड़ रुपये
(iii) जनता द्वारा रखा गया नकद कोष or K=80 करोड रुपये।
(प्रतिशत मे)

इसलिए, वस्तु की प्रति इकाई मूल्य $=P=\frac{M}{KR}$

$$=\frac{120}{400\times\frac{80}{100}}=\frac{120}{320}$$

$$=0·37 \text{ रुपये}$$

मुद्रा की प्रति इकाई का मूल्य $=P=\frac{KR}{M}$

or

$$P=\frac{400\times\frac{80}{100}}{120}=\frac{320}{120}$$

$$=2·67$$

मुख्य बातें—पीगू के समीकरण की प्रमुख बातें निम्न हैं—

(i) मुद्रा की मांग केवल व्यावसायिक कार्यों के लिए ही नहीं होती, वरन् जनता की संचय करने की इच्छा पर भी निर्भर करती है।

(ii) तेजी के समय जनता अपनी आय को नवीन व्यवसायों में लगाकर मुद्रा की पूर्ति को बढ़ा देती है, जिससे मूल्य स्तर ऊंचा हो जाता है और मुद्रा का मूल्य गिर जाता है।

(iii) मन्दी के दिनों में मुद्रा का संचय बढ़ जाता है व मुद्रा की मांग बढ़ती है, जिससे कीमतें गिर जाती हैं और मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है।

(iv) मुद्रा का उपयोग केवल वस्तुएं खरीदने में ही नहीं होता, बल्कि मूल्य के संचय के रूप में भी प्रयोग किया जाता है।

आलोचनाएं—पीगू के समीकरण की मुख्य आलोचनाएं निम्न हैं।

(i) यह समीकरण विभिन्न उद्देश्यों के लिए रखी जाने वाली निक्षेपों पर ध्यान नहीं देता है।

(ii) पीगू ने प्रसाधनों एवं चालू आय को एक जैसी चीज समझकर अच्छा नहीं किया।

(iii) पीगू ने केवल नकदी में होने वाले परिवर्तन पर ही ध्यान दिया और बचत व विनियोग के परिवर्तनों पर कोई ध्यान नहीं दिया।

(iv) पीगू ने मुद्रा के मूल्य संचय कार्य का ही वर्णन किया है और विनिमय माध्यम वाले कार्य को भुला दिया गया है।

(v) पीगू ने केवल गेहूं के मूल्यों से ही मुद्रा का मूल्य मापने का प्रयास किया है जो कि उचित नहीं है।

मार्शल, राबर्टसन एवं पीगू की समीकरणों को एक साथ रखने पर निम्न प्रकार तुलना की जा सकती है—

	वस्तु की एक इकाई का मूल्य	मुद्रा की एक इकाई का मूल्य
(i) मार्शल का समीकरण :	$P=\frac{M}{Ky}$	$P=\frac{Ky}{M}$
(ii) राबर्टसन का समीकरण :	$P=\frac{M}{KT}$	$P=\frac{KT}{M}$
(iii) पीगू का समीकरण :	$P=\frac{M}{KR}$	$P=\frac{KR}{M}$

यहां पर—

P = मूल्य

M = कुल मुद्रा की मात्रा

K = वार्षिक आय का वह भाग जो नकद में रखा जाता है।

y = कुल वार्षिक आय

R = कुल वार्षिक आय

T = समस्त व्यापारिक लेनदेन।

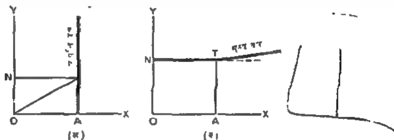
पीगू के अनुसार "जीवन की सामान्य परिस्थितियों में मनुष्य विधिग्राह्य मुद्रा की आवश्यकता अपने दायित्वों के भुगतान करने के लिए प्रकट करता है। अधिकांश व्यक्ति उन दावों को प्राप्त करना चाहते हैं जो कि उनके पक्ष में परिपक्व होते हैं। लेकिन इस प्रकार के दायित्व एवं दावे जो किसी समय देय होते हैं, शायद ही एक दूसरे की पूर्ति करते हों और इस अन्तर का भुगतान विधि ग्राह्य मुद्रा के हस्तांतरण द्वारा ही सम्भव हो सकता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति अपने साधनों को नकदी में पर्याप्त मात्रा में इस कारण रखना पसन्द करता है कि उससे जीवन के सामान्य व्यवहारों को पूर्ण किया जा सके तथा

अप्रत्याशित मागो (unexpected demands) के प्रति उसे सुरक्षा प्राप्त हो सके।"[1] इन्ही उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मनुष्य अपने साधनो को नकदी के रूप मे रखना अधिक पसन्द करता है जिससे उसे कठिनाइयों से सुरक्षा प्राप्त हो सके।

(iv) कीन्स का समीकरण—वास्तविक शेष दृष्टिकोण (Real Balances Approach)—कैम्ब्रिज के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री कीन्स ने परिमाण सिद्धान्त के लिए समीकरण का एक नवीन रूप प्रस्तुत किया। कीन्स के अनुसार मुद्रा की मात्रा मे होने वाले परिवर्तन मूल्य स्तर को प्रभावित करते है जिसे निम्न प्रकार रखा गया है :—

मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि—ब्याज दर मे कमी—विनियोग मे वृद्धि—उत्पादन रोजगार मे वृद्धि—लोगो की आय मे वृद्धि—मूल्यो मे वृद्धि—मुद्रा के मूल्य मे कमी।

जब तक अर्थव्यवस्था मे अप्रयुक्त साधन हैं, मुद्रा पूर्ति मे वृद्धि के कारण मूल्य मे वृद्धि न होकर उत्पादन मे वृद्धि होनी है, पूर्ण रोजगार प्राप्त होने पर कीमत मे मुद्रा की मात्रा के अनुपात मे परिवर्तन होने लगता है, जैसा कि चित्र 8 8 से स्पष्ट है।



चित्र 8.8

चित्र 8 8 (अ) मे मुद्रा की पूर्ति O से बढकर OA होने पर OM वस्तु की मात्रा उत्पन्न हो जाती है। चित्र 8 8 (ब) मे मूल्य व मुद्रा की पूर्ति का सम्बन्ध दिखाया गया है। जैसे ही कुल व्यय ON से अधिक होता है वैसे ही कुल व्यय मे होने वाली अतिरिक्त वृद्धि से मूल्य इसी अनुपात मे बढ जाते है और मूल्य वक्र ऊपर की ओर जाने वाली सरल रेखा का रूप धारण कर लेता है। इस समीकरण को वास्तविक शेष (Real Balances) समीकरण भी कहते हैं। यह समीकरण निम्न प्रकार है :

$$n=P\ (K+rK')$$

अथवा $$P=\frac{M}{K+rK'}$$

यहा—

n = चलन मे नकद कोष की मात्रा।
P = वस्तु की एक इकाई का मूल्य।
K = वस्तुओ व सेवाओ का अनुपात जो समाज द्वारा नकद मे रखा जाता है।
r = बैंकों द्वारा नकद मे रखे गये राशि का अनुपात।
K′ = वस्तुओ व सेवाओ की संख्या, जिसे समाज बैंक मे जमा के रूप में रखना चाहता है।

1. ' In the ordinary course of life, people are continually needing to make payment in discharge of obligations contracted in terms of legal tender money Most people save also a flow of claims that are similary maturing in their favour But the obligation and the claims that become due at any moment seldom exactly cancel one another, and the difference has to be met by the transfer of titles to legal tender Hence everybody is anxious to hold enough of his resources in the form of titles to legal tender both to enable him to effect the ordinary transactions of life without trouble and to secure him against unexpected demands."—J. M. Keynes : A Treatise on Money, p. 230-231.

विशेषता—कीन्स के समीकरण की मुख्य विशेषताएं निम्न हैं :—

(i) उपभोग हेतु जिन वस्तुओं का प्रयोग किया जाता है, उन्हें इकाइयाँ कहते हैं।

(ii) प्रत्येक व्यक्ति उपभोग वस्तुओं की खरीद के लिए अपने पास आवश्यक रूप से मुद्रा का एक भाग नकदी में अवश्य रखता है।

(iii) आवश्यकतानुसार मुद्रा का कुछ भाग बैंकों में जमा के रूप में भी रखा जाता है।

(iv) बैंक भी समस्त प्राप्त जमा का केवल एक भाग ही अपने पास नकदी के रूप में रखते हैं।

(v) अल्पकाल में मुद्रा रखने की आदत में परिवर्तन न होने से K, K′ एवं r स्थिर माने गये हैं तथा मुद्रा की मात्रा के आधार पर वस्तु की कीमत में परिवर्तन हो जाते हैं।

कीन्स समीकरण के गुण—कीन्स के समीकरण के मुख्य गुण निम्न हैं :—

(1) **अल्पकाल में लागू**—कीन्स का यह समीकरण मुद्रा के मूल्य में अल्पकालीन परिवर्तनों को नापने में भी सहायता करता है। अधिकांश समीकरण केवल दीर्घकाल में ही लागू होते हैं।

(2) **अधिक युक्तिसंगत**—कीन्स ने मुद्रा की माग को अधिक महत्व दिया है और उनके अनुसार मुद्रा की पूर्ति ही मूल्य को निर्धारित करती है। वास्तविक जीवन में यही अधिक महत्वपूर्ण है कि जनता कितनी मुद्रा चाहती है। कीन्स इसी तथ्य को मान्यता प्रदान करते हैं।

(3) **उपभोग का महत्व**—कीन्स यह मानते हैं कि मुद्रा की माग विभिन्न वर्गों द्वारा विभिन्न प्रकार की क्रियाओं के लिए की जाती है। वह व्यवहार में मुद्रा को ही महत्व प्रदान करते हैं। समाज में उपभोग के लिए जो धन मागा जाता है। उसी को नकदी के रूप में रखने का अध्ययन कीन्स करते हैं।

जनता की अपने पास नकदी रखने की प्रवृत्ति एवं बैंक की नकद कोष रखने की नीति ही मुद्रा के मूल्य को प्रभावित करती है। इस प्रकार "K एवं K′ की मात्रा अंशत समाज की सम्पत्ति तथा अंशत उनकी आदतों पर निर्भर करती है, और इस आदत का निर्धारण नकदी से प्राप्त होने वाली सुविधा एवं विनियोग करने से प्राप्त लाभ के तुलनात्मक अध्ययन से किया जाता है।"[1] यदि जनता में अपने पास अधिक मात्रा में नकदी रखने की आदत है तो K का मूल्य अधिक तथा K′ का मूल्य कम हो जायेगा। इसके विपरीत यदि मुद्रा अपने पास रखने के स्थान पर बैंक में रखना उचित माना जाता है तो K′ का मूल्य अधिक हो जायेगा। r का मूल्य बैंक की कोष नीति द्वारा निर्धारित किया जाता है। यदि K, K तथा r के मूल्यों में कोई परिवर्तन नहीं होता है तो मुद्रा की मात्रा (n) एवं मूल्य स्तर (P) में एक प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। कीन्स का समीकरण मार्शल एवं पीगू के समीकरणों के समान ही माना जाता है।

इस समीकरण का मात्रा की दृष्टि से बहुत थोड़ा महत्व है, लेकिन गुणात्मक दृष्टि से इसका काफी महत्व है। "नकद कोष की मात्रा बैंकों के निर्णय पर निर्भर करती है तथा उन्हीं के द्वारा इसे बनाया जाता है। इसी प्रकार वास्तविक कोष की मात्रा जमा करने वालों के निर्णय पर निर्भर करती है और उन्हीं के द्वारा स्थापित की जाती है। मूल्य स्तर इन दोनों निर्णयों का ही परिणाम है तथा इसे नकद कोष एवं वास्तविक कोष के अनुपात द्वारा मापा जाता है।"[2]

आलोचना—मार्शल एवं पीगू के समीकरणों की भांति कीन्स का समीकरण भी दोष मुक्त नहीं है। इसके प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं—

1. "The amount of K and K′ depends partly on the wealth of the community, partly on its habits, and that its habits are fixed by its estimation of the extra convenience of having more cash in hand as compared with the advantages to be got from spending the cash or investing it." —J. M. Keynes . A Treatise on Money, p. 223.

2 The volume of cash balances depends on the decisions of the bankers and is created by them. The volume of real balances depends on the decisions of the depositors and is created by them. The price level (P_1) is the resultant of the two sets of decisions and is measured by the ratio of the volume of cash balances created to that of the real balances created."—J. M Keynes : op cit., p. 254.

(1) इस समीकरण में P मुद्रा की सामान्य क्रय शक्ति का माप करने में असमर्थ रहती है। मुद्रा को केवल वर्तमान उपभोग वस्तुओं को प्राप्त करने के उद्देश्य से ही संचित करके रखा जाता है। परन्तु यह धारणा सत्य नहीं है क्योंकि समाज में मुद्रा का उपयोग केवल उपभोग के लिए ही नहीं किया जाता, बल्कि अनेक प्रकार के कार्यों को सम्पन्न करने के लिए किया जाता है, जिसे कीन्स ने भुला दिया।

(2) कीन्स ने यह माना कि प्रत्येक व्यक्ति नकदी का उपभोग वस्तुओं को प्राप्त करने के उद्देश्य से ही करता है। परन्तु व्यवहार में व्यक्ति नकदी का उपयोग भावी आकस्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी करता है। इसमें नकदी अधिमान के सट्टेबाजी के उद्देश्य को सर्वथा भुला दिया है, जिसे बाद में कीन्स ने ही स्वीकार करके सुधारा।

(3) कीन्स ने K, K′ तथा r को स्थिर मानकर n एवं p में सीधा सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। परन्तु यह सत्य नहीं है क्योंकि अल्पकाल में भी व्यक्तियों की आदतों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन सम्भव हो सकते हैं और इस कारण n व p में प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करना सम्भव नहीं होगा।

(4) कीन्स के समीकरण में मुद्रा की गति को कोई स्थान नहीं दिया गया है। मुद्रा की गति एक अनिश्चित तत्त्व है, जिसका सही अनुमान लगाना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

इन दोषों के फलस्वरूप ही कीन्स ने एक नया समीकरण प्रस्तुत किया, जिसके अनुसार —

$$P = \frac{M}{C}$$, यहाँ पर

P = मूल्य
M = कुल मुद्रा
C = वस्तुओं के लिए रखी गयी नकद राशि।

इस समीकरण में भी कोई नवीनता नहीं पायी जाती।

फिशर एवं कैम्ब्रिज के समीकरणों की तुलना :

फिशर एवं कैम्ब्रिज के समीकरणों को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(i) फिशर का व्यावसायिक समीकरण $P = \frac{MV + M'V'}{T}$

(ii) कैम्ब्रिज का समीकरण—

(अ) मार्शल का समीकरण : $M = Ky + K'A$

(ब) रावर्टसन का समीकरण . $M = PKT$

(स) पीगू का नकद शेष समीकरण . $P = \frac{M}{KR}$

(द) कीन्स का वास्तविक शेष समीकरण : $P = \frac{n}{K + rK'}$

इन समीकरणों की तुलना निम्न प्रकार की जा सकती है :—

समानता—दोनों समीकरणों में निम्न समानता पाई जाती है—

(1) मूल्य स्तर की समानता—दोनों प्रकार की विचारधाराओं में P मूल्य स्तर को ही प्रकट करता है। इस प्रकार दोनों ही समीकरणों में मूल्य स्तर को P द्वारा ही प्रकट किया गया है।

(2) समान चिह्नों का प्रयोग—दोनों ही समीकरणों में मुद्रा की गति (V) एवं कुल आय का नकद प्रतिदान (K) की समान स्थिति है। मुद्रा को खर्च करने की गति को V तथा नकद राशि को अपने पास रखने को K द्वारा प्रकट किया गया है। दोनों में केवल उल्लेख करने सम्बन्धी अन्तर है। इस प्रकार,

$$V = 1/K \text{ या } K = 1/V$$

(3) लेनदेन के व्यवहारों की समानता—फिशर ने अपने समीकरण में T का प्रयोग व्यापारिक लेनदेन के व्यवहारों के लिए किया है। इसी प्रकार K R तथा K+rK′ मुद्रा की उस मात्रा की ओर संकेत करता है जो लेनदेन

सम्बन्धी कार्यों के लिए व्यक्ति द्वारा अपने पास तथा बैंक के पास नग्न रूप में रखा जाता है। इस प्रकार पीगू एवं कीन्स का नकद कोष (T) का ही मौद्रिक स्वरूप प्रकट करता है।

(4) मुद्रा की मात्रा की समानता—फिशर एवं कैम्ब्रिज समीकरण दोनों में मुद्रा की मात्रा को ही मूल्य निर्धारण के लिए उपयोग किया जाता है। फिशर ने मूल्य निर्धारण में मुद्रा की पूर्ति को तथा कैम्ब्रिज समीकरण में मुद्रा की मांग पर अधिक जोर दिया गया है।

(5) मुद्रा पूर्ति—फिशर ने मुद्रा की पूर्ति के लिए MV+M'V', पीगू ने M तथा कीन्स ने n को मुद्रा की पूर्ति के लिए उपयोग किया है। इस प्रकार इन समीकरणों में मुद्रा पूर्ति की समानता पाई जाती है। इस सम्बन्ध में निम्न बातें महत्वपूर्ण हैं

(अ) मुद्रा की गति—फिशर ने मुद्रा एवं साख-पत्रों की गति के लिए क्रमश V एव V' का प्रयोग किया है, जबकि कैम्ब्रिज समीकरण में मुद्रा की गति का कहीं भी उल्लेख नहीं है। फिशर ने गति उल्लेख करने पर भी T की गति की ओर कोई ध्यान नहीं दिया है।

(ब) मुद्रा एवं साख—फिशर ने मुद्रा एवं साख को पृथक्-पृथक् ढंग से प्रयोग किया है जबकि कैम्ब्रिज समीकरण में साख मुद्रा का प्रयोग नहीं होता है।

फिशर एव कैम्ब्रिज समीकरण में अन्तर

फिशर एवं कैम्ब्रिज समीकरण में मुख्य अन्तर निम्न प्रकार है :—

(1) मुद्रा की मांग का अन्तर—कैम्ब्रिज समीकरण में मुद्रा की माग पर अधिक जोर दिया गया है। फिशर ने मूल्य स्तर (P) का निर्धारण मुद्रा के परिमाण से माना है जबकि कैम्ब्रिज समीकरण में मूल्य स्तर पर जनता की मुद्रा की माग (K) में परिवर्तन होने का प्रभाव पड़ता है।

(2) गति एवं नकद कोष का अन्तर—फिशर के समीकरण में मुद्रा की गति को अधिक महत्व दिया गया है। इसके विपरीत कैम्ब्रिज समीकरणों में नकद कोषों पर अधिक जोर दिया गया है। रावर्टसन के अनुसार फिशर समीकरण का सम्बन्ध उड़ती हुई मुद्रा से तथा कैम्ब्रिज समीकरण बैठी मुद्रा से लगाया है।

(3) लेनदेन सम्बन्धी अन्तर—फिशर का समीकरण मुद्रा की तात्कालिक सक्रियता को महत्व देता है, जबकि कैम्ब्रिज समीकरण में निकटतम भावी लेनदेन को महत्व दिया जाता है। वास्तव में वर्तमान एव भविष्य दोनों समयों में मुद्रा का प्रयोग कितना होगा, इस निर्णय पर देश का आर्थिक विकास निर्भर करता है।

(4) समय सीमा का अन्तर—फिशर ने दीर्घकाल को ध्यान में रखकर व्याख्या की है, जबकि कैम्ब्रिज समीकरणों में अल्पकाल या तात्कालिक क्रियाओं को अधिक महत्व दिया गया है।

(5) वित्तीय नियोजन का अन्तर—फिशर का समीकरण मुद्रा की नियमित सक्रियता की ओर ध्यान देता है, जबकि कैम्ब्रिज समीकरण में वर्तमान एवं भविष्य के लिए वित्तीय नियोजन को महत्व दिया जाता है। इस प्रकार वित्तीय नियोजन सम्बन्धी अन्तर दोनों समीकरणों में पाया जाता है।

(6) मूल्य स्तरों का अन्तर—कीन्स ने मूल्य स्तर का संबंध सामान्य मूल्य स्तर से लिया है, जबकि नकद कोष समीकरण में मूल्य स्तर का अर्थ उपभोग वस्तुओं के मूल्य स्तर से लिया गया है।

कैम्ब्रिज समीकरण की श्रेष्ठता

कैम्ब्रिज के समीकरण फिशर की समीकरण से श्रेष्ठ माने गये हैं। इसकी प्रमुख विशेषतायें निम्नलिखित हैं—

(1) द्रव्यता पसन्दगी—कैम्ब्रिज समीकरण मनुष्य की सामान्य प्रकृति द्रव्यता पसन्दगी को महत्व देता है जिसे वर्तमान समय में रोजगार एव विनियोग का आधार माना गया है।

(2) M व K को महत्व—फिशर के समीकरण में मुद्रा (M) को अधिक महत्व दिया गया है। जनता द्वारा मुद्रा की माग (K) में वृद्धि या कमी बाजार में तत्काल असर डालती है, फलस्वरूप मूल्यों में तीव्रगति से उच्चावचन होने लगते हैं। इस प्रकार M के स्थान पर K को ही अधिक महत्व दिया जाता है। विकासशील राष्ट्रों में जहा मूल्य स्तर में

जल्दी-जल्दी परिवर्तन होते हैं वहा K का महत्त्व और भी अधिक है।

(3) मुद्रा-संग्रह प्रवृत्ति का संकेत—कैम्ब्रिज समीकरण मुद्रा संग्रह करने की प्रवृत्ति की ओर ध्यान दिलाता है और इसका प्रभाव वस्तुओं के मूल्यों पर भी पड़ता है। मुद्रा संकुचन के समय द्रव्य रखने की प्रवृत्ति बढ़ जाती है और मुद्रा स्फीति के समय यह प्रवृत्ति कम हो जाती है।

(4) माग व पूर्ति की विवेचना—फिशर का समीकरण मुद्रा की पूर्ति को आधार मानकर एकतरफा एवं संकीर्ण बन गया है। इसके विपरीत कैम्ब्रिज समीकरणों में मुद्रा की माग एवं पूर्ति दोनों को ही समान महत्त्व दिया गया है।

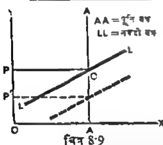
(5) विभिन्न तत्त्वों की जानकारी सरल—फिशर के समीकरण में V एवं T की जानकारी प्राप्त करना कठिन है और M व V में सम्बन्ध स्थापित करना भी सम्भव नहीं है। इसके विपरीत कैम्ब्रिज समीकरण में K एवं R को ज्ञात करना अपेक्षाकृत सरल है।

(6) आय को विशेष महत्त्व—वर्तमान समय में समाज का व्यय, आय पर आधारित होता है। कैम्ब्रिज समीकरण में मुद्रा के अतिरिक्त आय को विशेष महत्त्व दिया गया है जो कि रोजगार, विनियोग एवं उत्पादन आदि के प्रतीक माने जाते हैं।

(7) भावी भुगतान का आधार एव सग्रह का माध्यम—कैम्ब्रिज समीकरण में मनुष्य के भावी भुगतानों के आधार तथा सग्रह के माध्यम को विशेष महत्त्व दिया गया है।

(8) व्यक्तियों का व्यवहार—नकद-शेष समीकरण से व्यक्तियों के व्यवहार का वर्णन किया जा सकता है। व्यक्ति की भिन्न-भिन्न आय पर नकदी की राशि निम्न प्रकार से भिन्न-भिन्न हो सकती है .

आय	नकदी
4000	2000
2000	1000
1000	500
800	400
200	100
100	50



चित्र 8·9

चित्र 8·9 में AA व LL जहा काटते हैं वहा O बिन्दु सन्तुलन आय का स्तर है। इसके अतिरिक्त किसी भी अन्य आय स्तर पर मुद्रा की माग मुद्रा की पूर्ति के बराबर नहीं होगी।

इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि "यह सत्य नहीं है जैसा कि कहा जाता है, कि नकद शेष समीकरण नवीन बीजगणितीय परिधान में पुराना मुद्रा परिमाण सिद्धान्त ही है"[1]

कैम्ब्रिज समीकरण की आलोचनाएं

कैम्ब्रिज समीकरण भी दोषों से मुक्त नहीं है। इसकी प्रमुख आलोचनाएं निम्नलिखित हैं—

(1) प्रवैगिक अध्ययन की समस्या—यह एक पूर्णरूप से मौद्रिक सिद्धान्त नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह मूल्यों की प्रवैगिक प्रवृत्ति का अध्ययन करने में असमर्थ है तथा विश्व की जटिल व कठिन आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए अपने आपको असमर्थ मानता है।

1 "It is not true, as is often alleged, that the 'cash balance' equation is *merely* the Quantity Theory in new algebraic dress."—Hansen

(1) टूक के विचार (Conception of Tooke)—आय सिद्धान्त का समर्थन सर्वप्रथम टूक ने किया[1], जिसके अनुसार मूल्य का निर्धारण मुद्रा की मात्रा द्वारा न होकर आय द्वारा होता है। इस प्रकार मुद्रा का परिमाण मूल्यों का ही परिणाम होता है। जिस प्रकार किसी वस्तु की पूर्ति का निर्धारण उसकी लागत व्यय के आधार पर होता है, उसी प्रकार उपभोग वस्तुओं पर व्यय की जाने वाली मौद्रिक आय ही माग की सीमा को निर्धारित करती है। इस प्रकार उपभोग वस्तुओं की मांग द्वारा आय का स्तर निर्धारित होता है। यदि मजदूरी में वृद्धि कर दी जावे तो एक तरफ तो लागत व्यय बढ़ जायेगा और दूसरी तरफ ऊंची मजदूरी से मांग बढ़ेगी व मूल्यों में वृद्धि होगी। इसे निम्न समीकरण के रूप में रखा जा सकता है—

समीकरण—

$$Pc=\frac{Dc}{Oc}$$

यहा पर—

Pc = उपभोग वस्तुओं का मूल्य।

Dc = उपभोग वस्तुओं की माग।

Oc = उपभोग वस्तुओं की पूर्ति।

(2) अफ्तालियन के विचार (Income Theory of Aftalian)—अफ्तालियन ने सन् 1925 में आय सिद्धान्त की विवेचना एक समीकरण की सहायता से की जो कि निम्न प्रकार है—

समीकरण—

$$R=PQ \quad \text{अथवा}$$

$$P=\frac{Q}{R}$$

यहा पर—

R = मौद्रिक आय की मात्रा।

P = मूल्य स्तर।

Q = समाज में कुल उत्पादन।

इस समीकरण के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया कि मौद्रिक आय एवं वास्तविक आय के अनुपात पर मूल्यों में परिवर्तन सम्भव हो सकता है। वास्तविक आय में कोई परिवर्तन न होने पर यदि मौद्रिक आय में वृद्धि हो जाती है तो उसके फलस्वरूप मूल्य स्तर में वृद्धि होगी। इसके विपरीत मौद्रिक आय में कमी होने पर मूल्य स्तर में भी कमी हो जाती है। इस प्रकार इस समीकरण में वास्तविक आय को अपरिवर्तनीय माना गया है।

(3) विक्सेल की विचारधारा (Wicksell Analysis)—स्वीडन के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री विक्सेल ने टूक के सिद्धान्त को आधार मानकर अपने मुद्रा एवं मूल्य सिद्धान्त का विकास किया। इसने आय की मात्रा को वास्तविक ब्याज दर एवं मौद्रिक बाजार दर पर निर्भर माना। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकाला गया कि जब वास्तविक ब्याज दर मौद्रिक ब्याज दर के बराबर होती है तो आय में परिवर्तन नहीं होंगे और मूल्य भी स्थिर होंगे। यदि ब्याज दर वास्तविक ब्याज दर से अधिक है तो बचत अधिक होगी जिससे आय में गिरावट हो जावेगी, फलस्वरूप मूल्य में कमी होगी। इसके विपरीत यदि ब्याज दर वास्तविक ब्याज दर से कम हो तो विनियोग अधिक एवं बचत कम होंगे, फलस्वरूप आय में एवं मूल्यों में भी वृद्धि होगी।

विक्सेल के सिद्धान्त के दोष—

विक्सेल के सिद्धान्त में प्रमुख दोष निम्न हैं—

(i) एकपक्षीय—इस सिद्धान्त में विनियोग पर ही अधिक जोर दिया गया है तथा उपभोग की उपेक्षा की

1. टूक ने इसे अपनी पुस्तक 'An Enquiry into the Currency Principle (1844, pp. 123-124) में दिया।

गई है जिससे यह एकतरफा है।

(ii) गुणक की अवहेलना—इस सिद्धान्त में गुणक पर ध्यान नहीं दिया गया है, जो कि आय एवं मूल्य स्तर पर अधिक प्रभाव डालता है।

(iii) ब्याज दर की असफलता—इस बात का ध्यान नहीं रखा गया कि विनियोग को प्रभावित करने में ब्याज की दर भी असफल हो सकती है।

(iv) बैंकों की शक्ति को अधिक महत्व—विनियोग को ही ब्याज के लिए कारण माना गया है, जिससे बैंकों की शक्ति को आवश्यकता से अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है।

प्रमुख तत्व—आय समीकरणों के आधार पर कुल व्यय अनेक कारणों से प्रभावित होते हैं जैसे जनसंख्या में वृद्धि, कुशल बैंकिंग व्यवस्था, प्रतिस्पर्धा की मात्रा, कर प्रणाली, विवाह व शादी की संख्या, देश में तरल साधनों की उपलब्धि आदि।

देश में प्राय: दो प्रकार के लेनदेन के व्यवहार किये जाते हैं—प्रथम वर्ग में वे सौदे सम्मिलित किये जाते हैं जिनसे उत्पादन क्रिया को कोई प्रोत्साहन नहीं मिलता तथा दूसरे वर्ग में वे लेनदेन सम्मिलित होते हैं जिनसे उत्पादन को प्रोत्साहन मिले। फिशर के समीकरण में केवल वे लेनदेन ही सम्मिलित किये गये जिनसे उत्पादन को कोई प्रोत्साहन नहीं मिलता और उन्हें MV द्वारा ही मापा गया। इसके विपरीत आय समीकरणों में केवल उन सौदों को ही महत्व दिया गया जिनमें निर्माण कार्य सम्मिलित होते हैं। आय समीकरण के अनेक रूप हैं, परन्तु प्रमुख रूप निम्नलिखित हैं—

आय समीकरण—

$$PyTy = MVy \text{ अथवा}$$

$$MVy = PyTy \text{ अथवा}$$

$$Vy = \frac{PyTy}{M} \text{ या}$$

$$Py = \frac{MVy}{Ty}$$

यहाँ पर—

M = मुद्रा की समस्त मात्रा।

Ty = उत्पादित की गई वस्तुओं की मात्रा।

Py = उत्पादित वस्तुओं का सूचनांक (Price Index)।

Vy = मुद्रा की आय गति (Velocity)।

इस समीकरण के आधार पर आय गति (Vy) का पता लगाना कठिन होता है जिससे गणना करने में कठिनाई उत्पन्न होती है।

V एवं Vy में अन्तर है क्योंकि V नवीन व पुराने माल को खरीदने में प्रयोग की गई मुद्रा को नापता है, जबकि Vy केवल नवीन उत्पादित की गई वस्तुओं को क्रय करने में ही प्रयोग की जाती है।

जब देश में उत्पादन तेजी से किया जाता है तो लेनदेन एवं व्यय की गति बढ़ जाती है और यहाँ जनता के मानसिक वातावरण पर भी प्रभाव पड़ता है। परम्परावादी समाज में आय गति की दर कम होती है तथा आधुनिक समाज में यह गति अधिक होती है। आय समीकरण में आय को ही आधार माना गया है, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से यह मुद्रा का सही मूल्यांकन करने में असमर्थ रहती है।

व्यवहार में यह कहना अनुचित होगा कि देश की अर्थव्यवस्था पर मुद्रा के परिमाण का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। विकासशील अर्थव्यवस्था में मुद्रा एवं साख स्फीति का भय सदैव बना रहता है और सरकार को इस सम्बन्ध में सावधान होना पड़ता है।

मौलिक समीकरणों की आलोचना

कीन्स के मौलिक समीकरणों की प्रमुख आलोचनायें निम्नलिखित हैं—

(1) मूल्य परिवर्तन की क्रम विधि की अस्पष्टता—कीन्स के मौलिक समीकरण मूल्यों में होने वाले परिवर्तनों की क्रम विधि को स्पष्ट करने में असमर्थ रहते हैं, जिससे असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(2) अस्थिर अर्थव्यवस्था—कीन्स की सन्तुलन की परिभाषा उत्पादन स्तर के अनुकूल होने पर भी मन्दी काल में निम्न उत्पादन स्तर पर बचत एवं विनियोग में सन्तुलन नहीं रहता, परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था अस्थिर हो जाती है। व्यवहार में बचत एवं विनियोग की समानता को आर्थिक स्थिरता के अभाव में भी प्राप्त किया जा सकता है।

(3) स्थिर परिस्थितियों में लागू होना—कीन्स के मौलिक समीकरण प्रायः स्थिर परिस्थितियों में लागू होते हैं, जबकि हमारा संसार गतिशील है, जहां आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में नवीन आविष्कारों के फलस्वरूप परिवर्तन रहते हैं और इन परिवर्तित परिस्थितियों का मूल्यांकन करना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

(4) समयावधि का भ्रमात्मक विचार—कीन्स ने यह माना है कि किसी समयावधि की आय उसी उपभोग की जाने वाली वस्तुओं की उत्पादन लागत से सम्बन्धित होती है। परन्तु वास्तव में जिन वस्तुओं का उत्पादन मान में होता है उनका उपभोग आज न होकर भविष्य में किया जायेगा, इसी प्रकार जिन वस्तुओं का उपभोग [illegible] चुका है, उनका उत्पादन उससे पूर्व की अवधि में किया गया होगा। इस तथ्य को कीन्स ने अपने समीकरण में [illegible] उल्लेख नहीं किया।

(5) मौलिक समीकरण
(Fundamental Equations)

कोन्स का मौलिक समीकरण :

मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की समस्त समीकरणों में मुद्रा की कुल माग या पूर्ति को ही एक साथ रखा गया है। इस मुद्रा का कितना भाग उपभोक्ता पदार्थों तथा कितना पूजी के रूप में विनियोग हुआ है इस पर ध्यान नहीं दिया गया।

बाद में कोन्स ने इस मत का प्रतिपादन किया कि मानवीय उपभोग एवं मानवीय श्रम ही मौलिक तत्त्व हैं जिनसे आर्थिक लेनदेन को महत्व प्राप्त हो जाता है। कोन्स ने मुद्रा मूल्य के निर्धारण के लिए दो नवीन समीकरणें प्रदान की जो निम्न प्रकार हैं—

(1) $$P = \frac{E}{O} + \frac{I' - S}{R}$$

इसी प्रकार द्वितीय समीकरण निम्न प्रकार है—

(11) $$\pi = \frac{E}{O} + \frac{I - S}{O}$$

यहा पर— P=पदार्थों का मूल्य।
E=समाज की कुल आय।
O=देश में उत्पादन की गई वस्तुयें व उनकी इकाइया।
I′=आय का वह भाग जो विनियोग पदार्थों के उत्पादन से प्राप्त हो जाता है।
S=बचत।
R=बाजार में बिक्री हेतु उपभोक्ता माल तथा सेवाओं की मात्रा।

इस समीकरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि कुल उत्पादन तथा मूल्य स्तर निम्न बातों से प्रभावित होता है—

(1) $\frac{E}{O}$= उत्पादन की प्रति इकाई का लागत-व्यय।

(11) $\frac{I - S}{O}$=नवीन पूजीयन के मूल्य तथा बचत का सम्बन्ध।

मौलिक समीकरण के गुण

कीन्स के मौलिक समीकरण के मुख्य गुण निम्न हैं—

(1) व्यापार चक्र—इन समीकरणो का प्रयोग व्यापार चक्र की विभिन्न अवस्थाओं को समझाने मे किया गया है। इसके द्वारा व्यापारचक्रीय अवस्था मे मूल्य स्तर मे होने वाले परिवर्तनों को ब्याज दर तथा प्राकृतिक ब्याज दर के असन्तुलन से सम्बन्धित किया गया है।

(2) मुद्रा की पूर्ति को महत्त्व नहीं—कीन्स के इन समीकरण मे मुद्रा की पूर्ति को कोई महत्त्व नहीं दिया गया और उसके स्थान पर उत्पादन (O), उपभोग (R), बचत (S), आय विनियोग (I′), व आय (E) को महत्त्व दिया गया है। इस प्रकार इसमे पुराने जड तत्त्वो के स्थान पर उदार नये व प्रवैगिक तत्त्वो का समावेश किया गया है।

इस सिद्धान्त में केवल मुद्रा की पूर्ति को ही महत्त्व नही दिया गया बल्कि उसके स्थान पर अन्य बातें जैसे उपभोग, उत्पादन, बचत एव विनियोग आदि को भी महत्त्व दिया जाता है। कीन्स का समीकरण मुद्रा परिमाण सिद्धान्त का ही एक सुधरा हुआ रूप है। कुछ लोगो का कथन है कि कीन्स का समीकरण फिशर के समीकरण का ही परिवर्तित रूप है। इस प्रकार किन्स का समीकरण मुद्रा परिमाण सिद्धान्तो को नया रूप प्रदान करता है। विकासशील अर्थव्यवस्था मे मुद्रा की मात्रा को ही अधिक महत्त्व दिया जाता है। इसे मौद्रिक ब्याज दर एव वास्तविक ब्याज दर की धारणा से मिलता-जुलता कह सकते हैं।

मौलिक समीकरणों की आलोचना

कीन्स के मौलिक समीकरणों की प्रमुख आलोचनायें निम्नलिखित हैं—

(1) मूल्य परिवर्तन की क्रम विधि की अस्पष्टता—कीन्स के मौलिक समीकरण मूल्यों में होने वाले परिवर्तनों की क्रम विधि को स्पष्ट करने में असमर्थ रहते हैं, जिससे असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(2) अस्थिर अर्थव्यवस्था—कीन्स की सन्तुलन की परिभाषा उत्पादन स्तर के अनुकूल होने पर भी मन्दी काल में निम्न उत्पादन स्तर पर बचत एवं विनियोग में सन्तुलन नहीं रहता, परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था अस्थिर हो जाती है। व्यवहार में बचत एवं विनियोग की समानता को आर्थिक स्थिरता के अभाव में भी प्राप्त किया जा सकता है।

(3) स्थिर परिस्थितियों में लागू होना—कीन्स के मौलिक समीकरण प्रायः स्थिर परिस्थितियों में लागू होते हैं, जबकि हमारा संसार गतिशील है, जहाँ आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में नवीन आविष्कारों के फलस्वरूप परिवर्तन होते रहते हैं और उन परिवर्तित परिस्थितियों का मूल्यांकन करना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

(4) समयावधि का भ्रमात्मक विचार—कीन्स ने यह माना है कि किसी समयावधि की आय उसी अवधि में उपभोग की जाने वाली वस्तुओं की उत्पादन लागत से सम्बन्धित होती है। परन्तु वास्तव में जिन वस्तुओं का उत्पादन वर्तमान में होता है उनका उपयोग आज न होकर भविष्य में किया जायेगा, इसी प्रकार जिन वस्तुओं का उपभोग किया जा चुका है, उनका उत्पादन उससे पूर्व की अवधि में किया गया होगा। इस सत्य को कीन्स ने अपने समीकरण में ठीक ढंग से उल्लेख नहीं किया।

(5) ब्याज की दर का दोषपूर्ण उपयोग—कीन्स ने अपने मौलिक समीकरण में ब्याज दर को ही व्यापार की स्थिति एवं मूल्य स्तर पर नियन्त्रण रखने का एकमात्र साधन माना है। कीन्स की यह धारणा थी कि बैंक दर में परिवर्तन करके केन्द्रीय बैंक अर्थव्यवस्था की आर्थिक अस्थिरता की समस्या का समाधान कर सकती है। परन्तु बाद में विशेषकर मन्दी के समय यह गलत सिद्ध हुआ और अब ब्याज की दर के स्थान पर कीन्स ने स्वयं पूँजी की सीमान्त उत्पादकता एवं सार्वजनिक व्यय को अर्थव्यवस्था में सुधार लाने के लिए अधिक महत्वपूर्ण माना।

(6) मानसिक अभ्यास के साधन मात्र—इन समीकरणों को वर्तमान सांख्यिकी शास्त्र की अवस्था में सरलता से निर्धारित नहीं किया जा सकता है। कीन्स के मौलिक समीकरणों का कोई व्यावहारिक महत्व नहीं है और वे मानसिक अभ्यास के साधन मात्र ही माने जाते हैं।

(7) नवीनता का अभाव—कीन्स के मौलिक समीकरणों में नवीनता का अभाव पाया जाता है। कीन्स ने स्वयं इन दोषों को स्वीकार करते हुए लिखा है कि "यह समस्त समीकरण केवल विधिवत् है, ये केवल एकरूप तथा स्वयं सिद्ध वचन हैं, जो कुछ भी नहीं बताते, इस प्रकार वे द्रव्य के परिमाण सिद्धान्त के ही भिन्न रूपों के समान है।"[1] इस प्रकार ये समीकरण प्राचीन समीकरणों की तुलना में उत्तम नहीं माने जा सकते।

(8) स्थिर उत्पादन की अवास्तविक मान्यता—कीन्स के मौलिक समीकरण उत्पादन की अवास्तविक मान्यता पर आधारित होने के कारण पूर्ण नहीं हैं, क्योंकि यह समाज में पूर्ण रोजगार की आदर्श स्थिति होने पर ही सम्भव हो सकता है। इसी प्रकार इन समीकरणों में मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन होने से उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन लाना सम्भव नहीं होता। इस प्रकार कीन्स के मौलिक समीकरण अवास्तविक मान्यताओं पर आधारित होने के कारण त्रुटिपूर्ण हैं।

(9) मूल्य स्तर में परिवर्तन वाली शक्तियों का अभाव—कीन्स के मौलिक समीकरण इन समस्त शक्तियों की व्याख्या करने में असमर्थ रहते हैं जो मूल्य स्तर में होने वाले परिवर्तनों को प्रोत्साहित करते हैं। मूल्यों में होने वाले परिवर्तनों के लिए अन्य शक्तियों का अध्ययन करना भी आवश्यक है जिसे इन समीकरणों में छोड़ दिया गया है।

(10) परिभाषायें दोषपूर्ण हैं—मौलिक समीकरणों में कुल बचत उत्पादन लागत व मूल्यों के अन्तर को हानि या लाभ द्वारा प्रदर्शित किया गया है परन्तु यह विचार एवं परिभाषायें दोषपूर्ण हैं।

(11) स्थिर अर्थव्यवस्था में लागू होना—कीन्स के मौलिक समीकरण स्थिर अर्थव्यवस्था में ही लागू होते हैं,

1. "All these equations are purely formal; they are mere identities; truisms which tell us nothing in themselves. In this respect, they resemble all other versions of the Quantity Theory of Money."—J. M. Keynes : A Treatise on Money, Vol. I, p. 138.

(3) रावर्टसन के विचार।
(4) कीन्स का सिद्धान्त।

(1) प्रतिष्ठित सिद्धान्त

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की यह धारणा थी कि समाज में पूर्ण रोजगार की स्थिति विद्यमान रहती है क्योंकि पूर्ति के बढ़ने के साथ-साथ माग में भी स्वयं वृद्धि हो जाती है, फलस्वरूप समाज में उत्पादित किया गया समस्त माल सरलता से बिक जाता है। इनका यह मत रहा है कि समाज में अति उत्पादन एवं सामान्य बेरोजगारी की स्थिति रहना सम्भव नहीं है। समाज में श्रमिकों की माग बढ़ जाने पर नवीन श्रमिक उपलब्ध हो जाते हैं और मजदूरी कम हो जायेगी, लागत व्यय घट जायेगा, व मूल्य गिरने से समस्त निर्मित माल सरलता से बिक जायेगा। बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति होने पर बेरोजगारी की मात्रा कम हो जायेगी। यदि इस सम्बन्ध में सरकार हस्तक्षेप करती है तो बेरोजगारी की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। प्रतिष्ठित रोजगार के सिद्धान्त का सम्बन्ध सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त से लगाया जा सकता है जबकि सीमान्त उत्पादकता गिरने पर मजदूरी की दरों में कमी कर दी जाती है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के पूर्ण रोजगार सिद्धान्त को जे० बी० से के सिद्धान्त से तुलना की जा सकती है जिसमे उन्होंने यह माना कि पूर्ति स्वयं माग की सृष्टि करती है। इस प्रकार प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार अर्थव्यवस्था में संतुलन की स्थिति पूर्ण रोजगार की स्थिति मानी जाती है, जिसमें बचत एवं विनियोग में समानता स्थापित करने के प्रयास किये जाते हैं।

आलोचनाएं

प्रतिष्ठित सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनाएँ निम्न हैं—

(1) **अवास्तविक मान्यताओं पर आधारित**—प्रतिष्ठित सिद्धान्त की विचारधारा अनेक अवास्तविक मान्यताओं पर आधारित है जो वास्तविक जीवन में सही सिद्ध नहीं हो पाती। यह समझा गया कि समाज में जो भी बचत होती है, वह समस्त विनियोजन कर दी जाती है। परन्तु यह सम्भव नहीं है क्योंकि सम्पूर्ण बचत का विनियोग सम्भव नहीं है। बचत प्राय. समाज की आय पर निर्भर करती है। आय बढ़ने पर बचत में वृद्धि होती है। यह धारणा कि ब्याज दर में वृद्धि से विनियोग में बचत के अनुपात से वृद्धि होगी, गलत है।

(2) **विनियोग की सूद पर निर्भरता असत्य**—प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की यह धारणा थी कि समाज में विनियोग की मात्रा ब्याज की दर पर निर्भर रहती है। परन्तु यह धारणा असत्य है क्योंकि विनियोग पूंजी की मात्रा, पूंजी की सीमान्त उत्पादकता एवं ब्याज की दर के पारस्परिक सम्बन्ध पर निर्भर करती है। सर्वप्रथम बचत में वृद्धि होकर, ब्याज दर में कमी होना, विनियोग बढ़ने एवं आय में वृद्धि होने का क्रम व धारणा सत्य नहीं है। समाज की आय का निर्धारण बचत एवं विनियोग द्वारा ही नहीं होता, बल्कि अन्य तत्त्वों का भी प्रभाव पड़ता है जिसे भुला दिया गया है। आय का निर्धारण उपभोग की प्रवृत्ति, पूंजी की सीमान्त उत्पादकता, मुद्रा की राशि एवं मुद्रा संचय की प्रवृत्ति पर निर्भर करता है। समाज में बचत में वृद्धि होने पर वस्तुओं की माग गिर जाती है, फलस्वरूप विनियोग में वृद्धि न होकर आय में कमी में होगी।

(3) **ब्याज दर को अनावश्यक महत्त्व**—प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने अपने सिद्धान्त में ब्याज दर को अनावश्यक रूप में महत्त्व दिया है और ब्याज को ही इस सिद्धान्त का मुख्य आधार माना है, जो उचित प्रतीत नहीं होता।

(4) **बचत व विनियोग की समानता**—प्रतिष्ठित सिद्धान्त में इस बात पर ध्यान दिया गया कि केवल पूर्ण रोजगार की स्थिति में ही बचत एवं विनियोग की समानता पाई जाती है, परन्तु यह धारणा सही नहीं है।

(2) विक्सेल एवं ओहिलिन के विचार

विक्सेल जिन्हें मार्शल के साथ नवसंस्थापक सम्प्रदाय का सदस्य माना जाता है ने टूक के विश्लेषण को ही आधार मानकर उसे अपने द्रव्य एवं मूल्य के सिद्धान्त का प्रमुख अंग बनाया था। "मूल्यों में सामान्य वृद्धि होना केवल उसी समय

सम्भव है जबकि सामान्य माग पूर्ति से अधिक हो गई हो या अधिक हो जाने की सम्भावना हो।"[1] द्रव्य की मात्रा में परिवर्तन का सामान्य मूल्य स्तर पर उसी समय प्रभाव पड़ सकता है जबकि निजी वस्तुओं एवं सेवाओं के मूल्यों पर भी इसका प्रभाव पड़ा हो। इस प्रकार इसने द्रव्य एवं मूल्यों के सिद्धान्त में व्यक्तिगत कीमतों को महत्व देकर अर्थव्यवस्था के मौद्रिक अंगों को जो पहले पृथक् थे, एक साथ जोड़ दिया।

इन अर्थशास्त्रियों ने बचत एवं विनियोग धारणाओं को वास्तविक एवं प्रत्याशित दो अर्थों में प्रयोग किया है। वास्तविक विचार के अनुसार बचत एवं विनियोग भूतकाल की चीजें समझी गई एवं उन्हें सदा बराबर माना गया। समीकरण के रूप में बचत एवं विनियोग दोनों ही आय—उपभोग (y—c) के बराबर माने गये। प्रत्याशित दृष्टि से आय, बचत एवं विनियोग के सम्बन्ध में भावी अनुमान लगाये जाते हैं। समाज में रहने वाला प्रत्येक व्यक्ति भविष्य में विशेष आय प्राप्त करने की योजना बनाता है और उसी के अनुरूप विनियोग करता है। व्यक्तियों व फर्मों आदि के सामूहिक योग के आधार पर सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के लिए अनुमान लगाये जाते हैं। बचत एवं विनियोग में समानता न होने पर वास्तविक आय उसके प्रत्याशित आय से भिन्न होती है। इस अन्तर को अप्रत्याशित आय एवं अप्रत्याशित विनियोग या आय कहते हैं। यदि विनियोग बचत से अधिक हो, तो वास्तविक आय भी अनुमानित आय से अधिक होगी। समाज में आयोजित बचत एवं अप्रत्याशित आय वास्तविक विनियोग के बराबर होती है। इस प्रकार वास्तविक विनियोग बराबर होंगे। प्रत्याशित दृष्टि से बचत एवं विनियोग में अन्तर होता है परन्तु वास्तविक दृष्टि में यह दोनों सदैव समान होते हैं।

आलोचना

इन अर्थशास्त्रियों के विचारों की कई दृष्टि से आलोचना की गई, जो कि निम्न प्रकार है—

(1) **ब्याज की दर पर अवलम्बित**—सिद्धान्त में बचत एवं विनियोग को ब्याज की दर पर अवलम्बित माना गया है, परन्तु यह धारणा पूर्णतः सही नहीं है।

(2) **असन्तोषजनक सामंजस्य प्रक्रिया**—इनके सिद्धान्तों में बचत एवं विनियोग में सामंजस्य स्थापित करने की प्रक्रिया भी उचित एवं संतोषप्रद नहीं है।

(3) **ब्याज दर पर निर्मित भ्रमात्मक धारणा**—बचत एवं विनियोग की धारणा ब्याज की दर पर ही आधारित रही है, जो वास्तव में सही नहीं है।

(4) **विश्लेषण का अभाव**—बचत एवं विनियोग की असमानता से समाज की सम्पूर्ण माग प्रभावित होती है जिससे आय एवं रोजगार में परिवर्तन होते रहते हैं। इस प्रकार से उनमें विश्लेषण का अभाव पाया जाता है।

(3) रावर्टसन के विचार

रावर्टसन के अनुसार समाज में बचत एवं विनियोग में सदैव असमानता बनी रहती है और देश की आर्थिक व्यवस्था पर उसका बुरा प्रभाव पड़ता है। एक व्यक्ति को जो आय आज प्राप्त होती है वह कल व्यय की जायेगी। आज की आय को उपार्जित आय माना जाता है जो कल व्यय होगी जिसे व्ययसाध्य आय कहा गया है। अतः आय एवं व्यय का अन्तर ही बचत माना जाता है। इसी प्रकार किसी विशेष दिन जो धन विनियोग किया जाये उसे उस दिन का विनियोग कहेंगे। यदि बचत के अतिरिक्त अन्य साधनों से भी धन निकालकर विनियोग किया जाये तो ऐसा विनियोग बचत की मात्रा से अधिक होगा, और उस दिन की उपार्जित आय व्ययसाध्य आय से अधिक होगी और मुद्रा-स्फीति की सम्भावना बढ़ जाती है। इसके विपरीत यदि बचत विनियोग की अपेक्षा अधिक हो तो वर्तमान की उपार्जित आय उपार्जित-आय-व्यय से कम होगी और वह व्ययसाध्य आय से भी कम होगी, फलस्वरूप देश में अपस्फीति की स्थिति उत्पन्न होने की सम्भावना बढ़ जाती है।

1. "A general rise in prices is therefore only conceivable on the supposition that the general demand has for some reason become or is expected to become, greater than the supply.' —Knut Wicksell : Lectures on Political Economy Vol. II, Money, pp. 159-160

साम्य की स्थिति को प्रदर्शित करता है।"[1]

कीन्स ने बचत एवं विनियोग का अध्ययन दो दृष्टि से किया है जो कि निम्न है—

(i) लेखागत समानता (Accounting equality)

(ii) कार्यगत समानता (Functional equality)

(i) लेखागत समानता—राष्ट्र की आय की गणना करते समय वास्तविक बचत एवं विनियोग को सदैव समान या बराबर माना गया है। कीन्स ने बचत को वर्तमान आय एवं उपभोग के अन्तर के बराबर माना है। इसी प्रकार विनियोग को आय का वह अंश माना है जो उपभोग पर व्यय न होकर अन्य पूंजीगत सामग्री पर व्यय किया जाता है। इस दृष्टि से बचत एवं विनियोग की क्रियाएं पृथक् पृथक् होती हैं तथा जनता के विभिन्न वर्गों द्वारा विविध प्रकार से इन्हें सम्पन्न किया जाता है। व्यक्तिगत दृष्टि से इनमें अन्तर होना माना जाता है, परन्तु समाज की दृष्टि से इन्हें समान माना जाता है, क्योंकि एक व्यक्ति की बचत दूसरे व्यक्ति की अ-बचत से सन्तुलन हो जाने की प्रवृत्ति रखती है, जिससे बचत एवं विनियोग में समानता बनी रहती है। इस विचार को बीजगणित के रूप में निम्न प्रकार रखा जा सकता है :—

$Y=C+I$ अत $y-C+S\ldots$ (i)

अथवा $I=y-C$

अथवा $S=y-C$ $Y=C+I\ldots\ldots$ (ii)

$I=S$

यहां पर, $Y=$ कुल आय (Total Income)

$I=$ विनियोग (Investment)

$S=$ बचत (Savings)

$C=$ उपभोग (Consumption)

इस समीकरण में बचत एवं विनियोग को बराबर ही माना गया है। समाज की सम्पूर्ण आय (y) उपभोग की मात्रा (अर्थात् C) तथा विनियोग की मात्रा (अर्थात् I) से प्राप्त होती है। अन्य शब्दों में $y=C+I$ समाज की कुल आय का वह भाग जो उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन द्वारा प्राप्त हो वह आय की उस मात्रा से बराबर होता है, जो कि उपभोग की वस्तुओं पर व्यय किया जाये। इसी प्रकार विनियोग, मुद्रा की उस मात्रा को प्रदर्शित करता है जो पूंजीगत वस्तुओं पर ही व्यय की जाये। इस प्रकार समाज की कुल बचत (अर्थात् S) को कुल आय एवं उपभोग के अन्तर (अर्थात् y—C) के बराबर होता है, और चूंकि विनियोग (अर्थात् I) भी कुल आय व उपभोग के अन्तर (अर्थात् y—C) के बराबर होती है तो बचत एवं विनियोग को बराबर माना जाता है अर्थात् $S=I$.

आय सिद्धान्त में निहित बातें

1. आय से आशय मौद्रिक आय एवं वास्तविक आय दोनों से होता है।

2. कुल व्यय कुल उत्पादन मूल्य को सूचित करता है जिससे उपभोग वस्तुओं की बिक्री से प्राप्त कुल आय और विनियोग वस्तुओं की बिक्री से प्राप्त कुल आय के बराबर होती है। सूत्र रूप में $y=C+I$

3. मौद्रिक आय समाज की व्यय करने की क्षमता को निर्धारित करती है और समाज का कुल व्यय उत्पादन के स्तर व रोजगार को निर्धारित करता है।

4. कुल प्रभावपूर्ण मांग से आशय कुल व्यय से होता है। सूत्र रूप में $E=C+I$

5. किसी भी देश की कुल आय उसके कुल व्यय के बराबर होनी है।

इस प्रकार किसी भी समयावधि में मुद्रा का मूल्य एक ओर मौद्रिक आय और दूसरी ओर वास्तविक आय के प्रवाह पर निर्भर होता है। सूत्र रूप में

$$P=\frac{y}{O}$$

1. "The Keynesian Saving and Investment schedules are to general equilibrium analysis what the Marshallian supply and demand curves are to partial equilibrium analysis."—Prof. Kurihara, Quoted by L. M. Roy : Meney and Monetary Institutions, 1966, p. 147.

जहां पर,

P = सामान्य मूल्य स्तर।

y = मौद्रिक आय।

O = वास्तविक आय।

इस प्रकार लेखांकन दृष्टि से बचत एवं विनियोग में समानता का अर्थ यह होगा कि अर्थशास्त्र में जनता की धन-राशि विनियोग करने की इच्छा एवं बचत करने की इच्छा में समानता नहीं होगी, उस समय तक उत्पादकों को रोजगारी एवं उत्पादन में निरन्तर परिवर्तन करने होंगे। ऐसे परिवर्तन करने पर ही वे अपने लाभ की मात्रा को अधिकतम सीमा तक ले जा सकेंगे। ऐसे परिवर्तन उस समय तक होते रहेंगे जब तक की अर्थव्यवस्था सन्तुलन की स्थिति तक नहीं पहुंच जाती और बचत एवं विनियोग की मात्रा समान नहीं हो जाती।

(ii) कार्यात्मक समानता—इस समानता के निर्धारण के लिए बचत एवं विनियोग की सूची का निर्माण किया जाता है और ये सूचियां आय के आधार पर बनाई जाती हैं। समाज की बचत एवं विनियोग समाज की आय पर निर्भर करती है और आय में परिवर्तन लाकर ही बचत एवं विनियोग में समानता लाई जा सकती है। यद्यपि बचत एवं विनियोग एक-दूसरे पर निर्भर न होकर स्वतन्त्र होते हैं, फिर भी इन दोनों में समानता आय के द्वारा ही स्थापित की जा सकती है। इस प्रकार बचत एवं विनियोग समाज पर ही निर्भर करते हैं तथा इनमें समानता भी आय के द्वारा ही लाई जा सकती है। इसे निम्न सूची द्वारा समझाया जा सकता है—

सूची

विनियोग सूची		बचत सूची	
विनियोग	आय	बचत	आय
90	600	100	600
80	500	80	500
40	200	20	200

इस प्रकार आय के परिमाण के आधार पर ही बचत एवं विनियोग में समानता लाई जा सकती है। यदि समाज में बचत विनियोग से अधिक है तो समाज की आय में कमी की प्रवृत्ति पाई जायेगी क्योंकि बचत अधिक होने पर मांग में कमी होगी। फलस्वरूप उत्पादन व रोजगार में कमी होकर आय घटेगी व उससे बचत घटेगी व बचत एवं विनियोग में समानता स्थापित होगी। बचत एवं विनियोग में समानता होने पर अर्थव्यवस्था में सन्तुलन स्थापित होता है। बचत व विनियोग में समानता अपूर्ण रोजगार-स्तर पर भी हो सकती है। इसके विपरीत यदि विनियोग बचत से अधिक है तो मांग में वृद्धि होगी, उत्पादन व रोजगार बढ़ेगा व आय में वृद्धि होगी। आय बढ़ने से बचत में वृद्धि होगी व बाद में सन्तुलन में एक स्थिति कायम हो जायेगी जिसमें बचत एवं विनियोग में समानता स्थापित हो। बचत एवं विनियोग के पारस्परिक सम्बन्धों में परिवर्तन होने से आय में भी परिवर्तन होता है, फलस्वरूप इन दोनों में समानता स्थापित हो जाती है। इस प्रकार बचत एवं विनियोग का सिद्धान्त सम्पूर्ण मांग के सिद्धान्त पर ही आधारित माना जाना चाहिए। समाज की मांग उपभोग एवं विनियोग से ही बनती है। यदि विनियोग स्थिर हो और उपभोग में वृद्धि कर दी जाये तो बचत कम होगी एवं विनियोग अधिक हो जायेंगे। फलस्वरूप मांग में वृद्धि होकर आय एवं रोजगार में वृद्धि होगी। आय में वृद्धि होने से बचत में भी वृद्धि होगी, परिणामस्वरूप बचत एवं विनियोग फिर से बराबर हो जायेंगे। इसके विपरीत विनियोग स्थिर रहने पर यदि उपभोग में कमी कर दी जाये तो बचत में वृद्धि होगी व सम्पूर्ण मांग भी गिर जायेगी, परिणामस्वरूप आय में कमी होकर बचत गिरेगी व पुनः बचत एवं विनियोग में समानता स्थापित हो जायेगी। बचत एवं विनियोग में समानता रोजगारी के विभिन्न स्तरों पर सम्भव हो सकती है। यह आवश्यक भी नहीं है कि बचत एवं विनियोग में समानता होने से समाज में पूर्ण रोजगार की स्थिति उत्पन्न हो जाये तथा बचत एवं विनियोग में सामञ्जस्य सर्वदा आय में परिवर्तन से ही स्थापित हो पाता है।

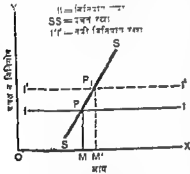
देश में बचत की मात्रा पर बचतकर्ता की आय, उसकी पारिवारिक सदस्यता, ब्याज की दर एवं दूरदर्शिता

पर निर्भर करती है। समाज में आय अधिक हो जाने पर बचत बढ़ जाती है तथा आय कम होने पर बचत भी कम हो जाती है। इसी प्रकार परिवार के सदस्यों की संख्या बढ़ जाने पर बचत कम हो जाती है। यदि बाजार में ब्याज की दर बढ़ा दी जाये तो भी बचत में वृद्धि हो जाती है।

विनियोग की मात्रा व्यापारियों के निर्णयों, लाभ सम्बन्धी आशाएं, उत्पत्ति के साधनों के पुरस्कार व भावी नीतियों आदि पर निर्भर करता है। यदि ब्याज दर बढ़ा दी जाये तो बचत में वृद्धि अवश्य होती है, परन्तु विनियोग कम हो जाते हैं। देश में मौद्रिक आय में परिवर्तन लाकर बचत एवं विनियोगों की मात्रा में समानता स्थापित की जा सकती है।

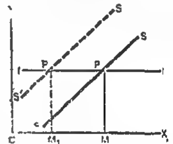
बचत एवं विनियोग में असाम्यता के परिणाम

(1) जब विनियोग बचत से अधिक हो (I>S)—विनियोग बचत से अधिक हो तो उत्पादन बढ़ता है, श्रमिकों को रोजगार मिलता है व आय तथा उपभोग में वृद्धि हो जाती है जिससे मूल्य स्तर बढ़ जाता है। अतः आय बढ़ने पर बचत भी बढ़ने लगती है और बचत व विनियोग के मध्य का अन्तर घटने लगता है। रोजगार व आय में उस समय तक वृद्धि होती है जब तक बचत बढ़कर पुनः विनियोग के बराबर न आ जाये। इसे चित्र 9 1 द्वारा दिखा सकते हैं। S S व I I रेखा P बिन्दु पर काटती है जो सन्तुलन बिन्दु है। विनियोग बढ़ने पर I'I' रेखा बचत को P' पर काटती है तो बचत व विनियोग के मध्य नया सन्तुलन P' है व नया आय का स्तर P' M' है।



चित्र 9 1

(2) जब बचत विनियोग से अधिक हो (S>I)—बचत विनियोग से अधिक होने पर उत्पादन कम कर दिया जायेगा जिससे रोजगार व राष्ट्रीय आय में कमी होगी तथा मूल्य स्तर गिर जायेगा। वस्तुतः बचत आय संकुचन को उत्पन्न करती है और बचत बढ़ने से उपयोग व विनियोग दोनों ही कम हो जाते हैं और यह प्रक्रिया उस समय तक चलती रहेगी जब तक कि बचत व विनियोग बराबर न हो जायें। इसे चित्र 9 2 में स्पष्ट किया गया है—



चित्र 9 2

बचत व विनियोग का साम्य बिन्दु P है और आय का स्तर PM है। बचत में वृद्धि होने (S'S') पर नया साम्य बिन्दु P^1 है और आय का स्तर P'M' है। अतः जब बचत विनियोग से अधिक हो तो दोनों के बीच में समानता अपेक्षाकृत नीची आय के स्तर पर होती है।

(3) बचत स्थिर हो और विनियोग कम हो—ऐसी स्थिति में बचत विनियोग से कम होगी और सन्तुलन एक निम्न आय के स्तर पर होगा। इसे पृष्ठ 124 पर दिये चित्र 9 3 द्वारा भी दिखा सकते हैं—

चित्र में II व SS रेखा P बिन्दु पर काटती है जो सन्तुलन बिन्दु है और आय का स्तर PM है। विनियोग कम होने तथा बचत स्थिर होने पर सन्तुलन P' है और आय का स्तर P'M' है। अतः नया सन्तुलन अपेक्षाकृत कम आय के स्तर पर होता है।

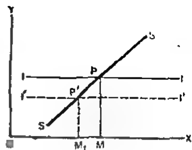
कीन्स के सिद्धान्त की विशेषताएं

कीन्स के आय एवं बचत व विनियोग सिद्धान्त की प्रमुख विशेषतायें निम्न हैं—

(1) समाज की आय—समाज की आय में वृद्धि होने से उपभोग एवं बचत में भी वृद्धि सम्भव होती है।

(2) पूर्ण रोजगार—देश में पूर्ण रोजगार की स्थिति की कल्पना की जाती है। समाज में पूर्ण रोजगार की स्थिति उत्पन्न न होने पर, आय में वृद्धि होने का मूल्य-स्तर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि जितनी मात्रा में आय में वृद्धि होती है, उतनी ही वृद्धि उत्पादन में सम्भव हो जाती है।

(3) सरकारी प्रयास—यदि देश मे बचत एवं विनियोग की मात्रा मे अन्तर आ जाये और वस्तुओ के मूल्य गिरने लगें तो सरकार सर्वप्रथम चलन मे मुद्रा की मात्रा को बढ़ाकर जनता की आय मे वृद्धि करके माग मे वृद्धि एव मूल्यो मे वृद्धि सम्भव कर सकती है।



चित्र-9 3

(4) सामान्य आर्थिक स्थिति—इस सिद्धान्त मे यह माना गया है कि पूर्ण रोजगार की स्थिति तक आने के लिए सामान्य आर्थिक स्थिति की चेष्टा सरकार द्वारा ही की जाती है।

(5) बचत एव विनियोग बराबर—कीन्स की यह मान्यता है कि देश की सामान्य स्थिति मे बचत एव विनियोग की मात्रा समान रहती है और आय में वृद्धि होने पर भी मूल्यों मे वृद्धि सम्भव नही हो पाती।

(6) वृद्धि क्रम—यह माना गया है कि उपभोग मे वृद्धि से माग, विनियोग, रोजगार, उत्पादन एव आय मे भी वृद्धि हो जाती है और उत्पादन का यह क्रम निरन्तर चलता रहता है।

(7) मुद्रा की मात्रा—इस सिद्धान्त मे यह माना गया है कि मुद्रा की प्रचलित मात्रा, आय परिवर्तन पर निर्भर करती है।

(8) सामान्य सिद्धान्त से मिलान करना—यह सिद्धान्त द्रव्य के मूल्य निर्धारण सिद्धान्त को सापेक्ष मूल्यों के सिद्धान्त से जोड देता है और इस प्रकार यह अर्थशास्त्र के सामान्य सिद्धान्त से मिलान करने मे सफल हो जाता है।

(9) उत्पादन सिद्धान्त से जोड़ना—द्रव्य के मूल्य निर्धारण सिद्धान्त को उत्पादन के सिद्धान्त द्वारा सफलतापूर्वक जोडा गया है। द्रव्य की मात्रा मे परिवर्तन होने से ब्याज दर प्रभावित होती है और विनियोग मे परिवर्तन होकर उत्पादन मे परिवर्तन हो जाता है, फलस्वरूप उत्पादन लागत परिवर्तित होकर, मूल्यो पर भी प्रभाव पड़ता है।

कीन्स के सिद्धान्त की मान्यताए

कीन्स का यह सिद्धान्त निम्न मान्यताओ पर आधारित है—

(1) आनुपातिक वृद्धि—सिद्धान्त मे यह कल्पना की गई है कि जिस मात्रा मे द्रव्य की मात्रा मे परिवर्तन होता है, इसी अनुपात मे माग की मात्रा मे भी वृद्धि हो जाती है।

(2) उत्पादन साधनो की पूर्ति—राष्ट्र मे पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त होने से पूर्व उत्पादन साधनो की पूर्ति पूर्णतया मूल्य सापेक्ष मानी जाती है और पूर्ण रोजगार के बाद उनकी पूर्ति पूर्ण रूप से मूल्य निरपेक्ष हो जाती है।

इन्ही मान्यताओ के आधार पर नवीन मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है, "जब तक अर्थव्यवस्था मे बेरोजगारी विद्यमान है, उस समय तक मुद्रा की मात्रा मे परिवर्तन होने पर रोजगार की मात्रा मे उसी अनुपात में परिवर्तन होंगे, और जब पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त हो जाती है तो मूल्यो मे परिवर्तन मुद्रा की मात्रा के अनुपात मे होंगे।"[1]

यह सिद्धान्त प्राचीन सिद्धान्त की तुलना मे अच्छा माना जाता है तथा यह व्यावहारिक आर्थिक नीतियो का अच्छा पथ-प्रदर्शक भी माना जाता है।

बचत व विनियोग सिद्धान्त एव परिमाण सिद्धान्त मे तुलना

बचत एव विनियोग सिद्धान्त मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त से निम्न कारणो से श्रेष्ठ है—

(1) मुद्रा की कमी-तेजी रोकने मे समर्थ—यह एक तथ्य है कि व्यापारी ऋण लेकर ही प्राय. विनियोग की मात्रा मे वृद्धि किया करते हैं। यदि बाजार मे ब्याज की दर बढ जाये अथवा बैंक ऋण देना बन्द कर दें तो विनियोग की

1. "So long as there is unemployment, employment will change in the same proportion as the quantity of money; and when there is full employment, price will change in the same proportion as the quantity of money."—J. M. Keynes : op cit , p. 296.

(8) व्यापक महत्त्व—कीन्स के सिद्धान्त का महत्व अधिक व्यापक है और यह सिद्धान्त मुद्रा के अतिरिक्त वस्तुओं एवं सेवाओं की माग व पूर्ति को भी महत्व प्रदान करता है तथा बेरोजगारी की स्थिति मे समस्त तत्वों का प्रयोग करके उसे दूर करने के प्रयास किया जाते हैं। कीन्स का यह विचार है कि बचत एवं विनियोग के अन्तर के कारण ही मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन सम्भव हो जाते है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि कीन्स का सिद्धान्त मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की तुलना मे तर्कसंगत, विश्वसनीय एव व्यावहारिक है।

कीन्स के सिद्धान्त के दोष

कीन्स के सिद्धान्त के प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं—

(1) मान्यताएं अधिक होना—कीन्स के सिद्धान्त के साथ इतनी अधिक मान्यताएँ जुड़ी हैं कि यह सिद्धान्त अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं हो पाया।

(2) अपूर्ण—अन्य सिद्धान्तो की भाति यह सिद्धान्त भी मुद्रा मूल्य के निर्धारण की समस्या पर विचार करने मे असमर्थ है। इस प्रकार मे यह सिद्धान्त अधूरा एवं अपूर्ण है।

(3) कारण बताने मे असमर्थ—पूर्ण रोजगार आने से पूर्व ही मूल्यो मे वृद्धि क्यो होती है, इसे बताने मे यह सिद्धान्त असफल रहता है।

(4) रोजगार सम्बन्धी धारणा दोषपूर्ण—सिद्धान्त की यह मान्यता रहती है कि समाज मे जब तक बेरोजगारी विद्यमान है, उस समय तक द्रव्य की मात्रा के अनुपात रोजगार के आकार मे ही परिवर्तन होता रहता है, परन्तु रोजगार की प्राप्ति के पश्चात् यह कहना कि केवल द्रव्य की मात्रा के आधार पर ही मूल्यो मे परिवर्तन होते रहते हैं, सत्य नही है। वास्तविक जीवन के मूल्यो मे परिवर्तन रोजगार की स्थिति के पहुंचने से पूर्व ही हो सकते हैं और सिद्धान्त की इस धारणा को गलत सिद्ध कर देते हैं। डिडले डिलार्ड के अनुसार "मूल्यों में वृद्धि केवल अवसर व वातावरण से ही नहीं होती। मूल्यों मे वृद्धि उत्पादन बढ़ने पर ही आवश्यक रूप से होती है और इसका अर्थशास्त्र के स्थापित सिद्धान्तो के आधार पर विश्लेषण किया जा सकता है।"[1]

कीन्स के सिद्धान्त मे दोष होने पर भी निस्सन्देह यह कहा जा सकता है कि यह सिद्धान्त मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त (प्राचीन सिद्धान्त) से उत्तम, वास्तविक एव व्यावहारिक है।

1. "There are not mere chance increases from fortuitous circumstances The increases in prices that occur as output expands are more or less inevitably associated with expanding output and can be explained in terms of established principles of economic analysis"—Dudley Dillard : The Economics of John Maynard Keynes, p. 227.

10

मुद्रा-स्फीति एवं मुद्रा-संकुचन
(INFLATION AND DEFLATION)

प्रारम्भिक : वर्तमान मुद्रा व्यवस्था में मुद्रा के मूल्य मे स्थायित्व का अभाव पाया जाता है और उसमें देश की आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक नीतियो के आधार पर निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। विकासशील अर्थव्यवस्था में वस्तुओ के मूल्य बढ़ने पर मुद्रा के मूल्य मे कमी हो जाती है और वस्तुओ के मूल्य गिरने पर मुद्रा के मूल्य मे वृद्धि हो जाती है। इन परिस्थितियो को ही मुद्रा-स्फीति एवं मुद्रा-सकुचन कहा गया है। व्यापारिक तेजी एवं मन्दी मुद्रा प्रसार एवं मुद्रा सकुचन के ही रूप हैं जिसके भीषण दुष्परिणाम देश की अर्थव्यवस्था पर पड़ते हैं। देश के आर्थिक विकास के लिए अर्थ-व्यवस्था मे स्थिरता लाना आवश्यक होगा। परन्तु मुद्रा-स्फीति अथवा मुद्रा-संकुचन केवल मूल्यो मे वृद्धि अथवा कमी की स्थिति को ही नहीं प्रदर्शित करता, बल्कि अन्य प्रभावों को भी बताता है। अत. वस्तु-स्थिति की जानकारी के लिए इनका विस्तृत अध्ययन करना आवश्यक है।

मुद्रा-स्फीति
(Inflation)

प्राय: 1934 की मन्दी की समाप्ति तक यह समझा जाता था कि मुद्रा-स्फीति वह स्थिति है जिसमें मुद्रा की मात्रा मे असाधारण रूप से वृद्धि होकर वस्तुओं के मूल्यों मे वृद्धि हो जाये तथा मुद्रा की शक्ति घट जाये। केवल मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि को ही मुद्रा-स्फीति माना जाता रहा। इस विचार का खण्डन सर्वप्रथम कीन्स ने किया और उन्होने मुद्रा प्रसार का कारण बचत विनियोग एव ब्याज की दर को बतलाया। इस सम्बन्ध मे कीन्स ने 'मुद्रा प्रसार न्यूनता' (inflationary gap) की धारणा प्रस्तुत की और स्थायी मूल्यों पर, सम्भावित व्यय के आधिक्य को 'मुद्रा प्रसार न्यूनता' कहा गया। देश मे उपयोग, विनिमय एव सरकारी व्यय (C+I+G) पर सम्भावित व्यय निर्भर करता है। इसी प्रकार रोजगार की मात्रा एव तकनीकी दशाओ पर 'उपलब्ध उत्पादन' निर्भर करता है। जब देश मे विनियोग एवं सरकारी व्यय के कारण मौद्रिक आय मे वृद्धि हो जाये लेकिन उत्पादन क्षमता सीमित होने के कारण वस्तुओ व सेवाओं की पूर्ति में वृद्धि न हो तो 'मुद्रा प्रसार न्यूनता' की स्थिति उत्पन्न हो जाती है तो उस समय तक बनी रहती है जब तक कि यह न्यूनता समाप्त न हो जाये, फलस्वरूप मूल्यो मे वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार मुद्रा प्रसार उस स्थिति को बताया गया है, जिसमे मौद्रिक आय आय-अर्जन प्रक्रिया के अनुपात से अधिक तेजी से बढ़ जाती है।"[1]

सैद्धान्तिक रूप से यह कहा जाता है कि पूर्ण रोजगार की प्राप्ति से पूर्व प्रभावपूर्ण माग मे वृद्धि होने पर, उत्पादन मे वृद्धि होती है और मूल्य नही बढ पाते। परन्तु जब पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त हो जाती है तो मौद्रिक आय मे वृद्धि होने पर उत्पादन मे वृद्धि सम्भव नहीं हो पाती व मूल्यों मे वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार जब सरकारी व्यय की वृद्धि

1. "Inflation is a situation in which money income is expanding more than in proportion to income earning activity."—A. C. Pigou : Types of War Inflation, Economic Journal, December 1941.

मौद्रिक आय को बढ़ाकर उत्पादन में वृद्धि सम्भव न कर सके तो मुद्रा प्रसार की स्थिति प्रारम्भ हो जाती है। प्रायः देखा जाता है कि देश में अर्थव्यवस्था में भिन्न-भिन्न प्रकार की कठिनाइयों के कारण माग की वृद्धि का एक भाग मूल्यों की वृद्धि में व्यय कर दिया जाता है तथा शेष भाग को ही उत्पादन वृद्धि में व्यय किया जाता है और इस प्रकार अपूर्ण रोजगार में भी मुद्रा प्रसार सम्भव हो जाता है। जब देश में पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त हो जाती है और मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने से मौद्रिक आय में वृद्धि हो जाये तो मुद्रा की मात्रा का मूल्य स्तर के साथ एक प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, जिसमें मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने से मूल्य स्तर में भी आनुपातिक परिवर्तन हो जाता है। इस प्रकार पूर्ण रोजगार की प्राप्ति पर ही मुद्रा प्रसार सम्भव हो पाता है। पूर्ण रोजगार की अवस्था न होने पर मुद्रा प्रसार एक अल्पकालीन प्रक्रिया है। मुद्रा प्रसार की समस्या दीर्घकाल में नहीं होती है, क्योंकि दीर्घकाल में जनसंख्या की वृद्धि, उत्पादन तकनीकी में सुधार, नवीन साधनों की खोज आदि से बढ़ी हुई माग को पूर्ण करना सम्भव हो जाता है और मूल्यों में वृद्धि सम्भव नहीं हो पाती।

परिभाषाएं

मुद्रा प्रसार की प्रमुख परिभाषाएं निम्नलिखित हैं—

(1) क्राउथर के अनुसार—"मुद्रा प्रसार वो एक ऐसी अवस्था है, जिसमें मुद्रा का मूल्य गिर रहा है, अथवा मूल्य बढ़ रहे हैं।"[1]

(2) पीगू के अनुसार—"मुद्रा प्रसार उस समय होता है, जबकि उत्पादन के साधनों द्वारा जिसके लिए भुगतान किया जाता है, उत्पत्ति की तुलना में मौद्रिक आय सापेक्षिक रूप में अधिक बढ़ रही हो।"[2]

(3) चैम्बर शब्दकोष के अनुसार—"मुद्रा-स्फीति वह है जिसमें मुद्रा अथवा साख अथवा दोनों की मात्रा में खरीद करने के लिए उपलब्ध वस्तुओं एवं सेवाओं की मात्रा की तुलना में एकायक तीव्र गति से वृद्धि हो जाती है। मुद्रा स्फीति सदैव मूल्य स्तर में वृद्धि उत्पन्न करती है।"[3]

(4) ग्रेगोरी के अनुसार—"क्रय-शक्ति की मात्रा में असाधारण वृद्धि की अवस्था को मुद्रा प्रसार कहते हैं।"[4]

(5) केमरर के अनुसार—"व्यवसाय की भौतिक मात्रा की तुलना में मुद्रा एवं चलन जमा की राशि बहुत अधिक हो जाने की स्थिति को मुद्रा प्रसार कहते हैं।"[5]

(6) पॉलआईजिग के अनुसार—"मुद्रा प्रसार क्रय शक्ति की विस्तारशील प्रवृत्ति है, जो कि मूल्य स्तर में वृद्धि करती है तथा स्वयं उससे प्रभावित होती है।"[6]

(7) वेबस्टर शब्दकोष के आधार पर—"वस्तुओं की उपलब्ध मात्रा की तुलना में मुद्रा एवं साख के मूल्य में अधिक वृद्धि हो जाने के परिणामस्वरूप सामान्य मूल्य स्तर में निरन्तर व महत्वपूर्ण वृद्धि की अवस्था को मुद्रा-स्फीति कहा गया है।"[7]

1. "Inflation is a state in which the value of money is falling, i.e. prices are falling"—Crowther : An Outline of Money

2. "Inflation takes place when money income is expanding relatively to the output of work done by the productive agents for which it is the payment"—Pigou : Viel of Money, p 34.

3 "Inflation is a disproportionate and relatively sharp and sudden increase in the quantity of money or credit or both, relative to goods available for purchase"—Chamber's Twentieth Century Dictionary

4. "Inflation is a state of abnormal increase in the quantity of purchasing power."—Gregory

5. "Inflation is too much money and deposit currency in relation to the physical volume of business being done"—Kemmerer : ABC of Inflation, p 6

6 "Inflation in an expansionary trend of purchasing power that tends to cause, or to be the effect of, an increase of the price level"—Paul Einzig

7 "An increase in the value of money and credit relative to available goods resulting in a substantial and continuing rise in the general price level"—Websters Dictionary.

इस प्रकार मुद्रा-स्फीति के अन्तर्गत एक ओर तो मुद्रा की मात्रा में तीव्र गति से वृद्धि होती है और दूसरी ओर वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन में वृद्धि सम्भव नहीं हो पाती और इसी के परिणामस्वरूप मूल्य स्तर में वृद्धि हो जाती है तथा मुद्रा-स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

मुद्रा-स्फीति के लक्षण

मुद्रा-स्फीति के प्रमुख लक्षण निम्न हैं —

(1) मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होकर उत्पादन स्थिर हो जाता है।
(2) मुद्रा की मात्रा में कमी तथा उत्पादन भी गिर रहा हो।
(3) मुद्रा की मात्रा बढ़ रही हो तथा उत्पादन भी गिर रहा हो।
(4) मुद्रा की मात्रा स्थिर तथा उत्पादन कम हो रहा हो।
(5) मुद्रा की मात्रा बढ़े तथा उत्पादन भी बढ़ रहा हो।
(6) मुद्रा एवं उत्पादन दोनों की मात्रा स्थिर हो तथा मुद्रा की मात्रा आवश्यकता से अधिक हो।

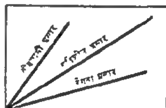
मुद्रा-स्फीति की तीव्रता

तीव्रता की दृष्टि से मुद्रा-स्फीति की प्रमुख किस्में निम्न प्रकार हैं (देखें चित्र 10.1)

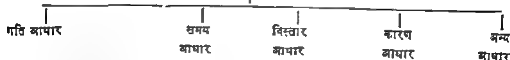
(1) तीव्रगामी स्फीति (Galloping Inflation)—इसमें देश में वस्तुओं के मूल्यों में अत्यन्त तीव्र गति से वृद्धि होने लगती है, परिणामस्वरूप देश की मुद्रा एवं मूल्य व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है और जनता का मुद्रा से विश्वास उठ जाता है व समाज में अशान्ति व असन्तोष व्यापक रूप में फैल जाता है। इससे मुद्रा के मूल्य में भारी गिरावट आ जाती है और लोग वस्तुओं को खरीदने के लिए दौड़ लगा देते हैं।

(2) गतिशील प्रसार (Moving Inflation)—इसमें राष्ट्र की आर्थिक स्थिति शनैः शनैः गतिशील मुद्रा प्रसार की स्थिति की ओर बढ़कर सामान्य जनता के लिए कष्टदायक होने लगती है और जनता को इसमें अपार कष्ट सहन करने पड़ते हैं।

(3) रेंगता हुआ प्रसार (Creeping Inflation)—जब कम मात्रा में मुद्रा प्रसार होता है तो इसे रेंगता हुआ प्रसार कहते हैं। इस प्रसार को स्वाभाविक माना जाता है और जो अधिक हानिप्रद एवं कष्टदायक नहीं होते।



चित्र 10.1



मुद्रा-स्फीति के प्रमुख रूप निम्नलिखित हैं—

(1) गति के आधार पर।
(2) समय के आधार पर।
(3) विस्तार के आधार पर।
(4) मुद्रा प्रसार उत्पन्न करने वाले कारणों के आधार पर।
(5) अन्य आधार पर।

(1) गति के आधार पर—गति के आधार पर मुद्रा प्रसार को निम्न प्रकार से विभाजित किया जा सकता है—

(i) तीव्र प्रसार—इसमे मूल्यो की वृद्धि तेजी से होने लगती है और लोगों पर बुरा प्रभाव पड़ने लगता है।

(ii) गतिशील प्रसार—इसके अन्तर्गत मूल्यों में वृद्धि की गति कुछ तेजी से होती है तथा जनता पर बुरा प्रभाव नही पड़ता है।

(iii) रेंगता हुआ प्रसार—इसमे मुद्रा प्रसार बहुत ही धीमी गति से होता है और यह जनता के लिए कोई विशेष खतरनाक नही होता।

(iv) अत्यधिक मुद्रा प्रसार—इस अवस्था मे मूल्यो मे वृद्धि की गति इतनी अधिक होती है कि उसे नापना भी कठिन है तथा उसका देश की अर्थव्यवस्था पर विपरीत प्रभाव पड़ता है।

(2) समय के आधार पर—समय के आधार पर मुद्रा प्रसार को निम्न भागो मे बाटा जा सकता है—

(v) युद्धकालीन प्रसार—राष्ट्र मे युद्ध के समय जो मुद्रा का प्रसार किया जाता है उसे युद्धकालीन मुद्रा प्रसार कहते हैं। इसका देश की अर्थव्यवस्था पर कोई विपरीत प्रभाव नही पड़ता है।

(vi) युद्धोत्तर प्रसार—जब मुद्रा प्रसार युद्ध के पश्चात् किया जाता है तो उसे युद्धोत्तर प्रसार कहते हैं। *1914-18 में जर्मनी मे इस प्रकार का मुद्रा प्रसार अनुभव किया गया।*

(3) विस्तार के आधार पर—व्यापकता के आधार पर मुद्रा प्रसार को निम्न वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(vii) सीमित मुद्रा प्रसार—जब कुछ ही वस्तुओ के मूल्यो मे वृद्धि होने की प्रवृति पाई जाये तो उसे सीमित मुद्रा प्रसार कहते हैं।

(viii) व्यापक मुद्रा प्रसार—जब देश की अर्थव्यवस्था में प्रत्येक वस्तु की कीमत मे बढ़ने की प्रवृत्ति पाई जाये तो उसे व्यापक मुद्रा प्रसार कहते हैं।

(4) कारणों के आधार पर वर्गीकरण—कारणो के आधार पर मुद्रा प्रसार को निम्न वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है।

(ix) महान प्रसार—जब सरकार अधिक मात्रा मे मुद्रा का निर्गमन करे और उसके फलस्वरूप मूल्य स्तर बढ जाये और सरकार द्वारा इन वस्तुओ को खरीदने के लिए और अधिक पत्र मुद्रा की निकासी की जाये तो उसे महान प्रसार कहा जाता है।

(x) साख प्रसार—जब देश मे पत्र मुद्रा के स्थान पर साख मुद्रा का प्रसार बढा दिया जाये, जिसके फलस्वरूप मूल्यों मे वृद्धि हो जाये तो उसे साख प्रसार कहेंगे।

(xi) मजदूरी प्रसार—जब सेवायोजकों को श्रमसंघो के कारण मजदूरो को अधिक पारितोषिक देना पड़े, जबकि उत्पादन क्षमता समान ही रहे तो मूल्यो मे वृद्धि होने लगती है और इस स्थिति को मजदूरी प्रसार के रूप मे जानते हैं।

(xii) छिपी स्फीति—देश मे मौद्रिक आय मे वृद्धि होने पर सरकार नियंत्रण द्वारा मूल्यों की वृद्धि पर प्रतिबन्ध लगा दें तो जनता अपनी धनराशि को बैंको मे जमा करा देती है। भविष्य मे नियंत्रण हटने पर बैंक से जमा राशि निकाल कर वस्तुओ पर व्यय की जाती है जिससे वस्तुओ की माग बढने से मूल्यो मे वृद्धि हो जाती है जिसे छिपी हुई स्फीति कहा जाता है।

(xiii) खुली स्फीति—जब मौद्रिक आय बढने पर उसके व्यय पर कोई प्रतिबन्ध न हो तो वस्तुओं की माग बढ़ जाती है और उसके फलस्वरूप मूल्यो मे वृद्धि हो जाये तो इस अवस्था को उत्पादन स्फीति कहेंगे।

(xiv) उत्पादन स्फीति—मुद्रा चलन मे कमी न होने पर उत्पादन की मात्रा मे कमी हो जाये और उसके फलस्वरूप मूल्यो मे वृद्धि हो जाये तो इस अवस्था को उत्पादन स्फीति कहेंगे।

(xv) लाभ स्फीति—यदि उत्पादन कार्यक्षमता बढने से प्रति इकाई लागत मे कमी होकर मूल्य स्तर गिर जाये, और सरकार कृत्रिम उपायों द्वारा मूल्यों मे स्थिरता बनाये रखे जिससे उत्पादकों को अधिक लाभ प्राप्त हो तो इस

अवस्था को नाम स्फीति कहा गया है।

(xvi) चलन प्रसार—जब आर्थिक संकट या युद्धकालीन समय बजट को सन्तुलन रखने के उद्देश्य से अत्यधिक पत्र-मुद्रा निर्गमित करने की नीति अपनाई जाये और उस अनुपात में वस्तुओं व सेवाओं की मात्रा में कोई वृद्धि न हो, तो धीरे-धीरे इनके मूल्यों में वृद्धि होने लगती है, जिसे चलन प्रसार कहते हैं।

(5) अन्य आधार—अन्य आधारों पर मुद्रा-स्फीति के निम्न भेद किये जा सकते हैं—

(xvii) लागत बढ़ोत्तरी स्फीति (Cost Induced Inflation)—जब वस्तुओं की उत्पादन लागत बढने से सरकार एवं जनता को अधिक धन व्यय करना पड़े तो उसे लागत बढ़ोत्तरी स्फीति कहेंगे।

(xviii) मांग वृद्धि स्फीति (Demand Pull Inflation)—जनसंख्या की तीव्र वृद्धि के कारण मांग में वृद्धि होने पर वस्तुओं व सेवाओं के उत्पादन में वृद्धि सम्भव न हो और मूल्यों में वृद्धि हो जाये तो इसे माग वृद्धि स्फीति कहेंगे।

(xix) पूर्णतया, अर्द्ध एवं आंशिक स्फीति (Full, Semi- and Partial Inflation)—कीन्स के अनुसार देश में पूर्ण रोजगार की स्थिति होने पर नवीन निकाली गई मुद्रा का पूर्ण उपभोग पर व्यय होना सम्भव नहीं होने से मूल्यों में जो वृद्धि होती है उसे पूर्णतया स्फीति कहते हैं। इसके विपरीत जब देश में पूर्ण रोजगार का अभाव हो तो नवीन मुद्रा का उपयोग नये व्यक्तियों को रोजगार देने में किया जाता है और उसके फलस्वरूप जो मूल्यों में वृद्धि होकर स्फीति आती है उसे अर्द्ध या आंशिक स्फीति कहेंगे।

(xx) अवमूल्यन से स्फीति (Inflation from Devaluation)—मुद्रा का अवमूल्यन करने से निर्यात की मात्रा में वृद्धि हो जाती है, जिससे जनता के उपभोग के लिए पदार्थों का अभाव हो जाता है। परिणामस्वरूप वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि हो जाती है और उससे जो स्फीति आती है उसे अवमूल्यन से स्फीति कहा जाता है।

(xxi) हीनार्थ से स्फीति (Inflation from Deficit)—आर्थिक विकास के लिए भी हीनार्थ प्रबंधन का सहारा लिया जाता है। इन योजनाओं के लिए पर्याप्त मात्रा में कर एवं ऋण प्राप्त न होने पर हीनार्थ प्रबंधन का सहारा लिया जाता है। इससे मूल्यों में पर्याप्त वृद्धि हो जाती है और ऐसी स्फीति को हीनार्थ से स्फीति या बजटीय स्फीति कहते हैं।

मुद्रा-स्फीति के कारण
(Causes of Inflation)

मुद्रा-स्फीति को प्रभावित करने वाले प्रमु रण निम्नलिखित हैं—(1) मौद्रिक कारण, एवं (2) सरकारी नीति सम्बन्धी कारण।

(1) मौद्रिक कारण

मुद्रा-स्फीति को प्रभावित करने वाले मौद्रिक कारणों में प्रमुख निम्नलिखित हैं—

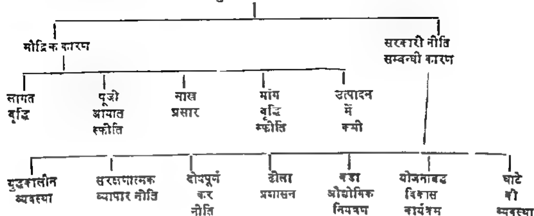
(i) लागत वृद्धि—देश में श्रम शक्ति की कमी होने पर मजदूरी की दरों में वृद्धि हो जाती है, जिससे माल निर्मित करने के लिए अधिक मुद्रा की आवश्यकता होती है एवं निर्मित माल का मूल्य बढ़ जाता है। इस वृद्धि को लागत वृद्धि स्फीति कहते हैं। इसमें मुद्रा की मात्रा में वृद्धि मजदूरी की मात्रा में वृद्धि के अनुपात में होती है।

(ii) पूंजी आयात स्फीति—इसमें बचत वाले देशों में कमी वाले राष्ट्रों से पूंजी आयात होती है और घाटे वाले राष्ट्रों में प्रायः मुद्रा प्रसार की स्थिति बन जाती है। देश का भुगतान सन्तुलन पक्ष में होने, एवं उस राष्ट्र से आयात होने से विदेशी पूंजी की मांग बढ़ जाती है, फलस्वरूप बैंकों द्वारा साख को प्रोत्साहन मिलता है व उस राष्ट्र में मुद्रा-स्फीति की दशाएं उत्पन्न हो जाती हैं।

(iii) साख प्रसार—बैंकिंग व्यवस्था का समुचित विकास हो जाने पर व्यापारिक बैंक देश के समस्त प्रकार के व्यवसायों को वित्तीय सहायता प्रदान करते हैं जिससे साख की मात्रा में वृद्धि होकर साख प्रसार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(iv) मांग वृद्धि स्फीति—युद्ध एवं आपत्तिकालीन समय में वस्तुओं की मांग में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है।

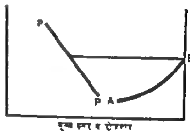
मुद्रा-स्फीति के कारणों को निम्न चार्ट द्वारा भी दिखाया जा सकता है—



मुद्रा प्रसार की अवस्थाएं
(Stages of Inflation)

मुद्रा प्रसार की प्रमुख अवस्थाएं निम्नलिखित हैं—

(1) पूर्ण रोजगार से पूर्व अवस्था (Pre-Full-employment Stage)—इस अवस्था में मुद्रा प्रसार की गति बहुत धीमी होती है जो उद्योगों की स्थापना के लिए लाभदायक होती है, जनता को रोजगार मिलता व आय में वृद्धि होती है। इस अवस्था में मूल्यों में क्रमिक वृद्धि होकर उत्पादन एवं रोजगार में वृद्धि होती है। आंशिक स्फीति की घटना पूर्ण रोजगार बिन्दु से पूर्व उत्पन्न हो सकती है, परन्तु वास्तविक स्फीति की घटना पूर्ण रोजगार के बाद ही उत्पन्न होती है जैसा कि चित्र 10.2 में दिखाया गया है।



चित्र 10.2

B बिन्दु पूर्ण रोजगार का संकेतक है। B बिन्दु के बाद ज्यों ही मुद्रा की मात्रा बढ़ायी जाती है AB रोजगार वक्र एक खड़ी रेखा हो जाती है और PP मूल्य रेखा पूर्ण रोजगार बिन्दु B के बाद ऊपर को चढ़ती हुई रेखा है जो मूल्य वृद्धि को बताती है। B बिन्दु के बाद ज्यों ही मुद्रा की मात्रा बढ़ायी जाती है AB रोजगार वक्र एक खड़ी रेखा बन जाता है जो यह बताता है कि रोजगार में कोई वृद्धि नहीं होती परन्तु PP मूल्य रेखा पूर्ण रोजगार बिन्दु B के बाद भी ऊपर चढ़ती है जो यह प्रदर्शित करती है कि पूर्ण रोजगार के बाद भी मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने से मूल्यों में वृद्धि हो जाती है। अतः मुद्रा स्फीति की स्थिति AB के बाद ही उदय होती है। इस वृद्धि के अनेक कारण हैं, जो कि निम्न लिखित हैं[1] :—

(i) साधनों की असाम्यता—उत्पत्ति के साधनों में साम्य न होने से मांग बढ़ने पर उनकी पूर्ति बढ़ाने से ह्रास नियम लागू होकर उत्पादन लागत बढ़ जाती है, जिससे स्फीति के लक्षण दृष्टिगोचर होकर मूल्यों में वृद्धि हो जाती है। उदाहरणार्थ, श्रमिकों की कार्यकुशलता का अभाव होने से अकुशल श्रमिकों के प्रयोग करने से उत्पादन लागत में वृद्धि हो जाती है। इसी प्रकार पूंजीगत सामग्री में साम्य के अभाव के कारण वस्तुओं की मूल लागत बढ़ जाती है, पूर्ति मूल्य बढ़ जाता है और उससे मूल्यों में वृद्धि कर दी जाती है।

(ii) मजदूरी दरों में वृद्धि—उत्पादन में वृद्धि होने पर श्रमिक अधिक मजदूरी के लिए दबाव डालते हैं जिससे

1. यह कारण कीन्स द्वारा दिये गये।

उनके बढते जीवन स्तर की पूर्ति हो सके। परन्तु साहसी उनकी मजदूरी मे जीवन स्तर की तुलना मे कम ही वृद्धि कर पाते हैं। इस वृद्धि से लागत व्यय बढ जाता है तथा मूल्यो मे वृद्धि कर दी जाती है।

(iii) सीमान्त लागत मे वृद्धि होना—अल्पकाल मे श्रमिक के अतिरिक्त अन्य चल घटको के मूल्यो मे स्थायित्व बना रहता है तथा उनकी माग बढ जाने से मूल्यों मे वृद्धि हो जाना स्वाभाविक हो जाता है, फलस्वरूप सीमान्त लागत मे वृद्धि होकर मूल्यों मे वृद्धि हो जाती है।

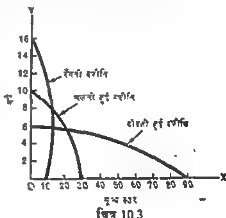
(iv) साधनों का पूर्णतया बेलोच होना—उत्पत्ति के कुछ साधनों की पूर्ति सीमीत होने से माग बढ़ने पर उनकी पूर्ति मे वृद्धि करना सम्भव नही हो पाता और अनेक प्रकार की कठिनाइयो का सामना करना पडता है। दीर्घकाल मे यह कठिनाइया साधनो की पूर्ति बढाकर दूर की जा सकती हैं, परन्तु अल्पकाल मे कुछ साधनो की पूर्ति की लोच लगभग शून्य होने के कारण माग बढ़ जाने पर उनके मूल्यो मे भी वृद्धि हो जाती है।

(v) विविध साधन स्रोत—प्रभावशाली मांग को कई भागो या साधनों में विभाजित किया जा सकता है तथा समाज के उपभोग व बचत तथा तरल सम्पत्ति व अतरल सम्पत्ति के चुनाव पर माग की रचना निर्भर करती है। बढी हुई मुद्रा पूर्णतया उत्पादन या लागत पर व्यय नही होती जिससे मुद्रा की पूर्ति बढने से प्रभावशाली माग में वृद्धि हो जाती है, जिससे सामान्य मूल्य स्तर मे भी वृद्धि हो जाती है। यदि आय का भाग सट्टे की ओर प्रवाहित हो जाये तो अंश बाजार मे मूल्यों में वृद्धि हो जाती है तथा नवीन उत्पादन मे वृद्धि सम्भव नहीं हो पाती।

(2) पूर्ण रोजगार की अवस्था (Full Employment Stage)—मुद्रा की मात्रा में क्रमिक वृद्धि होने से उत्पादन एव रोजगार मे तेजी से वृद्धि होती है और अन्त मे अर्थव्यवस्था पूर्ण रोजगार की स्थिति मे आ जाती है। इस अवस्था पर नवीन मुद्रा माग में वृद्धि नही कर पाती और उत्पादन का क्रम रुक जाता है और मूल्यों मे तीव्रता से वृद्धि होने लगती है।

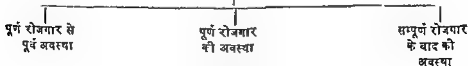
(3) सम्पूर्ण रोजगार के बाद की अवस्था (Post-Full-Employment Stage)—मुद्रा स्फीति के तीव्रता से बढने पर पूर्ण रोजगार की स्थिति आ जाती है और नवीन मुद्रा, मूल्यो मे वृद्धि उत्पन्न करती है व उत्पादन लगभग एक-सा जाता है। उत्पादन की तुलना मे मुद्रा की मात्रा मे तेजी से वृद्धि होने से जनता का देश की मुद्रा व्यवस्था से विश्वास समाप्त हो जाता है और सरकार को पुरानी मुद्रा व्यवस्था को समाप्त करके नवीन मुद्रा का चलन करना पड़ता है।

मुद्रा-स्फीति की अवस्थाओं को क्रमश रेंगती हुई स्फीति, चलती हुई स्फीति एव दौड़ती हुई स्फीति भी कहा जा सकता है। इसे चित्र 10 3 द्वारा स्पष्ट किया गया है।

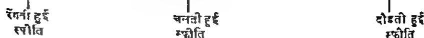


चित्र 10 3

मुद्रा-स्फीति की अवस्थाओ को निम्न चार्ट द्वारा भी दिखाया जा सकता है—



एक अन्य विश्लेषण के आधार पर यह अवस्थाए निम्न प्रकार हैं :—



मुद्रा-स्फीति एवं आर्थिक विकास
(Inflation and Economic Growth)

विकासशील राष्ट्रों में सरकार द्वारा ऐसी मुद्रा नीति का पालन किया जाता है जिससे देश की आर्थिक प्रगति सम्भव हो सके। अविकसित राष्ट्रों में प्रायः पूंजी का अभाव बना रहता है, जिससे मुद्रा स्फीति द्वारा उस कमी को दूर करने के प्रयास किये जाते हैं। इसी प्रकार देश के उत्पादन का ढांचा पिछड़ा होने से मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने से उत्पादन में वृद्धि सम्भव नहीं हो पाती, फलस्वरूप मुद्रा-स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। कर एवं ऋण वित्तीय व्यवस्था को पूर्ण करने में असमर्थ रहते हैं, जिससे मुद्रा-स्फीति का सहारा लिया जाता है। इस प्रकार अविकसित देशों में आर्थिक प्रगति के साथ मुद्रा प्रसार की व्यवस्था भी बनी रहती है।

पक्ष में तर्क—मुद्रा-स्फीति द्वारा आर्थिक विकास में निम्न तर्क दिये जा सकते हैं—

(1) माग में वृद्धि—मुद्रा-स्फीति में जनता की आय में वृद्धि होने से मांग में वृद्धि हो जाती है और उत्पादन को प्रोत्साहित करने का अवसर प्राप्त होता है।

(2) विकास को प्रोत्साहन—जिस देश में पर्याप्त प्राकृतिक साधन हों उन्हें स्वदेशी साधनों से ही अधिकतम कार्य करने के प्रयास करने चाहिए, क्योंकि विदेशी सहायता के साथ राजनैतिक स्वार्थ जुड़े रहते हैं।

(3) विदेशी पूंजी को प्रोत्साहन—मुद्रा-स्फीति काल में अधिक लाभ होने के कारण विदेशी पूंजी के आगमन को प्रोत्साहन मिलता है तथा देश के आर्थिक विकास को सहायता प्राप्त होती है

(4) विनियोग में वृद्धि—मुद्रा-स्फीति काल में जनता को अधिक मात्रा में पूंजी के विनियोजन के अवसर प्राप्त होते हैं, फलस्वरूप नवीन उद्योगों की स्थापना होती है तथा व्यवसाय व रोजगार में अपार वृद्धि होती है।

विपक्ष में तर्क—मुद्रा-स्फीति के विपक्ष में निम्न तर्क दिये जा सकते हैं—

(1) विपक्ष भुगतान सन्तुलन—स्फीति में निर्यात कम हो जाते हैं तथा मुद्रा की विनिमय दर गिर जाती है। पूंजीपति अपनी पूंजी को चोरी छिपे विदेशों में जमा करने लगते हैं जिससे भुगतान सन्तुलन विपक्ष में हो जाता है।

(2) आर्थिक संकट—मुद्रा-स्फीति से देश में आर्थिक संकट उत्पन्न हो जाता है तथा देश में चोर बाजारी, कृत्रिम अभाव तथा घूसखोरी जैसी प्रवृत्तियां उत्पन्न हो जाती हैं तथा आर्थिक स्थिति पर बुरा प्रभाव पड़ता है। अधिक लाभ पाने की लालसा से व्यापारी उत्पादन करने लगते हैं, जिससे मूल्यों में कमी हो जाती जिससे हानि की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं तथा देश में मन्दी का वातावरण फैल जाता है।

(3) विनियोग हतोत्साहित होना—निरन्तर बढ़ते हुए मूल्यों के कारण नवीन विनियोग हतोत्साहित होता है, क्योंकि प्रतिफल मिलने में काफी समय लग जाता है और पूंजी विनियोजन का आकर्षण भी प्रायः समाप्त हो जाता है। स्फीति काल में वास्तविक निजी पूंजी लगाने की प्रवृत्ति प्रायः कम होती है।

मुद्रा-स्फीति के प्रभाव
(Effects of Inflation)

मुद्रा प्रसार से कुल उत्पादन एवं रोजगार में वृद्धि रुक जाती है तथा समाज के विभिन्न वर्गों पर विभिन्न प्रभाव पड़ते हैं। समाज के विभिन्न वर्गों पर भिन्न-भिन्न रूप से इसका असर पड़ता है। स्फीति का मुख्य प्रभाव यह पड़ता है कि लोग भविष्य में बचत नहीं कर पाते और उनका उत्साह भी कम हो जाता है। "प्रायः मुद्रा प्रसार का निम्न एवं स्थिर आय वर्ग पर बुरा प्रभाव पड़ता है, जबकि ऊँचे एवं गतिशील आय वर्ग पर ऐसा नहीं होता।"[1] मुद्रा प्रसार के आर्थिक नैतिक, सामाजिक एवं राजनैतिक प्रभाव निम्न प्रकार हैं :—

1. "Generally speaking, inflation inflicts more harm on low and fixed income groups than on high and flexible income groups."—K. K. Kurihara : Monetary Theory and Public Policy, p. 52.



(1) आर्थिक प्रभाव (Economic Effects)

स्फीति के आर्थिक प्रभाव मे निम्न को सम्मिलित किया जाता है—

(1) उत्पादक व व्यापारी वर्ग—मुद्रा प्रसार से उत्पादक एव व्यापारी वर्ग को काफी लाभ होते हैं और इसके प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं—

(i) कम मजदूरी—उत्पादकों को बिक्री के रूप में अधिक धन प्राप्त हो जाने से मजदूरी के रूप मे कम धन देना पड़ता है जिससे उन्हे लाभ प्राप्त होता है।

(ii) चोर बाजारी का अवसर—व्यापारी वर्ग को स्फीति काल मे चोर बाजारी एवं भ्रष्टाचार का अवसर प्राप्त होता है।

(iii) ऊँचे मूल्य—जनता के पास अधिक मात्रा मे क्रय शक्ति बढ़ जाने से वस्तुओ की माग बढ जाती है, जबकि पूर्ति मे यकायक वृद्धि सम्भव न होने से ऊंचे मूल्यो पर वस्तुए बेची जाती हैं जिससे उत्पादको को लाभ प्राप्त होते हैं।

(iv) सस्ती वस्तुएँ प्राप्त होना—कच्ची सामग्री एव मशीनें सस्ते मूल्यो पर प्राप्त करके तेजी के समय निर्मित माल को ऊँचे मूल्य पर बेचकर लाभ अर्जित किये जाते हैं।

(2) उपभोक्ता वर्ग—यदि उपभोक्ता की आय स्फीति के कारण बढ जाती है तो उस पर बुरा प्रभाव नही पड़ता। परन्तु उपभोक्ता का एक बड़ा वर्ग ऐसा होता है जिसकी आय प्राय: स्थिर होती है। इनकी, आय की तुलना मे निरन्तर वृद्धि होने से, कुछ वस्तुओ का उपभोग स्थगित करना पड़ता है तथा कम वस्तुएं ही प्राप्त हो पाती हैं।

(3) ऋणी एव ऋणदाता—मुद्रा प्रसार काल मे ऋणी को लाभ प्राप्त होते हैं क्योकि वह थोड़ी मात्रा मे ही वस्तुओं को बेचकर अपना ऋण एव ब्याज चुका सकता है। परन्तु इस काल मे ऋणदाता या विनियोक्ता को हानि सहन करनी पड़ती है क्योकि अब उसे अधिक वस्तुयें देकर उतना ही ऋण प्राप्त हो सकेगा और उसे हानि का सामना करना पड़ेगा।

(4) श्रमिक वर्ग—स्फीति काल मे श्रमिक वर्ग पर अनेक प्रकार से प्रभाव पड़ता है। (i) उत्पादन मे वृद्धि होने से श्रमिको को रोजगार मिलने मे सुविधा हो जाती है। (ii) श्रमिको मे संगठन स्थापित होकर वे अपनी मजदूरी को जीवन स्तर तक लाने व उसमे वृद्धि करने के प्रयास करते हैं। मतभेद होने पर हड़ताल करते हैं जिसमें औद्योगिक शान्ति को भय उत्पन्न हो जाता है। (iii) श्रमिको की माग बढने पर उनकी सौदा या व्यवहार करने की क्रय शक्ति में वृद्धि हो जाती है और श्रमिक अधिक मजदूरी प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं।

(5) विनियोक्ता वर्ग—निश्चित आय वाले विनियोगकर्ताओं को हानि का सामना करना पड़ता है, क्योंकि इन्हे निश्चित मात्रा में लाभांश प्राप्त होता है। एक ओर विनियोगो का मूल्य बढ जाता है और वस्तुओ के मूल्यो में वृद्धि होने पर भी मौद्रिक आय में कोई वृद्धि सम्भव नही हो पाती। इससे इनकी वास्तविक आय में कमी हो जाती है। परिवर्तन-शील आय वाले विनियोक्ताओं की आय व्यापार की आय पर निर्भर करती है तथा इन्हे कोई भी हानि सहन नही करनी पड़ती।

(6) ऋणों में वृद्धि—सरकार प्राय: घाटे के बजट बनाती है और उस घाटे को पूर्ण करने के सम्बन्ध में सरकारी एव व्यापारी वर्ग तीव्रता से ऋण प्राप्त करते हैं तथा उत्पादन में वृद्धि करने के प्रयास करते हैं।

(7) बचत की कम प्रवृत्ति—साधारण वर्ग की जनता को बचाये गये धन का मूल्य कम प्राप्त होना है जिससे जनता में भविष्य में बचत करने की प्रवृत्ति कम हो जाती है तथा धन का सचय रुक जाता है। जनता अपने उपभोगो को

अतः श्रमिक व प्रबन्ध के अच्छे सम्बन्ध बने रहने आवश्यक हैं जिससे उत्पादन में वृद्धि की जा सके। स्फीति काल में विलासिता एवं गैर-आवश्यक वस्तुओं का निर्यात करके उनके बदले में आवश्यक वस्तुओं को ही प्राप्त करना चाहिए। वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना से घरेलू कमी एवं आयात में वृद्धि को रोकने के लिए मुद्राकोष से धन उधार लिया जा सकता है तथा भुगतान सन्तुलन को ठीक किया जा सकता है।

(ग) मजदूरी नीति (Wages Policy)—युद्धकालीन मुद्रा प्रसार के समय युद्ध की लागत को कम करने एवं देशभक्ति के लिए श्रमिकों से सरकार के साथ सहयोग करने की अपेक्षा करते हुए उनकी मजदूरी दरों पर नियंत्रण रखा जाता है। परन्तु यह व्यवस्था शान्ति काल में नहीं अपनायी जाती। मुद्रा स्फीति के समय मजदूरी एवं अन्य लागतों को स्वतंत्र नहीं छोड़ा जाता है। विकसित राष्ट्रों में मजदूरी स्तरों को बनाये रखने के लिए उसे सामान्य लागत ढांचे से भिन्न रखना होगा। देश में श्रम संघ उचित मजदूरी नीति का पालन कर सकता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि सामान्य उत्पादकता के अनुरूप मजदूरी दरों में वृद्धि की जाये। इस नीति से मूल्यों में वृद्धि नहीं हो पाती। परन्तु एकाधिकारिक स्थिति में उत्पादन एवं मौद्रिक मजदूरी में साम्य स्थापित करना कठिन हो जाता है। प्रायः यह कहा जाता है कि उत्पादकता में वृद्धि होने से मजदूरी में वृद्धि हो जाती है। परन्तु यह व्यवस्था पूर्ण प्रतियोगिता एवं दीर्घकाल में ही लागू होती है। जीवन स्तर में वृद्धि होने पर मजदूरी की दरों में भी वृद्धि होना आवश्यक माना जाता है। इस दृष्टि से सरकार सदैव मूल्यों को बढ़ने से रोकती है। श्रमिक संघों द्वारा लागत में वृद्धि के आधार पर ही मजदूरी में वृद्धि सम्भव की जा सकती है।

(2) प्राशुल्किक उपाय (Fiscal Measures)—देश के आर्थिक स्थायित्व के लिए प्रशुल्क नीति को ही एक शक्तिशाली साधन माना जाता है। प्राशुल्किक उपाय में उन समस्त उपायों को सम्मिलित किया जा सकता है जो सरकार के प्रशासनिक विभाग से सम्बन्धित होते हैं। प्रशुल्क उपायों में निम्नलिखित को सम्मिलित किया जा सकता है—(क) कर; (ख) जन-ऋण; (ग) सरकारी व्यय में कमी करना।

(क) कर (Taxes)—करों के आधार पर जनता के हितार्थ धन व्यय किया जाता है तथा उसी के अनुरूप स्फीति का सहारा लिया जाता है। करों की प्राप्ति पर ही देश का बजट सन्तुलित ढंग से रखा जा सकता है। स्फीति के समय अधिक कर लगाकर मौद्रिक आय को कम करने के प्रयास करने चाहिए, परन्तु इस बात का ध्यान रखा जाये कि देश की आर्थिक क्रियाओं पर बुरा प्रभाव न पड़े। करारोपण इस ढंग से किया जाना चाहिए कि वर्तमान आय स्तर में कमी हो जाये तथा व्यक्ति विशेष या वर्ग विशेष की आय में कमी करके माग में कमी होनी चाहिए और इसके लिए आयकर ही उपयुक्त कर माना जाता है जो उपभोग कम करने में सहायक सिद्ध होता है। देश में आयात किये जाने वाली आवश्यक वस्तुओं पर आयात कर कम कर देना चाहिए जिससे अल्पकाल में घरेलू स्फीतिक स्थिति को नियन्त्रित किया जा सके। सरकार द्वारा ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए जिससे बजट का घाटा पूर्ण हो सके तथा सब विभागों से मितव्ययिता की व्यवस्था की जाये। देश में नवीन मदों पर भी कर लगाये जायें तथा कर नीति में कठोरता का पालन किया जाना चाहिए। करों द्वारा बजट का घाटा पूर्ण होने से सरकार को नवीन मुद्रा का सृजन करने की आवश्यकता नहीं होगी।

(ख) जन-ऋण (Public Debt)—स्फीतिक काल में सरकार द्वारा ऋणपत्र प्रकाशित करके जनता को उन्हें खरीदने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। जन-ऋण नीति इस प्रकार की होनी चाहिए कि विद्यमान क्रयशक्ति को प्राप्त किया जा सके। सरकार द्वारा आकर्षित व कम राशि के ऋणपत्र निर्गमित किये जाने चाहिए जिससे समाज के प्रत्येक वर्ग का व्यक्ति उसे क्रय कर सके। जन-ऋण में निम्नलिखित को सम्मिलित कर सकते हैं—

(i) बचत (Savings)—अनिवार्य बचत योजना जन-ऋण प्राप्त करने का एक प्रभावशाली ढंग है। इस योजना के अन्तर्गत उपभोक्ता को अपनी आय का एक भाग बचत बौण्ड या ऋणपत्रों को क्रय करने में व्यय करना अनिवार्य हो जाता है, जिनका भुगतान एक निश्चित अवधि बाद कर दिया जाता है। इससे सरकार के पास पर्याप्त मात्रा में पूंजी की प्राप्ति हो जाती है, जिसे आवश्यक वस्तुओं के क्रय करने में व्यय किया जा सकता है। अनिवार्य बचत योजना का प्रमुख उद्देश्य जनता (विशेषकर सटोरियों) के हाथों में मुद्रा की पूर्ति को कम करना होता है। यह नीति स्फीतिक परिस्थितियों में अधिक लाभकारी सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त स्वैच्छिक बचत को भी प्रोत्साहित करना चाहिए और इसके लिए आकर्षण इनामी बौण्ड या अन्य इसी प्रकार के ऋणपत्रों का निर्गमन किया जा सकता है।

(ii) स्वर्ण पर प्रतिबन्ध (Restriction on Gold)—स्फीतिक परिस्थितियों में स्वर्ण के भण्डारों पर प्रतिबन्ध लगाये जा सकते हैं तथा बैंकों को अधिक मात्रा में स्वर्ण कोष रखने के आदेश दिये जा सकते हैं। स्वर्ण कोष की मात्रा बढ़ने से बैंक की साख देने की क्षमता में कमी हो जाती है तथा साख का विस्तार सीमित मात्रा में ही सम्भव हो पाता है, फलस्वरूप उपभोक्ता वस्तुओं का त्याग करना पड़ता है तथा स्फीति पर नियन्त्रण रखा जा सकता है। यह नीति सं० रा० अमरीका जैसे राष्ट्र में अधिक सफल हो पाती है, जहां मुद्रामान स्वर्ण पर ही आधारित हो।

(iii) अधिमूल्यन (Overvaluation)—देश में स्फीति को नियंत्रित करने के लिए अपनी मुद्रा का अधिमूल्यन किया जा सकता है। मुद्रा का अधिमूल्यन निम्न कारणों से स्फीति को रोकने में सहायक सिद्ध होता है—

(अ) इससे आयात में वृद्धि होगी तथा आयात व्यय बढ़ेंगे।

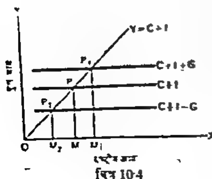
(ब) विदेशी आयात सस्ते होने से उत्पादन लागत में कमी हो जायेगी तथा मूल्यों में वृद्धि सम्भव न हो सकेगी।

(स) निर्यातों पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा तथा घरेलू मौद्रिक आय में कमी हो जायेगी।

यदि अन्य राष्ट्रों में भी स्फीतिक परिस्थितियां हों तो यह आवश्यक हो जाता है कि अपनी मुद्रा का अधिमूल्यन कर दिया जाये। ऐसा करने से आयात की कीमतों में कमी हो जायेगी, परन्तु इससे देश के भुगतान सन्तुलन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने के कारण इस नीति को दीर्घकाल तक अपनाया जाना सम्भव नहीं हो पाता।

(iv) ऋण प्रबन्ध (Debt Management)—अदत्त ऋणों का प्रबन्ध इस प्रकार किया जा सकता है कि भावी साख का विस्तार या मुद्रा की पूर्ति को रोका जा सके। ऋणों का भुगतान करने के लिए प्रायः आधिक्य बजट बनाये जाते हैं जिससे व्यापारिक बैंक उन प्रतिभूतियों के आधार पर और अधिक मात्रा में साख का विस्तार न कर सकें। ऋणों का भुगतान बजट आधिक्य से अथवा बैंकों द्वारा लिये गये ऋणपत्रों को गैर-बैंकिंग संस्थाओं को बेचकर किया जा सकता है। परन्तु इसका उपयोग सीमित मात्रा में ही सम्भव हो सकता है।

(v) सरकारी व्यय में कमी करना (Decrease in Government Spending)—मुद्रा स्फीति के काल में सरकार अपने व्ययों में कमी करती है तथा अपनी आय के साधनों को बढ़ाकर स्फीति को रोकने के प्रयास करती है। सरकार के सम्मुख करों में वृद्धि करना कोई समस्या न होकर व्ययों में कमी करना है। इसके अतिरिक्त अल्पकालीन मुद्रा स्फीतिक उद्देश्य, दीर्घकालीन सार्वजनिक विनियोग के कारण असन्तुलित हो जाते हैं। सार्वजनिक व्ययों के सम्बन्ध में स्फीतिक प्रभावों को रोकने के सम्बन्ध में मुख्य बाधा अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध की स्थिति व भय से उपस्थित होती है जो सुरक्षात्मक कार्यवाहियों के लिए राष्ट्रीय बजट के विस्तार को प्रोत्साहित करती है। सुरक्षा की दृष्टि से सरकारी व्यय में वृद्धि करना आवश्यक होता है, परन्तु अल्पकाल में स्फीतिक परिस्थितियों को दूर करने की दृष्टि से सरकार व्ययों में कमी कर सकती है। सरकारी व्ययों में कमी करना ही स्फीति पर नियंत्रण करने के लिए पर्याप्त नहीं है, बल्कि जनता से कर एवं ऋण के रूप में मौद्रिक आय को प्राप्त करना भी आवश्यक माना गया है। कुल आय (Y) को उपभोग (C) तथा विनियोग (I) के योग के बराबर माना गया है। अल्पस्फीति को रोकने हेतु सार्वजनिक व्ययों में वृद्धि तथा स्फीति को रोकने के लिए सार्वजनिक व्यय में कमी की जानी चाहिए। अतिरिक्त सार्वजनिक व्यय को G द्वारा व्यक्त करने पर कुल बढ़ा हुआ व्यय $C+I+G$ होगा व सार्वजनिक व्यय कम करने पर कुल व्यय $C+I-G$ होगा। यदि कुल व्यय $C+I$ के स्थान पर $C+I+G$ कर दिया जाये तो आय में वृद्धि होगी और यदि कुल व्यय $C+I$ में घटाकर $C+I-G$ कर दिया जाये तो आय में कमी होगी जैसा कि चित्र 10·4 में दिखाया गया है। कुल व्यय $C+I$ होने पर सन्तुलन बिन्दु P व राष्ट्रीय आय OM है। सार्वजनिक व्यय बढ़ाने पर कुल व्यय $C+I+G$ होने से सन्तुलन बिन्दु P_1 व आय OM_1 होगी। सार्वजनिक व्यय कम करने से कुल व्यय $C+I-G$ होने से सन्तुलन बिन्दु P_2 व आय कम होकर OM_2 होगी।



चित्र 10·4

(3) मौद्रिक उपाय (Monetary Measures) मुद्रा-स्फीति को नियंत्रण करने में प्रमुख मौद्रिक उपायों को निम्न प्रकार रखा जा सकता है।

(i) जमाराशि मे वृद्धि करना (Increase in Deposits)—स्फीति काल में रिजर्व बैंक व्यापारिक बैंकों द्वारा रखे जाने वाले जमा राशियों की मात्रा मे वृद्धि करके बैंको के साख विस्तार पर प्रतिबन्ध लगाता है। ऐसा करने से बैंकों के पास उधार देने एव विनियोग करने के लिए कम मात्रा मे धन शेष रहता है।

सीमायें—इस नीति के पालन करने मे निम्न सीमायें रहती हैं—

(अ) यदि बैंकों के पास रिजर्व फण्ड पर्याप्त मात्रा मे हों तो वह साख का विस्तार सुविधापूर्वक कर सकते हैं और जमा राशि मे वृद्धि करने का उनके साख विस्तार पर कोई प्रभाव नहीं पड सकेगा।

(ब) यदि सरकार द्वारा ब्याज की दर कम रखी जाती है तो बैंक जमा राशि मे धन जमा करना स्वीकार न करके अपने पास ही रखना अधिक पसन्द करेंगे।

(स) यदि सदस्य बैंकों के पास अधिक मात्रा मे रिजर्व हो तो आधारभूत कानूनी आवश्यकतायें परिवर्तित करनी होंगी, जिसमे कठिनाइयो का सामना करना पडेगा।

(द) निर्यात मे वृद्धि होने से बैंको को पर्याप्त मात्रा मे धन की व्यवस्था करनी होती है, जिससे जमाराशि मे वृद्धि करने के प्रयास असफल सिद्ध हो जाते हैं।

(ii) उपभोक्ता साख का नियंत्रण करना (Regulating Consumer's Credit)—उपभोक्ता साख का नियन्त्रण करके स्फीति को नियन्त्रित किया जा सकता है। उपभोक्ता साख का नियमन इस बात पर निर्भर करता है कि स्थायी वस्तुओं के लिए उपभोक्ता की मौद्रिक माग पूर्णतया अस्थिर रहे तथा सामान्य मूल्य वितरण में उसका सामरिक महत्त्व हो तथा वह रोजगार एव उत्पादन को प्रभावित करता हो, जो राष्ट्र स्थायी वस्तुओं में जितना अधिक धनी होगा, उतनी ही अस्थिर उसकी अर्थव्यवस्था होगी। एक राष्ट्र में पूर्ण रोजगार की स्थिति में उपभोक्ता साख के नियमन से (अ) अर्थव्यवस्था की भावी स्थायित्व के लिए साख विस्तार का खतरा न्यूनतम हो जायेगा, (ब) उपभोक्ता सम्बन्धी स्थायी वस्तुओं पर व्यय की मात्रा कम हो जायेगी।

(iii) पुन. कटौती की दर में वृद्धि करना (Increasing Rates of Rediscount)—सामान्यतया पुन कटौती[1] दर में वृद्धि करना इस बात का सूचक है कि सरकार मुद्रा एवं साख नीति का सख्ती से पालन कर रही है जिसके परिणामस्वरूप व्यापारिक बैंक भी साख कार्यवाहियों को नियंत्रित करने लगते हैं। ऊंची दर पर सदस्य बैंक न्यूनतम मात्रा में ऋण प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार ग्राहक भी कम से कम मात्रा मे ऋण प्राप्त करके स्फीतिक दबाव को कम कर देते हैं। बैंक दर भी इस दर के साथ-साथ बढ जाती है और समाज में उद्योगों व व्यापार के लिए कम मात्रा मे ही धन प्राप्त हो पाता है। यदि व्यापारिक बैंकों के पास पर्याप्त मात्रा मे अतिरिक्त रिजर्व है तो इस प्रकार के साख नियंत्रण का कोई महत्त्व नही रहता।

सीमायें—निम्नलिखित परिस्थितियो से उच्च पुन.कटौती दर भी बेकार सिद्ध हो जाती है—

(अ) यदि व्यापारिक बैंकों के पास भारी मात्रा मे अल्पकालीन शासकीय प्रतिभूतियां हों, तो वह इन प्रतिभूतियों को बेचकर नकद राशि प्राप्त कर सकते हैं और स्फीतिक परिस्थितियो को नियंत्रित करना कठिन हो जायेगा।

(ब) यदि शासकीय प्रतिभूति बाजार की सहायता के लिए बढे हुए बैंक संचय का उपयोग किया जाये तो स्फीति के प्रभाव को नियन्त्रित करना सम्भव नही हो सकेगा। सरकार शासकीय प्रतिभूतियों के मूल्य ऊंचे रखेगी क्योंकि इससे कुल ब्याज भार की मात्रा मे कमी होगी तथा वित्तीय सस्थाओं के हितों की सुरक्षा होगी, विशेषकर वह संस्थायें जिन्होंने सरकारी बौण्ड ले रखे हैं।

(स) यदि गैर-बैंकिंग धारी सरकारी प्रतिभूतियो को नकद मे परिवर्तित करें तो स्फीतिक नियंत्रण सम्भव नहीं हो पाता है। इन संस्थाओं द्वारा प्रतिभूतियो को नकद मे बदलने से मुद्रा की गति मे वृद्धि होगी तथा बैंकों द्वारा रखी गई सरकारी प्रतिभूतियां में वृद्धि होगी।

(iv) मार्जिन आवश्यकता (Margin Requirements)—मार्जिन आवश्यकता की सहायता से स्फीति को

---

1. 'पुन' कटौती दर से आशय उस ब्याज दर से है, जो एक सदस्य बैंक की रिजर्व बैंक से प्रथम श्रेणी की सरकारी प्रतिभूतियों को भुनाने मे देनी होती है।

नियंत्रित किया जा सकता है। साख की मात्रा पर नियंत्रण करके सट्टे की साख का नियमन किया जा सकता है। यदि मार्जिन में वृद्धि कर दी जाये तो व्यक्ति को अधिक मात्रा में नकद राशि रखनी होगी अथवा प्रतिभूतियों को क्रय करने के लिए कम मात्रा में साख प्राप्त होगी तथा विनियोग राशि सट्टे के कार्य से हटकर उत्पादक क्रियाओं में प्रवाहित हो जायेगी। ऊंचे मार्जिन से मौद्रिक विस्तार पर नियमन किया जा सकता है। ऊंचे मार्जिन आवश्यकता के लिए आय प्रभाव को नहीं भूलना चाहिए। इससे सट्टे की क्रियाओं पर नियंत्रण लगाकर अर्थव्यवस्था में स्थायित्व लाने के सफल प्रयास किये जा सकते हैं। इसी प्रकार कम्पनियों में जोखिम एवं अनिश्चितताएं समाप्त होने लगेंगी तथा देश की अर्थव्यवस्था को विकास की ओर ले जाया जा सकेगा।

(v) खुले बाजार की क्रियाएं (Open Market Operations)—जब केन्द्रीय बैंक खुले बाजार में साख प्रतिभूतियों को खरीदता है, तो इससे बैंकों की कुल जमा में वृद्धि हो जाती है और उनकी साख विस्तार की क्षमता में वृद्धि होती है। इसके विपरीत जब केन्द्रीय बैंक खुले बाजार में साख प्रतिभूतियों को बेचने लगते हैं, तो बैंकों के पास रिजर्व कम हो जाते हैं, परिणामस्वरूप उनकी उधार देने व विनियोग करने की क्रियायें शिथिल पड़ जाती हैं।

(4) अन्य उपाय (Other Measures)—मुद्रा-स्फीति के उपचार के अन्य उपायों में निम्न को सम्मिलित किया जा सकता है—

(i) मजदूरी वृद्धि पर रोक (Check on Increase in Wages)—मुद्रा-स्फीति को रोकने के लिए मजदूरी वृद्धि पर रोक की नीति का पालन किया जाता है जिसमें नियोक्ता एवं मजदूर यह समझौता करते हैं कि आगामी 10 या 12 वर्षों तक मजदूरी की दरों में कोई भी वृद्धि नहीं की जायेगी। यदि प्रत्येक मूल्य वृद्धि के साथ-साथ मजदूरी की दरों में भी वृद्धि की जाये तो एक आर्थिक कुचक्र उत्पन्न हो जायेगा, जिससे छुटकारा पाना कठिन हो जायेगा।

(ii) मूल्यों पर कड़े नियंत्रण (Strict Control on Price)—स्फीति पर नियंत्रण लगाने के लिए वस्तु-मूल्यों पर कड़े नियंत्रण लगाने चाहिए जिससे उपभोक्ताओं द्वारा कम से कम माल खरीदा जा सके। इस सम्बन्ध में बैंकों को ऋण देने पर कड़े प्रतिबन्ध लगा देने चाहिए, इससे वस्तुओं की मांग कम होकर स्फीति पर नियंत्रण लगाया जा सकेगा तथा उपभोक्तागण भी न्यूनतम मात्रा में वस्तुएं प्राप्त कर सकेंगे।

(iii) विनियोग पर नियंत्रण (Control on Investment)—विनियोग की मात्रा बढ़ने पर मुद्रा की मात्रा में वृद्धि हो जाती है, परन्तु उत्पादन में आनुपातिक वृद्धि न होने से मुद्रा-स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। अतः स्फीति को नियंत्रित करने के लिए यह आवश्यक है कि सरकार द्वारा नवीन विनियोजन पर कड़े नियंत्रण लगाये जायें।

(iv) उत्पादन में वृद्धि (Increase in Production)—यदि उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि कर दी जाये तो पूर्ति में वृद्धि हो जाने से मूल्यों में वृद्धि पर रोक लग जाती है और स्फीति पर नियंत्रण किया जा सकता है।

भारत में मुद्रा-स्फीति
(Inflation in India)

विकासशील राष्ट्रों में योजनाओं की सहायता से आर्थिक विकास लाने के प्रयास किये जाते हैं। यह राशि देश में करों द्वारा तथा आवश्यकता पड़ने पर विदेशों से ऋण लेकर पूर्ण की जाती है। यदि व्ययों को पूर्ण करना सम्भव न हो तो घाटे की वित्त-व्यवस्था द्वारा कार्य किया जाता है। युद्धकाल में सुरक्षा पर अधिक व्यय किया जाता है। इस प्रकार देश के विकास एवं युद्धकाल में मुद्रा-स्फीति का सहारा लिया जाता है।

युद्धकाल में मुद्रा प्रसार

द्वितीय विश्व-युद्धकाल में मुद्रा की मात्रा में अत्यधिक वृद्धि हुई और इस वृद्धि के प्रमुख कारण निम्नलिखित थे—

(1) स्टर्लिंग प्रतिभूतियों में वृद्धि—युद्धकाल में भारत से भारी मात्रा में माल ब्रिटेन को भेजा गया जिसके बदले में भारत के खाते में स्टर्लिंग पेष जमा होते गये जिनके आधार पर भारत सरकार ने नोटों की निकासी की, जिसके परिणामस्वरूप मुद्रा स्फीति हुई।

(7) उत्पादन में वृद्धि—देश में वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ाने की दृष्टि से नवीन उद्योगों की स्थापना पर जोर दिया गया तथा उन्हें कर मुक्त रखा गया। इसी प्रकार कृषि क्षेत्र में 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन का संगठन किया गया जिससे देश में खाद्यान्न की कमी को दूर किया जा सके।

(8) स्वर्ण का विक्रय—जनता से मुद्रा वापस लेने के उद्देश्य से केन्द्रीय बैंक ने स्वर्ण का विक्रय करना प्रारम्भ कर दिया। परन्तु वर्तमान समय में इस पर विशेष निर्भर नहीं रहा जा सकता है।

(9) सन्तुलित बजट—सार्वजनिक व्ययों में कमी करने के उद्देश्य से सरकार द्वारा सन्तुलित बजट बनाये गये तथा घाटों या कमी को कम करने के प्रयास किये गये।

(10) आयात नीति में सुविधायें—देश में उपभोग पदार्थों के अभाव को दूर करने की दृष्टि से आयात नीति में सुविधायें दी गई जिससे अधिक मात्रा में माल का आयात हो सके।

विश्व में मुद्रा-प्रसार

भारत में ही नहीं विश्व के अन्य राष्ट्रों में भी मुद्रा-स्फीति एवं महगाई है, जिसे निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

विश्व में मूल्य वृद्धि

विकसित देश	प्रतिशत वृद्धि	विकासशील देश	प्रतिशत वृद्धि
जापान	52 8	भारत	90.0
ब्रिटेन	40.8	इथियोपिया	45.7
फ्रान्स	38 2	पाकिस्तान	45.1
इटली	34 4	श्रीलंका	29.5
आस्ट्रेलिया	32.5	मैक्सिको	28.4
अमरीका	32.4	थाईलैंड	19.0
कनाडा	30.2	केनिया	18.8
पश्चिमी जर्मनी	27.2	ईरान	17.1
		मोरक्को	15.2

भारत में मुद्रा प्रसार

युद्ध की समाप्ति के पश्चात देश में आर्थिक व राजनीतिक स्थिरता रही। 1951 से देश का आर्थिक विकास पंचवर्षीय योजनाओं के आधार पर किया गया जिससे मुद्रा की पूर्ति में निरन्तर वृद्धि होती गई।

रुपये का मूल्य 1949 की तुलना में घटकर आज 38 पैसे रह गया है और रुपये का मूल्य निरन्तर घट ही रहा है जिसे निम्न प्रकार रखा जा सकता है।

रुपये की क्रय-शक्ति

वर्ष	रुपये का आन्तरिक मूल्य	वर्ष	रुपये का आन्तरिक मूल्य
1950-51	[illegible]	1965-66	0.59
1955-56	1.04	1970-71	0.44
1960-61	0.80	1972-73	0 38

मुद्रा-स्फीति के कारण

योजनाकाल में मुद्रा-स्फीति होने के प्रमुख कारण निम्नलिखित थे—

(1) वित्तीय क्रियाओं का विस्तार—नियोजित विकास योजनाओं के द्वारा सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र में व्ययों में निरन्तर वृद्धि होती गई जिससे मुद्रा की गति एवं साख की मात्रा में अधिकाधिक वृद्धि हुई व साथ ही बैंकों की वित्तीय क्रियायें भी बढ़ी।

(2) उत्पादन लागत में वृद्धि—प्राय सभी वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों में वृद्धि होने से मजदूरी की दरों में भी वृद्धि हुई, फलस्वरूप सामान्य वस्तुओं को क्रय करने में अधिक धनराशि की व्यवस्था की गई व मुद्रा का प्रयोग बढ़ा, जिससे मुद्रा-स्फीति को प्रोत्साहन मिला तथा उसका कारण बनी।

(3) हीनार्थ प्रबन्धन—योजनाओं में हीनार्थ प्रबन्धन के कारण मुद्रा की मात्रा में वृद्धि की गई। प्रथम योजना में 333 करोड़ रुपये, द्वितीय योजना में 951 करोड़ रुपये, तृतीय योजना में 1,151 करोड़ रुपये, एवं चतुर्थ योजना में 948 करोड़ रुपये से हीनार्थ प्रबन्धन किया गया। पांचवी योजना में यह राशि केवल 550 करोड़ रुपये ही रखी गयी है। इस निरन्तर हीनार्थ प्रबन्धन के परिणामस्वरूप मुद्रा-स्फीति हुई व मूल्यों में वृद्धि हुई।

(4) बिगड़ी राजनैतिक दशायें—विश्व की राजनैतिक दशायें बिगड़ने से भारत में भी मूल्यों में वृद्धि हुई। भारत ने 1949 में अवमूल्यन किया जिससे उसके आयात मंहगे हो गये। पाकिस्तान ने भी साथ नहीं दिया। 1950 में कोरिया युद्ध के फलस्वरूप हथियारों के निर्माण पर ध्यान दिया गया जिससे नागरिक वस्तुओं के उत्पादन के लिए कमी होने से मूल्यों में वृद्धि होती गई।

(5) असफल बचत व ऋण नीति—युद्ध के पश्चात् युद्ध एवं बचत नीति के असफल होने के कारण देश में भी स्फीतिक दशायें उत्पन्न हो गयी और मुद्रा प्रसार फैल गया।

(6) उत्पादन में गिरावट—देश में उत्पादन में वृद्धि न होने से भी मुद्रा-प्रसार प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला। देश के कुछ भागों में बाढ़ों का प्रकोप रहा जिससे कृषि क्षेत्र में उत्पादन न बढ़ सका। औद्योगिक क्षेत्र में भी श्रम समस्यायें, मशीनों का अभाव आदि के कारण उत्पादन में वृद्धि सम्भव न हो सकी।

(7) नियंत्रणों की समाप्ति—वस्तुओं के वितरण एवं मूल्यों पर से नियंत्रण इस कारण से हटाया गया कि व्यापारीगण अपना स्टॉक बाजार में ले आयेंगे व मूल्य कम होंगे। परन्तु इसके विपरीत ही कार्य हुआ और नियंत्रण के हटते ही फिर से मूल्यों में वृद्धि हो गई।

(8) चलन मुद्रा में वृद्धि—इस काल में चलन मुद्रा में काफी वृद्धि हुई। 1950-51 में 2,016 करोड़ रुपये की मुद्रा बढ़कर 1967-68 में 5332 करोड़ रुपये तक हो गई जिससे वस्तुओं के मूल्यों में अपार वृद्धि हुई। चलन मुद्रा में वृद्धि के साथ-साथ उत्पादन में वृद्धि सम्भव न हो सकी।

(9) खाद्यान्न संकट—देश विभाजन के बाद खाद्यान्न उगाने वाले अच्छे व उपजाऊ क्षेत्र पाकिस्तान के क्षेत्र में चले जाने से खाद्यान्न की कमी हो गई व साथ ही शरणार्थियों के आगमन से खाद्यान्न की मांग बढ़ी व कृषि पदार्थों के मूल्यों में वृद्धि हुई व कृषकों की मौद्रिक आय में वृद्धि हुई।

(10) नैतिक पतन—समाज में वस्तुओं की कमी एवं कीमत वृद्धि के कारण जमाखोरी एवं चोरबाजारी को प्रोत्साहन मिला, जिसके फलस्वरूप वस्तुओं का संचय होने लगा तथा विक्रेताओं द्वारा माल में मिलावट करके क्रेताओं के शोषण करने के प्रयत्न किये गये।

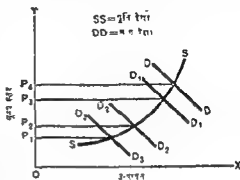
(11) खुले बाजार की क्रियायें—रिजर्व बैंक देश में आवश्यकता पड़ने पर सरकारी एवं प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियों का क्रय एवं विक्रय करता था जिससे समाज में मुद्रा की पूर्ति बढ़ी एवं मुद्रा प्रसार को प्रोत्साहन मिला।

(12) योजनाओं में भारी विनियोजन—योजनाओं द्वारा देश के विकास के कार्यक्रम बनाये गये तथा विभिन्न योजनाओं पर भारी राशि व्यय की गई। योजनाओं के लिए विदेशी पूंजी का भी सहारा लिया गया। इन सबके उपरान्त

भी उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि न होने से वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि हो गई।

प्रायः मांग में वृद्धि होने से मूल्यों में वृद्धि होती है जो स्फीति को जन्म देती है इसे चित्र 10.5 द्वारा प्रदर्शित कर सकते हैं—

मांग बढ़ने के साथ मूल्य भी बढ़कर P_1, P_2, P_3, P_4 आदि हो जाते हैं।



चित्र 10.5

मुद्रा-स्फीति रोकने के उपाय

भारत सरकार ने मुद्रा-स्फीति को रोकने के लिए विभिन्न उपायों का प्रयोग किया जो कि निम्नलिखित हैं—

(1) वितरण व्यवस्था करना—देश में आवश्यक वस्तुओं की वितरण व्यवस्था को सुधारने के उद्देश्य से राशनिंग व्यवस्था को चालू किया गया। देश में पर्याप्त मात्रा में सस्ते अनाज की दुकानों को खोलकर अनाज, घी, शक्कर आदि का सही वितरण किया गया।

(2) उद्योगों का विकास—स्वदेशी उद्योगों के विकास के प्रयास किये गये जिससे आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति में वृद्धि सम्भव हो सके।

(3) साख नीति पर नियंत्रण—साख विस्तार को रोकने के उद्देश्य से बैंकों की साख नीति पर कठोर नियन्त्रण लगाये गये।

(4) उपभोक्ता सहकारी भण्डार—देश में आवश्यक वस्तुओं के उचित वितरण के लिए उपभोक्ता सहकारी भण्डारों की स्थापना की गई जिससे उचित मूल्यों पर माल की पूर्ति सम्भव हो सके।

(5) सट्टे पर प्रतिबन्ध—सट्टेबाजी पर नियंत्रण लगाये गये जिससे मूल्यों में वृद्धि सम्भव न हो सके।

(6) वस्तु संग्रह दण्डनीय—देश में वस्तु संग्रह को दण्डनीय घोषित करके गोदामों पर छापा मारकर माल जब्त किया गया जिससे मूल्यों में वृद्धि न हो सके।

(7) बचत योजनायें—इस काल में बचत योजनायें प्रारम्भ करके अतिरिक्त राशि को खींचने के प्रयास किये गये जिससे मुद्रा प्रसार को नियन्त्रित किया जा सके।

(8) करारोपण—करारोपण में वृद्धि की गई जिसमें कुछ नवीन कर लगाये गये जिससे जनता के पास मुद्रा की मात्रा में कमी हो सके।

(9) वेतन में वृद्धि—देश में नौकरी करने वालों के वेतन एवं महगाई भत्तों में इस आशय से वृद्धि की गई कि उनकी मौद्रिक आय में वृद्धि हो सके तथा मूल्यों में वृद्धि का प्रभाव न पड़ सके।

(10) परिवहन साधनों का विकास—देश में परिवहन के साधनों के विकास किये गये जिसमें अभावग्रस्त क्षेत्रों में वस्तुओं को भेजकर मूल्य वृद्धि को रोका जा सके।

(11) आयात में वृद्धि—अभाववाली आवश्यक वस्तुओं के आयात में वृद्धि करके उनके अभाव की पूर्ति करने के प्रयास किये गये जिससे वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि सम्भव न हो सके।

(12) मूल्य निश्चित करना—देश में अधिकांश वस्तुओं के मूल्यों को पहले से निश्चित कर दिया गया जिससे उनमें उच्चावचन उन्हीं सीमाओं के अन्तर्गत सम्भव हो सके।

(13) सार्वजनिक व्यय में कमी—सरकार ने सरकारी व्ययों में कमी करके सार्वजनिक व्ययों में कमी करने के भरसक प्रयास किये। सरकारी कार्यों में मितव्ययिता को प्रोत्साहित किया गया।

(14) आठ-सूत्री कार्यक्रम—1949 में रुपये के अवमूल्यन से पर्याप्त वांछित लाभ प्राप्त न हो सके और मूल्य वृद्धि का दौर बढ़ता गया। इस स्थिति पर नियंत्रण करने के लिए सरकार ने आठ-सूत्री कार्यक्रम बनाया, जिसके फलस्वरूप मूल्यों में गिरावट आ सके।

(15) सं० रा० अमरीका से गेहूं का ऋण—इस काल में सं० रा० अमरीका से गेहूं का ऋण लिया गया जिससे अनाज की कीमतों में वृद्धि न हो सके व दूसरे अनाज आदि को क्रय करने में जनता की क्रय शक्ति सरकार के पास हस्तान्तरित हो गई। खाद्य वितरण के लिए सस्ते मूल्यों की दुकानें एवं राशनिंग व्यवस्था का सहारा लिया गया।

(16) आपात् स्थिति—26 जून 1975 से देश में आपात् स्थिति की घोषणा की गयी, जिससे सभी वस्तुओं के मूल्यों पर नियन्त्रण लगाये गये एवं मूल्य सूचियां लगाकर ग्राहकों को अधिक सुविधायें दी गयीं, जिससे मूल्यों में भारी कमी आई।

मुद्रा-विस्फीति (संकुचन)
(Deflation)

प्रारम्भिक—मुद्रा-स्फीति की विपरीत स्थिति को मुद्रा-विस्फीति या मुद्रा-संकुचन कहते हैं। मुद्रा-संकुचन का सम्बन्ध वस्तुओं के गिरते हुए कीमत स्तर से लगाया जाता है। परन्तु जिस प्रकार मूल्यों में प्रत्येक वृद्धि मुद्रा-स्फीति नहीं होती, उसी प्रकार मूल्यों का प्रत्येक पतन मुद्रा-संकुचन नहीं हो सकता। मुद्रा-संकुचन से आशय उस स्थिति से लगाया जाता है जिसमें मूल्यों की प्रत्येक कमी बेरोजगारी में वृद्धि करे तथा उत्पत्ति के साधनों की आय में कमी कर दें। जब राष्ट्र का भुगतान सन्तुलन निरन्तर विपक्ष में रहने पर विदेशी पूंजी का आयात होने पर भी मुद्रा की मात्रा में वृद्धि सम्भव न हो और मूल्यों में भी स्थिरता बनी रहे तो मुद्रा-विस्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

परिभाषायें—मुद्रा-संकुचन की प्रमुख परिभाषायें निम्न हैं—

(1) पीगू के अनुसार, "जब समाज की मौद्रिक आय की तुलना में वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन तेजी से बढ़े जिससे मुद्रा की क्रय शक्ति में वृद्धि होकर, वस्तुओं एवं सेवाओं की कीमतें गिर जायें तो इस स्थिति को मुद्रा संकुचन कहेंगे।"

(2) क्राउथर के अनुसार, "मुद्रा-संकुचन वह स्थिति है, जिसमें मुद्रा के मूल्य में वृद्धि हो अर्थात् मूल्यों में कमी हो।"[1]

परिस्थितियां—प्रायः मूल्यों के गिरने से मुद्रा-संकुचन निम्न परिस्थितियों में ही सम्भव हो सकता है—

(1) उत्पादन पूर्ववत् रहने से मौद्रिक आय में कमी हो तो मुद्रा संकुचन होता है।

(2) मौद्रिक आय एवं उत्पादन दोनों बढ़े, परन्तु उत्पादन में तेजी से वृद्धि होने पर।

(3) जब देश में उत्पादन बढ़े, परन्तु मौद्रिक आय में कमी हो।

(4) जब उत्पादन एवं मौद्रिक आय दोनों में कमी हो, परन्तु मौद्रिक आय तेजी से घटे।

(5) मौद्रिक आय यथास्थिर रहने पर यदि उत्पादन तेजी से बढ़ जाये तो संकुचन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

लक्षण—मुद्रा-विस्फीति के प्रमुख लक्षण निम्न हैं—

(1) मूल्यों में कमी—मुद्रा-संकुचन में मूल्यों में कमी होना पाया जाता है।

(2) उत्पादन में अधिक वृद्धि होना—मुद्रा की मात्रा की तुलना में तुलनात्मक दृष्टि से उत्पादन में अधिक मात्रा में वृद्धि होती है। उत्पादन में अधिक वृद्धि हो जाने से वस्तुओं के मूल्य गिर जाते हैं व मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है जिससे धीरे-धीरे मुद्रा-संकुचन या विस्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(3) विपक्ष भुगतान सन्तुलन—भुगतान सन्तुलन के निरन्तर विपक्ष में रहने से विदेशी पूंजी के आयात होने पर भी मुद्रा की मात्रा एवं वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि सम्भव न हो तो उस समय भी विस्फीति उत्पन्न हो सकती है।

1. "Deflation then becomes a state in which the value of money is rising, i.e., prices are falling."—Crowther: An Outline of Money (1958), p. 107.

मुद्रा-संकुचन के कारण
(Causes of Deflation)

प्राय. मुद्रा-संकुचन निम्न कारणों से उदय होता है—

(1) भारी करारोपण एवं ऋण लेना—सरकार जनता पर भारी करारोपण करके तथा ऋण लेकर मुद्रा की मात्रा में कमी करके विस्फीति की स्थिति उत्पन्न कर सकती है।

(2) वस्तुओं की मात्रा में वृद्धि—चलन मुद्रा की मात्रा स्थिर रहने पर वस्तुओं की मात्रा में वृद्धि हो जाने पर मूल्यों में कमी हो जाती है और मुद्रा संकुचन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(3) मुद्रा परिमाण में कमी—सरकार मुद्रा के परिमाण में कमी करके या अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा को रद्द करके संकुचन की स्थिति उत्पन्न कर सकती है।

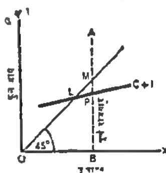
(4) साख नियंत्रण नीतियाँ—केन्द्रीय बैंक साख-निर्माण पर नियंत्रण लगाकर मुद्रा-संकुचन कर सकती है। इसमें बैंकों के रक्षित कोष की मात्रा को बढ़ाकर, जनता से प्रत्यक्ष रूप में ऋण लेकर, एवं खुले बाजार की क्रियायें आदि सम्मिलित की जाती हैं।

(5) बैंक दर में वृद्धि करके—केन्द्रीय बैंक द्वारा बैंक दर में वृद्धि करने पर अन्य बैंकिंग संस्थायें भी अपनी ब्याज दर में बढ़ोत्तरी कर देती हैं जिससे देश में साख का संकुचन हो जाता है और परिणामस्वरूप विस्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

अपस्फीतिकारी एवं स्फीतिकारी अन्तराल
(Deflationary and Inflationary Gap)

(1) अपस्फीतिकारी अन्तराल—पूर्ण रोजगार बनाये रखने हेतु जितने व्यय की आवश्यकता हो और उस मात्रा से कम व्यय करने पर दोनों के अन्तर को अपस्फीतिकारी अन्तराल कहते हैं। इसे चित्र 10 6 द्वारा दिखाया गया है। MB पूर्ण रोजगार स्तर है और PB कुल व्यय की मात्रा है, अत अपस्फीतिकारी अन्तराल = MB—PB = MP है।

(2) स्फीतिकारी अन्तराल—पूर्ण रोजगार बनाये रखने वाले व्यय से जितना अधिक व्यय सरकार द्वारा किया जाये वह सब स्फीतिकारी अन्तराल कहलाता है। इसे चित्र 10 7 द्वारा स्पष्ट किया गया है। LM कुल व्यय की आवश्यकता तथा NM कुल व्यय है, तो स्फीतिकारी अन्तराल = NM—LM = NL है।



चित्र 10 6

मुद्रा-संकुचन के प्रभाव
(Effects of Deflation)

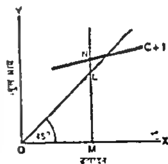
मुद्रा संकुचन से समाज के विभिन्न वर्गों पर भिन्न-भिन्न ढंग से प्रभाव पड़ता है। मुद्रा-संकुचन के प्रभाव का अध्ययन निम्न प्रकार किया जा सकता है—

(1) नैतिक प्रभाव।
(2) आर्थिक प्रभाव।
(3) सामाजिक व अन्य प्रभाव।

(1) नैतिक प्रभाव—मुद्रा-संकुचन के नैतिक प्रभाव निम्न प्रकार हैं :

(i) निराशा की भावना—मुद्रा-संकुचन के समय कार्य बन्द होने लगते हैं, मजदूरों को काम नहीं मिलता जिससे उनमें निराशा की भावना फैलने लगती है।

(ii) चोरी में वृद्धि—जनता की आय में कमी होने लगती है जिससे जीवन-स्तर को बनाये रखने के लिए मनुष्य को चोरी का सहारा भी लेना पड़ता है



चित्र 10·7

जिसमे अनैतिकता मे वृद्धि होती है।

(iii) बेरोजगारी—कारखानो की उत्पादन क्षमता में कमी हो जाने एवं माग में कमी हो जाने से अनेक कारखाने बन्द हो जाते हैं, जिससे बेरोजगारी की मात्रा में वृद्धि हो जाती है। बेरोजगारी फैलने से देश में अराजकता का वातावरण उत्पन्न होने लगता है, जिसे रोकने के सरकार हर सम्भव प्रयास करती है।

(2) आर्थिक प्रभाव—मुद्रा-संकुचन के आर्थिक प्रभाव निम्नलिखित हैं :

(iv) व्यापारी एवं उत्पादक वर्ग—देश मे वस्तुओ की कीमतें गिरने से व्यापारी एवं उत्पादक वर्ग को हानि का सामना करना पडता है क्योकि इस काल मे माग कम हो जाने से बिक्री कम हो जाती है और स्टाक मे वृद्धि होने से उसे कम मूल्य पर बेचने के प्रयास किये जाते हैं, फलस्वरूप हानि की मात्रा मे वृद्धि हो जाती है। ग्राहको को सन्तुष्ट करने के लिए अतिरिक्त छूट दी जाती है तथा माल न बिकने से पूजी का अभाव अनुभव किया जाता है।

(v) कृषकों को हानि—मुद्रा-सकुचन से किसानों को हानि सहन करनी पडती है। उन्हे लगान के रूप मे एक पूर्व निश्चित राशि भुगतान करनी पडती है, जिससे इस राशि का वास्तविक भार बढ जाता है और कृषकों पर भार बढ जाता है। कृषि उपज की कीमतें अन्य वस्तुओ की अपेक्षा अधिक गिरती हैं। इससे भी कृषको को भारी हानि सहन करनी पड़ती है।

(vi) उपभोक्ता वर्ग को लाभ—मूल्यों के गिरने से सीमित आय मे अधिक वस्तुयें प्राप्त की जा सकती हैं, जिससे मुद्रा-सकुचन उपभोक्ताओ को लाभप्रद होता है। सीमित आय वाले उपभोक्ताओ को अधिक लाभ प्राप्त होता है और वे अपनी आवश्यकताओ को अधिक मात्रा मे सन्तुष्ट करने मे सफल हो जाते हैं।

(vii) ऋणी को हानि व ऋणदाता को लाभ—मुद्रा सकुचन से ऋणी वर्ग को हानि होती है क्योकि उसे मूलधन व ब्याज के लिए वस्तुओ व सेवाओं के रूप मे अधिक त्याग करना पडता है और उन्हे ऋण का भार असहनीय हो जाता है। इसके विपरीत ऋणदाताओं को लाभ होता है, क्योकि वस्तुओं व सेवाओं के रूप मे मुद्रा का मूल्य पहले से अधिक हो जाता है और उन्हे लाभ प्राप्त होता है।

(viii) श्रमिक वर्ग को हानि—प्रारम्भिक अवस्था मे मुद्रा संकुचन के कारण मूल्यो मे कमी होने से मजदूरों को लाभ होते हैं क्योंकि उनकी मजदूरी पूर्ववत हो रहती है। परन्तु थोड समय पश्चात् उद्योगपति जब मजदूरी घटाने लगते हैं तो अनेक मजदूरो की छटनी हो जाती है और इस प्रकार बेरोजगारी मे वृद्धि होकर श्रमिको की आर्थिक स्थिति खराब हो जाती है जिससे उनके आर्थिक जीवन-स्तर पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

(ix) विनियोक्ताओं को हानि—मुद्रा सकुचन के फलस्वरूप विभिन्न प्रकार के अंश एवं प्रतिभूतियो के मूल्य गिरने से विनियोक्ताओ को हानि उठानी पडती है। मन्दी के कारण व्यापार व व्यवसाय के बन्द हो जाने से विनियोग-पत्रों का मूल्य गिर जाता है।

(3) सामाजिक एवं अन्य प्रभाव—मुद्रा संकुचन के सामाजिक एवं अन्य प्रभावों मे निम्न को सम्मिलित किया जाता है :

(x) सरकार पर ऋण भार में वृद्धि—मुद्रा की क्रय शक्ति के बढ जाने से सरकार पर ऋण का भार बढ जाता है तथा उसे कभी-कभी अतिरिक्त ऋण भी लेना पडता है।

(xi) बैंकिंग काम मे कमी—मन्दी के कारण बैंक एवं बीमा कम्पनियो का कार्य भी धीमा हो जाता है तथा उनकी आर्थिक स्थिति भी खराब हो जाती है। अनेक बैंक कार्य की कमी के कारण अपना व्यवसाय बन्द करने पर मजबूर हो जाते हैं।

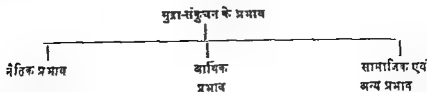
(xii) करदाताओं को हानि—मन्दी के समय जो कर लगाये जाते हैं, वस्तुएं व सेवाओ के रूप मे उनकी मात्रा अधिक होती है। इस प्रकार करदाताओ को कर चुकाने मे हानि सहन करनी पड़ती है।

(xiii) व्यापार शेष पक्ष में—मन्दी आ जाने से निर्यात की मात्रा मे वृद्धि होती है तथा आयात घटने से व्यापार शेष देश के पक्ष मे हो जाता है। परन्तु बाद मे मन्दी का प्रभाव सर्वत्र फैलने पर व्यापार में भी मन्दी आ जाती है और धीरे-धीरे विदेशी व्यापार ही समाप्त हो जाता है।

(xiv) सामान्य जनता को लाभ—मुद्रा संकुचन के कारण वस्तुओं के मूल्यों में कमी आ जाने से जनता को

लाभ प्राप्त होते हैं, क्योंकि पहले की अपेक्षा उन्हें अब अनेक वस्तुयें सस्ते मूल्यों पर प्राप्त होने लगती हैं।

मुद्रा-संकुचन के प्रभावों को निम्न चार्ट द्वारा स्पष्ट किया गया है :



मुद्रा-संकुचन पर नियंत्रण (Control on Deflation)

मुद्रा संकुचन को नियंत्रित करने के लिए निम्न उपायों को काम में लाया जा सकता है।

I. सरकारी नीति एवं उपाय।

II. मौद्रिक उपाय।

I. सरकारी नीति एवं उपाय

सरकार द्वारा संकुचन को नियंत्रित करने के लिए निम्न कार्य किये जा सकते हैं—

(1) ऋणों को लौटाना—इस काल में सरकार अपने द्वारा लिये गये ऋणों को लौटाकर जनता व बैंकों के पास धन की वृद्धि करती है जिससे समाज में नवीन मुद्रा के आने से संकुचन का प्रभाव कम होगा।

(2) करों में छूट—सरकार अनेक क्षेत्रों में करों की मात्रा में छूट देकर जनता के पास अधिक मात्रा में क्रय शक्ति छोड़ देती है, इससे मुद्रा संकुचन का प्रभाव कम हो जाता है।

(3) सरकार द्वारा खरीद—सरकार अतिरिक्त माल को स्वयं खरीदकर मूल्यों में होने वाली कमी को रोकती है। यह खरीदा हुआ माल भविष्य के लिए संग्रह करके अथवा दूसरे राष्ट्रों को ऋण के रूप में दिया जा सकता है।

(4) विदेशी विनियोग—संकुचन का प्रभाव कम करने के लिए सरकार विदेशी विनियोग को प्रोत्साहित करती है जिससे नवीन पूंजी के आगमन से संकुचन की स्थिति में सुधार सम्भव हो सके।

(5) अतिरिक्त उत्पादन को नष्ट करना—मूल्यों की कमी को रोकने के लिए देश के अतिरिक्त उत्पादन को नष्ट करके मूल्यों को गिरने से रोका जा सकता है। यह व्यवस्था विकसित देशों में विशेषकर अपनायी जाती है। विकासशील एवं अर्द्ध विकसित देशों में इसे बहुत कम प्रयोग किया जाता है।

(6) निर्यातों को प्रोत्साहन—मुद्रा-संकुचन के समय सरकार निर्यात प्रोत्साहन के लिए आवश्यक योजनाओं का निर्माण कर सकती है जिससे मूल्यों में कमी न हो। इसके लिए आर्थिक सहायता, सस्ते ऋण की व्यवस्था आदि उपायों को अपनाया जा सकता है।

(7) पूंजी की सहायता—मुद्रा-विस्फीति काल में सरकार नवीन उद्योगों को पूंजी एवं ऋण सम्बन्धी सहायता प्रदान कर सकती है जिससे नवीन उद्योगों की स्थापना से रोजगार में वृद्धि हो तथा आय में भी वृद्धि सम्भव हो सके।

(8) नवीन निर्माण कार्य—मुद्रा-संकुचन के समय सरकार द्वारा अनेक नवीन निर्माण कार्य प्रारम्भ करने से रोजगार में वृद्धि की जा सकती है इससे माग में वृद्धि होकर संकुचन के प्रभावों को कम किया जा सकता है।

II. मौद्रिक उपाय

मुद्रा-संकुचन पर नियन्त्रण लगाने के लिए निम्न मौद्रिक उपायों का पालन किया जा सकता है—

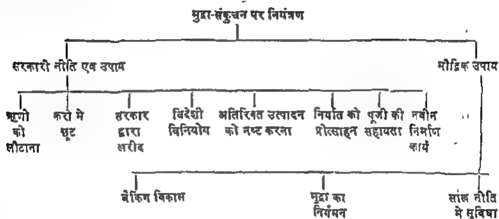
(1) बैंकिंग विकास—सरकार द्वारा बैंकों के विकास के लिए आर्थिक सहायता देकर साख का विस्तार किया जा सकेगा तथा मुद्रा संकुचन पर नियन्त्रण लगाया जा सकेगा।

(2) मुद्रा का निर्गमन—देश में मुद्रा का अधिक मात्रा में निर्गमन करके गिरते हुए मूल्यों को रोका जा सकेगा

तथा मुद्रा-संकुचन पर रोक लगाई जा सकेगी। इसके लिए नवीन प्रकार के नोटों का प्रचलन किया जाता है तथा देश में मुद्रा की मात्रा को बढ़ाया जाता है।

(3) साख नीति मे सुविधा—केन्द्रीय बैंक द्वारा साख नीति मे सुविधाएं देने से व्यापारी बैंकों को अधिक साख विस्तार के अवसर प्राप्त होंगे। ब्याज की दर कम होने के से व्यापारी भी अधिक ऋण लेगा तथा मुद्रा-संकुचन की स्थिति में सुधार होने लगेगा।

इसे निम्न चार्ट द्वारा भी दिखाया जा सकता है—



मुद्रा-स्फीति अनुपयुक्त एवं मुद्रा-संकुचन अन्यायपूर्ण

रोजगार एवं उत्पादन की पूर्णता ही मुद्रा-प्रसार या मुद्रा-संकुचन की कसौटी है। देश मे पूर्ण रोजगार की स्थिति होने के बाद भी मूल्यो मे यदि वृद्धि हो तो वह मुद्रा-प्रसार होगा। इसी प्रकार मूल्यों में कमी आने से रोजगार एवं उत्पादन मे कमी आने लगे तो उसे मुद्रा-संकुचन कहेंगे।

मुद्रा-प्रसार अनुपयुक्त—मुद्रा-प्रसार से द्रव्य का मूल्य गिर जाता है व उसकी क्रय शक्ति कम हो जाती है जिससे प्रतिभूतियो मे विनियोग करने से व्यक्ति की वास्तविक आय कम हो जाती है। उत्पादकों को मुद्रा-स्फीति मे लाभ प्राप्त होते हैं क्योंकि वे कम मूल्य पर कच्चा माल खरीदकर ऊंचे दाम पर निर्मित माल बेचकर लाभ अर्जित करते हैं। उधार लेने वालो को मुद्रा-प्रसार से लाभ प्राप्त होते हैं क्योंकि ऋण वापस करते समय मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है परन्तु उधार देने वालों को हानि का सामना करना पड़ता है। यदि हीनार्थ प्रबन्धन द्वारा नोटों की मात्रा में वृद्धि कर दी जाये तो इसका भार निर्धनों पर पड़ेगा और उनकी आय मे कमी हो जायेगी जिससे वे अपनी आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करने में भी असफल रहेंगे। इस प्रकार मुद्रा-प्रसार के समय समाज के एक वर्ग को लाभ प्राप्त होते हैं परन्तु दूसरी ओर समाज के दूसरे वर्ग के व्यक्ति हानि उठाते हैं। इसी कारण मुद्रा प्रसार को अनुपयुक्त कहा गया है।

मुद्रा-स्फीति के कारण—

(i) सामान्य जनता की क्रय शक्ति बहुत कम हो जाती है और उसे वस्तुएं महंगे मूल्यो पर मिलती हैं।

(ii) इससे ऋणदाता वर्ग को हानि होती है, क्योंकि जिस समय राशि उधार ली जाती है, उस समय मुद्रा की क्रय शक्ति वह नहीं रहती जो पहले थी।

(iii) इससे निश्चित आय वाले वर्ग को हानि होती है और मूल्य बढ़ने से उनका नियमित खर्चा चलना कठिन हो जाता है।

(iv) स्फीति मे अनेक प्रकार के अनैतिक अपराध होने लगते हैं, जिससे नागरिकों को कष्ट होता है और प्रशासन पर भी दबाव बढ़ जाता है और असन्तोष का वातावरण उत्पन्न हो जाता है।

मुद्रा-संकुचन अन्यायपूर्ण—मुद्रा-संकुचन में माल की मांग कम होने से वस्तुओं के मूल्य गिरने लगते हैं जिससे निश्चित आय वाले व्यक्तियों को अल्पकाल में लाभ प्राप्त होते हैं, परन्तु दूसरी ओर उद्योग एवं व्यापारिक संस्थाएं बन्द होने लगती हैं, क्योंकि वे अपने लागत मूल्य को भी प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं फलस्वरूप कारखाने बन्द हो जाते हैं, मजदूरों में बेरोजगारी फैलती है तथा समाज को भयंकर मन्दी का सामना करना पड़ता है। बैंकों की प्रतिभूतियों के मूल्य भी गिरने लगते हैं जिससे बैंकों को आर्थिक संकट का सामना करना पड़ता है। देश की समस्त व्यापारिक एवं औद्योगिक व्यवस्था व्यर्थ हो जाती है, सरकार भी सरलता से करों को वसूल करने में असमर्थ रहती है तथा प्रत्येक वर्ग को मन्दी की हानि का सामना करना पड़ता है। मुद्रा-संकुचन के अन्यायपूर्ण होने के मुख्य कारण निम्न हैं।

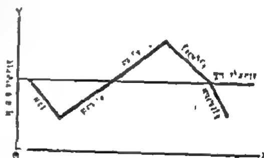
(i) बेरोजगारी—मुद्रा-संकुचन से देश में कारखाने बन्द हो जाते हैं और अनेक श्रमिक बेरोजगार हो जाते हैं, जिससे समाज में असन्तोष का वातावरण उत्पन्न हो जाता है।

(ii) उत्पादन में शिथिलता—संकुचन काल में मूल्यों में कमी होने से उत्पादकों के लाभ कम हो जाते हैं और देश की अर्थव्यवस्था को हानि सहन करनी होती है।

दोनों में से मुद्रा-संकुचन ही अधिक कष्टदायक—मुद्रा प्रसार केवल कुछ वर्गों को ही अधिक कष्ट देता है और यह कष्ट शनैः शनैः ही फैलता है, परन्तु मुद्रा-संकुचन का प्रभाव व्यापक रूप से फैलता है जो सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को बिगाड़ देता है। मुद्रा-संकुचन में मूल्यों में गिरावट प्रारम्भ हो जाती है और जनता का अविश्वास उद्योगों को आगे बढ़ने में रुकावटें उत्पन्न कर देता है। इस प्रकार मुद्रा प्रसार से व्यापार, उद्योग, बैंक व्यवस्था तथा श्रमिकों आदि को पर्याप्त लाभ प्राप्त होते हैं और देश की अर्थव्यवस्था उन्नति की ओर जाती है। परन्तु मुद्रा संकुचन के समय कृषि व्यवसाय एवं विदेशी व्यापार में मन्दी आ जाती है अनेक व्यक्ति बेरोजगार हो जाते हैं तथा देश की आर्थिक स्थिति बिगड़ जाती है। मुद्रा-प्रसार यदि बुरा है तो मुद्रा-संकुचन असह्य एवं आवश्यक है। इसी कारण प्रो० कीन्स का कथन है कि मुद्रा प्रसार की स्थिति अन्यायपूर्ण है तथा मुद्रा-संकुचन अनुपयुक्त और इन दोनों में मुद्रा-संकुचन ही अधिक बुरा है।

मुद्रा अपस्फीति
(Dis-Inflation)

देश में मुद्रा-स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाने पर उसे सामान्य मूल्य स्तर तक लाने के लिए मुद्रा की मात्रा में कमी की जाती है, जिसे मुद्रा-अपस्फीति कहते हैं। इसे व्यावहारिक रूप देने के लिए प्रायः मुद्रा-संकुचन की रीतियों को ही काम में लाया जाता है। मुद्रा-अपस्फीति में मुद्रा की मात्रा को एक असामान्य ऊंचे स्तर से सामान्य स्तर तक लाने के सघन प्रयास किये जाते हैं। मुद्रा-अपस्फीति देश की आर्थिक स्थिति में सुधार लाने के लिए आवश्यक मानी जाती है, *जबकि मुद्रा-संकुचन से राष्ट्र को* हानि होने की सम्भावना बनी रहती है।


चित्र 10.8

चित्र 10.8 में *मुद्रा-प्रसार, मुद्रा-संकुचन, संस्फीति एवं विस्फीति* को समझाया गया है—

मुद्रा-अपस्फीति के ढंग

मुद्रा-अपस्फीति लाने के प्रमुख ढंग निम्नलिखित हैं—

(1) **मुद्रा को रद्द करना**—पुरानी मुद्रा का एक बड़ा भाग रद्द करके मुद्रा की मात्रा को कम कर दिया जाता है जिससे स्थिति में सुधार लाया जा सके।

(2) **बचत को प्रोत्साहन**—देश में बचतों को प्रोत्साहित करके मुद्रा चलन में कमी कर दी जाती है।

(3) **कर लगाना**—सरकार भारी करारोपण करके या ऋणपत्रों को बेचकर चलन से अधिकाधिक मात्रा में चलन मुद्रा को वापस लेने के प्रयास किये जाते हैं।

(4) उत्पादन में वृद्धि—देश में उत्पादन की मात्रा मे शीघ्रता से वृद्धि करके अतिरिक्त मुद्रा को शोषण करने के प्रयास किये जाते हैं, जिससे स्फीति पर नियन्त्रण रखा जा सके।

मुद्रा-अपस्फीति एवं मुद्रा-संकुचन में अन्तर

मुद्रा-अपस्फीति एवं मुद्रा-संकुचन मे प्रमुख अन्तर इस प्रकार हैं :—

(1) स्थिति—मुद्रा-अपस्फीति से देश मे सामान्य स्थिति उत्पन्न हो जाती है, परन्तु मुद्रा-संकुचन से मंदी का वातावरण उत्पन्न होने से अनेक व्यवसाय व उद्योग बन्द हो जाते हैं।

(2) परिस्थितियां—देश मे मुद्रा-अपस्फीति की नीति का पालन एक निश्चित रीति के आधार पर किया जाता है और सरकार इसके लिए सक्रिय प्रयास करती है, जबकि मुद्रा-संकुचन अपने आप परस्थितियों वश हो जाता है।

(3) मूल्य स्तर—मुद्रा-अपस्फीति में मूल्य स्तर सामान्य अवस्था में आ जाता है जबकि मुद्रा-संकुचन से देश में मन्दी की स्थिति उत्पन्न होती है।

(4) मुद्रा की मात्रा—मुद्रा-अपस्फीति में मुद्रा की मात्रा को घटाकर एक सामान्य स्तर तक लाया जाता है। इसके विपरीत मुद्रा-संकुचन की स्थिति में मुद्रा की मात्रा सामान्य स्तर से गिरकर बहुत नीचे की ओर चली जाती है।

(5) बेकारी—संकुचन में बेकारी फैलती है परन्तु अपस्फीति में यह दोष नही रहता क्योंकि सरकार मूल्य को इस प्रकार समायोजित करती है कि बेरोजगारी न हो पावे।

मुद्रा-अपस्फीति के उपाय

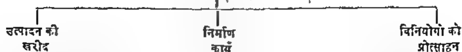
मुद्रा-अपस्फीति के लिए सरकार (i) पुरानी मुद्रा का एक बड़ा भाग रद्द कर सकती है जैसाकि जर्मनी में हुआ था। (ii) बचतो को प्रोत्साहित किया जा सकता है, जिससे मुद्रा चलन में कम हो जाती है, (iii) सरकार ऋणपत्र बेचकर या नवीन कर लगाकर चलन से अधिक मुद्रा वापस कर सकती है, (iv) उत्पादन में शीघ्रता से वृद्धि करके अतिरिक्त मुद्रा का शोषण करने के प्रयत्न किये जाते हैं

मुद्रा-संस्फीति
(Reflation)

मुद्रा-संकुचन के कारण मूल्यों में कमी होने से देश में बेरोजगारी बढती है और उसे सुधारने की दृष्टि से जान-बूझकर मुद्रा की मात्रा में वृद्धि करके मूल्यों में वृद्धि की जावे तो उसे मुद्रा-संस्फीति कहेंगे। मन्दी के अभावों को दूर करने की दृष्टि से जान बूझकर किये गये मुद्रा प्रसार को मुद्रा संस्फीति कहेंगे।"[1] इस प्रकार नियन्त्रित मुद्रा-प्रसार को संस्फीति कहा जाता है।

मुद्रा-संस्फीति के ढंग

मुद्रा संस्फीति के ढंग



मुद्रा-संस्फीति लाने के लिए प्रमुख ढंग निम्नलिखित हैं—

(1) उत्पादन की खरीद—देश में अतिरिक्त उत्पादन को सरकार स्वयं क्रय कर ले या विदेशों में माल निर्यात कर दिया जावे तो मुद्रा-संकुचन की स्थिति का अन्त हो जायेगा।

1. "Reflation may be defined as inflation deliberately undertaken to relieve a depression." —G. D. H. Cole.

(2) निर्माण कार्य—सरकार जनता को ऋण देकर अथवा नवीन निर्माण कार्य प्रारम्भ करके अधिक मुद्रा को चलन में डालने के प्रयास किये जाते हैं जिससे मन्दी को समाप्त किया जा सके।

(3) विनियोगों को प्रोत्साहन—इसमें सरकार द्वारा विनियोगों को प्रोत्साहित किया जाता है, जिससे पूंजी का उपयोग नवीन कारखानों की स्थापना में सुविधापूर्ण ढंग से किया जा सके।

मुद्रा-संस्फीति एवं मुद्रा-स्फीति में अन्तर

मुद्रा-संस्फीति एवं मुद्रा-स्फीति में प्रमुख अन्तर निम्नलिखित हैं—

(1) प्रभाव—मुद्रा-संस्फीति से सन्तुलन की स्थिति उत्पन्न होती है, परन्तु स्फीति से मूल्यों में वृद्धि होती है।

(2) नियन्त्रण—मुद्रा-संस्फीति को एक निश्चित सीमा पर नियंत्रित किया जा सकता है, परन्तु मुद्रा-स्फीति को रोकना कठिन होता है।

(3) सुधार—मुद्रा-संस्फीति का उद्देश्य संकुचन की अवस्था में सुधार करना होता है, परन्तु मुद्रा-स्फीति अल्पकालीन कारणों से उदय होती है।

(4) जानबूझकर—मुद्रा-संस्फीति को जानबूझकर प्रारम्भ किया जाता है और इसका आरम्भ मुद्रा-संकुचन की चरम सीमा तक पहुंचने पर होता है। मुद्रा-स्फीति विशेष परिस्थितियों में प्रारम्भ की जाती है जिस पर प्रायः सरकार का नियन्त्रण बना रहता है।

इस प्रकार मुद्रा-संस्फीति देश के लिए लाभदायक परन्तु मुद्रा-स्फीति हानिकारक होती है।

मुद्रा-संस्फीति के उपाय

मुद्रा-संस्फीति के मुख्य उपाय निम्न हैं :

(i) सरकार ऋण देकर या नवीन निर्माण कार्य प्रारम्भ करके अधिक मुद्रा प्रचलन में डालने का प्रयास करती है।

(ii) देश में विनियोजकों को प्रोत्साहित करने के प्रयास किये जाते हैं।

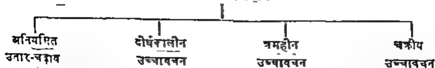
(iii) अतिरिक्त उत्पादन को सरकार स्वयं क्रय करके या विदेशों में निर्यात करने का प्रयत्न करके स्थिति को सुलझा सकती है।

11
व्यापार-चक्र
(TRADE CYCLES)

प्रारम्भिक—किसी भी देश का आर्थिक विकास व्यवस्थित एवं नियमित रूप से नहीं हो पाता। देश का विकास आर्थिक क्रियाओं—विनियोग, नियोजन, रोजगार एवं उत्पादन—के उच्चावचन से प्रभावित होता रहता है। आर्थिक जगत में सम्पन्नता तथा सम्पन्नता के बाद मन्दी व मन्दी के बाद पुन: सम्पन्नता की स्थिति आती रहती है। भूतकाल में भी यह उच्चावचन पाये जाते थे, परन्तु उस समय इन घटनाओं पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता था, क्योंकि समाज पर इनके प्रभाव अधिक भीषण नहीं थे। विस्तार के समय देश की कुल अर्थव्यवस्था में वृद्धि हो जाती थी, फलस्वरूप व्यापार, रोजगार तथा मूल्यों में वृद्धि होकर अर्थव्यवस्था पर अच्छा प्रभाव पड़ता था। इसके विपरीत मन्दी के समय सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर विपरीत प्रभाव पड़कर उत्पादन, रोजगार एवं मूल्यों आदि पर बुरा प्रभाव पड़ा। वर्तमान गतिशील अर्थव्यवस्था में चक्रीय उच्चावचन आते रहते हैं। परन्तु अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि विस्तार का प्रभाव संकुचन के प्रभावों की अपेक्षा अधिक तीव्र होता है। मन्दी के समय स्थिति अधिक बिगड़ जाती है और प्राकृतिक ढंग से उसमें कोई सुधार सम्भव नहीं होता और इस अर्थव्यवस्था को सुधारने के लिए देश में कृत्रिम उपाय करने पड़ते हैं। वर्तमान समय में अर्थशास्त्री चक्रीय परिवर्तनों के प्रभाव, स्वभाव एवं विशेषताओं आदि के सम्बन्ध में गहन जाँच पड़ताल करने लगे हैं। आर्थिक उच्चावचन विभिन्न रूपों में हो सकता है जिसमें से कुछ बड़े तथा अन्य छोटी अवधि के लिए होते हैं। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात व्यावसायिक चक्रों की गहनता में अत्यधिक वृद्धि हो गई तथा विश्व के अनेक राष्ट्रों में भीषण बेरोजगारी फैल गई। 1929-30 की महान् मन्दी काल में परिस्थितियाँ अधिक गम्भीर हो गईं और यह अनुभव किया गया कि अवसाद के पश्चात पुनरुत्थान स्वाभाविक रूप से नहीं हो पाता और उसके लिए विशेष कृत्रिम उपायों का सहारा लेना पड़ता है। अत: अर्थशास्त्रियों ने व्यावसायिक क्रियाओं की इस चक्रीय प्रवृत्ति के सम्बन्ध में विस्तृत रूप से जाँच करना आरम्भ कर दिया। इस जाँच का आधार ही व्यापार-चक्र माना गया।

उच्चावचनों के रूप
(Forms of Fluctuations)

आर्थिक एवं व्यावसायिक जगत में होने वाले समस्त उच्चावचन चक्रीय नहीं होते। आर्थिक जगत में ऐसे निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं जिसमें साम्य की स्थिति को प्राप्त करना सम्भव नहीं हो पाता। विभिन्न प्रकार के उच्चावचनों के प्रमुख रूप निम्नलिखित हैं—



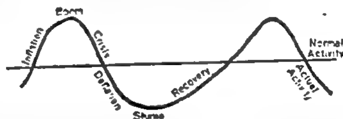
(1) **अनियमित उतार-चढ़ाव (Irregular Fluctuation)**—इस प्रकार के उच्चावचन प्राय: आकस्मिक

परिवर्तन जैसे बाढ़, भूचाल, अकाल, भुखमरी आदि के कारण उत्पन्न हो जाते हैं। वर्ष में कुछ अवधि ऐसी होती है जिनमें अधिकांश उत्पादन क्षेत्र में व्यावसायिक क्रियाओं में तेजी से वृद्धि होने लगती है। इसी प्रकार जलवायु के परिवर्तनों के कारण भी व्यावसायिक एवं औद्योगिक क्रियाओं में अनेक प्रकार के उच्चावचन आते रहते हैं। यह उच्चावचन नियमित समय पर नहीं आते बल्कि अनियमित ढंग से आते रहते हैं। इनके कारण वस्तुओं की माँग, पूर्ति एवं मूल्य सम्बन्धी व्यवस्था में संतुलन नहीं रह पाता और व्यावसायिक क्रियायें बदल जाती हैं। इस उच्चावचन से देश के उद्योगों एवं व्यवसायों पर विभिन्न प्रकार के प्रभाव पड़ने लगते हैं।

(2) **दीर्घकालीन उच्चावचन (Secular Fluctuations)**—विश्व में कुछ परिवर्तन स्थायी एवं दीर्घकालीन प्रकृति के होते हैं जो अर्थव्यवस्था पर एक दीर्घकाल की अवधि तक प्रभाव डालते हैं। यह परिवर्तन प्रायः जनसंख्या में वृद्धि प्राविधिक उन्नति, भूमि सुधार, नवीन आविष्कार एवं अन्य मौलिक परिवर्तनों के कारण होते हैं। यह परिवर्तन निश्चित योजनाओं के फलस्वरूप ही प्राप्त होते हैं।

(3) **क्रमहीन उच्चावचन (Random Fluctuations)**—इन परिवर्तनों का पूर्वानुमान लगाना कठिन होता है। प्रारम्भ में यह प्राकृतिक होते हैं, परन्तु इनमें अनिश्चितता का अंश अधिक होता है। यह परिवर्तन अप्राकृतिक कारणों से भी उत्पन्न होते हैं। जैसे राजनैतिक घटनाओं में परिवर्तन, नवीन आविष्कार एवं नवीन प्रकार की खानों का मिल जाना आदि। यह परिवर्तन व्यावसायिक क्रियाओं में उच्चावचनों के कारण आते हैं। यह परिवर्तन विशेष प्रकार की समस्याओं को उत्पन्न करते हैं जिनके लिए विभिन्न प्रकार के उपायों का पालन करना पड़ता है।

(4) **चक्रीय उच्चावचन (Cyclical Fluctuations)**—चक्रीय उच्चावचन देश में अन्य प्रकार के परिवर्तनों से जुड़े रहते हैं परन्तु यह परिवर्तन नियमित क्रम से होते रहते हैं। यह अल्पकालीन उच्चावचन होते हैं और अकस्मात् ही व्यावसायिक कार्यवाहियाँ विस्तार की ओर जाने लगती हैं। धीरे-धीरे विस्तार क्रम फिर एक बार रुक जाता है। जिससे संकुचन की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। यह क्रिया कुछ समय तक चलकर फिर रुक जाती है और विस्तार की प्रवृत्तियाँ पुनः उत्पन्न हो जाती हैं। यहाँ से व्यावसायिक विस्तार का क्रम फिर से चलने की भाँति प्रारम्भ हो जाता है, परन्तु यह क्रम फिर से टूट जाता है। इस क्रम में पर्याप्त नियमितता बनी रहती है तथा विस्तार व संकुचन की दो अवस्थाओं के मध्य एक निश्चित अवधि का अन्तर बना रहता है। वास्तविक व्यावसायिक क्रिया नियमितता के रूप में दिखाई देता है और इसके फलस्वरूप व्यावसायिक क्रिया की वृद्धि एवं उसका पतन धीरे-धीरे होता रहता है। इस उच्चावचन को चित्र 11.1 द्वारा दिखाया गया है।



चित्र 11.1

उपर्युक्त चित्र में दिखाया गया प्रसार धीरे-धीरे बढ़ता है। परन्तु अभिवृद्धि (Boom) से पतन (Slump) अकस्मात् हो जाता है और पतन के पश्चात् फिर पुनरुद्धार (Recovery) का कार्य धीरे-धीरे ही प्रारम्भ होता है जिसमें काफी समय लग जाता है। ये उतार-चढ़ाव एक तरंग के समान होते हैं जिनमें संकुचन एवं विस्तार की अवस्था एक के बाद दूसरे पर स्वतः ही घटित हो जाया करती है। इसमें क्रियायें विस्तार की ओर अग्रसर होती जाती हैं फिर कुछ समय पश्चात् यह क्रम रुक जाता है तथा संकुचन की क्रियायें प्रारम्भ हो जाती हैं। संकुचन भी थोड़े समय तक चलकर फिर रुक जाता है और विस्तार पुनः प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार अर्थव्यवस्था में संकुचन एवं विस्तार की प्रवृत्तियाँ एक दूसरे के बाद घटित होती रहती हैं और इसी क्रमबद्धता के कारण इसे चक्रीय उच्चावचन के नाम से जाना जाता है। संकुचन के बाद विस्तार तथा विस्तार के बाद संकुचन की स्थिति घटित होती रहती है।

व्यापार-चक्र की परिभाषायें

व्यापार-चक्र की अनेक परिभाषायें दी जा सकती हैं, जिसमें से प्रमुख परिभाषायें निम्न हैं—

(1) कीन्स के अनुसार, "व्यापार चक्र से आशय अच्छे व्यापार समय, जो बढ़ते मूल्य एवं निम्न बेरोजगार प्रतिशत को बताता है, एवं इसके विपरीत बुरे व्यापार समय, जो गिरते मूल्य एवं ऊंचे बेरोजगार प्रतिशत द्वारा प्रदर्शित होता है, से लगाया जाता है।"[1]

(2) मिचेल के अनुसार, "व्यापार-चक्र संगठित समुदाय में होने वाले आर्थिक क्रियाओं के उच्चावचन हैं। व्यवसाय शब्द इस धारणा को उन क्रियाओं तक सीमित कर देता है, जो व्यवस्थित ढंग से व्यावसायिक आधार पर संचालित की जाती हैं। चक्र शब्द उन उच्चावचनों को पृथक् कर देता है जो नियमितता के साथ घटित नहीं होते।"[2]

(3) हाट्रे के अनुसार, "विशेष प्रकार के उच्चावचन व्यापार-चक्र कहलाते हैं, क्योंकि एक दिशा में अधिक गतिशीलता न केवल अपने उपचार ही प्रस्तुत करती है, बल्कि दूसरी दिशा में गतिशीलता के आधिक्य को प्रोत्साहित करती है।"[3]

(4) हेबरलर के अनुसार, "सामान्य अर्थों में व्यापार-चक्र को प्रगतिकाल एवं मन्दीकाल में अच्छे व बुरे व्यापार के उपाय के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।"[4]

(5) हेन्सन के अनुसार, "व्यापार-चक्र अर्थव्यवस्था के औद्योगिक ढांचे का विशेष दर्पण है, जिससे उच्चस्तरीय सम्बन्धित आधुनिक समाज में तेजी व मन्दी अन्य समुदाय में पुनर्वितरित होती रहती है।"[5]

(6) जे० टिन्बर्गन के अनुसार, "व्यापार-चक्र उच्चावचनों के मध्य का एक खेल है, और एक आर्थिक पद्धति इन उच्चावचनों के चक्रीय समायोजित विस्तार को प्रदर्शित करने में सफल हो जाती है।"[6]

(7) प्रो० बेनहम के अनुसार, "व्यापार-चक्र वैभव एवं सम्पन्नता का एक ऐसा काल है, जिसके पश्चात् मन्दी या अवकाश का आना स्वाभाविक हो जाता है।"

किसी भी देश की आर्थिक अर्थव्यवस्था में तेजी व मन्दी, समृद्धि एवं गरीबी बारी-बारी से आती रहती है तथा इसके विकास में स्थायित्व नहीं रहता। अर्थव्यवस्था में तेजी के बाद मन्दी तथा मन्दी के बाद फिर से तेजी ज्वार-भाटे की भांति आती रहती है। इससे मूल्यों व रोजगार आदि में परिवर्तन नियमित व व्यवस्थित रूप से एक चक्र के समान आते रहते हैं। जब व्यवस्था प्रसार की ओर बढ़ती है तो आय, उत्पादन, मूल्यों एवं रोजगार आदि में वृद्धि हो जाती है। यह स्थिति एक निश्चित बिन्दु तक ही बनी रहती है और उस बिन्दु पर पहुंच जाने के पश्चात् आर्थिक व्यवस्था

1. "A trade cycle is composed of period of good trade characterised by rising price and low unemployment percentage alternating with periods of bad trade characterised by falling prices and high unemployment percentage."—J. M. Keynes : A Treatise on Money, Vol. I, p. 78.

2. "Business cycles are fluctuations in the economic activities of organized communities. The adjective 'business' restricts the concept to fluctuations in activities which are systematically conducted on a commercial basis. The noun 'cycles' bars out fluctuation which do not recur with a measure of regularity".—W. C. Mitchell : Business Cycles, Vol. I, p. 468.

3. "Special types of fluctuations are called business cycles because, an excess movement in one direction tends to bring into operation not only its own remedy but a stimulus to an excess movement in the other direction "—R. G Hawtrey : Trade and Credit. p. 83.

4. "The business cycle, in the general sense, may be defined as an alteration of the period of prosperity and depression of good and bad trade. "—Haberler.

5. The business cycle is peculiarly a manifestation of the industrial segment of the economy from which prosperity or depression is redistributed to other groups in the highly interrelated modern society. "—Hansen, A H.: Fiscal Policy and Business Cycles, p. 21.

6. "Business cycle is the interplay between erratic stocks and an economic system able to perform cyclical adjustment movements to such stocks. "—J. Tinbergen.

पतन की ओर जाने लगती है जिसे मन्दी के नाम से जानते हैं जिसमें आय, मूल्यों एवं रोजगार में निरन्तर कमी होती जाती है। यह प्रवृत्ति भी एक निश्चित् बिन्दु तक बनी रहती है और उसके बाद फिर से तेजी की अवस्थायें आनी प्रारम्भ हो जाती हैं।

आर्थिक उच्चावचनों के प्रकार

आर्थिक उच्चावचनों के प्रकार

- अति अल्प लहरें (40 माह की अवधि)
- अल्प लहरें (7 से 11 वर्ष)
- दीर्घ लहरें (50 वर्ष तक)

आर्थिक उच्चावचनों के प्रमुख भेद निम्नलिखित हैं—

(1) अति अल्प लहरें (Shorter Waves)—जब चक्रों को तीन पृथक्-पृथक् छोटे-छोटे चक्रों में विभाजित कर दिया जाये और प्रत्येक की समयावधि प्राय: 40 माह के बराबर हो तो उसे अति अल्प लहरें कहते हैं।

(2) अल्प लहरें (Short Waves)—इस प्रकार के व्यावसायिक उच्चावचनों की अवधि प्रायः 7 से 11 वर्ष होती है। इन चक्रों में विशाल नियमितता बनी रहती है। यह चक्र अपने पूर्व निर्धारित समय पर स्वत ही घटित होते रहते हैं। कभी-कभी इन चक्रों की अवधि को ज्ञात किया जा सकता है।

(3) दीर्घ लहरें (Long Waves)—इन व्यावसायिक क्रियाओं में 50 से 60 वर्ष तक की अवधि का अन्तर पाया जाता है। इन परिवर्तनों का क्रम बहुत अधिक नियमित बना रहता है और इनमें अनियमित एवं अनिश्चित घटनाओं का अभाव पाया जाता है।

व्यापार-चक्रों के कारण

व्यापार-चक्र व्यापारिक क्रियाओं को अस्तव्यस्त कर देते हैं, जो नियमित रूप से आते रहते हैं। व्यापार-चक्र रोजगार की स्थिति को बेकारी की स्थिति में परिवर्तित कर देते हैं। व्यापार-चक्र समाज में सम्पन्नता एवं विपन्नता का वातावरण उत्पन्न कर [redacted] हैं जिन्हें पहले से रोका नहीं जा सकता। व्यापार-चक्र द्वारा अभिवृद्धि उत्पन्न होकर सम्पन्नता के शिखर पर पहुंच जाती है और फिर टूटकर संकट उत्पन्न करके अवसाद उत्पन्न कर देती है, जो स्वयं तेजी के साथ आकर, कुछ समय रहकर शीघ्र ही समाप्त हो जाता है, फिर अभिवृद्धि व पुनरुद्धार का क्रम प्रारम्भ हो जाता है। यह क्रम निरन्तर चलता रहता है जिसका कोई अन्त नहीं है। व्यापार-चक्र के कारणों को निम्न चार्ट के रूप में रखा जा सकता है।

व्यापार-चक्रों के कारण

- पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली
- अन्य कारण
  - मौसमी परिवर्तन
  - प्रगतिशील प्रवृत्तियां
  - लाभ का आकर्षण
  - मांग व पूर्ति में समायोजन का अभाव
  - बैंक क्रियाओं में उच्चावचन
  - बचत व विनियोग का अभाव
  - आय व व्यय में अन्तर
  - उत्पादन के आविष्कार
  - मनोवृत्ति में अन्तर

व्यापार-चक्रों के कारणों को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

I. पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली,

II. अन्य कारण।

I. पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली—प्रायः अभिवृद्धि या संकुचन का सम्बन्ध पूंजीवादी राष्ट्रों से लगाया जाता है। पूंजीवाद की वृद्धि के साथ-साथ मुद्रा प्रसार या अवसाद की गहनता बढ़ती जाती है। इस सम्बन्ध में यह भी नहीं कहा जा

सकता कि पूंजीवाद में मूल्यों की स्थिरता का अभाव पाया जाता है। वर्तमान समय में अत्यधिक सरकारी हस्तक्षेप एवं समाजवादी आधार पर नियोजन की व्यवस्था करके आर्थिक संकटों को कम किया जा सकता है। पूंजीवादी में व्यापार-चक्रों को समाप्त करना असम्भव नहीं है। केवल उनकी अभिवृद्धि एवं अवसाद की गहनता को कम किया जा सकता है।

व्यापार-चक्रों के आधारभूत कारणों में पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली को महत्व दिया जाता है। पूंजीवादी व्यवस्था स्वतन्त्र उपक्रम व्यवस्था पर आधारित होने से इसका संचालन लाभ प्रेरणा एवं मूल्य यन्त्र द्वारा संचालित किया जाता है। यद्यपि दीर्घकाल के उत्पादन व उपभोग में साम्य स्थापित हो जाता है, फिर भी अल्पकाल में उत्पादन का आवश्यकताओं से कोई सम्बन्ध न होने से व्यापार-चक्र घटित होते रहते हैं। इसी कारण व्यापार-चक्रों का सम्बन्ध अल्पकालीन घटनाओं से ही माना जाता है। उत्पादक अपनी वस्तु का उत्पादन केवल लाभ की प्रेरणा से करता है जिसमें वस्तु की किस्म को महत्व नहीं दिया जाता। यदि उत्पादक को निम्न किस्म की वस्तुओं के बेचने से अधिक लाभ मिले तो वह अपनी शक्ति का केन्द्रीयकरण उसी ओर करेगा और विज्ञापन व प्रचार द्वारा उसी वस्तु को अधिकाधिक बेचने के प्रयास करेगा। यदि बिक्री को बढ़ाने से लाभ बढ़ जाते हों तो वह अधिक वस्तु का उत्पादन करके प्रचार द्वारा मांग में वृद्धि करने के प्रयास करेगा। उत्पादक का मुख्य लक्ष्य अपने लाभ की मात्रा को अधिकतम बढ़ाना है और इस लाभ को बढ़ाने की इच्छा से वह किसी भी अच्छी या बुरी वस्तु का उत्पादन करने से नहीं चूकता। वास्तव में पूंजीवाद में उत्पादन की मात्रा का निर्धारण वास्तविक मांग से न होकर भावी मांग से किया जाता है और अनुमान सही न होने से व्यापार-चक्र उत्पन्न हो जाते हैं। पूंजीवाद में जनता की आवश्यकताओं को विशेष महत्व नहीं दिया जाता, जिससे उत्पादन की मात्रा आवश्यकता से कम या अधिक हो जाती है और अति-उत्पादन या न्यून-उत्पादन की स्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं। प्रतियोगिता के कारण प्रायः छोटे-छोटे उत्पादक समाप्त हो जाते हैं, श्रमिकों की स्थिति बिगड़ती जाती है तथा उनकी मजदूरी में मूल्यों के अनुपात से वृद्धि नहीं हो पाती है जिससे जनता की क्रय शक्ति में ह्रास हो जाता है। फलस्वरूप उत्पादन में वृद्धि होने पर क्रय शक्ति में आनुपातिक वृद्धि न होने से मांग में उसी अनुपात में वृद्धि सम्भव नहीं हो पाती। इस प्रकार आर्थिक संकट का मूलभूत कारण सामाजिक आवश्यकताओं एवं सामाजिक उत्पादन के मध्य प्रत्यक्ष सम्बन्ध न होना है। प्रायः पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में आवश्यकताओं एवं उत्पादन के मध्य समन्वय स्थापित नहीं हो पाता है। इस दोष को माल्थस एवं सिस्मॉण्डी (Sismondi) आदि ने पहले से ही पता लगाकर चेतावनी भी दे दी थी। कार्ल मार्क्स ने भी स्पष्ट कहा था कि पूंजीवाद स्वयं समस्यायें उत्पन्न कर रहा है जिनको हल करना सम्भव नहीं होगा।

इसके विपरीत समाजवादी समाज में आर्थिक नियोजन पर ही अधिक जोर दिया जाता है, आर्थिक क्रियाओं के लिए मूल्य यन्त्रों पर निर्भर नहीं रहा जाता तथा समाज की आवश्यकताओं का अनुमान लगाकर नियोजन द्वारा उत्पादन का आवश्यकताओं के अनुरूप समायोजन करा लिया जाता है, फलस्वरूप उपभोग व उत्पादन में अन्तर न होने से अवसाद या अभिवृद्धि पर रोक लग जाती है। समाजवादी व्यवस्था में उत्पादन लाभ पर निर्भर न होकर सामाजिक आवश्यकताओं पर निर्भर करता है। प्रायः लाभ भावना ही व्यापार-चक्रों को जन्म देती है, जिसे समाजवादी व्यवस्था में स्थान नहीं दिये जाने से आर्थिक संकट समाप्त हो जाते हैं।

II अन्य कारण—व्यापार-चक्र के अन्य कारणों में निम्न को सम्मिलित किया जा सकता है—

(1) मौसम के चक्रिक परिवर्तन—प्रायः मौसम में परिवर्तन आने से आर्थिक जीवन भी प्रभावित हो जाता है। यदि देश में अनुकूल मौसम है तो फसलों के उत्पादन पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा जो जनता के स्वास्थ्य एवं मानसिक दृष्टिकोण को प्रभावित करके अभिवृद्धि की स्थिति उत्पन्न कर सकता है। इसके विपरीत प्राकृतिक आपत्तियां आने से आर्थिक जीवन पर बुरा प्रभाव पड़ सकता है।

(2) प्रगतिशील प्रवृत्तियां—वर्तमान समय में प्रगतिशील प्रवृत्तियों के कारण नवीन आविष्कार होने से एक साधन की उत्पादन मात्रा का दूसरे साधनों की उत्पादन मात्रा से समायोजन करना सम्भव न होने से व्यापार चक्र उपस्थित हो जाते हैं।

(3) लाभ का आकर्षण—उत्पादकों द्वारा लाभ के आकर्षण से व्यापार-चक्र उत्पन्न हो जाते हैं क्योंकि उत्पादक आवश्यकता से अधिक आशावादी हो जाने पर मांग का गलत अनुमान लगा लेते हैं और अधिक उत्पादन करके कच्चे माल एवं श्रमिकों की कमी को उत्पन्न कर देते हैं, फलस्वरूप बाजार में तेजी का रुख दिखाई देने लगता है। इसके विपरीत यदि

बाजार में थोड़ी सी भी मन्दी आ जाती है तो उत्पादक अधिक सतर्क हो जाते हैं और उत्पादन को कम करने के लिए कच्चे माल व श्रमिकों की मांग को रद्द कर देते हैं जिससे मूल्यों के गिरावट की ओर अधिक बल प्राप्त होता है —

(4) मांग एवं पूर्ति के समायोजन का अभाव—देश में मांग एवं पूर्ति के मध्य समायोजन के अभाव के कारण भी व्यापार-चक्र उत्पन्न हो जाते हैं। इसमें क्रय शक्ति का वितरण उत्पादन की तुलना में कम या अधिक हो जाता है। प्रायः उत्पादन मांग पर निर्भर करता है और मांग का ठीक ढंग से हिसाब लगाना कठिन होता है।

(5) बैंक क्रियाओं में उच्चावचन—देश में बैंकों की क्रियाओं का आर्थिक उच्चावचनों पर प्रभाव पड़ता है। ऋणों की मात्रा में सकुचन या विस्तार कर देने से साख मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन हो जाते हैं जिससे ब्याज की दरों में भी परिवर्तन होकर अर्थव्यवस्था प्रभावित होती है। बैंकों के नकद कोष की मात्रा में परिवर्तन होने से ऋणों की नीति में भी उन्हीं के अनुरूप परिवर्तन कर दिये जाते हैं। इन परिवर्तनों का आर्थिक क्रियाओं पर प्रभाव पड़कर व्यापार-चक्र उत्पन्न हो जाते हैं।

(6) बचत एवं विनियोग में समायोजन का अभाव—पूंजीगत माल एवं उपभोग पदार्थों में अनुपात में परिवर्तन होने से व्यापार-चक्र उत्पन्न हो जाते हैं क्योंकि पूंजीगत माल उद्योगों का विकास उपभोग उद्योगों की तुलना में अधिक तेजी से होने लगता है।

(7) आय एवं व्यय में अन्तर—यदि उपभोक्ताओं की आय एवं व्यय में अन्तर बना रहे तो इस अन्तर को विनियोग द्वारा सुधारने में सफलता न मिलने पर भी देश में व्यापार-चक्र उत्पन्न हो जाया करते हैं।

(8) उत्पादन के आविष्कार—नवीन व्यवसायों की उत्पत्ति एवं उत्पादन में नवीन आविष्कार भी व्यापार-चक्र की दशाएं उत्पन्न करने में सहायक सिद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार के नवीन आविष्कारों के कारण व्यापार-चक्रीय परिस्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं।

(9) मनोवृत्ति में अन्तर—मानव की मनोवृत्तियां भी व्यापार-चक्र के लिए जिम्मेदार ठहरायी जा सकती हैं। मानव में आशावाद एवं निराशावाद का वातावरण उत्पन्न होता रहता है। आशावाद एवं प्रगति की दशा में मनोवृत्ति विपरीत दिशा में कार्य करने लगती है। इसी प्रकार अवसाद काल में भी मानव की मनोवृत्ति मन्दी की ओर हो जाती है जिससे व्यापार-चक्र उत्पन्न हो जाते हैं।

व्यापार-चक्रों की विशेषताएं

व्यापार-चक्रों की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं।

(1) निरन्तर गतिशील—व्यापार-चक्र निरन्तर गतिशील बने रहते हैं और इनमें एक साथ अनेक चक्र क्रियाशील हो जाते हैं, जिनका विभिन्न क्षेत्रों पर एकसा प्रभाव पड़ने लगता है और यह व्यापार-चक्र स्वतन्त्र रूप से कार्य करने में सफल हो जाते हैं।

(2) अन्तर्राष्ट्रीय प्रकृति—व्यापार-चक्रों की प्रकृति अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की होती है, अर्थात् किसी भी एक राष्ट्र में प्रारम्भ हो जाने पर इसका प्रभाव अन्य राष्ट्रों पर अवश्यम्भावी रूप से पड़ने लगता है क्योंकि विदेशी व्यापार के माध्यम से समस्त राष्ट्रों की अर्थव्यवस्थाएं एक दूसरे से जुड़ी रहती हैं जिससे मन्दी या तेजी का प्रभाव एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र को पकड़ने लगता है।

(3) निश्चितता एवं नियमितता—व्यापार-चक्र प्रायः एक निश्चित अवधि के पश्चात नियमित रूप से आते रहते हैं तथा एक के पश्चात् तुरन्त दूसरा चक्र प्रारम्भ हो जाता है। विश्व के आर्थिक इतिहास का अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि तेजी के बाद मन्दी एवं मन्दी के बाद तेजी आती है और यह क्रम प्रत्येक 10 वर्ष बाद आता रहता है। व्यापार-चक्र की इस नियमितता के कारण अनेक अर्थशास्त्री तक इसका लाभ उठा पाते हैं।

(4) समकालीन प्रभाव—व्यापार-चक्र प्रायः समस्त उद्योगों एवं व्यवसायों को एक साथ प्रभावित करते हैं। उदाहरणार्थ, यदि तेजी का क्रम प्रारम्भ हो जाता है तो प्रायः सभी क्षेत्रों में तेजी आ जाती है और इसी प्रकार मन्दी का वातावरण उत्पन्न हो जाने पर समस्त व्यवसायों में मन्दी का रुख उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार के प्रभाव के दो कारण बताये जाते हैं। प्रथम, अनेक व्यवसाय एक दूसरे से सम्बन्धित रहते हैं और एक व्यवसाय में उन्नति या अवनति होने से

अन्य सम्बन्धित उद्योगो की माग मे भी वृद्धि हो जाती है, जिसमे एक उद्योग का प्रभाव दूसरे उद्योगो पर स्वाभाविक रूप से पडने लगता है। द्वितीय, मनोवैज्ञानिक कारण से भी व्यापार-चक्र उत्पन्न हो जाते हैं, क्योकि एक व्यवसाय मे मन्दी आते ही अन्य व्यवसायो मे लगे व्यक्तियो को शका उत्पन्न हो जाती है, जिससे वे सतर्क हो जाते हैं। यह शंका की लहर फैलती जाती है और समूचे व्यापारिक जगत् पर इसका प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगता है।

(5) असमान प्रभाव—व्यापार-चक्रो का देश के विभिन्न उद्योगो पर समान प्रभाव नही पडता वरन् विभिन्न क्षेत्रो पर इसके प्रभाव असमान रूप से पडते हैं। उदाहरण के लिए पूंजीगत सामान उत्पन्न करने वाले उद्योगो पर व्यापार चक्रो का प्रभाव अधिक होता है और उपभोक्ता वस्तुओ से सम्बन्धित उद्योगो पर इसका प्रभाव कम हो जाता है।

(6) मुद्रा की मात्रा में आनुपातिक परिवर्तन—देश मे कुल उत्पादन एव कुल रोजगार मे हुए परिवर्तन के अनुपात मे ही प्राय मुद्रा की मात्रा एवं उसकी गति में परिवर्तन होते रहते हैं।

(7) व्यापारिक आय में अधिक घट-बढ—व्यापार-चक्र से अन्य स्रोतों से प्राप्त आय की तुलना मे व्यापारिक आय मे अधिक मात्रा मे परिवर्तन हो जाते हैं जिससे अन्य उद्योगों एवं व्यवसायों पर विपरीत प्रभाव पड़ सकते हैं।

(8) कीमतों की स्थिति— व्यापार-चक्र से कृषि पदार्थों के मूल्यों मे अधिक परिवर्तन हो जाते हैं क्योकि कृषि पदार्थों की कीमतें अधिक लोचपूर्ण होती हैं। इसके विपरीत निर्मित माल की कीमतें अधिक स्थिर पाई जाती हैं और व्यापार चक्रों का इनकी कीमतो पर न्यूनतम प्रभाव पड़ता है।

(9) निर्मित माल पर व्यय में घटोतरी—व्यापार-चक्र से कुल विक्रय की अपेक्षा निर्मित माल पर किया गया व्यय अधिक मात्रा मे कम या अधिक हो जाता है। प्राय निर्मित माल की कीमतें स्थिर कर देते हैं जिससे व्यापार-चक्र का प्रभाव इनके मूल्यो पर न्यूनतम पड़े। अन्य वस्तुओ के मूल्यो पर व्ययो का प्रभाव अवश्य पड़ता है और उससे मूल्य कम या अधिक हो जाते हैं।

(10) उत्पादन की मात्रा से मुद्रा मात्रा मे परिवर्तन—व्यापार-चक्र मे उत्पादन की मात्रा के आधार पर ही मुद्रा की मात्रा मे परिवर्तन होते रहते हैं। तेजी के समय उत्पादन मे वृद्धि हो जाती है तथा बैंको से अधिक ऋण प्राप्त किये जाते हैं। इसके विपरीत मन्दी काल मे उत्पादन गिर जाता है जिससे व्यापार की साख सर्वथा समाप्त हो जाती है। इसके फलस्वरूप साख का विस्तार न होने से मुद्रा की मात्रा कम हो जाती है।

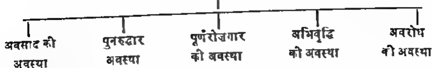
(11) मूल्य व उत्पादन एक ही दिशा मे परिवर्तित—व्यापार-चक्र के प्रभाव के फलस्वरूप मूल्य एवं उत्पादन एक ही दिशा मे परिवर्तित होने लगते हैं। उदाहरण के लिए मूल्यो मे वृद्धि होने से उत्पादन मे वृद्धि एवं मूल्यो मे कमी होने से उत्पादन मे भी कमी हो जाती है।

व्यापार-चक्र की अवस्थायें
(Phases of Trade Cycles)

व्यापार-चक्र की अवस्थाओ मे एक नियमित क्रम मे उच्चावचन होते रहते हैं जिसमे तेजी एव मन्दी का क्रम निरन्तर चलता रहता है तथा मूल्य व रोजगार भी घटते एव बढते रहते हैं। इस सम्बन्ध मे कोई भी ऐसा स्थान या बिन्दु निर्धारित करना कठिन होगा, जहा से व्यापार चक्र का मार्ग प्रारम्भ होता है। अतः अध्ययन करने की सुविधा से कोई एक बिन्दु निश्चित करना आवश्यक होता है। इस सम्बन्ध मे सबसे अच्छा बिन्दु वह माना जाता है, जहा मूल्यो का उतार अधिकतम हो और जिसे मन्दी की अवस्था कहते हैं। इस प्रकार व्यापार-चक्र की प्रमुख अवस्थायें निम्नलिखित हैं—

(1) अवसाद की अवस्था (Depression)
(2) पुनरुद्धार अवस्था (Recovery)
(3) पूर्ण रोजगार की अवस्था (Full employment)
(4) अभिवृद्धि की अवस्था (Boom)
(5) अवरोध की अवस्था (Recession)

व्यापार-चक्र की अवस्थाओं को निम्न चार्ट द्वारा भी दिखाया जा सकता है—



(1) अवसाद (Depression) या मन्दी की अवस्था

व्यापार-चक्र की यह प्रथम अवस्था होती है जिसमें उत्पादन एवं रोजगार में गम्भीरता से कमी होने लगती है। इस अवस्था में विनिमय की मात्रा कम होकर श्रमिक एवं उत्पत्ति के अन्य साधन बेकार हो जाते हैं व मजदूरी की दरों में भारी कमी हो जाती है। मजदूरी कम होने से माग गिर जाती है व उपभोग पदार्थों की कीमतें भी कम हो जाती हैं। जिन मजदूरों को रोजगार प्राप्त होता है उनकी वास्तविक मजदूरी में वृद्धि हो जाती है, क्योंकि पहले की अपेक्षा उन्हें अब अधिक वस्तुयें प्राप्त होने लगती हैं, परन्तु समाज में बेरोजगार व्यक्तियों की अधिक संख्या होने के कारण इस ऊंची वास्तविक मजदूरी का प्रभाव प्रायः समाप्त हो जाता है तथा समाज में बेरोजगारी का भय सदैव बना रहता है। मूल्य कम होने से व्यापारी वर्ग को हानि होती है और वह भावी कार्यों के प्रति निरुत्साहित हो जाता है। इस अवस्था में निर्मित माल की अपेक्षा कच्चे माल की कीमतों में तेजी से कमी होती है, फलस्वरूप कृषकों एवं कच्चे माल के उत्पादकों की आर्थिक स्थिति बिगड़ जाती है। इस प्रकार उत्पादन एवं वितरण की समस्त आर्थिक प्रणालियां अस्तव्यस्त हो जाती हैं व देश के आर्थिक विकास को प्रभावित करती हैं। इस समय निराशा का वातावरण फैल जाता है और मन्दी के फैलने के साथ-साथ जनता में विवशता एवं विद्रोह की भावना विकसित होने लगती है एवं पूंजीगत सामानों में विनियोग करना लाभप्रद नहीं रह पाता। निर्माता एवं कृषकों के मध्य व्यापार की शर्तें उत्पादकों के प्रति अधिक अनुकूल हो जाती हैं। औद्योगिक क्षेत्र में काम करने वाले व्यक्तियों की आय उत्पादन एवं रोजगार में कमी होने के कारण कम हो जाती है। कच्चे माल की तुलना में निर्मित माल की कीमतें कम गिरती हैं।

विशेषताएं—मन्दी काल की प्रमुख विशेषताओं को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(i) विदेशी व्यापार में कमी—व्यापार में कमी हो जाने से विदेशी व्यापार की मात्रा में भी अधिक गिरावट आ जाती है।

(ii) व्यवसाय बन्द होना—व्यापारी वर्ग को हानि होने से अनेक व्यवसाय बन्द हो जाते हैं।

(iii) लाभ व मजदूरी में कमी—समाज में निम्न आय होने से मूल्य, मजदूरी एवं लाभ गिरने लगते हैं।

(iv) ब्याज दरों में कमी—पूंजी पर ब्याज की दर पहले से बहुत नीची गिर जाती है।

(v) शिथिल व्यापारिक क्रियाएं—देश में विनियोग कम, उत्पादन का निम्न स्तर एवं व्यवसाय की क्रियाएं शिथिल पड़ जाती हैं।

(vi) निराशा का वातावरण—समस्त देश में गहन निराशा का वातावरण छा जाता है एवं जनता में विवशता व विद्रोह करने की भावना फैलना प्रारम्भ हो जाती है।

(vii) रोजगार व आय का निम्न स्तर—देश में रोजगार एवं आय का स्तर निम्नतम हो जाता है।

(2) पुनरुद्धार (Recovery) अवस्था

समाज में मन्दी की अवस्था कुछ समय तक बने रहने के उपरान्त प्रायः पुनरुद्धार की अवस्था प्रारम्भ हो जाती है। इस अवधि में समाज की स्थिति मन्दी की स्थिति से अच्छी मानी जाती है। देश के अन्य आर्थिक क्षेत्रों में कुछ ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं जिनसे व्यापारिक क्रियाओं में वृद्धि हो जाती है एवं अर्थव्यवस्था में पुनरुद्धार की अवस्था प्रारम्भ हो जाती है। विनियोग का नवीन क्षेत्र बढ़ जाने एवं सरकार द्वारा जनहित कार्यों पर अधिक धन व्यय करने से

रोजगार एवं उत्पादन की स्थिति में सुधार होने लगता है, बेकारी का आकार घटकर जनता की आय मे वृद्धि होने लगती है तथा शक्ति एव वस्तुओं की बिक्री मे वृद्धि होने लगती है व जनता मे आवश्यकता की वस्तुए खरीदने की होड-सी लग जाती है। इससे देश के व्यापार मे पर्याप्त वृद्धि होती है व समाज मे नवीन आशा का संचार होने लगता है व समस्त क्रियाए गतिशील हो जाती हैं। व्यापारी वर्ग को भी लाभ होने लगता है और वे भी बिक्री को बढाने में रुचि लेना प्रारम्भ कर देते हैं। घोर मन्दी की अवस्था के पश्चात् पुनरुद्धार व्यापार-चक्र की द्वितीय अवस्था कहलाता है।

विशेषताएं—इस काल की प्रमुख विशेषताए निम्न हैं :

(i) रोजगार मे वृद्धि—इस समय में आय एव रोजगार के स्तर मे वृद्धि हो जाती है।

(ii) सट्टे मे वृद्धि—देश मे सट्टे बाजार की क्रियाशीलता मे वृद्धि हो जाती है।

(iii) आर्थिक क्रियाओ मे वृद्धि—आर्थिक क्षेत्र मे आशा, उत्साह एव विश्वास में वृद्धि होकर आर्थिक क्रियाओ मे वृद्धि हो जाती है।

(iv) बैंक ऋणों में वृद्धि—बैंक ऋणो की मात्रा मे भी काफी वृद्धि होती है।

(v) उत्पादन स्तर मे वृद्धि—देश के उद्योगों के उत्पादन स्तर मे निरन्तर वृद्धि होती रहती है।

(vi) मजदूरी व लाभ में वृद्धि—देश मे मजदूरी, कीमतो एवं लाभ मे वृद्धि हो जाती है।

(vii) देश मे विनियोग की मात्रा मे पर्याप्त वृद्धि हो जाती है।

(viii) आत्मविश्वास—व्यवसायियो मे आत्मविश्वास जागृत होता है तथा विनियोक्ता पुरानी एवं अप्रचलित मशीनो के स्थान पर नवीन मशीनो के विनियोग को प्रोत्साहित करते हैं।

(ix) संग्रह का अभाव—इस अवस्था मे वस्तुओ को संग्रह करने की प्रवृत्ति कम महत्वपूर्ण हो जाती है।

(x) उद्योगों को प्रोत्साहन—देश मे पूंजीगत समान वाले उद्योग पुनर्जीवन प्राप्त करने लगते हैं तथा देश की अर्थव्यवस्था मे थोडी-सी वृद्धि उद्योगो को और अधिक प्रोत्साहन देती है।

(xi) उपभोग मे कमी—विनियोग मे वृद्धि हो जाने से राष्ट्रीय आय मे उपभोग की मात्रा कम हो जाती है।

(xii) चलन वेग में वृद्धि—देश मे व्यवसाय मे वृद्धि होने के कारण बैंक साख के साथ-साथ मुद्रा चलन के वेग मे भी वृद्धि हो जाती है।

(xiii) बैंक कोष मे कमी—बैंको के कोष भी शनैः शनैः कम होने लगते हैं तथा वसूली करने की आदत मे सुधार होने लगता है।

पुनरुद्धार की अवस्था उन शक्तियों पर निर्भर करती है जो उसे पुनर्जीवन प्रदान करती हैं। प्रायः इन शक्तियो मे निम्न को सम्मिलित करते हैं— (अ) नवीन विपणियो की खोज करना, (ब) नवीन उत्पादकों का बाजार मे आ जाना, (स) नवीन उत्पादन विधियों की खोज होना, (द) विनियोग के नवीन रूपों का पता लगाना।

(3) पूर्ण रोजगार (Full Employment) की अवस्था

व्यापार-चक्र की यह आदर्श अवस्था होती है जिसे प्रत्येक राष्ट्र प्राप्त करने के प्रयास करता है और यह समस्त राष्ट्रों की आर्थिक नीति का एक प्रमुख लक्ष्य होता है। पूर्ण रोजगार मे देश मे उत्पत्ति के समस्त साधन काम मे लग जाते हैं तथा उनसे अधिकतम उत्पादन कार्य लेने के प्रयास किये जाते हैं। पूर्ण रोजगार मे भी बेरोजगारी की अवस्था विद्यमान होती है, परन्तु यह श्रमिक द्वारा एक कार्य को छोडकर दूसरे कार्य मे लगने के समय के अन्तर की ही होती है। इस प्रकार की बेरोजगारी प्राय सभी विकसित एव अविकसित राष्ट्रो मे पाई जाती है। इसमे बेरोजगारी स्वेच्छा से ही पायी जाती है और देश मे रोजगार की मात्रा मे वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार पूर्ण रोजगार आर्थिक प्रगति की एक ऐसी अधिकतम अवस्था होती है जिसके बाद विनियोग मे वृद्धि करने पर प्रभावशाली माग, रोजगार एवं उत्पादन मे वृद्धि सम्भव नही होती, बल्कि वह स्फीति का कारण बन जाती है। इस अवस्था को प्राप्त करना प्राय. सभी राष्ट्रों की आर्थिक नीतियो का लक्ष्य होता है।

विशेषताएं—पूर्ण रोजगार की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं—

(i) मूल्यों में स्थिरता—इस अवस्था मे मूल्यों मे स्थिरता बनी रहती है।

(ii) उत्पत्ति के साधनों का उपयोग—उत्पत्ति के समस्त साधनों का पूर्ण उपयोग होने लगता है।

(iii) रोजगार में वृद्धि—व्यवसाय में आय, लाभ व लागत इतनी रहती है कि काम चाहने वाले प्राय: समस्त व्यक्तियों को रोजगार दे दिया जाता है।

(iv) स्थिर मौद्रिक आय—विभिन्न वर्गों की नकद या मौद्रिक आय प्राय: बनी रहती है।

(v) अनैच्छिक बेरोजगारी का अभाव—इस काल में अनैच्छिक बेरोजगारी का अभाव बना रहता है, परन्तु ऐच्छिक, संक्रामक एवं संस्थानात्मक बेरोजगारी बनी रहती है।

(vi) अधिकतम उत्पादन—व्यवसाय व कारखानों में अधिकतम मात्रा तक उत्पादन सम्भव किया जा सकता है।

(vii) अनुकूलतम स्तर—इस अवस्था में आर्थिक क्रियाएं एक अनुकूलतम स्तर तक पहुंच जाती हैं।

(viii) मजदूरी की ऊंची दरें—मजदूरों की ऊंची दरें हो जाती हैं तथा सबको जीवन स्तर बनाये रखने के लिए पर्याप्त आय प्राप्त होने लगती है।

(ix) बैंकों द्वारा समाशोधन वसूली—बैंकों द्वारा वसूली (clearings) विशाल पैमाने पर होने लगती है।

(x) व्यापारियों में निश्चितता—व्यवसाय में असफल होने के अवसरों में कमी हो जाती है जिससे व्यापारियों में निश्चितता एवं जागृति की भावना उत्पन्न होती है।

(xi) विनियोग में वृद्धि—स्थायी पूँजी के रूप में विनियोग की मात्रा में वृद्धि हो जाती है।

(xii) तैयार माल में वृद्धि—देश में तैयार माल की मात्रा में पर्याप्त वृद्धि हो जाती है।

(4) अभिवृद्धि (Boom) की अवस्था

पुनरुद्धार प्रारम्भ हो जाने पर यह सदैव पूर्ण रोजगार की स्थिति उत्पन्न नहीं करता, बल्कि इस प्रयास में तेजी की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। समाज में पूर्ण रोजगार की अवस्था को प्राप्त कर लेने के उपरान्त भी विनियोग में वृद्धि होती रहे तो साधनों के पूर्ण उपयोग हो चुकने के कारण वास्तविक उत्पादन में तो वृद्धि नहीं हो पाती, बल्कि मूल्यों में वृद्धि अवश्य हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में साहसी प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध में आशावादी दृष्टिकोण अपना लेते हैं, परिणामस्वरूप प्रत्येक व्यापार व उद्योग में अधिक मात्रा में विनियोग किया जाता है, पहले से रोजगार में लगे व्यक्तियों पर काम का दबाव बढ़ जाता है और पूर्ण रोजगार की अवस्था अत्यधिक रोजगार की स्थिति में परिवर्तित हो जाती है। अत्यधिक रोजगार में नौकरियों के स्थान अधिक, परन्तु श्रमिकों की संख्या कम रहती है, फलस्वरूप मजदूरी व उत्पादन लागत में वृद्धि हो जाती है, परन्तु मजदूरी की तुलना में मूल्य इतने तेजी से बढ़ते हैं कि वास्तविक मजदूरी घट जाती है। मूल्य बढ़ने से लाभ बढ़ जाते हैं जो और अधिक विनियोग को प्रोत्साहित करते हैं। अधिक लाभ की लालसा से व्यापारी माल को रोककर बेचते हैं तथा नवीन कारखानों को भी खोलने के प्रयास करते हुए उत्पादन बढ़ाने के प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार यही क्रम चलता रहता है और तेजी की यह स्थिति असाधारण ऊंचाई को प्राप्त कर लेती है।

विशेषताएं—अभिवृद्धि की अवस्था की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं—

(i) ऊंचे लाभ व ऊंचे व्यय—सभी वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि होकर, ऊंचे लाभ एवं ऊंचे व्यय प्राप्त होने लगते हैं।

(ii) अत्यधिक ऋण—इस काल में बैंकों द्वारा अत्यधिक मात्रा में ऋण प्रदान किये जाते हैं।

(iii) विनियोग में वृद्धि—विनियोग की मात्रा में तेजी से वृद्धि हो जाती है।

(iv) सट्टेबाजी में वृद्धि—इस काल में सट्टेबाजी की क्रियायें एवं प्रवृत्तियां बढ़ जाती हैं।

(v) वास्तविक मजदूरी में कमी—मूल्यों की तुलना में मजदूरी इतनी तेजी से नहीं बढ़ पाती और इस प्रकार वास्तविक मजदूरी में कमी हो जाती है।

(vi) हड़तालों में वृद्धि—इस काल में श्रमसंघों की कार्यवाही बढ़ जाती है तथा हड़तालों की मात्रा में वृद्धि हो जाती है।

(vii) आशा की लहर—इस अवस्था में व्यापारियों में अत्यधिक आशा की लहर फैल जाती है तथा वे

भविष्य के प्रति लापरवाही बरतने लगते हैं।

(viii) नवीन कारखानों की स्थापना—इस अवधि में प्रत्येक क्षेत्र मे उत्पादन मे वृद्धि हो जाती है तथा नवीन कारखानो की स्थापना की जाती है व नवीन व्यापार चलाये जाते हैं।

(ix) मूल्यों में वृद्धि—लाभो मे प्रतिदिन वृद्धि होती रहती है और लाभ प्रसार मे मूल्यो मे और अधिक वृद्धि हो जाती है।

(5) अवरोध (Recession) की अवस्था

तेजी की दशा मे उसके विनाश के बीज निहित होते हैं। तेजी की दशा प्रारम्भ हो जाने पर कुछ समय पश्चात् देश में अनेक कठिनाइया आ जाती हैं जो कि निम्न प्रकार हैं.

(अ) ब्याज की दरें ऊंची हो जाने के कारण बैंकों की ऋण देने की नीति में कठोरता आ जाती है जिससे पूंजी लागत में वृद्धि हो जाती है।

(ब) इस काल में मजदूरी बढ जाती है और उत्पादन वृद्धि करने के उद्देश्य मे अकुशल श्रमिको को भी काम पर रखना पडता है, जिससे मजदूरी के रूप में लागत व्यय बढ जाता है।

(स) पुरानी मशीनो के प्रतिस्थापन एव कच्चो सामग्री के मूल्यो में वृद्धि हो जाने से उत्पादन लागत मे वृद्धि हो जाती है।

(द) भविष्य के प्रति जनता सन्देह की निगाह से देखने लगती है जिससे अवरोध की अवस्था का आगमन प्रारम्भ हो जाता है।

विशेषताएं—इस काल की प्रमुख विशेषताएं निम्न हैं—

(i) मजदूरी में गिरावट—इस अवस्था में मजदूरी, लागत एवं कीमतें गिरने लगते हैं।

(ii) व्यावसायिक क्रियाओ पर रोक—राष्ट्र में व्यावसायिक क्रियाओ पर रोक सी लग जाती है, तथा कुल व्यवसाय की मात्रा में कमी होने लगती है।

(iii) निराशा का वातावरण—व्यावसायिक क्षेत्र में भविष्य के प्रति जनता में निराशा का वातावरण उत्पन्न हो जाता है।

(iv) ऋण की मात्रा में कमी—ऋणो के सम्बन्ध में कठोर शर्तें एव अधिक ब्याज की दर के कारण बैंको द्वारा दी जाने वाली ऋण की मात्रा में कमी हो जाती है।

(v) रोजगार व विनियोग मे कमी—देश मे उत्पादन, आय, रोजगार एवं विनियोग की मात्रा में कमी होने लगती है।

(vi) उत्पादन में बाधायें—कच्चे माल एव श्रम की दुर्लभता के कारण उत्पादन में अनेक बाधायें पडने लगती हैं तथा साहसियो के लागत-व्यय सम्बन्धी अनुमान गलत हो जाते हैं व उनमे निराशा फैलने लगती है।

(vii) सकोच एव भय की भावनायें—इसमे अत्यधिक निराशावाद अत्यधिक तेजी सम्बन्धी आशावाद का स्थान ले लेती है। अत्यधिक निराशावाद के कारण साहसियों मे सकोच, भय एव शंका की भावनायें उत्पन्न हो जाती हैं।

(viii) व्यावसायिक विस्तार मे कमी—इस काल मे नवीन योजनाओं को समाप्त कर दिया जाता है तथा अधूरी योजनाओ को भी छोड़ दिया जाता है। इसमे व्यावसायिक विस्तार रुक जाता है तथा कर्मचारियों मे बेरोजगारी बढ़ जाती है।

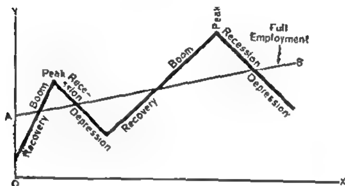
(ix) द्रव्यता पसन्दगी में वृद्धि—द्रव्यता पसन्दगी मे यकायक वृद्धि हो जाती है और लोग विनियोग करने के स्थान पर जमा करना अधिक पसन्द करते हैं।

(x) निर्माण कार्य मन्द—इस काल मे निर्माण क्रिया मन्द पड जाती है तथा बेकारी का प्रभाव अन्य क्षेत्रो पर भी पडने लगता है।

(xi) अंशों के मूल्यों में कमी—उद्योगो व व्यवसायो मे शिथिलता आने से अंश बाजार में दाम गिरने लगते हैं।

(xii) विनियोजन मे कमी—साख देने की क्रिया अचानक रुक जाती है तथा विनियोजन की मात्रा में कमी हो जाती है।

इस प्रकार व्यापार-चक्र की पाचों अवस्थायें क्रम से एक के बाद दूसरी घटित होती रहती हैं तथा यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। व्यापार-चक्र की विभिन्न अवस्थाओं को चित्र 11·2 द्वारा दिखाया गया है।



चित्र 11.2

उपर्युक्त चित्र मे AB रेखा पूर्णरोजगार की स्थिति को प्रदर्शित करती है। इस रेखा के ऊपर की अवस्था को तेजी की अवस्था तथा गिरती हुई दिशा को मन्दी एवं मन्दी के पुनरागमन की दशा द्वारा दिखाया गया है। इस रेखा के नीचे उठती दशा मे पुनर्जीवन तथा गिरती दशा मे मन्दी की अवस्था को बताया गया है।

व्यापार-चक्र पर नियन्त्रण
(Control on Business Cycle)

पूजीवादी अर्थव्यवस्था मे मन्दी के बाद तेजी तथा तेजी के बाद मन्दी के बार-बार आने से भारी संकट उत्पन्न हो जाने का भय बना रहता है जो सामाजिक हितो के लिए हानिकारक सिद्ध होता है। उत्पादन की दृष्टि से उस सीमा तक विस्तार करना अच्छा माना जाता है जब तक कि वह पूर्ण रोजगार की स्थिति तक न पहुच जाये। पूर्ण रोजगार की स्थिति के बाद भी विनियोग करने से स्फीतिक परिस्थितिया उत्पन्न हो जाती हैं और व्यापार-चक्र का प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगता है। यदि पूर्ण रोजगार की स्थिति से आगे बढ़ने पर नियत्रण लगा दिया जाये तो इससे बचा जा सकता है तथा व्यापार-चक्र पर नियत्रण लगाया जा सकता है। इसी प्रकार अर्थव्यवस्था के झुकाव की ओर बढने पर निर्धनता, बेरोजगारी आदि अनेक प्रकार के कष्ट उठाने पड़ते हैं। इससे बचने के लिए यह आवश्यक होगा कि अर्थव्यवस्था को नियत्रण की सहायता से पूर्ण रोजगार के स्तर से नीचे जाने पर प्रतिबन्ध लगा दिये जायें।

अर्थव्यवस्था मे आर्थिक स्थिरता लाने के उद्देश्य से व्यापार-चक्रो पर नियत्रण लगाना आवश्यक है, जिससे मन्दी को समाप्त करके पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्राप्त किया जा सके। व्यापार-चक्र से अर्थव्यवस्था मे अस्थिरता उत्पन्न हो जाती है, परन्तु निम्न कारणो से इनका कोई उचित समाधान सम्भव नहीं हो पाता—

(i) प्रयास न करना—देश के साहसी इस समस्या को हल करने का प्रयास नही करते।

(ii) लागू करना सम्भव न होना—प्रत्येक समय के व्यापार-चक्र मे कुछ न कुछ नवीनता होने से किन्ही सामान्य नियमों को बनाकर उन्हें हर सम्भव परिस्थितियो मे लागू करना सम्भव नही हो पाता है।

(iii) समझने में असमर्थता—श्रमिक एवं उनके प्रतिनिधि व्यापार-चक्र के दोषपूर्ण परिणामो को समझने का प्रयत्न नही करते।

(iv) जनता का ध्यान हटना—समाज मे अभिवृद्धि की स्थिति आ जाने पर जनता का ध्यान मन्दी के समाधान

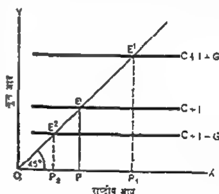
दी जाती है। निवारणात्मक उपायों में निम्न को सम्मिलित किया जा सकता है—

(1) भौतिक नियंत्रण (Physical Control)
(2) प्रशुल्क नीति (Fiscal Policy)
(3) मौद्रिक नीति (Monetary Policy)
(4) अन्य उपचार (Other Measures)

(1) भौतिक नियंत्रण—इसमें मूल्य नियंत्रण, मूल्य स्थिरता एवं राशनिंग आदि साधनों को सम्मिलित किया जाता है। युद्धकाल में स्फीतिक प्रभावों को रोकने हेतु मूल्य नियंत्रण तथा युद्धोपरान्त मूल्यों को गिरने से बचाने के लिए मूल्य स्थिरता के उपायों को पालन करना चाहिए। जैसे ही मूल्य इन सीमाओं के ऊपर या नीचे जाते हैं, सरकार राशनिंग द्वारा उनमें स्थिरता लाने के प्रयास करती है। मन्दीकाल में सरकार स्वयं भारी मात्रा में माल खरीदकर गिरते मूल्यों को रोककर उत्पादकों की रक्षा करती है।

(2) प्रशुल्क नीति—सरकार रोजगार, उत्पादन एवं राष्ट्रीय आय पर प्रभाव डालने वाले अवांछित प्रभावों को रोकने के लिए प्रशुल्क नीति को काम में लाती है। प्रशुल्क नीति में निम्न को सम्मिलित किया जाता है—

(अ) कुल व्यय—देश की कुल आय उपभोग एवं विनियोग के योग के बराबर होती है। मन्दीकाल में सार्वजनिक व्ययों में वृद्धि करके तथा तेजीकाल में व्ययों में कमी करके व्यापार-चक्र के प्रभावों को ठीक करने के प्रयास किये जाते हैं। सार्वजनिक व्यय कुल व्यय का एक अंग होने से सार्वजनिक व्यय बढ़ने पर कुल व्यय भी बढ़ जाता है और सार्वजनिक व्यय घटने पर कुल व्यय भी घट जाता है। कुल आय=C+I होती है। यदि अतिरिक्त सार्वजनिक व्यय को G द्वारा व्यक्त करें तो कुल बढ़ा हुआ व्यय C+I+G होगा व घटा हुआ व्यय C+I—G होगा। इसे चित्र 11.3 में दिखाया गया है। इसमें कुल व्यय C+I है और सन्तुलन बिन्दु E है। यदि सार्वजनिक व्यय बढ़ जाये तो कुल व्यय बढ़कर C+I+G होगा और सन्तुलन बिन्दु E' होगा और आय बढ़कर OP' हो जाती है। यदि सार्वजनिक व्यय घटता है तो कुल व्यय C+I—G होगा, सन्तुलन बिन्दु E^2 होगा व आय घटकर OP^3 होगी।



चित्र 11.3

अतः आय कम होने पर सार्वजनिक व्यय में वृद्धि करके कुल व्यय में वृद्धि की जानी चाहिए और आय अधिक है तो सार्वजनिक व्यय में कमी करके कुल व्यय में कमी की जानी चाहिए।

(ब) जन ऋण—सार्वजनिक ऋणों का प्रभाव करारोपण के समान पड़ता है। ऋणों का भुगतान कर देने पर क्रय शक्ति जनता के हाथों में आ जाती है, व प्रभावपूर्ण माग में वृद्धि हो जाती है। अतः तेजीकाल में जनता से ऋण लेकर मन्दी के समय उसे चुका देना चाहिए। परन्तु इस बात का ध्यान रखा जाये कि यह ऋण समाज के उस वर्ग से प्राप्त किया जाये जिसके पास कोष फालतू पड़ा हो अर्थात् निजी उपभोग को कम करने की आवश्यकता न पड़े। मन्दी के समय ऋणों का भुगतान करके प्रभावपूर्ण माग को बढ़ाया जा सकता है तथा व्यापार-चक्र का प्रभाव कम किया जा सकता है।

(स) कर—करों में वृद्धि करने से जनता के पास क्रय-शक्ति में कमी हो जाती है, फलस्वरूप उपभोग एवं कुल व्यय गिर जाता है व रोजगार एवं राष्ट्रीय आय में कमी हो जाती है। देश में स्फीतिक प्रभावों को कम करने के लिए करों में वृद्धि करके उसे नियंत्रित किया जा सकता है। इसके विपरीत मन्दीकाल में करों में कमी करके व्ययों में वृद्धि सम्भव करके मन्दी के प्रभावों को रोका जा सकेगा। सार्वजनिक व्ययों को उपभोग पर व्यय, व्यक्तिगत विनियोग एवं सार्वजनिक विनियोग के रूप में विभाजित किया जा सकता है। सार्वजनिक व्ययों की प्रमुख मदों में सामाजिक ऊपरी-व्यय, विभागों का विस्तार, निर्यात में वृद्धि, व्यक्तिगत उपभोग को प्रोत्साहन, कच्चे माल का संग्रह, अनुत्पादक कार्य एवं उद्योगों की स्थापना आदि सम्मिलित करते हैं।

सकता है—

(i) बिना लाभ बिक्री—तेजीकाल में वस्तुओं की बिक्री बिना लाभ पर करके व्यापार-चक्र को नियन्त्रित किया जा सकता है, परन्तु इसमें सफलता प्राप्त करना कठिन है। मन्दीकाल में वस्तुओं को लाभ पर बेचा जा सकता है।

(ii) बेकारी बीमा योजना—व्यावसायिक परिवर्तनों को रोकने हेतु इस नीति का पालन किया जाता है। यह योजना सभी श्रमिकों के लिए अनिवार्य कर दी जाती है जिससे प्राप्त धनराशि को एक पृथक् कोष में रखा जाता है व मन्दी तथा बेकारी के समय इस कोष का उपभोग किया जाता है जिससे श्रमिकों के जीवन-स्तर को बनाये रखा जा सके।

(iii) उत्पादित मुद्रा से व्यय—कीन्स एवं उनके अनुयायियों ने इस रीति का समर्थन किया है क्योंकि (अ) इससे समाज के कुल व्यय में कोई कमी नहीं होती, (ब) यह मुद्रा उस समय तक स्फीतिक प्रभाव नहीं दिखा सकती, जब तक कि देश में बेरोजगार के साधन रहेंगे।

(iv) अन्तर्राष्ट्रीय उपाय—व्यापार-चक्र को नियन्त्रित करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रयत्न किये जाने चाहिए, जैसे मूल्य वृद्धि पर नियन्त्रण, सार्वजनिक व्ययों में वृद्धि आदि।

(v) सरकारी नियंत्रण में उत्पादन—पूँजीवाद में लाभ की भावना से उत्पादन किये जाते हैं। यदि सरकारी नियन्त्रण में उत्पादन किया जाये तो व्यापार-चक्रों को रोका जा सकता है।

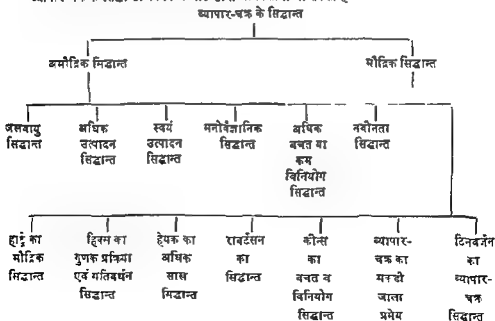
व्यापार-चक्र के सिद्धान्त
(Theories of Trade Cycles)

व्यापार-चक्र के सिद्धान्तों को दो वर्गों में रखा जा सकता है—

(अ) अमौद्रिक सिद्धान्त (Non-Monetary Theories)

(ब) मौद्रिक सिद्धान्त (Monetary Theories)

व्यापार-चक्र के सिद्धान्तों को निम्न चार्ट द्वारा भी दिखाया जा सकता है—



(अ) अमौद्रिक सिद्धान्त

व्यापार-चक्र के अमौद्रिक सिद्धान्तों में निम्न सिद्धान्तो को सम्मिलित किया जाता है :

(i) जलवायु सिद्धान्त (Climatic Theory)—इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करने वाले जेवन्स (Prof. Javens) हैं। इसे सूर्य-कलंक सिद्धान्त (Sun-Spot Theory) के नाम से भी पुकारते हैं। इस सिद्धान्त द्वारा इस बात पर बल दिया गया है कि आर्थिक संकट उसी समय दिखाई देते हैं, जबकि सूर्य पर कुछ धब्बे दिखाई दें। सूर्य के ऊपर जो काले धब्बे दिखाई देते है, उनके दिखाई देने का एक निश्चित क्रम होता है और इन धब्बो के कारण ही देश में आर्थिक उच्चावचन उत्पन्न हो जाते हैं। सूर्य के यह धब्बे एक निश्चित क्रम से दिखाई देते हैं, जिनकी औसत अवधि लगभग 11 वर्ष होती है। सूर्य के इन धब्बों के कारण ही सूर्य विकिरण में परिवर्तन आ जाते हैं और इनसे भूमि पर वर्षा के चक्र उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार समय-समय पर सूर्य के जो धब्बे दिखाई देते हैं, वे वर्षा में निरन्तर परिवर्तन लाकर जलवायु को प्रभावित करके फसलो पर गहरा प्रभाव डालते हैं। बुरी जलवायु के कारण देश मे फसलें नष्ट हो जाती हैं, फलस्वरूप मन्दी की प्रारम्भिक अवस्थायें प्रारम्भ हो जाती हैं, जो कालान्तर में देश की आर्थिक अर्थव्यवस्था के अन्य भागों को भी प्रभावित करते हैं। इसके विपरीत अच्छी जलवायु उद्योग एवं व्यापार को बढ़ावा देकर तेजी की अवस्था को प्राप्त करने के प्रयास किये जाते हैं। जलवायु सम्बन्धी यह परिवर्तन इतने क्रमिक होते हैं कि अच्छी फसलो व बुरी फसलो की अवधियों का ताता-सा बना रहता है। परन्तु वर्तमान समय में परिवहन व संदेशवाहन के विकास हो जाने से एक राष्ट्र के प्रभावों को दूसरे राष्ट्रों में प्रवेश करने के अवसर प्राप्त हो जाते है। यदि किसी एक राष्ट्र में फसलें असफल हो गयी हैं तो यह अन्य राष्ट्रों को भी प्रभावित करता है। जैसे यदि फसलों के खराब होने से अकाल की स्थिति उत्पन्न हो जाती है तो क्रय-शक्ति में कमी हो जाने से विदेशी माल की माग कम हो जायेगी और विदेशो मे अत्युत्पादन (overproduction) की समस्यायें खड़ी हो जायेंगी। इस प्रकार वर्षा का चक्र विपरीत दिशा में चलने से फसलें नष्ट हो जाती हैं तथा मानव के लिए मन्दी की दशायें उत्पन्न हो जाती हैं। सिद्धान्त के समर्थकों का कथन है कि 1930-31 की महान् मन्दी का कारण जलवायु ही बताया गया। जलवायु परिवर्तनों ने कृषि प्रधान राष्ट्रों में मन्दी उत्पन्न करके औद्योगिक राष्ट्रों को प्रभावित किया तथा वहा से यह समस्त विश्व में फैला गया।

वर्तमान समय में प्रमुख अमरीकी अर्थशास्त्री मूर (Moore) ने व्यापार-चक्र एवं वर्षा चक्र में सम्बन्ध स्थापित किया तथा व्यापार-चक्र को उसका कारण बताया। मूर ने वर्षा चक्र का सम्बन्ध शुक्र ग्रह से लगाया जो प्रत्येक 8 वर्ष बाद पृथ्वी व सूर्य के मध्य से गुजरता है। इस प्रकार मौसम चक्र जो शुक्र की गति पर निर्भर होते हैं, ठीक वैसे ही प्रभाव उत्पन्न करते हैं, जैसे कि जेवन्स ने अपने सिद्धान्त में बताया था।

आलोचनायें—यद्यपि कृषि पर जलवायु का प्रभाव पड़ता है और उद्योग धन्धे भी कच्चे माल की पूर्ति के लिए कृषि पर निर्भर होने से जलवायु से प्रभावित होते हैं, फिर भी इस सिद्धान्त को व्यापार-चक्र की एक वैज्ञानिक व्याख्या नही माना जा सकता। इस सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनायें निम्न प्रकार हैं—

(1) समान प्रभाव का अभाव—जलवायु का विश्व के समस्त राष्ट्रों में कृषि उद्योग पर एकसा प्रभाव नही पड़ता, जबकि समान रूप से ही प्रभाव पड़ना चाहिए था।

(2) औद्योगिक जगत में प्रभाव—इस सिद्धान्त में यह माना गया है कि औद्योगिक क्षेत्रों में व्यापार-चक्र समाप्त हो जाते हैं। लेकिन वास्तविक स्थिति इससे भिन्न है क्योंकि औद्योगिक दृष्टि से विकसित राष्ट्रों में ही व्यापार-चक्र के प्रभाव अधिक दिखाई देते हैं।

(3) कारण बताने में अस्पष्ट—जलवायु परिवर्तन सिद्धान्त किसी समय पर भी व्यापार-चक्र की विशेषताओं को सन्तोषप्रद ढंग से बताने में असमर्थ रहता है। जैसे मन्दी की अपेक्षा तेजी की अवस्था में पूंजीगत वस्तुओं का उत्पादन अधिक तेजी से क्यो बढ़ता है इसका कारण बताने में यह सिद्धान्त असमर्थ रहता है।

(4) प्रकृति पर कम निर्भरता—खेती करने के ढंगों में परिवर्तन होने से प्रकृति पर निर्भरता कम हो गई है जिससे जलवायु सिद्धान्त व्यापार-चक्र की ठीक व्याख्या करने में असमर्थ रहता है।

(5) सम्बन्ध का अभाव—व्यापार-चक्रों का जलवायु-चक्रों से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध नही रहता। प्रायः व्यापार-चक्र अन्य आर्थिक कारणों से उत्पन्न होते हैं, जिसका अध्ययन इस सिद्धान्त में नही किया गया है।

(ii) स्पष्ट चक्र का अभाव—फसलों के उत्पादन में प्रायः पूर्णतया स्पष्ट चक्र दृष्टिगोचर नहीं होते हैं।

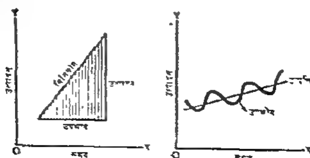
(ii) अधिक-उत्पादन सिद्धान्त (Overproduction Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार व्यापार-चक्र प्रायः अधिक उत्पादन के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं। सिसमोंडी का विचार है कि एक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में उत्पादकों में गहन प्रतिस्पर्धा बनी रहती है जिस पर कोई नियंत्रण सम्भव नहीं हो पाता। प्रत्येक व्यापारी की यह इच्छा होती है कि वह अधिकाधिक बाजारों को अपने अधिकार में ले ले और इसी उद्देश्य के फलस्वरूप वह उत्पादन की मात्रा बढ़ाता है, परन्तु दूसरी ओर माग में इतनी वृद्धि सम्भव न होने से बाजार में माल बिना बिका अधिक मात्रा में रह जाता है। यह सिद्धान्त इस मान्यता को लेकर चलता है कि वर्तमान उत्पादन इतना कुशल हो जाता है कि वह उपभोग के साथ नहीं चल पाता और उत्पादन इतना अधिक बढ़ जाता है कि उपभोक्ताओं की क्रय शक्ति उसे क्रय करने में असमर्थ रहती है। अतः अतिरिक्त माल को बेचने के लिए मूल्यों में कमी करना आवश्यक हो जाता है। जैसे ही मूल्य कम किये जाते हैं, सारा माल धीरे-धीरे बिक जाता है। जैसे ही पुराना आधिक्य समाप्त होता है कि उत्पादक फिर से अति उत्पादकता कर लेते हैं और यह कठिनाई फिर से उपस्थित हो जाती है। मूल्यों में जरा-सी वृद्धि होने पर ही उत्पादक अपने उत्पादन को बढ़ा देते हैं, परन्तु मजदूरियों में मूल्यों की तुलना में उतनी वृद्धि सम्भव नहीं हो पाती, जिससे क्रय शक्ति में तेजी से वृद्धि नहीं हो पाती। इसके अतिरिक्त क्रय शक्ति का एक भाग ऐसे व्यक्तियों के पास चला जाता है जो उसका संचय कर लेते हैं, परिणामस्वरूप अति-उत्पादन हो जाता है तथा कठिनाइयां उपस्थित हो जाती हैं।

उत्पत्ति के साधनों के मूल्यों में वृद्धि होने से उत्पादन व्यय में भी वृद्धि हो जाती है। उत्पादन व्यय के परिणामस्वरूप मूल्यों में भी वृद्धि हो जाती है, जिसे उपभोक्ता सहन नहीं कर पाते और क्रय को थोड़े समय के लिए स्थगित कर देते हैं। फलस्वरूप लाभ घट जाते हैं व हानि में वृद्धि होने लगती है, साहसियों में आर्थिक दिवालियापन प्रकट होने लगता है व सीमान्त उत्पादक अपना उत्पादन बन्द ही कर देते हैं।

अधिक उत्पादन सिद्धान्त का दूसरा रूप प्रतियोगिता सिद्धान्त है। व्यापार-चक्र का कारण प्रतियोगी पूंजीवाद बताया गया है। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में प्रतियोगी शक्तियां दो प्रकार से व्यापार-चक्र को प्रभावित करती हैं—एक ओर तो वह अधिक उत्पादन को जन्म देती हैं और दूसरी ओर यह उत्पादन लागत को बढ़ाती हैं। चैम्बर्लेन ने इन दोनों शक्तियों को क्रमशः धनात्मक व ऋणात्मक कहा है। इस धनात्मक एवं ऋणात्मक प्रभाव के कारण ही समुद्र की लहरों की भांति व्यापारिक जगत में उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। इस प्रकार इस प्रतियोगिता व लाभ अर्जित करने की लालसा से उत्पादक अधिकाधिक माल उत्पन्न करने के प्रयास करते हैं जिससे अति-उत्पादन होकर व्यापार-चक्र दृष्टिगोचर होने लगते हैं।

आलोचनायें—*इस सिद्धान्त की मुख्य आलोचनायें निम्नलिखित हैं—*

(1) कारण बताने में असमर्थ—यह सिद्धान्त व्यापार-चक्रों की प्रवृत्ति का कोई कारण बताने में असमर्थ रहता है। इसी प्रकार इसमें यह स्पष्ट नहीं किया गया कि व्यापार-चक्र सामान्य अति-उत्पादन के कारण उदय होते हैं, अथवा विशिष्ट अति-उत्पादन के कारण। इसे चित्र 11.4 द्वारा दिखाया गया है।



चित्र 11.4

(2) निश्चित समय की व्याख्या करने में असमर्थ—यह सिद्धान्त इस बात को बताने में असमर्थ रहता है कि व्यापार-चक्र अपना मार्ग पूर्ण करने में एक निश्चित समय क्यों लेते हैं और प्रत्येक व्यापार एवं उद्योग पर ही इसका प्रभाव क्यों पड़ता है।

(3) सम्बन्ध बताने में असमर्थ—यह सिद्धान्त इस बात को बताने में असमर्थ रहता है कि अभिवृद्धि के पश्चात् अवसाद काल ही क्यों आता है।

(iii) स्वयं-उत्पादन सिद्धान्त—मिचैल (Self-Generation Theory—Mitchell)—मिचैल का विचार है कि वर्तमान आर्थिक व्यवस्था का स्वभाव व्यापार-चक्रों को स्व-उत्पादित बनाना है। व्यापार-चक्रों का कारण पूँजीवादी प्रणाली में ही विद्यमान रहता है। पूँजीवादी आधुनिक अर्थव्यवस्था के प्रमुख लक्षण निम्न होते हैं—

(1) आर्थिक क्रिया के प्रत्येक क्षेत्र में मध्यस्थों का होना।

(2) साख मुद्रा का सरलता से प्राप्त होना।

(3) अनेक प्रकार की अनिश्चितताओं के कारण माँग एवं पूर्ति में सामञ्जस्य स्थापित करना कठिन हो जाता है।

(4) उत्पादकों एवं उपभोक्ताओं के मध्य बहुत अधिक दूरी बनी रहती है।

(5) अर्थव्यवस्था में भारी मात्रा में पूँजी का विनियोजन किया जाता है।

वर्तमान पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का स्वभाव ही व्यापार चक्र के लिए उत्तरदायी होते हैं। यदि सम्पन्नता की अवस्था का सावधानी से विश्लेषण किया जाये तो इस काल में मुद्रा की मात्रा बढ़ाई जाती है, मूल्यों में वृद्धि होने से व्यवसायीगण एक आशावादी दृष्टिकोण अपनाते हैं और वे वस्तुओं का संग्रह करना प्रारम्भ कर देते हैं। देश की आर्थिक प्रणाली में अनेक प्रकार की कठिनाइयों के कारण उत्पादन में आनुपातिक वृद्धि सम्भव नहीं हो पाती और उत्पादन लागत की अपेक्षा विक्रय मूल्यों में तेजी से वृद्धि होने लगती है, फलस्वरूप लाभ में वृद्धि के साथ-साथ उत्पादन, रोजगार एवं ऋणों की माँग में वृद्धि हो जाती है, जिससे जमा एवं ब्याज दरों में वृद्धि होने लगती है।

परन्तु इस वृद्धि की एक सीमा होती है और समस्त साधनों के प्रयोग होने पर बैंकों के न्यूनतम नकद कोष घट जाते हैं, लागत में तेजी से वृद्धि होकर, माँग में वृद्धि होना रुक जाता है, लाभ गिरते हैं, परिणामस्वरूप व्यापारी वर्ग संग्रह करना प्रायः बन्द कर देते हैं। भावी माँग में कमी होने की सम्भावना से लाभ एवं ऋण की मात्रा कम हो जाती है। व्यवसायी अपनी वित्तीय स्थिति को सुधारने हेतु व्ययों में कमी करने के प्रयास करते हैं परन्तु माँग में कमी होने से आय में कमी हो जाती है। उपभोक्ता की माँग में कमी होने से उत्पादक वर्ग भी अपनी माँग को अपेक्षाकृत अधिक कम कर देता है।

आलोचनायें—इस सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनायें निम्न हैं—

(1) तुलना निरन्तर चालित मशीन से करना—इस सिद्धान्त में आर्थिक यन्त्र की तुलना एक निरन्तर चालित मशीन से की गई है, परन्तु व्यवहार में प्रत्येक मशीन के लिए अतिरिक्त शक्ति का उपयोग करना आवश्यक होता है यथा घड़ी की भाँति समय-समय पर चाबी नहीं दी गई तो अनेक प्रकार के अवरोधों के कारण वह रुक जाते हैं। यदि आर्थिक चक्र में, निरन्तर, चलित, का, उपयोग, नहीं, किया, जाये, तो, वह, स्वचलित, हो, जायेगा।

(2) सम्बन्ध का अभाव—प्रत्येक आनेवाली अभिवृद्धि का बीज चुके अवसाद से ठीक उसी प्रकार का सम्बन्ध होना चाहिए जैसा प्रत्येक अवसाद का उससे पूर्व की अभिवृद्धि के साथ होता है, परन्तु व्यवहार में ऐसा सम्भव नहीं होता। प्रायः यह देखा गया है कि एक विशाल तेजी के बाद महान मन्दी तो आती है, परन्तु महान मन्दी के पश्चात विशाल तेजी का आना आवश्यक नहीं होता है। इस प्रकार इस सिद्धान्त में सम्बन्धों का अभाव पाया जाता है।

(iv) मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त—पीगू (Psychological Theory—Pigou)—यह सिद्धान्त प्रो॰ पीगू द्वारा प्रतिपादित किया गया है जो कि प्रतिष्ठित विचारधारा के अनुकूल ही है। प्रतिष्ठित विचारधारा में यह माना गया है कि (अ) पूँजी एवं उपभोग की माँग पारस्परिक प्रतियोगी होने के कारण अधिक बचतें होने लगती हैं और उपभोग में कमी हो जाती है, परन्तु इस कमी का पूँजीगत माल की माँग पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। (ब) पूर्ति स्वयं अपनी माँग उत्पन्न कर लेती है, जिससे अति-उत्पादन सम्भव सा हो जाता है। वास्तविक स्थिति यह है कि अधिक मात्रा में बचत स्वयं पूँजीगत माल की माँग को बढ़ा देती है। फलस्वरूप कुल माँग एवं कुल पूर्ति में भिन्नता नहीं हो पाती। प्रतिष्ठि

अर्थशास्त्रियों ने बताया कि समाज का आशावाद एवं निराशावाद ही साख की आर्थिक अस्थिरता एवं व्यापार-चक्र के उत्तरदायी होते हैं। व्यापार-चक्र आने के प्रमुख कारण समाज में आशावाद एव निराशावाद का पाया जाना है। आशावाद में तेजी काल व निराशावाद में मन्दी काल की अवस्था पायी जाती है।

पीगू के अनुसार व्यापार-चक्र आने का कारण मानसिक मनोवृत्ति है। मानव के मस्तिष्क मे एक के बाद दूसरी आशावाद एव निराशावाद के विचार उठते रहते हैं कि जो व्यावसायिक क्रियाओ में व्यापार-चक्र का आधार बनते है। पीगू की यह विचारधारा है कि प्रारम्भ में मानव की मनोवृत्ति आशा की ओर रहती है, परन्तु अपूर्ण प्रतियोगिता होने के कारण उत्पादकगण अपने नेता-फर्म की कीमतो का अनुकरण करके व्यावसायिक क्रियाओ का विस्तार करते हैं। परन्तु मानव मनोवृत्ति स्थिर न रहने से धीरे-धीरे यह स्थिति बदल जाती है और लागत व्यय बढकर लाभ की मात्रा घट जाती है, फलस्वरूप उत्पादन गिर जाता है तथा अन्य उत्पादन उसका अनुकरण करना प्रारम्भ कर देते हैं, परिणामस्वरूप संकट उत्पन्न हो जाते हैं। इससे मनोवृत्ति पर बुरा प्रभाव पडकर अर्थव्यवस्था मन्दी की ओर जाने लगती है तथा मनोवैज्ञानिक निराशा और अधिक बलवती बन जाती है तथा मन्दी या अवसाद काफी निम्न बिन्दु तक पहुच जाता है। धीरे-धीरे जब उत्पादन व्यय मूल्यों की तुलना में गिरने लगते हैं तो फिर से लाभ की सम्भावनाए बढ जाती हैं। इस समय मनोवृत्ति में फिर से परिवर्तन आने से पुनरुद्धार प्रारम्भ हो जाता है। तथा अन्त में सम्पन्नता की ओर अग्रसर होता जाता है। इस क्रम का पुनरावर्तन होने से व्यावसायिक क्रियाएं व्यापार-चक्र के रूप में दिखाई देती हैं। इस प्रकार व्यावसायिक क्षेत्र में जब कोई महत्वपूर्ण घटना घटित हो जाती है तो अन्य व्यक्तियों पर इसका शीघ्रता से प्रभाव पडने लगता है। उदाहरणार्थ, यदि मूल्य गिरने लगे तो प्रत्येक व्यक्ति हानि के डर से अपना माल बेचता नजर आने लगता है। एक व्यापारी को अपना माल बेचते देख अन्य व्यापारी भी अपना माल बेच डालते हैं। इसी प्रकार तेजी के काल में लाभ की आशा से कार्य होने लगता है। इस प्रकार देश की अर्थव्यवस्था में मन्दी व तेजी के काल में निरन्तरता बनी रहती है और एक के बाद दूसरी घटित हो जाती है।

आलोचनायें—इस सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनायें निम्नलिखित हैं—

(1) **कारण बताने मे असमर्थ**—यह सिद्धान्त यह बताने में असमर्थ है कि मन्दी कैसे प्रारम्भ होती है तथा क्यों आती है।

(2) **उतार-चढ़ाव समझने में असमर्थ**—सिद्धान्त मे यह स्पष्ट नही किया गया कि उतार-चढाव एक नियमित समय पर ही क्यो आते है ?

(3) **व्यापारिक विश्वास पर प्रभाव**—देश की व्यावसायिक दशाओ पर व्यापारिक विश्वास का गहरा प्रभाव पड़ता है। व्यवसाय पर पूंजी की सीमान्त उत्पादकता एव मौद्रिक व अमौद्रिक घटको का प्रभाव पड़ता है, परन्तु इस सिद्धान्त में इन बातो की ओर ध्यान न देने से यह त्रुटिपूर्ण बन गया है।

(4) **अपूर्ण व्याख्या**—यह सिद्धान्त व्यापार-चक्रो की केवल अपूर्ण व्याख्या ही कर पाता है जिससे यह सिद्धान्त अधूरा है।

(v) अधिक बचत या कम विनियोग सिद्धान्त—हॉब्सन (Over-saving or Under-investment Theory—Hobson)—हॉब्सन एवं उसके समर्थको ने व्यापार-चक्र का कारण आय का असमान वितरण बताया है। इस सिद्धान्त के अनुसार समाज में अमीर एवं गरीबो की आय में जो व्यापक अन्तर पाया जाता है, उसके फलस्वरूप उत्पन्न हुई बचत या कम उपभोग की घटनाओं के कारण ही देश की समस्त अर्थव्यवस्था पर व्यापार-चक्र का प्रभाव पड़ता है। देश मे आय के वितरण की असमानतायें ही आर्थिक संकटों को उत्पन्न करती हैं। आय का वितरण असमान होने से ही देश मे व्यापार चक्र उत्पन्न हो जाते हैं और आर्थिक सकटो को जन्म देते हैं।

समाज मे रहने वाले व्यक्तियों को धनी एवं निर्धन दो वर्गों मे विभाजित किया जाता है। समाज की आय का एक बहुत बडा भाग धनी वर्ग को प्राप्त होता है, जो अपनी समस्त आय को उपभोग पर व्यय न करके उसका एक बडा भाग बचत करके विनियोग कार्य पर लगा देते हैं। परिणामस्वरूप उपभोग की वस्तुओं की माग घट जाती है तथा विनियोग बढ़ने से आगे चलकर वस्तुओ की पूर्ति मे वृद्धि होकर मूल्यों मे कमी करनी होती है। इससे लाभ घट जाते हैं व धनी वर्ग की आय कम होकर, बचत व विनियोग गिरकर उत्पादन पर बुरा प्रभाव डालते हैं। उत्पादन व उपभोग लगभग समान हो जाते हैं,

फलस्वरूप मूल्य एवं लाभ फिर से बढ़ने लगते हैं, जिससे आय बढ़ जाती है, बचत एवं विनियोग बढ़कर फिर से पुरानी बात दोहरायी जाती है। इस प्रकार यह व्यापार-चक्र का क्रम चलता ही रहेगा। यह क्रम उस समय तक चलता रहेगा जब तक कि धनी व्यक्ति अधिक व्यय न करें या बचत करना न छोड़ दें या जब तक देश में आय का समान वितरण न हो जाये। बचत जितनी अधिक होगी तथा आय का जितना अधिक असमान वितरण होगा, उतने ही अधिक व्यापार-चक्र प्रभावशाली होंगे। व्यापार-चक्र के संकट से छुटकारा उसी समय प्राप्त हो सकता है जबकि उत्पादन-व्यय उपभोक्ताओं की क्रय शक्ति के बराबर हो तथा वस्तु के उत्पादन करने में जितना खर्चा किया जाये वह समस्त धन समाज को ही किसी न किसी रूप में वापस कर दिया जाये, परन्तु यह सम्भव नहीं होता, क्योंकि राष्ट्रीय आय का एक बड़ा भाग साहूकार, जमींदार व अन्य धनी वर्ग के पास चला जाता है जो संख्या में थोड़े होते हैं। परिणामस्वरूप उपभोक्ताओं की क्रय शक्ति कम हो जाती है तथा दूसरी ओर धनी वर्ग अपनी आय को खर्च न करके बचत करते हैं और वह धन उपभोग पर व्यय नहीं हो पाता। इस कमी के कारण ही व्यापार-चक्र के संकट उत्पन्न हो जाते हैं।

आलोचनायें—इस सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनायें निम्न प्रकार हैं—

(1) **बचत व विनियोग का भ्रमात्मक सम्बन्ध**—इस सिद्धान्त में यह माना गया है कि विनियोग के उच्चावचन, बचत में उच्चावचन से प्रभावित होते हैं। परन्तु व्यवहार में यह पाया जाता है कि विनियोगों में बचतों की तुलना में अधिक उच्चावचन होते हैं। सम्पन्नता काल में विनियोग में उस समय तक वृद्धि होती रहती है जब तक कि ब्याज की दर कम रहती है। प्राय मूल्य वृद्धि की सम्भावना मात्र से ही विनियोग की मात्रा में वृद्धि हो जाती है। परन्तु अवसाद काल में ही बचत विनियोग से अधिक हो जाती है जिससे ऋण लेने व देने दोनों में ही घबराहट होती है, फलस्वरूप यह बचतें बैंकों में जमा कर दी जाती हैं।

(2) **अभिवृद्धि के कारणों को स्पष्ट करने में असमर्थ**—यदि आय से बचत की जाये तो वह विनियोग हो सकती है और उसका लाभ अन्तत उपभोक्ताओं को ही प्राप्त होता है, जिससे बचत करने पर माग में कमी होने का अनुमान नहीं लगाया जा सकता है। इसी प्रकार बचतों में वृद्धि करने से विनियोगों पर पड़ने वाले प्रभावों को ठीक प्रकार से नहीं बताया जाता।

(3) **ब्याज से विनियोग प्रभावित नहीं होते**—प्राय. यह माना जाता है कि अधिक बचत करने से ब्याज की दरें गिर जाती हैं और वह विनियोगों को प्रोत्साहित करेंगी। परन्तु व्यवहार में ब्याज की नीची दरें विनियोग को प्रोत्साहित नहीं कर पातीं, क्योंकि विनियोग में वृद्धि केवल लाभ की सम्भावना पर निर्भर करती है। उदाहरणार्थ, अवसाद काल में बचत जमा होने पर भी विनियोग की मात्रा में पर्याप्त वृद्धि सम्भव नहीं हो पाती है।

(4) **मूल्य एवं उपभोग वस्तु के सम्बन्ध की गलत धारणा**—प्राय यह माना गया है कि मदों के उच्चावचनों या उपभोग वस्तुओं की माग एवं पूर्ति को अधिक प्रभावित करते हैं और इस प्रकार शीघ्र नाशवान वस्तुओं की कीमतों में टिकाऊ वस्तुओं की अपेक्षा अधिक उच्चावचन होता है। परन्तु व्यवहार में यह सत्य नहीं है, क्योंकि अवसाद काल में भी विभिन्न राष्ट्रों में लोहा, इस्पात व अन्य टिकाऊ वस्तुओं के मूल्य खाद्य पदार्थों की तुलना में काफी कम पाये गये।

(5) **गलत दिशा में बल देना**—इस सिद्धान्त में गलत दिशा की ओर बल दिया गया है। व्यापार-चक्र व संकट का कारण जो आय के वितरण की असमानता माना गया है वह भ्रमात्मक है क्योंकि वितरण की असमानतायें निरन्तर बढ़ती जाती हैं।

(6) **व्यापार-चक्र के कारण अस्पष्ट**—उत्पादन कला में सुधार के साथ-साथ सामाजिक आय में वृद्धि होती है, जिससे समाज के सभी वर्गों को लाभ प्राप्त होते हैं. परन्तु इस लाभ का अधिकांश भाग धनी वर्ग को प्राप्त होता है। इससे उपभोग की वस्तुओं की माग घटकर विलासिता की मांग में वृद्धि हो जाती है, फलस्वरूप उपभोग वस्तुओं के उत्पादन करने वाले उद्योगों में मन्दी आ जाती है। परन्तु यह व्यापार-चक्र आने के कारणों को स्पष्ट करने में असमर्थ रहते हैं।

(7) **न्यून उपभोग व आय वितरण असमानता का व्यापार-चक्र से सम्बन्ध न होना**—समाज में आय के वितरण की असमानता एवं न्यून उपभोग का व्यापार-चक्र से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता है क्योंकि आर्थिक प्रगति के साथ-साथ मूल्य स्तर नीचे गिरते हैं तथा मुद्रा का विस्तार हो जाता है, जिससे शीघ्र नाशवान एवं टिकाऊ वस्तुओं का सम्बन्ध बिगड़ जाता है।

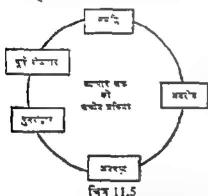
(vi) **नवीनता सिद्धान्त—शुम्पीटर (Innovation Theory—Schumpeter)**—शुम्पीटर के अनुसार

व्यावसायिक चक्र प्रायः नवीनता के कारण उत्पन्न होते हैं, यदि नवीनतायें न हों तो अर्थव्यवस्था एक साम्य की स्थिति पर आकर टिक जायेगी जहा जनसंख्या, उत्पादन-विधियां, साधन एवं रुचियों में कोई परिवर्तन न होगा। ऐसी दशा में शुद्ध बचत व विनियोग नहीं होते, उत्पादन मांग के आधार पर समायोजित होकर, व्यावसायिक चक्रों को उत्पन्न नहीं करता। परन्तु नवीनतायें उत्पादन व्यय एवं कीमतों में अनिश्चितता उत्पन्न कर देती हैं, जिससे अर्थव्यवस्था में निरन्तर उच्चावचन आते रहते हैं। यह उच्चावचन ही व्यापार-चक्र को जन्म देते हैं तथा व्यापार-चक्र के कारण होते हैं।

शुम्पीटर के अनुसार नवीनता में निम्न बातों को सम्मिलित करते हैं—(i) व्यवसाय के आन्तरिक संगठन में कोई परिवर्तन नहीं होना, (ii) उत्पादन की बिक्री के लिए नवीन विपणियों की खोज की जा सकती है। (iii) समाज में किसी नवीन वस्तु का उत्पादन सम्भव हो सकता है। (iv) उत्पादन की नवीन तकनीक का उपयोग करना। (v) कच्ची सामग्री के नवीन स्रोतों का पता लगाना। (vi) उत्पादन की नवीन विधियों का उपयोग करना।

उत्पादकों के दृष्टिकोण में परिवर्तन होने से आर्थिक व व्यावसायिक जगत में भी परिवर्तन हो जाते हैं, जिनसे उत्पादन लागत अस्थिर हो जाती है तथा देश में उद्योगों के उत्पादन को मांग के आधार पर समायोजित करना पड़ता है। परन्तु नवीन परिवर्तनों के साथ-साथ मांग पक्ष में भी बार-बार परिवर्तन होते रहते हैं जिससे यह अनिश्चित ही रहता है।

प्रारम्भ में अर्थव्यवस्था को साम्य की स्थिति में माना जाता है जिसमें, बचत एवं विनियोग दोनों समान होते हैं और पूर्ण रोजगार की स्थिति पाई जाती है। यदि साहसियों को किसी ऐसी नवीनता से परिचित कराया जाये, जो उनके लिए लाभप्रद होगी तो वे उसे स्वीकार करके, बैंकों से ऋण आदि लेकर नवीन उपक्रमों की स्थापना करेंगे। इनकी सफलता पर अन्य साहसी भी इनका अनुकरण करते हैं जिससे अर्थव्यवस्था में विस्तार होता है,- विनियोगों में वृद्धि एवं साख का विस्तार होकर बैंक साख व मौद्रिक आय का निर्माण होता है। परन्तु उत्पादन बढ़ाने में समय का लगना आवश्यक है जिससे पुराने उपक्रमों द्वारा ऊंचे मूल्यों व लाभों की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और सम्पन्नता का काल प्रारम्भ हो जाता है। व्यापार-चक्र स्वयं को चक्रीय प्रक्रिया के रूप में व्यक्त करता है जैसा कि चित्र 11.5 से स्पष्ट है—



चित्र 11.5

धीरे-धीरे नवीन उपक्रमों भी निरन्तर बाजार में आने से पुरानी फर्मों के साथ प्रतियोगिता होगी और उनके लाभ घट जायेंगे। उपभोक्तागण भी पुरानी वस्तुओं के स्थान पर नवीन वस्तुओं को प्राप्त करेंगे, जिससे पुरानी वस्तुओं की मांग गिर जायेगी। व्यवसाय की मांग बढ़ने पर नवीन फर्में अपने लाभ में से बैंक ऋणों को वापस करने लगेंगी, जिससे बाजार में मुद्रा की मात्रा घटेगी एवं इसका मूल्यों पर विस्फीतिक (deflationary) प्रभाव पड़ेगा। इस प्रकार वस्तुओं की मांग पहले से भी अधिक कम हो जायेगी। पुरानी फर्मों को घटती मांग का सामना करना पड़ता है जिससे वह उत्पादन कम करके श्रमिकों व अन्य उत्पत्ति के साधनों की छटनी करेंगे। बेरोजगारी में वृद्धि होने से प्रभावशाली मांग में और अधिक कमी होगी। और मन्दी काल प्रारम्भ हो जायेगा। इस समय में अत्यधिक अनिश्चितता के कारण स्थिति और भी गम्भीर हो जाती है। शुम्पीटर ने अवसाद की व्याख्या गौण लहरों (secondary waves) से की है, जिनका विस्तार प्रारम्भिक लहरों से उत्पन्न होता है और बाद में अत्यधिक निराशावाद का काल प्रारम्भ हो जाता है। बैंक अपनी तरलता बनाये रखने के प्रयास करती है तथा पुराने ऋणों को वापस मांगती है।

शनैः शनैः दिवालिया फर्में अपना व्यवसाय बन्द कर देती हैं, जिससे शेष फर्मों का भविष्य उज्ज्वल हो जाता है और वे कुशलतापूर्वक उत्पादन कार्य करना प्रारम्भ कर देते हैं, जिससे विस्फीतिक क्रम का विस्तार भी अन्त में अवरुद्ध हो जाता है।

आलोचनाएं—शुम्पीटर के सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनाएं निम्नलिखित हैं—

(1) बैंक साख का प्रभाव पड़ना—देश में सम्पन्नता की दशा में बैंक साख की मात्रा भी व्यापार-चक्र को प्रभावित करती है। प्रायः यह देखा गया है कि जितनी अधिक साख की मात्रा में वृद्धि होगी, उतनी ही अधिक मात्रा में मूल्यों में भी वृद्धि सम्भव हो सकेगी।

(2) बेरोजगारी पर प्रभाव—यदि नवीन वस्तु से प्रभावित उद्योग किसी एक स्थान विशेष पर केन्द्रित हैं तो बेकारी पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ेगा क्योंकि श्रमिक प्रायः गतिहीन होते हैं। परन्तु व्यवहार में नवीनता का प्रभाव किसी एक क्षेत्र तक ही सीमित न होकर समूचे राष्ट्र पर पड़ने से बेरोजगारी पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

(3) अनुचित मान्यतायें—शुम्पीटर के सिद्धान्त में यह मानकर चला गया है कि देश की अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार एवं अर्थप्रबन्धन हेतु बैंक साख की व्यवस्था है, परन्तु वास्तव में यह दोनों ही मान्यताए अनुचित एवं काल्पनिक हैं।

(4) अवधि का प्रभाव—व्यापार-चक्र पर नवीन उद्योगों की अवधि का भी प्रभाव पड़ता है। किसी भी उद्योग के निर्माण में यह अवधि जितनी अधिक होगी, उतना ही मांग के अनुरूप उत्पादन को भली प्रकार से समायोजित किया जा सकता है। इसको सिद्धान्त में ध्यान में नहीं रखा गया।

(5) नवीनता के प्रतिस्पर्धात्मक प्रभाव—व्यापार-चक्र की गहनता के निर्धारण में नवीनता के प्रतिस्पर्धात्मक प्रभावों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। जैसे नवीन वस्तु के प्रचलन के कारण पुराने उद्योगों को पुनः समायोजन करना सरल होगा, परन्तु मांग में कमी होने पर उद्योगों को पुनः समायोजन करने में अत्यन्त कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा।

(6) सामाजिक मान्यताओं पर आधारित—शुम्पीटर के सिद्धान्त में लोचपूर्ण बैंकिंग पद्धति को महत्त्व प्रदान करने पर भी इसे मौद्रिक सिद्धान्त में नहीं रखकर सामाजिक मान्यताओं पर आधारित माना है क्योंकि यदि मौद्रिक विशेषताओं को नियन्त्रित कर दिया जाये तो व्यापार-चक्रों को सरलता से समाप्त किया जा सकेगा।

(7) नवीनता में अनियमितता के कारण बताने में असमर्थ—यह सिद्धान्त नवीनता में अनियमितता आने के कारण बताने में असमर्थ है। शुम्पीटर ने यह अनियमितता व्यक्तिगत साहसी के कारण बताई है, जबकि इसका कारण प्राविधिक एवं सामाजिक गति में समानता का अभाव होना है।

(8) अवसाद व पुनरोद्धार का सम्बन्ध भ्रमात्मक—सिद्धान्त में यह माना गया है कि अवसाद के पश्चात पुनरोद्धार की अवस्था स्वतः ही प्रारम्भ हो जाती है। परन्तु यह मान्यता गलत है क्योंकि अवसाद प्रायः पूंजी व विनियोग की कमी के कारण उदय होते हैं और उसे सामान्य स्थिति तक लाने के लिए लाभ के अतिरिक्त अन्य घटकों की भी आवश्यकता होती है, जिसे इस सिद्धान्त में ध्यान में न रखकर केवल लाभ की प्रेरणा पर ही जोर दिया गया है।

(9) नवीनता की गलत व्याख्या—शुम्पीटर ने नवीनता की जो व्याख्या की है वह सही नहीं है क्योंकि कुछ नवीनताएं अधिक विकास में बाधाएं उपस्थित कर देती हैं। इस प्रकार इस सिद्धान्त में नवीनता की गलत ढंग से व्याख्या की गयी है।

(ब) मौद्रिक सिद्धान्त

आधुनिक काल में व्यापार-चक्रों के लिए मौद्रिक कारणों का निर्धारण किया गया है। इन सिद्धान्तों में पूर्ण रूप से मौद्रिक कारणों की व्याख्या की गई है। इनमें प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

1. हाट्रे का मौद्रिक सिद्धान्त,
2. हिक्स का गुणक प्रक्रिया एवं गतिवर्धन सिद्धान्त,
3. हेयक का अधिक साख सिद्धान्त,
4. रावर्टसन का सिद्धान्त,
5. कीन्स का बचत एवं विनियोग सिद्धान्त,
6. व्यापार-चक्र का मकड़ी जाला प्रमेय, एवं
7. टिनबर्जन का व्यापार-चक्र सिद्धान्त।

1. हाट्रे का मौद्रिक सिद्धान्त (Hawtrey's Monetary Theory)—हाट्रे के अनुसार व्यापार-चक्र एक विशुद्ध मौद्रिक प्रवृत्ति है तथा मुद्रा के प्रवाह में परिवर्तन ही आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने के लिए जिम्मेदार है और इसी से तेजी एवं मन्दी का सृजन हो जाता है। हाट्रे का सिद्धान्त तीन तथ्यों पर आधारित होता है—(i) देश में कुल मौद्रिक माग के

प्रवाह में परिवर्तन, (ii) थोक व्यापारियों का देश की अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान होना, एवं (iii) बैंक निधियों की वापसी का महत्व।

समाज को तीन वर्गों में रखा जा सकता है—उपभोक्ता, व्यापारी एवं बैंक। उपभोक्तागण अपनी सीमित आय को प्राप्त करने एवं उसे व्यय करने में लगे रहते हैं। व्यापारी वर्ग आय प्राप्ति के साथ-साथ माल की बिक्री, संचय, क्रय के आदेश आदि का कार्य भी करते हैं। बैंक धन को निक्षेप के रूप में प्राप्त करते तथा ऋण देने के कार्य करते हैं, परन्तु उनका एक अतिरिक्त कार्य नवीन मुद्रा का सृजन करना है जो प्रायः नकदी या बैंक साख मुद्रा के रूप में हो सकती है। मुद्रा के प्रवाह में वृद्धि होने से वस्तुओं की माग में वृद्धि होती है, जिससे व्यापार, रोजगार, उत्पादन, आय एवं मूल्यों में वृद्धि होती है। इसके विपरीत मुद्रा के प्रवाह में कमी होने से वस्तुओं की माग में कमी, व्यापार में मन्दी, उत्पादन, रोजगार, आय एवं मूल्यों में भी कमी हो जाती है तथा अर्थव्यवस्था मन्दी की ओर बढ़ जाती है।

समाज के तीनों वर्ग मुद्रा की खपत एवं वृद्धि में लगे रहते हैं। जब मुद्रा को आय के रूप में प्राप्त किया जाये तो नकदी की खपत तथा व्यय करने पर नकदी की मुक्ति कहेंगे। समाज के समस्त उपभोक्ताओं को मिलाकर उनकी मौद्रिक आय कुल व्यय के बराबर होती है। यदि उपभोक्ता बैंकों से ऋण उधार लेकर व्यय करें तो भी नकदी की मात्रा में शुद्ध वृद्धि सम्भव नहीं होगी, क्योंकि भविष्य में इन ऋणों का भुगतान अपनी आय से ही करना होगा, जिससे व्ययों में कमी हो जायेगी। *परन्तु इस प्रकार की आय प्राप्ति एवं व्यय में समयावधि का अन्तर पाया जाता है।*

व्यापारियों को वस्तुओं की बिक्री से आय प्राप्त होती है। यदि बिना लाभ के माल बेचा जाये तो बिक्री से प्राप्त आय उनके व्यय के बराबर होगी। जो नकद राशि उपभोक्ता द्वारा दी जाती है उसे व्यापारी प्राप्त करता है तथा स्वयं भी उत्पत्ति के साधनों का भुगतान करके उपभोक्ता रूपी श्रमिकों व अन्य साधनों की आय में वृद्धि करता है। इस प्रकार उपभोक्ता व व्यापारी एक दूसरे को नकद राशि का हस्तान्तरण करते रहते हैं। उपभोक्ता अपनी आय का एक भाग बचत के रूप में रखता है जिसे वह विनियोग कर देता है। यदि मुद्रा की मात्रा में कमी हो जाये तो अवस्फीति को बढ़ावा मिलकर मन्दी का समय आ जाता है, जिससे माग में कमी हो जाती है, फलस्वरूप मूल्यों में कमी व उत्पादन घटकर बेरोजगारी में वृद्धि हो जाती है। परिणामस्वरूप आय में कमी हो जाती है। इसके विपरीत मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने से तेजी को बढ़ावा मिलता है, माग में वृद्धि होकर मूल्य-उत्पादन, रोजगार एवं आय में वृद्धि हो जाती है। मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने से तेजी तथा कमी होने से मन्दी की अवस्थाएं उत्पन्न हो जाती हैं।

बैंक जनता से निक्षेप के रूप में धन स्वीकार करते हैं तथा साख का निर्माण करके सन्तुलन स्थापित करने के प्रयास किये जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में कुल नकद राशि एवं साख की मात्रा यथास्थिर रहती है। प्रायः व्यापारी वर्ग बैंकों से धनराशि ऋण के रूप में प्राप्त करते तथा बाद में उसे वापस कर देते हैं। जब बैंक एवं समाज के मध्य नकद राशि के हस्तांतरण क्षतिपूर्ण है तो इसका कोई विशेष महत्व नहीं होता। परन्तु यदि यह राशि इससे कम या अधिक हो जाये तो इसके परिणाम महत्वपूर्ण होते हैं। देश में व्यापार-चक्र ऊपर की ओर उस समय जाता है जबकि मांग में वृद्धि हो जाये। उत्पादक अधिक मात्रा में माल उत्पादित करके प्राप्त मुद्रा को उपभोक्ताओं को हस्तान्तरित कर देते हैं। उपभोक्ता इस आय का उपयोग माल खरीदने में करके इस राशि को उत्पादकों को हस्तान्तरित करते एवं अधिक माल निर्मित करने को प्रेरित करते हैं। इस प्रकार जब-जब व्यापारी अपने स्टाक में वृद्धि करें, प्रत्येक बार उपभोक्ता की आय में वृद्धि होगी। माग पूर्ण न होने पर व्यापारी मूल्यों को बढ़ा देते हैं और तेजी की अवस्था आ जाती है।

परन्तु बैंकों द्वारा साख प्रदान करने की एक सीमा होती है और वे उससे अधिक मात्रा में ऋण प्रदान करने में असमर्थ होते हैं। बैंक साख पर नियन्त्रण लगा देते हैं और कुछ समयोपरान्त इसके प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगते हैं। साख पर लगाये गये प्रतिबन्ध ब्याज की ऊंची दरों के रूप में प्रकट होकर संकट काल के आगमन को सूचित करते है। जब बैंक अपने ऋणों को भी वापस मांगने लगते हैं तो इससे मूल्यों, आय, रोजगार आदि में कमी होने लगती है। धन वापिस करने के लिए कुछ व्यापारियों को अपने विनियोगों को हानि पर भी बेचना पड़ता है। इस काल में मजदूरी में मूल्यों की अपेक्षा कमी कम गति से होती है। बैंकों द्वारा साख के विस्तार करने की कुछ सीमाएं होती हैं क्योंकि उन्हें अपने दायित्वों को पूर्ण करने के लिए न्यूनतम मात्रा में नकद कोष रखना पड़ता है और जब बैंकों को यह अनुपात बनाये रखना कठिन हो जाता है तो वह साख के विस्तार पर ही प्रतिबन्ध नहीं लगाते, बल्कि ऋणों को भी वापस मांगने लगते हैं, जो व्यापारियों के लिए विपत्ति का कारण

बन जाता है।

परन्तु संकुचन की भी एक सीमा होती है। उत्पादन घटने, आय में कमी होने एवं संकुचन की गहरी छाप गिरने से व्यापारी स्टाक की मात्रा में कमी करके उधार लिया हुआ ऋण बैंकों को वापिस कर देते हैं और बैंकों के नकद कोष पुनः भर जाते हैं। इस समय ब्याज की दरें काफी कम हो जाती हैं, जो विनियोग को आकर्षक बनाती हैं और बैंक फिर से साख के विस्तार की नीति का पालन करने लगते हैं। इस प्रकार तेजी व मन्दी की अवस्थाएं आती रहती हैं।

आलोचनाएं—हाट्रे के सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनाएं निम्नलिखित हैं—

(1) विनियोग के कारणों की उपेक्षा—इस सिद्धान्त में इन कारणों की व्याख्या नहीं की गई, जिन पर विनियोग निर्भर करते हैं। देश में उपभोग एवं विनियोग के परिवर्तनों से आर्थिक जीवन व अर्थव्यवस्था प्रभावित होती है। परन्तु इस सिद्धान्त में इस बात का उत्तर नहीं मिलता कि मुद्रा में वृद्धि क्यों होती है।

(2) साख की निम्न कीमत का गलत विचार—सिद्धान्त में यह बताया गया है कि साख का मूल्य कम करने से साख विस्तार होकर उत्पादन व मूल्यों में वृद्धि व अभिवृद्धि का आगमन होता है। परन्तु आलोचकों का कथन है कि उत्पादन में वृद्धि होने के अन्य कारण भी होते हैं, जिन्हें ध्यान में नहीं रखा गया।

(3) ब्याज दर अप्रभावी—व्यापार-चक्र के इस सिद्धान्त में यह माना गया है कि व्यापारीगण ब्याज की नीची दरों से प्रभावित होकर ही स्टाक बनाने की दिशा में प्रेरित व प्रोत्साहित होते हैं। परन्तु वास्तव में इस बात को देखकर स्टाक का निर्माण नहीं किया जाता, बल्कि ब्याज दरों के स्थान पर लाभ की मात्रा को ध्यान में रखा जाता है। यदि ब्याज दर ऊंची हो, परन्तु लाभ की सम्भावना हो तो भी उत्पादन व स्टाक में वृद्धि की जा सकती है।

(4) कारण व परिणाम का अन्तर समझने में भूल—हाट्रे अपने सिद्धान्त में कारण व परिणाम का अन्तर समझने में भूल कर बैठे। सिद्धान्त के अनुसार अभिवृद्धि के शिखर पर ब्याज की दर में वृद्धि करने से संकट आते हैं, परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं होता क्योंकि ब्याज की दर की वृद्धि संकट से पूर्व सम्भव नहीं है बल्कि उसके पश्चात् ही आती है और संकट आने से साख का पतन हो जाता है।

(5) बचत व विनियोग में सन्तुलन का अभाव—इस सिद्धान्त की यह मान्यता रही है कि बचत एवं विनियोग में सन्तुलन बना रहता है, परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं पाया जाता और बैंकों की नीति इसमें विघ्न उत्पन्न करती है।

(6) उत्पत्ति के साधनों की धारणा—सिद्धान्त में यह माना गया है कि उत्पत्ति के समस्त साधन काम में लगे हुए हैं तथा उनको सरलता से एक क्षेत्र में हटाकर दूसरे क्षेत्र को हस्तान्तरित किया जा सकता है। परन्तु व्यवहार में यह मान्यता लागू नहीं होती और इस प्रकार के हस्तान्तरण में अनेक प्रकार की बाधाएं उपस्थित होती हैं।

(7) उधार देने से हानि नहीं होती—सिद्धान्त द्वारा यह बताया गया है कि बैंकों द्वारा धन उधार देने से सदैव हानि का सामना करना पड़ेगा, परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं है।

(8) ऐच्छिक बचत की सीमा ज्ञात करना कठिन—उत्पादन क्रियाएं ऐच्छिक बचत पर निर्भर न होकर साख विस्तार पर आधारित हैं, परन्तु उस ऐच्छिक बचत सीमा का पता लगाना कठिन होता है।

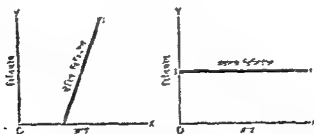
2. हिक्स का गुणक क्रिया एवं गतिवर्धन सिद्धान्त (Hicks Theory of Multiplier and Acceleration)—कीन्स ने यह माना था कि उपभोग की गति का प्रारम्भ विनियोग से ही होता है तथा विनियोग पर किया गया व्यय उपभोग सम्भावना के गुणक को जन्म देता है। क्लेकी ने भी इस सम्बन्ध में अपने विचार रखे हैं और उन्होंने अपना ध्यान गुणक पर ही केन्द्रित व त्वरक विचार का आविष्कार किया। क्लेकी के अनुसार विनियोग में परिवर्तन करने से आय एवं रोजगार की सम्भावना पर तुरन्त प्रभाव नहीं पड़ता है। यदि एक काल में विनियोग बढ़ता है तो उस पर किसी दूसरे काल में बढ़ाये गये विनियोग का भी प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार के प्रभाव आगे आने वाले विनियोगों में भी पड़ते हैं। परन्तु ऐसे प्रभाव में कुछ समय लगता है। वास्तविक जगत में विनियोग नियमित एवं निरन्तर न होने पर भी, विनियोग की मात्रा में वृद्धि होने पर आय पर भी निरन्तर बढ़ता हुआ प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार विनियोग की मात्रा घटाने पर उसके प्रभाव विपरीत दिशा में पड़ते हैं। वर्तमान आय पर विनियोग की मात्रा निर्भर न होने के कारण गुणक प्रभाव दिखाई देते हैं। देश में विनियोग की मात्रा में वृद्धि के साथ-साथ, कालान्तर में विनियोग की अगली वृद्धि पहली वृद्धि की तुलना में कम प्रभावशील होती है। विनियोग की तुलना में आय में वृद्धि नहीं हो पाती जिसके परिणामस्वरूप विनियोग की दर में कमी होने

सकती है। उपभोग की वस्तुओं से मांग हटकर विनियोग की वस्तुओं की ओर स्थानान्तरित होने से समाज में उपभोग वस्तुओं की अपेक्षा विनियोग वस्तुओं की उत्पत्ति में अधिकाधिक परिवर्तन होते हैं। इसी कारण से तेजी प्रवृत्ति अधिक बलवान होती जाती है।

हिक्स ने व्यापार-चक्र में गुणक एवं त्वरक सिद्धान्त का सम्मिलित प्रयोग किया है। हिक्स ने विनियोगों को दो भागों में विभाजित किया है—(i) स्वाभाविक (autonomous) एवं (ii) प्रेरित (induced)। स्वाभाविक विनियोग निश्चित दर से बढ़ते रहते हैं और उत्पादन की मात्रा का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता तथा देश में एक प्रगतिशील एवं सन्तुलित अर्थव्यवस्था की स्थापना हो जाती है। इसके विपरीत प्रेरित विनियोग में उत्पत्ति की मात्रा में होने वाले परिवर्तनों को सम्मिलित किया जाता है जैसे मांग बढ़ने पर उत्पादन में वृद्धि की जाती है और यदि मांग की वृद्धि स्थायी प्रकृति की है तो उद्योग के पूंजीगत भाग में विस्तार करना पड़ेगा। इस प्रकार से मांग में वृद्धि होने से उत्पादन में वृद्धि होती जो विनियोग को प्रेरित एवं प्रोत्साहित करती है। इसी विधि को गतिवर्धक सिद्धान्त (Principle of Acceleration) के नाम से जाना जाता है।

गुणक प्रक्रिया—आय एवं विनियोग की मात्रा में परस्पर इतना घनिष्ठ सम्बन्ध होता है कि आय सदैव विनियोग की मात्रा पर निर्भर करती है। अतः विनियोग के स्तर के समान ही आय का भी एक स्तर होता है। आय एवं विनियोग के मध्य जो सम्बन्ध होता है उसी के आधार पर गुणक एवं गतिवर्धक सिद्धान्त की व्याख्या का निर्धारण किया जाता है। इसी कारण यह माना जाता है कि जिस गति से आय में वृद्धि होगी, उसी गति से विनियोग की मात्रा में भी वृद्धि हो जायेगी। जब विनियोग एवं उत्पत्ति संतुलित अवस्था में हो तो नवीन आविष्कार के फलस्वरूप स्वाभाविक विनियोग में वृद्धि होती है और प्रेरित विनियोग भी उसके साथ बढ़ जाते हैं। स्वाभाविक विनियोग में वृद्धि बहुत कम होती है और उसका सन्तुलन बिगड़ जाता है और वह अपने पूर्व की स्थिति पर ही लौट आता है। परन्तु प्रेरित विनियोग में ऐसा सम्भव नहीं हो पाता। उत्पादन की वृद्धि प्रेरित विनियोग को बढ़ावा देती हुई बढ़ आगे बढ़ती रहे और यह तब तक बढ़ता रहता है जब तक कि वह पूर्ण रोजगार की सीमा तक न पहुंच जाये। अन्त में उसकी गति विपरीत दिशा की ओर होकर, उत्पादन एवं विनियोग दोनों घटकर सन्तुलन के स्तर पर आ जाते हैं। प्रेरित विनियोग उत्पादन को बढ़ावा देने में असमर्थ रहने पर रोजगार की सीमा में कमी हो जाती है और यह गति वृद्धि की अपेक्षा अधिक तीव्र होती है, फलस्वरूप व्यावसायिक फर्में एक के बाद एक असफल होने लगती हैं, जनता की क्रय शक्ति अवरुद्ध हो जाती है तथा साख-विस्तार पर बुरा प्रभाव पड़ता है तथा मन्दी का प्रभाव और अधिक गहरा होता जाता है।

आय में वृद्धि के साथ-साथ विनियोग में भी वृद्धि होती है, जिससे विनियोग वक्र नीचे से ऊपर उठता है जिसे चित्र 11.6 में दिखाया गया है।



चित्र 11.6

आलोचनाएँ—इस सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं।

(1) स्थिर व स्वतः विनियोग—सिद्धान्त में यह माना गया है कि उत्पादन में परिवर्तन करने से विनियोग का उत्पादन से परिवर्तन के साथ कुछ अनुपात बना रहता है, परन्तु वास्तविक स्थिति यह है कि फर्मों के विस्तार की दर उनके निर्णय एवं मौद्रिक कारकों से सीमित होती है और विशाल विनियोगों की तुलना में लघु विनियोगों से अधिक लाभ उठाया जा सकता है।

(2) लघु विनियोग पर्याप्त—देश मे लघु विनियोगो के लिए पर्याप्त वित्तीय साधन उपलब्ध होते हैं जबकि विशाल विनियोगो के लिए यह सुविधा उपलब्ध नही होती है। अत विशाल परिवर्तनो के लिए विनियोग सम्बन्धी आशा कम लोचदार होती है, जब कि लघु परिवर्तनो के लिए यह आशा अधिक लोचदार रहती है।

3 हेयक का अधिक साख सिद्धान्त (Hayek's Over-issue of Credit Theory)—देश मे मुद्रा की वास्तविक एवं मौद्रिक दर के अन्तर के कारण ही मुद्रा की मात्रा मे परिवर्तन होकर मूल्यो मे वृद्धि एवं पतन हो जाता है फलस्वरूप बचत की अपेक्षा विनियोग कम या अधिक हो जाते हैं। जब देश मे ब्याज दर उसकी प्राकृतिक दर से कम हो तो बचत की अपेक्षा विनियोग अधिक हो जाते हैं, जो प्राय. साख के विस्तार द्वारा ही सम्भव हो पाते हैं, जिसके परिणाम-स्वरूप मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि होकर मूल्य स्तर भी बढ जाते हैं। इसके विपरीत यदि ब्याज दर प्राकृतिक दर से ऊंची रही तो विनियोगो का संकुचन होकर साख का संकुचन एव मूल्यो में गिरावट आ जाती है। हेयक के अनुसार व्यापार-चक्रो का कारण ब्याज दर एव प्राकृतिक दरो का अन्तर है। समाज मे साख का प्रचलन न होने पर बचतें पूजी मे बदल जाती हैं तथा व्यापार चक्र समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार बचत एव विनियोग के मध्य साम्य स्थापित हो जाता है।

यदि समाज मे बचत स्थिर रहने पर साख का विस्तार किया जाये तो बैंको द्वारा इस कार्य मे सफलता ब्याज दरो को घटाने पर ही मिल सकेगी। विनियोग राशि उत्पादको के हाथो मे आने से पहले उपभोग वस्तु उद्योगो एव बाद मे पूंजी-गत वस्तुओ के उद्योगो का विस्तार होगा। साख के निर्माण के कारण ब्याज दर गिरेगी, तथा यह पूंजी की सीमान्त उत्पादकता या प्राकृतिक दर के बराबर नही होगी बल्कि यह दर प्राकृतिक दर से निम्न होगी। उपभोक्ताओ द्वारा उपभोग पदार्थों की मांग बढने से उपभोग पदार्थों का उत्पादन करना लाभप्रद हो जाता है। किन्तु यह वृद्धि उत्पादकीय साख के विस्तार के कारण स्वतन्त्र गति से नही हो पाती और यह ब्याज दर को नीचा करने में सहायता प्रदान करती है। बाद मे ब्याज दर बढ जाती है, जिससे साख विस्तार भी रुक जाता है तथा अर्थव्यवस्था संकुचन की ओर जाने लगती है, जिससे पूजी की कमी होकर सकट की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

व्यापार-चक्र के उपचार के सम्बन्ध मे तटस्थ मुद्रा का सुझाव दिया गया। स्वाभाविक माग पर ही व्यवसाय नियमित ढंग से चलने के कारण मुद्रा की माग में कोई परिवर्तन नही होने चाहिए।

आलोचनायें—सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनायें निम्नलिखित हैं।

(1) उत्पत्ति के समस्त साधनों का प्रयोग—सिद्धान्त मे यह माना गया है कि उत्पत्ति के समस्त साधन पूर्णरूप से उपयोगी हैं तथा प्रयोग मे लगे हुए हैं और बैंको द्वारा साख का विस्तार होने पर यह साधन एक स्थान से हटकर दूसरे स्थानों को जाने से उत्पत्ति कार्य मे विघ्न व बाधायें उपस्थित होती हैं। परन्तु वास्तविक जीवन में उत्पत्ति के साधन कभी भी पूर्ण-रूप से कार्य में न आने के कारण उनका स्थानान्तरण सरल एवं सुविधाजनक नही होता।

(2) ऐच्छिक बचत की सीमा—हेयक ने यह माना कि उत्पादन क्रियायें, ऐच्छिक बचत पर निर्भर न होकर साख विस्तार पर निर्भर होने के कारण, उन्हें विस्तार करने पर अधिक हानियां होने की सम्भावना हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त उस सीमा को ज्ञात करना भी कठिन होता है जहां से ऐच्छिक बचत की सीमा समाप्त होकर साख सृजन का कार्य प्रारम्भ हो जाता है।

(3) सम्पन्नता को स्पष्ट करने में असमर्थ—मन्दी के पश्चात् जो सम्पन्नता की अवस्था प्रारम्भ होती है उसे स्पष्ट करने में यह सिद्धान्त असमर्थ है।

(4) साख विस्तार हानिप्रद सम्बन्धी गलत धारणा—इस सिद्धान्त मे यह माना गया है कि बैंको द्वारा साख विस्तार करने से अर्थव्यवस्था को सदैव हानि का सामना करना पड़ेगा। परन्तु वास्तव मे ऐसा नही है क्योंकि साख विस्तार के साथ-साथ व्यापारिक क्रियाओ मे भी वृद्धि होती है।

(5) बचत व विनियोग में सन्तुलन का अभाव—इस सिद्धान्त मे यह माना गया है कि बचत एवं विनियोग मे प्राय: सन्तुलन बना रहता है। परन्तु वास्तव मे ऐसा सम्भव नही हो पाता।

4. राबर्टसन का सिद्धान्त (Theory of Robertson)—प्रो० राबर्टसन ने व्यापार-चक्र का प्रमुख कारण वास्तविक व्यय एव वास्तविक माग के उन परिवर्तनों को बताया, जिनके आधार पर आर्थिक प्रगति अनियमित गति से होने लगती है। मजदूरी एवं मुद्रा प्रणाली के संस्थागत कारण आर्थिक प्रगति के मार्ग मे होने वाले उच्चावचनों को अनुपयुक्त बना

देते हैं। मजदूरी प्रणाली में उत्पादन में वृद्धि करने हेतु ऊँची कीमत की प्रेरणा दी जाती है, जिसका प्रभाव साहसी वर्ग पर पड़ता है और मजदूरी में वृद्धि तुरन्त न होकर थोड़े समय के पश्चात् ही होती है। इसी प्रकार जब उत्पादन का संकुचन किया जाता है तो मजदूरी में कमी तुरन्त न होकर बाद में जाकर होती है। इस प्रकार मजदूरी में मूल्यों के साथ-साथ वृद्धि या कमी न होने से अभिवृद्धि काल में लाभ सम्भावनाएं बढ़ जाती हैं तथा संकुचन काल में यह सम्भावनायें कम हो जाती हैं। साहसी द्वारा अधिक लाभ होने की सम्भावना मात्र से कच्ची सामग्री एवं श्रमिकों पर अधिक व्यय किया जाता है जिससे समाज की मौद्रिक आय में वृद्धि हो जाती है। इसके लिए धन की व्यवस्था साहसी द्वारा स्वयं अपने साधनों एवं बैंकों से साख विस्तार के माध्यम से की जाती है।

राबर्टसन ने व्यापार-चक्रों का सम्बन्ध मुख्यतः बैंकिंग पद्धति से जोड़ा है। यदि किसी वर्ष फसल अच्छी हो जाये तो बैंक उत्पादकों को अल्पकालीन ऋण देने की व्यवस्था करता है। अच्छी फसल के कारण अन्य उद्योग भी पनपने लगते हैं और वह भी बैंकों से अल्पकालीन ऋण की मांग करते हैं और उससे अल्पकालीन ऋणों की मांग में स्वतः ही वृद्धि हो जाती है। यदि बैंकों द्वारा दिये गये ऋणों या साख विस्तार के साथ-साथ उद्योगों के उत्पादन में भी वृद्धि हो जाती है तो वस्तुओं के मूल्य ऊंचे नहीं हो पाते। परन्तु व्यवहार में यह सम्भव नहीं होने से मूल्य स्तर में वृद्धि होती है। मूल्यों में वृद्धि के फलस्वरूप साहसी उत्पादन बढ़ाने हेतु और अधिक ऋण की मांग करते हैं जिससे भविष्य में और अधिक ऊंचे मूल्यों पर माल बेचा जा सके। इस समय तक मांग में इतनी अधिक वृद्धि हो जाती है कि देश के कारखाने एवं परिवहन सेवाएं उसे पूर्ण करने में असमर्थ रहते हैं। भविष्य में मूल्यों के बढ़ने के भय से स्टाक में वृद्धि करना प्रारम्भ हो जाता है, इससे मूल्यों में और वृद्धि हो जाती है। परन्तु बैंक भी एक निश्चित सीमा तक ही साख विस्तार कर पाते हैं तथा जैसे ही साख-विस्तार को रोकते हैं, भविष्य में मूल्यों के गिर जाने के डर से व्यापारी अपना स्टाक बेचना प्रारम्भ कर देते हैं जिससे साहसी क्रमशः ब्याज दर कम होने पर भी ऋण लेने में हिचकिचाते हैं। कालान्तर में ऋण की मांग भी कम होती जाती है और बैंकों के पास नकद संचय बढ़ जाते हैं जिससे उन्हें फिर से साख विस्तार की अनुकूल दशाएं उत्पन्न होकर व्यावसायिक क्रिया के विस्तार का अवसर प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार बैंकिंग प्रणाली प्रत्यक्ष रूप से व्यापार-चक्रों को जन्म व प्रोत्साहित करती हैं।

आलोचनाएं—इस सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनाएं निम्न प्रकार हैं।

(1) परस्पर विरोधी तर्क—यह सिद्धान्त कारण एवं परिणाम के सम्बन्ध में परस्पर विरोधी तर्कों को प्रस्तुत करता है, क्योंकि सिद्धान्त में यह माना गया है कि मांग में वृद्धि किये बिना ही पुनरोद्धार की स्थिति को प्राप्त किया जा सकता है, जबकि वास्तव में अर्थव्यवस्था का विकास किये बिना मांग में वृद्धि करना सम्भव नहीं होता।

(2) तेजी टूटने सम्बन्धी गलत धारणा—सिद्धान्त में यह माना गया है कि ब्याज दर में वृद्धि करके ही तेजी की स्थिति को रोका जा सकता है। परन्तु वास्तव में देश की अर्थव्यवस्था में तेजी को तोड़ने के लिए ब्याज दर को बढ़ाना आवश्यक नहीं माना जाता, क्योंकि ब्याज दर में वृद्धि प्रायः मुद्रा की मांग में वृद्धि होने के कारण आती है।

(3) वास्तविक तथ्यों से पृथक—वास्तविक तथ्यों के आधार पर इस सिद्धान्त की पुष्टि सम्भव नहीं हो पाती। व्यवहार में यह पाया गया है कि अच्छी फसलें होने पर तेजी के स्थान पर मन्दी का आगमन ही होता है जबकि इस सिद्धान्त में यह माना गया है कि अच्छी फसलें होने पर उत्पादक संग्रह करना प्रारम्भ कर देंगे जिससे तेजी ही आयेगी।

(4) अवास्तविक मान्यताएं—यह सिद्धान्त व्यवहार में लागू नहीं होता और इसका लागू करना कुछ अवास्तविक मान्यताओं पर ही आधारित माना गया है जैसे यह कल्पना करना कि देश की औद्योगिक संस्थाएं अपनी पूर्ण कार्यक्षमतानुसार कार्य कर रही हैं तथा यह मानना कि देश के समस्त विनियोग साधन पूर्णरूप से कार्य कर रहे हैं, कोरी कल्पना मात्र है, जो व्यवहार में लागू नहीं होती, जिससे सिद्धान्त भी काल्पनिक समझा जाता है।

5. कीन्स का बचत व विनियोग सिद्धान्त (Saving and Investment Theory of Keynes)—कीन्स का व्यापार-चक्र सम्बन्धी बचत एवं विनियोग का सिद्धान्त रोजगार एवं मुद्रा सिद्धान्त का ही एक भाग है। सामान्य सिद्धान्त द्वारा निकाले गये वे निष्कर्ष जो व्यापार-चक्र सिद्धान्त के लिए लागू किये गये हैं, निम्न प्रकार हैं :

(1) कुल मांग में कम वृद्धि—समाज में कुल आय की वृद्धि के साथ-साथ यह पूर्णरूपेण सम्भावना बनी रहती है कि पूर्ति की तुलना में कुल मांग में अपेक्षाकृत कम वृद्धि हो। मांग में वृद्धि होने से रोजगार की समस्या उत्पन्न हो जाती है, जिसे सुधारने के लिए सरकारी स्तर पर विनियोग में वृद्धि करना आवश्यक होगा।

(2) गुणक प्रभाव—गुणक प्रभाव के क्रियाशील होने के कारण विनियोग की मामूली-सी वृद्धि आय एवं रोजगार में कई गुनी वृद्धि कर देती है।

(3) विनियोग में वृद्धि—देश में बेरोजगारी में वृद्धि हो जाने पर उसे सुधारने के लिए मजदूरी में कमी करनेके स्थान पर विनियोगों मे वृद्धि करनी चाहिए।

(4) ब्याज दर—देश मे प्राय पूंजी की बचत एवं उसके विनियोग करने से ब्याज की दर पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ पाता।

जिस प्रकार पूर्ण रोजगार तीन बातो पर निर्भर करताहै, उसी प्रकार व्यापार-चक्रके लिए कीन्स ने तीन कारणो को ही विशेष महत्त्व दिया है, जो कि निम्नलिखित हैं—

(i) पूंजी की तरलता (Liquidity of Capital)

(ii) पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता (Marginal Efficiency of Capital)

(iii) उपभोग की प्रवृत्ति (Propensity to Consume)

व्यापार-चक्र सिद्धान्त मे ब्याज दर के स्थान पर पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता पर अधिक ध्यान दिया गया है। कीन्स के अनुसार व्यापार चक्र पूंजी की सीमान्त कुशलता के चक्रिक परिवर्तन के परिणामस्वरूप उत्पन्न हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त विनियोग गुणक (Investment multiplier) भी व्यापार-चक्र के आगमन मे सहायता प्रदान करते हैं।

कीन्स के व्यापार-चक्र की व्याख्या संकटकाल से प्रारम्भ होती है। देश की अर्थव्यवस्था मे सकट का प्रमुख कारण पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता मे कमी होना है। मन्दी के समय पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता प्राय. अधिक होती है, क्योंकि (i) इस काल मे पूंजीगत वस्तुओ को बदलना आवश्यक हो जाता है, (ii) प्राय: संचित की गई चल-सम्पत्ति समाप्त हो जाती है, एव (iii) नवीन आविष्कारो को प्रेरणा प्राप्त होती है। मन्दी के दिनो मे ब्याज दर भी कम हो जाती है क्योंकि बैंको के पास मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि हो जाती है, तथा जनता को द्रव्यता पसन्दगी में भी कमी आ जाती है। इस प्रकार देश मे विनियोग, उत्पादन एव आय मे वृद्धि होकर माग मे वृद्धि होने लगती है, फलस्वरूप व्यापार का विस्तार एवं विनियोग मे और अधिक वृद्धि होने लगती है। विनियोग गुणक तेजी की स्थिति उत्पन्न करके मूल्य मे वृद्धि करने की स्थिति को उत्पन्न करता है। तेजी काल मे व्यवसायी की आशायें बहुत अधिक होती हैं, जिन पर ब्याज एवं उत्पादन व्यय की वृद्धि का भी कोई प्रभाव नही पडता है। इससे पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता कम हो जाती है तथा ब्याज दर बढ जाती है व विनियोग मे कमी होने लगती है व अवसाद का काल प्रारम्भ हो जाता है। संकट के पश्चात् प्राय नवीन विनियोग अवरुद्ध हो जाते हैं जिससे अनिर्मित माल का स्टॉक जमा हो जाता है तथा उत्पादन मे कमी व पूंजी मात्रा भी कम होती जाती है। इस प्रकार एक बार मन्दी प्रारम्भ होने पर, वह बढती ही जाती है। मन्दी व तेजी का यह क्रम चलता ही रहता है जो व्यापार-चक्र को जन्म देता है। तेजी की स्थिति अधिक समय तक नही रह पाती क्योंकि व्यवसायियो के पास आशा से अधिक माल इकट्ठा हो जाता है, जिससे मूल्य कम किये जाते हैं, जबकि दूसरी ओर उनके उत्पादन व्यय बढ जाते हैं, फलस्वरूप पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता मे कमी होकर विनियोग मे कमी हो जाती है। दूसरी ओर जनता मे द्रव्यता पसन्दगी बढ जाने से ब्याज दर मे वृद्धि हो जाती है जो स्थिति को और अधिक गम्भीर बना देती है। एक बार ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाने पर उसमें और तीव्रता हो जाती है और विनियोग गुणक विपरीत दिशा में कार्य करके मूल्यो मे कमी की ओर प्रभाव डालने लगते हैं।

कीन्स की यह मान्यता है कि व्यापार-चक्रो का मुख्य कारण बचत एवं विनियोग के मध्य अन्तर होता है। गुणक सिद्धान्त के आधार पर यह अन्तर और अधिक गहन हो जाता है और यह क्रम उस समय तक चलता रहता है जब तक कि वह तेजी के शिखर या मन्दी की गहनता तक न पहुच जाये।

कीन्स ने मन्दी के निवारणार्थ सस्ती मुद्रा नीति को अपनाने का सुझाव दिया। इसी प्रकार तेजी को रोकने के लिए बैंक मुद्रा सकुचन पर जोर दिया। कीन्स ने व्यापार-चक्र का कारण आशावाद एवं निराशावाद का क्रमिक आना जाना माना, जो स्वय मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त पर आधारित होता है। मन्दी का कारण न्यून उपभोग बताया गया व बेकारी का सम्बन्ध अति-बचत से लगाया गया। विनियोग की प्रवृत्ति मे बचत की प्रवृत्ति हो जाने पर मन्दी आती है तथा विनियोग की प्रवृत्ति मे वृद्धि होने पर वृद्धि काल आ जाता है। बचत एवं विनियोग समान होने पर ही व्यापार-चक्र को रोका जा सकता है।

आलोचनायें—इस सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनायें निम्न हैं।

(1) **कारण बताने में असमर्थ**—सिद्धान्त मे इस बात पर ध्यान नही दिया गया कि व्यापार-चक्र सदैव एक निश्चित समय पर ही क्यों आते हैं और उनके आने के निश्चित मार्ग ही क्यो बने हुए हैं।

(2) **पूंजी की सीमान्त उत्पादकता**—सिद्धान्त मे पूजी की सीमान्त उत्पादकता पर ही अधिक जोर दिया गया है जो सदैव साहसियों के निर्णय को प्रभावित करके विनियोग की मात्रा मे कमी या वृद्धि करता है। कीन्स ने विनियोगों की मनोवृत्ति पर ही पूंजी की सीमान्त उत्पादकता को निर्भर माना है, जो स्वयं में कोई नवीनता न होकर पीगू के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त पर ही आधारित माना गया है।

(3) **विनियोग का ब्याज दर पर अनुचित प्रभाव**—कीन्स ने अपने सिद्धान्त मे इस बात पर जोर दिया कि ब्याज की दर मे कमी करके मन्दी पर नियन्त्रण लगाकर पुनर्जीवन की स्थिति को प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु आलोचको का मत है कि केवल ब्याज की दर मे कमी करने से ही विनियोगों की मात्रा मे वृद्धि करना सम्भव नही है। प्राय: विनियोगो की मात्रा ब्याज दर के स्थान पर लाभ अर्जित करने की मात्रा पर निर्भर करती है। यदि भविष्य मे लाभ होने की सम्भावनायें हैं, तो ब्याज दर अधिक होने पर भी विनियोग की मात्रा मे वृद्धि हो जाती है। इसके विपरीत यदि लाभ की सम्भावनाएं नहीं हैं तो ब्याज दर कम होने पर भी विनियोगो की मात्रा मे वृद्धि सम्भव नही होगी।

(4) **परिवर्तन क्रम की व्याख्या करने में असमर्थ**—कीन्स का सिद्धान्त व्यापार-चक्र मे आने वाले परिवर्तन के क्रम की व्याख्या करने मे असमर्थ रहता है, जिससे यह सिद्धान्त लोचदार बन जाता है।

(5) **वृहत विचारों का प्रयोग**—कीन्स के सिद्धान्त मे वृहत् अर्थशास्त्रीय विचारो का प्रयोग करके सिद्धान्त को अधिक व्यापक बनाया गया है।

(6) **व्यापार-चक्रों के आधार का अभाव**—कीन्स का सिद्धान्त व्यापार-चक्रो के आधार की व्याख्या करने में असमर्थ रहता है। यह सिद्धान्त मुद्रा प्रसार एवं अवसाद को दूर करने के उपाय बताता है।

(7) **अभिवृद्धि को स्थिर रखने की गलत मान्यता**—कीन्स ने यह माना कि अभिवृद्धि को बनाये रखना सम्भव है परन्तु व्यवहार में यह देखा गया कि अभिवृद्धि को स्थिर करने के प्रयत्न करना भी व्यर्थ था। उचित यही माना गया कि व्यापार-चक्रो की बुराइयो को ही दूर करने के प्रयत्न करना चाहिए।

6. व्यापार चक्र का मकड़ी वाला प्रमेय (Cobweb Theorem of Trade Cycles)—इस सिद्धान्त का निर्माण नीदरलैण्ड के शूल्टज (Schultz), इटली के अम्बर्टो रिक्की (Umberto Ricci) एवं अमरीका के टिनबर्जन ने एक दूसरे से पृथक रहकर स्वतन्त्र रूप से किया। इस सिद्धान्त मे यह बताया गया कि एक काल के मूल्यों के उच्चावचन अगले काल की उपज की मात्रा मे किस प्रकार उच्चावचन उत्पन्न करके एक नवीन कीमत स्तर का निर्माण करते हैं। इसी प्रकार यह नवीन मूल्य स्तर के उच्चावचन अगले काल के उत्पादन मे उच्चावचन उत्पन्न करके फिर से नवीन मूल्य स्तर का निर्माण करते हैं। इस प्रकार यह क्रम निरन्तर चलता ही रहता है।

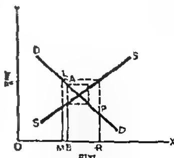
इस सिद्धान्त को रेखाचित्र द्वारा प्रदर्शित करने पर मकड़ी के जाले वाले जैसा चित्र बनने के कारण इसका नाम मकड़ी जाले का व्यापार-चक्र सिद्धान्त रखा गया है। देश मे मूल्यों व उत्पादन के समायोजन के फलस्वरूप जो मकड़ी के जालों का निर्माण होता है, उसे तीन वर्गों मे रखा जा सकता है जो निम्न प्रकार है।

(अ) मिलनशील जाल (Convergent Cobweb)

(ब) विपरीत दिशा वाला जाल (Divergent Cobweb)

(स) निरन्तर जाल (Continuous Cobweb)

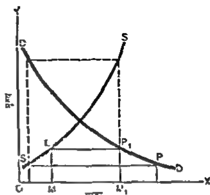
(अ) **मिलनशील जाल**—मांग की तुलना मे यदि पूर्ति कम लोचदार हो जाये तो मिलनशील मकड़ी जाल बनते हैं। इसमे मूल्यो के समान परिवर्तन के कारण मांग की तुलना मे पूर्ति की मात्रा में अधिक व विशाल उच्चावचन होते हैं और मूल्य व उपज दोनों की रेखाएं अन्दर की ओर जाकर मुड़ जाती हैं। इस प्रकार प्रत्येक आगे आने वाला मकड़ी जाल पहले की तुलना मे अधिक संकीर्ण व संकुचित हो जाता है। जैसा कि चित्र 11.7 में दिखाया गया है। इसमे दिखाया गया है कि उत्पादन अधिक होने पर (PR) मूल्य कम हो जाता है जिससे उत्पादन घटता है



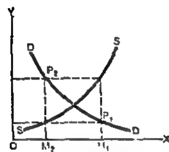
चित्र 11.7

और उसमें मूल्य फिर बढ़ जाता है।

(ब) विपरीत दिशा वाला जाल—इस अवस्था में प्रत्येक अवस्था पर मूल्य एवं उत्पादन का पतन होता जाता है और उसके परिणामस्वरूप प्रत्येक आगे आना वाला जाला पहले की तुलना में अधिक बड़ा होता जाता है तथा विपरीत दिशा की ओर बढ़ता जाता है। जब बाजार में मांग की अपेक्षा पूर्ति अधिक लोचदार होती है, उस समय ऐसा विपरीत दिशा वाला मकड़ी का जाला बन जाता है। इसमें प्रत्येक जाला बड़े से बड़ा होने के प्रयास में विपरीत दिशा में ही फैलता है। जैसा कि चित्र 11.8 से स्पष्ट है। इस चित्र में LM उत्पादन करने से मूल्य $P_1 M_1$ हो जाता है और उत्पादन घटाने पर मूल्य बढ़ जाता है।



चित्र 11.8



चित्र 11.9

(स) निरन्तर जाल—जब मांग एवं पूर्ति की लोच समान हो तथा मांग पूर्ति की अपेक्षा विपरीत दिशा में हो तो निरन्तर मकड़ी जाल का निर्माण होता है। इसमें आरम्भ में कुछ समायोजन किये जाते हैं, परन्तु उन समायोजनों के पश्चात् व्यापार-चक्र फिर से पुनरावर्तन करके एक ही मार्ग पर घूमकर फिर से मूल्यों एवं उत्पादन सम्बन्धी क्रम व्यवस्था को दिखाता रहता है और यह क्रम निरन्तर चलता ही रहता है। जैसा कि चित्र 11.9 से स्पष्ट है। उत्पादन OM_1 करने पर मूल्य P_1M_1 होगा तथा उत्पादन (OM_2) कम करने पर मूल्य बढ़कर P_2M_2 होगा। अतः प्रत्येक अगली अवधि में चक्र चलता रहता है और आर्थिक प्रणाली नियमित चलती रहती है।

आलोचना—इस सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनाएं निम्न हैं।

(1) गलत मान्यता पर आधारित—यह सिद्धान्त इस बात पर निर्भर करता है कि गत वर्ष मूल्यों की स्थिति क्या थी। परन्तु वास्तव में उत्पादन सम्बन्धी निर्णय कभी भी इस बात पर निर्भर नहीं होते हैं।

(2) सिद्धान्त की सीमाएं—इस सिद्धान्त की प्रमुख सीमाएं निम्न प्रकार हैं—

(i) उपज कीमत पर निर्भर—यह सिद्धान्त पूर्ण प्रतियोगिता की भांति केवल उसी समय लागू होता है जबकि उपज पूर्ण रूप से केवल मूल्यों से ही प्रभावित हो।

(ii) गत वर्ष [illegible] उत्पादन में परिवर्तन न होना—सिद्धान्त में यह माना गया है कि गत वर्ष के बीतने से पूर्व उत्पादन में कोई परिवर्तन नहीं हो पाता।

(iii) मूल्य पूर्ति द्वारा प्रभावित—यह सिद्धान्त केवल उन परिस्थितियों में ही लागू होता है जबकि मूल्य केवल पूर्ति द्वारा ही प्रभावित हुआ हो।

वास्तव में इन तीनों में से कोई भी बात व्यवहार में लागू नहीं होती है और यह मान्यताएं केवल कोरी कल्पना मात्र हैं।

(3) निष्कर्ष भ्रमात्मक—यह सिद्धान्त गलत एवं भ्रमात्मक निष्कर्षों पर आधारित है। इस सिद्धान्त में यह बताया गया है कि विपरीत दिशा वाला जाल सदैव बना रहता है और इसका एक ऐसा क्रम बन जाता है जो लम्बे काल तक चलता रहता है। परन्तु यह मान्यता सामान्य अनुभव एवं वास्तविकता के विरुद्ध है। व्यवहार में पाया गया है कि उत्पादक एक वर्ष लाभ तो अगले वर्ष हानि उठाते हैं, फलस्वरूप कुछ उत्पादक दिवालिया हो जाते हैं और इस प्रकार निरन्तर जाल समाप्त हो जाता है।

(4) असन्तोषप्रद व्याख्या—यह सिद्धान्त व्यापार-चक्रों की सन्तोषप्रद व्याख्या करने में असमर्थ रहता है क्योंकि

मूल्यो पर आय, रुचि, फैशन तथा अन्य पूरक व प्रतियोगी वस्तुओं की कीमत का भी प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार मूल्यो को सरकार द्वारा भी नियन्त्रित किया जा सकता है।

7. टिनबर्जन का व्यापार-चक्र सिद्धान्त (*Tinbergen's Theory of Trade Cycle*)—टिनबर्जन का व्यापार-चक्र सिद्धान्त मन्दी काल से प्रारम्भ हुआ माना जाता है। मन्दी काल मे निम्न उत्पादन स्तर, निम्न कीमतें, एवं बेरोजगारी आदि पाई जाती हैं। यह निम्न स्तर थोड़े काल तक बना रहता है और उसके बाद साहसी अनुकूल विकासों पर अधिक ध्यान देता है। इसके अनुकूल परिस्थितियाँ धीरे-धीरे अपने आप विकसित हो जाती हैं जिसमे उत्पत्ति के साधनो का पुनर्स्थापन, श्रमिक की उत्पादकता मे वृद्धि, लाभ की मात्रा व दरों में वृद्धि नवीन घटनाओं का घटित होना, परिकल्पनात्मक आय का शून्य हो जाना, मजदूरी व बट्टा दरों का गिर जाना आदि सम्मिलित है। इस प्रकार शनै-शनै पुनरुद्धार का काल प्रारम्भ हो जाता है और आर्थिक अर्थव्यवस्था अभिवृद्धि की ओर अग्रसित होने लगती है।

पुनरोद्धार मे एक बार अभिवृद्धि की स्थिति प्रारम्भ हो जाने पर धीरे-धीरे वह यह बल पकड़ती जाती है जिससे आय एव लाभ मे वृद्धि होने लगती है। बाजार मे माग में यकायक वृद्धि होने लगती है, जिससे मूल्यो मे भी वृद्धि होकर आय बढ जाती है। मूल्यों मे वृद्धि होने से मजदूरी एवं पूजी की माग मे वृद्धि होकर तरल साधनो का अधिकतम मात्रा में उपयोग किया जाता है। पूजी की माग को प्रारम्भ मे अल्पकालीन साख द्वारा पूर्ण किया जायेगा जिसमे अल्पकालीन ब्याज की दरें ऊपर होंगी। धीरे-धीरे लाभ बढने के साथ-साथ उत्पादन एवं स्टाक मे वृद्धि होगी व अभिवृद्धि काल का आगमन होगा। इस काल में ऊचा उत्पादन, ऊंची आय, ऊची कीमतें होकर बेरोजगारी मे कमी हो जायेगी। यह स्थिति धीरे-धीरे शिखर तक पहुचकर आगे उत्पादन का विस्तार सम्भव नहीं हो सकेगा क्योकि एक ओर तो बैंक अपनी साख नीति के अन्तर्गत साख का राशनिंग करना प्रारम्भ कर देते हैं तथा दूसरे पर्याप्त मात्रा मे श्रम उपलब्ध नही हो पाता। पूजी की मात्रा में वृद्धि होने से लाभ दर पर विपरीत प्रभाव पड़ता है तथा परिकाल्पनिक आय घटने लगती है, श्रम की उत्पादकता घटकर देश की अर्थव्यवस्था पर विपरीत प्रभाव पड़ने लगते हैं। इस दिशा में अर्थव्यवस्था विपरीत दिशा में मुड जाती है तथा यहीं से उसका पतन शीघ्र गति से होने लगता है। यह क्रम निरन्तर बढ़ते हुए वेग से आगे बढता है तथा विनियोग व आय घटती जाती है। इस प्रकार यह घटनाए क्रमिक गति से बढ़ती रहती हैं और मन्दी के पश्चात् पुनरोद्धार व तेजी के बाद फिर मन्दी का क्रम निरन्तर चलता रहता है तथा व्यापार-चक्र दिखाई देने लगते हैं।

व्यापार-चक्र के विभिन्न सिद्धान्तों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि व्यापार-चक्रों की समस्या जटिल है तथा इसका कोई पूर्णरूपेण सिद्धान्त बनाना कठिन है। व्यापार-चक्र अनेक समस्याओं को उत्पन्न करते हैं, जिनके अध्ययन के लिए पर्याप्त तथ्यों एवं आकड़ों की आवश्यकता होती है। व्यापार-चक्र एक प्राकृतिक एवं क्रमिक प्रक्रिया का रूप धारण कर चुका है तथा इसका निदान करना तो असम्भव है, परन्तु इसकी गहनता को रोका जा सकता है और अर्थव्यवस्था में आर्थिक विकास को प्रोत्साहित किया जा सकता है। विश्व के विकासशील राष्ट्रों को इस ओर विशेष रूप से ध्यान देना आवश्यक है।

12

मौद्रिक एवं प्रशुल्क नीतियां
(MONETARY AND FISCAL POLICIES)

प्रारम्भिक—निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए मुद्रा की मात्रा के संकुचन एवं विस्तार को मौद्रिक नीति के नाम से जानते हैं। वर्तमान समय में साख एवं मुद्रा का महत्त्व काफी बढ़ जाने से उसकी मात्रा का नियमन एवं नियंत्रण करना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार देश की आर्थिक अर्थव्यवस्था में मौद्रिक नीति का प्रत्यक्ष सम्बन्ध बैंक साख के संकुचन एवं विस्तार से लगाया जाता है, क्योंकि बैंक साख की सहायता से ही द्रव्य या मुद्रा का निर्माण होता है। अतः सरकार की मौद्रिक नीति का मुख्य उद्देश्य बैंक साख को नियंत्रण करना होता है, जिसे केन्द्रीय बैंक के माध्यम से कार्यान्वित किया जाता है। मुद्रा की मात्रा को घटाना या बढ़ाना सरकार व केन्द्रीय बैंक की क्रियाओं व नीतियों पर निर्भर करता है। व्यापारिक बैंकों को सरलतापूर्वक राशि देने पर साख की मात्रा में वृद्धि कर दी जाती है जिससे चलन वेग में वृद्धि होकर लेनदेन क्रियाओं एवं व्यापार में प्रगति हो जाती है। इसी प्रकार मुद्रा की उपलब्धि को दुर्लभ बनाकर उसकी माग में परिवर्तन लाया जा सकता है। अत मुद्रा प्रणाली को प्रभावित करने वाली समस्त क्रियाओं को मौद्रिक नीति में सम्मिलित कर लिया जाता है। वर्तमान समय में, मुद्रा के स्थान पर साख का महत्त्व बढ जाने से साख को भी मौद्रिक नीति का एक अत्यावश्यक अंग माना जाता है। अत. मौद्रिक नीति में मुद्रा एवं साख दोनों को ही सम्मिलित किया जाता है।

मौद्रिक नीति का महत्त्व
(Importance of Monetary Policy)

राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से, खतरों से बचने के लिए यह आवश्यक है कि मुद्रा की पूर्ति पर आवश्यक नियन्त्रण लगाया जाये। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने उत्पादन के विभिन्न अंगों—उत्पत्ति, विनिमय, वितरण आदि पर ही अधिक बल प्रदान किया तथा मौद्रिक नीति को सस्ती मुद्रा नीति का एक साधन मात्र माना जाता था। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् मौद्रिक नीति का महत्त्व काफी बढ गया तथा इसे आर्थिक नीतियों को कार्यान्वित करने एवं अमौद्रिक सुधारों को सफल बनाने के लिए एक अत्यन्त उपयुक्त एवं प्रभावकारी साधन माना जाने लगा तथा इसका महत्त्व बढ गया।

कारण—मौद्रिक नीति के महत्त्व के बढने के प्रमुख कारण निम्न हैं :

(i) सीमित प्रशुल्क उपाय—विश्व में यह भावना फैल गई कि आन्तरिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की तुलना में प्रशुल्क उपाय सीमित मात्रा में उपयोग किये जाते हैं, अत देश में आर्थिक स्थायित्व लाने के लिए मौद्रिक नीति का उपयोग करना आवश्यक समझा गया।

(ii) व्यापक मुद्रा प्रसार—द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के पश्चात् विश्वव्यापी मुद्रा प्रसार की स्थिति को नियन्त्रित करने के उद्देश्य से मौद्रिक नीति का महत्त्व बढा।

(iii) असफल मौद्रिक उपाय—राष्ट्रों में असफल मौद्रिक उपायों द्वारा कीमतों की वृद्धि में असमर्थता आने से मौद्रिक नीति को अपनाया जाना नितान्त आवश्यक समझा गया।

(iv) सरकार की असमर्थता—देश में आर्थिक स्थायित्व लाने में सरकार की असमर्थता के कारण भी मौद्रिक

नीति के महत्व में वृद्धि हुई।

(v) आर्थिक प्रगति—देश में आर्थिक प्रगति लाने के उद्देश्य से भी मौद्रिक नीति को अपनाया जाना आवश्यक समझा गया।

मौद्रिक नीति का क्षेत्र
(Scope of Monetary Policy)

मौद्रिक नीति को एक साधन मानकर इसका उपयोग उद्देश्य विशेष की पूर्ति के लिए ही किया जाता है। देश में विभिन्न परिस्थितियों एवं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए समान नीति का अपनाया जाना सम्भव नहीं होता। कुछ परिस्थितियों में मौद्रिक नीति प्रभावहीन भी सिद्ध हो जाती है। पिछड़ी एवं गतिहीन अर्थव्यवस्था में, जहां मौद्रिक नीति को सहायता प्रदान करने वाले तत्वों का अभाव पाया जाता हो, वहां पर मौद्रिक नीति का प्रभाव भी न्यूनतम माना जायेगा। इसी प्रकार जिस राष्ट्र में विनियोग, वितरण व उत्पादन की व्यवस्था सरकार के हाथों में केन्द्रित हो, वहां भी मुद्रा नीति को प्रभावशाली ढंग से प्रयोग नहीं किया जा सकता है। वास्तव में एक स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था में ही मुद्रा नीति का उपयोग वास्तविक रूप से किया जा सकता है। एक स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था में पूंजी को मुद्रा एवं साख की मात्रा द्वारा ही प्रभावित किया जा सकता है जिसके लिए उपयुक्त मौद्रिक नीति का पालन करना आवश्यक माना जाता है। इस प्रकार स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था के अतिरिक्त अन्य सभी अर्थव्यवस्थाओं में मौद्रिक नीति का क्षेत्र सीमित होता है।

मौद्रिक नीति के उद्देश्य
(Objects of Monetary Policy)

मौद्रिक नीति के उद्देश्यों में समय एवं परिस्थितियों के आधार पर परिवर्तन होते रहते हैं। मैकमिलन समिति 193[illegible] का विचार था कि वस्तु-मूल्यों के नियमन में सरकारी बैंक की नीति का कोई भी महत्वपूर्ण स्थान नहीं है। वर्तमान समय में इस धारणा को सत्य नहीं माना जाता क्योंकि मूल्यों के उतार-चढ़ाव को रोकने के लिए केन्द्रीय बैंक की क्रियाओं को भी आवश्यक माना गया है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए 'चुने साख नियन्त्रणों' (selective credit controls) का उपयोग किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों में समानता लाने के लिए मुद्रा अधिकारियों का कोई दायित्व नहीं समझा जाता था, परन्तु वर्तमान समय में इस विचारधारा में परिवर्तन कर दिया गया है तथा मुद्रा अधिकारियों को यह अनिवार्य रूप माना जाने लगा है। इसी प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व रोजगार प्राप्त करने में मौद्रिक नीति का कोई महत्व नहीं था, परन्तु बाद में परिस्थितियों के आधार पर यह कहा जाने लगा कि रोजगार की प्राप्ति में मौद्रिक नीति एक महत्वपूर्ण योगदान देती है। इस प्रकार मौद्रिक नीति के प्रमुख उद्देश्य निम्न प्रकार हैं—(i) आन्तरिक मूल्यों में स्थायित्व। (ii) पूर्ण रोजगार प्राप्त करना। (iii) वास्तविक आय व रोजगार का उच्च स्तर प्राप्त करना। (iv) विनिमय दरों में स्थायित्व लाना। (v) व्यापारिक क्रियाओं में स्थायित्व लाना। (vi) निष्पक्ष मौद्रिक नीति। (vii) अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान सन्तुलन। (viii) आर्थिक विकास।

मौद्रिक नीति के उद्देश्यों को निम्न चार्ट द्वारा भी दिखाया जा सकता है—

मौद्रिक नीति के उद्देश्य

- आन्तरिक मूल्यों में स्थायित्व
- पूर्ण रोजगार प्राप्त करना
- वास्तविक आय व रोजगार का उच्च स्तर
- विनिमय दरों में स्थायित्व
- व्यापारिक क्रियाओं में स्थायित्व
- निष्पक्ष मौद्रिक नीति
- अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान सन्तुलन
- आर्थिक विकास

(i) आन्तरिक मूल्यों में स्थायित्व—देश के आर्थिक विकास को ध्यान में रखते हुए आर्थिक कल्याण में वृद्धि करने एवं अर्थव्यवस्था में स्थायित्व स्थापित करने के उद्देश्य से मूल्य-स्तर में स्थायित्व लाना आवश्यक माना गया। प्रायः

यह अनुभव किया जाता है कि आन्तरिक मूल्य-स्तर मे होने वाले परिवर्तनो से देश के अन्य विभिन्न विभागो में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन आ जाते हैं जिससे आर्थिक व सामाजिक व्यवस्था मे उचित समायोजन सम्भव नही हो पाता। आन्तरिक मूल्यो में स्थिरता लाने से विनिमय दरो मे भी स्थायित्व लाया जा सकता है। अतः मौद्रिक नीति का प्रधान उद्देश्य आन्तरिक मूल्यों मे स्थायित्व लाना था।

(ii) पूर्ण रोजगार प्राप्त करना—मौद्रिक नीति का प्रमुख उद्देश्य देश में रोजगार को प्राप्त करके उसे स्थायी बनाना है। जब चालू मजदूरी पर काम करने के इच्छुक व्यक्तियों को कार्य उपलब्ध रहें तो उस स्थिति को पूर्ण-रोजगार की स्थिति कहेंगे। पूर्ण रोजगार मानवीय कल्याण को अधिकतम सीमा तक बढाने का एक साधन माना जाता है, अतः यह आवश्यक है कि साधनों के प्रयोग मे अधिकतम कुशलता का उपयोग किया जाये जिससे पूर्ण रोजगार के अवसरों को प्राप्त किया जा सके। देश में आर्थिक क्रियाओ मे वृद्धि करके पूर्ण रोजगार की सीमा को प्राप्त करने के प्रयास करने चाहिए। देश की मौद्रिक नीति का उपयोग इस प्रकार से करना चाहिए कि चालू विनियोगों की मात्रा चालू बचत की अपेक्षा अधिक हो, इसके लिए साख मुद्रा अथवा चलन गति मे वृद्धि लाई जा सकती है। देश मे पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त होने पर विनियोग एवं बचत में सन्तुलन स्थापित करना चाहिए। अतः मौद्रिक नीति का उद्देश्य पूर्ण रोजगार के स्तर पर विनियोग एवं बचत मे सन्तुलन स्थापित करना होना चाहिए।

(iii) वास्तविक आय व रोजगार का उच्च-स्तर—मौद्रिक नीति का उद्देश्य वास्तविक आय एवं रोजगार के उच्च-स्तर को प्राप्त करना होना चाहिए व साथ ही इनमे पूर्ण समन्वय स्थापित करना चाहिए। इस सम्बन्ध मे अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग का उदाहरण दिया जा सकता है जिसने रोजगार एवं वास्तविक आय के उच्च स्तर को बनाये रखने के प्रयास किये। इसी प्रकार राष्ट्रीय स्तर पर यह घोषित किया गया कि आर्थिक नीति का आधारभूत उद्देश्य भविष्य मे देश की अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार को बनाये रखना है। इस प्रकार प्रशुल्क, मौद्रिक एवं अन्य प्रकार के आर्थिक हस्तक्षेप करने के सभी साधनो को इस उद्देश्य की प्राप्ति मे ही प्रयोग किया जाता है।

(iv) विनिमय दरों मे स्थायित्व लाना—मौद्रिक नीति का उद्देश्य विनिमय दरो में स्थायित्व लाना है। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए ही 1914 तक विश्व में स्वर्णमान पद्धति को अपनाया गया तथा 1825-31 की अवधि में इसे विभिन्न रूपो मे प्रयोग किया गया। उस समय यह भावना प्रचलित थी कि विनिमय दरों में स्थायित्व लाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सफल सचालन करना आवश्यक है। अतः मौद्रिक नीति का उपयोग विनिमय दरो मे स्थायित्व लाने के लिए किया जा रहा है।

(v) व्यापारिक क्रियाओं में स्थायित्व—व्यापारिक क्रियाओ मे स्थिरता लाने के लिए केन्द्रीय बैंक सहयोग प्रदान करती है। व्यापारिक स्थिरता के माध्यम से मानव जाति का पूर्ण एवं निरन्तर विकास करने के प्रयास किये जाते हैं। मौद्रिक नीति की सहायता से मन्दी एवं तेजी काल मे बेकार पडे साधनों का पूर्ण उपयोग एवं साधनों का अत्यधिक प्रयोग सम्भव हो सकता है। इस प्रकार उत्पत्ति के विभिन्न साधनों का पूर्ण उपयोग करके उत्पादन की मात्रा को अधिकतम करके समाज को अधिकतम लाभ पहुचाये जा सकते हैं।

(vi) निष्पक्ष मौद्रिक नीति—मुद्रा को उसके प्रभावो से वंचित करके पूर्ण रोजगार के स्तर पर बचत एवं विनियोग मे सन्तुलन स्थापित किया जा सकता है। देश में मुद्रा अधिकारी द्वारा ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि वस्तुओं की अदला-बदली बिना किसी कठिनाई के सरलता से सम्भव हो सके। मुद्रा द्वारा निष्पक्षता के साथ कार्य करने पर देश में अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव नहीं पडेगा। देश मे मुद्रा का सृजन करने से अनेक बुराइयां उत्पन्न हो जाती हैं जो आर्थिक ढाचे को खोखला बना देती हैं। देश मे मुद्रा की मात्रा का निष्पक्षता के स्तर से बढ जाने पर मुद्रा प्रसार हो जाता है, तथा इसके विपरीत स्थिति होने पर मुद्रा संकुचन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। निष्पक्ष मुद्रा का अर्थ मुद्रा के स्फीतिक एवं विस्फीतिक प्रभावों को कम करना है। अतः मुद्रा की मात्रा को ही पूर्णतया स्थिर रखकर मौद्रिक प्रभावो को समाप्त किया जा सकेगा।

दोष—निष्पक्ष मौद्रिक नीति के प्रमुख दोष निम्न हैं :

(अ) अपूर्ण प्रतियोगिता—यह कल्पना की गई है कि समाज मे पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति विद्यमान है तथा मूल्य स्वतः ही उत्पादन लागत से समायोजित हो जायेंगे। परन्तु वास्तव मे देश में पूर्ण प्रतियोगिता का अभाव पाया जाता

है, अर्थात् प्रायः अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति बने रहने से कीमतें उत्पादन लागत के साथ समायोजित नहीं हो पाती।

(ब) केन्द्रीय बैंक को कठिनाइयाँ—निष्पक्ष मौद्रिक नीति को कार्यान्वित करने मे देश की केन्द्रीय बैंक को अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, जैसे—

(1) संचय एवं उत्पादन मात्रा को ज्ञात करना कठिन—देश मे सचय की राशि एव उत्पादन की मात्रा को ज्ञात करना कठिन होगा।

(2) श्रमिकों द्वारा विरोध—श्रमिको द्वारा इस व्यवस्था का विरोध किया जाता है, क्योंकि उत्पादन मे वृद्धि के साथ-साथ वह अधिक मात्रा में आय प्राप्त करने की आशा रखेगा।

(3) पारिमाणिक सिद्धान्त से सम्बन्ध—इस नीति का सम्बन्ध मुद्रा के पारिमाणिक सिद्धान्त से रखा गया है जो स्वय अपूर्ण एव त्रुटिपूर्ण है।

(4) मुद्रा पर निरन्तर प्रबन्ध—देश में केन्द्रीय बैंक द्वारा मुद्रा की मात्रा का निरन्तर प्रबन्ध करने की आवश्यकता होगी, जिससे मौद्रिक आय के प्रवाह में कोई बाधा उपस्थित न हो सके। परन्तु केन्द्रीय बैंक इस कार्य में उसी समय सफल हो सकेगा, जबकि वह व्यापारिक बैंको को निक्षेप मुद्रा उत्पन्न करने व नष्ट करने की शक्ति से वंचित कर दे। देश मे मौद्रिक स्थायित्व लाने के उद्देश्य से केन्द्रीय बैंक को मुद्रा-मात्रा का नियमन करना होगा। इसी प्रकार जनसंख्या की वृद्धि होने पर मुद्रा की मात्रा को समयोजित करना होगा।

(5) मुद्रा की गति सम्बन्धी समस्यायें—देश मे असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न होने पर मुद्रा की मात्रा में गति उत्पन्न करने मे अनेक प्रकार की समस्याएं उत्पन्न होंगी।

(6) उत्पत्ति मे परिवर्तन के कारणों को ज्ञात करना कठिन—उत्पत्ति की मात्रा मे होने वाले परिवर्तन के कारणों का पता लगाना कठिन होगा, अर्थात् यह ज्ञात करना कठिन होगा कि यह परिवर्तन जनसंख्या के परिवर्तन या उद्योग में उत्पादन के घटने या बढ़ने के फलस्वरूप प्राप्त हुआ है।

(7) सन्तोषप्रद भुगतान सन्तुलन—विदेशी व्यापार मे वृद्धि करने का उद्देश्य देश की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बनाकर आवश्यक माल का आयात करना तथा भुगतान सन्तुलन की स्थिति को ठीक बनाना होता है, जिससे देश की अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव न पड़े। वर्तमान समय मे मौद्रिक नीति का प्रमुख उद्देश्य भुगतान सन्तुलन स्थिति को अनुकूल बनाना है। सन्तुलन की स्थिति बिगड़ने पर देश की विनिमय दर भी बिगड़ जाती है जिससे व्यापारिक लेनदेन मे अनेक कठिनाइयां उपस्थित हो जाती हैं तथा विदेशी व्यापार को अनेक प्रकार के खतरे उत्पन्न हो जाते हैं। प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन होने पर विदेशों से आवश्यक माल आयात करना कठिन हो जाता है। अतः मौद्रिक नीति का उद्देश्य भुगतान सन्तुलन की स्थिति को उचित-स्तर पर बनाये रखकर विनिमय दर में स्थायित्व प्राप्त करना है।

भुगतान सन्तुलन के ढंग—भुगतान सन्तुलन को अनुकूल बनाने के लिए मौद्रिक नीति का उपयोग निम्न ढंगो से किया जा सकता है :

(अ) ब्याज दर बढ़ाना—ऋण पूजी पर ब्याज दर को बढ़ाकर विदेशो से विदेशी पूजी आयात करके बैंकों मे जमा किया जा सकता है। विदेशी पूजी आयात करने से भुगतान सन्तुलन अनुकूल होकर विनिमय दर सामान्य स्तर पर आ जाती है। इसके विपरीत यदि ब्याज दर बढ़ा दी जाये तो विदेशी पूजी महगी हो जाती है तथा देश मे पूजीगत माल की मांग कम हो जाती है, आयात गिर जाते हैं, व व्यापार सन्तुलन पक्ष मे हो जाता है तथा विनिमय दर भी उचित स्तर पर बनाई रखी जा सकती है।

(ब) बैंकों की सहायता—बैंकों की सहायता से भुगतान व्यवस्था को सरल बनाकर भुगतान सन्तुलन की स्थिति को सुधारा जा सकता है, जिसके परिणामस्वरूप विदेशी लेनदेन की मात्रा को बढ़ाया जा सकता है तथा ब्याज की दर की सहायता से भुगतान सन्तुलन को पक्ष में रखा जा सकेगा।

(स) नीची विनिमय दर—देश की विनिमय दर को नीची रखकर भी आयातो को हतोत्साहित एवं निर्यातो को प्रोत्साहित किया जा सकता है। यह उपाय प्रायः अविकसित राष्ट्रों के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होंगे। देश की केन्द्रीय संस्था द्वारा निर्यातो एवं आयातों में उचित सन्तुलन स्थापित करने के प्रयास किये जाते हैं जिससे भुगतान सन्तुलन भी ठीक

किया जा सके।

(द) विनिमय नियंत्रण—विनिमय नियंत्रण की सहायता से विनिमय दर एवं भुगतान सन्तुलन को अनुकूल बनाया जा सकता है। परन्तु यह ढंग संकटकालीन स्थिति में ही उपयोग किया जाता है।

(इ) लोचदार विनिमय दर—लोचदार विनिमय दर की सहायता से भी भुगतान सन्तुलन की स्थिति को ठीक किया जा सकता है। परन्तु विनिमय दर में उतार-चढाव एक निश्चित सीमा तक ही रखे जा सकते हैं।

(viii) आर्थिक विकास—प्राचीन समय में देश के आर्थिक विकास को एक नियमित क्रिया माना जाता था जिसके लिए किसी प्रकार की नीति का निर्धारण करना सम्भव नही था। परन्तु वर्तमान समय मे प्रजातन्त्र व्यवस्था के अन्तर्गत शासन व्यवस्थाओ को आर्थिक विकास का दायित्व अपने ऊपर लेना पड़ता है तथा देश की समस्त अर्थव्यवस्था एव मौद्रिक नीति का संचालन इस ढग से किया जाता है कि देश का पर्याप्त मात्रा मे आर्थिक विकास सम्भव हो सके। प्राचीन समय मे स्वर्णमान के अन्तर्गत मुद्रा संकुचन सम्बन्धी नीति देश के आर्थिक विकास में बाधक थी, परन्तु स्वर्णमान की समाप्ति के साथ-साथ यह समस्या भी समाप्त हो गई। उदार मुद्रा नीति द्वारा उत्पादन की नवीन रीतियो मे प्रारम्भिक पूजी की अधिक मात्रा विनियोजित की जाती है जिससे पर्याप्त मात्रा मे पूजी उपलब्ध करना सम्भव हो जाता है। देश के आर्थिक विकास की मात्रा इस बात पर निर्भर करती है कि उत्पादकता मे वृद्धि होने पर मजदूरी मे कितनी वृद्धि की माग की जाती है। यदि मजदूरी में वृद्धि उत्पादकता मे वृद्धि से अधिक होती है तो विकास की गति शिथिल हो जाती है। इसी प्रकार ऊंची ब्याज की दरें भी आर्थिक विकास मे बाधायें उपस्थित करती हैं, क्योकि इसके उत्पादन लागत में वृद्धि हो जाने से उत्पादन पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार ऊंची ब्याज दरें एक ओर तो उत्पादन को हतोत्साहित करती हैं, परन्तु दूसरी ओर बचतो को प्रोत्साहित करके पूजी-निर्माण मे सहायता प्रदान करती हैं। अत. अविकसित राष्ट्रों मे पूजी की कमी को ऊंची ब्याज दर द्वारा दूर किया जा सकता है।

आर्थिक विकास एव मुद्रा-स्फीति—प्राय: यह कहा जाता है कि मुद्रा-स्फीति की सहायता से आर्थिक विकास सम्भव किया जा सकता है। जिन राष्ट्रो मे प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता पाई जाती है वहा मुद्रा प्रसार की हल्की-सी इकाइयो की सहायता से पूजी की कमी को दूर करके विकास को गतिशील बनाया जा सकता है। परन्तु यदि देश पहले से ही अपनी सम्पूर्ण शक्ति का उपयोग कर रहा है और मुद्रा-स्फीति का सहारा लिया गया तो उससे आर्थिक विकास को लाभ होने के स्थान पर हानि होगी। इस प्रकार आर्थिक विकास मे बाधायें उपस्थित होने के प्रमुख कारण निम्न हैं—

(अ) हड़तालें—स्फीतिक काल मे मजदूरों की हड़तालें विकास के मार्ग में बाधायें उपस्थित करती हैं, क्योकि इससे औद्योगिक वातावरण अशान्त एव दूषित हो जाता है।

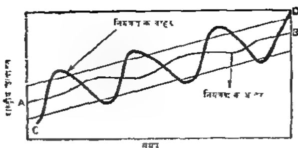
(ब) निम्न कार्यकुशलता—स्फीतिक काल मे अधिक कार्य करने की इच्छा पर बुरा प्रभाव पड़ता है तथा श्रमिकों की कार्यकुशलता गिर जाती है।

(स) उपभोग में वृद्धि—मुद्रा-स्फीति से उपभोग की मात्रा मे वृद्धि हो जाती है तथा पूजीगत माल की उत्पत्ति हतोत्साहित हो जाती है।

(द) विस्फीति—स्फीति प्रायः विस्फीति को जन्म देती है जो दीर्घकालीन आर्थिक विकास कार्यक्रमों मे बाधायें उपस्थित करती है।

इस प्रकार यह कहा जाता है कि देश के आर्थिक विकास के लिए स्फीतिक नीति को अपनाना उचित नहीं है, परन्तु यह स्फीतिक नीति का प्रयोग सजगता एव सावधानी से किया जाये तो उससे आर्थिक विकास को प्रोत्साहन प्राप्त होता है तथा जल्दबाजी में अपनाई गई नीति आर्थिक विकास को हानि पहुचाने वाली होती है। अर्थव्यवस्था मे ऐसी व्यवस्था हो कि मूल्य कभी भी नियन्त्रण से बाहर नही जाना चाहिए। इसे चित्र 12.1 में दिखाया गया है। AB वक्र नियन्त्रण के अन्दर है और CD वक्र नियन्त्रण के बाहर है जो ठीक नही है।

आर्थिक विकास व रोजगार—देश मे अति-रोजगार की स्थिति होने पर साख नियन्त्रण की नीति को काम मे लाया जाता है तथा उपभोग पर नियन्त्रण लगा दिया जाता है जिससे रोजगार सामान्य स्तर पर आ जाता है तथा उत्पादन में भी कमी हो जाती है। यदि नवीन तकनीक के प्रयोग करने मे अधिक पूजी के विनियोजन के साथ-साथ अधिकाधिक मात्रा में मजदूरी की मांग की जाये तो उसमे रोजगार तो ऊंचे स्तर पर रहता है, परन्तु आर्थिक विकास की गति तीव्र नही हो पाती। इसी प्रकार कभी-कभी रोजगार देने के उद्देश्य से अलाभकारी उद्योगों को प्रोत्साहित किया जाता है जिससे



चित्र सं० 121

रोजगार बढ़ जाता है, परन्तु आर्थिक विकास पर विपरीत प्रभाव पड़ता है।

अविकसित अर्थव्यवस्था में मौद्रिक नीति
(Monetary Policy in an Undeveloped Economy)

अविकसित राष्ट्रों मे प्रति व्यक्ति आय कम होती है, आर्थिक विकास की गति अत्यन्त शिथिल होती है, जनता मे बेरोजगारी पाई जाती है, आर्थिक सम्पन्नता का अभाव पाया जाता है, पूजी निर्माण की कमी रहती है, वहा मौद्रिक नीति की सहायता से देश मे रोजगार तथा आर्थिक विकास को उच्च प्राथमिकता प्रदान की जाती है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उदार मौद्रिक नीति को अपनाना आवश्यक होगा, जिससे देश को पूजी की कमी का सामना न करना पड़े। इससे देश में उपलब्ध प्राकृतिक साधनो को विकास के पर्याप्त अवसर प्राप्त होंगे, रोजगार तथा उत्पादन की मात्रा मे भी पर्याप्त वृद्धि होगी। परन्तु इससे देश मे मुद्रा व साख का प्रसार होकर मूल्य स्तर में वृद्धि हो जायेगी, परन्तु यह देश के विकास मे बाधक सिद्ध नही होगी।

अर्द्धविकसित एवं विकसित देशों में आर्थिक सम्पन्नता को प्राप्त करने एवं रोजगार व विकास कार्यक्रमो को प्रोत्साहित करने हेतु व मूल्य-स्तर को नियंत्रित करने हेतु उदार मौद्रिक नीति को अपनाया जाता है।

इसके विपरीत विकसित राष्ट्रों की मौद्रिक नीति मे रोजगार उच्च-स्तर पर होता है तथा विकास की गति भी तीव्र होती है। वस्तुओ के मूल्यों मे कमी आने का भय बना रहता है जिससे मुद्रा एवं साख की मात्रा को सीमित रखना आवश्यक होता है। इसके लिए जनता से अतिरिक्त धनराशि प्राप्त करने के प्रयास किये जाते हैं। प्राय. ब्याज की दर मे वृद्धि करके पूंजी का निर्माण किया जा सकता है, जिसे विकासशील राष्ट्रों मे विनियोजित किया जा सकता है। विकसित राष्ट्रों में विनिमय दर एवं भुगतान सन्तुलन की स्थिति सदैव अनुकूल रहती है तथा यहा अधिक उत्पादन होने से माल को विदेशो को निर्यात कर दिया जाता है तथा आवश्यकता पड़ने पर पूजी भी विकासशील राष्ट्रों को निर्यात कर दी जाती है विकासशील राष्ट्रों मे भुगतान सन्तुलन की स्थिति प्रतिकूल अवस्था में बनी रहने से वहा पूजी निर्माण को प्रोत्साहित किया जाता है जो ब्याज की दर को बढ़ाकर ही सम्भव हो सकती है। परन्तु इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि ब्याज दर के कारण उत्पादन लागत में वृद्धि न हो जाये।

अर्द्धविकसित देशों में मौद्रिक नीति की सीमाएं

अर्द्धविकसीत देशों मे मौद्रिक नीति के सफल होने का क्षेत्र सीमित रहता है और इसके मुख्य कारण निम्न हैं—

(अ) मौद्रिक नियंत्रण का सीमित प्रभाव—इसमे निम्न कारणों को सम्मिलित करते हैं—

(1) संगठित मुद्रा बाजार का अभाव—इन देशो मे सुसंगठित मुद्रा बाजार के अभाव के कारण देश की साख पर प्रभावशाली प्रभाव नही पड़ता।

(2) बिल बाजार का अभाव—अर्द्धविकसित देशों मे प्रायः विकसित बिल बाजार का अभाव पाये जाने से वहा

साख प्रणाली ठीक से कार्य नहीं कर पाती है।

(3) अव्यवस्थित ब्याज दर—इन देशों में ब्याज दरो में एकरूपता का अभाव पाया जाता है। बैंक दर व ब्याज दर में भारी अन्तर पाया जाता है जिससे मौद्रिक नीति प्रभावपूर्ण नहीं हो पाती।

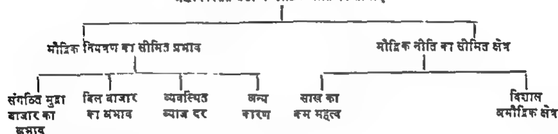
(4) अन्य कारण—इसमें (i) सदस्य बैंक व केन्द्रीय बैंक के मध्य प्रभावपूर्ण सहयोग न होना, (ii) बैंकिंग प्रणाली का केन्द्रीय बैंकिंग के नियन्त्रण के क्षेत्र से बाहर होना सम्मिलित किया जाता है।

(ब) मौद्रिक नीति का सीमित क्षेत्र—इसमें निम्न को सम्मिलित करते हैं—

(1) साख का कम महत्त्व—यहां पर साख के स्थान पर मुद्रा का चलन अधिक होने से साख पर नियंत्रण लगाने से भी मुद्रा की पूर्ति पर नियन्त्रण नहीं हो पाता।

(2) विशाल अमौद्रिक क्षेत्र—यहां पर विशाल अमौद्रिक क्षेत्र पाया जाता है जहां पर मुद्रा के स्थान पर अदल-बदल की पद्धति प्रचलित रहती है। इससे मौद्रिक नीति का क्षेत्र अत्यन्त सीमित हो जाता है।

मौद्रिक नीति की सीमाओं को निम्न चार्ट द्वारा दिखाया जा सकता है—



मौद्रिक प्रबन्ध की विधियां
(Methods of Monetary Management)

किसी भी राष्ट्र में मौद्रिक प्रबन्ध की प्रमुख विधियां निम्नलिखित हैं—

(1) साख नियंत्रण (Credit Control)—साख नियंत्रण का कार्य देश की केन्द्रीय बैंक द्वारा किया जाता है, जो कि उसका एक महत्व पूर्ण कार्य माना जाता है। साख नियंत्रण के अनेक ढंग हैं, जिन्हें केन्द्रीय बैंक द्वारा समय-समय पर पालन किया जाता है।

(ii) नोट निर्गमन का अधिकार—केन्द्रीय बैंक को देश में नोट निर्गमन करने का एकाधिकार प्राप्त होता है, अतः वह चलन-माध्यम का इस प्रकार नियमन व नियंत्रण कर सकता है कि विनिमय कार्यों में कोई कठिनाइयां उपस्थित न हो तथा व्यापारिक कार्य सुचारुतापूर्वक चलता रहे।

(iii) अन्तिम ऋणदाता—कोई भी व्यापारिक बैंक केन्द्रीय बैंक से अपनी प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियों को भुना-कर तरलता में वृद्धि कर सकती है। इसी प्रकार समय पड़ने पर वह अन्तिम ऋणदाता के रूप में कार्य करके अपनी मूल्यवान सेवाएं प्रदान कर सकता है।

मूल्य स्थिरता बनाम विनिमय स्थिरता
(Price Stability vs. Exchange Stability)

कुछ विद्वानों का मत है कि मौद्रिक नीति का प्रमुख उद्देश्य मूल्यों में स्थिरता लाना है। इसके विपरीत कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि मौद्रिक नीति द्वारा विनिमय में स्थिरता लाई जानी चाहिए। इस प्रकार मूल्य स्थिरता एवं विनिमय स्थिरता के पक्ष व विपक्ष में निम्न तर्क रखे जा सकते हैं—

मूल्य स्थिरता

पक्ष में तर्क—मूल्य स्थिरता के पक्ष में निम्न तर्क रखे जा सकते हैं—

(i) असमानता में वृद्धि—मूल्य स्थिरता के अभाव में बढी हुई कीमतें धन व आय के वितरण मे इस प्रकार की अनेक बाधाए उपस्थित करते हैं कि उससे समाज मे असमानता मे निरन्तर वृद्धि होती जाती है, परिणामस्वरूप धनी व्यक्ति अधिक धनी व गरीब और अधिक गरीब होते जाते हैं।

(ii) आर्थिक व राजनैतिक अस्थिरता—कीमतो के उतार-चढ़ाव से देश में अनेक प्रकार की आर्थिक एवं राजनैतिक अस्थिरता को प्रोत्साहन मिलता है।

(iii) व्यवसाय को हानि—यदि मूल्यों में तेजी से गिरावट आती है तो उससे व्यापार पर बुरे प्रभाव पड़कर उत्पादन एवं रोजगार की मात्रा में कमी होकर श्रमिकों को हानि का सामना करना पड़ता है।

(iv) संचयी प्रभाव—मूल्य अस्थिरता अपने संचयी प्रभाव छोड जाती है और एक बार स्थिति प्रारम्भ हो जाने पर समस्त अर्थव्यवस्था पर बुरे प्रभाव पडते हैं।

विपक्ष में तर्क—मूल्य स्थिरता के विपक्ष मे निम्न तर्क रखे जा सकते हैं—

(i) तकनीकी बाधाए—मूल्य स्थिरता प्राप्त करने मे अनेक प्रकार की तकनीकी बाधाए उपस्थित हो जाती हैं जो कार्य करने में कठिनाइया उपस्थित करती हैं।

(ii) व्यक्तिगत एवं वर्ग मूल्यों पर ध्यान न देना—मूल्य स्थायित्व की नीति मे प्राय व्यक्तिगत एव वर्ग मूल्यो पर कोई ध्यान नही दिया जाता जिससे वे समान परिणाम नहीं प्रदर्शित कर पाते।

(iii) मूल्य परिवर्तन में भेद न करना—मूल्य स्थायित्व की नीति मूल्य परिवर्तन मे होने वाले कारणों को बताने मे असमर्थ रहती है जिससे अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभावों को अध्ययन करना कठिन हो जाता है।

(iv) गतिशील समाज की उपेक्षा—मूल्य स्थायित्व की नीति को गतिशील अर्थव्यवस्था वाले समाज में अपनाया जाना कठिन होता है। इसे स्थिर अर्थव्यवस्था वाले समाज मे ही सरलता से अपनाया जा सकता है।

(v) आर्थिक क्रिया का नियमन—मूल्यो में परिवर्तन करने से आर्थिक क्रिया का उचित ढंग से नियमन किया जा सकता है, जबकि इस बात की ओर कोई ध्यान नही दिया गया।

(vi) प्रोत्साहन व प्रेरणा का अभाव—मूल्यो में वृद्धि होने से व्यापारियो को कार्य करने की प्रेरणा प्राप्त होती है, परन्तु मूल्य स्थायित्व में यह प्रोत्साहन व प्रेरणा समाप्त हो जाती है तथा व्यापारी को कार्य करने एवं व्यवसाय की प्रगति करने के अवसर व प्रेरणा प्राप्त नही हो पाते।

(vii) अस्पष्ट धारणा—एक सन्तोषप्रद मूल्य स्तर की परिभाषा देना उचित नहीं है और यह एक स्पष्ट धारणा प्रदान नहीं करता, जिसमे स्पष्ट धारणा प्राप्त नहीं हो पाती।

विनिमय स्थिरता

पक्ष में तर्क—विनिमय स्थिरता के पक्ष में निम्न तर्क दिये जा सकते हैं—

(i) ध्यान आकर्षित करना—विनिमय दर मे उतार-चढाव सरलता से ध्यान आकर्षित कर लेते हैं। यदि आन्तरिक मूल्य मे कितना ही बड़ा परिवर्तन क्यो न हो जाये, परन्तु उस ओर किसी का भी ध्यान नहीं जाता।

(ii) उतार-चढ़ाव हानिकारक—जो राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर निर्भर होते हैं उनकी विनिमय दरो में परिवर्तन होने से अत्यन्त हानिकारक प्रभाव पड़ते हैं तथा हिसाब की गणना करने में अनेक प्रकार की कठिनाइयो का सामना करना पड़ता है।

(iii) सट्टे को प्रोत्साहन—विनिमय स्थिरता के अभाव में देश में सट्टे की क्रियाओ को प्रोत्साहन प्राप्त होता है तथा देश की अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

(iv) विश्वास समाप्त होना—विनिमय दर में उतार-चढाव होने मे देश में विनियोक्ताओं का विश्वास हट जाता है तथा पूजी देश से बाहर जाने लगती है। इससे विदेशी विनिमय कोषो पर बुरा प्रभाव पड़ता है। अत: विनिमय स्थिरता की नीति को अपनाना सदैव लाभकारी रहता है।

विपक्ष में तर्क—विनिमय स्थिरता के विपक्ष मे निम्न तर्क रखे जा सकते हैं—

(i) आश्रित होना—स्थायी विनिमय दर की नीति अपनाने से देश को अन्य शक्तिशाली राष्ट्रों पर निर्भर होना पड़ता है, जिससे दूसरे राष्ट्र की अर्थव्यवस्था पर बुरे प्रभाव पड़ते हैं।

(ii) मूल्य अस्थिरता की समस्या—इससे देश मे आन्तरिक मूल्य अस्थिरता की समस्या उदय हो जाती है जो देश के सभी वर्गों के लिए हानिकारक सिद्ध होती है।

मौद्रिक नीतियों का प्रभाव
(Effect of Monetary Policies)

19वीं शताब्दी से पूर्व सरकार की नीति देश की आर्थिक क्रिया मे हस्तक्षेप करने की नही थी। आर्थिक क्रियाए व्यक्तियो द्वारा ही संचालित की जाती थी। परन्तु 19वीं शताब्दी से यह अनुभव किया जाने लगा कि सरकार को देश में निजी साहस पर पूर्णरूप से नियत्रण लगाना चाहिए। इस सम्बन्ध मे सरकार को मुद्रा एवं साख पर उचित नियन्त्रण लगाकर स्फीतिक एवं संकुचन की परिस्थितियो को नियत्रित करके व्यापारिक उतार-चढ़ावो को नियंत्रित करना चाहिए। देश की केन्द्रीय बैंक को नोट निर्गमन एवं साख पर नियंत्रण लगाने के अधिकार प्रदान किये गये। इनसे व्यापारिक क्रियाओं पर नियंत्रण लगाकर देश की सामान्य आर्थिक क्रियाओं का नियमन किया जाता है।

20वीं शताब्दी मे राज्य को एक ऐसी सत्ता समझा जाने लगा जो समाज मे रहने वाले व्यक्तियो को अनेक प्रकार से सेवाए प्रदान कर सकता था। वर्तमान समय मे न केवल बैंकिंग एवं मौद्रिक नीतिया ही बल्कि अन्य घटक भी देश की आर्थिक दशा को प्रभावित करते हैं। इस सम्बन्ध मे उपभोग व बचत की सीमान्त क्षमताए, बैंकरो की मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाएं आदि भी आर्थिक उतार-चढ़ाव मे महत्वपूर्ण भाग लेती हैं। इस सम्बन्ध मे यह निश्चित ही है कि मौद्रिक एवं बैंकिंग नीतियों के द्वारा देश की अर्थव्यवस्था पर अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ेगा।

अन्य नीतियां
(Other Policies)

मुद्रा एव साख को प्रभावित करने वाली अन्य प्रमुख नीतिया निम्नलिखित हैं—

(i) प्रशुल्क नीति (Fiscal Policy)—प्रारम्भ के प्रशुल्क नीति से आशय, सरकार द्वारा स्थानीय साधनों को विकसित करने के लिए सरक्षण देने की नीति से लगाया जाता था। प्रारम्भ मे मुक्त व्यापार की नीति का पालन किया जाता था लेकिन वर्तमान समय मे प्रशुल्क नीति को इस रूप में अपनाया जाता है कि जिससे स्थानीय साधनो व उद्योगों को विकसित करने के लिए उन्हें संरक्षण प्रदान किया जा सके। स्वतंत्र अर्थव्यवस्था मे भी इस प्रकार की सहायता को उचित बताया गया।

(ii) बजट नीति (Budget Policy)—इसमे सरकार द्वारा आय प्राप्त करने एवं व्यय करने के ढगो को सम्मिलित किया जाता है। करो को सग्रह करना देश मे रहने वाले व्यक्तियों के स्वभाव, इच्छा एव बचत करने की इच्छा पर निर्भर करता है। देश की समस्त आय को करो के रूप में वसूल करने से बचत एवं विनियोग तथा उत्पादन व राष्ट्रीय आय पर बुरे प्रभाव पड़ते हैं। परन्तु यदि करों के रूप मे प्राप्त आय को सरकार द्वारा सार्वजनिक कल्याण मे व्यय कर दी जाये तो उससे उत्पादन एवं राष्ट्रीय आय पर अच्छे प्रभाव पड़ेंगे। वर्तमान समय मे आय के अन्य साधनों के अभाव मे वित्तीय प्रशासन मे घाटे की वित्त व्यवस्था का महत्त्व बढता जा रहा है जिसके, देश की आर्थिक क्रियाओ पर, अच्छे प्रभाव पड़े हैं। एक विकासशील राष्ट्र में घाटे की वित्त व्यवस्था पर देश के विकास की आर्थिक योजनाए निर्माण की जाती हैं तथा विकास कार्यक्रमो को कार्यान्वित किया जाता है।

(iii) औद्योगिक नीति (Industrial Policy)—किसी भी अर्थव्यवस्था मे सरकार देश मे समाजवादी समाज की रचना का निर्माण कर सकती है जिसका देश के विनियोग पर निश्चित रूप से प्रभाव पड़ेगा। यदि देश में स्पष्ट औद्योगिक नीति का अभाव पाया गया तो उससे अर्थव्यवस्था पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा।

मौद्रिक अस्थिरता के कारण
(Reasons for Monetary Instability)

मौद्रिक अस्थिरता के कारण देश में अनेक प्रकार के आर्थिक उच्चावचन उत्पन्न हो जाते हैं तथा अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ता है। 1929 की विश्व मन्दी का मुख्य कारण मौद्रिक अस्थिरता ही बताया जाता है। मौद्रिक अस्थिरता के प्रमुख कारण निम्नलिखित थे—

(1) स्वर्ण संकट (gold crisis)—सन् 1920 के स्वर्ण संकट एवं मूल्यों में कमी होने से स्वर्ण के लिए विश्व-व्यापी मांग पुनः लौट आई। इस प्रकार स्वर्णमान को पुनः अपनाने से आर्थिक संकट उत्पन्न हो गया। विश्व के कुछ ही राष्ट्रों में स्वर्ण के केन्द्रीयकरण होने से विश्व-कोष की मात्रा में कमी हो गई जिसके परिणामस्वरूप स्वर्ण खोने वाले राष्ट्रों को साख नियंत्रण करने पर बाध्य होना पड़ा। दूसरी ओर अमरीका के पास अपार स्वर्ण भण्डार होने से अत्यधिक मुद्रा प्रसार हुआ तथा विश्व की कीमतों को कम करने में मुख्य कारण बनी। इस प्रकार सोने की कमी एवं अधिकता दोनों ही संकट के लिए उत्तरदायी माने गये। फलस्वरूप मौद्रिक अस्थिरता उत्पन्न हो गई।

(2) पूंजी की असाधारण अस्थिरता—द्वितीय विश्वयुद्ध के फलस्वरूप सम्पत्तियों में अत्यधिक हानि हुई जिससे पुनर्विकास एवं पुनर्निर्माण के लिए देश में पूंजी असाधारण अस्थिरता उत्पन्न हो गई तथा राष्ट्रों के मध्य लेनदार व देनदार के सम्बन्ध स्थापित हो गये।

(3) प्रथम विश्व युद्ध (First World War)—प्रथम विश्वयुद्ध-काल में स्वर्ण का अत्यधिक मात्रा में संग्रह केवल अमरीका में होता गया तथा मुद्रा प्रसार को रोकने के उद्देश्य से अमरीका ने स्वर्ण के आगमन को प्रभावहीन कर दिया। इस प्रकार स्वर्ण के असमान वितरण ने विश्व में गम्भीर मौद्रिक परिवर्तन ला दिये, जिससे अनेक प्रकार के वित्तीय संकटों को उत्पन्न कर दिया।

(4) साख विस्तार (Expansion of Credit)—1929 से पूर्व सदस्य बैंकों के मांग निक्षेपों में अधिक वृद्धि होने से अधिक मुद्रा प्रसार हुआ, परन्तु उत्पादन में तुलनात्मक दृष्टि से पर्याप्त वृद्धि होने से मूल्यों में विशेष वृद्धि सम्भव न हो सकी। इस प्रकार उत्पादन एवं साख में समान गति से वृद्धि हुई। उत्पादन में वृद्धि होने पर, लागतों में भी वृद्धि होने से साख का विस्तार स्वस्थ हो सकता है। परन्तु 1924-29 की अवधि में इस नियम का पालन न होने से मूल्यों में अत्यधिक वृद्धि हुई जिससे व्यापारियों को अधिक लाभ हुए तथा स्कन्ध बाजार में भी तेजी से वृद्धि हुई। इस व्यवस्था से देश की मौद्रिक स्थिरता पर बुरे प्रभाव पड़े।

(5) तकनीकी परिवर्तन (Technical Changes)—कृषि एवं उत्पादन क्षेत्र में शीघ्रता से तकनीकी परिवर्तन के कारण लागतों में अपार कमी हुई, जिसने मौद्रिक अस्थिरता को जन्म दिया। अमरीकन अर्थव्यवस्था में पर्याप्त वृद्धि हुई परन्तु 1952 के पश्चात् मूल्यों में कोई वृद्धि नहीं हुई। इस प्रकार तकनीकी सुधार के फलस्वरूप देश में मौद्रिक स्थिरता का अभाव पाया गया।

(6) अन्य कारण—मौद्रिक अस्थिरता के अन्य कारणों में निम्न को सम्मिलित किया जा सकता है—

(i) सट्टेबाजी—इस अवधि में न्यूयार्क एवं विश्व के अन्य प्रमुख भागों में सट्टेबाजी को प्रोत्साहन मिला जिसने अनेक संकटों को प्रोत्साहित किया।

(ii) वालस्ट्रीट संकट—अमरीका के वालस्ट्रीट संकट के कारण 1929 की मन्दी का आगमन हुआ।

(iii) मजदूरी—इस अवधि में मजदूरों की दरों में लोच का अभाव पाया गया जिसने मौद्रिक संकट उत्पन्न कर दिये।

(iv) प्रशुल्क दरें—सरकार द्वारा भी प्रशुल्क दरों में वृद्धि करने से देश में मौद्रिक अस्थिरता उत्पन्न हो गई।

भारत में मूल्य स्थायित्व
(Price Stability in India)

प्रायः समस्त राष्ट्रों में मूल्यों सम्बन्धी सूचनाएं पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होने एवं जनता द्वारा इसे सरलता से अपनाकर व निश्चित नीति के रूप में अपनाकर मौद्रिक नीति में मूल्य स्थायित्व को सरलता से अपनाया जा सकता है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् मूल्य स्थायित्व की नीति को अधिक समर्थन प्राप्त हुआ, क्योंकि उस समय मूल्यो मे तेजी से वृद्धि हो रही थी। युद्ध के कारण मुद्रा प्रसार, साख विस्तार, सामान की कमी, चोर बाजारी आदि अनेक दुर्बलतायें उत्पन्न हो गईं जिससे निश्चित आय प्राप्त करने वाले व्यक्तियो को हानि का सामना करना पडा, जिसने मूल्यो के स्थायित्व की ओर विशेष जोर दिया। 1936 मे यह विचार जोर पकडता गया कि मूल्य स्थायित्व के अतिरिक्त रोजगार, उत्पादन, मजदूरी प्रतिभूतियो के निर्गमन, विदेशी विनियोग, मजदूरी दरों, व्यापारिक आय, साख आदि पर भी पर्याप्त ध्यान देना चाहिए। वर्तमान समय मे मौद्रिक नीति का उद्देश्य ऐसे परिवर्तनो की सुविधा देना है जो उचित एवं स्वस्थ हो व लाभप्रद भी हो।

भारत मे 1939 से मूल्य-स्तर बढता ही जा रहा है, जो मुद्रा प्रसार का द्योतक है। देश के आन्तरिक मूल्यो मे निरन्तर वृद्धि होती गई। बाह्य स्थिरता के सम्बन्ध मे रुपये का मूल्य स्थायी ही रहा। 1927 मे विनिमय दर 1 रु० बराबर 18 पैन्स थी, परन्तु युद्ध के प्रारम्भ होते ही भारतीय माल की मांग बढने से भारतीय रुपये के अवमूल्यन पर विचार किया जाने लगा। युद्धोत्तर काल मे भी विनिमय दर 18 पैन्स पर ही स्थिर रही। वर्तमान समय मे भारत का अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य बन जाने से, अन्य राष्ट्रो की मुद्राओ से स्वर्ण मे प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित हो गया है। 1939 व 1966 मे भारत ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन किया तथा भुगतान शेष की समस्या को सुधारने के प्रयास किये। इस प्रकार भारतीय रुपये के आन्तरिक एवं बाह्य मूल्यो में समानता स्थापित करनी चाहिए व साथ ही साथ पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्राप्त करके मूल्यों मे वृद्धि शनै शनै. हो होनी चाहिए। पूर्ण रोजगार प्राप्त होने पर बचत एवं विनियोग मे समानता स्थापित करके मूल्य स्तर को स्थायी रखा जाना चाहिए, क्योकि लाभ व मजदूरी मे वृद्धि होने से देश मे स्फीतिक परिस्थितिया उत्पन्न हो जाती हैं। भारत मे बेरोजगारी की समस्या पाई जाती है अतः मूल्यो मे स्थायित्व लाकर इसे दूर किया जा सकता है तथा उपलब्ध साधनो का पूर्ण सदुपयोग सम्भव हो सकता है। व जीवन स्तर मे सुधार लाया जा सकता है। विनियोग मे वृद्धि के साथ-साथ उत्पादन मे भी वृद्धि होने से स्फीतिक प्रभाव समाप्त हो जाते हैं। मौद्रिक नीति की सहायता से पूर्ण रोजगार को प्राप्त करने के प्रयास किये जाने चाहियें, जिससे अर्थव्यवस्था को सुधार कर प्रगति की जा सके।

प्रशुल्क नीति
(Fiscal Policy)

सरकार का मुख्य कर्तव्य देश की अर्थव्यवस्था को सुधारना तथा सुरक्षा एवं विकास के कार्यों को संतुलित ढंग से बढाना है। इसके लिए सरकार कर द्वारा आय प्राप्त करके उसे विकास के विभिन्न मदों पर व्यय करती है। सरकार द्वारा अपने बजट को सन्तुलित करने के प्रयास किये जाते हैं और आय की तुलना मे व्यय अधिक हो जाने पर ऋण का प्रबन्ध किया जाता है या घाटे की वित्त व्यवस्था द्वारा नोटो का निर्गमन किया जाता है। इस प्रकार कर लगाने, घाटे की व्यवस्था करना, मुद्रा का निर्गमन करना एव ऋण लेने आदि की सामूहिक रीतियो को प्रशुल्क नीति मे सम्मिलित किया जाता है।

प्रशुल्क नीति का महत्व
(Importance of Fiscal Policy)

विश्व के विभिन्न राष्ट्रो मे पूर्ण रोजगार प्राप्त करने एवं आर्थिक स्थायित्व प्राप्त करने के रूप मे प्रशुल्क नीति का महत्त्व दिनो दिन बढता जा रहा है। इसका महत्त्व समाजवादी राष्ट्रों के साथ-साथ पूजीवादी राष्ट्रो मे भी निरन्तर बढ रहा है। युद्धोत्तर काल मे अत्यधिक मुद्रा प्रसार एव १९२९ की महान मन्दी ने इसके महत्व को और अधिक बढ़ा दिया है, तथा अर्थव्यवस्था के सचालन मे सरकारी बजट का स्थान अत्यन्त ही महत्वपूर्ण माना जाता है। वर्तमान समय मे देश की अर्थव्यवस्था मे प्रशुल्क नीति को एक प्रभावशाली अग के रूप में प्रयोग किया जाने लगा है। वर्तमान समय मे शासकीय बजट रोजगार एव कीमतो मे चढाव-उतार लाने वाले आय एवं व्यय आदि घटकों का कार्य करते हैं। सरकारी व्यय बढ़ने से एक ओर तो माग मे वृद्धि होती है व दूसरी ओर इसे प्राप्त करने के लिए जनता पर कर लगाये जाते हैं, जो जनता की आय मे कमी करके माग मे कमी व उत्पादन मे गिरावट ला देते हैं, परिणामस्वरूप केन्द्र व राज्य दोनों के ही बजटों पर प्रभाव पड़ता है। देश के आर्थिक विकास के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि प्रशुल्क नीतियो में परस्पर सम्बन्ध हों तथा

सरकारी आय एवं व्यय में उचित समायोजन किया जाये। सरकार को मन्दीकाल में घाटे के बजट व तेजी काल में आधिक्य के बजट बनाकर अर्थव्यवस्था को सन्तुलित ढंग से विकसित करने के प्रयास करने चाहियें। परन्तु इस आधार पर यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि सन्तुलित बजट द्वारा राष्ट्रीय आय एवं आर्थिक क्रिया पर निष्पक्षीय प्रभाव रखा जा सकेगा। वास्तव में बजट के आकार को परिवर्तित करके राष्ट्रीय आय एवं आर्थिक क्रिया को प्रभावित किया जा सकता है, परन्तु प्रशुल्क नीति की प्रभावशीलता सरकारी आय एवं व्ययों के अन्तर की मात्रा पर ही निर्भर करेगी।

मौद्रिक व प्रशुल्क नीति में अन्तर
(Difference Between Monetary and Fiscal Policy)

मौद्रिक एवं प्रशुल्क नीतियां प्राय: एक दूसरे की पूरक हैं क्योंकि केन्द्रीय बैंकों का संचालन सार्वजनिक क्षेत्र में किया जाने से वह सरकारी वित्त विभाग के आदेशों पर ही कार्य करता है, फलतः मौद्रिक एवं प्रशुल्क नीतियों में कोई विरोधाभास नहीं रहता। फिर भी दोनों में अनेक प्रकार की असमानतायें हैं, जिन्हें निम्न प्रकार रखा जा सकता है।

(1) प्रभाव का अन्तर—प्रशुल्क नीति का जनता पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है क्योंकि जब अधिक मात्रा में कर लगाये जाते हैं तो विनियोग कम होकर मूल्य बढ़ जाते हैं जिससे आय में कमी होकर माग पर प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार सरकार द्वारा ऋण लेने से राष्ट्रीय बचत एवं बैंक जमा पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इसके विपरीत मौद्रिक नीति का जनता पर अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है क्योंकि बैंक दर बढ़ाने से विनियोग कम व बैंक जमा में वृद्धि हो जाती है। प्रशुल्क नीति में सरकार जनता से प्रत्यक्ष व्यवहार करती है, जबकि केन्द्रीय बैंक की समस्त क्रियायें व्यापारिक बैंकों के माध्यम से होने से उनका प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप से पड़ता है।

(2) व्यापकता का अन्तर—मौद्रिक नीति का प्रभाव अधिक व्यापक होता है क्योंकि सरकार द्वारा विभिन्न वर्गों एवं वस्तुओं पर भिन्न-भिन्न प्रकार से कर लगाया जाता है। इसके विपरीत प्रशुल्क नीति का प्रभाव इतना व्यापक नहीं होता, क्योंकि इसका भार सब पर समान नहीं पड़ता।

(3) स्वतन्त्रता का अंतर—प्रशुल्क नीति में सरकार को स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती, क्योंकि प्रत्येक मद पर संसद की स्वीकृति लेना आवश्यक होता है। इसके विपरीत मौद्रिक नीति के सम्बन्ध में केन्द्रीय बैंक को काफी स्वतन्त्रता रहती है, जो परिस्थितियों को ध्यान में रखकर मुद्रा व साख का संकुचन एवं विस्तार करती है। ऐसा करने से पूर्व उसे किसी भी प्रकार की स्वीकृति लेने की आवश्यकता नहीं होती।

(4) राजनैतिक प्रभाव का अन्तर—प्रशुल्क नीति प्राय राजनीतिक तत्वों से प्रभावित होती है जिसमें जनता की व्यक्तिगत आवश्यकताओं एवं भावनाओं को ध्यान में रखना पड़ता है। इसके विपरीत मौद्रिक नीति सदैव राजनीतिक प्रभावों से मुक्त रहती है तथा इन पर किसी भी व्यक्ति की व्यक्तिगत भावनाओं एवं आवश्यकताओं का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। इस प्रकार प्रशुल्क नीति पर राजनीतिक प्रभाव पड़ते हैं, जबकि मौद्रिक नीति पर कोई भी ऐसे प्रभाव नहीं पड़ते।

प्रशुल्क नीति के उद्देश्य
(Objects of Fiscal Policy)

प्रशुल्क नीति के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं।

प्रशुल्क नीति के उद्देश्य

- व्यय व्यवस्था
- कर व्यवस्था
- घाटे की व्यवस्था

(1) व्यय व्यवस्था—सरकारी व्ययों की समस्त मदों पर संसद की स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक होता है। प्रजातन्त्र में प्रत्येक सरकारी व्यय अधिकतम सामाजिक कल्याण को ध्यान में रखकर किया जाता है। व्यय करने की पद्धति अत्यन्त सरल व कुशल होनी चाहिए तथा भुगतान की व्यवस्था योग्य व ईमानदार व्यक्तियों के हाथों में होनी चाहिए।

(2) कर-व्यवस्था—करों का प्रभाव प्रायः समाज के विभिन्न वर्गों पर समान रूप से नहीं पड़ता। करों में वृद्धि होने से उपभोग, उत्पादन आदि पर बुरा प्रभाव पड़ता है। ऊंचे करों से उत्पादन व रोजगार पर बुरे प्रभाव पड़कर मूल्य बढ़ जाते हैं जिससे निर्यात व विनिमय दर में कमी होकर आर्थिक विकास पर बुरे प्रभाव पड़ते हैं। देश में नवीन औद्योगिक इकाइयों की स्थापना में अनेक बाधाएं उपस्थित हो जाती हैं। इसके विपरीत करों में कमी करने से जनता की क्रय शक्ति बढ़ जाती है, उत्पादन, बचत व विनियोग पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। वर्तमान समय में कर प्रणाली को जटिल बनाया जा रहा है, जिससे पक्षपात एवं भ्रष्टाचार आदि दोष उत्पन्न हो गये हैं तथा योजनाओं का संचालन उचित ढंग से नहीं हो पाता। समाजवादी अर्थव्यवस्था में करों को उपभोक्ताओं से वसूल कर लिया जाता है। अतः देश के सतुलित विकास के लिए कर नीति लोचदार एवं व्यावहारिक होनी चाहिए व साथ ही उसकी संचालन व्यवस्था व्यवस्थित ढग से व दृढ़तापूर्वक होनी चाहिए, जिससे निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति सरलता से की जा सके।

(3) घाटे की व्यवस्था—सरकारी व्यय जब आय से अधिक हो जाते हैं तो इस घाटे की पूर्ति नोट निर्गमन करके या ऋण प्राप्त करके की जा सकती है। यदि नोटों की संख्या बढ़ने पर उत्पादन में वृद्धि न हो तो स्फीतिक प्रभाव आ जाते हैं। कुल राशि का अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन उद्योगों में सन्तुलित विनियोग किया जाना चाहिए। सरकार द्वारा ऋण लेने से व्यापारिक बैंकों के निक्षेप कम होकर साख निर्माण शक्ति में कमी हो जाती है। अतः सरकार को ऋण उस समय प्राप्त करने चाहिएं, जबकि मुद्रा बाजार में धन की अधिकता हो।

प्रशुल्क नीति एवं विभिन्न परिस्थितियां
(Fiscal Policy and Different Circumstances)

प्रशुल्क नीति विभिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है जो कि निम्न हैं—

(1) अवसाद काल (Depression)—अवसाद काल में समस्त आर्थिक क्रियायें ढीली होकर विनियोजन की प्रवृत्ति प्राय समाप्त हो जाती है। जनता के पास क्रय शक्ति में कमी हो जाती है तथा सरकारी आय भी गिर जाती है, जिसे अतिरिक्त पत्र-मुद्रा निकालकर पूर्ण किया जा सकता है। मन्दी के प्रभाव को कम करने के उद्देश्य से रोजगार के नवीन स्रोत प्रारम्भ किये जा सकते हैं। इसी प्रकार निजी क्षेत्र में भी सस्ते ऋण आदि की व्यवस्था की जा सकती है। इससे जनता की क्रय शक्ति में वृद्धि करके, माग में वृद्धि करके, लाभ की मात्रा को बढ़ाया जा सकता है, तथा मूल्य स्तर को सामान्य स्तर पर लाया जा सकेगा।

(2) स्फीतिक काल (Inflation)—स्फीतिक काल में साख नियंत्रण के साथ-साथ प्रशुल्क नीति का प्रयोग भी करना होगा। इसके लिए प्रशासनिक व्ययों में कमी, योजनाओं को स्थगित करना, अनिवार्य उद्योगों में ही पूजी का विनियोजन, घाटे की व्यवस्था पर प्रतिबन्ध आदि उपायों का पालन करना चाहिए। इसी प्रकार निजी क्षेत्र में भी व्ययों की कमी की जानी चाहिए। इस काल में सरकार को अधिक कर लगाने चाहिए, जिससे मांग में कमी करके मूल्य स्तर को घटाया जा सके। ऋण के रूप में राशि प्राप्त करने के लिए सरकार को व्यवस्थित ऋण योजना प्रारम्भ करनी चाहिए जिन पर ब्याज के अतिरिक्त इनाम का भी प्रलोभन दिया जाना चाहिए व अनिवार्य जमा योजना, व अन्य ढंगों से जमा राशि प्राप्त करनी चाहिए।

(3) सामान्य दशा—देश के आर्थिक विकास एवं पूर्ण रोजगार के लिए सामान्य स्थिति को अच्छा माना जाता है, जिससे उत्पादन विनिमय व उपभोग को प्रोत्साहन मिल सके। इस परिस्थिति में सरकार द्वारा विकास योजनायें प्रारम्भ की जा सकती हैं तथा विनियोजन के लिए जनता से ऋण भी लिये जा सकते हैं व विदेशों से भी सरलता से ऋण प्राप्त हो जाते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रशुल्क नीति का प्रभावशील प्रयोग मौद्रिक नीति के साथ ही सम्भव हो सकता है। मौद्रिक व प्रशुल्क दोनों ही नीतियां देश के आर्थिक विकास के लिए आवश्यक मानी जाती हैं तथा देश के विकास को आगे बढ़ाया जा सकता है। विकासशील एवं अर्द्धविकसित देशों में मौद्रिक एवं प्रशुल्क नीतियां देश के आर्थिक विकास में सहायक सिद्ध होती हैं।

द्वितीय भाग

बैंकिंग एवं साख-व्यवस्था

(BANKING AND CREDIT SYSTEM)

13

बैंक-व्यवस्था
(BANKING SYSTEM)

प्रारम्भिक—वर्तमान औद्योगिक युग में बैंकों का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जो समाज की विभिन्न प्रकार से सेवाएं करते हैं जिनका हमारे आर्थिक जीवन में अधिक महत्त्व है। वर्तमान समय में बैंकिंग व्यवस्था समाज के आर्थिक जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन गई है। विभिन्न राष्ट्रों की बैंकिंग पद्धति में अन्तर पाये जाते रहे, परन्तु आधुनिक समय में समस्त राष्ट्रों में बैंकिंग प्रणाली केन्द्रीय बैंकिंग पद्धति के आधार पर विकसित हो रही है जिसके प्रमुख अंग निम्नलिखित हैं— (1) व्यापारिक बैंक (Commercial Bank); (2) केन्द्रीय बैंक (Central Bank), एवं (3) अन्य सहायक संस्थाएं (Other Subsidiary Institutions)।

व्यापारिक बैंक व केन्द्रीय बैंक में अन्तर
(Difference Between Commercial Bank and Central Bank)

व्यापारिक बैंक एवं केन्द्रीय बैंक में अन्तर रहता है, जो कि निम्नलिखित है—

(i) जनता से सम्बन्ध—व्यापारिक बैंकों द्वारा जनता का कार्य किया जाता है, जिससे उसका जनता से प्रत्यक्ष सम्पर्क बना रहता है। इसके विपरीत केन्द्रीय बैंक का कार्य देश की बैंकिंग व्यवस्था को नियंत्रित करना होता है, जिससे उसका जनता से कोई सम्पर्क नहीं रहता।

(ii) संख्या का अन्तर—व्यापारिक बैंकों की संख्या देश में अनेक होती है जो कि मांग के आधार पर निर्धारित की जाती है, जबकि केन्द्रीय बैंक देश में एक ही रहता है।

(iii) लाभ अर्जित का अन्तर—व्यापारिक बैंक लाभ पर कार्य करने वाली संस्था होती है, अतः इन संस्थाओं का मुख्य उद्देश्य लाभ अर्जित करना होता है। इसके विपरीत केन्द्रीय बैंक का उद्देश्य लाभ अर्जित न करके देश की आर्थिक एवं मौद्रिक नीति को कार्यान्वित करना होता है।

शाखा एवं इकाई बैंकिंग पद्धति
(Branch and Unit Banking Method)

संगठन व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए विश्व में निम्न प्रकार की बैंकिंग पद्धति पाई जाती हैं, जो कि निम्न है— (1) शाखा बैंकिंग प्रणाली। (2) इकाई बैंकिंग प्रणाली। (3) समूह बैंकिंग व्यवस्था। (4) शृंखला बैंकिंग व्यवस्था।

(1) शाखा बैंकिंग प्रणाली

इस प्रणाली में एक बैंक की अनेक शाखाएं होती हैं, जो सम्पूर्ण देश में फैली रहती हैं। भारत की बैंकिंग प्रणाली का संगठन भी शाखा बैंकिंग प्रणाली के आधार पर होता है। देश में अनेक व्यापारिक बैंक हैं, जिनकी शाखाएं देश के विभिन्न भागों में सेवाएं प्रदान करती हैं।

गुण—शाखा बैंकिंग प्रणाली के प्रमुख गुण निम्न हैं :

(i) **देनदारों की स्थिति को जानकारी**—बैंक की शाखाएं सम्पूर्ण देश मे फैली होने के कारण बैंको को देनदारों की स्थिति का ज्ञान सरलता से हो जाता है जिससे ग्राहकों को दिये जाने वाले कर्ज की सीमा का निर्धारण सरलता से हो जाता है।

(ii) **मुद्रा का स्थानान्तरण**—शाखा बैंकिंग प्रणाली मे मुद्रा का स्थानान्तरण सरलता व सुगमता से हो जाता है क्योंकि एक शाखा दूसरी शाखा के साथ समन्वित ढंग मे ही कार्य करती है तथा ग्राहकों को हर प्रकार की सम्भव सुविधाएं प्रदान की जाती हैं।

(iii) **बड़े पैमाने का उत्पादन व श्रम-विभाजन**—शाखा प्रणाली बडे पैमाने के उद्योग की भांति कार्य करती है जिसमे बडे स्तर पर समस्त बैंकिंग कार्य किये जाते हैं, जिससे उसे बृहत पैमाने के लाभ प्राप्त होते हैं। बैंक का संगठन भी बडे पैमाने पर होने से श्रम-विभाजन एव विशिष्टीकरण के लाभ प्राप्त होने लगते हैं तथा विभिन्न बैंकिंग कार्यों के लिए विशेषज्ञों की सेवाओं को सरलता से प्राप्त किया जा सकता है। इसमें कार्य सम्पादन व्यय में भी मितव्ययिता प्राप्त की जा सकती है।

(iv) **नकद कोष मे मितव्ययिता**—बैंकों की शाखाएं सम्पूर्ण देश में फैले रहने से बैंको को कम मात्रा में नकद कोष रखना होता है, क्योंकि आवश्यकता पडने पर पर्याप्त मात्रा में धनराशि दूसरी शाखा से प्राप्त की जा सकती है। इस प्रकार इस व्यवस्था में नकद कोष में मितव्ययिता लाई जा सकती है। इसके अतिरिक्त इन बैंको का अन्य बडी-बडी बैंको से सम्बन्ध बने रहने मे आवश्यकता पडने पर नकद कोष सरलता से प्राप्त कर सकते हैं।

(v) **जोखिम का वितरण**—इस व्यवस्था में जोखिम किसी एक पर न रहकर विभिन्न शाखाओं में वितरित हो जाती है। प्रत्येक राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था गतिशील बनी रहती है, जिससे देश की व्यवस्था पर प्रभाव पडते हैं तथा रुचि व फैशन आदि में परिवर्तन आने से बैंकिंग व्यवस्था पर भी प्रभाव पडता है। मन्दी के समय भी जो उद्योग प्रभावित होते हैं उनकी हानि की पूर्ति अन्य शाखा बैंको मे सरलता से की जा सकती है तथा एक की हानि को दूसरी शाखा से सरलता से वसूल किया जा सकता है व दूसरी शाखा के लाभो से उसे समायोजित करके हानि की पूर्ति हो सकती है।

दोष—शाखा बैंकिंग प्रणाली के प्रमुख दोष निम्न हैं :

(i) **बड़े पैमाने के दोष**—शाखा बैंकिंग में बड़े पैमाने के उत्पादन के सभी दोष पाये जाते हैं, तथा निरीक्षण, नियन्त्रण एव प्रबन्ध की अनेक समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं जिन्हें सरलता से हल करना सम्भव नही हो पाता।

(ii) **व्ययपूर्ण प्रणाली**—शाखा बैंकिंग अत्यन्त व्ययपूर्ण प्रणाली है, क्योंकि नवीन शाखा की स्थापना पर काफी धनराशि व्यय करनी पडती है। इसके अतिरिक्त शाखाओं की सख्या बढने पर उनमे नियन्त्रण, निरीक्षण एव समन्वय स्थापित करना अत्यन्त कठिन हो जाता है, जिसे पूर्ण करने मे काफी धन व्यय करना पड़ता है।

(iii) **कुशलता पर आघात**—एक शाखा के दोषो का अन्य शाखाओं की कुशलता पर बुरा प्रभाव पड़ता है। किसी एक क्षेत्र मे सकट आने पर उस क्षेत्र की शाखा को हानि होती है तथा उसकी हानि को अन्य शाखाओं द्वारा सहन करना पड़ता है।

(iv) **निरीक्षण कठिन**—शाखायें प्रायः प्रधान कार्यालय से दूर स्थित रहती हैं, जिससे उनका उचित ढग से निरीक्षण करना सम्भव नही हो पाता तथा शाखा के अधिकारी व कर्मचारी अपनी मनमानी करने लगते हैं, जिन पर प्रधान कार्यालय का निरीक्षण करना कठिन हो जाता है।

(v) **एकाधिकार को प्रोत्साहन**—शाखा बैंकिंग प्रथा एकाधिकार को प्रोत्साहन देती है तथा पूजी का केन्द्रीयकरण हो जाने से आर्थिक सत्ता थोडे से व्यक्तियों के हाथो मे ही केन्द्रित हो जाती है, जिससे समाज को काफी हानि उठानी पडती है।

(vi) **अनावश्यक प्रतियोगिता**—शाखा बैंकिंग पद्धति से देश मे अनावश्यक प्रतियोगिता को जन्म मिलता है जिससे बैंकों के विकास मे बाधायें उपस्थित हो जाती हैं।

(vii) **आवश्यक बातों का अभाव**—बैंक की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि ग्राहकों की रुचि के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो, तथा सापेक्षता की प्रेरणा भी हो, परन्तु शाखा बैंकिंग व्यवस्था में इन दोनों बातों का प्रायः अभाव

पाया जाता है।

(viii) व्यक्तिगत सम्पर्क का अभाव—शाखा बैंकिंग में प्राय: व्यक्तिगत सम्पर्क का अभाव पाया जाता है, जिससे शाखाओं का कार्य स्थानीय परिस्थितियों के आधार पर नहीं चल पाता है।

(2) इकाई बैंकिंग

इस प्रणाली में बैंक का कार्य प्राय: केवल एक ही कार्यालय द्वारा किया जाता है तथा उसकी शाखाएं नहीं होती हैं। इसमें बैंकों के कार्य का एकीकरण आर्थिक व सामाजिक संगठन के आधार पर किया जाता है तथा बैंकों की कुल संख्या प्राय: जन-संख्या के अनुपात में अधिक रहती है। इस बैंक का व्यवसाय प्राय: उसी क्षेत्र की परिस्थितियों से सम्बन्धित होता है। इसकी स्थापना इस विचार पर की जाती है कि इसका प्रारम्भ स्थानीय समाज द्वारा होगा तथा इसका स्वामित्व भी स्थानीय समाज के व्यक्तियों में ही निहित होगा।

लाभ—इकाई बैंकिंग व्यवस्था के प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं—

(i) मुक्त सिद्धान्त—यह पद्धति मुक्त उद्यम सिद्धान्त पर आधारित रहती है, जिससे कार्य करने में सरलता बनी रहती है।

(ii) एकाधिकार पर प्रतिबन्ध—इस प्रणाली द्वारा एकाधिकार बैंकिंग की वृद्धि पर रोक लगाई जाती है, क्योंकि बैंक की अनेक शाखाओं के स्थान पर विभिन्न प्रकार की अनेक बैंक होने से आर्थिक सत्ता का केन्द्रीकरण सम्भव नहीं हो पाता।

(iii) शीघ्र काम—इस व्यवस्था में बैंक का कार्य ठीक समय पर व शीघ्रता से सम्पन्न किया जाता है जिससे देरी से कार्य होने की हानियां उत्पन्न नहीं हो पाती।

(iv) सरल प्रबन्धन—इसमें बैंक का प्रबन्ध करना अत्यन्त सरल रहता है, क्योंकि इसमें विभिन्न शाखाओं के मध्य समन्वय स्थापित करने की समस्याएं उत्पन्न नहीं होने पाती।

(v) असुरक्षा का अभाव—इस व्यवस्था में अकुशल बैंक अधिक समय तक जीवित न रहने से अकुशलता का अभाव पाया जाता है।

(vi) मितव्ययिता—इसमें छोटे पैमाने की उत्पादन प्रणाली की मितव्ययता के साथ सरलता से प्राप्त हो जाते हैं

(vii) स्थानीय वित्तीय आवश्यकतायें—इसमें स्थानीय वित्तीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर कार्य किया जाता है तथा स्थानीय जनता से प्रत्यक्ष सम्पर्क बने रहने से बैंक का संचालन उचित ढंग से सम्भव हो जाता है।

दोष—इकाई बैंकिंग प्रणाली के प्रमुख दोष निम्न हैं:

(i) विफलता का भय—इसमें जोखिम का भौगोलिक वितरण न होने से बैंक की स्थिरता में कमी आ जाती है तथा अन्य कठिनाइयां उपस्थित होने पर बैंकों की विफलता का भय बना रहता है।

(ii) सुधार में कठिनाई —इसमें व्यवसाय का पैमाना छोटा होने से बैंक के प्रबन्धन में कुशलता का अभाव पाया जाता है जिसमें सुधार करना अत्यन्त कठिन होता है।

(iii) वित्तीय साधनों का अभाव—इसमें बैंकों का आकार छोटा होने से पर्याप्त वित्तीय साधनों का अभाव पाया जाता है जिससे स्थानीय आर्थिक विकास में बाधाएं उपस्थित होती हैं।

(iv) नियंत्रण व निरीक्षण का अभाव—इस व्यवस्था के अन्तर्गत बैंकों पर सरकारी नियंत्रण एवं निरीक्षण करना अत्यन्त कठिन होता है।

(v) गतिशीलता का अभाव—इस पद्धति में गतिशीलता का अभाव पाया जाता है और इस कारण से नकदी के स्थानान्तरण की समस्या बनी रहती है।

(3) समूह बैंकिंग प्रणाली

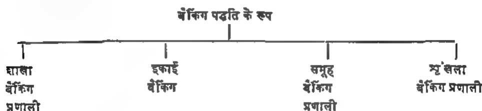
इस प्रणाली में दो या दो से अधिक बैंकों का कार्य एक कम्पनी या ट्रस्ट में निहित हो जाता है। इस प्रणाली का विकास 1926 में अमरीका में हुआ तथा 1929 तक इसमें काफी विकास हुआ, परन्तु 1929 की मन्दी के पश्चात् इसका पतन

होता गया ! बाद के वर्षों में इस व्यवस्था में विशेष सुधार सम्भव न हो सका।

(4) शृंखला बैंकिंग व्यवस्था

यह व्यवस्था वर्तमान शताब्दी की घटना है तथा 1919-20 में यह प्रणाली अपनी लोकप्रियता के शिखर पर थी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत दो या दो से अधिक बैंको पर एक ही व्यक्ति का प्रभुत्व पाया जाता है। परन्तु 1929 की मन्दीकाल मे अमरीका मे अनेक शृंखला बंको की असफलता के कारण इस प्रणाली के विकास को काफी ठेस पहुची। इस प्रणाली को अमरीका में विशेषतौर पर विकसित किया गया, जहा कई शहरो मे इसके विशेष विकास केन्द्र पाये जाते थे। अमरीका में सबसे बड़ी शृंखला बैंकिंग व्यवस्था विथम पद्धति (Witham System) थी जिसके सदस्य बंको की संख्या लगभग 180 थी।

बैंकिंग पद्धति के रूपो को निम्न चार्ट द्वारा दिखाया जा सकता है :



बैंकिंग का विकास
(Development of Banking)

बैंक शब्द की उत्पत्ति जर्मनी भाषा के Banck शब्द से हुई है, जिसका आशय ढेर या समूह से है। इसी प्रकार इटली में बैंकिंग का कारोबार करने वाले व्यवसायी बैंचो पर बैठकर कार्य करते थे उन्हें बैंचो कहा जाता था, जिसे बाद मे बैंक के नाम से पुकारा जाने लगा। बैंकिंग सम्बन्धी कार्यों को प्राचीन संसार में भी देखा जा सकता है। प्राचीन रोम सभ्यता में भी बैंकिंग का पर्याप्त विकास हो चुका था। लेकिन रोम के पतन के साथ-साथ बैंकिंग का भी पतन हो गया।

12वी शताब्दी के प्रारम्भ से बैंकिंग व्यवसाय को जन्म मिला, जिनमे निजी व्यक्तियो का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण था। उस समय यहूदी लोगो को समाज से पृथक् रखा जाता था, जो सम्पूर्ण सम्पत्ति को सुरक्षित रूप से रखते थे, जिससे उन्हें बैंकिंग व्यवसाय के अपनाने मे काफी सुविधाए रही और बैंकिंग व्यवसाय में इन्होंने काफी उन्नति की। इसके बाद इटैलियनों ने इस व्यवसाय में काफी प्रगति की और अपने व्यवसाय को सम्पूर्ण योरोप तक फैला दिया। प्राचीन इतिहास मे विश्व की प्रथम सार्वजनिक बैंकिंग संस्था 1157 मे बैंक ऑफ वेनिस (Bank of Venice) व बाद मे 1401 मे बैंक ऑफ बार्सीलोना (Bank of Barcelona) व 1407 मे बैंक ऑफ जनोआ (Bank of Genoa) की स्थापना हुई। इसके अतिरिक्त योरोप मे व्यापारिक क्रियाओं मे वृद्धि के साथ-साथ वहा निजी बैंकिंग गृहों का विकास हुआ व साथ ही साथ सार्वजनिक बैंको का भी उदय हुआ। बैंको के विकास के कारण बैंक व्यवसाय मे वृद्धि हुई, जिससे समाज को मूल्य का एक सर्वमान्य मापक प्रदान किया गया। 1694 मे इङ्गलैंड मे बैंक ऑफ इंग्लैंड की स्थापना होने पर व्यापारिक बंकों का पूर्ण विकास हुआ व 1833 मे बैंकिंग अधिनियम की स्थापना से बैंको का विकास हुआ। 19वी शताब्दी मे औद्योगिक क्रान्ति से व्यापारिक बैंकिंग के विकास मे काफी वृद्धि हुई।

बैंकिंग का महत्व

वर्तमान समय में बैंकिंग के महत्व का अध्ययन निम्न प्रकार किया जा सकता है—

(1) उत्पादक कार्यों मे विनियोग—व्यक्तियों व संस्थाओ के पास जो छोटी-छोटी बचतें पड़ी रहती हैं वे उत्पादक या अन्य कार्यों में उपयोग नही हो पाती। परन्तु बैंक उन्हें अपने जमा खाते मे जमा करके व्यापार एव उद्योग व अन्य

उत्पादक कार्यों में विनियोग करता है।

(2) गतिशीलता में सहायता—बैंकिंग प्रणाली प्रायः उन आर्थिक क्रियाओं से सम्बन्धित है, जिनके द्वारा वस्तुओं का उत्पादन व वितरण किया जाता है। इससे उत्पादन क्रियाओं में तीव्रता आती है तथा मूल्य व विक्रय के भुगतान के अन्तर की सीमा को कम कर दिया जाता है।

(3) आर्थिक क्रियाओं का उचित संचालन—प्रत्येक समाज में प्रायः सीमित कोषों की असीमित मांग बनी रहती है, जिसके लिए यह आवश्यक है कि उपलब्ध कोषों को विभिन्न प्रयोगों में उचित ढंग से उपयोग किया जाये। इस कार्य को आधुनिक बैंकों द्वारा उचित ढंग से किया जाता है। इस प्रकार बैंकों द्वारा आर्थिक क्रियाओं का उचित संचालन करके सीमित साधनों का अधिकतम उपयोग सम्भव बनाया जा सकता है।

(4) खाते के रखने रूप में कार्य—बैंकों द्वारा जब धन प्राप्त किया जाता है तो उस व्यक्ति या संस्था के नाम को जमा कर देते हैं और जब यह धन उधार दिया जाता है। तो धन लेने वाले व्यक्ति के खाते को नामे करके खाते रखने के रूप में कार्य किया जाता है। इस प्रकार बैंक खातों को उचित ढंग से रखकर उचित व्यवस्था करती है।

(5) लाभ का उचित वितरण—बैंक द्वारा लाभ का उचित ढंग से वितरण करके बैंक के हित के साथ-साथ समाज को भी अधिकतम लाभ पहुंचाया जा सकता है।

(6) धन उत्पादन में सहायक—व्यक्ति अपने विवेक के आधार पर अधिकतम लाभ अर्जित करने के उद्देश्य से उत्पादन की योजना का निर्माण करता है तथा उसके लिए पर्याप्त मात्रा में धन का विनियोग भी करता है। इसके लिए आवश्यकता पड़ने पर वे बैंकों से भी ऋण प्राप्त करते हैं। बैंकों द्वारा ऋण देने से पूर्व उनके विनियोग योजनाओं पर विचार-विमर्श किया जाता है और इस सम्बन्ध में प्रायः उत्पादक कार्यों के लिए ही धन उधार दिया जाता है।

(7) समन्वय स्थापित करना—संस्थाओं की वित्त सम्बन्धी आवश्यकताएं उनके आकार एवं व्यापार की मात्रा के आधार पर घटती-बढ़ती रहती हैं। इस प्रकार बैंकों द्वारा अपने तरल साधनों एवं मांगों में समन्वय स्थापित करके साधनों का अधिकतम उपयोग सम्भव किया जाता है।

(8) साख का सृजन—बैंकों का प्रमुख कार्य साख का सृजन करना होता है। व्यापार के अनेक कार्य नकद आधार पर न होकर साख आधार पर सम्पन्न किये जाते हैं। जो व्यापारिक क्रियाओं में वृद्धि करके उत्पादन एवं लेनदेन व्यवहारों में वृद्धि करती है। साख सृजन द्वारा समाज को विभिन्न विनिमय माध्यम उपलब्ध किये जाते हैं तथा अनेक लेन-देन बैंकों द्वारा सरलता से निपटाये जा सकते हैं। इससे व्यापारिक क्रियाओं में वृद्धि हो जाती है तथा साख का विस्तार भी सम्भव हो जाता है।

बैंक की परिभाषा

बैंक की अनेक परिभाषा समय-समय पर दी गयी हैं, जिनमें से प्रमुख परिभाषाएं निम्नलिखित हैं—

(1) एच० एल० हार्ट (H. L. Hart)—"एक बैंकर वह है, जो अपने साधारण व्यवसाय के अन्तर्गत धन प्राप्त करता है, और जिसे वह उन व्यक्तियों के चैकों का भुगतान करके चुकाता है, जिनके खातों में यह धन जमा किया गया है।"[1]

(2) फिण्डले शिराज (Findley Shiras)—"एक बैंकर वह व्यक्ति, फर्म या कम्पनी है, जिसके पास एक व्यवसाय स्थान होता है, जहां मुद्रा या करेन्सी के जमा या संग्रह द्वारा साख का कार्य आरम्भ किया जाता है, तथा जहां स्कन्ध के आधार पर मुद्रा उधार दी जाती है व बौण्ड, बिल, बुलियन तथा प्रोनोट आदि बट्टे पर भुनाये व बेचे जाते हैं।"[2]

1. A banker is one who in the ordinary course of his business, receives money which he pays by honouring cheques of persons from whom or on whose account he receives it."—H. L. Hart.

2. "A banker is a person, firm or company, having a place of business where credits are opened by the deposits or collection of money or currency; subject to be paid or remitted upon draft, cheques or where money is advanced or loaned or stocks, bonds, bullion and B/N and P/N are received for discount and sale."—Findley Shiras.

(3) किनले (Kinley)—बैंक एक ऐसी संस्था है, जो सुरक्षा व आवश्यकता का ध्यान रखते हुए ऐसे व्यक्तियो को ऋण प्रदान करती है, जिन्हें उसकी आवश्यकता है, और जिसके पास धन अनावश्यक पड़ा है, वे व्यक्ति अपने धन को जमा कर देते हैं।"[1]

दोष—उपर्युक्त परिभाषायें दोषपूर्ण एव अपूर्ण हैं। हार्ट ने अपनी परिभाषा में बैंक के समस्त कार्यों को सम्मिलित नही किया है। इसी प्रकार किनले ने अपनी परिभाषा में केवल उधार लेने के कार्यों को ही सम्मिलित किया है, जबकि इसके अतिरिक्त बैंक के और भी अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य हैं, जिन्हें इस परिभाषा में सम्मिलित नही किया गया है। इसके विपरीत फिडले शिराज ने अपनी परिभाषा में न केवल बैंक के उधार देने के कार्य को ही सम्मिलित किया है, बल्कि साख उत्पन्न करने एवं एजेन्सी के कार्यों को भी सम्मिलित किया गया है। इस दृष्टि से इस परिभाषा को सन्तोषप्रद कहा जा सकता है। परन्तु कुछ व्यक्तियो के अनुसार यह परिभाषा भी दोषपूर्ण है क्योंकि इसमें बैंक द्वारा करेन्सी के विनिमय एव द्रव्य द्वारा व्यापार को सहायता पहुचाने वाले कार्यों को सम्मिलित नही किया गया है, इस दृष्टि से इस परिभाषा को भी अपूर्ण माना गया है।

(4) कानूनी परिभाषा—भारतीय बैंकिंग अधिनियम की धारा 5 स के अनुसार "बैंकिंग कम्पनी उसे कहते हैं जो कि बैंकिंग का व्यवसाय करें।"[2]

उपयुक्त परिभाषा—बैंक की उचित परिभाषा निम्न प्रकार दी जा सकती है—

"बैंकिंग व्यवसाय वह व्यवसाय है जो जनता को उधार देने एव विनियोग के उद्देश्य से जनता के ही धन को जमा के रूप में स्वीकार करके, चैक या अन्य किसी प्रकार के आदेश के आधार पर माग करने पर भुगतान किया जाता है।"

बैंकों के प्रकार (Types of Banks)

बैंक निम्न प्रकार के होते हैं :—

(1) व्यापारिक बैंक (Commercial banks)—जो बैंक सामान्य बैंकिंग का कार्य करें उसे व्यापारिक बैंक कहते हैं।
(2) औद्योगिक बैंक (Industrial banks)
(3) कृषि बैंक (Agricultural banks)
(4) बचत बैंक (Savings banks)
(5) केन्द्रीय बैंक (Central banks)
(6) विनिमय बैंक (Exchange banks)
(7) अन्य बैंक (Other banks)

साख का निर्माण
(Creation of Credit)

बैंको द्वारा ऋण प्रदान करते समय अपने तरल या नकद कोषों की मात्रा को ध्यान में रखना आवश्यक होता है। बैंक अपने तरल साधनों के आधार पर साख देने की व्यवस्था करते हैं तथा कई गुना साख का प्रबन्ध करने में सफल हो जाते हैं। अत यह कहा जाता है कि बैंक साख का सृजन करते हैं तथा व्यापारिक क्रियाओं में वृद्धि करते हैं।

ढग—बैंकों द्वारा साख सृजन करने के विभिन्न ढग निम्नलिखित हैं :

1. "Bank is an establishment which makes to individuals such advances of money as may be required and safely made and to which individuals entrust money when not required by them for use."—Kinley.

2. "Banking company means any company which transacts the business of banking."

(1) नकद जमा रीति—प्रत्येक बैंक विभिन्न शर्तों के अन्तर्गत जनता से धनराशि प्राप्त करते हैं जिसे नकद जमा कहते हैं और जमाकर्ता इस राशि का बहुत कम भाग ही अपनी आवश्यकता पड़ने पर निकालता है तथा शेष धन बैंक मे ही बेकार पड़ा रहता है। बैंक ग्राहकों की आवश्यकताओं को ध्यान मे रखते हुए अपनी जमा राशि का थोड़ा-सा भाग नकद मे रखकर शेष धन को ऋण के रूप में दे देता है तथा ब्याज की आय प्राप्त करता है। बैंक जो ऋण स्वीकार करता है वह प्रायः नकद में देकर ऋणी के खाते मे जमा कर दिया जाता है जो आवश्यकता पड़ने पर उसे चैक लिखकर निकालता रहता है, जिसे साख जमा के नाम से जाना जाता है। साख जमा से बैंक की कुल जमा मे वृद्धि हो जाती है, जिसके आधार पर बैंक अधिक मात्रा मे ऋण देने में समर्थ हो जाता है। इस प्रकार बैंक जितना अधिक ऋण देता है उतनी ही अधिक जमा उसे प्राप्त होती है और जितनी अधिक जमायें उसे प्राप्त होती हैं, उतनी ही अधिक साख का सृजन किया जाता है। अधिक लम्बी अवधि के लिए जमा प्राप्त होने पर बैंक भी साख अधिक लम्बे समय तक दे सकते हैं।

(2) प्रतिभूतियों का क्रय—बैंक अपने ग्राहकों से प्रतिभूतियों को क्रय करके उनका भुगतान चैक द्वारा करते हैं तथा अपने लिए नकद राशि की आवश्यकता पड़ने पर उसे केन्द्रीय बैंक से भुना लेते हैं। इस प्रकार प्रतिभूतियों का क्रय करके बैंक बड़े पैमाने पर साख का सृजन करते हैं।

(3) नोटों का निर्गमन—प्राचीन समय मे बैंकों को नोटों का निर्गमन करके साख का निर्माण करने के अधिकार प्राप्त थे, जिसमे बैंकों द्वारा यह प्रतिज्ञा की जाती थी कि वह उन नोटो के बदले सोना या चांदी दे देगा। इस प्रकार जब कोई बैंक नोट जारी करता है तो उसे अपने पास कोष मे सोना या चांदी रखनी पड़ती है जिससे नोटों को कभी भी भुनाकर साख का निर्माण किया जा सके। परन्तु सभी नोटधारी एक साथ नोटो का भुगतान नही माँगते अतः बैंक केवल कुछ प्रतिशत भाग ही धातु कोष मे रख लेते हैं और इस प्रकार साख के निर्माण का कार्य करते हैं।

वर्तमान समय मे मुद्रा व साख की मात्रा पर नियंत्रण रखने एवं नोटो में एकरूपता लाने के उद्देश्य से नोटों के प्रकाशन का एकाधिकार देश के केन्द्रीय बैंक को सौंप दिया जाता है जो मूल्यवान धातु का कुछ प्रतिशत भाग ही अपने कोष मे रखकर देश की व्यापारिक आवश्यकताओं के आधार पर नोटो का प्रकाशन करके साख का सृजन करता है। भारत में नोटो के प्रकाशन का एकाधिकार रिजर्व बैंक आफ इण्डिया को सौंपा गया है। भारत मे न्यूनतम जमा पद्धति के आधार पर नोटों का प्रकाशन किया जाता है। न्यूनतम जमा मे 200 करोड़ रु० की राशि ही जमा की जाती है जिसमे से 115 करोड़ रुपये का स्वर्ण एवं शेष सरकारी प्रतिभूतियों के रूप मे रखा जाता है।

(4) अधिविकर्ष की सुविधायें—बैंको द्वारा अधिविकर्ष की सुविधाएं उन व्यापारियों को दी जाती हैं, जिनकी साख अच्छी होती है। अधिविकर्ष की सुविधा मे बैंक अपने ग्राहकों को स्वीकृत राशि से उनके खातो मे जमा करके आवश्यकता पड़ने पर उसे निकालने की सुविधाए प्रदान करती है। इस प्रकार की व्यवस्था करके बैंक साख का सृजन करने में सहायता प्रदान करती है।

साख निर्माण की शर्तें
(Conditions of Creation of Credit)

बैंको द्वारा साख का निर्माण निम्न शर्तों पर ही सम्भव होगा :



(1) सब धन निकालने की प्रवृत्ति न होना—साख निर्माण करते समय इस बात की कल्पना की जाती है कि समस्त जमा करने वाले एक साथ आकर अपना धन नहीं निकालेंगे क्योंकि जो व्यक्ति बैंक में धन जमा करते हैं, वह उसे एक साथ न निकालकर आवश्यकतानुसार धीरे-धीरे ही निकालेंगे, जिससे बैंको को साख निर्माण करने के अवसर प्राप्त हो जायेंगे अतः एक साथ धन न निकालने की प्रवृत्ति के आधार पर ही साख का निर्माण सरलता से किया जा सकता है।

(2) **समाशोधन गृह की सुविधायें**—चैक द्वारा भुगतान करने पर बैंक प्रत्येक चैक का भुगतान नकद न करके दूसरे बैंक के खाते मे जमा कर लेते हैं तथा समाशोधन प्रणाली के अन्तर्गत अन्तर की राशि का हस्तांतरण कर लेते हैं। इस प्रकार की प्रक्रिया से वास्तविक लेनदेन की राशि की बहुत कम आवश्यकता पड़ती है। यही कारण है कि समाशोधन गृह की सुविधा से थोड़े से नकद कोष के आधार पर ही बैंक विशाल मात्रा मे ऋण का सृजन कर लेते हैं।

(3) **बैंक में विश्वास**—जमा करने वालो को बैंक की आर्थिक दशा में विश्वास करना अत्यावश्यक है। बैंक मे विश्वास होने पर ही वे अपना धन उसमे सरलता से जमा कर देते हैं, जिसके आधार पर बैंको द्वारा साख का निर्माण किया जाता है। यदि जनता को बैंको में विश्वास न रहे तो वह जमा राशि वापिस लेने लगेंगे, जिससे बैंक की आर्थिक स्थिति बिगड जाती है तथा वह असफल हो सकती है। अतः साख सृजन के लिए जनता द्वारा बैंक में विश्वास होना आवश्यक है।

(4) **साख-पत्रों का प्रयोग**—बैंको द्वारा व्यापारिक कार्यों मे चैक, बिल, हुण्डी आदि साख-पत्रों का प्रयोग होना आवश्यक है, जिससे साख का निर्माण सरलता से किया जा सके।

साख निर्माण की सीमाए
(Limitations of Credit Creation)

बैंकों द्वारा साख निर्माण की एक सीमा होती है, जिससे अधिक वह साख का निर्माण नहीं कर पाते। यदि उस सीमा से अधिक साख का निर्माण किया गया तो उससे जनता का बैंको मे विश्वास समाप्त होकर बैंक के अस्तित्व को खतरा उत्पन्न हो जायेगा। अतः *साख निर्माण की सीमाओ को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—*

(1) **बैंकिंग आदत**—यदि जनता मे बैंकिंग आदत है तो वह थोडे से धन को अपने पास रखकर शेष राशि को बैंक मे जमा कर देंगे। बैंक मे नकद राशि अधिक आने पर वह अधिक मात्रा मे साख का सृजन कर सकेगा। इसके विपरीत जनता मे बैंकिंग आदत का अभाव पाया जाता है तो वह नकद राशि बैंकों में जमा न करके अपने पास रखेंगे और बैंक साख का निर्माण सरलता से करने में कठिनाई अनुभव करेंगे।

(2) **केन्द्रीय बैंक के पास रखा कोष**—प्रत्येक अनुसूचित बैंक को अपने दायित्वो का कुछ प्रतिशत भाग केन्द्रीय बैंक के पास सुरक्षित कोष में रखना पडता है, जिसमें दायित्वो की राशि के आधार पर कमी या वृद्धि होती रहती है। यदि यह राशि बढा दी जाये तो बैंकों के साख निर्माण की शक्ति सीमित हो जाती है। *इसके विपरीत यदि इसमें कमी कर दी* जाये तो बैंक अधिक मात्रा में साख का निर्माण कर सकेंगे। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक इस कोष की मात्रा में कमी या वृद्धि करके साख निर्माण कर सकता है।

(3) **जनता का विश्वास**—यदि जनता को बैंको में अधिक विश्वास है कि माँगने पर धन अविलम्ब वापस मिल जायेगा तो वह बैंक में अपना धन जमा कर देंगे और बैंको के साख निर्माण की सीमा बढ जायेगी। इसके विपरीत यदि *जनता को विश्वास नही है तो साख सृजन सीमा में कमी हो जायेगी।*

(4) **जमानत की प्रवृत्ति**—बैंक प्रायः अच्छी व प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियो पर ही ऋण देना उचित समझती है। यदि देश मे अच्छी प्रतिभूतियों का प्रचलन है तो बैंकों द्वारा अधिक मात्रा मे ऋण दिया जा सकेगा, *अन्यथा नही।*

(5) **केन्द्रीय बैंक का प्रतिबन्ध**—देश मे आर्थिक स्थिरता लाने के उद्देश्य से केन्द्रीय बैंक साख का नियमन व नियन्त्रण करता है, जिसमे बैंक दर नीति, खुले बाजार की क्रियाएं, सुरक्षित कोष अनुपात मे परिवर्तन आदि बातें सम्मिलित हैं। इस प्रकार देश की आवश्यकताओ को ध्यान मे रखते हुए केन्द्रीय बैंक साख का प्रसार या सकुचन करती है।

(6) **नकद कोष**—प्रत्येक बैंक को अपने दायित्वो का कुछ निश्चित प्रतिशत भाग नकद कोष मे रखना पडता है जो बैंक की सुरक्षा के लिए आवश्यक माना जाता है। यदि वह प्रतिशत बढा दिया जाये तो बैंकों के साख का संकुचन हो जायेगा। इसके विपरीत यदि यह प्रतिशत घटा दिया जाये तो साख में वृद्धि हो जायेगी।

(7) **मुद्रा की मात्रा**—*यदि देश मे मुद्रा की मात्रा का प्रचलन अधिक है तो जनता द्वारा बैंकों को अधिक धन* जमा किया जायेगा, जिसके आधार पर बैंक अपने साख का सृजन कर सकेंगे। इसके विपरीत मुद्रा की कम निकासी होने पर साख सृजन की मात्रा भी सीमित हो जायेगी।

बहुगुनी साख-सृजन

बैंकिंग प्रणाली के अन्तर्गत प्रत्येक बैंक अपने नकद जमा की राशि के कई गुने तक साख का सृजन कर सकती है। साख सृजन पर भी एक सीमा लगा दी जाती है, जो उस अनुपात द्वारा निर्धारित की जाती है जो कि केन्द्रीय बैंक अपने पास नकद कोष के सम्बन्ध मे निश्चित करती है। प्रत्येक बैंक प्राय- बहुगुनी-साख सृजन की नीति अपनाती है। जिस प्रकार समुद्र मे पत्थर डालने पर उठने वाली लहरें सम्पूर्ण चौड़ाई पर अनेक लहरें उत्पन्न करती हुई तटों पर आकर समाप्त हो जाती हैं, उसी प्रकार एक बैंक द्वारा साख का सृजन करने पर अन्य बैंको को भी साख सृजन की प्रेरणा प्राप्त होती है तथा यह सीमा नकद कोषो के अनुपात पर आकर समाप्त हो जाती है। इस प्रकार किसी एक बैंक की तुलना में देश मे स्थापित की गई समस्त बैंकों द्वारा साख का सृजन करना बहुमुखी साख सृजन कहलाता है, जो सदैव ही सुरक्षित कोष के वैधानिक अनुपात के आधार पर निश्चित एव निर्धारित की जाती है। केन्द्रीय बैंक समस्त अनुसूचित बैंको से जमा राशि के प्रतिशत मे कमी करके बहुगुनी साख-सृजन करने मे सहायता प्रदान कर सकती है।

वर्तमान आधुनिक बैंकिंग प्रणाली मे बहुगुनी साख का महत्त्व बढ़ता जा रहा है क्योकि मुद्रा के आधार पर ही व्यापार व वाणिज्य का विस्तार सम्भव हो सका है। विश्व के अधिकांश विकसित राष्ट्रों मे मुद्रा के स्थान पर साख मुद्रा का प्रचलन अधिक बढ़ गया है, जबकि वैधानिक मुद्रा को ही साख मुद्रा का आधार माना जाता है। वैधानिक मुद्रा के साथ-साथ साख मुद्रा की मात्रा मे भी घट-बढ़ होती रहती है जो मुद्रा प्रसार एवं मुद्रा संकुचन को प्रोत्साहित करता है। इस प्रकार देश की अर्थव्यवस्था मे साख मुद्रा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान होता जा रहा है। साख सृजन पर विभिन्न ढंगों से नियन्त्रण लगाये जाते हैं, जिनका पालन केन्द्रीय बैंक द्वारा किया जाता है। देश की आवश्यकताओ व परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए केन्द्रीय बैंक अपनी साख नियन्त्रण नीतियो द्वारा मुद्रा एवं साख का प्रसार एवं संकुचन करती है।

14

साख एवं साख-पत्र
(CREDIT AND CREDIT INSTRUMENTS)

प्रारम्भिक—सभ्यता की प्रारम्भिक अवस्था मे मनुष्य की सीमित आवश्यकतायें होने पर वह अपने ही साधनो से अपनी समस्त आवश्यकतायें पूर्ण कर लिया करता था। परन्तु आवश्यकताओं के बढ़ जाने पर उन्हें अपने ही साधनो से पूर्ण करना कठिन हो गया तथा इसके हल के लिए विनिमय एवं श्रम-विभाजन की रीतियों को अपनाया गया। प्रारम्भ मे वस्तु-विनिमय ढग को अपनाया गया। इसमे अनेक प्रकार की कठिनाइयां उपस्थित होने पर द्रव्य का आविष्कार किया गया तथा वस्तुओ के क्रय-विक्रय मे उसका उपयोग किया जाने लगा। वर्तमान समय मे आवश्यकताओ में अपार वृद्धि होने एव सूक्ष्म श्रम-विभाजन होने के कारण विनिमय के बिना आवश्यकताओ की पूर्ति करना सम्भव नही हो पाता। द्रव्य के अभाव मे आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करना सम्भव नहीं हो पाता। व्यवहारो की संख्या बढने के कारण समस्त लेनदेन नकद रूप मे न होकर उधार या साख के रूप में किये जाते हैं। वर्तमान समय मे साख का महत्व इतना अधिक बढ गया है कि वर्तमान अर्थव्यवस्था को साख मुद्रा अर्थव्यवस्था के नाम से जाना जाने लगा है। अतः भविष्य में भुगतान करने की प्रतिज्ञा के आधार वर्तमान में मुद्रा, वस्तुए एव सेवाएँ प्राप्त करना ही साख कहलाता है। केवल व्यापारिक लेनदेन, बैंको अथवा अन्य वित्तीय संस्थाओं से ऋण लेने की क्रियाओं की गणना ही साख के अन्तर्गत आती है। मुद्रा साख का आधार होने पर भी अधिकाश आर्थिक क्रियाएं साख द्रव्य के आधार पर ही पूर्ण की जाती हैं। साख मुद्रा एक ऐसी आधारशिला है जिस पर सभी प्रकार की आर्थिक क्रियायें आधारित रहती हैं। विकसित एव अविकसित राष्ट्रो में साख-मुद्रा की सहायता से ही समस्त कार्य सम्पन्न किये जाते हैं।

साख का अर्थ

साख शब्द की उत्पत्ति अंग्रेजी शब्द Credit से ही हुई है, जिसका अर्थ है 'I believe' अर्थात् मैं विश्वास करता हू। अत. अंग्रेजी के Credit शब्द का अर्थ विश्वास से लिया जाता है। लेटिन भाषा का Credo शब्द स्वय संस्कृत भाषा के Cred से बना है। साख का अभिप्राय केवल विश्वास से लिया जाता है। आर्थिक दृष्टि से साख का अर्थ भविष्य मे भुगतान करने के आश्वासन पर वस्तुएं प्राप्त करना है। इस प्रकार उधार लेना-देना ही साख कहलाता है। व्यापारिक दृष्टि से साख का अर्थ किसी व्यक्ति की बाजार मे प्रतिष्ठा से लगाया जाता है। बहीखाते की दृष्टि से साख से आशय खाते की जमा पक्ष से लिया जाता है।

साख की परिभाषाए

विभिन्न विद्वानो द्वारा साख की परिभाषाए निम्न प्रकार दी जा सकती हैं।

(1) कोल (Cole)—"साख वह क्रय शक्ति है जो आय से प्राप्त न होकर वित्तीय संस्थाओं द्वारा या तो बैंकों के जमा के रूप मे रखी गई निष्क्रिय आय के एक उत्पाद के रूप मे, अथवा क्रय शक्ति की कुल राशि मे वृद्धि के रूप मे,

प्राप्त की जाती है।"[1]

(2) जीड (Gide)—"साख एक विनिमय है जो एक निश्चित समयावधि के पश्चात् भुगतान करने पर पूर्ण हो जाता है।"[2]

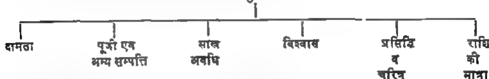
(3) टामस (Thomas)—"साख शब्द को मनुष्य की नीयत एवं आर्थिक शोध क्षमता के रूप में प्रयोग किया जाता है, जिसमें अन्य व्यक्तियों की बहुमूल्य वस्तुएं सरलता से प्राप्त हो जाती हैं, चाहे वे मुद्रा, वस्तुएं, सेवाएं या स्वयं साख के रूप में हों, जबकि एक व्यक्ति अपने नाम व प्रसिद्धि का प्रयोग किसी अन्य व्यक्ति को करने की अनुमति प्रदान करता है।"[3]

(4) विंगफील्ड स्ट्रेटफोर्ड (Wingfield Stratford)—"साख का अभिप्राय विश्वास से लगाया जाता है, तथा विश्वास स्कन्ध विपणि में उन वस्तुओं का सार है, जिनकी आशा की गई है, जिनके लिए वस्तुओं के साक्ष्य को देखा नहीं गया।"[4]

साख के मुख्य तत्त्व

साख में मुख्यतया दो तत्त्वों का होना आवश्यक है—वस्तु तथा सेवाओं का हस्तांतरण एवं भविष्यता।

साख के तत्त्वों को निम्न चार्ट द्वारा दिखा सकते हैं :



साख के प्रमुख तत्वों को निम्न प्रकार रखा जा सकता है :

(1) क्षमता (Capacity)—किसी भी व्यक्ति में विश्वास उत्पन्न करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसमें व्यवसाय को सफल बनाने की पूर्ण क्षमता हो। इस सम्बन्ध में शिक्षा एवं अनुभव क्षमता पर प्रभाव डालते हैं।

(2) पूंजी एवं अन्य सम्पत्ति—बैंक द्वारा साख प्रदान करने से पूर्व ऋणी की पूंजी एवं अन्य सम्पत्ति के बारे में जानकारी प्राप्त कर ली जाती है। यदि ऋणी की पूंजी व सम्पत्ति व्यवस्था अच्छी है तो वह बैंक से अधिक ऋण प्राप्त कर सकता है अथवा नहीं।

(3) साख अवधि—बैंक द्वारा लम्बी अवधि के लिए ऋण देना सदैव जोखिमपूर्ण होता है। अतः प्रायः छोटी अवधि के लिए ही ऋण देना अधिक पसन्द किया जाता है जिसमें अधिक जोखिम उठाने की आवश्यकता नहीं रहती।

(4) विश्वास—साख विश्वास से ही उत्पन्न होती है, यदि किसी व्यक्ति को विश्वास नहीं है तो वह ऋण देना स्वीकार नहीं करेगा। इसके विपरीत यदि उसे विश्वास है तो वह आवश्यकता से अधिक भी ऋण दे सकेगा।

1. "Credit is purchasing power not derived from income but created by financial institutions either as an offset to idle income held by depositors in the banks, or as a net addition to the total amount of purchasing power." —G. D. H. Cole, Money, p. 308

2. "Credit is an exchange which is complete after the expiry of a certain period of time after payment." —Gide

3. "The term credit is now applied to that belief in a man's probity and solvency, which will permit of his being entrusted with something of value belonging to another, whether that something consists of money, goods, services or even credit itself as when one man entrusts to another the use of his good name and reputation." —S. E. Thomas : Elements of Economics

4. "Credit is nothing more or less than faith and faith no less on the stock exchange than before the alter, is the substance of things hoped for, the evidence of things not seen." —Wingfield Stratford : History of British Civilization. Vol. II, p. 651.

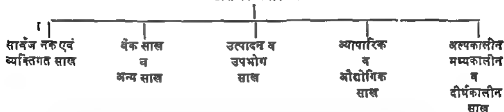
(5) प्रसिद्धि व चरित्र—यदि उधार लेने वाले व्यक्ति का चरित्र अच्छा है व वह प्रसिद्धि प्राप्त किये हुए है, तो उसकी साख भी अधिक होगी, और वह बैंक से अधिक मात्रा में ऋण प्राप्त कर सकेगा।

(6) राशि की मात्रा—राशि की मात्रा पर भी साख निर्भर करती है। यदि बड़ी राशि माँगी गई है तो उसे प्राप्त करने में अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ होंगी। इसके विपरीत छोटी मात्रा में माँगी गई राशि सरलता से प्राप्त हो जाती है, क्योंकि उसमें जोखिम का सदैव अभाव पाया जाता है और वह सरलता से स्वीकृति भी हो जाती है।

प्रो० चेण्डलर ने साख के 3 आधार निश्चित किये हैं—(1) उधार लेने वाले का व्यक्तिगत चरित्र, (2) ऋण चुकाने की शक्ति, एव (3) ऋण लेने के अधिकार में पूँजी की मात्रा।

साख का वर्गीकरण

साख के वर्गीकरण को निम्न प्रकार रखा जा सकता है :



(1) सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत साख (Public and private credit)—जो ऋण सरकार द्वारा लिये जायें उसे सार्वजनिक साख कहेंगे, जबकि व्यक्तियों द्वारा लिये गये ऋणों को व्यक्तिगत साख कहेंगे।

(2) बैंक साख व अन्य साख (Bank credit and other credit)—बैंक साख प्रायः बैंकिंग संस्थाओं द्वारा प्रदान की जाती है, जिसमें समस्त प्रकार के जमा, नोट, बैंकर की स्वीकृतियां, साख-पत्र, बॉण्ड आदि सम्मिलित किये जाते हैं। बैंकों द्वारा प्रदान किये जाने वाला साख कुल साख का एक बहुत बड़ा भाग होता है, जो स्वयं अन्य साख का आधार बन जाता है। इसके विपरीत वह साख जो सरकार, व्यक्ति या अन्य संस्थाओं द्वारा दी जाती हो, उसे अन्य साख के अन्तर्गत सम्मिलित करते हैं। केन्द्रीय बैंक साख इसका प्रधान स्रोत माना जाता है।

(3) उत्पादन व उपभोग साख (Productive and consumption credit)—उत्पादन कार्यों के लिए प्राप्त साख को उत्पादन साख में सम्मिलित करते हैं, जिसकी आय से मूलधन व ब्याज के भुगतान की व्यवस्था की जा सकती है। यह साख बड़ी मात्रा में प्राप्त की जाती है जो अनेक संस्थाओं एवं व्यक्तियों से प्राप्त की जाती है। इसके विपरीत उपभोग साख उपभोग सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु ली जाती है, जिसमें ऋणी को कोई आय प्राप्त नहीं होती और मूलधन व ब्याज के भुगतान की व्यवस्था अपने साधनों से ही करनी पड़ती है। उपभोग साख थोड़ी मात्रा में ही आवश्यक होती है, जिसका प्रबन्ध एक या दो व्यक्तियों द्वारा सम्भव हो सकता है, तथा इस पर अधिक ब्याज दिया जाता है।

(4) व्यापारिक व औद्योगिक साख (Commercial and industrial credit)—दैनिक व्यापारिक कार्यों के लिए उधार लिये गये धन को व्यापारिक साख में सम्मिलित करते हैं, जिसकी आवश्यकता कच्चो सामग्री क्रय करने, विज्ञापन, श्रमिकों को मजदूरी देने आदि में किया जाता है। इसका सम्बन्ध अल्पकालीन ऋणों से होता है, जो बैंकों व महाजनों से प्राप्त हो जाता है। इसके विपरीत औद्योगिक व निर्माण कार्यों के लिए विशाल मात्रा में जो पूँजी प्राप्त की जाये, उसे औद्योगिक साख कहेंगे, जिसकी आवश्यकता भूमि, भवन, मशीन, व अन्य स्थायी सम्पत्तियों के क्रय के लिए आवश्यक होती है। यह ऋण दीर्घकालीन अवधि के लिये प्राप्त किए जाते हैं।

(5) अल्पकालीन, मध्यकालीन, व दीर्घकालीन साख (Short term, medium and long term credit)—जो ऋण कुछ दिनों या महीनों के लिये प्राप्त किये जायें वह अल्पकालीन साख कहलाता है। जो ऋण 1 से 5 वर्ष की अवधि के लिए प्राप्त किये जायें, उन्हें मध्यकालीन साख कहेंगे। इसके विपरीत जो ऋण 5 से अधिक वर्षों के लिए प्राप्त किये जाते हैं, उन्हें दीर्घकालीन ऋण कहेंगे।

वर्तमान समय में माग पर देय साख का महत्व काफी बढ़ गया है, जो ऋणदाता की मांग पर वापस कर दिया जाता है। इसे याचना ऋण के रूप में रखा जाता है, जो किसी भी समय वापस मांगे जा सकते हैं। मांग पर देय साख का प्रयोग प्रायः ऐसी सम्पत्तियों पर किया जाता है जो किसी भी समय तरलता में परिवर्तित किये जा सकते हैं।

साख के गुण

साख विभिन्न दृष्टिकोणों से बहुत उपयोगी है, जिसका आभास निम्न विवरण से हो सकता है :

(1) वैयक्तिक सुख—बुद्धिमानी से प्रयोग की गई साख जीवन में भौतिक सुखों की पूर्ति में योगदान कर सकती है। साख ही आकस्मिक विपत्ति से छुटकारा दिलाने का सर्वोत्तम साधन मानी जाती है।

(2) सरल भुगतान—भुगतानों में सरलता मिलने के कारण देशी एवं विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन मिला है और विभिन्न देश राजनीतिक दृष्टि से एक-दूसरे के बहुत समीप आ गये हैं।

(3) तेल का काम—आर्थिक कठिनाइयों से अवरुद्ध औद्योगिक इकाइयों के लिए साख तेल का कार्य करती है। इससे देश में औद्योगिक क्षमता में वृद्धि होती है व राष्ट्रीय सम्पन्नता को प्रोत्साहन मिलता है।

(4) लेनदेन में सुविधा—साख से साख-पत्रों का प्रचार बढ़ा है और लेनदेन में सुविधाएं हो गयी हैं।

(5) राष्ट्रीय हित—सरकार अनेक कार्यों को उधार लेकर ही पूर्ण करती है। इसमें जनता का अधिक विश्वास रहता है और देश-विदेश से कम ब्याज पर पर्याप्त राशि उधार ली जा सकती है।

(6) पूंजी निर्माण—साख के कारण जनता बचतों को बैंक में जमा करने लगी है जो पूंजी का रूप धारण कर लेती है।

(7) नियंत्रित अर्थव्यवस्था—साख के माध्यम से देश की सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को अनुशासन में रखा जा सकता है। नियोजित अर्थव्यवस्था में साख-नियंत्रण अर्थतंत्र नियमन का महत्वपूर्ण शस्त्र है।

साख की सीमाएं

साख की सीमाओं को निम्न तीन भागों में रखा जा सकता है :

(अ) साख प्रदान करने वाला व्यक्ति—इस सम्बन्ध में साख की सीमाएं निम्न बातों से निर्धारित होती हैं—

(i) पूंजी की मात्रा—अधिक बचत होने पर अधिक मात्रा में पूंजी का निर्माण किया जा सकता है और अधिक मात्रा में साख प्रदान की जा सकती है। औद्योगिक राष्ट्रों में जनता का जीवन स्तर ऊंचा होने के कारण वहां अधिक मात्रा में धन के विनियोजन की आवश्यकता होती है, जिससे साख प्रदान करने की क्षमता भी बढ़ जाती है। इसके विपरीत अविकसित राष्ट्रों में बचत कम होने से पूंजी का निर्माण सम्भव नहीं हो पाता और साख की व्यवस्था भी सम्भव नहीं हो पाती।

(ii) आय की मात्रा—यदि साख प्रदान करने से अच्छी आय प्राप्त होने की सम्भावना हो तो देश में साख प्रदान करने को प्रोत्साहन मिलता है तथा साख की सीमाएं भी बढ़ जाती हैं।

(ब) साख प्राप्त करने वाला व्यक्ति—इस सम्बन्ध में निम्न बातें साख की सीमा को प्रभावित करती हैं।

(i) पूंजी—यदि साख लेने वाले पर अधिक पूंजी की व्यवस्था है तो उस व्यक्ति को बैंकों द्वारा अधिक मात्रा में साख प्रदान की जा सकती है।

(ii) क्षमता—साख की मात्रा ऋण लेने वाले व्यक्ति की क्षमता पर भी निर्भर करती है। यदि साख प्राप्त करने वाला व्यक्ति अन्य साधनों से धन प्राप्त करके भुगतान करने की क्षमता रखता हो तो उसे पर्याप्त मात्रा में साख उपलब्ध हो सकेगी।

(iii) चरित्र—यदि साख लेने वाले व्यक्ति का चरित्र अच्छा है और उसने ऋण चुकाने में अपनी प्रतिष्ठा बना ली हो तो उसे पर्याप्त मात्रा में व सरलता से साख प्राप्त हो जाती है। इसके विपरीत यदि व्यक्ति ईमानदार नहीं है और उसका चरित्र दुर्बल है तो उसे साख सुविधाएं प्राप्त न हो सकेंगी।

(iv) प्रतिभूति—यदि साख लेने वाला व्यक्ति पर्याप्त मात्रा में अच्छी प्रतिभूति दे सकता हो तो उसे अधिक

मात्रा में साख प्राप्त हो सकेगी, अन्यथा नहीं।

(स) राष्ट्र की परिस्थितियां—राष्ट्र की परिस्थितियां साख की सीमा को निम्न प्रकार से प्रभावित करती हैं।

(i) राजनैतिक शान्ति—यदि देश मे राजनैतिक दृष्टि से शान्ति है तो साख का विस्तार सरलता से किया जा सकता है। इसके विपरीत *अशान्तिपूर्ण स्थिति में साख का विस्तार सम्भव नहीं हो पाता।*

(ii) मुद्रा नीति—यदि केन्द्रीय बैंक द्वारा सस्ती मुद्रा नीति अपनाकर बैंक दर नीची रखी जाये तो साख की मात्रा मे वृद्धि हो जाती है। इसके विपरीत मँहगी मुद्रा नीति अपनाने से साख का सकुचन होने लगता है।

(iii) प्रयोग की आदत—यदि देश मे मुद्रा के स्थान पर साख मुद्रा का अधिक प्रचलन हो, तो वहा साख का विस्तार सरलता से सम्भव हो सकेगा। इसके विपरीत यदि नकद मुद्रा का अधिक प्रचलन किया जाता है तो साख का विस्तार सम्भव न हो सकेगा।

(iv) व्यापार की दशा—तेजी के काल मे व्यापारिक समृद्धि के कारण व्यापारी अधिक मात्रा मे धन उधार लेना प्रारम्भ कर देते हैं, जिससे साख का विस्तार हो जाता है। मन्दी के काल मे लाभ की सम्भावना कम होने से कम मात्रा मे धन उधार लिया जाता है।

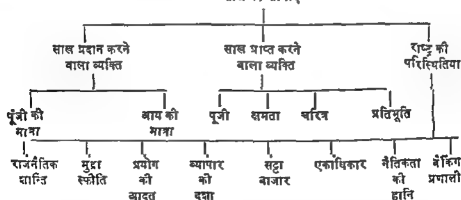
(v) *सट्टा बाजार—सटोरिये द्वारा भविष्य मे मूल्य बढने की सम्भावना से ऋणों व साख की मात्रा बढ जाती* है। परन्तु मूल्य गिरने की सम्भावना से ऋण व साख की मात्रा भी कम हो जाती है।

(vi) एकाधिकार—साख व्यवस्था मे अधिक सम्पत्ति वालो को सरलता से कम ब्याज पर ऋण प्राप्त हो जाते हैं। अत बडी इकाइयां अत्याधिक मात्रा में पूंजी प्राप्त करके उत्पादन एव वितरण पर एकाधिकार प्राप्त कर सकते हैं।

(vii) नैतिकता की हानि—साख के कारण धन का दुरुपयोग होने लगता है जिससे समाज से जुआखोरी, वेश्यावृत्ति आदि को प्रोत्साहन मिलता है और इससे नैतिक पतन होने लगता है।

(viii) बैंकिंग प्रणाली—देश में बैंकिंग प्रणाली का सुव्यवस्थित ढंग से चलने पर साख का विस्तार हो जाता है, *व बैंकिंग प्रणाली का विकास न होने पर साख का विस्तार सम्भव नहीं हो पाता।*

साख की सीमाओ को निम्न चार्ट के रूप मे रखा जा सकता है:



साख का महत्व

साख के आधार पर बडी मात्रा मे वस्तुओ का क्रय-विक्रय किया जाता है, जिसमें जोखिम व अन्य असुविधाओ से बचत हो जाती है। व्यापारिक व औद्योगिक विकास मे साख का महत्व बढता जा रहा है। वर्तमान समय में मनुष्य द्रव्य के स्थान पर साख के युग मे रहता है। साख के महत्व को उद्योगो मे अधिक बल दिया जाता है। साख मुद्रा प्रणाली में समस्त प्रकार के साख मुद्रा पत्र, *साख मुद्रा अधिनियम एवं साख मुद्रा संस्थाएं सम्मिलित की जाती हैं। साख के महत्व* को निम्न प्रकार से अध्ययन किया जा सकता है।

(1) मितव्ययिता—बचत को पूंजी के रूप मे एकत्रित करके साख के आधार पर लाभ अर्जित किया जा सकता

है, जो कि जनता में मितव्ययिता को प्रोत्साहित करके पूंजी निर्माण की दर को बढाने मे सहायता प्रदान करता है।

(2) व्यापार की वृद्धि—साख के आधार पर व्यापार एक निश्चित अवधि के लिए धन प्राप्त कर लेता है। जिसे वह व्यापारिक कार्यों मे लगा देता है, इससे व्यापार की मात्रा मे वृद्धि हो जाती है तथा व्यापारिक क्रियाएं भी बढ जाती हैं।

(3) मूल्यों में स्थिरता—देश मे तेजी या मन्दी की आशंका से बैंक पहले से ही साख पर नियन्त्रण करके मूल्यों की घटा-बढी पर नियन्त्रण लगाकर स्थिरता लाने का प्रयास करती है।

(4) दोहरी सेवाएं—साख के आधार पर विनिमय प्रणाली एवं पूंजीपति प्रणाली के रूप में दोहरी सेवाए प्राप्त होती हैं। इनमे देनदार स्वामी न होने पर भी वस्तुओ का पूर्ण उपयोग सरलता से कर सकता है। उदाहरण के लिए अमरीका मे किस्त आधार पर कार एव अन्य वस्तुए प्राप्त हो जाती हैं जिसका उपयोग व्यक्ति थोड़ी सी ही राशि देकर प्रारम्भ कर सकते हैं।

(5) रोजगार में वृद्धि—साख पूजी निर्माण दर पर प्रभाव डालकर देश मे उत्पादन एवं रोजगार में वृद्धि करता है। मन्दी के समय साख का प्रसार करके तथा तेजी के समय साख का संकुचन करके अर्थव्यवस्था मे स्थिरता लाई जा सकती है। साख की सहायता से उत्पत्ति के बेकार पड़े साधनों का उपयोग करके रोजगार की मात्रा को बढ़ाया जा सकता है। इस प्रकार उत्पत्ति मे वृद्धि करके बचतो को प्रोत्साहित किया जा सकता है।

(6) सकट मे सहायक—सकट के समय साख पर पर द्रव्य प्राप्त करके अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति सरलता से की जा सकती है। इसी प्रकार राष्ट्रीय सकट के समय या योजनाओ के निर्माण में विदेशो से ऋण लेकर सकट की परिस्थिति को दूर किया जा सकता है।

(7) पूंजी मे वृद्धि—बैंकों मे विश्वास होने के कारण जनता अपनी छोटी-छोटी बचतो को बैंको में जमा कर देती है, जिससे बैंक के पास विशाल कोष एकत्रित हो जाते हैं जो व्यापारियो व उद्योगपतियों को साख के रूप मे उधार देकर उत्पादन बढाने मे सहायता प्रदान करते हैं। इस प्रकार साख की सहायता से देश मे पूजी का निर्माण हो जाता है, जिसे लाभदायक कार्यों मे विनियोग किया जा सकता है।

(8) हस्तान्तरण सुविधाएं—साख-पत्रो के प्रयोग से एक स्थान से दूसरे स्थान एवं एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को सरलता से धनराशि का हस्तान्तरण किया जा सकता है। इसमे धन को गिनने व परखने की कठिनाइयां बच जाती हैं तथा साख-पत्र को मंगाने व भेजने मे भी कम से कम व्यय होगा।

(9) धातु मुद्रा की बचत—साख मुद्रा के प्रयोग के कारण धातु मुद्रा की घिसाई व ह्रास आदि की बचत हो जाती है तथा धातु को ढालने आदि का व्यय भी कम हो जाता है। साख-पत्रो के प्रसार द्वारा मुद्रा की कमी को पूर्ण किया जा सकेगा।

साख की हानियां

साख की हानियों को निम्न प्रकार रखा जा सकता है।

(1) फिजूलखर्ची—जब देश मे साख के आधार पर वस्तुएं व सेवाएं प्रदान की जाती हैं, जो फिजूलखर्ची को प्रोत्साहित करती हैं।

(2) वर्ग संघर्ष—साख के कारण समाज में दो वर्गों का निर्धारण हो गया है जो एक दूसरे को नीचा दिखाने में व्यस्त रहते हैं। इस प्रकार वर्ग संघर्ष को प्रोत्साहन मिलता है।

(3) एकाधिकार की स्थापना—साख प्रसार द्वारा देश के बड़े-बड़े पूंजीपतियों को अनेक सुविधाएं प्राप्त होने लगती हैं जो एकाधिकार की स्थापना करके श्रमिकों के शोषण को प्रोत्साहित करती हैं।

(4) दोषों का छिपाव—साख के आधार पर व्यापारी रुपया प्राप्त करके उसे चलाते रहते हैं जिससे व्यापारिक दुर्बलता का पता नहीं चल पाता।

(5) अत्यधिक प्रसार—अधिक लाभ अर्जित करने के लालच मे कभी-कभी साख का अत्यधिक प्रसार कर

दिया जाता है, जो व्यापारियों में सट्टेबाजी की प्रवृत्ति को जन्म देकर उसे प्रोत्साहित करती है। उत्पादन अधिक होने पर देश में आर्थिक सकट उत्पन्न होने के भय बने रहते हैं।

साख और आर्थिक विकास
(Credit and Economic Growth)

वर्तमान युग मे आर्थिक विकास मे साख का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योकि व्यापार, उद्योग बीमा आदि मे साख के बिना कोई कार्य सम्पन्न नही हो सकता। साख देश के आर्थिक विकास मे निम्न प्रकार से योगदान देता है।

(1) **चालू पूंजी**—उद्योगो को चालू पूंजी का एक महत्वपूर्ण भाग बैंको से ऋण के रूप में प्राप्त करना होता है।

(2) **मजदूरी भुगतान**—उद्योग व व्यापार को अनेक बार मजदूरी चुकाने के लिए भी साख का सहारा लेना होता है।

(3) **अतिरिक्त पूंजी**—बड़े पैमाने के उद्योगो को पूजी अनेक व्यक्तियों से प्राप्त होती है जो प्रबन्धको की साख पर ही अश खरीदे जाते हैं।

(4) **व्यापार**—आधुनिक व्यापार का क्रय-विक्रय साख के आधार पर ही चलता है। साख बन्द हो जाये तो राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ेगा।

साख मुद्रा पर नियन्त्रण
(Control On Credit Money)

मुद्रा के समान साख मुद्रा ने भी समाज को अनेक बुराइया प्रदान की हैं। साख मुद्रा ने विश्व के आर्थिक विकास में सहायता प्रदान की है व साथ ही साथ साख मुद्रा ने अर्थव्यवस्था को अस्त-व्यस्त भी कर दिया है। जैसे 1920-21 का आर्थिक संकट अस्थिर साख मुद्रा का परिणाम था व 1929 की महान् मन्दी का प्रमुख कारण साख मुद्रा का अत्यधिक विस्तार होना था। यदि साख मुद्रा पर नियन्त्रण न रखा जाये तो समाज को अनेक प्रकार की कठिनाइयो का सामना करना पड़े। समाज मे साख मुद्रा की मात्रा बढ जाने पर सट्टे को प्रोत्साहन मिलता है जो देश के आर्थिक विकास मे रुकावटें उत्पन्न करता है। साख मुद्रा व व्यापार व उद्योग के विकास मे भी अस्थिरता उत्पन्न कर देता है तथा समाज में धनी व गरीब दो वर्गों को उत्पन्न कर देता है। अत. साख मुद्रा पर उचित नियन्त्रण लगाना आवश्यक है।

बैंकों द्वारा साख का निर्माण

देश की बैंकिंग प्रणाली व्यापार तथा उद्योग को वित्तीय सहायता प्रदान करके देश के आर्थिक विकास में योगदान देती है, जो कि स्वय साख निर्माण पर ही सम्भव हो सकता है जो बैंकों द्वारा ही निर्माण की जाती है। प्रत्येक बैंक अपनी नकद जमाओ की कई गुना राशि उधार देकर कई गुना साख का निर्माण करती है। बैंक एक व्यापारिक संस्था होने के कारण अपने लाभ की मात्रा को अधिकतम करने के प्रयास करती है और इसके लिए जमाओ को प्राप्त करके तथा ऋण देकर उचित व्यवस्था करती है। बैंक केवल आवश्यक मात्रा मे नकदी को अपने पास रखकर शेष राशि को उधार देकर अधिकतम लाभ अर्जित करने के प्रयास करता है। साख निर्माण का प्रारम्भ जमाकर्ताओं द्वारा बैंक मे अपनी फालतू नकदी को जमा करने से प्रारम्भ होता है। प्रत्येक बैंक अनुभव द्वारा इस बात को ज्ञात कर लेता है कि जमाकर्ता कितनी राशि नकद मे प्राप्त कर सकेगा, वह उतनी ही राशि को रखकर शेष राशि साख निर्माण मे लगा देती है। इस प्रकार प्रत्येक बैंक की अधिकतम साख निर्माण सीमा जमाकर्ताओं की प्राथमिक जमा की राशि द्वारा निर्धारित किया जाता है। इस सम्बन्ध मे उधार लेने वाले वर्ग द्वारा साख मुद्रा की वास्तविक मांग को निर्धारित किया जाता है। इस प्रकार बैंक का कार्य उस समय से प्रारम्भ हो जाता है, जबकि वह जमाकर्ताओं के रुपये का प्रयोग करना प्रारम्भ कर देती है। बैंक अपने ही जमाकर्ताओं के रुपये का लेनदेन करती है। साख विस्तार या सकुचन मे केन्द्रीय बैंक का अधिक महत्व होता है। केन्द्रीय बैंक द्वारा

विभिन्न ढंगो से साख पर नियंत्रण लगाया जाता है। भारत मे रिजर्व बैंक ही केन्द्रीय बैंक होने के कारण साख नियन्त्रण का कार्य करती है और इसके लिए विभिन्न विभागो की स्थापना की गयी है।

साख नियन्त्रण की विधिया

साख नियन्त्रण की विभिन्न विधियो को केन्द्रीय बैंक द्वारा आवश्यकता पडने पर प्रयोग किया जाता है। साख नियन्त्रण की प्रमुख विधियो को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—(1) बैंक दर नीति। (2) खुले बाजार की क्रियायें (3) न्यूनतम कोष विधि। (4) आदेश देना व नैतिक दबाव। (5) प्रचार एव विज्ञापन। (6) अन्य रीतिया—जैसे साख मुद्रा का राशनिंग करना, आदेश का पालन न करने पर अनुज्ञापत्रो को रद्द करना, बैंकों के खातों को समय-समय पर जाच करना आदि।

इन विभिन्न साख नियन्त्रण विधियो का प्रयोग बैंक द्वारा समय-समय पर किया जाता रहा है।

साख-पत्र
(Credit Instruments)

जब कोई ऋण लिया जाता है तो इसके प्रमाण के लिए किसी न किसी प्रकार का लिखित ठहराव किया जाता है तो उसे साख-पत्र कहते हैं। यह साख-पत्र मुद्रा की ही भाति कार्य करते हैं।

प्रकार

साख-पत्र विभिन्न प्रकार के होते हैं जो कि निम्न हैं

(1) चैक (Cheque)—चैक एक शर्तरहित आज्ञा-पत्र है जो किसी बैंक पर लिखा जाता है, जिस पर लेखक के हस्ताक्षर होते हैं तथा जिसमे यह आदेश होता है कि माग करने पर एक निश्चित धनराशि निश्चित व्यक्ति को या वाहक को दी जाये।

चैक मे लेखक, निम्नपत्र एव प्राप्तकर्ता तीन पक्षकार होते हैं। चैक वाहक या आदेशानुसार हो सकता है। चैक को अधिक सुरक्षित बनाने के लिए उसका रेखांकन कर दिया जाता है। चैक के प्रयोग से अनेक लाभ प्राप्त होते हैं जैसे शीघ्र भुगतान प्राप्त होना, भुगतान का साक्ष्य होना, स्थानीय भुगतान मे सुविधा, न्यूनतम व्यय पर धन का हस्तातरण सम्भव, मुद्रा के प्रयोग मे बचत, एवं भुगतान की सुरक्षा बने रहना।

(2) हुण्डी (Hundi)—हुण्डी भारतीय बिल ऑफ एक्सचेंज कहलाते हैं, जिसका प्रयोग प्रायः व्यापारी एवं महाजन आदि करते हैं। हुण्डी कई प्रकार की होती है जैसे—देखनहार हुण्डी, नामजोग हुण्डी, शाहजोग हुण्डी एव फरमानजोग हुण्डी। हुण्डी को जोखिमी एव जिकरी चिट्ठी के रूप मे भी विभाजित किया जा सकता है। इसका प्रयोग भारत मे बहुतायत से किया जाता है तथा इसका प्रचलन अधिक लोकप्रिय है।

(3) ऋण स्वीकृति (I. O. U.)—*यह ऋण प्राप्त करने की एक लिखित स्वीकृति है, जिसमे लेखक इस बात* को स्वीकार करता है कि उसने पत्र मे लिखी राशि को ऋण के रूप मे प्राप्त किया है। इसमे देनदार का नाम, धनराशि, व तिथि के साथ हस्ताक्षर करना आवश्यक है, इसमे भुगतान की तिथि नही दी जाती है।

(4) बैंक ड्राफ्ट (Bank Draft)—यह एक प्रकार का चैक होता है जो एक बैंक अपनी अन्य किसी स्थान पर स्थित शाखा के नाम लिखता है जिसमे यह आदेश होता है कि ड्राफ्ट मे लिखे व्यक्ति या उसके आदेशानुसार व्यक्ति या धारक को लिखित राशि का भुगतान कर दिया जाये। एक स्थान से दूसरे स्थान को धन भेजने के लिए प्रायः ड्राफ्ट का ही उपयोग किया जाता है। वर्तमान समय मे ऋणो के भुगतान मे ड्राफ्ट का उपयोग ही बहुतायत से किया जाता है।

(5) प्रण-पत्र (Promissory Note)—यह एक शर्तरहित लिखित पत्र होता है, जिसमे लेखक किसी अन्य व्यक्ति को या उसके वाहक को मांगने पर एक निश्चित धनराशि चुकाने का वचन देता है। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा चालू किये गये नोट इसी श्रेणी मे रखे जाते हैं। इसमे लेखक व प्राप्तकर्ता केवल दो ही पक्ष होते हैं। यह प्रण-पत्र

अकेले या संयुक्त रूप में हो सकते हैं।

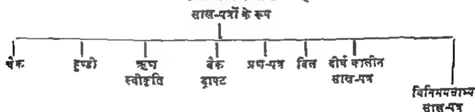
(6) बिल (Bill of Exchange)—विनिमय बिल शर्तरहित एक लिखित आज्ञापत्र होता है, जिसमें लिखने वाला व्यक्ति किसी व्यक्ति विशेष को यह आज्ञा देता है कि एक निश्चित धनराशि स्वयं को या उसकी आज्ञानुसार किसी अन्य व्यक्ति को या पत्र के वाहक को मांगने पर एक निश्चित अवधि के पश्चात् चुका दी जाये।

इसमें लेखक, लेखपात्र तथा प्राप्तकर्ता तीन पक्षकार होते हैं। बिल अनेक प्रकार के होते हैं जैसे वाहक या आदेशानुसार बिल, देशी या विदेशी बिल, मियादी या दर्शनी बिल, व्यापारिक या अनुग्रह बिल आदि। बिलों के अनेक लाभ होते हैं जैसे—(i) विदेशों से भुगतान भेजने का एक सरल व सस्ता साधन है, (ii) यह ऋणी की एक लिखित स्वीकृति होती है, (iii) इससे व्यापार के विकास को काफी प्रोत्साहन प्राप्त होता है, (iv) ऋणी को भुगतान की तिथि का स्पष्ट ज्ञान बना रहता है, (v) परिपक्वता से पूर्व भुगतान पाने पर उसे किसी बैंक या व्यापारी से छूट पर भुनाया जा सकता है, (vi) ऋण का भुगतान एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को सरलता से हस्तांतरित किया जा सकता है।

(7) दीर्घकालीन साख-पत्र (Long-Term Credit Instruments)—दीर्घकालीन साख-पत्रों में बौन्ड या ऋणपत्र, सरकारी प्रतिभूतियों एवं कम्पनियों के अंशों को सम्मिलित किया जा सकता है।

(8) विनिमयसाध्य साख-पत्र (Negotiable Credit Instruments)—ऐसे साख-पत्र जिनका स्वामित्व एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को केवल सुपुर्दगी देने या बेचान करने से हस्तांतरित हो जाये तो उसे विनिमयसाध्य साखपत्र कहेंगे। इसकी 4 विशेषतायें होती हैं जैसे—(i) यथाविधिधारी को दोषरहित अधिकार प्राप्त होना, (ii) धारी को अपने नाम से मुकद्दमा चलाने का अधिकार, (iii) केवल हस्तांतरण या बेचान द्वारा हस्तांतरण का अधिकार होना, (iv) प्रतिफल देने का अनुमान लगाना आदि। यह दो वर्गों में रखे जाते हैं जैसे प्रचलित चलन के साख-पत्र एवं कानूनी साख-पत्र।

साख-पत्रों के विभिन्न रूपों को निम्न चार्ट द्वारा दिखाया जा सकता है :

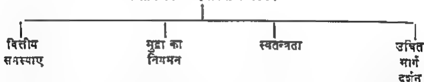


15
केन्द्रीय बैंक-व्यवस्था
(CENTRAL BANKING)

प्रारम्भिक—विश्व के सभी महत्त्वपूर्ण राष्ट्रों मे मौद्रिक एव वित्तीय प्रणाली को उचित ढंग से चलाने में केन्द्रीय बैंक का महत्त्वपूर्ण स्थान है। केन्द्रीय बैंक की सहायता से सरकार की प्रशुल्क नीति के सफल संचालन करने एवं अर्थ-तंत्र को सुचारु रूप से चलाने मे केन्द्रीय बैंक का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। केन्द्रीय बैंक की क्रियाओं मे व्यापक परिवर्तन हो गये हैं जिससे देश के आर्थिक विकास मे इनका योगदान बढ़ता ही जा रहा है। वर्तमान समय मे केन्द्रीय बैंक को देश मे आर्थिक प्रगति का मुख्य आधार माना गया है।

विश्व का सर्वप्रथम केन्द्रीय बैंक 1656 मे स्वीडेन मे निजी पूँजी की सहायता से रीक्स बैंक के नाम से स्थापित किया गया था। इस बैंक को नोट निर्गमन का एकाधिकार होने पर भी 1830 के बाद राष्ट्र की प्रमुख व्यापारिक बैंको ने नोट निर्गमन का कार्य प्रारम्भ कर दिया था। अतः 1897 में रीक्स बैंक को ही विधान पारित करके नोट निर्गमन का एकाधिकार सौंप दिया गया। इसके अतिरिक्त ब्रिटेन में 1694 में बैंक आफ इंगलैंड के नाम से केन्द्रीय बैंक की स्थापना की गई। यह बैंक प्रारम्भ मे ही संसदीय विधान द्वारा स्थापित किया गया था जिसे नोट निर्गमन के भी अधिकार सौंपे गये। इसके उपरान्त विश्व के अन्य राष्ट्रो मे भी केन्द्रीय बैंक की स्थापना की गई जैसे 1800 में बैंक आफ फ्रांस, 1814 में नीदरलैंड बैंक, 1816 मे बैंक आफ नार्वे, 1860 मे बैंक आफ रूस, तथा 1875 में रीश बैंक आफ जर्मनी की स्थापना हुई। वास्तव में केन्द्रीय बैंक व्यवस्था का सूत्रपात 20वी शताब्दी में ही प्रारम्भ हुआ जबकि विश्व के विभिन्न राष्ट्रो मे केन्द्रीय बैंकों की स्थापना 1900 के पश्चात् ही हुई। जैसे अमरीका में फ़ेडरल रिजर्व सिस्टम (Federal Reserve System) की स्थापना 1913 व कनाडा बैंक 1934 मे स्थापित किया गया।

स्थापना के कारण



विश्व में 1940 के पश्चात् अधिकांश राष्ट्रो मे केन्द्रीय बैंक की स्थापना की गई, जिसके प्रमुख कारण निम्न हैं :

(i) वित्तीय समस्याएं—युद्धोत्तरकाल में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर वित्तीय समस्याएं इतनी जटिल हो गई थी कि आपसी वित्तीय सम्बन्ध बनाये रखने के लिए तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर लेनदेन करने के लिए केन्द्रीय बैंक का निर्माण करना आवश्यक समझा गया।

(ii) मुद्रा का नियमन—विश्व में स्वर्णमान की समाप्ति से मुद्रा मे स्वय संचालकता का गुण समाप्त हो गया था, अतः ऐसी व्यवस्था करना आवश्यक समझा गया जो मुद्रा का उचित ढग से नियमन व नियंत्रण कर सके।

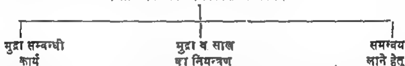
(iii) स्वतन्त्रता—1940 के पश्चात् एशिया एवं अफ्रीका के अनेक राष्ट्रो को राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हुई,

जिन्होंने अपनी मुद्रा एवं बैंक व्यवस्था के उचित संचालन के लिए केन्द्रीय बैंक की स्थापना आवश्यक समझी।

(*iv*) *उचित मार्ग दर्शन*—गत वर्षों मे प्रायः सभी राष्ट्रों मे बैंको का अत्यधिक विकास हुआ तथा बैंकिंग कार्यवाहियों में अधिक जटिलता उत्पन्न हो गई। अतः बैंकों के कार्यों के उचित मार्गदर्शन एव पूर्ण नियमन व नियन्त्रण के लिए उन राष्ट्रो मे केन्द्रीय बैंक की स्थापना करना अनिवार्य एवं आवश्यक समझा गया तथा विभिन्न राष्ट्रो में केन्द्रीय बैंक की स्थापना हुई।

केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता (*Need for a Central Bank*)

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् राष्ट्रीयता की भावना एवं राजकीय नियन्त्रण उत्पन्न होने से केन्द्रीय बैंकिंग के विकास को अधिक महत्व दिया गया। 1920 मे ब्रूसेल्स में अन्तर्राष्ट्रीय वित्त सम्मेलन हुआ, जिसमे विभिन्न राष्ट्रो मे एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना का सुझाव रखा गया, जो विभिन्न बैंको के पथ-प्रदर्शन का कार्य कर सकें। सम्मेलन मे प्रस्ताव पारित होने के 30 वर्षों की अल्पावधि में विश्व के विभिन्न राष्ट्रों में केन्द्रीय बैंक का तीव्र गति से विकास हुआ। 1920 से 1937 तक लगभग प्रति वर्ष विश्व के किसी न किसी राष्ट्र मे केन्द्रीय बैंक की स्थापना होती रही। प्रत्येक राष्ट्र में केन्द्रीय बैंक की स्थापना करना निम्न कारणों से आवश्यक समझा गया।



(i) **मुद्रा सम्बन्धी कार्य**—देश मे पत्र मुद्रा का निर्गमन विभिन्न बैंको द्वारा किया जाता था, जिसमे विभिन्न प्रकार के नोट निर्गमित किये जाते थे तथा उनकी नीतियो मे एकरूपता का अभाव पाया जाता था। नोट निर्गमन में असमानता उत्पन्न होकर आवश्यकता का ध्यान नही रखा जाता था। अतः यह आवश्यक समझा गया कि मुद्रा सम्बन्धी समस्त कार्य किसी एक बैंक द्वारा किया जाना चाहिए, जो देश की आवश्यकताओं के अनुरूप कार्य का सचालन करके नोट निर्गमन की उचित व्यवस्था कर सके।

(ii) **मुद्रा व साख का नियंत्रण**—मुद्रा व साख की मात्रा का प्रभाव राष्ट्र के विभिन्न उद्योगों व व्यापार पर पड़ता है। अत. व्यापार व उद्योग पर नियंत्रण लगाने के लिए मुद्रा व साख पर नियन्त्रण लगाना होगा, जो कि केन्द्रीय बैंक द्वारा ही सम्भव हो सकता है।

समन्वय लाने हेतु—देश मे विभिन्न प्रकार के बैंक व्यापार एव उद्योगो का अर्थ-प्रबन्धन करते हैं, जिनमें किसी प्रकार का समन्वय न होने के कारण वह देश की आर्थिक व्यवस्था को खतरे मे डाल देते हैं। अत. इन समस्त बैंकों में आपसी समन्वय स्थापित करने के लिए केन्द्रीय बैंक की स्थापना करना आवश्यक समझा गया।

परिभाषा

केन्द्रीय बैंक की प्रमुख परिभाषाएं निम्न हैं :

(1) *बैंक ऑफ इण्टरनेशनल सैटिलमेन्ट्स*—"*किसी भी राष्ट्र में केन्द्रीय बैंक वह बैंक है, जिसे देश मे मुद्रा एवं साख की मात्रा को नियमन करने का दायित्व सौंप दिया गया हो।*"[1]

(2) प्रो० केन्ट—"यह एक ऐसी संस्था के रूप मे परिभाषित की जा सकती है, जिसे सामान्य जनकल्याण के हित मे मुद्रा की मात्रा के विस्तार एवं संकुचन को प्रबन्ध करने का उत्तरदायित्व होता है।"[2]

इस प्रकार केन्द्रीय बैंक साख एवं मुद्रा का देश के हित मे नियमन करता है, मुद्रा के बाह्य मूल्य का नियंत्रण

1. "A central bank is the bank in any country to which has been entrusted the duty of regulating the volume of currency and credit in the country."—*Bank for International Settlements*

2. "It may be defined as an institution charged with the responsibility of managing the expansion and contraction *of the volume of money* in the interest of the general public work."

—Money and Banking, p. 351

व संरक्षण करता तथा उत्पादन, व्यापार मूल्य एवं रोजगार के उच्चावचनों को रोकता है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक एक ऐसी संस्था होती है जो देश की मौद्रिक, साख एवं बैंकिंग व्यवस्था का निर्देशन एवं नियमन करती है तथा देश की आर्थिक प्रगति में योग देती है। केन्द्रीय बैंक द्वारा पर्याप्त मात्रा में मुद्रा चलन में डाली जाती है, साख की मात्रा का नियमन किया जाता है तथा बैंकिंग व विदेशी विनिमय व्यवस्था पर नियन्त्रण रखा जाता है।

उचित परिभाषा—केन्द्रीय बैंक एक ऐसी संस्था है जो देश की मौद्रिक, बैंकिंग एवं साख-व्यवस्था का नियमन एवं निर्देशन इस ढंग से करती है कि उससे देश की आर्थिक प्रगति उचित ढंग से सम्भव हो सके।

केन्द्रीय बैंक व व्यापारिक बैंक में अन्तर

यह अन्तर निम्न प्रकार है

(i) नीति का अन्तर—राष्ट्र की मौद्रिक नीति प्रतिकूल होने पर केन्द्रीय बैंक एक उचित नीति अपनाकर उसे सुधारने की चेष्टा करता है, जबकि व्यापारिक बैंक ऐसी नीति नहीं अपना सकता।

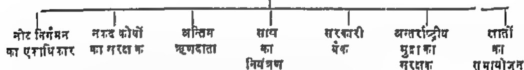
(ii) राजनीतिक प्रभाव—केन्द्रीय बैंक निष्पक्ष रूप से बिना किसी राजनीतिक प्रभाव के कार्य करता है, जबकि व्यापारिक बैंकों के कार्यों पर राजनीतिक दलों का प्रभाव पड़ता है।

(iii) उद्देश्य का अन्तर—केन्द्रीय बैंक का मुख्य उद्देश्य देश में आर्थिक स्थिरता स्थापित करना होता है तथा लाभ कमाना उसका मुख्य उद्देश्य नहीं होता। इसके विपरीत व्यापारिक बैंकों का मुख्य उद्देश्य लाभ अर्जित करना है तथा आर्थिक स्थिरता की स्थापना से उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता।

(iv) अन्तिम ऋणदाता—आवश्यकता पड़ने पर केन्द्रीय बैंक अन्तिम ऋणदाता के रूप में कार्य करता है।

(v) मुद्राचलन अधिकार—मुद्रा चलन पर केन्द्रीय बैंक का एकाधिकार होता है, जबकि व्यापारिक बैंकों को ऐसे अधिकार प्राप्त नहीं हो पाते।

केन्द्रीय बैंक के कार्य
(Functions of Central Bank)



डॉ० डी० काक (De Kock) ने केन्द्रीय बैंक के निम्न कार्य बताये हैं :

(1) नोट निर्गमन का एकाधिकार (Monopoly of Note Issue)
(2) अनुसूचित बैंकों के नकद कोषों का संरक्षक (Custodian of Cash Reserves of Scheduled Banks)
(3) अन्तिम ऋणदाता (Lender of Last Resort)
(4) साख का नियमन (Control of Credit)
(5) सरकारी बैंकर, एजेण्ट एवं सलाहकार (Government Banker, Agent and Advisor)
(6) अन्तर्राष्ट्रीय करेंसी का संरक्षक (Custodian of International Currency)
(7) खातों का समाशोधन व स्थानान्तरण (Bank of Clearance and Transfer)

(1) नोट निर्गमन का एकाधिकार

प्रत्येक राष्ट्र में नोटों के निर्गमन का एकमात्र अधिकार केन्द्रीय बैंक को प्राप्त होता है तथा किसी अन्य बैंक को नोट निर्गमन करने का अधिकार प्राप्त नहीं होता। विश्व के कुछ राष्ट्रों में तो केन्द्रीय बैंक की स्थापना ही नोट निर्गमन के लिए की गई। अविकसित एवं विकासशील राष्ट्रों में नोट निर्गमन का महत्त्व बढ़ जाने से बैंक-व्यवस्था का विशेष विकास

हुआ है व विकसित राष्ट्रों में बैंक निक्षेप का महत्त्व बढता जा रहा है।

नोट निर्गमन एकाधिकार के गुण—केन्द्रीय बैंक को ही नोटो के निर्गमन का कार्य सौंपने से निम्न लाभ प्राप्त होते हैं—

(i) जनता का विश्वास—केन्द्रीय बैंक को नोट निर्गमन का अधिकार देने से जनता के विश्वास में वृद्धि सम्भव हो जाती है।

(ii) व्यापारिक आवश्यकतायें—देश की व्यापारिक आवश्यकताओ से निकट का सम्पर्क रहने के कारण केन्द्रीय बैंक द्वारा व्यापारिक आवश्यकताओ का ध्यान रखा जा सकता है।

(iii) निर्गमन में एकरूपता—नोट निर्गमन का अधिकार केवल केन्द्रीय बैंक को देने से निर्गमन मे एकरूपता व समानता आ जाती है।

(iv) त्रुटियों पर नियन्त्रण—इससे सरकार को नोट निर्गमन के सम्बन्ध में त्रुटियो पर नियन्त्रण रखने मे सरलता हो जाती है।

(v) लाभ मे सुविधा—केन्द्रीय बैंक को लाभो पर कर लगाकर नोट निर्गमन के लाभो को प्राप्त करने मे सुविधा रहती है।

(vi) स्थिरता—केन्द्रीय बैंक द्वारा मुद्रा की आन्तरिक एवं बाह्य कीमत मे स्थिरता स्थापित की जा सकती है।

(vii) नियन्त्रण समस्या का समाधान—केन्द्रीय बैंक को एकाधिकार देने से नियन्त्रण की समस्या सुलझ जाती है तथा साख मुद्रा के विस्तार को सीमित कर दिया जाता है।

(viii) नियमन व नियन्त्रण—मुद्रा स्फीति के भय से बचने के लिए निर्गमित राशि का एक निश्चित प्रतिशत भाग स्वर्ण कोष मे रख दिया जाता है जिससे नोट निर्गमन की मात्रा का उचित ढंग से नियमन व नियन्त्रण किया जा सके।

(2) अनुसूचित बैंको के नकद कोषो का सरक्षक

इंगलैण्ड के केन्द्रीय बैंक की प्रारम्भिक काल से ही व्यापारिक एव बैंकिंग क्षेत्र मे बहुत ऊँची साख थी। इसी कारण इंगलैण्ड के अधिकाश बैंको ने अपने खाते बैंक ऑफ इंगलैण्ड मे खोले तथा आपत्ति के समय बैंक आफ इगलैण्ड से उपयुक्त राशि उधार ले लेते थे। अत. व्यापारिक बैंक स्वेच्छा से केन्द्रीय बैंक मे राशि जमा कर देते थे और इस स्वस्थ परम्परा को अमरीका मे 1913 मे वैधानिक रूप दे दिया गया। इसे अन्य देशों ने भी अपनाना प्रारम्भ कर दिया। केन्द्रीय बैंक का देश की अन्य बैंको से लगभग उसी प्रकार का सम्बन्ध रहता है जैसा कि एक साधारण बैंक का अपना ग्राहको से होता है। इस कारण इसे बैंको का बैंक कहा जाता है, तथा इसके पास सदस्य बैंको के नकद कोषो का एक भाग जमा के रूप मे रहता है, जिससे इसे सुरक्षित कोषों का रक्षक कहा जाता है और जो देश की बैंकिंग एवं साख प्रणाली को सुदृढ़ बनाती है।

लाभ—इस प्रकार की व्यवस्था के प्रमुख लाभ निम्न हैं:

(i) साख नीति का नियन्त्रण—केन्द्रीय बैंक को व्यापारिक बैंकों के साख निर्माण नीति को नियन्त्रित करने के अवसर प्राप्त होते हैं।

(ii) नकद कोष में मितव्ययिता—बैंको का आपसी लेन-देन केन्द्रीय बैंकों के द्वारा होने से मुद्रा का प्रयोग न्यूनतम मात्रा मे किया जाता है, जिससे नकद कोषो के उपयोग मे मितव्ययिता लाई जा सकती है।

(iii) कोष का सदुपयोग—व्यापारिक बैंकों के पास बडी मात्रा मे कोष बँधा नहीं रहता जिससे सकट के समय उसका सदुपयोग सरलता से किया जा सकता है।

(iv) व्यावसायिक परामर्श—केन्द्रीय बैंक अन्य बैंको के मित्र एवं मार्गदर्शक का कार्य करके, उन्हें समय-समय पर व्यावसायिक परामर्श भी प्रदान करता है।

(v) समाशोधन का कार्य—प्राय. सभी बैंको के खाते केन्द्रीय बैंक मे होने के कारण उन बैंकों के समस्त लेनदेन का समाशोधन भी सरलता से किया जा सकता है।

दोष—इस व्यवस्था के प्रमुख दोष निम्न हैं:

(i) तरल कोषों मे कमी—इस व्यवस्था से बैंको के तरल कोषो में कमी आ जाती है तथा यह मृत सम्पत्ति के समान पड़ी रहती है जिसको बैंक अन्य कार्यों मे उपयोग नही कर पाते।

(ii) ब्याज की हानि—इन कोषों पर व्यापारिक बैंको को ब्याज का भुगतान करना होता है, जिससे उसे ब्याज की हानि सहन करनी पड़ती है।

(3) अंतिम ऋणदाता

व्यापारिक बैंकों के ग्राहकों द्वारा अधिक मात्रा में उधार मांगने पर केंद्रीय बैंक से सहायता प्राप्त की जाती है और इस प्रकार वह अंतिम ऋणदाता के रूप में कार्य करता है। यह सहायता दो ढंगों से की जा सकती है जो निम्न हैं—

(i) प्रतिभूति पर ऋण—केंद्रीय बैंक सरकारी प्रतिभूतियों को धरोहर के रूप में रखकर एक वर्ष की अवधि के लिए ऋण की व्यवस्था की जाती है, जिसमें किसी प्रकार की कोई जोखिम भी नहीं रहती है। इन सरकारी प्रतिभूतियों को किसी भी समय बाजार में बेचा जा सकता है।

(ii) पुनर्कटौती सुविधा—व्यापारी द्वारा उधार माल खरीदने पर वह विक्रेता को प्राय: 91 दिन का बिल स्वीकार करके दे देता है। विक्रेता इस बिल को तत्काल अपने बैंक से भुना लेता है। व्यापारिक बैंक उस बिल को आवश्यकता पड़ने पर केंद्रीय बैंक से पुनर्कटौती करके धन प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार केंद्रीय बैंक द्वारा पूंजी की कमी को दूर किया जाता है व साख को प्रोत्साहन मिलता है व व्यवसाय में वृद्धि होती है। इस प्रकार केंद्रीय बैंक अंतिम ऋणदाता के रूप में सुविधायें देकर व्यापारिक बैंकों को सहायता प्रदान करते हैं।

(4) साख का नियंत्रण

साख नियमन व नियंत्रण को ही केंद्रीय बैंक का प्रमुख कार्य माना जाता है। साख नियंत्रण का उपयोग विनिमय दरों में स्थिरता लाने एवं आंतरिक मूल्य स्थायित्व के लिए उपयोग किया जाता है। मूल्यों का प्रभाव देश की आंतरिक व्यवस्था के अतिरिक्त अंतर्राष्ट्रीय व्यापार पर भी पड़ता है। इस कार्य को केंद्रीय बैंक का महत्वपूर्ण कार्य माना जाता रहा है। भारत में रिजर्व बैंक अधिनियम के आधार पर यह कहा जाता है कि "बैंक का प्रमुख कार्य बैंक नोटों के निर्गमन को नियंत्रित करना है तथा देश-हित के लिए मुद्रा एवं साख पद्धति को संचालित करने तथा भारत में मौद्रिक स्थिरता लाने के उद्देश्य से साधनों को रखा जाता है।"[1]

सफलता के मूल तत्त्व—साख नियंत्रण की सफलता के लिए निम्न बातों का होना आवश्यक है—

(i) केंद्रीय बैंक का प्रभाव—देश की व्यापारिक बैंकों पर केंद्रीय बैंक का यथेष्ट प्रभाव होना चाहिए जिससे उनकी क्रियाओं पर उचित नियंत्रण लगाया जा सके।

(ii) व्यापक अधिकार—केंद्रीय बैंक के पास साख नियमन के व्यापक अधिकार होने चाहिएं, जिससे आवश्यकता पड़ने पर साख का विस्तार या संकुचन किया जा सके।

साख नियमन के उद्देश्य—साख नियमन के प्रमुख उद्देश्य निम्न हैं :—

(i) आंतरिक मूल्य स्थायित्व व विनिमय दर में स्थायित्व—साख नियमन का उद्देश्य देश में आंतरिक मूल्यों में स्थायित्व लाने का होना चाहिए तथा इसके लिए उचित सामंजस्य स्थापित करने के लिए समन्वयात्मक नीति अपनानी चाहिए।

(ii) रोजगार की उचित व्यवस्था—साख नियमन का उद्देश्य देश में रोजगार की उचित व्यवस्था करना

1. "The main function of the bank is to regulate the issue of the Bank notes and the keeping of resources with a view to recurring monetary stability in India generally to operate the currency and credit system of the country to its advantage."

—Reserve Bank of India Act 1934.

होना चाहिए जिससे रोजगार समस्या को हल किया जा सके।

(iii) आर्थिक विकास—साख नियमन का उद्देश्य देश का अधिकाधिक आर्थिक विकास करना चाहिए, क्योंकि विनिमय स्थिरता, मूल्य-स्तर, संपूर्ण रोजगार आदि मे अत्यंत घनिष्ठ एवं गहरे संबंध बने रहते हैं तथा एक-दूसरे मे समन्वय स्थापित करके ही उचित ढंग से विकास लाया जा सकता है। इस संबंध में मौद्रिक नीति के साथ-साथ प्रशुल्क नीति का भी समुचित सहयोग प्राप्त होना आवश्यक होगा।

(5) सरकारी बैंकर, एजेंट एवं सलाहकार

व्यक्तियों एवं अन्य व्यापारिक संस्थाओं की भांति सरकार को भी बैंक की सेवाओं की आवश्यकता होती है। सरकार प्रति वर्ष जनता से कर व अन्य आय के रूप में धन प्राप्त करके उसे प्रशासन व जनकल्याण पर व्यय करती है और इसका हिसाब-किताब रखना एक जटिल समस्या माना जाता है। इसके विपरीत विदेशों से भी अनेक प्रकार के लेन-देन चलते रहते हैं। अतः इन समस्त कार्यों को करने के लिए एक ऐसी बैंक की सेवाओं की आवश्यकता होती है जिसकी शाखाएं देश व विदेश मे फैली हों। इन समस्त सेवाओं को केंद्रीय बैंक द्वारा सरलता से प्राप्त किया जा सकता है जो सरकार के लिए समस्त प्रकार की वित्तीय सेवाएं भी प्रदान करता है।

सलाहकार के रूप में कार्य—केंद्रीय बैंक सरकारी बैंकर, एजेंट एवं सलाहकार के रूप में निम्न ढंग से कार्य करता है :—

(i) ऋण व्यवस्था—आवश्यकता पड़ने पर सरकार को केंद्रीय बैंक द्वारा अल्पकालीन ऋण दिए जाते हैं।

(ii) सरकारी हिसाब—यह बैंक विभिन्न विभागों के सरकारी हिसाबों को तथा उनके खातों को उचित ढंग से रखता है।

(iii) धन जमा करना—यह बैंक सरकार के हिसाब मे धन जमा करता है।

(iv) मुद्रा का हस्तांतरण—यह बैंक सरकार की ओर से धन का हस्तांतरण सुविधापूर्वक करा देता है।

(v) मुद्रा सौदे—इस बैंक द्वारा देश-विदेश मे सरकार की ओर से मौद्रिक सौदे किए जाते हैं।

(vi) वित्तीय परामर्श—इस बैंक द्वारा समय-समय पर वित्तीय मामलों पर उचित परामर्श ली जाती है जो बैंकिंग एवं मौद्रिक नीति को सफल बनाने मे सहायता प्रदान करता है।

(vii) ऋण की व्यवस्था—सरकार द्वारा जारी किए गए समस्त ऋणों की उचित व्यवस्था करके हिसाब-किताब आदि को उचित ढंग से रखा जाता है।

(viii) ऋण का भुगतान—सरकार की ओर से जारी किए गए ऋणों व उस पर ब्याज के भुगतान की व्यवस्था इसी बैंक द्वारा की जाती है।

(ix) सरकारी माल का क्रय-विक्रय—यह बैंक सरकारी माल एवं विदेशी प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय करता है।

(x) संकट काल—यह बैंक संकट काल में असाधारण ऋण की व्यवस्था करके सहायता प्रदान करता है।

(xi) सरकारी हिसाब रखना—यह बैंक सरकार की समस्त आय को प्राप्त करके उसके व्ययों को भी चुकाता है।

अतः यह स्पष्ट है कि केंद्रीय बैंक सरकार की अर्थनीति के निर्धारण तथा संचालन में बुद्धि, श्रम तथा धन-राशि से सहायक सिद्ध होता है।

(6) अंतर्राष्ट्रीय करेंसी का संरक्षक

1929 की विश्वमंदी के पश्चात् विदेशी विनिमय दर को स्थिर रखने के उद्देश्य से विनिमय समानीकरण कोष (Exchage Equalisation Account) की स्थापना की गई, जिनके संचालन का भार केंद्रीय सरकार को सौंपा गया। अर्जित की जाने वाली समस्त विदेशी मुद्रा को इन कोषों मे जमा कर दिया जाता है तथा उसकी आवश्यकता होने पर उचित प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार केंद्रीय बैंक देश के विदेशी विनिमय कोषों का संरक्षक है

रूप में कार्य करता है। विदेशों में दूतावासों के व्यय के लिए भी विदेशी मुद्रा की आवश्यकता होती है व अन्य शासकीय एवं व्यावसायिक कार्यों के लिए विदेशी विनिमय की आवश्यकता पड़ती है, जिसकी व्यवस्था केंद्रीय बैंक द्वारा ही की जाती है। देश की मुद्रा की दर को स्थिर रखने के उद्देश्य से भी विदेशी विनिमय कोषों को सुरक्षित रखा जाता है। इसके अतिरिक्त केंद्रीय बैंक को यह भी अधिकार होता है कि वह देश की विदेशी विनिमय की समस्त आय को अपने ही नियंत्रण में रखे, जिससे उसे सुविधापूर्वक कार्य में लगाया जा सके। विदेशी विनिमय कोष पर्याप्त मात्रा में होने से विदेशों में उचित साख बनी रहती है।

(7) खातों का समाशोधन व स्थानांतरण

देश में प्रत्येक बैंक द्वारा केंद्रीय बैंक में कुछ धन जमा किया जाता है। अतः इन बैंकों के पारस्परिक लेन-देन को नकद में भुगतान न करके केंद्रीय बैंक की सहायता से समाशोधन की सहायता से पूर्ण कर लेते हैं अर्थात् ऋणी बैंक अपने लेनदार बैंक को एक चैक केंद्रीय बैंक के नाम से दे देता है, जो केंद्रीय बैंक खाते में जमा व ऋणी के खाते में नामे लिखकर समायोजित व्यवहार कर दिया जाता है। प्रत्येक बैंक के पास दूसरे बैंकों पर लिखे चैक जमा आदि के लिए आते रहते हैं। अतः केंद्रीय बैंक ऐसी व्यवस्था करता है कि एक स्थान के समस्त बैंक के प्रतिनिधि क्लर्क एक स्थान पर एकत्रित होकर प्रत्येक बैंक की लेनदारी एवं देनदारी का एक सामूहिक विवरण-पत्र तैयार कर लेता है, जिस पर प्रतिनिधियों की स्वीकृति प्राप्त करके उस विवरण को केंद्रीय बैंक को भेज दिया जाता है। केंद्रीय बैंक इस विवरण के आधार पर विभिन्न बैंकों के खातों को नामे व जमा कर दिया जाता है। इस प्रकार बिना नकद भुगतान किए समाशोधन गृह की सहायता से खातों के लेन-देन का निपटारा सरलता से हो जाता है।

लाभ—समाशोधन व्यवस्था के प्रमुख लाभ निम्न हैं :—

(i) कम मुद्रा की आवश्यकता—इस व्यवस्था से समस्त बैंकों के लेन-देन के लिए कम मुद्रा की आवश्यकता होती है तथा उसका अन्य कार्यों में प्रयोग किया जा सकेगा।

(ii) धन की बचत—बैंकों के समस्त लेन-देन एवं व्यवहारों में बहुत-सा व्यय बच जाता है जिसे बैंक स्वयं अन्य कार्यों में उपयोग कर सकता है।

(iii) घनिष्ठ संबंध—समाशोधन के लिए एकत्रित होने पर बैंक कर्मचारियों के माध्यम से बैंकों में आपस में घनिष्ठ संबंध स्थापित हो जाता है जिससे समान प्रकार की नीतियों के निर्माण में सहायता प्राप्त होती है।

(iv) धनराशि का हस्तांतरण—केंद्रीय बैंक अपने समस्त सदस्य बैंकों को धन के हस्तांतरण की सुविधाएं प्रदान करता है तथा ये सेवाएं निःशुल्क दी जाती हैं। इससे धन का सुविधापूर्वक व शीघ्रता से हस्तांतरण संभव हो जाता है।

केंद्रीय बैंक पर प्रतिबंध—केंद्रीय बैंक के निम्न कार्यों पर प्रतिबंध लगाए गए हैं :—

बैंकिंग कार्यों पर प्रतिबंध—केंद्रीय बैंक देश में साधारण व्यापारिक बैंकिंग के कार्य नहीं कर सकता है तथा वह (अ) अचल संपत्ति पर ऋण नहीं दे सकता, (ब) मियादी बिल न लिख सकता है और न स्वीकार कर सकता है, (स) किसी को अरक्षित ऋण प्रदान नहीं कर सकता, (द) जमाओं पर ब्याज नहीं दे सकता, (इ) किसी भी कंपनी के अंश नहीं खरीद सकता, एवं (फ) व्यापार व वाणिज्य में भाग नहीं ले सकता।

साख नियंत्रण के उद्देश्य
(Objects of Credit Control)

मुद्रा पर नियंत्रण प्रत्यक्ष माना जाता है जिसे केंद्रीय बैंक जनता को नोटों का निर्गमन करके स्वयं ही नियंत्रित करता है तथा आवश्यकतानुसार इसकी मात्रा में कमी या वृद्धि कर देता है। परंतु आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था में मुद्रा के अतिरिक्त अन्य अनेक कार्य साख मुद्रा द्वारा किए जाते हैं, जिन पर नियंत्रण रखना आवश्यक होता है। वर्तमान समय में साख मुद्रा का निगमन व नियंत्रण करना ही केंद्रीय बैंक का मुख्य कार्य माना जाता है। इस प्रकार प्रचलित मुद्रा की मात्रा पर नियंत्रण रखने के लिए यह आवश्यक माना जाता है कि बैंक जमा का भी उचित नियमन किया जाए।

उद्देश्य

देश की व्यापारिक आवश्यकताओं के अनुरूप साख की पूर्ति का समायोजन करना ही साख नियंत्रण कहलाता है। साख नियंत्रण के विभिन्न उद्देश्यों को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

साख नियंत्रण के उद्देश्य

मूल्य स्थायीकरण	सस्ती ऋण सुविधाएं	व्यापारिक दशाओं में स्थिरता	मुद्रा बाजार में स्थायित्व	संतुलन स्थापित करना	विनिमय दर में स्थायित्व	पूर्ण रोजगार

(i) **मूल्य स्थायीकरण**—देश में वस्तुओं के मूल्यों को नियन्त्रित करने के उद्देश्य से केंद्रीय बैंक साख नियंत्रण नीति द्वारा मूल्यों में स्थायित्व लाता है।

(ii) **सस्ती ऋण सुविधाएं**—केंद्रीय बैंक की साख नीति द्वारा सरकार को विभिन्न विकास योजनाओं के लिए सस्ते दर पर ऋण की व्यवस्था करनी होती है।

(iii) **व्यापारिक दशाओं में स्थिरता**—साख नीति का उद्देश्य देश में व्यापार व वाणिज्य को बढ़ाकर व्यापारिक दशाओं में सुधार करके स्थिरता लाना है।

(iv) **मुद्रा बाजार में स्थायित्व**—साख नीति का उद्देश्य मुद्रा बाजार में स्थायित्व लाना है जिसके लिए आवश्यकतानुसार साख का प्रसार व संकुचन किया जाता है।

(v) **संतुलन स्थापित करना**—देश में साख नीति की सहायता से राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विभिन्न अंगों एवं देश-विदेश की दशाओं के मध्य उचित संतुलन स्थापित करना चाहिए।

(vi) **विनिमय दर में स्थायित्व**—प्रारंभ में केंद्रीय बैंक की साख मुद्रा का उद्देश्य विनिमय दर में स्थायित्व लाना था व साथ ही साथ आंतरिक मूल्य स्तर में भी स्थिरता लाना आवश्यक समझा गया।

(vii) **पूर्ण रोजगार**—द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् साख नीति का उद्देश्य बेरोजगारी को समाप्त करके देश में पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्राप्त करना था जिससे देश का शीघ्रता से आर्थिक विकास संभव किया जा सके।

आवश्यकता

विश्व के विभिन्न राष्ट्रों का आर्थिक विकास साख मुद्रा के आधार पर ही संभव हो पाया है, परंतु साथ ही साथ इससे अर्थव्यवस्था अस्त-व्यस्त भी हो गई है और इसी कारण 1920-21 में आर्थिक संकट एवं 1929 में विश्व को महान् मंदी का सामना करना पड़ा। इस प्रकार साख मुद्रा पर नियंत्रण न रखने से विश्व की आर्थिक अर्थव्यवस्था को अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। जिस प्रकार "मुद्रा मानव जाति के लिए अनेक सुखों का साधन है, नियंत्रण के अभाव में अभिशाप एवं मुसीबतों का कारण भी बन जाती है।"[1] उसी प्रकार यदि साख मुद्रा पर नियंत्रण न लगाया गया तो उससे देश की अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ता है। देश में साख मुद्रा की मात्रा अधिक हो जाने पर देश में सट्टेबाजी को प्रोत्साहन मिलता है, फलस्वरूप देश के आर्थिक विकास में अनेक बाधाएं उपस्थित हो जाती हैं। इसी प्रकार व्यापार, वाणिज्य एवं उद्योग के विकास में साख मुद्रा अनेक प्रकार की आर्थिक अस्थिरता उत्पन्न कर देती है। साख-मुद्रा ने समाज को धनी एवं गरीब दो वर्गों में विभाजित कर दिया है जिसने वर्ग संघर्ष को जन्म दिया है। इस प्रकार देश की अर्थव्यवस्था को विकसित करने एवं देश के आर्थिक विकास के लिए यह आवश्यक माना गया है कि साख मुद्रा पर उचित नियंत्रण लगाया जाए तथा उसका उचित ढंग से नियमन करना भी आवश्यक है।

1. "Money, which is a source of many blessings to mankind, becomes also, unless we can control it, a source of peril and confusion."—D. H. Robertson : Money.

साख नियंत्रण की रीतियाँ
(Instruments of Credit Control)

बैंकों की साख निर्माण शक्ति का उचित नियमन करने के लिए यह आवश्यक है कि उनके नकद कोषों का उचित नियमन किया जाए। साख नियंत्रण को दो भागों में रखा जा सकता है—

(अ) परिमाणात्मक नियंत्रण (Quantitative Controls) :

इसमें निम्न रीतियों को सम्मिलित करते हैं—

(1) बैंक दर (*Bank Rate*)

(2) न्यूनतम कोष दर (Minimum Reserve Ratio)

(3) तरलता अनुपात (Liquidity Ratio)

(4) खुले बाजार की क्रियाएं (*Open Market Operations*)

(ब) गुणात्मक नियंत्रण (Qualitative Controls) :

इसमें निम्न रीतियों को सम्मिलित करते हैं—

(5) चुना साख नियंत्रण (Selective Credit Controls)

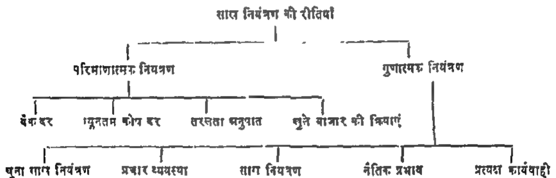
(6) प्रचार व्यवस्था (Publicity Arrangement)

(7) साख नियंत्रण (Credit Rationing)

(8) नैतिक प्रभाव (Moral Persuation)

(9) प्रत्यक्ष कार्यवाही (*Direct Action*)

साख नियंत्रण की रीतियों को निम्न चार्ट द्वारा भी दिखाया जा सकता है :—



(1) बैंक-दर

जिस दर पर केंद्रीय बैंक सदस्य बैंक की प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियों की पुनर्कटौती करें या उन्हें ऋण प्रदान करें तो उसे बैंक-दर कहते हैं। इसे कटौती दर (Discount Rate) भी कहते हैं।

बैंक दर एवं ब्याज दर में संबंध—बैंक दर एवं ब्याज दर में घनिष्ठ संबंध होता है। बाजार दर से आशय वह दर है जिस पर व्यापारिक बैंक प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियों के आधार पर ऋण प्रदान करते हैं। बैंक दर बढ़ाने पर बाजार दर बढ़ जाती है तथा घटाने पर गिर जाती है। प्रायः बैंक दर ब्याज दर से अधिक रहती है। जब व्यापारिक बैंकों को अन्य किसी साधन से ऋण प्राप्त नहीं हो पाता, तो वे केन्द्रीय बैंक से सहायता मांगते हैं और इस समय मांग बढ़ने से ऊंची ब्याज दर वसूल की जाती है, परिणामस्वरूप यह संस्थाएं भी ऋणियों से ब्याज की ऊंची दर मांगने लगती हैं, जिससे ब्याज दर बढ़कर बैंक दर के बराबर हो जाती है। दीर्घ काल में बैंक दर व बाजार दरों में बराबर होने की

प्रवृत्ति पाई जाती है ।

बैंक दर का प्रभाव—प्राय बैंक दर मे परिवर्तन करने से मुद्रा बाजार की अन्य समस्त दरो मे भी परिवर्तन हो जाते हैं । यदि देश मे स्फीतिक परिस्थितिया हैं तो उन्हें रोकने के लिए बैंक दर मे वृद्धि कर दी जाती है, परिणामस्वरूप अन्य सस्थाए भी अपनी-अपनी ब्याज दरें बढा देती हैं व उत्पादको व व्यापारियो को ऋण लेना महंगा हो जाता है जिससे कम धन लिया जाता है। इस प्रकार एक ओर मुद्रा की माग कम हो जाएगी व साख का सकुचन होगा तथा दूसरी ओर व्यापारिक एव औद्योगिक क्रियाए शिथिल हो जाएगी, मजदूरी घटेगी, बेरोजगारी मे वृद्धि होगी व मूल्य स्तर भी गिरेंगे । देश मे ब्याज दर के बढने से अल्पकालीन कार्यों के लिए विदेशो से पूजी का आयात करना पडता है व देश का भुगतान सतुलन प्रतिकूल हो जाता है । इसके विपरीत यदि देश मे विस्फीतिक परिस्थितियां हों तथा देश में साख की मात्रा मे वृद्धि करनी हो, तो बैंक दर मे कमी कर दी जाती है तथा केंद्रीय बैंक सस्ते ब्याज दर पर बिलों की पुनर्कटौती एवं ऋण प्रदान करता है, परिणामस्वरूप व्यापारिक बैंक भी अपने ऋण की दरो में कमी कर देते हैं, फलस्वरूप व्यापारी एव उद्योगपति बैंको से अधिक मात्रा मे ऋण लेने लगते हैं, जिससे देश में साख मुद्रा की मात्रा में वृद्धि हो जाती है । इस प्रकार बैंक दर की घट-बढ का देश की अर्थव्यवस्था, उद्योग, रोजगार, व्यापार, पूजी, भुगतान संतुलन आदि पर प्रभाव पडता है ।

विदेशी पूंजी पर प्रभाव—बैंक दर विदेशी पूजी के आवागमन को भी प्रभावित करती है । बैंक दर मे वृद्धि करने पर ब्याज दर भी बढ जाएगी व विदेशी बैंको से पूजी आयात होने लगती है तथा घरेलू पूजी का निर्यात नही हो पाता । इसके विपरीत यदि बैंक दर मे कमी कर दी जाए तो पूजी का विदेशी बैंको मे निर्यात प्रारम्भ हो जाता है तथा विदेशी पूजी का आयात रुक जाता है ।

सफलता के तत्व—बैंक दर की सफलता की मुख्य बातें निम्न हैं—

(i) **निर्भरता**—बैंक-दर उसी समय सफल हो सकती है, जबकि मुद्रा की पूर्ति के लिए केंद्रीय बैंक पर ही निर्भर रहा जाए । मदी काल मे जनता द्वारा ऋण नही लिए जाते तथा व्यापारिक बैंको के चाहने पर भी साख मे वृद्धि करना सभव नही हो पाता । इसके विपरीत स्फीतिक काल मे अधिक लाभ होने से नवीन क्षेत्रो मे विनियोजन की माग बढ जाती है व साख की निरन्तर माग बढ़ने से व्यापारिक बैंकों को केंद्रीय बैंक पर ही निर्भर रहना पडता है, परिणामस्वरूप केंद्रीय बैंक कटौती दर मे वृद्धि करके साख नियत्रण करने मे सफल हो जाता है ।

(ii) **प्रभाव न पड़ना**—केंद्रीय बैंक की बैंक दर परिवर्तन का व्यापारिक बैंको की दरो पर प्रभाव न पडने पर उसे साख नियत्रण के अन्य ढगो का पालन करना होता है ।

(iii) **वित्तीय संस्थाएं**—ऋण प्रदान करने वाली वित्तीय सस्थाओ की स्थापना होने से बैंको से पूजी की माग मे वृद्धि नही हो पाती परतु अविकसित राष्ट्रो मे जहा पूजी बाजार व मुद्रा बाजार में कोई समन्वय नही है, वहा दीर्घकालीन एव अल्पकालीन ब्याज दरों का एक-दूसरे पर कोई प्रभाव नही पडता । अत. वित्तीय संस्थाओ के प्रभाव से बैंक दर मे सफलता प्राप्त की जा सकती है ।

(iv) **बिलों का प्रचार**—बैंक दर के प्रभाव के लिए देश मे बिलो का प्रचार होना आवश्यक है, परंतु वर्तमान समय मे व्यापारिक बिलो का प्रचार कम होने से बैंक दर का प्रभाव भी कम हो जाता है ।

(v) **उपलब्धता**—बैंक दर ऋणों की उपलब्धता मे भी कमी या वृद्धि करती है, परिणामस्वरूप केंद्रीय बैंक विशेष गुणो वाले बिलो की ही कटौती करता है ।

बैंक दर वृद्धि की परिस्थितियां—बैंक दर मे वृद्धि निम्न परिस्थितियो में की जा सकती है—

(i) **अन्य देशों में वृद्धि होने पर**—देश की पूजी का अन्य राष्ट्रों को निर्यात होने पर तथा अन्य राष्ट्रों मे बैंक दर मे वृद्धि होने पर अपने देश मे भी बैंक दर बढा दी जाती है ।

(ii) **स्वर्ण निधि की सुरक्षा**—जब स्वर्ण बाहर जाने लगे तो उसकी सुरक्षा के लिए बैंक दर मे वृद्धि कर दी जाती है ।

(iii) **विनिमय दर में सुधार**—भुगतान संतुलन विपक्ष मे होने पर विनिमय दर में सुधार करना आवश्यक होता है, जिसके लिए बैंक दर मे वृद्धि कर दी जाती है ।

(iv) सट्टे को रोकना—सट्टे में वृद्धि होने की संभावना पर भी बैंक दर में वृद्धि कर देते हैं, जिससे उस पर प्रतिबंध लग सकें।

बैंक दर में कमी की परिस्थितियां—निम्न परिस्थितियों में बैंक दर में कमी कर दी जाती है—

(i) विदेशी पूंजी के आयात पर रोक—विदेशी पूंजी के आयात को रोकने के लिए बैंक दर में कमी कर दी जाती है।

(ii) रुपए का अभाव—यदि देश में मुद्रा का अभाव हो, परंतु केंद्रीय बैंक के पास पर्याप्त मात्रा में राशि उपलब्ध हो, तो बैंक दर में कमी कर दी जाती है।

(iii) मुद्रा एकत्रित होने पर—जब बैंकिंग संस्थाओं के पास पर्याप्त मात्रा में धन एकत्रित हो गया हो तो बैंक दर में कमी करके रुपए की मांग का निर्माण संभव बनाया जाता है।

सीमायें—बैंक दर की प्रमुख सीमाएं निम्न हैं—

(i) व्यापारिक बैंकों की प्रतिक्रिया—यदि व्यापारिक बैंक अपनी प्रतिभूतियों को पुनर्कटौती हेतु केंद्रीय बैंक पर नहीं जाते तो यह नीति सफल नहीं हो पाती।

(ii) व्यापारियों की मांग—वृद्धि काल में साख की मांग बढ़ जाने पर बैंक दर में वृद्धि करके भी साख मुद्रा की मांग को कम नहीं किया जा सकता।

(iii) मंदी काल—मंदी काल में बैंक दर सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर पाती तथा बैंक दर घटाने पर भी व्यापारी नवीन कारखानों में धन का विनियोजन करना उचित नहीं समझता।

बैंक दर महत्त्व में कमी—वर्तमान समय में बैंक दर नीति का महत्त्व कम हो गया है जिसके प्रमुख कारण निम्न हैं—

(i) निर्भरता में कमी—वर्तमान समय में केंद्रीय बैंक पर अन्य बैंकों की निर्भरता कम हो गई है जिससे बैंक दर में परिवर्तन का बैंकों की क्रियाओं पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

(ii) सस्ती मुद्रा नीति—प्राय: अधिकांश राष्ट्रों ने आर्थिक नियोजन को सफल बनाने के लिए सस्ती मुद्रा नीति एवं नीची बैंक दर नीति का पालन किया है।

(iii) तरलता में वृद्धि—व्यापारिक बैंकों की तरलता स्थिति में स्वयं सुधार हो जाने से उन्हें अब केंद्रीय बैंक पर अधिक निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं रहती है।

(iv) अधिक ब्याज नीति—बैंक जमा पर अधिक ब्याज देकर बैंक दर वृद्धि के प्रभाव को दूर कर सकते हैं क्योंकि ब्याज दर बढ़ने पर अधिक जमा प्राप्त होने से केंद्रीय बैंक से ऋण लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

(v) अल्पकाल में प्रभाव का अभाव—बैंक दर में परिवर्तन करने से अल्पकाल में मुद्रा बाजार पर कोई विशेष प्रभाव न पड़ने से इसका महत्त्व कम हो गया है।

(vi) अन्य प्रभावशाली उपाय—बैंक दर के अतिरिक्त अन्य प्रभावशाली उपायों के प्रचलन के कारण बैंक दर नीति का प्रभाव कम हो गया है।

(vii) नकद साख का महत्त्व—आंतरिक व्यापार के अर्थ-प्रबंधन में नकद साख का महत्त्व बढ़ने से बैंक दर नीति का प्रभाव कम हो गया है क्योंकि बिलों की पुनर्कटौती की आवश्यकता कम हो गई है।

(viii) लोच का अभाव—राष्ट्रों की आर्थिक अर्थव्यवस्था में लोच के अभाव के कारण बैंक दर संपूर्ण अर्थव्यवस्था पर अपना प्रभाव डालने में असमर्थ रहती है।

यह सत्य है कि परिस्थितियों के अनुसार बैंक दर का प्रयोग अनेक स्वरूपों में किया जाता है, परन्तु इसका मौलिक महत्त्व किसी भी प्रकार से कम नहीं हो पाया है।

(2) न्यूनतम कोष दर—केंद्रीय बैंक सदस्य बैंकों को बिलों की कटौती आदि की सुविधायें प्रदान करते हैं, और उसके बदले में चालू एवं स्थायी निक्षेपों का कुछ प्रतिशत भाग नकद कोष में केंद्रीय बैंक के पास जमा कर देते हैं, जिसमें कमी या वृद्धि करने का अधिकार केंद्रीय बैंक को प्राप्त होता है। देश में साख में कमी करने के लिए इस कोष

के प्रतिशत में वृद्धि कर दी जाती है जिससे बैंकों को अधिक धन केंद्रीय बैंक के पास जमा करना होता है, फलस्वरूप उनकी साख निर्माण शक्ति कम हो जाती है। इसके विपरीत साख में वृद्धि करने के लिए कोषों के प्रतिशत में कमी कर दी जाती है जिससे बैंकों को साख निर्माण के लिए अधिक धन प्राप्त हो जाता है।

लाभ

इस पद्धति के प्रमुख लाभ निम्न हैं—

(i) साख नियंत्रण में सहयोग—यह व्यवस्था समस्त कोषों पर प्रभाव डालकर समस्त देश में समान रूप से साख नियंत्रण में सहयोग प्रदान करती है।

(ii) विदेशी पूंजी से अप्रभावित—इस व्यवस्था को विदेशी पूंजी की व्यवस्था से प्रभावित नहीं किया जा सकता।

(iii) सरल व सुविधाजनक—साख नियंत्रण की यह व्यवस्था सरल एवं सुविधाजनक है जो नकद कोषों में केंद्रीय बैंक के आदेश के आधार पर तत्काल परिवर्तन ला देती है।

(iv) प्रतिभूतियों को प्रभावित—यह व्यवस्था प्रतिभूतियों के मूल्य को प्रभावित करने में सफल रहती है।

सीमाएं

इस व्यवस्था की प्रमुख सीमाएं निम्न हैं—

(i) प्रभावहीन—विभिन्न प्रकार की जमाओं के लिए विभिन्न अनुपात के कोष रखे जाते हैं तथा रक्षित कोष का अनुपात बदलने से कोष की राशि को एक खाते से दूसरे खाते में हस्तांतरित कर दिया जाता है जिससे रक्षित कोष में परिवर्तन करने का प्रभाव कभी-कभी प्रभावहीन हो जाता है।

(ii) कठिनाई—अनेक परिस्थितियों में रक्षित कोष के अनुपात में परिवर्तन करने में अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

(iii) कठोर नीति—सभी बैंकों पर एक साथ प्रभाव पड़ने के कारण यह एक कठोर नीति मानी जाती है।

(iv) कम महत्व—रक्षित कोष के परिवर्तन पर बैंक कम ध्यान देते हैं क्योंकि तेजी काल में कम नकद कोष होने पर भी बैंक अपना कार्य सुविधापूर्वक चला लेते हैं।

(3) तरलता अनुपात—द्वितीय युद्ध काल में साख नियंत्रण की इस नवीन पद्धति का आविष्कार हुआ। इस पद्धति के अन्तर्गत व्यापारिक बैंकों को अपनी सम्पत्ति का एक निश्चित भाग तरल रूप में रखना आवश्यक होता है। इसका प्रभाव यह होता है कि व्यापारिक बैंक एक निश्चित राशि नकद में रखते हैं और उस सीमा तक उनकी साख निर्माण की शक्ति कम हो जाती है। बैंकों के अपने साधनों का एक भाग अनिवार्य रूप से सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोजित करने से खुले बाजार की क्रियाओं में सुविधा हो जाती है।

(4) खुले बाजार की क्रियाएं—केंद्रीय बैंक के साख नियंत्रण कार्यों में खुले बाजार की क्रियाएं एक महत्वपूर्ण एवं प्रभावशाली शस्त्र मानी जाती हैं। इससे आशय केंद्रीय बैंक द्वारा मुद्रा बाजार में प्रतिभूतियों को खरीदने एवं बेचने से है। मुद्रा बाजार में मुद्रा की अधिकता होने पर उसमें कमी लाने के लिए केंद्रीय बैंक खुले बाजार में प्रतिभूतियां बेचना प्रारंभ कर देता है जिससे जनता बैंकों में जमा अपना धन निकाल कर प्रतिभूतियों के क्रय पर व्यय कर देती है, जिससे मुद्रा की मात्रा कम होकर बैंकों के पास कोष में कमी हो जाती है व साख का सृजन भी घट जाता है व व्यापारियों को कम ऋण प्राप्त हो पाता है, फलस्वरूप व्यापार व उद्योग में भी विनियोग घट जाते हैं, मजदूरियां कम होकर रोजगार व मांग में कमी होकर मूल्य स्तर गिर जाता है, परिणामस्वरूप साख संकुचन प्रारंभ हो जाता है।

इसके विपरीत साख की मात्रा में वृद्धि करने के लिए यदि मुद्रा बाजार में धन की कमी है तो केंद्रीय बैंक खुले बाजार में प्रतिभूतियों को खरीदना प्रारंभ कर देता है, जिससे जनता पर अधिक मुद्रा आ जाती है। जो वह बैंकों

परिस्थितियों पर निर्भर करेगी।

(ii) केंद्रीय बैंक की क्षमता—खुले बाजार की क्रिया इस बात पर भी निर्भर करती है कि प्रतिभूतियों को चालू मात्रा व ऊंचे मूल्यों पर खरीदने एवं कम मूल्यों पर बेचने की केंद्रीय बैंक की कितनी क्षमता व तत्परता है। यदि केंद्रीय बैंक हानि उठाने को भी तत्पर हो जाए तो भी हो सकता है कि प्रतिभूतियों की पूर्ति अपर्याप्त हो।

(iii) बैंकों के नकद कोष प्रभावित होना—यदि केंद्रीय बैंक प्रतिभूतियां बेचता है तो बैंकों के नकद कोष कम हो जाने चाहिए। परन्तु यदि जनता अतिरिक्त धन को बैंक में जमा कर दे या भुगतान संतुलन अनुकूल होने से विदेशों से धन आ रहा हो तो बैंकों के नकद कोष कम नहीं होंगे और केंद्रीय बैंक की खुले बाजार की नीति सफल नहीं हो पाएगी। इसी प्रकार यदि केंद्रीय बैंक प्रतिभूतियां खरीदने लगे तो बैंकों के नकद कोष में वृद्धि होनी चाहिए, परंतु हो सकता है कि जनता में संग्रह प्रवृत्ति बढ़ने या विदेशों को पूंजी के निर्यात होने से ऐसा संभव न हो सके। अत: खुले बाजार की क्रियाएं तभी सफल हो सकती हैं, जबकि उनके साथ बैंकों के नकद कोष भी प्रभावित हों।

(iv) व्यापारियों की अनुकूल प्रतिक्रियाएं—खुले बाजार की क्रिया की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि व्यापारियों एवं उद्योगपतियों की ऋण नीति में अनुकूल प्रतिक्रियाएं होनी चाहिएं। यदि यह संभव न हो तो यह नीति सफल नहीं हो सकेगी उदाहरणार्थ यदि केंद्रीय बैंक प्रतिभूतियां खरीदकर, साख प्रसार के उद्देश्य से बैंकों के नकद कोष में वृद्धि कर दे, परन्तु व्यापारियों को मूल्य कम होने की आशंका हो और वह कम ब्याज पर भी ऋण लेना व विनियोग करना स्वीकार न करें, तो बैंकों के पास अतिरिक्त धन बेकार पड़ा रहेगा तथा साख प्रसार का उद्देश्य सफल नहीं हो सकेगा। स्फीतिक काल में साख संकुचन की नीति की सहायता से केंद्रीय बैंक मूल्यों में कमी करने में सफल हो जाता है, परन्तु मंदी काल में साख का निर्माण करने में अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

बैंक दर व खुले बाजार की क्रियाओं में अंतर

बैंक दर व खुले बाजार की क्रियाओं में प्रमुख अंतर निम्न हैं—

(i) आवृत्ति का अंतर—खुले बाजार की क्रियाओं को वर्ष में कितनी ही बार प्रयोग किया जा सकता है परन्तु बैंक दर में बार-बार परिवर्तन करना न तो संभव है और न ही उचित, क्योंकि इससे विदेशी बैंकों के कोष भी प्रभावित होते हैं।

(ii) परिणाम—बैंक दर में परिवर्तन करने से व्यापारिक बैंकों के कोषों के परिवर्तनों का पूर्वानुमान नहीं लगाया जा सकता, जिससे खुले बाजार की क्रियाओं के परिणाम अधिक प्रभावशील होते हैं, बैंक दर के नहीं।

(iii) समय का अंतर—बैंक दर प्राय: अल्पकालीन दरों को प्रभावित करती है, क्योंकि बैंकों द्वारा अल्पकालीन ऋण ही दिए जाते हैं। इसके विपरीत खुले बाजार की क्रियाओं के अंतर्गत दीर्घकालीन प्रतिभूतियां बेची जाती हैं, जो ब्याज की दरों को प्रभावित करती हैं।

(iv) प्रभाव का अंतर—बैंक दर द्वारा बैंकों के नकद कोषों पर अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है, जबकि खुले बाजार की क्रियाओं का बिल्कुल प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार खुले बाजार की क्रियाएं बैंक दर की तुलना में अधिक प्रभावशाली हैं।

(v) दबाव का अंतर—खुले बाजार की क्रियाओं द्वारा केंद्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों पर कोई दबाव डालने में असमर्थ रहता है क्योंकि केंद्रीय बैंक प्रतिभूतियों की ब्याज दर में कमी या वृद्धि तो कर सकता है, परंतु प्रतिभूतियों को खरीदने को मजबूर नहीं कर सकता। प्राय: बैंक अतिरिक्त लाभ के लालच में ही आकर इन प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय में रुचि रखते हैं। इसके विपरीत बैंक दर प्रत्येक ऋण लेने वाले बैंक को अपनी ब्याज दर बढ़ाने को मजबूर कर सकता है।

(5) चुना साख-नियंत्रण—(Selective Credit Control)—युद्धकाल में साख नियंत्रण की अनेक पद्धतियों का प्रचलन हुआ, जिनमें से कुछ तो समूचे अर्थ-तंत्र पर सामान्य प्रभाव डालती हैं और कुछ रीतियां इस

प्रकार की हैं कि जो केवल विशेष क्षेत्रों की आर्थिक या वित्तीय क्रियाओं को ही प्रभावित करती हैं। संकट काल के समय केंद्रीय बैंक देश की समस्त वित्तीय संस्थाओं को अन्तिम सहारे के रूप मे सहायता करता है। ऐसी परिस्थितियो मे केंद्रीय बैंक व्यापारिक बैंको की माग को अस्वीकार या प्रतिबंधो के साथ स्वीकार कर सकता है, परिणामस्वरूप पर्याप्त मात्रा में साख का निर्माण संभव न हो सकेगा। इस नीति को साख नियंत्रण की नीति के नाम से जानते हैं।

स्वरूप—साख नियंत्रण के विभिन्न स्वरूप निम्नलिखित हैं—

(i) रिजर्व कोषों का सीमित उपयोग—व्यापारिक बैंको द्वारा अपने दायित्वों का कुछ निश्चित प्रतिशत भाग जो केंद्रीय बैंक मे जमा किया जाता है इसमे भिन्नता अपनाई जा सकती है तथा कुछ विशेष क्षेत्रों में विनियोजन करने वाले बैंको को विशेष प्रकार की छूट देकर साख का सृजन किया जा सकता है तथा उस क्षेत्र का विकास किया जा सकता है।

(ii) पूर्व अनुमति—विशेष क्षेत्रों में ऋणों को प्रोत्साहित करने एवं अन्य क्षेत्रों मे उसे निरुत्साहित करने के उद्देश्य से एक निश्चित राशि से अधिक मात्रा में ऋण देने पर केंद्रीय बैंक से अनुमति लेना अनिवार्य किया जा सकता है, जिससे नवीन औद्योगिक संस्थाओ के लिए जनता से पूजी प्राप्त की जा सके। इस प्रकार पूर्व अनुमति का प्रतिबंध लगाने से साख का उचित नियमन व नियंत्रण लगाया जा सकता है।

(iii) अंतर निर्धारण में हस्तक्षेप—बैंको द्वारा जमानत पर जो ऋण दिए जाते हैं उनमें मूल्य व ऋण की राशि में कुछ अतर रखा जाता है, जिसमें केंद्रीय बैंक द्वारा हस्तक्षेप किया जा सकता है। इससे साख सृजन मात्रा में कमी हो जाएगी।

(iv) उपभोक्ता किस्त साख का नियमन—पश्चिमी राष्ट्रो में विलासिता व टिकाऊ वस्तुए किस्तों पर उपलब्ध हो जाती हैं, जिसमे साख विस्तार होने का भय बना रहता है। द्वितीय युद्धकाल में यूरोपीय राष्ट्रो मे इस साख पर कड़े नियंत्रण लगा दिए जाते थे। इस व्यवस्था मे भुगतान अवधि एव किस्त की न्यूनतम राशि भी निश्चित कर दी जाती है। इसका प्रमुख उद्देश्य माल खरीदने पर प्रतिबंध लगाना है, जिससे वस्तुओं के भाव नहीं बढ पाते।

(v) आयात हेतु जमा राशि—प्राय. विदेशो से माल आयात करते समय आयात राशि का एक भाग केंद्रीय बैंक मे अनिवार्य रूप से जमा करना होता है जिस पर आयातक को ब्याज की हानि होती है। इस नीति का प्रयोग विदेशो [illegible] आयात निरुत्साहित करने हेतु किया जाता है।

(vi) कटौती दरों में भिन्नता—केंद्रीय बैंक विभिन्न प्रकार के विनिमय पत्रों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की कटौती दरों को निर्धारित कर सकता है, जिसमे कुछ क्षेत्रो को ऋण व साख की सुविधाएं दी जा सकती हैं व दूसरी ओर अन्य क्षेत्रो मे उन पर कड़े नियंत्रण भी लगाए जा सकते हैं। अविकसित परंतु कृषि प्रधान राष्ट्रों मे प्रायः कृषि औजारों के आयात पर इस प्रकार की विशेष छूट देकर साख का सृजन किया जा सकता है तथा अन्य क्षेत्रों में साख सृजन पर प्रतिबंध लगाए जा सकते हैं।

यह व्यवस्था वांछित क्षेत्र के मूल्यों व साख को ही प्रभावित करती है, जिसमे सतर्कता से कार्य लेना पड़ता है।

(6) प्रचार व्यवस्था—केंद्रीय बैंक द्वारा पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन के माध्यम से देश की आर्थिक स्थिति को जनता के सम्मुख रखकर भविष्य की नीति के संबंध में विचार रखे जाते हैं, जिनके आधार पर बैंक अपनी साख नीति की व्यवस्था करने के प्रयास करते हैं। केंद्रीय बैंक के अधिकारी, सभाओं, सम्मेलनो आदि मे अपनी नीति पर प्रकाश डालकर बैंको की साख नीति पर उचित परिवर्तन ला देते हैं।

(7) साख नियंत्रण—प्रथम युद्धोत्तर काल मे जर्मनी के केंद्रीय बैंक ने साख-विस्तार को रोकने के लिए साख का राशनिंग कर दिया। इसमे प्रत्येक व्यापारिक बैंक के लिए यह निश्चित कर दिया गया था कि उसे एक निश्चित राशि से अधिक राशि नहीं मिलेगी। वर्तमान समय मे भी, साख विस्तार को रोकने के लिए साख राशनिंग पद्धति को अपनाया जाता है, जिसमे प्रत्येक व्यापारिक बैंक की साख की सीमा को निश्चित कर दिया जाता है। संकटकालीन परिस्थितियों मे केंद्रीय बैंक द्वारा यह निश्चित कर दिया जाता है कि व्यापारिक बैंकों को अधिकतम प्राप्त होने वाली साख की मात्रा क्या होगी। इस प्रकार के प्रतिबंधों से साख सृजन मे प्रतिबंध लगाए जा सकते हैं।

(8) नैतिक प्रभाव—केंद्रीय बैंक का देश की व्यापारिक बैंकों पर काफी प्रभाव होने से उनके समस्त कार्यों

पर पूर्ण नियंत्रण बना रहता है और वह अनेक रीतियो द्वारा बैंकों की ऋण नीतियो को प्रभावित कर सकता है। परंतु कठिनाइया उपस्थित होने पर वह नियमन व नियंत्रण की विधि को भी प्रयोग करता है। बैंको द्वारा साख विस्तार की नीति अपनाने पर बैंको को यह सलाह दी जा सकती है कि वह साख की कुल मात्रा एक निश्चित सीमा तक सीमित रखें। सलाह का प्रभाव न पड़ने पर बैंको को उचित चेतावनी भी दी जाती है व उसकी उपेक्षा करने पर उचित कार्यवाही की जा सकती है। परंतु इस नीति की सफलता आपसी संबंधों, वैधानिक शक्तियो, बैंक व्यवस्था की परंपराओ पर निर्भर होती है। विकसित राष्ट्रो मे यह नीति अधिक सफल हो जाती है।

(9) प्रत्यक्ष कार्यवाही—व्यापारिक बैंकों द्वारा केंद्रीय बैंक के आदेशो का पालन न करने पर प्रत्यक्ष कार्यवाही की नीति को अपनाया जाता है, जिसमे वह किसी भी बैंक को ऋण देने से इंकार कर सकता है, बिलो की पुनर्कटौती को रोक सकता है तथा साख सृजन पर प्रतिबंध लगा सकता है। परंतु यह कदम उसी समय उठाए जाते हैं जबकि केंद्रीय बैंक के अन्य उपाय असफल सिद्ध हो गए हों।

केंद्रीय बैंक किसी बैंक को कोई कार्य करने अथवा न करने का प्रत्यक्ष आदेश देने से पूर्व उसे ऋण देना बंद कर सकता है या उससे सामान्य से अधिक ब्याज माग सकता है। यह उस समय किया जाता है जबकि कोई बैंक साख की मात्रा उचित राशि तक सीमित करने की दिशा मे बार-बार चेतावनी देने पर भी सक्रिय कदम नही उठाता। इन कार्यों का बैंक पर इतना गंभीर प्रभाव पड़ता है कि वह केंद्रीय बैंक की इच्छा का पालन करने के लिए बाध्य हो जाता है।

साख नियमन की कठिनाइयां
(Difficulties in Credit Control)

साख नियमन मे केंद्रीय बैंक को निम्न कठिनाइयो का सामना करना पड़ता है—

(i) परंपराओं का अभाव—ब्रिटिश बैंको की भांति, अन्य राष्ट्रों में परंपराओ का अभाव पाया जाता है। ब्रिटेन मे परपराए इतनी परिपक्व है कि साख नीति के संकेत मात्र से ही व्यापारिक बैंक उनका तत्काल अनुसरण करते हैं, अत. अन्य राष्ट्रो मे साख नियमन एक समस्या बनी हुई है।

(ii) क्षेत्र का अंतर—बड़े राष्ट्रो मे कुछ क्षेत्र उद्योग-प्रधान व कुछ कृषि-प्रधान होते हैं, जिनकी समस्याएं सर्वथा भिन्न होती हैं और उनके लिए पृथक् साख नियत्रण नीतियो को अपनाने मे कठिनाइया उपस्थित होती हैं।

(iii) दुर्बल एव असंगठित बैंक व्यवस्था—अधिकाश राष्ट्रो मे बैंक व्यवस्था दुर्बल एवं असंगठित है जिससे केंद्रीय बैंक एवं उनमे कोई पारस्परिक सबध एवं समन्वय का अभाव पाए जाने से साख नीतिया सफल नही हो पाती हैं।

(iv) वित्तीय संस्थाएं—कुछ राष्ट्रों मे वित्तीय सस्थाए पाई जाती हैं, जो ऋण के लेन-देन का कार्य करती हैं, फलस्वरूप साख नीतियो का नियत्रण करना प्राय: सभव नही हो पाता। इसके अतिरिक्त केंद्रीय बैंक का इन सस्थाओ पर कोई वैधानिक प्रतिबध नही रहता।

(v) प्रभावहीन मुद्रा बाजार—कुछ राष्ट्रो मे मुद्रा बाजार पर केंद्रीय बैंक की नीतियो का कोई प्रभाव नही पड़ता, जिससे बैंक दर का कोई भी प्रभाव नही पड़ता, इससे साख नियत्रण मे अनेक कठिनाइयां उपस्थित हो जाती है।

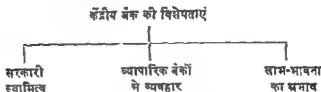
केंद्रीय बैंक की विशेषताएं
(Characteristics of Central Banking)

केंद्रीय बैंक की प्रमुख विशेषताएं निम्न हैं—

(i) सरकारी स्वामित्व—केंद्रीय बैंकों की जो स्थापना हुई है, वह सब पूर्णत. सरकारी हैं, अनेक पुराने निजी स्वामित्व वाले बैंकों को भी सरकारी अधिकार मे ले लिया गया है। इस प्रकार इन बैंको पर सरकारी स्वामित्व स्थापित हो गया है जिसके दो कारण हैं—(अ) सभी देशों मे मुद्रा विदेशी व्यापार आदि की समस्याएं इतनी जटिल हो गई हैं कि उनके समाधान के लिए केंद्रीय बैंकों पर सरकारी अधिकार होना आवश्यक था। (ब) केंद्रीय बैंक मे लाभ अर्जित न होने पर भी बहुत लाभ प्राप्त होते हैं जिस पर सरकार का स्वामित्व होना आवश्यक है।

(ii) व्यापारिक बैंकों [redacted] व्यवहार—केंद्रीय बैंक सदैव व्यापारिक बैंकों से ही व्यवहार करते हैं, जनता से नहीं क्योंकि केंद्रीय बक का प्रमुख कार्य बैंक व्यवस्था एवं मौद्रिक व्यवस्था को उचित स्तर पर बनाए रखना था। व्यापारिक बैंकों की भांति केंद्रीय बैंक साधारण व्यापारिक कार्य नहीं कर सकता। केंद्रीय बैंक द्वारा व्यापारिक बैंक से प्रतिस्पर्धा करने पर साख व ऋण नीतियों का नियंत्रण न हो सकेगा।

(iii) लाभ भावना का अभाव—केंद्रीय बैंक का प्रमुख उद्देश्य लाभ अर्जित करना नहीं है। केंद्रीय बैंक द्वारा व्यापारिक बैंकों को साख की सुविधाएं प्रदान की जाती हैं। इसके लिए व्यापारिक बैंकों को बिलों की कटौती आदि की सुविधाएं प्रदान की जाती हैं, जिसका उद्देश्य बैंकों को आर्थिक सहायता देकर साख का सृजन करना है। लाभ प्रवृत्ति होने से देश के व्यापार एवं उद्योगों को हानि होगी, देश में स्फीतिक स्थिति उत्पन्न होने पर मूल्य वृद्धि का भय बना रहेगा।



अर्द्ध-विकसित अर्थव्यवस्था एवं केंद्रीय बैंक
(Underdeveloped Economy and Central Banking)

अर्द्धविकसित राष्ट्रों में बैंक एवं वित्तीय संस्थाओं का अभाव पाया जाता है तथा मुद्रा बाजार अविकसित अवस्था में पाया जाता है। इन राष्ट्रों में केंद्रीय बैंक का कार्य बैंकिंग प्रणाली के संतुलित विकास के साथ-साथ देश की अर्थव्यवस्था के आर्थिक विकास को विकसित करना है। केंद्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों की स्थापना को प्रोत्साहित करने के प्रयत्न करता है। संगठित मुद्रा बाजार देश के आर्थिक विकास के लिए आवश्यक माना जाता है, जो कि औद्योगिक प्रगति का आधार माना जाता है तथा व्यापार व उद्योगों को सभी प्रकार की वित्तीय सहायता प्राप्त होती है। अतः केंद्रीय बैंक द्वारा मुद्रा बाजार एवं कृषि वित्त की समस्या को हल करने के प्रयास किए जाने चाहिएं। देश में सहकारी एवं भूमिबंधक बैंकों के विकास की ओर भी समुचित ध्यान देना चाहिए। इस प्रकार केंद्रीय बैंक का कार्य अर्थव्यवस्था का नियमन एवं नियंत्रण करके देश का आर्थिक विकास करता है। भारत में देश के आर्थिक विकास के लिए रिजर्व बैंक कार्य करता है, जो मुद्रा बाजार को विकसित करके वित्तीय सहायता प्रदान करने के प्रयास करता है।

अर्द्धविकसित अर्थव्यवस्था में केंद्रीय बैंक के कार्य

अर्द्धविकसित अर्थव्यवस्था में केंद्रीय बैंक के मुख्य कार्य निम्न हैं :—

(1) अर्थव्यवस्था का नियमन एवं नियंत्रण—इसमें केंद्रीय बैंक के उन समस्त कार्यों को सम्मिलित करते हैं जो वे विकसित देशों में करते हैं जैसे कि नोट निर्गमन, साख नियंत्रण, सरकारी सलाहकार आदि।

(2) आर्थिक विकास संबंधी कार्य—इसमें निम्न दो कार्यों को सम्मिलित करते हैं—

(अ) आर्थिक विकास हेतु कार्य,

(ब) आर्थिक स्थिरता का प्रवर्तन।

(अ) आर्थिक विकास हेतु कार्य—इसमें केंद्रीय बैंक के निम्न कार्यों को सम्मिलित करते हैं—

(i) लोक उपक्रमों का विकास—उद्योगों की स्थापना एवं विकास में सरकार को पूंजी लगानी होती है, जिसके लिए केंद्रीय बैंक ऋण की भी व्यवस्था करता है।

(ii) औद्योगिक वित्त प्रबंधन—अर्द्धविकसित देशों में औद्योगिक वित्त की अपर्याप्त सुविधाएं होने से केंद्रीय बैंक यहां पर पर्याप्त औद्योगिक वित्त का प्रबंध करता है।

(iii) विनियोग को प्रोत्साहन—सरकार बड़े स्तर पर नवीन विनियोग के लिए आवश्यक प्रोत्साहन देती है। इसके लिए सस्ती मुद्रा नीति लाभकारी रहती है। मौद्रिक नीति के द्वारा ब्याज मे कमी करके भी विनियोग को प्रोत्साहन दिया जा सकता है।

(iv) पर्याप्त मुद्रा—आर्थिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि मुद्रा की पूर्ति पर्याप्त मात्रा में हो। इसमे चल मुद्रा का अधिकाधिक प्रचलन होना चाहिए तथा साख मुद्रा का भी विस्तार किया जाना चाहिए।

(v) बैंकिग प्रणाली का विस्तार—केंद्रीय बैंक को समस्त बैंकिग एव वित्तीय व्यवस्था के विकास मे सहायता करनी चाहिए तथा वित्तीय सस्थाओ की रचना को प्रोत्साहित करना चाहिए।

(vi) कुशल भुगतान यंत्र—आर्थिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि केंद्रीय बैंक एक कुशल भुगतान यत्र की व्यवस्था करे।

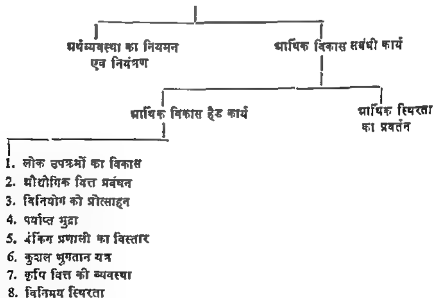
(vii) कृषि वित्त की व्यवस्था—अर्द्धविकसित देशो मे केंद्रीय बैंक का यह कर्त्तव्य है कि वह व्यापारिक बैंको के कार्यों का ग्रामीण क्षेत्रो तक विस्तार करे तथा कृषको की अल्पकालीन, मध्यकालीन व दीर्घकालीन साख की व्यवस्था करे।

(viii) विनिमय स्थिरता—केंद्रीय बैंक का उद्देश्य विनिमय दर मे स्थिरता बनाए रखना है जिससे व्यापार व उद्योगो के विकास का क्रम निरंतर बना रहे।

(ब) आर्थिक स्थिरता का प्रवर्तन—आर्थिक विकास हेतु केंद्रीय बैंक का दूसरा कार्य मूल्यो मे स्थिरता बनाए रखना है। बढते मूल्य को रोकने के लिए केंद्रीय बैंक को साख नियंत्रण के प्रसाधनो को प्रयोग करना होता है।

एक अर्द्धविकसित अर्थव्यवस्था मे केंद्रीय बैंक के कार्यों को निम्न चार्ट द्वारा दिखाया जा सकता है :—

अर्द्धविकसित अर्थव्यवस्था मे केंद्रीय बैंक के कार्य



प्रभावशील मौद्रिक नीति

अर्द्धविकसित राष्ट्रो मे मौद्रिक नीति को प्रभावशाली बनाने के लिए निम्न उपायों को करना आवश्यक माना जाता है—

(1) मुद्रा बाजार की परिस्थितियां—केंद्रीय बैंक की नीति मुद्रा बाजार की परिस्थितियो पर निर्भर करती

है, जिसकी सहायता से केंद्रीय बैंक साख का उचित ढंग से नियंत्रण कर सकती है। मुद्रा बाजार में केंद्रीय बैंक द्वारा निर्धारित नीतियों का ही पालन किया जाना आवश्यक है।

(ii) साख प्रभावित करने की क्षमता—मुद्रा नीति उसी समय सफल हो सकती है, जबकि केंद्रीय बैंक सभी प्रकार की साख को प्रभावित करने की क्षमता रखता हो। इसके लिए साख प्रदान करने वाली समस्त संस्थाओं को केंद्रीय बैंक का नेतृत्व स्वीकार करना आवश्यक होगा तथा व्यापारिक बैंकों का केंद्रीय बैंक से प्रत्यक्ष संबंध स्थापित होना चाहिए।

प्रायः अर्द्धविकसित राष्ट्रों में उपर्युक्त बातों का अभाव पाए जाने से मुद्रा नीति प्रभावकारी ढंग से लागू नहीं हो पाती। अतः मौद्रिक नीति को सफल बनाने के लिए यह आवश्यक होगा कि उपर्युक्त दोनों बातों को पूर्ण किया जाए।

तृतीय भाग

अंतर्राष्ट्रीय भुगतान एवं विदेशी विनिमय

(INTERNATIONAL PAYMENT AND FOREIGN EXCHANGE)

व्यापार संतुलन एवं भुगतान संतुलन
(Balance of Trade and Balance of Payments)

प्रारंभिक—सामान्यतः विदेशी व्यापार में दो शब्दों—व्यापार एवं संतुलन का अधिक प्रयोग किया जाता है, जिसका अर्थ यह है कि संबंधित देश के आयात एवं निर्यातों का अंतर क्या है। व्यापार एवं भुगतान संतुलन देश के आर्थिक जीवन एवं विकास पर विभिन्न प्रकार से प्रभाव डालते हैं। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में सदैव दो या दो से अधिक राष्ट्रों का होना आवश्यक है जो एक-दूसरे की आवश्यकता के लिए आपस में निर्भर रहते हैं। यह पारस्परिक निर्भरता प्राचीन समय में अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में पायी जाती थी, जबकि व्यापारिक लेन-देन वस्तु-विनिमय पर ही आधारित होते थे। वर्तमान समय में मुद्रा के प्रयोग के कारण इस पारस्परिक निर्भरता में कमी हो गई है तथा अविकसित एवं अर्ध-विकसित राष्ट्र अपने देश के आर्थिक विकास के लिए विदेशी पूंजी का भी सहारा लेने लगे हैं। विकसित राष्ट्रों में भुगतान संतुलन के अध्ययन करने पर यह ज्ञात किया जा सकता है कि विदेशों में पूंजी के विनियोजन से कितना लाभ प्राप्त हो रहा है। व्यापार एवं भुगतान संतुलन को देश का आर्थिक बैरोमीटर माना जाता है, जिसके आधार पर देश की बदलती हुई आर्थिक दशाओं का सरलता से अनुमान लगाया जा सकता है, विदेशी व्यापार की निर्भरता को ज्ञात करके अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर आर्थिक स्थिति को ज्ञात किया जा सकता है। प्रत्येक राष्ट्र के विदेशी व्यवहार अनगिनत होते हैं जिससे प्रति वर्ष भुगतान के शेष को ज्ञात करने की आवश्यकता उदय हो जाती है, जिसे अंतर्राष्ट्रीय भुगतान संतुलन के रूप में प्रदर्शित किया जा सकता है।

व्यापार संतुलन
(Balance of Trade)

वस्तुओं के आयात एवं निर्यात के अंतर को व्यापार संतुलन कहते हैं। यदि आयात वस्तुओं का मूल्य निर्यात वस्तुओं के मूल्य से अधिक है तो इसे प्रतिकूल व्यापार संतुलन कहेंगे। इसके विपरीत यदि निर्यात का मूल्य अधिक व आयात का मूल्य कम है तो उसे अनुकूल व्यापार संतुलन कहेंगे।

प्रत्येक राष्ट्र प्रति वर्ष दृश्य एवं अदृश्य मदों का आयात निर्यात करता है। दृश्य मदों [redacted] तात्पर्य वस्तुओं के आयात एवं निर्यात से होता है, जिनका बंदरगाह पर लेखा कर दिया जाता है। अदृश्य मदों से आशय उन सेवाओं से लगाया जाता है जिनके लिए अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र को भुगतान तो कर दिया जाता है, परंतु उसका बंदरगाहों पर कोई लेखा नहीं होता है, जिससे उन्हें विदेशी व्यापार की अदृश्य मदें कहते हैं। इस प्रकार एक ऐसा विवरण तैयार किया जाता है जिसमें एक ओर निर्यात की गई विभिन्न वस्तुओं की मात्राओं एवं मूल्यों को, तथा दूसरी ओर आयात की गई विभिन्न वस्तुओं की मात्राओं एवं मूल्यों को प्रदर्शित किया जाता है और इन दोनों के अंतर को व्यापार संतुलन के नाम से जाना जाता है। निर्यात मूल्यों को सदैव 'बंदरगाह तक मुक्त (F. O. B. or Free on Board) दर पर तथा आयात के मूल्यों को सदैव लागत, बीमा व भाड़ा मुक्त दर (C. I. F. or Cost, Insurance and Freight) पर ही दिखाते हैं। व्यापार संतुलन में दो खाने दिखाए जाते हैं, जिसमें एक खाने में निर्यात

को बंदरगाह तक मुक्त एवं दूसरे खाने में आयात को C. I. F. दर पर दिखाया जाता है। किसी देश का व्यापार संतुलन भिन्न-भिन्न देशो से भिन्न-भिन्न हो सकता है। ऐसी स्थिति में जिन देशो से राशि प्राप्त करनी हो, उनसे लेकर लेनदार देशो को भुगतान की जा सकती है।

व्यापार सतुलन प्राय एक वर्ष की अवधि के आधार पर बनाए जाते हैं। इस प्रकार व्यापार संतुलन में केवल दृश्य मदो को ही सम्मिलित किया जाता है, जबकि भुगतान संतुलन में दृश्य एवं अदृश्य दोनों मदों को सम्मिलित करते है। भुगतान सतुलन मे समस्त नामे (Debit) एवं जमा (Credit) पर विचार किया जाता है। इस प्रकार व्यापार संतुलन की अपेक्षा भुगतान संतुलन अधिक व्यापक है। भुगतान सतुलन मे अनेक मदो को सम्मिलित किया जाता है जैसे (i) व्यापार संतुलन, (ii) पूंजी हस्तांतरण संबंधी भुगतान, (iii) बैंक शुल्क, बीमा एवं जहाज किराया, (iv) राजनैतिक शुल्क व अन्य सेवाएं।

व्यापार संतुलन की अपेक्षा भुगतान संतुलन अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि व्यापार संतुलन को तो भुगतान सतुलन का एक आवश्यक अंग माना गया है। किसी भी राष्ट्र का व्यापार संतुलन अनुकूल या प्रतिकूल रह सकता है, परतु उसका भुगतान संतुलन प्रतिकूल नही होना चाहिए। यदि किसी राष्ट्र का भुगतान संतुलन प्रतिकूल स्थिति में है तो उसका यह अर्थ होगा कि देश को स्थिति बिगड़ती जा रही है तथा देश आर्थिक विकास न कर सकेगा। इसके विपरीत यदि व्यापार संतुलन सदैव भी प्रतिकूल है तो उससे यह आशय नही लगाया जा सकता कि देश की आर्थिक स्थिति बिगड़ती जा रही है तथा वह आर्थिक प्रगति नही कर सकेगा। इसी प्रकार यदि व्यापार संतुलन पक्ष मे है तो भी उससे यह कल्पना करना व्यर्थ होगा कि देश की आर्थिक स्थिति संतोषप्रद है और वह आर्थिक प्रगति कर सकेगा। उदाहरणार्थ इंग्लैंड का व्यापार संतुलन प्रतिकूल होने पर भी उसकी आर्थिक स्थिति संतोषप्रद थी, क्योंकि उसका भुगतान संतुलन स्थिति मे था।

भुगतान संतुलन का अर्थ

भुगतान संतुलन किसी देश के अन्य देशो से संपूर्ण लेन-देन का विस्तृत ब्यौरा होता है। इसमें आयात एवं निर्यात के अतिरिक्त पूंजी, ऋण, ब्याज तथा भुगतान संबंधी अन्य सभी लेन-देन सम्मिलित किए जाते हैं। भुगतान संतुलन के संबंध में विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मत प्रकट किए हैं। भुगतान संतुलन के संबंध मे विभिन्न मतों को निम्न प्रकार से रखा जा सकता है—

(1) वाल्टर क्रोज (Walter Krause)—"एक राष्ट्र का भुगतान संतुलन समस्त आर्थिक व्यवहारों का एक व्यवस्थित लेखा है, जो विशेष समय प्राय एक वर्ष में उस राष्ट्र के निवासी एवं विश्व के निवासियो के मध्य पूर्ण होता है।"[1]

(2) जेम्स सी० इन्ग्राम (James C. Ingram)—"एक निश्चित दिए हुए समय की अवधि में भुगतान संतुलन एक राष्ट्र के निवासियो एवं विश्व के समस्त बचे निवासियो के मध्य समस्त आर्थिक व्यवहारों का सूक्ष्म लेखा है।"[2]

(3) डेलबर्ट ए० स्नाइडर (Delbert A. Snider)—"एक निश्चित दिए हुए समयावधि मे भुगतान संतुलन को एक राष्ट्र एवं विश्व के अन्य राष्ट्रो के मध्य निवासी, व्यापारी, सरकार एवं अन्य संस्थाओं के मध्य वस्तुओं,

1. "The Balance of Payment of a country is a systematic record of all economic transactions completed between its residents and residents of the world, during a given period of time usually a year."—Walter Krause : *The International Economy*, p 43.

2. "The Balance of Payment is a summary record of all economic transactions between residents of one country and the rest of the world during a given period of time."—James C. Ingram : *International Economic Problems*, p 51.

सेवाओं, ऋण, स्वामित्व, आदि के मूल्य के विनिमय के सारांश के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।"[1]

(4) ई० टी० एलिसवर्थ (E. T. Ellisworth)—"भुगतान संतुलन एक राष्ट्र के निवासियों एवं विश्व के शेष निवासियों के मध्य समस्त लेन-देन का संक्षिप्त विवरण है। यह एक निश्चित समयावधि के लिए होता है, प्रायः एक वर्ष।"[2]

किसी भी राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था की प्रकृति को भुगतान संतुलन के आधार पर ज्ञात किया जा सकता है तथा यह ज्ञात किया जा सकता है कि कोई राष्ट्र विश्व अर्थव्यवस्था में कितना भाग ले रहा है। इस प्रकार "समस्त आर्थिक व्यवहार जो एक राष्ट्र की सीमा को पार कर जाते हैं, उन्हें भुगतान संतुलन में ग्रहण एवं संक्षिप्त किया जाता है।"[3]

(5) सैमुअलसन (Samuelson)—"अंतर्राष्ट्रीय भुगतान शेष से हमारा आशय उस विवरण से है, जिसमें समस्त वस्तुओं के मूल्यों, समस्त उपहार, समस्त विदेशी सहायता, समस्त पूंजीगत ऋण तथा समस्त वस्तुएं जो आती एवं जाती हैं, एवं समस्त मदों के आपसी संबंधों को ध्यान में रखा जाता है।"[4]

भुगतान संतुलन के विभिन्न अर्थ

"भुगतान संतुलन शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयोग किया जाता है जो एक-दूसरे से भ्रम उत्पन्न करता है। इन सब में भेद करना अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि ऐसा न करने में भयंकर गलत धारणाएं उत्पन्न हो सकती हैं।"[5]

भुगतान संतुलन के विभिन्न अर्थों को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(1) चालू खाते पर प्रयोग—इस अर्थ में प्रयोग होने पर भुगतान संतुलन में ब्याज संतुलन, एवं व्यापार व सेवाओं के संतुलन को सम्मिलित करते हैं। यदि यह मद विपक्ष में रहती है, तो विदेशी मुद्रा का स्थानांतरण होना है जो स्वर्ण के बाहर जाने के समान होता है। स्वर्ण का बाहर जाना प्रत्येक राष्ट्र के लिए हानिकारक सिद्ध होता है।

(2) विदेशी मुद्रा की मांग एवं पूर्ति की व्यवस्था—किसी समय विशेष पर बकाया दायित्वों की कुल राशि का माप करना ही पर्याप्त नहीं है और न ही उस अवधि के वास्तविक भुगतानों का लेखा करना ही पर्याप्त होता है, बल्कि यह भी विचार करना आवश्यक होगा कि मांग एवं पूर्ति को ध्यान में रखते हुए यह ज्ञात किया जाये कि ये

1. "Balance of payment may be defined as a summary of the money value of all exchanges and transfer of goods, services and evidences of debt or ownerships appropriately classified between the residence, business and the Government and other Institutions of one country and the rest of the world for a given period of time"—Delbert A. Snider : *Introduction to International Economics*, p. 110

2. "Balance of payment is a summary statement of all the transactions between the residents of one country and the rest of the world. It covers a given period of time, usually a year."—E. T. Ellisworth : *Internationol Economy*, p. 230.

3. "All the diverse Economic transactions that cross a Nation's border are captured and summarised in its balance of payments."—James C. Ingram, *op. cit.*

4. "By balance of international payments we mean the statement that takes into account the values of all goods, all gifts and foreign aid, all capital loans (IOU) and all goods *coming in and going out and the interrelations among all these items."—Samuelson : Economics*, p. 645-46.

5. "The term balance of payments is used in a number of different senses, which are apt to be confused with one another. It is very important to distinguish between them as the failure to do so has led to serious misconceptions."—Haberler : *The Theory of International Trade*, p. 18.

दायित्व किस प्रकार उदय हुए। इस प्रकार विनिमय दर पर विदेशी मुद्रा की माग एवं पूर्ति का प्रभाव पड़ता है।

(3) विदेशी मुद्रा की क्रय व विक्रय की मात्रा—भुगतान सतुलन मे विदेशी मुद्रा की उस मात्रा को सम्मिलित किया जाता है जो एक अवधि मे क्रय एवं विक्रय की जाए। इस अर्थ मे भुगतान सतुलन सदैव ही साम्यावस्था मे होगा क्योंकि क्रय की गई मात्रा आवश्यक रूप से विक्रय की मात्रा के बराबर ही होगी।

(4) विदेशों से प्राप्त व दिए गए भुगतान—भुगतान संतुलन से आशय विदेशों से प्राप्त एवं विदेशों को दिए गए भुगतान से लगाया जाता है। इसमे विदेशी मुद्रा के अतिरिक्त विदेशी विनियोगों के हस्तातरण को भी सम्मिलित किया जाता है। दीर्घकालीन अवधि मे इस अर्थ मे भुगतान संतुलन साम्यावस्था में ही रहेगा। स्वर्ण उत्पादक राष्ट्र का भुगतान सतुलन स्थाई रूप से निष्क्रिय रह सकता है, अन्य राष्ट्रो में यह सतुलन सक्रिय रहता है।

(5) अतर्राष्ट्रीय ऋणग्रस्तता का संतुलन—इस अर्थ में भुगतान संतुलन में दायित्वो एवं पावनों (Claims) की समस्त मात्राएँ दिखाई जाती हैं जो किसी समयावधि में प्राप्त हों व चुकानी हों। इस प्रकार भुगतान सतुलन को अतर्राष्ट्रीय ऋणग्रस्तता के रूप में भी प्रयोग किया जा सकता है।

व्यापार सतुलन एव भुगतान संतुलन में अंतर

इन दोनो मे अतर निम्नलिखित है :—

(1) व्यापार सतुलन में केवल आयात एवं निर्यात को ही महत्त्व दिया जाता है, जबकि भुगतान संतुलन में आयात व निर्यात के अतिरिक्त पूंजीगत लेन-देन भी सम्मिलित रहते हैं।

(2) किसी भी देश का व्यापार संतुलन पक्ष या विपक्ष मे हो सकता है, परंतु उसका भुगतान संतुलन सदैव सतुलित रहता है।

भुगतान सतुलन की मदें
(Items of Balance of Payment)

भुगतान संतुलन की मदें

वस्तुओं मे व्यापार	साख सतुलन	सरकारी व्यवहार	सेवाओं का भुगतान	विविध मदें	स्वर्ण का आवागमन	जनसंख्या का आवागमन	पूंजी का आवागमन	उपहार	मुद्रा का आवागमन

प्रो० हैबरलर ने भुगतान संतुलन मे निम्न मदो को सम्मिलित किया है—

(1) वस्तुओं मे व्यापार—भुगतान संतुलन मे यह सबसे महत्त्वपूर्ण मद है। प्राचीन समय मे इसी को अधिक महत्त्व दिया जाता था। आयात एवं निर्यात के अंतर को व्यापार संतुलन कहा जाता है। निर्यात के अंतर्गत विभिन्न मदों को सम्मिलित करते हैं जो इस प्रकार हैं—(i) निर्यात की गई समस्त वस्तुएं, (ii) विदेशी बंदरगाहों पर बेचा गया माल, (iii) अतर्राष्ट्रीय डाक, (iv) चोरी से भेजी गई वस्तुएं, (v) विदेशों को बेचे गए जहाज, (vi) विदेशो मे बेची गई स्वदेशी वस्तुएं, (vii) विदेशों को दी गई बिजली आदि। यदि निर्यात अधिक व आयात कम हो तो अनुकूल व्यापार सतुलन होगा। इसके विपरीत यदि निर्यात कम व आयात अधिक है तो प्रतिकूल व्यापार संतुलन होगा।

(2) साख संतुलन (Credit Balance)—इसमें एक ओर तो ब्याज संतुलन, पूजी भुगतानों का संतुलन, व दूसरी ओर पूजी सतुलन, पूंजी भुगतानों का संतुलन आदि को सम्मिलित किया जाता है। पूजी भुगतानों मे विनियोग को भी सम्मिलित किया जाता है जो अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन दोनों हो हो सकते हैं। दीर्घकालीन पूंजी का प्रवाह सदैव अल्पकालीन पूजी के प्रवाह से संबंधित होता है।

(3) सरकारी व्यवहार (Government transactions)—प्रत्येक राष्ट्र की सरकार अन्य देशों में अपने दूतावासों पर भारी राशि व्यय करती है। इसी प्रकार एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को युद्ध व्यय, दंड, दान व क्षतिपूर्ति आदि के रूप मे कुछ राशि का भुगतान करता है। इसके विपरीत सरकार को यह राशि प्राप्त भी होती है। इस प्रकार समस्त सरकारी व्यवहारों को इसमें सम्मिलित करते हैं।

(4) सेवाओं का भुगतान (Payments for service)—वस्तुओं के आयात-निर्यात के अतिरिक्त सेवाओं के आयात-निर्यात को भी भुगतान संतुलन में सम्मिलित करते हैं। इन सेवाओं के भुगतान में निम्न को सम्मिलित करते हैं—

(i) विशेषज्ञों की सेवाएं—प्रायः अविकसित राष्ट्र अन्य विकसित राष्ट्रों से प्रोफेसर, इन्जीनियर एवं अन्य विशेषज्ञों की सेवाओं को प्राप्त करते हैं, जो अपनी आय को अपने राष्ट्रों को भेज देते हैं। इस प्रकार जिस राष्ट्र से यह आते हैं उसके लिए इनकी सेवाएं अदृश्य निर्यात होती हैं और जिस राष्ट्र में यह सेवाएं प्रदान करते हैं उसके लिए वे अदृश्य आयात होती हैं।

(ii) व्यापारिक कंपनियों की सेवाएं—बैंक एवं बीमा कंपनियां व्यवसाय करने पर वहां पर निवासियों को व्यापारिक सेवाएं, परिवहन एवं वित्तीय सेवाएं प्रदान करती हैं और उसके बदले जो कमीशन या लाभ प्राप्त करती हैं वे अदृश्य निर्यात में सम्मिलित होती हैं। जो देश इन सेवाओं को प्राप्त करता है उसके लिए वे अदृश्य आयात होते हैं।

(iii) शिक्षा एवं पर्यटकों की सेवाएं—अविकसित राष्ट्रों से प्रति वर्ष विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने एवं पर्यटक भ्रमण करने के उद्देश्य से आते जाते हैं। इस प्रकार जिस राष्ट्र में ये विद्यार्थी एवं पर्यटक आते हैं, उसके लिए यह अदृश्य आयात और जिस राष्ट्र से यह आते हैं उनके लिए अदृश्य निर्यात होते हैं।

(5) अन्य विविध मदें—इसमें अन्य अस्पष्ट मदों को सम्मिलित किया जाता है जैसे विदेशी सिनेमा फिल्मों पर तार व टेलीफोन सेवाओं पर रायल्टी तथा विदेशी विशेषज्ञों को वेतन।

अन्य मदें—भुगतान संतुलन में सम्मिलित की जाने वाली अन्य मदें निम्नलिखित हैं—

(6) स्वर्ण का आवागमन—भुगतानों का संतुलन न होने पर यह व्यवस्था स्वर्ण के आवागमन द्वारा पूर्ण की जाती है। इस प्रकार जिस देश से स्वर्ण दिया जाता है उसके लिए यह निर्यात व आने वाले राष्ट्र के लिए आयात होता है।

(7) जनसंख्या का आवागमन—नागरिकों का एक देश को छोड़कर दूसरे राष्ट्र में जाने पर अपना धन आदि भी साथ ले जाते हैं। ऐसी दशा में जिस राष्ट्र में मनुष्य जा रहे हों, उनके लिए यह अदृश्य आयात एवं जिस राष्ट्र को आ रहे हों, उनके लिए यह अदृश्य निर्यात में सम्मिलित किए जाते हैं।

(8) पूंजी का आवागमन—एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र को अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन ऋण प्रदान किए जाते हैं। जब यह ऋण एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र को भेजा जाता है तो वह ऋणदाता के लिए अदृश्य आयात एवं ऋणी देश के लिए अदृश्य निर्यात होता है। विदेशों से लाभांश अर्जित करने की इच्छा से भी कुछ राष्ट्र अपनी पूंजी को विदेशों में विनियोजित करते हैं। ऐसी पूंजी एवं प्राप्त होने वाला लाभांश ऋण एवं ब्याज की भांति देश के भुगतान संतुलन को अदृश्य आयात एवं अदृश्य निर्यात के रूप में प्रभावित करता है।

(9) उपहार (Gifts)—उपहार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यक्तिगत एवं सरकारी रूप में दिए जा सकते हैं। इन उपहारों को निर्यातकर्ता राष्ट्र निर्यात पक्ष की ओर लिखता है। जो राष्ट्र इन उपहारों को देता है उसके लिए आयात एवं प्राप्त करने वाले राष्ट्र के लिए यह निर्यात के समान होते हैं।

(10) मुद्रा का आवागमन—जब किसी राष्ट्र द्वारा विदेशों को निजी स्कन्ध में जमा करने के उद्देश्य से स्वदेशी मुद्रा भेजी जाती है तो उसे जमा पक्ष में प्रविष्ट किया जाता है। जिस राष्ट्र से मुद्रा भेजी जाती है, उसके लिए यह आयात के समान होती है।

भुगतान संतुलन के भाग
(Parts of Balance of Payment)

भुगतान संतुलन के भाग
- चालू खाता
- पूंजी खाता

भुगतान संतुलन को दो भागों में रखा जा सकता है—

(i) चालू खाता, एवं

(ii) पूंजी खाता।

(i) चालू खाता—इसमे वर्तमान मे स्थानांतरित की गई वस्तुओ एवं सेवाओ की राशि को सम्मिलित किया जाता है। इसको सबसे बड़ी मद वस्तुओं का आयात व निर्यात है व अन्य मदो में सेवाओ, ब्याज, लाभांश, भुगतान व अन्य विविध मदें (जैसे विशेषज्ञो व एजेंसी की सेवाएं आदि) को सम्मिलित करते हैं।

(ii) पूंजी खाता—इसमे विदेशों को किए जाने वाले सरकारी एवं व्यक्तिगत या बैंकिंग खातो मे ऋणो के लेन-देन को सम्मिलित करते है, जिसमे अल्पकालीन एव दीर्घकालीन दोनो ही प्रकार की पूंजी को सम्मिलित करते हैं। इसमे पुराने ऋणों की वापसी स्वर्ण कोष मे हुए परिवर्तन, आदि को भी सम्मिलित करते हैं। अविकसित राष्ट्रो में प्रायः बैंकिग खाते के पूंजी संबंधी आवागमन अपेक्षाकृत बडे होते हैं। सरकारी ऋणो मे विदेशी सरकारो एवं संस्थाओ से प्राप्त ऋण भी सम्मिलित रहते है। केंद्रीय बैंक के अतिरिक्त अन्य बैंको के कोषो को भी सम्मिलित करते हैं।

भुगतान संतुलन के स्वरूप को एक तालिका या खाते के रूप मे प्रदर्शित किया जा सकता है, यह निम्न प्रकार है—

(अ) भुगतान संतुलन का चालू खाता
(Current A/C of Balance of Payment)

चालू खाते में तीन मदें आती हैं—वस्तु खाता, सेवाओ का खाता तथा विदेशी अनुदान व दान। सेवाओं व अनुदान खाते को अदृश्य खाता भी कहा जाता है। वस्तु खाते मे समस्त वस्तुओ के सौदो का लेख करते हैं। सेवाओं के खाते में समस्त सेवाओ का लेखा रखा जाता है। चालू खाते मे अनुदानो को भी सम्मिलित करते हैं।

चालू खाते का संतुलित होना आवश्यक नहीं होता। चालू खाते के घाटे को पूरा करने के लिए पूंजी खाते का आधिक्य प्रयोग किया जाता है।

अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने इस खाते की मदो का वर्णन निम्न प्रकार किया है—

देश का चालू खाता

भुगतान	प्राप्तियां
1. वस्तुओ के आयात	1. वस्तुओ के निर्यात
2 विदेशी यात्रा पर व्यय	2. नागरिकों द्वारा विदेशियो को दी जाने वाली यातायात सुविधाओ से प्राप्तियां
3. विदेशी यातायातो की सेवाओ की प्राप्ति पर व्यय	3. विदेशी कंपनियो से देश की बीमा कंपनियों को प्राप्तियां
4. अन्य देशो के नागरिकों द्वारा देश से प्राप्त ब्याज व लाभांश	4. विदेशी पर्यटको द्वारा इस देश मे व्यय
5. राज्य द्वारा विदेशो मे व्यय	5. नागरिकों द्वारा विदेशों मे लगाई गई पूंजी पर ब्याज एवं लाभांश
6. विदेशी बीमा कंपनियो से बीमा	6. विदेशी कूटनीतिज्ञो द्वारा देश मे व्यय
7. विविध	7. देश की अन्य सेवाओ पर प्राप्त रायल्टी

(ब) भुगतान संतुलन का पूंजी खाता
(Capital A/C of Balance of Payment)

पूंजी खाते के रूप मे भुगतान संतुलन को प्रदर्शित करने के लिए बाईं ओर समस्त दृश्य एवं अदृश्य निर्यातों को उनके मूल्य सहित दिखाते हैं तथा दाहिनी ओर समस्त दृश्य एवं अदृश्य आयातो को उनके मूल्य सहित प्रदर्शित करते हैं। इस प्रकार बाईं ओर के विवरण का योग विदेशियो से प्राप्त की जाने वाली राशि दिखाता है तथा दाहिनी ओर के विवरण का योग विदेशियो को दी जाने वाली राशि दर्शाता है। प्राप्ति एवं भुगतान के अंतर को आधिक्य या घाटे के रूप मे दिखाते हैं। पूंजी खाते के रूप में भुगतान संतुलन को निम्न प्रकार दिखाया जा सकता है—

पूंजी खाते के रूप में भुगतान संतुलन

(करोड़ रुपये में)

भुगतान (Debits)	प्राप्तियां (
1. वस्तुओं का आयात	1. वस्तुओं का निर्यात
2. सेवाओं का आयात—	2. सेवाओं का निर्यात—
(i) विदेशियों की सेवाएं	(i) विदेशियों की सेवाएं
(ii) व्यापारिक कम्पनी की सेवाएं	(ii) व्यापारिक कंपनियों की सेवाएं
(iii) शिक्षा व पर्यटक	(iii) शिक्षा व पर्यटक
3. विदेशी पूंजी, ऋण, ब्याज व लाभांश का आयात	3. विदेशी पूंजी, ऋण, ब्याज व लाभांश का निर्यात।
4. विदेशी सरकार द्वारा दूतावासों पर व्यय	4. सरकार का विदेशों में व्यय
5. जनसंख्या का आवास से प्राप्ति	5. जनसंख्या का प्रवास का व्यय
6. विदेशों से प्राप्त दान, हर्जाना, दण्ड व क्षतिपूर्ति	6. विदेशों को दिया गया दान, हर्जाना व क्षतिपूर्ति।
7. स्वर्ण का आवागमन	7. स्वर्ण का निर्यात
8. पूंजी का आयात	8. पूंजी का निर्यात
9. उपहार की प्राप्ति	9. उपहार को देना
10. मुद्रा की प्राप्ति	10. मुद्रा की जावक
योग	योग

पूंजी का आवागमन स्वयं में महत्त्वपूर्ण नहीं होता, बल्कि उसके साथ-साथ उसका क्रय-विक्रय भी होना चाहिए। इस प्रकार क्रय-विक्रय के कारण ही आवागमन भी महत्त्वपूर्ण बन जाता है।

भुगतान संतुलन का महत्त्व
(Importance of Balance of Payments)

भुगतान संतुलन प्रत्येक राष्ट्र के अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय व्यवहारों का परिमाणात्मक आलेख होता है जो राष्ट्र के अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक जीवन के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालता है। अविकसित एवं नवीन राष्ट्रों के भुगतान संतुलन के अध्ययन से यह ज्ञात किया जा सकता है कि वह अपने आर्थिक विकास के लिए किस सीमा तक विदेशी पूंजी पर आश्रित है। इसके विपरीत विकसित राष्ट्रों के भुगतान संतुलन के अध्ययन से यह ज्ञात किया जा सकता है कि उसे विदेशी विनियोगों से कितनी आय प्राप्त हो रही है। इस प्रकार भुगतान संतुलन एक आर्थिक बैरोमीटर है, जिससे अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक स्थिति का सही अनुमान लगाया जा सकता है तथा अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक दशा एवं संभावनाओं का पता लगाकर विनिमय दर की उपयुक्तता को देखा जा सकता है। विभिन्न राष्ट्रों की आर्थिक स्थिति का सही ज्ञान विभिन्न राष्ट्रों के भुगतान संतुलन के अध्ययन करने से लगाया जा सकता है। भुगतान संतुलन को एक ऐसा दर्पण कहा जा सकता है जो किसी भी राष्ट्र की अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक दृष्टि का प्रतीक होता है। इसके अध्ययन के आधार पर विदेशी व्यापार में पारस्परिक निर्भरता को ज्ञात किया जा सकता है। इस प्रकार "अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्री के लिए भुगतान संतुलन का वही महत्त्व होता है जो कि रसायन शास्त्री को तत्त्वों की सामयिक तालिका का होता है।"[1]

1. What the periodic table of elements is to the chemist, the Balance of Payment is to the International Economist"—W. S. Jevons.

भुगतान संतुलन सदैव समतुलित रहता है
(Balance of Payments always Balances)

श्रीमती जॉन राबिन्सन का मत है कि "भुगतान संतुलन सदैव समतुलित ही रहता है, व्यापार संतुलन ऋणों के शेष का प्रतिकूल रहता है।"[1] प्रत्येक राष्ट्र का भुगतान संतुलन एक खाते के समान होता है जिसके दोनों पक्षों का सदा समतुलन बना रहता है। इसका कारण यह है कि जिस प्रकार एक व्यक्ति का चिट्ठा समतुलित रहता है, उसी प्रकार एक राष्ट्र का भुगतान संतुलन भी सदैव संतुलित रहता है। यदि कभी घाटे की व्यवस्था हो जाए तो इसकी पूर्ति निम्न तरीकों से की जा सकती है, जिससे जमा व नाम पक्ष सदा समतुलित हो जाते हैं—

(i) आय हस्तांतरित करना—गत वर्षों में अर्जित की गई आय को हस्तांतरित करके भुगतान संतुलन के अंतर को दूर किया जा सकता है। इस प्रकार विदेशों से प्राप्त ऋण राशि का भुगतान लेकर घाटे को पूर्ण किया जा सकता है।

(ii) पूंजी का आयात—घाटे को पूर्ण करने के उद्देश्य से विदेशी पूंजी का आयात किया जा सकता है। इसे एक जमा की मद मानते हैं जिससे भुगतान संतुलन में जमा की ओर दिखाकर घाटे को समतुलित किया जा सकता है।

(iii) स्वर्ण का निर्यात—घाटे को पूर्ण करने के लिए स्वर्ण का निर्यात किया जा सकता है तथा इसे जमा पक्ष की ओर दिखाया जाता है।

जिस राशि का भुगतान नहीं किया जाता, वह विदेशों के प्रति दायित्व माना जाता है, जिसे जमा पक्ष में अल्पकालीन विदेशी ऋण शीर्षक के अंतर्गत दिखाकर दोनों पक्षों को समतुलित किया जाता है। इस प्रकार जमा मदों का योग अनिवार्य रूप से नाम मदों के योग के बराबर होगा। राष्ट्र के भुगतान संतुलन की तुलना आय-व्यय विवरण से की जा सकती है। जिस प्रकार आय-व्यय विवरण में लेनदार एवं देनदार का सदैव संतुलन बना रहता है, उसी प्रकार से भुगतान संतुलन में भी भुगतान व प्राप्तियों के मध्य सदैव सन्तुलन बना रहता है। वाल्टर क्रॉज के अनुसार "एक राष्ट्र का व्यापार संतुलन का संतुलित अवस्था में रहना आवश्यक नहीं है, परन्तु उसका भुगतान संतुलन सदैव संतुलित रहता है।"[2]

राष्ट्र में भुगतान संतुलन की विभिन्न अवस्थाएं
(Various Stages of Country's Balance of Payments)

किसी भी राष्ट्र के आर्थिक विकास के स्तर पर भुगतान संतुलन की विभिन्न अवस्थाएं निम्न हैं—

(i) वृद्धिशील राष्ट्र—इस परिस्थिति में राष्ट्र आयात अधिक व निर्यात कम करता है तथा अन्तर की राशि को दूसरे राष्ट्र से उधार लेकर पूर्ण कर लेता है। ऐसा करने से वह अपना पूंजी ढांचा निर्मित करने में समर्थ हो जाता है।

(ii) परिपक्व राष्ट्र—इस अवस्था में भूतकालीन ऋणों पर लाभांश एवं ब्याज की विशाल रकमों का भुगतान किया जाता है तथा चालू खाते के शेष को संतुलित किया जाता है। पूंजी के आवागमन भी संतुलित अवस्था में रहते हैं।

(iii) नव ऋण दाता राष्ट्र—इस काल में निर्यात अधिक बढ़ा दिए जाते हैं तथा आयात कम हो जाते हैं। इस प्रकार विदेशों से स्वर्ण व अन्य स्वीकृतियां प्राप्त होती हैं।

1. Balance of Payment always balances; balance of trade is inverse of balance of indebtedness."—Mrs. Joan Robinson.

2. "A country's balance of trade may not balance; but its balance of payments always balances."—Walter Krause, *op. cit.*, p. 52.

(iv) परिपक्व लेनदार राष्ट्र—इस व्यवस्था में चालू आवश्यकताएं पूर्ण होने के बाद पिछले विनियोगों पर विदेशों से प्राप्त होने वाली आय भी सम्मिलित की जाती है।

भुगतान संतुलन में असाम्यता
(Disequilibrium in Balance of Payments)

भुगतान संतुलन में जो साम्यावस्था दृष्टिगोचर होती है वह भ्रामक है, क्योंकि इन उपायों को सदैव प्रयोग में नहीं लाया जा सकता। इस कुसमायोजन के सुधार के लिए आयात पर प्रतिबंध लगाकर निर्यात को प्रोत्साहित करना होगा। प्रायः भुगतान संतुलन में असाम्यता की स्थिति बनी ही रहती है। इस प्रकार का असंतुलन अनेक परस्पर तत्वों का सम्मिलित परिणाम होता है, जिन्हें एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। भुगतान संतुलन में असंतुलन की स्थिति कितने ही कारणों से उत्पन्न हो सकती है। यदि कोई कारण हमारे भुगतानों को बढ़ाता है या हमारी आमदनी को कम करता है तो हमारे भुगतान संतुलन में घाटा उत्पन्न होगा और उससे असंतुलन की स्थिति उत्पन्न होगी। भुगतान संतुलन में असाम्यता के कारणों को डेलबर्ट ए० स्नाइडर (Delbert A. Snider) ने निम्न दो भागों में विभाजित किया है—

(अ) रचना संबंधी कारण (Structural reasons)।

(ब) चक्रीय एवं मौद्रिक कारण (*Cyclical and monetary reasons*)।

(अ) रचना संबंधी कारण—प्रत्येक राष्ट्र के आर्थिक विकास में आयात एवं निर्यात की सहायता लेनी पड़ती है। आयात एवं निर्यात में संतुलन न रहने पर रचना संबंधी असंतुलन उत्पन्न हो जाता है, जिसके प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं—

(i) विशिष्टीकरण एवं औद्योगीकरण—विशिष्टीकरण के कारण उत्पादन के साधनों में असंतुलन स्थापित हो जाता है क्योंकि विभिन्न राष्ट्रों के मध्य सापेक्षिक तत्व स्थायी न रहकर परिवर्तित होते रहते हैं। इसी प्रकार औद्योगीकरण रचना संबंधी भ्रामक समायोजन को प्रोत्साहित करती है क्योंकि इससे निर्यात में प्रतिस्पर्धा बढ़कर आयात की मांग गिर जाती है।

(ii) व्यापार शर्तें—यदि निर्यात कीमतें धीरे-धीरे बढ़े व आयात का मूल्य तेजी से बढ़े तो व्यापार शर्तें अनुकूल नहीं मानी जाती। इसके विपरीत यदि जनसंख्या की वृद्धि के कारण कृषि उत्पादनों के मूल्य बढ़ जाएं तो व्यापार शर्तों में सुधार हो जाता है। इस प्रकार प्रतिकूल व्यापार शर्तें असाम्यता को जन्म देती हैं।

(iii) दीर्घकालीन पूंजी प्रवाह में परिवर्तन—दीर्घकालीन पूंजी प्रवाह में परिवर्तन आने पर भुगतान संतुलन में असाम्यता स्थापित हो जाती है। उदाहरणार्थ विदेशों से प्राप्त होने वाली दीर्घकालीन विदेशी राशियों में अंतर आने पर असाम्यता स्थापित हो जाती है।

(iv) अस्थायी असाम्यता—जब व्यापार करने वाले राष्ट्र व्यापार पर प्रतिबंध लगा देते हैं तो ऐसी असाम्यता उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार यदि प्रशुल्क को बढ़ा दिया जाए तथा आयात पर कठोर प्रतिबंध लगा दिए जाएं तो भुगतान संतुलन में असाम्यता उत्पन्न हो जाएगी।

(v) आर्थिक संबंधों का रूप—जब एक राष्ट्र की समतुल्यता एक विशेष व्यापार पर आधारित हो, तो वह विदेशी आर्थिक संबंधों के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण होती है तथा इसमें परिवर्तन आने से संतुलन पूर्ण रूप से अस्त-व्यस्त हो जाता है।

(vi) मांग एवं पूर्ति का परिवर्तन—मांग एवं पूर्ति की दशा में परिवर्तन होने से भी असाम्यता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। प्रति व्यक्ति वास्तविक आय में परिवर्तन होने से मांग में परिवर्तन होने लगता है। इसी प्रकार श्रमिकों का प्राथमिक उद्योगों से निर्मित उद्योगों की ओर हस्तांतरण होने से मांग में वृद्धि हो जाती है, जिसकी पूर्ति के लिए विदेशों का आश्रय लेना पड़ता है।

(vii) पूंजी की भारी हानि—पूंजी की भारी हानि भी रचना संबंधी असंतुलन उत्पन्न कर देती है। इससे उत्पादन एवं प्रति व्यक्ति आय में कमी आ जाती है जिनके भयानक परिणाम नजर आते हैं। इस हानि के परिणाम-

स्वरूप आयात की माग बढ़ जाती है व दूसरी ओर निर्यातक राष्ट्र माग के अनुरूप उत्पादन नहीं कर पाता, जिससे असाम्यता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(viii) घटक-स्तर पर संरचना संबंधी विकृतिया—सी० पी० किंडलबर्गर का मत है कि कभी-कभी किसी घटक का मूल्य बढ़ जाने से दूसरे घटक का प्रयोग बढ़ जाता है। उदाहरणार्थ द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् इटली में श्रम का मूल्य बढ़ जाने से वहा पर पूंजी-गहन तकनीकों का प्रयोग बढ़ गया। इससे देश में पूंजी की कमी एवं श्रम की बेरोजगारी साथ-साथ बनी रही और भुगतान संतुलन में भी गंभीर असंतुलन उत्पन्न हो गया।

(ब) धनीय एवं मौद्रिक कारण—इस संबंध में अग्रांकित को सम्मिलित किया जाता है—

(i) घरेलू राष्ट्रीय आय—घरेलू राष्ट्रीय आय में परिवर्तन भुगतान संतुलन में असाम्यता प्रोत्साहित करता है। इसका कारण यह है कि राष्ट्रीय आय में परिवर्तन आयात को प्रभावित करते हैं, परंतु निर्यात पर तत्काल प्रभाव नहीं पड़ता।

(ii) राष्ट्रीय मूल्य एवं लागत स्तर—कीमत व लागत में वृद्धि होने के कारण आयात में वृद्धि व निर्यात में कमी हो जाती है व घाटे की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(iii) विनिमय दर—विनिमय दर में कमी करने पर मूल्य-स्तर पर पड़ने वाले प्रभाव घरेलू मूल्यों में वृद्धि या विदेशी मूल्यों में कमी के बराबर होते हैं। यदि आयात को प्रोत्साहित करके निर्यातों में कमी करके, मुद्रा का अत्यधिक मूल्यांकन किया जाए तो संतुलन में घाटे की स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

(iv) अल्पकालीन कारण—अल्पकालीन परिवर्तन के परिणामस्वरूप भी भुगतान संतुलन में असाम्यता उत्पन्न हो जाती है। इसमें आय एवं धन संबंधी अल्पकालीन परिवर्तनों को सम्मिलित किया जाता है।

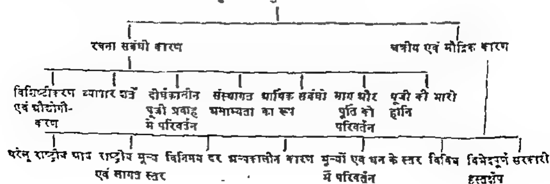
(v) मूल्यों एवं धन के स्तर में परिवर्तन—देश में मूल्यों एवं धन के सामान्य स्तर में परिवर्तन आने से भी असाम्यता उत्पन्न हो जाती है। यदि माग बढ़ने पर पूर्ति नहीं बढ़ती तो स्फीतिक स्थितिया उत्पन्न हो जाएंगी। इससे देश में भुगतान संतुलन में असाम्यता उत्पन्न होगी क्योंकि महंगे माल की विदेशों में माग कम होने पर निर्यात कम हो जाएंगे।

(vi) विविध—असाम्यता के विविध कारणों में उत्पादन के साधनों की सापेक्षिक पूर्ति, लागतों व कीमतों का स्तर, विनिमय दर आदि में होने वाले परिवर्तनों को भी सम्मिलित करते हैं।

(vii) विभेदपूर्ण सरकारी हस्तक्षेप—यदि आयातों व निर्यातों पर सरकार द्वारा कर लगा दिया जाए और आयातों की माग बेलोचदार व निर्यातों की माग लोचदार हो तो घाटे के असंतुलन की स्थिति का सामना करना होगा।

जिस राष्ट्र की व्यापार-शर्तें विपरीत होती हैं, उसको भुगतान संतुलन के घाटे के संतुलन की स्थिति का सामना करना पड़ सकता है।

भुगतान असंतुलन के कारणों को निम्न चार्ट द्वारा दिखाया जा सकता है :—



समायोजन की विधियां
(Systems of Adjustment)

भुगतानों के अंतर्राष्ट्रीय सामंजस्य की स्थापना के लिए विभिन्न विधियां अपनायी जा सकती हैं, जो कि निम्नलिखित हैं—

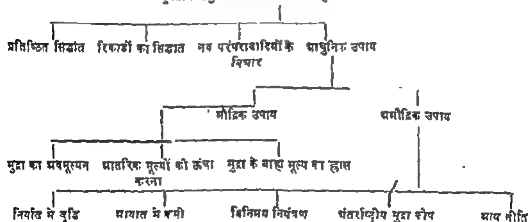
(i) स्वर्णमान में सामंजस्य—इस व्यवस्था में विदेशी विनिमय दरों को स्थिर रखने एवं राष्ट्रीय आय, धन की मात्रा, बैंकिंग एवं प्रशुल्क नीति आदि की सहायता से संतुलन स्थापित करने के प्रयास किए जाते हैं।

(ii) विनिमय नियंत्रण—इसमें राष्ट्रीय आय एवं धन की मात्रा को यथावत् रखकर एक इकाई विनिमय दर स्थापित की जाती है जिसमें आयात को निर्यात के स्तर पर सीमित कर दिया जाता है।

(iii) कागजी मान में सामंजस्य—इसमें घरेलू कीमत-स्तर राष्ट्रीय आय, प्रशुल्क संबंधी व्यवहारों, मौद्रिक एवं बैंकिंग नीति को यथावत् रखकर विनिमय दरों में परिवर्तन लाकर अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर समायोजन करने के प्रयास किए जाते हैं।

असाम्यता को सुधारने के उपाय

भुगतान संतुलन की असाम्यता को सुधारने के संबंध में निम्न विचारों को रखा जा सकता है—



(1) प्रतिष्ठित सिद्धांत

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का विचार था कि भुगतान संतुलन में असाम्यता उत्पन्न होने पर उसका उपचार स्वचालित ढंग से हो जाएगा। इस संबंध में सर्वप्रथम ह्यूम (Hume) ने 'व्यापार संतुलन के स्वतः नियमन सिद्धांत' (Theory of automatic regulation of balance of trade) का प्रतिपादन किया। इन अर्थशास्त्रियों ने असाम्यता को दूर करने के लिए निम्न उपाय बताए—

(i) स्वर्ण भंडार का समान वितरण—स्वर्ण एक ऐसी वस्तु है जिसे शीघ्र ही विनिमय किया जा सकता है तथा सर्वव्यापी मांग होने के कारण इसकी कीमत में समानता की प्रवृत्ति पाई जाती है। एक राष्ट्र में न तो अधिक मात्रा में स्वर्ण रह सकता है और न ही कम मात्रा में। इस प्रकार स्वर्ण भंडार का समान वितरण संभव हो जाता है।

(ii) स्वर्णमान का कार्यवाहन—जब किसी राष्ट्र को स्वर्ण प्राप्त होता है तो वह केंद्रीय बैंक में जमा कर दिया जाता है, जिससे चलन में मुद्रा की मात्रा बढ़ जाती है। इस प्रकार स्वर्णमान की कार्यवाही बिना किसी रुकावट के निरंतर

चलती रहती है।

(iii) स्थिर होने की प्रवृत्ति—यह माना गया है कि विनिमय दर एक निश्चित टकसाली समता पर स्थिर हो जाएगी भुगतान संतुलन में साम्यावस्था का ज्ञान व्यवसाय करने वाले राष्ट्रों के मध्य एक निश्चित स्वर्ण समता पर विनिमय दर स्थिर हो जाने पर ही हो सकता है।

व्यवहार में ये समस्त बातें उस समय लागू होती हैं जब कि स्वर्णमान के खेल के नियमों का सही ढंग से पालन किया जाए।

(2) रिकार्डो का सिद्धांत

रिकार्डो ने एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र को वस्तुओं के आवागमन व द्रव्य के आवागमन को शासित करने वाले सिद्धांतों का पता लगाया। जब एक राष्ट्र के भुगतान संतुलन के साम्य में कोई रुकावट आ पड़े तो स्वचालित शक्तियां सक्रिय होकर साम्य की पुनः स्थापना कर देती हैं।

(3) नव-परंपरावादियों के विचार

नव-परंपरावादियों ने प्रतिष्ठित सिद्धांत में अनेक सुधार किए जो कि निम्न हैं—

(i) पूंजी का आवागमन—भुगतान संतुलन में साम्य केवल स्वर्ण के आवागमन पर ही संभव नहीं होता, बल्कि पूंजी के आवागमन द्वारा भी साम्य स्थापित किया जा सकता है।

(ii) संशोधित रूप—इन्होंने अपरिपक्व व्याख्या के स्थान पर संशोधित एवं परिपक्व रूप को अपनाया। वर्तमान समय में मुद्रा पूर्ति पर आनुपातिक कोष प्रणाली द्वारा नियंत्रण रखा जाता है जिससे मुद्रा प्रसार पर रोक लगा दी जाती है तथा मुद्रा प्रणाली पर उचित नियंत्रण बना रहता है।

(4) आधुनिक उपाय

वर्तमान समय में भुगतान संतुलन में साम्य स्थापित करने वाले प्रमुख उपाय निम्न हैं—

(अ) मौद्रिक उपाय।

(ब) अमौद्रिक उपाय।

(अ) मौद्रिक उपाय (Monetary Measures)

मौद्रिक उपायों में निम्न को सम्मिलित किया जाता है—

(i) मुद्रा का अवमूल्यन—जब भुगतान संतुलन की प्रतिकूलता को दूर करने के उद्देश्य से स्वदेशी मुद्रा के बाह्य मूल्य को घटाना हो तो सरकार द्वारा मुद्रा का अवमूल्यन कर दिया जाता है, जिसमें स्वदेशी मुद्रा का बाह्य मूल्य गिर जाता है। यदि देश स्वर्णमान पर आधारित हो तो स्वदेशी मुद्रा की धातु मात्रा को कम कर दिया जाता है। इसमें निर्यात प्रोत्साहित एवं आयात हतोत्साहित होते हैं व भुगतान संतुलन पक्ष में हो जाता है।

(ii) आंतरिक मूल्य को ऊंचा करना—स्वदेशी मुद्रा का आंतरिक मूल्य बढ़ने से भी असाम्यता दूर हो जाती है। इसके लिए सामान्य मूल्य-स्तर को मुद्रा का संकुचन करके गिराया जाता है तो कीमतें घट जाती हैं जिससे क्रय के लिए अच्छा व विक्रय के लिए बुरा बाजार बन जाता है, इससे निर्यात बढ़ते हैं व आयात घटकर भुगतान संतुलन में साम्य स्थापित हो जाता है।

(iii) मुद्रा के बाह्य मूल्य का ह्रास—विनिमय दर को स्वतंत्र छोड़ने पर स्वदेशी मुद्रा का बाह्य मूल्य कम हो जाता है। संतुलन में प्रतिकूलता होने पर स्वदेशी मुद्रा के लिए मांग में कमी हो जाती है, फलस्वरूप बैंक अपनी विदेशी मुद्रा का भाव बढ़ा देते हैं, इससे विदेशी मुद्रा में स्वदेशी मुद्रा का मूल्य गिर जाता है। इस स्थिति को मूल्य ह्रास कहते है। इस प्रकार स्वदेशी मुद्रा विदेशियों के लिए सस्ती हो जाती है, फलस्वरूप निर्यात प्रोत्साहित होते हैं। इसके विपरीत अब विदेशी वस्तुएं स्वदेश में महंगी हो जाती हैं, इस से आयात निरुत्साहित होंगे। इससे निर्यात प्रोत्साहित

एवं आयात हतोत्साहित होंगे जिसका देश के भुगतान संतुलन पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा व उसमें प्रतिकूलता का समायोजन सरलता से हो जाएगा।

ब्याज की दरों में परिवर्तन—ब्याज की दरों में वृद्धि करके भी विदेशी पूंजी का देश में आयात किया जा सकता है तथा देश की पूंजी को बाहर जाने से रोका जा सकता है। इससे भुगतान संतुलन की स्थिति पर अच्छे प्रभाव पड़ेंगे। यदि असंतुलन बहुत अधिक हो तो यह उपाय पर्याप्त नहीं माना जा सकता।

(ब) अमौद्रिक उपाय (Non-Monetary Measures)

इसमें आयात-निर्यात को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया जाता है। इन उपायों से आयातों को हतोत्साहित एवं निर्यातों को प्रोत्साहित किया जाता है। अमौद्रिक उपाय निम्नलिखित हैं—

(1) **निर्यात में वृद्धि**—भुगतान संतुलन में सुधार लाने के लिए निर्यात में वृद्धि करने के प्रयास किए जाने चाहिएं। निर्यात बढ़ाने के लिए निम्न प्रयास किए जा सकते हैं—

(i) **नवीन विपणियों की खोज**—निर्यात को बढ़ाने के लिए विश्व के अन्य राष्ट्रों में नवीन विपणियों की खोज की जानी चाहिए तथा विकासशील देशों में निर्यात सम्भावनाओं का भी अध्ययन किया जाना चाहिए।

(ii) **बहुपक्षीय समझौते**—बहुपक्षीय समझौतों के आधार पर निर्यात में वृद्धि करने के प्रयास किए जाएं।

(iii) **लागत में कमी**—उत्पादन लागत में कमी करके विदेशी बाजार में प्रतिस्पर्धा करने योग्य माल होना चाहिए।

(iv) **चुंगी वापिस करना**—निर्यात के लिए प्रयोग में आने वाले कच्चे मालों पर चुंगी को वापिस कर देना चाहिए।

(v) **आर्थिक सहायता**—आवश्यकता पड़ने पर कुल निर्यात को आर्थिक सहायता देकर प्रोत्साहित करना चाहिए।

(vi) **विशेष सुविधाएं**—एक निश्चित सीमा से अधिक मात्रा में निर्यात करने पर व्यापारियों को विशेष सुविधाएं दी जानी चाहिएं।

(vii) **करों में कमी**—निर्यात करों में कमी करके निर्यात को प्रोत्साहित किया जा सकता है।

(viii) **अनुकूल शर्तें**—विदेशों में अन्तर्राष्ट्रीय बातचीत करके व्यापार की अनुकूल शर्तों को प्राप्त करने के प्रयास किए जाने चाहिएं जिससे निर्यात की मात्रा में पर्याप्त मात्रा में वृद्धि संभव हो सके।

(ix) **स्थानीय मांग को सीमित करना**—जहां तक संभव हो सके स्थानीय मांग को सीमित करके शेष माल को निर्यात करने के प्रयास किए जाने चाहिए।

(x) **आवश्यक निर्यात**—सम्पूर्ण उत्पादन का एक निश्चित प्रतिशत भाग निर्यात के लिए सुरक्षित रखा जाना चाहिए तथा उत्पादकों को हर संभव सुविधाएं देने के प्रयास किए जाने चाहिएं।

(2) **आयात में कमी**—भुगतान संतुलन को सुधारने के लिए अनावश्यक आयातों में कमी की जानी चाहिए। इस संबंध में निम्न प्रयास करने चाहिएं—

(i) **स्थानापन्न**—जिन वस्तुओं के स्थानापन्न उपलब्ध हों उनका स्थानीय रूप से उत्पादन संभव करके आयात में कमी करना चाहिए।

(ii) **भावी आयात में कमी**—ऐसी वस्तुओं के आयात को प्राथमिकता देनी चाहिए जो भविष्य में आयात घटाने में सहायक सिद्ध हो सकें।

(iii) **विलासिता के आयात को सीमित करना**—ऐसी वस्तुएं जिनका आयात धनी वर्ग द्वारा विलासिता के लिए किया जाता है, उन्हें सुगमता से कम किया जाना चाहिए।

उपाय—आयात को कम करने के लिए निम्नलिखित उपायों को अपनाया जा सकता है—

(i) **आयात कर**—आयात कम करने के लिए भारी मात्रा में आयात कर लगाना चाहिए। इससे मूल्य ऊंचे हो जाएंगे तथा विक्रेताओं के लाभ कम हो जाते हैं व क्रेताओं की मांग भी कम हो जाती है तथा कर के रूप में धन सरकारी खजाने में जमा हो जाता है। इस प्रकार आयात कर भुगतान संतुलन की प्रतिकूलता को सुधारने का एक प्रभाव-

वाली उपयुक्त माना जाता है।

(ii) अभ्यंश प्रणाली (Quota system)—कोटा प्रणाली के आधार पर भी आयातों को सीमित किया जा सकता है। इसके विभिन्न रूप हैं जो कि निम्न हैं—

(अ) एक पक्षीय कोटा प्रणाली—इसमें आयात करने वाला राष्ट्र अपने आयातों पर प्रतिबंध लगाता है, जिसमें आयात की अधिकतम सीमा निर्धारित कर दी जाती है जिसे विश्व के किसी भी राष्ट्र से पूरा किया जा सकता है।

(ब) विभाजित कोटा—यदि आयात के लिए निश्चित की गई मात्रा को विभिन्न राष्ट्रों से आयात करना निश्चित कर दिया गया हो तो उसे विभाजित कोटा कहेंगे।

(स) द्विपक्षीय कोटा प्रणाली—इसमें सरकार द्वारा आयात की एक अधिकतम सीमा निर्धारित कर दी जाती है, जिस सीमा तक रियायती दर पर आयात किए जा सकते हैं, किंतु उससे अधिक आयात करने पर ऊंची दर से मूल्य वसूल किए जाते हैं।

(द) अनुज्ञा कोटा प्रणाली—इसमें सरकार कुछ सीमित व्यापारियों को ही अनुज्ञापत्र देकर निश्चित मात्रा तक ही आयात करने की सुविधाएं देती है। आयात किये जाने वाली वस्तुओं एवं उनकी मात्रा का निर्धारण सरकार द्वारा किया जाता है।

(iii) आयात निषेध—आयात को रोकने के लिए जिन वस्तुओं का आयात देश के लिए हानिप्रद हो उनके आयात को निषेध किया जा सकता है तथा भुगतान संतुलन की स्थिति को सुधारा जा सकता है।

(iv) प्रशासनिक ढंग—इस व्यवस्था में ऐसी पद्धतियों को अपनाया जाता है जो व्यापारियों को परेशान करके उन्हें निरुत्साहित करें, जिससे वे अपनी इच्छा से आयात की मात्रा में कमी कर सकें।

(3) विनिमय नियंत्रण—इस प्रणाली में समस्त व्यापारियों को जो विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है उसे केंद्रीय कोष में जमा करने के आदेश दिए जाते हैं तथा बाद में इस राशि को प्राथमिकता के आधार पर विभिन्न मदों पर वितरित कर दिया जाता है। आयातकर्त्ताओं को अनुज्ञापत्र दिए जाते हैं तथा अनुज्ञापत्र रहित व्यापारियों को आयात करने की सुविधाएं नहीं दी जाती। इस प्रकार विनिमय पर कठोर नियंत्रण लगाकर भुगतान संतुलन की असाम्यता को दूर किया जा सकता है।

(4) अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष—वर्तमान समय में भुगतान संतुलन की असाम्यता को दूर करने के लिए अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से भी सहायता ली जाती है, जो राष्ट्रों को विभिन्न प्रकार के परामर्श देती है। इस दृष्टि से भुगतान संतुलन की असाम्यता को दो वर्गों में रखा गया है—(अ) मौलिक असाम्यता, एवं (ब) अस्थाई असाम्यता। इस कोष के समस्त सदस्यों के लिए यह अत्यंत आवश्यक होता है कि भुगतान संतुलन की असाम्यता को दूर करने के लिए इस कोष से उचित परामर्श कर लिया जाए।

(5) आय नीति—इस नीति में मौद्रिक नीति की सहायता से प्रशुल्क उपायों द्वारा, आय पर नियंत्रण लगाए जाते हैं। प्रतिकूल भुगतान संतुलन की स्थिति में आय में कमी होने पर आयात में भी कमी हो जाती है। अतः मौद्रिक एवं प्रशुल्क नीति का प्रयोग करते समय अधिकारियों को आंतरिक संतुलन पर पड़ने वाले प्रभावों को भी ध्यान में रखना चाहिए तथा भुगतान संतुलन में सुधार करने के प्रयास किए जाने चाहिएं।

(स) व्यापार संबंधी उपाय (Trade Measures)—इसमें निम्न उपायों को सम्मिलित किया जाता है :—

(i) अदला-बदली—प्राचीन समय के अनुसार वर्तमान समय में भी एक देश से दूसरे देश के साथ वस्तुओं के बारे में अदला-बदली के समझौते होते हैं। इसमें स्वभाव से [redacted] संतुलन बना रहता है अदला-बदली योजना समय के आधार पर दोनों देश लाइसेंस-पत्र जारी करते हैं।

(ii) स्वतंत्र व्यापार—असंतुलन का कारण नियंत्रण न होकर किसी के नियंत्रणों के कारण भुगतान के घाटे की स्थिति उत्पन्न होना है। स्वतंत्र व्यापार पद्धति को चालू करने से यह समस्या दूर की जा सकती है।

भारत का भुगतान संतुलन
(India's Balance of Payment)

प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व भुगतान संतुलन की असाम्यता को स्वर्ण द्वारा समायोजित किया जाता था। परंतु वर्तमान काल में इसमें अनेक परिवर्तन हो गए हैं तथा अन्य अनेक ढंगों द्वारा भुगतान संतुलन को समायोजित करने के प्रयास किए जाते हैं।

युद्ध-पूर्व स्थिति

युद्ध-पूर्व भारत का भुगतान संतुलन पक्ष में था, परंतु स्थिति अधिक सुदृढ़ नहीं थी। देश के उत्पादन का अधिकांश भाग ब्रिटेन को निर्यात कर दिया जाता था तथा देश की स्थिति इतनी सुदृढ़ थी कि वह सरलता से गृह खर्चों एवं ब्याज आदि की व्यवस्था कर सकता था। देश से प्रायः कच्चे माल का निर्यात होने से व्यापार शर्तें प्रतिकूल रहती थीं। बाह्य लेखों को संतुलित करने में स्वर्ण का आवागमन किया जाता था तथा स्वर्ण का आयात एवं निर्यात दोनों ही किए जाते थे। भारत ने कोई भी संरक्षात्मक एवं प्रतिबंधात्मक नीति को नहीं अपनाया तथा निर्यात द्वारा देश को सम्पन्न बनाने के अनेक प्रयास किए गए।

युद्धकालीन स्थिति

युद्धकालीन अवधि के संबंध में संपूर्ण जानकारी प्राप्त नहीं हो पायी है, पौंड पावने के संबंध में ही जानकारी प्राप्त हो सकी है। इस काल में भुगतान संतुलन की अनेक विशेषताएं रहीं, जो कि निम्न हैं—

(i) व्यापक क्रय शक्ति—युद्धकालीन स्फीतिक प्रवृत्ति ने जनता के हाथों में व्यापक क्रय शक्ति छोड़ दी। देश में नवीन उद्योगों की स्थापना के लिए अनेक प्रकार की मशीनों का आयात करना पड़ा तथा देश का पौंड पावना होने के कारण विदेशों को स्वर्ण निर्यात करने की आवश्यकता नहीं पड़ी।

(ii) अनुकूल संतुलन—पौंड पावने की व्यापकता के कारण देश में भुगतान संतुलन अनुकूल स्थिति में ही बना रहा। इस अनुकूल स्थिति का कारण आयात में कमी, मूल्यों में सुधार एवं भारी मात्रा में अदृश्य मदों में कटौती करना था।

(iii) गृह खर्चों की समाप्ति—सेवाओं के भुगतान में कमी करके गृह खर्चों को समाप्त करके भारत एक कर्जदार राष्ट्र बन गया।

द्वितीय विश्व युद्ध बाद स्थिति

इस काल में व्यापार के घाटे ने व्यापार की शर्तों को प्रतिकूल बना दिया। युद्धोत्तर काल में भारत ने महंगे दामों पर माल का आयात किया जिससे उसे व्यापारिक घाटे का सामना करना पड़ा। इस काल के भुगतान संतुलन की प्रमुख विशेषताएं निम्न थीं—

(i) भुगतान व प्राप्ति में एकरूपता—1948 तक व्यापारियों के माल के समस्त भुगतान एवं प्राप्तियों में एकरूपता बनी रही।

(ii) गैर-मौद्रिक स्वर्ण का महत्वहीन आवागमन—इस अवधि में गैर-मौद्रिक स्वर्ण के आवागमन का कोई विशेष महत्त्व नहीं पड़ा। इस काल में ब्रिटेन से भुगतान प्राप्त होने के कारण भुगतान संतुलन अनुकूल स्थिति में बना रहा।

(iii) उदार-आयात नीति—इस अवधि में उदार आयात नीति के कारण स्थिति बिगड़ने लगी जिससे व्यापार घाटा खराब हो गई। उदार आयात नीति इस कारण अपनायी गयी कि देश में उद्योगों के विकास के लिए मशीनों की आवश्यकता थी।

(iv) चालू खाते में आधिक्य—निर्यात मूल्यों में वृद्धि होने के कारण चालू खाते में आधिक्य बना रहा;

निर्यातकरों में वृद्धि करने के उपरांत भी निर्यात में वृद्धि हो रही थी। इस प्रकार भुगतान की स्थिति में सुधार हुआ।

(v) चालू खाते में घाटा—1951 में खाद्यान्न का भारी मात्रा में आयात करने के परिणामस्वरूप चालू खाते में पुनः घाटे की स्थिति उत्पन्न हो गई।

(vi) भुगतान संतुलन में सुधार—पौंड क्षेत्र में सुधार होने के कारण भुगतान संतुलन की स्थिति में सुधार हुआ। कठोर आयात प्रतिबंध लगाने से आयात घट गए।

(vii) नवीन आयात नीति—1949 में नवीन आयात नीति को अपनाने पर भुगतानों का अन्तर कम हो गया। 1949 में अवमूल्यन करने से स्थिति में और अधिक सुधार हुआ। इससे निर्यातों में सुधार हुआ व आयात में कमी हुई।

(viii) नियन्त्रण को अंशतः ढीला करना—1947 में आयातों पर नियंत्रण को अंशतः ढीला कर दिया गया तथा दूसरी ओर प्राप्तियों में वृद्धि हुई, इससे व्यापार संतुलन में कोई विशेष हानि नहीं हुई।

15 अगस्त, 1947 के विभाजन के पश्चात् व्यापार की स्थिति में सुधार हुआ है। विभाजन के पश्चात् भारत से निर्मित वस्तुओं का निर्यात बढ़ा तथा कच्ची सामग्री का आयात बढ़ा। भारत एक निर्माता राष्ट्र बन गया, देश की भौगोलिक स्थिति ने मौद्रिक स्थिति को प्रभावित करके संपूर्ण आर्थिक नीतियों पर प्रभाव डाला। इसी प्रकार नवीन राजनीतिक सीमाओं ने नवीन हितों को प्रभावित किया। अवमूल्यन का देश के भुगतान सतुलन पर अनुकूल प्रभाव पड़ा तथा आयात कम हुए व निर्यात बढ़े। कठोर मुद्रा वाले क्षेत्रों में भारत का व्यापार सन्तुलन विपक्ष में रहा। अतः भारत को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से ऋण लेना पड़ता था। विभाजन के पश्चात् कठोर मुद्रा वाले क्षेत्रों को निर्यात में कमी हो गई तथा डालर की स्थिति भी खराब हो गई। पाकिस्तान के निर्माण से विभाजन के प्रारंभिक वर्षों में भुगतान संतुलन में उतार-चढ़ाव आते रहे। पाकिस्तान से प्रायः कच्चे माल का आयात होता है।

भारत के भुगतान सतुलन की प्रतिकूलता के कारण

भुगतान संतुलन की प्रतिकूलता के प्रमुख कारण निम्न हैं—

(1) डालर संकट—डालर संकट एक विश्वव्यापी समस्या बन गया है जिसका प्रभाव भारत में भी पड़ा। इस समस्या के प्रमुख कारण निम्न हैं—

(i) माल की अधिक मांग—विभिन्न राष्ट्रों के विकास एवं पुनर्रचना के कारण माग में वृद्धि हुई तथा दूसरी ओर उत्पादन में वृद्धि न हो सकी। परंतु सं० रा० अमेरिका में उत्पादन पर्याप्त रूप से बढ़ा। विश्व में अमेरिका ही एक ऐसा राष्ट्र था जो विश्व की बढ़ती माग को पूर्ण कर सकता था। अमेरिका ने विश्व के अनेक राष्ट्रों को माल निर्यात किया और बदले में डालर मांगा, जिससे डालर की मांग बढ़ गयी और डालर-संकट उत्पन्न हो गया।

(ii) अर्द्धविकसित राष्ट्रों का विकास—अर्द्धविकसित राष्ट्रों में उद्योगों का विकास हो रहा है जो निर्यात बढ़ाने के प्रयास में लगे हैं, परतु इसके लिए विदेशों से आयात करना आवश्यक था, जिसने डालर-संकट उत्पन्न किया।

(iii) युद्ध की क्षति—विश्व के अधिकांश राष्ट्रों में युद्ध से क्षति हुई, जिसके पूर्ण करने में आयात बढ़ाने पड़े एवं निर्यात में कमी होने से डालर-संकट उत्पन्न हुए।

(iv) अमेरिकी तकनीकी सर्वोच्चता—अमेरिका के सर्वोच्च तकनीकी विकास से अनेक वस्तुओं के उत्पादन में अपार वृद्धि हुई जिसने विश्व के बाजारों में माल निर्यात किया तथा डालर अर्जित किए, जिसने अन्य राष्ट्रों में डालर की कमी कर दी।

(2) विदेशी पूंजी का आयात—भारत में पूजीगत आवश्यकताओं एवं बचतों के मध्य रिक्त स्थान होने के कारण विदेशी पूजी पर निर्भर रहना पड़ा। देश की योजनाओं को पूर्ण करने के लिए भी विदेशी पूजी का सहारा लिया गया, जिससे भुगतान सतुलन प्रतिकूल होता गया।

(3) पर्यटक यातायात का विकास—भारत प्रतिवर्ष देशवासियों के विदेशी यात्राओं पर भारी व्यय करता है जिसके लिए भारी मात्रा में विदेशी विनिमय का भुगतान देना पड़ता है जिससे भुगतान संतुलन विपक्ष में हो गया।

(4) सहायक सेवाएं—भारत को सहायक सेवाओं के कारण विशेषकर विदेशी परिवहन एवं बीमा कंपनियों

की सेवाओं के कारण भारी मात्रा में भुगतान करना पड़ा। इससे भुगतान संतुलन विपक्ष में हो गया।

(5) पौंड पावना—पौंड पावने की मात्रा में निरंतर कमी हो रही थी। भारत के पास सीमित साधन होने के कारण डालर क्षेत्र से माल आयात नहीं किया जा सका। पौंड क्षेत्र में भी आयात नीति कठोर होती गई। मुद्रा स्थिति ने माल की अधिक पूर्ति को आवश्यक बना दिया जिससे देश से अभाव की स्थिति को सुलझाया जा सके। अधिक आयात होने से स्थिति और अधिक बिगड़ गई, अतः आयात पर कठोर नियंत्रण लगाए गए।

(6) प्रतिकूल व्यापार शर्तें—व्यापार शर्तों के प्रतिकूल होने से भुगतान संतुलन की स्थिति भी खराब होती गई। देश में आयात की मात्रा में निरंतर वृद्धि होती गई तथा निर्यात कम हो गए, फलस्वरूप भुगतान संतुलन की स्थिति बिगड़ती गई।

(7) युद्धकाल में निर्यातों की अधिकता—निर्यात अधिक होने एवं आयात कम होने से स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ प्राप्त हुईं, जिनके आधार पर नोटों का प्रकाशन किया गया, जिसने स्फीति को प्रोत्साहित करके स्थिति को खराब कर दिया।

(8) अवमूल्यन—1949 में भारत के अवमूल्यन के साथ पाकिस्तान ने अवमूल्यन न किया, जिससे पाकिस्तानी आयात महंगे पड़े व भुगतान संतुलन विपक्ष में हो गया।

(9) निर्यात में कमी—भुगतान संतुलन के विपक्ष में होने का एक अन्य कारण देश में ही अनेक प्रकार के उद्योगों का खुलना है जहां पर कच्ची सामग्री का प्रयोग बढ़ गया और कच्ची सामग्री का निर्यात संभव न होने से भुगतान संतुलन विपक्ष में हो गया।

(10) निम्न उत्पादन स्तर—देश में आवश्यक सामग्री के अभाव, प्राकृतिक प्रकोप व अन्य कारणों से उत्पादन में वृद्धि संभव न हो सकी, जिससे निर्यात बढ़ाए न जा सके व भुगतान संतुलन विपक्ष में हो गया।

(11) दोषपूर्ण व्यापारिक प्रणाली—देश में सहयोग व संगठन के अभाव तथा दोषपूर्ण व्यापारिक प्रणाली के कारण निर्यातों की मात्रा में वृद्धि करना संभव नहीं हो सका। देश में विज्ञापन पर भी विशेष ध्यान नहीं दिया जाता।

(12) अन्य कारण—स्वतंत्रता के पश्चात् दूतावासों एवं अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भाग लेने से व्यय में वृद्धि हो गई है, जिससे भुगतान संतुलन पर बुरा प्रभाव पड़ा है।

प्रतिकूल संतुलन सुधारने के उपाय

भारत के प्रतिकूल भुगतान संतुलन को सुधारने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिए जा सकते हैं—

(1) आयात पर प्रतिबंध—भुगतान संतुलन को अनुकूल बनाने हेतु आयात पर कठोर प्रतिबंध लगाने होंगे तथा निर्यातों को बढ़ाना होगा। इस संबंध में सरकार ने निम्न उपाय अपनाए हैं—

(i) लाइसेंस प्रथा—आयात को सीमित करने के लिए सरकार ने लाइसेंस प्रथा प्रारंभ की तथा बिना लाइसेंस आयात पर प्रतिबंध लगा दिए गए।

(ii) देश में उपलब्ध वस्तुएं—जो वस्तुएं देश में ही उपलब्ध हैं उनके आयात पर प्रतिबंध लगा दिए गए।

(iii) नीति पर पुनर्विचार—साल में दो बार आयात नीति को पुनर्विचार करके घोषित किया जाता है, जिससे उसे नवीन परिस्थितियों के साथ समायोजित किया जा सके।

(iv) स्थगित भुगतान पद्धति—आयात भार को कम करने के उद्देश्य से स्थगित भुगतान व्यवस्था की नीति को आयात में अपनाया गया है।

(v) दिशा में परिवर्तन—दुर्लभ मुद्रा क्षेत्रों से आयात की दिशा सुलभ मुद्रा क्षेत्रों की ओर मोड़ दी गयी तथा घाटा होने पर आयात पर प्रतिबंध लगाए गए।

(vi) प्राथमिकता सूची—आयात वस्तुओं की प्राथमिकता सूची बनाई गई, जिसमें पूंजीगत माल के आयात को प्राथमिकता दी गई।

(vii) नियंत्रित आयात—अनेक वस्तुओं को खुली सूची से हटाकर नियंत्रित आयात के अंतर्गत रखा गया

जिससे आयात की मात्रा में कमी की जा सके।

(viii) आयात सलाहकार परिषद्—देश में आयात सलाहकार परिषद् की स्थापना की गई जो आयात के संबंध में आवश्यक सलाह देता है।

(2) स्फीति पर नियंत्रण—स्फीति पर नियंत्रण लगाने से मूल्य कम होकर निर्यात प्रोत्साहित होंगे तथा संतुलन पक्ष में होगा।

(3) विनिमय नियंत्रण—रिजर्व बैंक को विदेशी विनिमय संबंधी अधिकार देने से विनिमय पर नियंत्रण लगा दिए जाते हैं तथा इसका उपयोग आवश्यक आयात के लिए ही किया जाता है।

(4) राजकीय व्यापार निगम—देश में राजकीय व्यापार निगम की स्थापना की गई जो व्यापार एवं निर्यात बढ़ाने के प्रयास करता है, जिससे भुगतान संतुलन पक्ष में हो सके।

(5) द्विपक्षीय समझौते—द्विपक्षीय समझौतों के आधार पर विदेशी विनिमय की कठिनाइयां होने पर भी आवश्यक माल आयात किया जा सकता है तथा निर्यात को भी प्रोत्साहित किया जाता है।

(6) अवमूल्यन—मुद्रा का अवमूल्यन होने से विदेशों में माल सस्ता हो जाता है जिससे निर्यात सस्ते व आयात महंगे हो जाते हैं तथा आयात हतोत्साहित व निर्यात प्रोत्साहित हो जाते हैं तथा भुगतान संतुलन की प्रतिकूलता कम हो जाती है।

(7) अधिक उत्पादन—सरकार ने अधिक उत्पादन व्यवस्था करने के प्रयास किए, जिससे निर्यात की मात्रा को प्रोत्साहित किया जा सके।

(8) निर्यात में वृद्धि—देश में निर्यात में वृद्धि करके संतुलन को ठीक किया जा सकता है। निर्यात बढ़ाने के लिए निम्न सुझाव दिए जा सकते हैं—

(i) करों में कमी—निर्यात किए जाने वाले माल पर न्यूनतम मात्रा में कर लगाने चाहिएं।

(ii) श्रेष्ठ किस्म—निर्यात किए जाने वाले माल की किस्म श्रेष्ठ होनी चाहिए, जिससे वह विदेशी प्रतियोगिता का सामना कर सके।

(iii) सट्टे पर प्रतिबंध—निर्यात होने वाली वस्तुओं के सट्टे पर प्रतिबंध लगा देने चाहिए।

(iv) संगठन की स्थापना—निर्यात बढ़ाने के उद्देश्य से देश में निर्यात संगठनों की स्थापना की जानी चाहिए।

(v) सुविधाएं—निर्यातक को कच्चे माल एवं मशीनरी आदि की प्राप्ति की सुविधाएं होनी चाहिएं।

(vi) व्यापारिक संबंध—विश्व के अधिक से अधिक राष्ट्रों के साथ व्यापारिक संबंध बढ़ाने के प्रयास किए जाने चाहिएं।

(vii) न्यूनतम हस्तक्षेप—निर्यात व्यापार में सरकार का हस्तक्षेप न्यूनतम होना चाहिए।

(viii) निर्यात सलाहकार परिषद्—निर्यात बढ़ाने के लिए निर्यात सलाहकार परिषद् की स्थापना की गई है। भारत में ऐसी लगभग 20 निर्यात परिषदों की स्थापना की गई है।

(xi) जोखिम बीमा निगम—निर्यातकों की जोखिम को कम करने के उद्देश्य से देश में जोखिम बीमा निगम की स्थापना की गयी।

(x) प्रतिनिधि मंडल—व्यापारिक अध्ययन के लिए विदेशों में प्रतिनिधि मंडल भेजे गए हैं जो निर्यात बढ़ाने के प्रयास करते हैं।

(xi) विशेष सुविधाएं—निर्यातकों को विशेष प्रकार की छूट एवं सुविधाएं प्रदान की जाती हैं, जिससे वे निर्यात में वृद्धि कर सकें।

(xii) सुरक्षित—उत्पादन का कुछ प्रतिशत भाग निर्यात के लिए सुरक्षित रख दिया गया है।

(9) अन्य उपाय—निर्यात में वृद्धि करने के लिए अन्य उपाय भी अपनाए जाते हैं, जिसमें किस्म सुधार तथा मूल्यों में कमी करना आदि प्रमुख हैं।

रहेगी। इसी प्रकार इस योजना के अंत में आयात की मात्रा 2,220 करोड़ रु० रहेगी जो 1980-81 में बढ़कर 2,950 करोड़ रु० होगी। 1980-81 में दीर्घकालीन विकास कार्यक्रम के आधार पर विदेशी सहायता पर निर्भरता में कमी हो जाएगी। आशा है 1980-81 में व्यापार संतुलन अनुकूल बना रहेगा।

पांचवी योजना

इस योजना में निर्यात लक्ष्य 2,890 करोड़ रु० रखा गया है और निर्यात वृद्धि दर 7.6% रखी गयी है। निर्यात आय में वृद्धि इंजीनियरिंग सामान, खनिज लोहा, इस्पात व मछली आदि के निर्यात से होगी। विश्व में इंजीनियरिंग सामान का निर्यात 1970 में 74 बि० डालर था जो 10% वार्षिक से बढ़कर 1978-79 में 400 करोड़ रु० हो जाएगा। 1973-74 में देश का निर्यात 2,000 करोड़ रु० से बढ़कर 1978-79 में 2,890 करोड़ रु०, 1983-84 में 4,170 करोड़ रु० व 1985-86 में 4,770 करोड़ रु० होने की संभावना है।

भुगतान संतुलन की वर्तमान स्थिति (Present Position of Balance of Payment)—प्रथम योजना-काल में विदेशी विनिमय कोष 127 करोड़ रु० था। द्वितीय योजना में 600 करोड़ रु० इस कोष से निकाले गए। तृतीय योजना में इस कोष में 6 करोड़ रु० से कमी हो गयी। चतुर्थ योजना में 1972-73 तक इस कोष में 846 करोड़ रु० जमा थे। पाचवी योजना में निर्यात में वृद्धि एवं आयात में कमी करके इस कोष में वृद्धि करने के प्रयास करने हैं। विदेशी विनिमय कोष की स्थिति को निम्न प्रकार से रखा जा सकता है :—

विदेशी विनिमय कोष

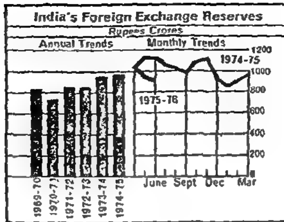
(करोड़ रु० में)

वर्ष	राशि	वर्ष	राशि
1960-61	304	1974-75	969
1965-66	298	1975-76 :—	
1970-71	732	अप्रैल	1008
1971-72	849	मई	936
1972-73	846	जून	891
1973-74	947		

(Source : The Financial Express Sep. 20, 1975)

भारत की भुगतान संतुलन की स्थिति 1974-75 की तुलना में 1975-76 में और अधिक खराब हो गयी। जून 1975 तक विदेशी विनिमय कोष 891 करोड़ रु० था जिसमें मई 1975 की तुलना में 45 करोड़ रु० की कमी आयी। 1975-76 के प्रारंभ में भारत के स्वर्ण भंडार 183 करोड़ रु० के थे जबकि विशेष आहरण अधिकार में 6 करोड़ रु० से कमी आयी। परिवर्तित कोष की मात्रा मार्च 1975 में 610 करोड़ रु० से घटकर जून 1975 में 538 करोड़ रु० हो गयी। ऊंचे आयात मूल्य के कारण विदेशी कोष की स्थिति और खराब हो गयी। परिणामस्वरूप भारत को अगस्त 1975 में SDR से 201 मि० डालर निकालने पड़े। इस पर ब्याज दर 7.75% रहेगी। भारत ने स्वर्ण भंडार से भी 485 करोड़ रुपए निकाल लिए हैं। अतः निर्यात को बढ़ाकर ही इस कोष की स्थिति को सुधारा जा सकता है। भारत के विदेशी विनिमय कोष की स्थिति को अग्र पृष्ठ पर चित्र द्वारा दिखाया जा सकता है :—

चित्र



1970-71 से 1975-76 तक भारत के औसत मासिक आयात एवं निर्यात को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

भारत का विदेशी व्यापार
(मासिक औसत)

(करोड़ रु० में)

वर्ष	आयात	निर्यात
1970-71	136.18	127.93
1971-72	152.04	134 02
1972-73	155 62	164 24
1973-74	243.77	210.28
1974-75	362.39	271 09
1974-75 (अप्रैल-जुलाई)	332.69	239.10
1975-76	351.07	269.18

(Source : The Economic Times Sep. 22, 1975)

1975-76 के प्रथम चार माह में कुल निर्यात 1076.72 करोड़ रु० था, जो गत वर्ष की तुलना में 12.6% अधिक था जबकि आयात में गत वर्ष की अपेक्षा 5.5% से ही वृद्धि हुई है। 1971-72 में निर्यात में 4.8% से वृद्धि हुई जो 1973-74 में बढ़कर 22.5%, 1974-75 में 28% हो गई। भविष्य में निर्यात में 30% से वृद्धि होने की संभावना है। 1974-75 में आयात में 48.7% से वृद्धि हुई जबकि 1973-74 में यह वृद्धि 56.6% थी। खाद्यान्न में आयात कम होगा, परंतु अन्य वस्तुओं का आयात अधिक होने के कारण भारत के विदेशी व्यापार पर भारी दबाव पड़ेगा।[1]

अवमूल्यन—6 जून 1966 को भारतीय रुपये का अवमूल्यन किया गया। तृतीय योजना में निर्यात सहायता

1. The Economic Times Sep 22, 1975.

एवं आयात कर का व्यापक स्तर पर प्रबंध करके ही अवमूल्यन को अपनाया गया। अवमूल्यन से हमारे आयात 36.5 प्रतिशत से महंगे हो गए। यदि 6 प्रतिशत ही आयात की मात्रा हो तो अब उन्हें खरीदने के लिए 40% अधिक राष्ट्रीय आय व्यय करना होगा। यदि आयात की वित्तीय व्यवस्था विदेशी ऋण से हो जाए तो स्थिति में विशेष परिवर्तन नहीं आएगा। आयातों का भुगतान निर्यातों के द्वारा ही किया जाता है। अवमूल्यन के कारण विदेशी आय अधिक मात्रा में प्राप्त न हो सकेगी क्योंकि विदेशी विपणियों में मूल्य कम हो जायेंगे। आयात पर कर कम करके ही आयात को लाभदायक बनाया जा सकता है। भारत में भुगतान संतुलन की स्थिति में आयात एवं बचतों को बढ़ाकर निर्यात एवं विनियोग को संतुलित करना होगा। इस व्यवस्था में प्रायः विनियोग बचतों से अधिक होते हैं। इसमें मूल्यों में आंतरिक दबाव पड़ता है और दूसरी ओर भुगतान संतुलन पर बाहरी दबाव पड़ता है। इस प्रकार भारत का भुगतान सन्तुलन स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व पक्ष में था, परंतु 1947 के पश्चात् देश का व्यापार सन्तुलन विपक्ष में होता गया। अवमूल्यन के पश्चात् भुगतान सन्तुलन में सुधार होने की सम्भावना थी, परंतु आयात अधिक होने एवं निर्यात न बढ़ने के कारण यह स्थिति संभव न हो सकी।

17

विदेशी विनिमय

(Foreign Exchange)

प्रारंभिक

विश्व के विभिन्न देशों में पृथक्-पृथक् आकार-प्रकार, मूल्य तथा नाम की मुद्राएं प्रचलित होती हैं जिससे दो समस्याएं उदय होती हैं—प्रथम एक देश दूसरे देश से जो माल क्रय करता है उसकी कीमत अपनी मुद्रा में किस प्रकार से निर्धारित की जाए। दूसरी समस्या आती है कि किस प्रकार से विदेशी मुद्रा में भुगतान दिया जाएगा। इन समस्याओं का समाधान विदेशी विनिमय दरों के निर्धारण से संभव हो सकता है।

प्राचीन समय में मानव की आवश्यकताएं सीमित होती थीं, जिन्हें वह स्थानीय साधनों से पूर्ण कर लिया करता था। सभ्यता के विकास के साथ-साथ मानव की आवश्यकताएं बढ़ती गईं, जिन्हें स्थानीय साधनों से पूर्ण करना संभव नहीं था, अतः इनकी मांग को विदेशों से पूर्ण किया जाने लगा। विश्व के समस्त राष्ट्रों में समान प्रकार की मुद्रा का चलन न होकर भिन्न-भिन्न प्रकार की मुद्रा का प्रचलन रहने से एक देश की मुद्रा को दूसरे देश में स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः विदेशों से सामान मंगाने पर उसके भुगतान के लिए विदेशी मुद्रा या विदेशी विनिमय की आवश्यकता होती है, जिसके अभाव में अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यापार करना संभव नहीं हो पाता। अतः एक देश की मुद्रा को विदेशी मुद्रा में परिवर्तित करना ही विदेशी विनिमय कहलाता है। विश्व के अविकसित एवं अर्धविकसित राष्ट्र विदेशी सहायता के बिना अपने देश का विकास करने में असमर्थ रहते हैं, क्योंकि विकास की अनेक वस्तुएं, विशेषज्ञों की सेवाएं आदि विकसित राष्ट्रों से ही प्राप्त करनी होती हैं। विदेशी वस्तुओं एवं विदेशी विशेषज्ञों की सेवाओं के बदले में धन देना पड़ेगा और उसे अपने विदेशी राष्ट्रों को भेजने की सुविधा देने से विदेशी विनिमय की आवश्यकता होगी।

विदेशी विनिमय का अर्थ

विदेशी विनिमय को विभिन्न अर्थों में प्रयोग किया जा सकता है, जो कि निम्न हैं—

विदेशी विनिमय का अर्थ



(1) सुविधाएं—विदेशी विनिमय का अर्थ उन सुविधाओं से लगाया जाता है जो कि विदेशी भुगतानों से संबंधित होती हैं।

(2) विदेशी बिल—विदेशी विनिमय का आशय विदेशी बिलों से भी लगाया जा सकता है।

(3) विनिमय दर—विदेशी विनिमय का अर्थ विनिमय दर से भी लगाया जा सकता है, जिसमें इस बात

को ज्ञात किया जाता है कि एक राष्ट्र की एक मुद्रा की इकाई के बदले दूसरे राष्ट्र की मुद्रा की कितनी इकाइयां प्राप्त होंगी।

(4) विनिमय प्रणाली—विदेशी विनिमय को विनिमय प्रणाली के रूप में भी प्रयोग किया जा सकता है।

परिभाषाएं

विदेशी विनिमय की प्रमुख परिभाषाएं निम्न प्रकार हैं—

(1) हार्टले विदर्स—"विदेशी विनिमय अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा परिवर्तन करने की कला एवं विज्ञान है।"[1]

(2) एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका—"विदेशी विनिमय वह पद्धति है जिसमें व्यापारिक राष्ट्र एक-दूसरे के प्रति अपने ऋणों का भुगतान करते हैं।"[2]

(3) डा० थॉमस—"विदेशी विनिमय अर्थशास्त्र विज्ञान की वह शाखा है, जिसमें हम ऐसे सिद्धांतों का निर्धारण करते हैं, जिसमे विश्व के मनुष्य एक दूसरे के प्रति अपने ऋणों का भुगतान करते हैं।"[3]

(4) डा० ब्रिअन टिव (Dr. Brian Tew)—"विदेशी विनिमय बाह्य तरलता की समस्या को कहते हैं।"[4]

(5) विदर्स—अन्य स्थान पर हार्टले विदर्स के अनुसार, "विदेशी विनिमय एक ऐसा यंत्र है, जिसमें एक राष्ट्र एवं दूसरे राष्ट्र के मध्य अंतर्राष्ट्रीय ऋणों का समझौता होता है।"[5]

इस प्रकार विदेशी विनिमय के संबंध में विभिन्न लेखकों में मतभेद है। वास्तव में इसमें अंतर्राष्ट्रीय ऋणों के भुगतान को सम्मिलित किया जाता है, जिसमें भुगतान के ढंग, भुगतान के नियम एवं सहायता देने वाली संस्थाओं का वर्णन रहता है। अत. विदेशी विनिमय की परिभाषा इस प्रकार से दी जा सकती है—"विदेशी विनिमय वह प्रणाली या पद्धति है जिसके आधार पर विदेशी मुद्राओं का आपसी लेन-देन संभव हो पाता है।"

विदेशी विनिमय की समस्या

विश्व के भिन्न-भिन्न राष्ट्रों में भिन्न-भिन्न प्रकार की मुद्राओं का चलन होता है और प्रत्येक राष्ट्र के व्यापारी अपनी ही मुद्रा में भुगतान स्वीकार करेंगे। अतः यह समस्या उदय होती है कि विदेशी भुगतान के लिए कौन-सी मुद्रा का प्रयोग किया जाए। स्वर्णमान के प्रचलन होने पर यह भुगतान स्वर्ण में कर देने से कोई विशेष समस्या उदय नहीं होती थी। परंतु वर्तमान समय में अनेक कारणों से स्वर्णमान विश्व से टूट गया है तथा अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए देश की मुद्रा को विदेशी मुद्रा में परिवर्तित करना होता है। अतः विदेशी विनिमय की समस्याएं उदय होती हैं। विदेशी विनिमय की प्राय. दो समस्याएं उदय होती हैं जो निम्न हैं—

(i) कीमत निर्धारित करने की समस्या—जब एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से माल खरीदता है तो अपनी मुद्रा में वह मूल्य किस प्रकार निर्धारित करेगा।

(ii) भुगतान की समस्या—माल खरीदने पर उसकी कीमत का भुगतान किस प्रकार किया जाएगा।

इन समस्याओं को हल करने के लिए विभिन्न राष्ट्रों को आपस में अपनी मुद्राओं की विनिमय दरें निर्धारित

1 "Foreign exchange is the Art and Science of International money changing."
—Hartley Withers.

2. "Foreign exchange is the system by which commercial nations discharge their debts to each other."—Encyclopaedia Brittanica.

3 "Foreign exchange is that branch of the Science of Economics in which we seek to determine the principles on which the peoples of the world settle their debts one to the other."—Dr. Thomas

4. "Foreign exchange is the problem of external liquidity."—Dr. Brian Tew.

5. "Foreign exchanges are a mechanism by which international indebtedness is settled between one country and another."—Hartley Withers.

विदेशी भुगतान के साधन
(Sources of Foreign Payment)

विदेशी भुगतान के साधनो मे निम्न को सम्मिलित करते हैं—

(1) बैंक ड्राफ्ट—यह ड्राफ्ट एक बैंक द्वारा दूसरे बैंक पर इस प्रार्थना के साथ लिखा जाता है कि वह उसे ऋण की राशि के लिए एक ड्राफ्ट बेच दें। यह ड्राफ्ट विदेशी लेनदार को भेज देते हैं जो धन का संग्रह कर लेता है।

(2) चैक—जिस फर्म की विदेशो मे अच्छी ख्याति होती है वह अपने विदेशी ऋणदाता को चैक द्वारा भुगतान करती है। ऋणी स्वदेशी बैंक पर चैक लिखता है, परंतु विदेशी लेनदार उसे अपने देश में किसी भी बैंक से अपनी ही मुद्रा में भुना लेता है तथा विदेशी बैंक इस राशि को देनदार बैंक से वसूल कर लेता है और एक विपरीत दिशा वाले साख-पत्र के रूप मे राशि प्राप्त करता है।

(3) यात्री चैक—विदेशो मे यात्रा करने वाले व्यक्ति प्रायः अपने साथ नकद राशि न रखकर यात्री साख-पत्र ले जाते हैं। यह पत्र किसी बैंक द्वारा विदेशी शाखाओं के नाम लिखा जाता है तथा उन शाखाओ को सूचना भी भेज दी जाती है। इस पर प्राप्तकर्ता के एक स्थान पर हस्ताक्षर होते हैं और उनसे मिलान करके ही उसे चैक का भुगतान मिल जाता है।

(4) बिल ऑफ एक्सचेंज—अंतर्राष्ट्रीय भुगतान में यह एक लोकप्रिय साधन है। विनिमय बिल एक लिखित आदेश होता है जिसमे ऋणदाता अपने ऋणी को मुद्रा की एक निश्चित धन राशि एक निश्चित समय पर ऋणदाता या उसके आदेशानुसार किसी अन्य व्यक्ति को देने का वचन देता है। ऋणी बिल को स्वीकार करके लेखक को वापस कर देता है जो उसे देनदार के किसी अन्य व्यक्ति को भुगतान के बदले दे देता है और उसे बिल भेज देता है जो निर्धारित समय पर देनदार से धन प्राप्त कर लेता है।

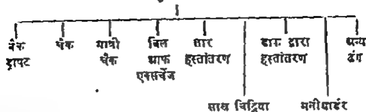
(5) तार हस्तांतरण (Telegraphic Transfer)—धन को शीघ्र भेजने के लिए इस साधन का उपयोग किया जाता है। इसमे धन हस्तांतरण करने वाला बैंक अपनी विदेश स्थित शाखा को तार द्वारा एक निश्चित राशि किसी एक निश्चित व्यक्ति को चुकाने का आदेश देता है। इस व्यवस्था से लेनदार को 3-4 दिनों मे ही भुगतान प्राप्त हो जाता है।

(6) साख चिट्ठियां (Letter of Credits)—यह वह रुक्का है जो किसी व्यक्ति को यह अधिकार देता है कि वह चिट्ठी लिखने वाले पर एक निश्चित धन राशि तक का चैक लिख सकता है। इसमें आयातकर्ता किसी बैंक मे अपना खाता खोलकर बैंक से साख चिट्ठी प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार आयातो का भुगतान आयातकर्त्ता द्वारा चैक लिखकर किया जा सकता है। इसमे निर्यातक भी सुविधापूर्वक नि.संकोच सरलता से माल बेच देता है।

(7) डाक द्वारा हस्तांतरण—इसमे ग्राहक अपने बैंक के पास धन राशि जमा करके उसे आदेश दे देता है कि निश्चित धन राशि एक निश्चित बैंक मे किसी निश्चित व्यक्ति के खाते में जमा कर दी जाए। बैंक उस देश मे स्थित अपनी शाखा को उस व्यक्ति के खाते मे निश्चित राशि जमा करने के आदेश दे देता है। सूचना प्राप्त होने पर वह राशि संबंधित व्यक्ति के खाते में जमा करके उसकी सूचना व्यक्ति को दे दी जाती है। इस व्यवस्था मे यह निश्चित नहीं रहता कि राशि कितने दिनों मे पहुंचेगी। अतः गारंटी सहित धन स्थानांतरण की सुविधाएं दी जाती हैं, जिसके बदले में अति-रिक्त शुल्क वसूल किया जाता है।

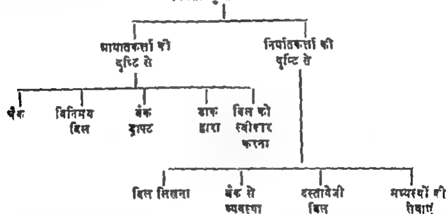
(8) मनीआर्डर—विदेशी मनीआर्डर भेजकर भी भुगतान किया जा सकता है, परंतु इसको एक उच्चतम सीमा निर्धारित कर दी जाती है। इसका उपयोग अल्पराशि भेजने में ही किया जाता है, जिससे व्यापारियों के लिए यह अधिक उपयोगी नहीं है।

(9) अन्य ढंग—इसमें तार द्वारा रुपया भेजने, हस्तांतरण भुगतान पद्धति (Transfer payment order) आदि को सम्मिलित करते हैं।



विदेशी भुगतान के ढंग
(Methods of Foreign Payments)

विदेशी भुगतान करने के अनेक ढंग होते हैं और सुविधा के लिए इसे निम्न प्रकार से रखा जा सकता है—



(अ) आयातकर्ता की दृष्टि से।

(ब) निर्यातकर्ता की दृष्टि से।

(अ) आयातकर्ता की दृष्टि से—एक आयातकर्ता विदेशी भुगतान देने के लिए निम्न ढंगों को अपनाता है—

(i) चैक—आयातकर्ता अपने देश की बैंक पर लिखा गया चैक भेज सकता है जिसे निर्यातकर्ता अपने देश के बैंक में जमा करके संग्रह के लिए उसे आयातकर्ता के देश को भेज सकता है तथा धन प्राप्त कर सकता है।

(ii) विनिमय बिल—आयातकर्ता, निर्यातकर्ता के किसी व्यक्ति पर लिखा गया बिल खरीदकर निर्यातकर्ता को उसे भेज सकता है जो उसे किसी बैंक की सहायता से वसूल कर लेगा।

(iii) बैंक ड्राफ्ट—आयातकर्ता बैंक से एक बैंक ड्राफ्ट खरीद कर उसे लेनदार को भेज सकता है। लेनदार उसे अपने बैंक में जमा कर सकता है तथा रकम का संग्रह कर सकता है।

(iv) डाक द्वारा मुद्रा भेजना—आयातकर्ता अपने देश की मुद्रा को डाक द्वारा भी भेज सकता है। निर्यातकर्ता इसे अपने बैंक में जमा कर सकता है तथा उसके खाते में इसे अपने देश की हिसाब मुद्रा में प्राप्त कर लेता है।

(v) लिखे गए बिल को स्वीकार करना—आयातकर्ता अपने ऊपर लिखे गए बिल को स्वीकार करके उसे निर्यातकर्ता को भेज सकता है, जिसे बैंक में जमा करके भुनाया जा सकता है। परिपक्वता पर उसे आयातकर्ता के देश में भेजकर रकम का संग्रह किया जा सकता है। बैंक अपनी सेवाओं के लिए कमीशन वसूल करती है।

(ब) निर्यातकर्ता की दृष्टि से—निर्यातकर्ता अपने माल के बदले में भुगतान पाने के लिए निम्न ढंगों में से कोई भी ढंग प्रयोग कर सकता है—

(i) बिल लिखना—आयातकर्ता को ईमानदार समझकर निर्यातकर्ता उस पर माल जहाज पर लादकर

साधारण ढंग से भुगतान के लिए बिल लिख सकता है, तत्पश्चात् उसे बैंक से भुनाकर राशि प्राप्त कर सकता है।

(ii) बैंक से जमा की व्यवस्था करना—यदि निर्यातकर्ता अपरिचित हो तो वह आयातकर्ता से अपने लिए साख की व्यवस्था कर लेगा। ऐसा होने पर निर्यातकर्ता उस बैंक पर बिल लिखकर राशि प्राप्त करेगा।

(iii) दस्तावेजी बिल लिखना—जब आयातकर्ता की आर्थिक स्थिति के संबंध में परिचय न हो तो ऐसी परिस्थिति में माल के अधिकार संबंधी कागज-पत्र उसे सीधे न भेज कर किसी बैंक को भेज दिए जाते हैं जो आयातकर्ता से बिल पर स्वीकृति प्राप्त करके उसे माल की सुपुर्दगी देगा। इससे अधिक सुरक्षा के लिए बैंक माल का भुगतान प्राप्त करके उन दस्तावेजों को सौंप सकता है।

(iv) मध्यस्थों की सेवाएं—मध्यस्थों की सेवाएं भी निर्यातकर्ता प्राप्त करके अपने माल के बदले भुगतान प्राप्त कर सकता है।

विनिमय दर
(Exchange Rate)

विश्व के समस्त राष्ट्रों में भिन्न-भिन्न प्रकार की मुद्राओं का चलन होता है और जिस देश से माल खरीदा जाता है वह उसी मुद्रा में भुगतान चाहता है। अतः खरीदने वाले को अपनी मुद्रा में कितना धन व्यय करना होगा इसके लिए विनिमय की दर को ज्ञात करना आवश्यक होगा। इस प्रकार भुगतान करने तथा व्यापारिक लेन-देन को सुविधाजनक बनाने के लिए प्रत्येक देश में विनिमय दर को ज्ञात करना आवश्यक माना जाता है। विनिमय बाजार में प्रत्येक व्यवहार प्राय. विनिमय दरों के आधार पर ही किए जाते हैं। जब कोई आयातकर्ता किसी बैंक से कोई बिल या ड्राफ्ट खरीदता है तो विनिमय दर के आधार पर उसकी गणना अपनी मुद्रा में की जाती है। अतः विनिमय दर वह दर है जिस पर किसी देश की मुद्रा की एक इकाई दूसरे देश की मुद्रा से परिवर्तित की जा सकती हो।

परिभाषाएं—विनिमय दर की प्रमुख परिभाषाएं निम्न हैं—

(1) आर० एस० सेयर्स—"मुद्रा के एक दूसरे के रूप में प्रकट किए गए मूल्यों को विदेशी विनिमय दर के नाम से पुकारते हैं।"[1]

(1) एशचर के अनुसार—"एक राष्ट्र की मुद्रा के मूल्य को दूसरे राष्ट्र की मुद्रा में व्यक्त करना ही विनिमय दर है।"[2]

(3) केशरी डी० डूधा—"वह दर जिस पर राष्ट्रीय एवं विदेशी मुद्रा को विनिमय किया जाए, विदेशी विनिमय दर कहलाती है, जिसे उस मूल्य के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जो कि एक इकाई विदेशी मुद्रा के लिए स्वदेशी मुद्रा में भुगतान की जाए।"[3]

भेद—विनिमय दर के विभिन्न भेदों को निम्न प्रकार से रखा जा सकता है—

(i) प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष विनिमय दरें (Direct and indirect exchange rates)—राष्ट्रीय प्रतिष्ठा की दृष्टि से आंतरिक मुद्रा की एक इकाई को विदेशी मुद्रा में प्रकट किया जाए तो उसे प्रत्यक्ष दर कहा जाता है, जैसे 1 रुपया=1 शिलिंग 6 पेंस या 1 रुपया=21 सेंट। इसके विपरीत यदि स्वदेशी मुद्रा का मूल्य विदेशी मुद्रा की एक

1 "The prices of currencies in terms of each other are called foreign exchange rates."
—R. S. Sayers : *Modern Banking*, p. 158.

2 "Rate of exchange is the price of the money of one country expressed in the money of the other."—Escher . *Foreign Exchange*.

3. "The rate at which this exchange between national and foreign currencies is performed is called the foreign exchange rate, which may hence be defined as the price that must be paid in local currency for a unit of foreign currency."—Keshri D. Doodha : *Economic Relations in International Trade*, p. 116.

इकाई में प्रकट किया जाए तो उसे अप्रत्यक्ष दर कहते हैं। उदाहरणार्थ 1 पौण्ड=13.33 रुपए या 1 डालर=4.76 रुपए आदि।

विनिमय दर प्रकट करने के लिए कोई भी ढंग क्यों न अपनाया जाए, दोनों का अर्थ समान ही होता है।

(ii) **क्रय एवं विक्रय दरें (Purchase and sales rates)**—क्रय दर वह दर होती है जिस पर कोई बैंक व्यापारियों से विदेशी मुद्रा संबंधी दावों को स्वीकार करती है। इसके विपरीत विक्रय दर वह है जिस पर बैंक व्यापारियों को विदेशी मुद्रा बेचने को तत्पर हो जाए।

(iii) **हाजिर दर (Spot rate)**—जिस दर पर विदेशी मुद्रा की तत्काल खरीद-बिक्री की जाए, उसे हाजिर दर कहते हैं। क्रेता एवं विक्रेता द्वारा भिन्न-भिन्न विनिमय दरें घोषित की जाती हैं। इन दरों में अन्तर होता है, जो परिवहन एवं अन्य व्ययों को सम्मिलित करता है।

(iv) **स्वाभाविक एवं वास्तविक दरें (Natural and real rates)**—स्वाभाविक विनिमय दर विभिन्न मौद्रिक परिस्थितियों में विभिन्न प्रकार से निर्धारित की जाती है। इसके विपरीत वास्तविक विनिमय दर माग एवं पूर्ति की अस्थाई प्रतिक्रिया द्वारा निर्धारित की जाती है। वास्तविक विनिमय दर सदैव स्वाभाविक विनिमय दर के आस-पास ही चक्कर लगाती रहती है।

(v) **अग्रिम दर (Forward rate)**—प्राचीन समय में जब विनिमय बाजार स्वतन्त्र होते थे, उस समय अग्रिम दर ही अधिक लोकप्रिय मानी जाती थी। यदि कोई व्यक्ति कुछ अवधि के पश्चात् विदेशी मुद्रा को खरीदे तो जिस दर पर भविष्य में भुगतान दी जाएगी, उस दर को अग्रिम दर के नाम से जानते हैं।

(vi) **मुद्दती दर (Long rate)**—विदेशी भुगतानों के लिए प्रायः विनिमय बिलों का प्रयोग किया जाता है, जो प्रायः दर्शनी एवं मियादी होते हैं। इनके लिए पृथक्-पृथक् रूप में विनिमय दरों को घोषित किया जाता है। दर्शनी विनिमय दर वह होती है, जिस पर कोई बैंक विदेशी बिलों को प्रस्तुत करने पर ही खरीद ले। इसके विपरीत मुद्दती या मियादी विनिमय दर वह दर है जिस पर एक बैंक एक निश्चित अवधि के पश्चात् विदेशी मुद्रा के बिलों को खरीदता या बेचता है।

(vii) **अल्पकालीन विनिमय दर (Short-term exchange rates)**—दो मुद्राओं की सापेक्षिक माग एवं पूर्ति के आधार पर जो विनिमय दर निर्धारित की जाए उसे अल्पकालीन विनिमय दर कहते हैं। मुद्रा की माग एवं पूर्ति संबंधी दशाएं सदैव परिवर्तित होने से अल्पकालीन विनिमय दरों में परिवर्तन होते रहते हैं। विदेशी मुद्रा की मांग एवं पूर्ति में परिवर्तन होने का प्रमुख कारण देश के निवासियों द्वारा विदेशियों को किए जाने वाले अथवा विदेशों से प्राप्त होने वाले भुगतानों में परिवर्तन होना है। विभिन्न राष्ट्रों की मुद्रा की माग एवं पूर्ति सदैव भुगतान सन्तुलन पर निर्भर करती है तथा इस सन्तुलन में परिवर्तन होने पर ही विनिमय दरों में भी परिवर्तन होते रहते हैं।

विनिमय दरों का महत्त्व
(Importance of Exchange Rates)

विनिमय दर विदेशी बाजारों में प्रचलित मूल्यों में स्वदेशी बाजार में प्रचलित मूल्यों का प्रत्यक्ष संबंध स्थापित करती है। निम्न विनिमय दर आयात को प्रोत्साहित व निर्यात को हतोत्साहित करके भुगतान सन्तुलन में घाटा उत्पन्न करती है। इसके विपरीत उच्च विनिमय दर निर्यातों को प्रोत्साहित एवं आयातों को हतोत्साहित करके भुगतान संतुलन में आधिक्य उत्पन्न करता है। विनिमय दरों के महत्व को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

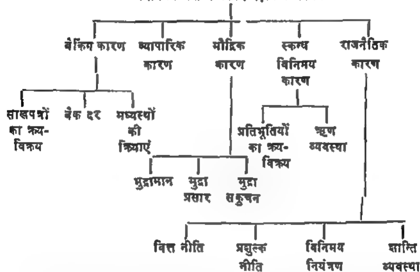
(i) **असमानताएं उत्पन्न होना**—विनिमय दरों में उतार-चढ़ाव द्वारा भुगतान संतुलन में असमानताएं उत्पन्न हो जाती हैं। यदि ऊंची विनिमय दर है तो इससे निर्यात प्रोत्साहित व आयात हतोत्साहित होते हैं। इसके विपरीत निम्न विनिमय दर पर निर्यात हतोत्साहित एवं आयात प्रोत्साहित होते हैं।

(ii) **अन्तर्राष्ट्रीय ऋण व्यवहार**—विनिमय दरें प्रायः अंतर्राष्ट्रीय ऋण व्यवहार को कठिन या सरल बनाती हैं।

(iii) प्रत्यक्ष संबंध—विनिमय दरें स्वदेशी एवं विदेशी बाजारों में मूल्यों के मध्य प्रत्यक्ष संबंध स्थापित करती हैं।

विनिमय दरों में उतार-चढ़ाव के कारण
(Reasons of Fluctuations in exchange rates)

विनिमय दरों में उतार-चढ़ाव के प्रमुख कारण निम्न हैं—(1) बैंकिंग कारण, (2) व्यापारिक कारण, (3) मौद्रिक कारण, (4) स्कन्ध विनिमय संबंधी कारण, (5) राजनैतिक कारण।



(1) बैंकिंग कारण—विनिमय दर को प्रभावित करने वाले बैंकिंग कारण निम्न हैं—

(i) साख पत्रों का क्रय-विक्रय—प्रायः बैंक अपने विनियोग अधिक सुदृढ़ आर्थिक दशा वाले राष्ट्र के बिलों में करके निश्चित मात्रा में लाभ अर्जित करते हैं। इससे विदेशों को पूंजी का हस्तांतरण होता है। इसके विपरीत जब विदेशियों द्वारा स्वदेशी साख पत्रों का क्रय-विक्रय करने पर विदेशी पूंजी का आगमन होता है। यदि विदेशों से पूंजी का आगमन अधिक हो तो देशी मुद्रा का मूल्य विदेशी मुद्रा में बढ़ जाएगा। इससे विनिमय दर पक्ष में हो जाएगी। इसके विपरीत विदेशों को पूंजी का हस्तांतरण होने पर विनिमय दर विपक्ष में हो जाएगी।

(ii) बैंक दर—यदि बैंक दर ऊंची कर दी जाए तो विदेशी पूंजी का आगमन बढ़ जाता है और विनिमय दर पक्ष में हो जाती है। यदि बैंक दर कम कर दी जाए तो स्वदेशी पूंजी भी विदेशों को जाने लगेगी और बैंक दर विपक्ष में हो जाती है।

(iii) मध्यस्थों की क्रियाएं—मध्यस्थों की क्रियाओं का विनिमय दर पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इसमें उन कार्यों को सम्मिलित किया जाता है जो विभिन्न दरों में भिन्नता के कारण लाभ उठाने के लिए बैंकों द्वारा सम्पन्न किए जाते हैं। इन संस्थाओं के पास पर्याप्त कोष होने से यह विभिन्न राष्ट्रों में अनेक संगठनों से सम्पर्क स्थापित करते हैं। इन क्रियाओं द्वारा दो विभिन्न केंद्रों में दो मुद्राओं के मध्य विनिमय दरों में समानता लाई जाती है। यदि इन मध्यस्थों द्वारा स्वदेशी मुद्रा की मांग बढ़ जाती है तो विनिमय दर पक्ष में हो जाती है। इसके विपरीत विदेशी मुद्रा की मांग बढ़ने पर विनिमय दर विपक्ष में हो जाती है। वर्तमान समय में विनिमय बाजार नियन्त्रित होने से मध्यस्थों की क्रियाओं के अवसर न्यूनतम हो गए हैं।

(2) व्यापारिक कारण—यदि स्वदेशी वस्तुओं की विदेशों में अधिक मांग है तो निर्यात अधिक व आयात कम होंगे तथा स्वदेशी मुद्रा की मांग बढ़ जाने [redacted] विनिमय दर पक्ष में हो जाएगी। इसके विपरीत यदि आयात अधिक व निर्यात कम है तो विदेशी मुद्रा की मांग बढ़ने से विनिमय दर विपक्ष में हो जाएगी। इस प्रकार व्यापारिक कारणों का विनिमय दर पर प्रभाव पड़ता है।

(3) मौद्रिक कारण—विनिमय दर को प्रभावित करने वाले मौद्रिक कारण निम्न हैं—

(i) मुद्रामान—यदि देश में स्वर्णमान प्रचलित है तो विनिमय दर में परिवर्तन स्वर्ण बिंदुओं तक सीमित होते हैं। अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रामान वाले राष्ट्रों में विनिमय दर उतार-चढ़ावों की कोई सीमा नहीं होती।

(ii) मुद्रा प्रसार—देश में मुद्रा प्रसार होने पर मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है और विनियोग विदेशों में अधिक लाभप्रद सिद्ध होते हैं जिससे विनिमय दर देश के प्रतिकूल हो जाती है।

(iii) मुद्रा संकुचन—देश में मुद्रा संकुचन होने की स्थिति में मुद्रा का मूल्य बढ़ जाने से उसकी मांग बढ़ने लगती है जिसके परिणामस्वरूप विनिमय दर पक्ष में हो जाती है।

(4) स्टाक विनिमय संबंधी कारण—विनिमय दर को प्रभावित करने वाले स्टाक विनिमय संबंधी कारण निम्न हैं—

(i) प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय—जब विदेश में प्रतिभूतियों का क्रय किया जाता है तो विदेशी मुद्रा की मांग बढ़ जाने से विनिमय दर विपक्ष में हो जाती है। इसके विपरीत जब विदेशी विनियोक्ता देशी प्रतिभूतियों में धन का विनियोजन करते हैं तो स्वदेशी मुद्रा की मांग बढ़ने से विनिमय दर पक्ष में हो जाती है।

(ii) ऋण व्यवस्था—ऋण संबंधी लेन-देन विनिमय दर को प्रभावित करती है। जब विदेशों से ऋण प्राप्त किए जाते हैं तो विदेशी मुद्रा की पूर्ति बढ़ने से विनिमय दर पक्ष में हो जाती है। इसके विपरीत यदि विदेशों को ऋण दिए जाएं तो विदेशी मुद्रा की मांग बढ़ने से विनिमय दर विपक्ष में हो जाती है। यदि इस प्रकार के ऋण का प्रयोग वस्तुएं क्रय करने में किया जाए तो विनिमय दर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

(5) राजनैतिक कारण—राजनैतिक परिस्थितियां विनिमय दर को निम्न प्रकार से प्रभावित करती हैं—

(i) वित्त नीति—यदि सरकार द्वारा घाटे की वित्तीय व्यवस्था की जाती है तो विनिमय दर देश के प्रतिकूल हो जाएगी, क्योंकि घाटे की व्यवस्था से देश में स्फीतिक परिस्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं।

(ii) प्रशुल्क नीति—यदि सरकार स्वदेशी उद्योगों को संरक्षण देकर आयात में कमी एवं निर्यात को प्रोत्साहित करती है तो भुगतान संतुलन देश के अनुकूल होकर विनिमय दर पक्ष में हो जाएगी।

(iii) विनिमय नियंत्रण—सरकार द्वारा विनिमय नियंत्रण की नीति अपनाने पर विनिमय दर देश के पक्ष में हो जाती है। इसके विपरीत यदि कोई नियंत्रण नहीं लगाया जाता तो विनिमय दर देश के विपक्ष में हो जाती है।

(iv) शांति व्यवस्था—यदि देश में शांति एवं राजनीतिक स्थिरता है तो विदेशियों का विश्वास जमने के कारण वे अपनी पूंजी लगाना प्रारंभ कर देते हैं, फलस्वरूप स्वदेशी पूंजी की मांग बढ़ने से विनिमय दर पक्ष में हो जाती है।

विनिमय दर उच्चावचनों की सीमाएं
(Limits of fluctuations of Exchange Rates)

वास्तविक जगत में विदेशी मुद्रा की मांग एवं पूर्ति में परिवर्तन होने [redacted] विनिमय दरों में भी परिवर्तन होते रहते हैं। विनिमय दरों में उच्चावचनों की सीमाओं को निम्न प्रकार अध्ययन किया जा सकता है—

(1) [redacted] देशों में स्वर्णमान होने पर—जब दोनों राष्ट्रों में स्वर्णमान प्रचलन [redacted] हो तो विनिमय दर में उतार-चढ़ाव स्वर्ण-बिन्दुओं द्वारा सीमित हो जाता है। विनिमय दर स्वर्ण निर्यात बिंदु से ऊंची होने पर व्यापारीगण स्वर्ण खरीदकर भेजना प्रारंभ कर देंगे। इसी प्रकार विनिमय दर का स्वर्ण आयात बिंदु से नीचे गिरने पर विदेशी देनदार स्वर्ण भेजना प्रारंभ कर देंगे। इस प्रकार विनिमय दरों में उच्चावचन स्वर्ण बिंदुओं तक ही सीमित रहेगा।

(2) स्वर्णमान एवं रजतमान—यदि एक देश स्वर्णमान तथा दूसरा देश रजतमान पर आधारित हो तो विनिमय दर के उच्चावचन की सीमाएं स्वर्ण बिंदुओं द्वारा निर्धारित की जाती हैं।

(3) रजतमान—जब दोनों देशों में रजतमान हो तो विनिमय दरों के उच्चावचन की अधिकतम व निम्नतम सीमाएं रजत बिन्दुओं तक सीमित रहेंगी।

(4) पत्र-मुद्रामान वाले राष्ट्र—जब दोनों राष्ट्रों में पत्र-मुद्रामान चलन में हों तो विनिमय दरों में उतार-चढ़ाव की प्रायः कोई सीमा नहीं होती। प्राय. विनिमय दर की प्रवृत्ति क्रय शक्ति समता के पास होने की होती है।

(5) स्वर्णमान व पत्र-मुद्रामान वाले राष्ट्र—स्वर्णमान वाले राष्ट्र में स्वर्ण के मूल्य का निर्धारण सरकार द्वारा किया जाता है, परंतु पत्र-मुद्रामान वाले राष्ट्रों मे स्वर्ण का मूल्य बाजार की परिस्थितियों के आधार पर परिवर्तित होता रहता है। अत. स्वर्णमान वाले राष्ट्र के लिए निम्नतम सीमा नहीं होती, परंतु उसकी उच्चतम सीमा स्वर्ण निर्यात बिन्दु से सीमित हो जाती है। इसी प्रकार पत्र-मुद्रामान वाले राष्ट्र में निम्नतम सीमा तो निर्धारित रहती है, परतु उसकी उच्चतर सीमा नहीं होती।

अनुकूल एवं प्रतिकूल विनिमय दरें
(Favourable and Unfavourable Exchange Rates)

विनिमय दर को प्राय: दो प्रकार से प्रदर्शित किया जाता है जिसके आधार पर विनिमय दर की अनुकूलता एवं प्रतिकूलता को ज्ञात किया जाता है। यह व्यवस्था निम्न प्रकार है—

(१) जब विनिमय दर विदेशी मुद्रा में हो—यदि विनिमय दर को विदेशी मुद्रा मे प्रकट किया जाए, तो दर बढ़ने पर वह पक्ष मे तथा घटने पर विपक्ष मे हो जाती है। उदाहरणार्थ यदि विनिमय दर 1 रुपया=21 सैन्ट हो जो यदि बढ़कर 1 रुपया=25 सैन्ट हो जाय तो यह दर पक्ष मे होगी, क्योंकि अधिक विदेशी माल खरीदा जा सकेगा। यदि यही दर घटकर 1 रुपया=16 सैन्ट हो जाए तो विनिमय दर प्रतिकूल हो जाएगी, क्योंकि अब कम मात्रा मे ही विदेशी माल खरीदा जा सकेगा।

(2) स्वदेशी मुद्रा में प्रकट करने पर—यदि विनिमय दर स्वदेशी मुद्रा में प्रकट की जाती है तो गिरती हुई विनिमय दर पक्ष में तथा बढ़ती हुई दर विपक्ष में हो जाएगी। उदाहरणार्थ यदि विनिमय दर 1 पौण्ड=12 रुपये हो तो यदि दर घटकर 10 रुपये रह जाए तो हमें पहले की तुलना मे कम स्वदेशी मुद्रा देनी होगी जिससे यह पक्ष में रहेगी। इसके विपरीत यदि दर बढ़कर 1 पौण्ड=18 रुपये हो जाए तो अब 1 पौण्ड का माल खरीदने के लिए 18 रुपये देने होंगे, अत. विनिमय दर देश के प्रतिकूल हो जाएगी।

विनिमय दरों के आर्थिक प्रभाव
(Economic effects of Exchange Rates)

विनिमय दरों में उच्चावचन होने पर देश के आयात एवं निर्यातों पर अवश्यम्भावी प्रभाव पड़ते हैं और विनिमय दर के अनुकूल एवं प्रतिकूल होने पर पड़ने वाले प्रभावों को निम्न ढंग से रखा जा सकता है—

(1) अनुकूल दर का प्रभाव—यदि विनिमय दर हमारे अनुकूल है तो इससे निर्यात हतोत्साहित एवं आयात प्रोत्साहित होंगे जिससे आयातकर्ता को लाभ होगा, परंतु उत्पादकों को हानि होने से निर्माण कार्य मन्द होकर देश में बेरोजगारी को बढ़ायेंगे। इसका कारण यह है कि विनिमय दर अनुकूल होने पर स्वदेशी मुद्रा महंगी हो जाती है, जिससे खरीदी हुई वस्तुएं महंगी लगने लगती हैं, परन्तु इसमें विदेशी ऋणों का भुगतान करने में लाभ रहता है तथा विदेशी ऋण को वापस भेजना भी लाभकारी रहता है।

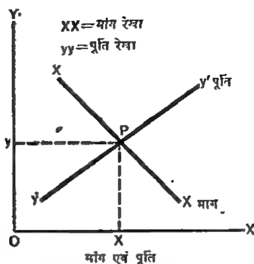
(2) प्रतिकूल दर का प्रभाव—यदि विनिमय दर देश के प्रतिकूल है तो इससे निर्यात प्रोत्साहित व आयात हतोत्साहित होंगे जिससे निर्यातकों एवं उत्पादकों को लाभ व उपभोक्ताओं को हानि होगी। श्रमिकों का रोजगार बढ़ेगा, परन्तु निश्चित आय वाले व्यक्तियों को हानि रहेगी। इस प्रकार गिरती हुई विनिमय दर निर्यात व्यापार को प्रोत्साहित व आयात व्यापार को हतोत्साहित करके भुगतान संतुलन पक्ष में लाकर विनिमय दर को पक्ष में लाएगा।

गैर-अधिकारिक विदेशी विनिमय दर

हांगकांग में गैर-अधिकारिक विदेशी विनिमय दर 30 जून 1970 को निम्न प्रकार रही—

विदेशी विनिमय दर (30 जून, 1970)

देश का नाम	1 00 डालर का मूल्य	सरकारी दर
1. आस्ट्रेलिया	0·91	0 89 डालर
2. ब्रुनी (Brunei)	3·09	3 06 डालर
3. बर्मा	15·10	4 76 क्यात
4. कम्बोडिया	120·00	55 00 रीयल (Reils)
5. कनाडा	1·02	—
6. लंका	11 80	1·20 रुपए
7. फिजी	0·96	0 87 डालर
8. फ्रांस	5·53	5·50 फ्रेंक
9. प० जर्मनी	3·63	3·66 मार्क
10 हांगकांग	6 05	6 06 डालर
11. भारत	12 60	7 50 रुपए
12. इण्डोनेशिया	376·00	378 00 रुपिया
13. इजराइल	3·56	3·50 शिकिल (Shekel)
14. जापान	366·00	360 00 येन
15. कीनिया	8·80	7·14 शिलिंग
16. द० कोरिया	350·00	305 वॉन (Won)
17. लाओस	520·00	500 किप (Kip)
18. लेबनान	3·17	3·15 पौण्ड
19. मकाऊ (Macau)	6·11	6 06 पटाकास (Patacas)
20 मलेशिया	3 09	3 06 डालर
21. नेपाल	16·00	10·10 रुपए
22. नीदरलैण्ड	3·60	3·60 गाईल्डर
23. न्यू कैलेडोनिया	101·00	101·00 फ्रेंक
24. न्यूजीलैण्ड	0·98	0·89 डालर
25. पाकिस्तान	10 50	4·76 रुपए
26. फिलीपाइन्स	6·50	—
27. सिंगापुर	3·09	3·06 डालर
28. द० अफ्रीका	0 77	0·71 रान्ड
29 स्विटजरलैंड	4 27	4·30 फ्रेंक
30. ताहिती (Tahiti)	101·00	101·00 फ्रेंक
31. ताइवान (Taiwan)	40·50	40·00 N. T. $
32. तनजानिया	8 80	7 14 शिलिंग
33. थाइलैण्ड	20·70	20 80 बेहत (Baht)



प्रस्तुत चित्र में x अक्ष पर मांग एवं पूर्ति को दिखाया गया है और y अक्ष पर मूल्य को दिखाया गया है। xx' मागरेखा है तथा yy' रेखा पूर्ति रेखा है और दोनों रेखाएं P बिंदु पर आपस में मिलती हैं, जहां पर मुद्रा का मूल्य निर्धारित होता है।

(2) टकसाली समता सिद्धांत (स्वर्णमान के अंतर्गत विनिमय दर)
(Mint Par of Exchange Theory)

टकसाली समता सिद्धांत का अध्ययन निम्न परिस्थितियों में किया जा सकता है—

(अ) जब दोनों राष्ट्रों का स्वर्णमान हो—जब दो राष्ट्र स्वर्णमान पर आधारित हों तो स्वाभाविक विनिमय दर का निर्धारण किया जाता है। प्रत्येक राष्ट्र के विधान में मुद्रा में विशुद्ध स्वर्ण की मात्रा को निश्चित कर दिया जाता है तथा दो मुद्राओं में शुद्ध स्वर्ण की मात्रा को ज्ञात करके टकसाली समता को ज्ञात किया जा सकता है। इस प्रकार जो टकसाली समता के आधार पर विनिमय दर निर्धारित की जाती है उसे टकसाली समता सिद्धांत कहते हैं।

परिभाषाएं—टकसाली समता सिद्धांत की प्रमुख परिभाषाएं निम्न हैं—

(1) थॉमस (Thomas)—"टकसाली समता दो राष्ट्रों के मध्य प्रमाप मौद्रिक इकाइयों के मध्य, समान मौद्रिक प्रमाप पर वैधानिक स्वर्ण समानता अनुपात प्रदर्शित करता है।"[1]

(2) क्लेयर एवं क्रम्प (Clare and Crump)—"टकसाली समता संक्षेप में सिक्के पर निर्भर न रह कर, उसकी वैधानिक परिभाषा पर निर्भर करता है, मुद्रा के अंकित मूल्य पर निर्भर न रहकर उसके आंतरिक मूल्य पर निर्भर रहता है···जब तक अधिनियम में परिवर्तन न हो टकसाली समता में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता।"[2]

(3) हैवरलर—"यदि दो या दो से अधिक व्यापारिक राष्ट्र स्वर्ण प्रमाप पर आधारित हों और यदि स्वर्ण के आयात एवं निर्यात पर कोई प्रतिबंध नहीं है, तो विभिन्न मुद्राएं सुदृढ़ ढंग से गठबंधित होती हैं। उदाहरणस्वरूप यदि 1 औंस स्वर्ण को पौंड की निश्चित मात्रा में तथा मार्क की 20 गुनी मात्रा में बनाया जा सके—यह कल्पना की गई कि मुद्रा ढालने में कोई अतिरिक्त व्यय नहीं होता—कोई भी व्यक्ति स्वतंत्रतापूर्वक 20 मार्क के बदले 1 पौंड या

1. "Mint par is an expression of the ratio between the statutory bullion equivalents of the standard monetary units of two countries on the same monetary standards."—Thomas.

2. "The Mint par depends, in short, not on the coin itself but on the legel definition of it, not on the sovereign defacto, but on the Sovereign dejure......unless and untill the law is altered, the Mint Par cannot alter."—Clare and Crump.

1 पौंड के बदले में 20 मार्क प्राप्त कर सकता है।"[1]

टकसाली समता पर विनिमय दर का निर्धारण

प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व अमेरिका एवं इंग्लैंड दोनों में स्वर्णमान प्रचलित था। उनमें विनिमय दर का निर्धारण टकसाली समता पर निर्भर था। उस समय सावरेन में शुद्ध स्वर्ण 113.0016 ग्रेन तथा डालर में शुद्ध स्वर्ण 23.2200 ग्रेन मात्रा थी। अत: डालर एवं पौंड में टकसाली दर समता के आधार पर विनिमय दर 113.0016 अनुपात 23.2200 थी, अर्थात् 1 पौंड बराबर 4.8665 डालर निश्चित किया गया।

उपरोक्त आधार पर निकाली गई विनिमय दर आदर्श मानी जाती थी, जो कि दीर्घकाल तक प्रचलित रहती थी। इसमें माग एवं पूर्ति के आधार पर दैनिक रूप से परिवर्तन होते रहते हैं, परंतु यह परिवर्तन एक निश्चित सीमाओं तक ही होते थे। इस प्रकार से यह निष्कर्ष निकलता है कि स्वर्णमान वाले दोनों देशों में विनिमय दर का निर्धारण टकसाली समता के आधार पर किया जाता है।

उच्चावचनों की सीमाएं

स्वर्णमान वाले राष्ट्रों को यह सुविधा रहती है कि वह भुगतान बिलों के स्थान पर स्वर्ण भेजकर कर दें, परंतु इसमें स्वर्ण भेजने का भाड़ा, संवेष्टन, बीमा, ब्याज की हानि आदि व्यय को भी सम्मिलित किया जाता है। उदाहरणार्थ यदि पौंड एवं फ्रैंक के मध्य टकसाली समता दर 1 पौंड=124.41 फ्रैंक हो तथा स्वर्ण भेजने का व्यय कुल मिलाकर .50 फ्रैंक हो तो फ्रांसिसी द्वारा ब्रिटेन को स्वर्ण भेजने में प्रत्येक पौंड के लिए कुल व्यय 124.41+0.50 अर्थात् 124.91 फ्रैंक देना होगा। इसी प्रकार इंग्लैंड से फ्रांस को स्वर्ण में भुगतान देने पर कुल 124.41—.50 अर्थात् 123.91 फ्रैंक प्राप्त होंगे। अतः यदि विनिमय दर 124.91 फ्रैंक से कम है तो भुगतान के लिए साख पत्रों का प्रयोग होगा और यदि विनिमय दर 124.91 फ्रैंक से अधिक हो जाए तो स्वर्ण भेजना लाभदायक रहेगा। अतः स्वर्ण फ्रांस से इंग्लैंड को निर्यात होने लगेगा। इसे फ्रांस के लिए स्वर्ण निर्यात बिंदु तथा इंग्लैंड के लिए स्वर्ण आयात बिंदु के नाम से जाना जाएगा।

ठीक इसी प्रकार यदि विनिमय दर 1 पौंड=123.91 फ्रैंक से अधिक रहे तो भुगतान के लिए साख पत्रों का प्रयोग होगा। यदि विनिमय दर 123.91 फ्रैंक से भी नीचे हो जाए तो स्वर्ण का उपयोग किया जाने लगेगा। इस प्रकार इंग्लैंड से स्वर्ण फ्रांस को निर्यात होने लगेगा जो इंग्लैंड की दृष्टि से स्वर्ण निर्यात बिंदु तथा फ्रांस के लिए स्वर्ण आयात बिंदु होगा। इस प्रकार प्रत्येक राष्ट्र में विनिमय दर सदैव ही स्वर्ण निर्यात एवं स्वर्ण आयात बिंदुओं तक सीमित रहती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि टकसाली समता दर में स्वर्ण निर्यात व्यय जोड़ने से उच्चतर निर्यात स्वर्ण बिंदु आ जाता है तथा कम कर देने से स्वर्ण आयात बिंदु आ जाता है। अतः दो स्वर्णमान वाले राष्ट्रों में विनिमय दरों में उतार-चढ़ाव हो सकते हैं, परंतु वह स्वर्ण बिंदुओं की सीमा में ही हो पाते हैं।

(ब) स्वर्ण बिंदु एवं मुद्रा कोष (Gold points and I. M. F.)—अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्य देशों में विनिमय दर एक निश्चित प्रतिशत से अधिक या कम नहीं हो सकती। यदि उस सीमा से कम या अधिक विनिमय दर होती है तो केंद्रीय बैंक का हस्तक्षेप होना प्रारंभ हो जाता है जो आवश्यकता पड़ने पर मुद्रा को बेचना एवं खरीदना प्रारंभ

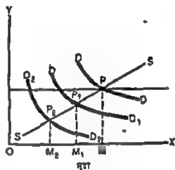
1. "If two or more trading countries are on gold standard, and if there are no obstacles to the import and export of gold, then the different currencies are rigidly linked together. For instance, if an ounce of gold can be coined into a definite number of pounds sterling and into twenty times as many marks, then—still under the provisional assumption that no costs are involved—one can convert at will twenty marks into one pound and vice versa."
—Haberler : *The Theory of International Trade.*

कर देता है। ऐसा करने से विनिमय दर पुनः अपने स्थान पर आ जाती है।

(ब) स्वर्णमान एवं रजतमान में विनिमय दर—यदि एक राष्ट्र स्वर्णमान पर तथा दूसरा राष्ट्र रजतमान पर आधारित हो तो दोनों मुद्राओं के शुद्ध स्वर्ण को ज्ञात करके विनिमय दर ज्ञात की जा सकती है जो कि कठिन होता है। उदाहरणार्थ यदि इंग्लैंड में स्वर्णमान तथा भारत में रजतमान प्रचलित हो तथा इंग्लैंड अपनी 30 मुद्राओं के बदले 1 औंस स्वर्ण खरीद सकता हो जबकि भारत 600 मुद्राओं द्वारा 1 औंस स्वर्ण क्रय करता हो तो दोनों देशों की विनिमय दर 30=600 अर्थात् 1=20 होगी। इस प्रकार इंग्लैंड के एक पौंड के बदले में भारत के 20 रुपये प्राप्त किए जा सकते हैं जिससे विनिमय दर 1 पौंड=20 रुपये होगी।

उच्चावचन की सीमाएं

रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण—स्वर्ण निर्यात एवं स्वर्ण आयात बिंदु को निम्न रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं—

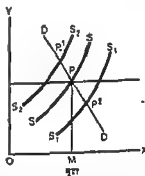


(1) स्वर्ण निर्यात बिंदु—चित्र में SS पूर्ति वक्र व DD मांग वक्र है। साम्य बिंदु मांग व पूर्ति के संतुलन पर निर्भर करते हैं जो P_1 P_2 है, परंतु उच्चतम स्वर्ण बिंदु PM है जिससे आगे दर नहीं बढ़ेगी।

(2) स्वर्ण आयात बिंदु—चित्र में साम्य बिंदु P_1, P_2 है परंतु निम्नतम साम्य बिंदु P है तथा मुद्रा की पूर्ति PM से कम नहीं हो सकती। इस प्रकार स्वर्ण निर्यात व आयात से अपने आप व्यापार संतुलित हो जाता है।

इन राष्ट्रों में उतार-चढ़ाव की सीमाएं स्वर्ण एवं रजत के मूल्यों में परिवर्तन एवं स्वर्ण भेजने के व्यय पर निर्भर करती हैं। इस संबंध में यह बात उल्लेखनीय है कि स्वर्णमान वाला राष्ट्र स्वर्ण में तथा रजतमान वाला राष्ट्र चांदी में ही भुगतान प्राप्त करना पसंद करेगा। इस प्रकार निर्धारित की गई विनिमय दरों में अधिक परिवर्तन होते रहते हैं।

(स) रजतमान वाले राष्ट्रों में विनिमय दर—यदि दोनों राष्ट्रों में रजतमान प्रचलित हो तो टकसाली समता द्वारा विनिमय दर निर्धारण करने में दोनों मुद्राओं की शुद्ध चांदी को ज्ञात करके उनके आपसी अनुपात के आधार पर विनिमय दर का निर्धारण कर दिया जाता है। स्वर्णमान वाले राष्ट्रों की ही भांति रजतमान में विनिमय दरों में जो उतार-चढ़ाव होते हैं वह चांदी के आयात एवं निर्यात व्यय तक सीमित होते हैं।



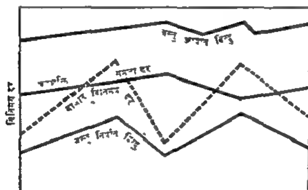
(द) स्वर्णमान एवं पत्र-मुद्रामान में विनिमय दर—जब एक देश स्वर्णमान पर तथा दूसरा देश पत्र-मुद्रामान पर आधारित हो तो इन दोनों राष्ट्रों में विनिमय दर के निर्धारण करने के लिए यह ज्ञात करना होगा कि स्वर्णमान वाले राष्ट्र की मुद्रा की एक इकाई कितने स्वर्ण के तुल्य है तथा पत्र-मुद्रामान वाले राष्ट्र की मुद्रा की एक इकाई के बदले में कितना स्वर्ण खरीदा जा सकता है, उन दोनों का अनुपात ज्ञात करके ही विनिमय दर का निर्धारण किया जा सकता है। इसी प्रकार अन्य ढंग के आधार पर दोनों राष्ट्रों की मुद्राओं की क्रय शक्ति ज्ञात करके उनके अनुपात के आधार पर भी विनिमय दर का निर्धारण किया जा सकता है। परंतु इस प्रकार ज्ञात की गई विनिमय दरों में अत्यधिक उतार-चढ़ाव होते रहते हैं, जिसकी कोई सीमा निर्धारित करना कठिन होता है।

स्वर्णमान एवं पत्र-मुद्रामान वाले देशों की मुद्राओं की विनिमय दर ज्ञात करने की द्वितीय पद्धति यह है कि दोनों देशों की मुद्राओं की एक-एक इकाई की क्रय-शक्ति उन देशों में पृथक्-पृथक् ज्ञात की जाती है और उनका अनुपात ज्ञात कर लेते हैं। यह अनुपात ही विनिमय दर कहलाती है।

राशि पर एक निश्चित मात्रा में वस्तुएँ को खरीदें, उनके अनुपात को ही क्रय शक्ति समता सिद्धांत कहेंगे।

उदाहरण—माना इंग्लैंड एवं अमेरिका दोनों में अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा का प्रचलन है। यदि इंग्लैंड में कुछ वस्तुएं 200 पौंड में खरीदी जाती हैं जबकि अमेरिका में वही वस्तुएं 1000 डालर में क्रय की जाती हैं तो दोनों राष्ट्रों की मुद्रा 200 पौंड=1000 डालर होगी अर्थात् 2 पौंड=10 डालर या 1 पौंड=5 डालर होगी। यह विनिमय दर दोनों राष्ट्रों में क्रय शक्ति की समानता के आधार पर निर्धारित की जाती है। यदि किसी कारण से बाजार में विनिमय दर बढ़कर *1 पौंड=5.15 डालर हो जाए जबकि दोनों मुद्राओं की क्रय शक्ति समान ही रहे,* तो इंग्लैंड का निवासी अपने देश में वस्तुएं खरीदने के स्थान पर अमेरिका से प्राप्त करना लाभकारी समझेगा, क्योंकि वह 1 पौंड के बदले 5.15 डालर प्राप्त करके 5 डालर में उतनी ही वस्तुएं क्रय कर लेगा तथा शेष 0.15 डालर की बचत कर लेगा। दूसरी ओर अमेरिका का निवासी भी अपने ही राष्ट्र में वस्तुओं को क्रय करना लाभदायक समझेगा, फलस्वरूप वस्तुओं का प्रवाह इंग्लैंड की अपेक्षा अमेरिका की ओर बढ़ जाएगा, जिससे डालर की मांग बढ़ेगी और विनिमय दर घटकर फिर से 1 पौंड=5 डालर हो जाएगी। इसके विपरीत यदि 1 पौंड का विनिमय मूल्य घटकर 4.90 डालर रह जाए, तो इग्लैंड में ही वस्तुएं खरीदना लाभकारी होगा। इससे इंग्लैंड से निर्यात बढ़ जाएंगे फलतः पौंड की मांग बढ़ जाएगी और विनिमय दर फिर से बढ़कर 1 पौंड=5 डालर हो जाएगी। इस प्रकार छोटे-मोटे परिवर्तनों को छोड़कर विनिमय दर प्रायः अपरिवर्तित रहती है। विनिमय दर में परिवर्तन उस समय होता है जबकि क्रय शक्तियों में परिवर्तन हो जाए।

विनिमय दर के इस निर्धारण को निम्न चित्र द्वारा भी दिखाया जा सकता है—



विदेशी विनिमय की मांग व पूर्ति

अतः विनिमय दर क्रय शक्ति समता बिंदु के आसपास घटती-बढ़ती रहती है, किन्तु उसकी दीर्घकालीन प्रवृत्ति समता बिंदु के समीप होने की रहती है।

सिद्धांत के गुण

इस सिद्धांत के प्रमुख गुण निम्न प्रकार हैं—

(1) समस्त चलन पद्धतियों में लागू—यह सिद्धांत प्रायः हर प्रकार की चलन पद्धति में लागू किया जा सकता है और सरलता से प्रयोग किया जा सकता है।

(2) व्यापार प्रवृत्ति का ज्ञान—इस सिद्धांत की सहायता से व्यापार प्रवृत्ति एवं ऋणों के शेष की दिशा को ज्ञात किया जा सकता है।

(3) घनिष्ठ संबंध—इस सिद्धांत के आधार पर आंतरिक मूल्य स्तर एवं विनिमय दर में बहुत घनिष्ठ संबंध रहता है। इस प्रकार प्रत्येक राष्ट्र अपनी मुद्रा नीति एवं दीर्घकालीन विनिमय दर को ज्ञात करके उससे लाभ प्राप्त कर सकता है।

(i) इंग्लैंड का उदाहरण—1925 मे इंग्लैंड द्वारा पुन. स्वर्णमान अपनाने से उसने स्वर्ण समता दर स्वाभाविक दर से ऊंची रखी, फलत मूल्य बढ़े व भुगतान संतुलन विपक्ष में हो गया व स्वर्ण का निर्यात होने लगा, जिसके लिए ऋणो की भी व्यवस्था की गई परंतु इससे स्वर्ण निर्यात बिंदु निष्क्रिय हो गया तथा पौंड का मूल्य गिरने पर वह जल्दी ही अपने स्वाभाविक स्तर पर आकर रुक गया।

(ii) डालर स्टर्लिंग दरें—द्वितीय विश्वयुद्ध काल मे रुपया-डालर दरें एवं डालर-स्टर्लिंग दरें अपने क्रय शक्ति समता से काफी भिन्न हो गई थीं जिसे विनिमय नियंत्रण द्वारा स्तर पर रखने के प्रयास किए गए, जिससे संबंधित राष्ट्रो को भुगतान संतुलन मे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। अतः यह आवश्यक समझा गया कि देश में लागत एवं मूल्यो को कम करके क्रय शक्ति समता को बढ़ाया जाए, तथा अपनी मुद्राओ का मूल्य डालर मे घटाकर स्वाभाविक दरो एवं नियंत्रित दरो मे समानता स्थापित की जाए। इस प्रकार विनिमय दरों मे स्थायित्व लाने के लिए क्रय शक्ति समता सिद्धात की गणना करना अत्यत आवश्यक समझा गया। यह समझा जाने लगा कि विनिमय दरो मे औचित्य क्रय शक्ति समता सिद्धांत के अध्ययन से ही प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार इस सिद्धात की व्यावहारिक उपयोगिता अधिक रही।

सिद्धांत की आलोचनाएं

क्रय शक्ति समता सिद्धात की प्रमुख आलोचनाएं निम्न प्रकार हैं—

(1) आंतरिक व्यापार की वस्तुएं—देश मे आतरिक मूल्यो के सूचनाक उन वस्तुओ के मूल्यों को लेकर बनाए जाते हैं जो प्रायः अतर्राष्ट्रीय व्यापार में सम्मिलित नहीं की जाती। आतरिक वस्तुओ के मूल्यों में होने वाला परिवर्तन अंतर्राष्ट्रीय वस्तुओं की मूल्यो को भी प्रभावित कर सकता है, बशर्ते साधन विभिन्न उद्योगो के मध्य पूर्णरूप से गतिशील हो, परंतु व्यवहार में ऐसी गतिशीलता का अभाव रहता है, अत आतरिक व्यापार की वस्तुओ के मूल्यो से क्रय शक्ति समता निर्धारण मे कोई प्रभाव नही पड़ता, इससे वास्तविक विनिमय दर क्रय शक्ति के आधार पर निर्धारित विनिमय दर से भिन्न हो जाती है।

(2) संरक्षण करों का व्यापार मे हस्तक्षेप—संरक्षण करों का व्यापार में हस्तक्षेप होता है। यदि कोई देश आयात पर संरक्षण कर लगाता है तो मुद्रा के लिए माग अपरिवर्तित हो जाएगी परंतु विदेशी मुद्रा के लिए मांग घट जाएगी। इस प्रकार सरक्षण कर लगाने वाले राष्ट्र की मुद्रा के मूल्य का पता नही लग सकेगा।

(3) उपयुक्त सूचनांक चुनाव मे कठिनाई—क्रय शक्ति समता सिद्धात को ज्ञात करने मे उपयुक्त सूचनांक के चुनाव की कठिनाइयां उपस्थित होती हैं। यदि थोक मूल्यों या रहन-सहन स्तर का सूचनांक लिया जाए तो उसका अंतर्राष्ट्रीय व्यापार पर कोई प्रभाव नही पड़ेगा। अतः उपयुक्त सूचनांक के चुनाव की कठिनाई के कारण क्रय शक्ति समता के आधार पर विनिमय दर को ज्ञात करना कठिन हो जाता है।

(4) गतिशील परिस्थितियां—यह सिद्धात केवल स्थिर परिस्थितियों मे ही लागू हो सकता है जबकि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की दशाएं सदैव गतिशील एवं परिवर्तित रहती हैं जिससे यह सिद्धात लागू नहीं हो पाता।

(5) परिवहन व्ययों की उपेक्षा—मूल्यों के घटने एवं बढ़ने मे परिवहन व्ययों का स्थान अत्यत महत्वपूर्ण होता है, परतु इस सिद्धात मे परिवहन व्यय की उपेक्षा की गयी है।

(6) आर्थिक संबंधों के परिवर्तनों की उपेक्षा—इस सिद्धात मे समय-समय पर आर्थिक संबंधों में होने वाले परिवर्तनों को ध्यान मे नही रखा जाता। इससे विनिमय दर का उचित ढग से निर्णय नही हो पाता।

(7) निरपेक्ष मूल्य स्तर मे लागू न होना—यह सिद्धांत निरपेक्ष मूल्य स्तर मे लागू नहीं होता और यह मूल्य-स्तरो के परिवर्तन मे ही लागू होता है।

(8) फैशन व आय स्तर में परिवर्तन—देश मे फैशन व आय स्तर मे परिवर्तन होने से देश की अर्थव्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है, परतु इस सिद्धांत में इस बात पर ध्यान नही दिया जाता।

(9) मूल्य स्तर पर प्रभाव—यह सिद्धात इस बात पर ध्यान देता है कि मूल्य स्तर संबंधी परिवर्तन

विनिमय दरों में परिवर्तन लाते हैं, परंतु विनिमय दरों के परिवर्तन का मूल्य स्तर पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। परंतु यह कथन सत्य सिद्ध नहीं होता।

(10) **अन्य घटकों का प्रभाव**—मुद्रा की माग एवं पूर्ति संबंधी दशाएं केवल मूल्य परिवर्तनों से ही प्रभावित न होकर अन्य घटकों से भी प्रभावित होती हैं जिन पर इस सिद्धांत में ध्यान नहीं रखा जाता। इनमें कोषों का आवागमन, सट्टा, व्यवहार, परस्पर सरकारी ऋणग्रस्तता आदि को ही सम्मिलित किया जाता है। इस प्रकार सिद्धांत में विनिमय दर निर्धारण में अन्य घटकों की उपेक्षा कर दी जाती है।

(11) **सूचक अंकों में भिन्नता**—विनिमय दर का निर्धारण दो राष्ट्रों के मध्य मूल्य सूचनाओं की तुलना पर आधारित होता है। परंतु विभिन्न राष्ट्रों में आधार वर्ष, भार, रचना आदि में परिवर्तन होने के कारण उन्हें तुलना योग्य नहीं बनाया जा सकता। अतः इन निर्देशांकों की पारस्परिक तुलना करने से वास्तविक क्रय शक्ति समता को ज्ञात नहीं किया जा सकता।

(12) **अनुभव सिद्धांत के विरुद्ध है**—व्यवहार में ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता जहां विनिमय दर का निर्धारण क्रय शक्ति समता सिद्धांत के आधार पर हुआ हो। इस प्रकार इस सिद्धांत का कोई व्यावहारिक महत्व नहीं रहता।

(13) **क्रय शक्ति मापने का गलत ढंग**—क्रय शक्ति समता में सामान्य मूल्य स्तरों को ध्यान में रखा जाता है जो निर्देशांकों की सहायता से बनाए जाते हैं, परंतु निर्देशांक बनाने में अनेक दोष उपस्थित हो जाते हैं जिससे उसके आधार पर निर्धारित की गई विनिमय दर भी दोषपूर्ण होती है।

इस प्रकार व्यावहारिक जीवन में इस सिद्धांत का विशेष महत्व नहीं है। व्यवहार में विनिमय दर केवल मुद्राओं की तुलनात्मक क्रय शक्ति से ही निश्चित नहीं होती, बल्कि दोनों राष्ट्रों की मुद्राओं की तुलनात्मक माग एवं पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों से निश्चित होती है।

दीर्घकालीन—अर्थशास्त्र के अनेक सिद्धांतों की भांति क्रय-शक्ति समता सिद्धांत भी केवल दीर्घकालीन प्रवृत्तियों का विवेचन करता है। अल्पकाल में विनियोग, भुगतान सन्तुलन तत्त्व, आदि मुद्रा की विनिमय दर को प्रभावित करते हैं, जिन्हें इस सिद्धांत में कोई महत्व नहीं दिया जाता। इस प्रकार इस सिद्धांत को विनिमय-दर निर्धारण करने का एकमात्र आधार मान लेना उचित नहीं माना जाता।

(4) भुगतान संतुलन सिद्धांत
(Balance of Payment Theory)

किसी राष्ट्र की विनिमय दर का निर्धारण उसके भुगतान संतुलन की स्थिति पर निर्भर करता है। भुगतान संतुलन प्रतिकूल होने पर विदेशी मुद्रा की मांग बढ़ जाती है जिससे उसका मूल्य बढ़ जाता है। इसके विपरीत भुगतान संतुलन अनुकूल होने पर स्वदेशी मुद्रा की मांग बढ़ जाती है व उसका मूल्य बढ़ जाता है, इससे विनिमय दर पक्ष में परिवर्तित हो जाती है।

इस प्रकार यह सिद्धांत बताता है कि विनिमय दर का निर्धारण भुगतान संतुलन की माग एवं पूर्ति द्वारा होता है। प्रायः भुगतान संतुलन की मांग एवं पूर्ति उन स्वतंत्र घटकों द्वारा निर्धारित होती है जो विनिमय दर में उतार-चढ़ाव लाते हैं। इन स्वतंत्र घटकों में स्थायी भुगतान की मदें, कच्ची सामग्री के आयात की माग आदि को सम्मिलित किया जाता है। स्थायी भुगतान की मदों में क्षतिपूर्ति की राशि, विदेशी ऋणों पर ब्याज आदि को सम्मिलित किया जाता है।

प्रमुख बातें

भुगतान संतुलन के विवरण में निम्न मदों को सम्मिलित किया जाता है—

(1) **चालू खाता**—इसमें दृश्य एवं अदृश्य मदों को सम्मिलित किया जाता है जिसे व्यापार संतुलन भी कहा जाता है।

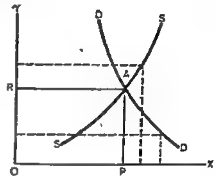
(2) पूंजी खाता—इसमें पूंजी के आयात एवं निर्यात को सम्मिलित करते हैं। इसमें अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन ऋण पृथक्-पृथक् दिखाते हैं।

(3) एकपक्षीय हस्तांतरण—इसमें निजी तौर पर भेजी गयी राशियां, सरकार द्वारा दी गयी सहायता, पेंशन राशि आदि सम्मिलित की जाती हैं।

(4) स्वर्ण खाता—इसमें स्वर्ण क्रय की राशि देनदारी की ओर तथा स्वर्ण विक्रय राशि को लेनदारी की ओर लिखा जाता है।

(5) भूल-चूक—इसमें अनुमानित भूल की राशि को आय अथवा व्यय की ओर लिख देते हैं।

भुगतान संतुलन सिद्धांत को निम्न चित्र द्वारा दिखाया जा सकता है—



चित्र में DD माग वक्र तथा SS पूर्ति वक्र है जो एक दूसरे को A बिन्दु पर काटते हैं जहां मुद्रा की पूर्ति AP तथा मांग OR है। किसी अन्य विनिमय दर पर माग व पूर्ति बराबर न होने से असंतुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

गुण—इस सिद्धांत के प्रमुख गुण निम्न हैं—

(1) सामान्य साम्य विश्लेषण का अंग—इस सिद्धांत ने विनिमय दर को सामान्य साम्य विश्लेषण का एक अंग बना लिया है जोकि अर्थशास्त्र का एक प्रमुख विषय माना जाता है।

(2) सुझाव देना—यह सिद्धांत बताता है कि विनिमय दरों में समायोजन करके मुद्रा प्रसार या संकुचन द्वारा न करके भी भुगतान संतुलन की असाम्यता को ठीक किया जा सकता है।

(3) मांग व पूर्ति का आधार—इस सिद्धांत में विनिमय दर के निर्धारण में मांग एवं पूर्ति की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है।

(4) अन्य घटक—इस सिद्धात में अनेक बाह्य घटकों का जो विनिमय दर के निर्धारण में प्रभाव पड़ता है।

दोष—भुगतान संतुलन सिद्धांत के प्रमुख दोष निम्न हैं—

(1) बेलोच मांग का अभाव—जिन वस्तुओं की माग को बेलोच समझकर सिद्धात का निर्माण किया गया है, वह लोचदार होती है, जिसमें मूल्य परिवर्तन का प्रत्येक वस्तु की माग पर प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार भुगतान संतुलन विनिमय दर के परिवर्तनों से स्वतंत्र नहीं माना जा सकता।

(2) मात्राएं मानना—भुगतान संतुलन की मदों को दी हुई मात्राएं माना गया है, जबकि इन्हें मात्रा के स्थान पर अनुसूचियां माना जाना चाहिए, क्योंकि वे स्थिर मात्राएं न होकर घटती-बढ़ती मात्राएं होती हैं।

19

विनिमय नियंत्रण

(Exchange Control)

प्रारम्भिक

विनिमय दर सिद्धांतों का निर्माण प्रायः स्वतंत्र विनिमय बाजारों को ध्यान में रखकर किया गया है। परंतु वर्तमान समय में विश्व में कहीं भी स्वतंत्र विनिमय बाजार नहीं है। प्रत्येक राष्ट्र में विनिमय नियंत्रण प्रणाली को ही अपनाया जा रहा है, परन्तु इसने अनेक समस्याओं को जन्म दिया है जैसे स्थिर एवं लोचदार विनिमय दर, अवमूल्यन एवं बहुमुखी विनिमय दर आदि। प्रथम विश्वयुद्ध काल में आर्थिक क्रियाओं में सरकार के हस्तक्षेप को महत्त्व दिया गया। फासिस्ट एवं समाजवादी नेता यह प्रचार कर रहे थे कि कोषों के अंतर्राष्ट्रीय आवागमन पर पूर्णरूप से नियंत्रण लगा दिया जाए। 1926 तक विश्व के अधिकांश राष्ट्रों ने विनिमय नियंत्रण को अपनाया, परंतु बाद में मुद्रा में स्थायित्व आने पर इनमें कमी कर दी गई तथा 1931 तक अधिकांश नियंत्रणों को हटाया गया था, परंतु 1929 की मंदी में विनिमय नियंत्रणों को फिर से प्रारंभ किया गया। द्वितीय विश्वयुद्ध में अंतर्राष्ट्रीय भुगतान की स्वतंत्रता समाप्त होने से सरकारी नियंत्रणों को उचित ठहराया गया। इस काल में अंतर्राष्ट्रीय भुगतान स्थिति पर नियंत्रण लगाना अत्यंत आवश्यक समझा गया। युद्ध समाप्ति के पश्चात् आर्थिक संबंधों को पुनः जोड़ना आवश्यक समझा गया, परन्तु विभिन्न राष्ट्रों द्वारा भुगतान पर नियंत्रण लगाने से अनेक समस्याएं उदय हुईं तथा विनिमय पर नियंत्रण लगाना आवश्यक समझा गया। 1930-34 में स्वर्णमान का पतन होने से अनेक देशों की मुद्राओं की विनिमय-दरों में अत्यधिक उच्चावचन होने आरम्भ हो गए। इन उतार-चढ़ावों को रोकने के लिए विभिन्न देशों में मुद्रा के क्रय-विक्रय एवं भुगतान संबंधी नियंत्रण लगाए गए और शासन द्वारा विनिमय दरों के परिवर्तन रोकने हेतु सक्रिय हस्तक्षेप प्रारंभ किए गए। 1950 तक नियंत्रण लगाना आवश्यक तथा सामान्य बात माना गया। विनिमय नियंत्रण को जन्म देने में जर्मनी का स्थान प्रथम है, जबकि प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् जर्मन-मार्क की विनिमय दर गिर जाने पर विनिमय नियंत्रण की सहायता लेकर उसे स्थिर किया जा सका। वर्तमान समय में अधिकांश राष्ट्रों द्वारा अपरिवर्तित पत्र-मुद्रामान अपनाने से विनिमय दर में स्थिरता लाने के लिए विनिमय नियंत्रण रखना आवश्यक माना गया।

विनिमय नियंत्रण से आशय

विनिमय नियंत्रण से आशय मौद्रिक अधिकारी के उन सभी हस्तक्षेपों से होता है, जो विनिमय दर को प्रभावित करने के लिए प्रयोग की जाती हैं। प्रायः विनिमय नियंत्रण में विनिमय बाजार में किए गए समस्त सरकारी हस्तक्षेपों को सम्मिलित किया जाता है। वर्तमान समय में विनिमय नियंत्रण से आशय उन समस्त प्रतिबंधों से लगाया जाता है जो किसी व्यक्ति द्वारा निजी विनिमय व्यवहारों के संबंध में प्रयोग किए जाते हैं। प्रो० हेबरलर के शब्दों में 'विनिमय नियंत्रण विदेशी विनिमय बाजार में आर्थिक शक्तियों की स्वतंत्र क्रिया को समाप्त करके राजकीय नियमन की

लगाने के उद्देश्य से भी विनिमय नियंत्रण लगाया जाता है जिससे वे विदेशी विनिमय का प्रयोग देश के अहित में न कर सकें।

(5) **मुद्रा संबंधों को स्थिर रखना**—विश्व के अन्य महत्त्वपूर्ण राष्ट्रों के साथ मुद्रा संबंधों को स्थिर रखने के उद्देश्य से भी विनिमय नियंत्रण लगाना आवश्यक हो जाता है।

(6) **उचित विनिमय दर का निर्धारण**—जब सरकार यह अनुभव करती है कि विनिमय दर को स्वतंत्र रूप से छोड़ देने पर उचित ढंग से दर का निर्धारण नहीं होगा तो उचित स्तर पर विनिमय दर के निर्धारण के लिए विनिमय नियंत्रण लगाना आवश्यक हो जाता है।

(7) **विदेशी ऋण व ब्याज का भुगतान**—विदेशी ऋण एवं ब्याज का भुगतान करने के उद्देश्य से भी विनिमय नियंत्रण विधि का प्रयोग किया जाता है। इसमें निर्यातों को प्रोत्साहित एवं आयातों को हतोत्साहित करके आधिक्य का उपयोग विदेशी ऋणों के भुगतान में किया जाता है तथा इसके लिए विनिमय मूल्य को ऊंचे स्तर पर निश्चित कर दिया जाता है। इस प्रकार मुद्रा का अधिमूल्यन करने से विदेशी ऋणों का भार हल्का हो जाता है तथा आयात सस्ते होने से उनके मूल्य चुकाने में सरलता बनी रहती है।

(8) **विदेशों से आवश्यक खरीद**—देश में पर्याप्त मात्रा में विदेशी विनिमय कोष होने पर उसका उपयोग विदेशों से आवश्यक वस्तुओं की खरीद पर किया जा सकता है। अतः इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भी विनिमय नियंत्रण लगाए जाते हैं। इसी उद्देश्य से द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारंभ से विनिमय नियंत्रण लगाया गया जिससे युद्ध सामग्री का आयात किया जा सके व औद्योगिक कच्चे माल, मशीनें एवं अन्य आवश्यक सामान का आयात करके आर्थिक योजनाओं को सफल बनाया जा सके। देश में निर्यात बढ़ाने के प्रयास किए जाते हैं। तथा अनावश्यक आयातों पर सख्त प्रतिबंध लगाए जाते हैं। देश के आर्थिक विकास के लिए विदेशी पूंजी का स्वतंत्रतापूर्वक आयात किया जाता है तथा विनिमय दरों को स्थिर रखने के प्रयास किए जाते हैं। इस प्रकार आर्थिक योजना की सफलता के लिए विदेशी विनिमय को एक आवश्यक अंग माना गया है, जिससे योजना के लिए आवश्यक वस्तुओं को खरीदा जा सके।

(9) **भुगतान संतुलन में सुधार**—देश में भुगतान संतुलन की स्थिति बिगड़ने पर विनिमय नियंत्रण को अपनाया जाता है जिससे देश की मुद्रा का बाह्य मूल्य कम कर दिया जाता है, फलतः आयात महंगे व निर्यात सस्ते हो जाते हैं व भुगतान संतुलन की स्थिति में सुधार होने लगता है।

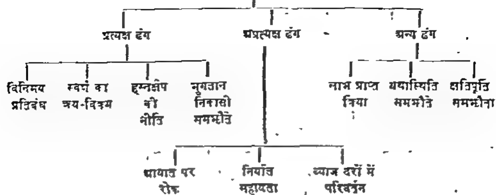
(10) **विनिमय दर में स्थिरता**—विनिमय दर में स्थिरता के अभाव में विदेशी व्यापार के लाभ अनिश्चित होकर सट्टेबाजी को प्रोत्साहन मिलता है। अतः इन पर उचित नियंत्रण लगाने के लिए एवं विनिमय दर में स्थिरता लाने के लिए विनिमय नियंत्रण की नीति का प्रयोग किया जाता है। अस्थायी विनिमय दर में होने वाले उतार-चढ़ाव सट्टेबाजी को प्रोत्साहित करते हैं जिन पर उचित नियंत्रण लगाना आवश्यक होता है। परंतु स्थाई उतार-चढ़ाव प्रायः मौलिक परिवर्तन के कारण उदय होते हैं, जिनसे राष्ट्र को कोई खतरा भी उत्पन्न नहीं होता और इन्हें रोकना अधिक अनिवार्य भी नहीं होता है। परंतु व्यवहार में यह ज्ञात करना कठिन होता है कि कौन से परिवर्तन स्थायी होते हैं और कौन से अस्थाई। अतः विनिमय दरों में परिवर्तन होने पर प्रायः विनिमय नियंत्रण की नीति को अपनाया जाता है।

(11) **पर्याप्त विदेशी मुद्रा उपलब्ध करना**—विनिमय नियंत्रण इस उद्देश्य से भी प्रारंभ किए जाते हैं कि देश में विदेशी मुद्रा का कोष पर्याप्त मात्रा में बना रहे जिसका उपयोग कठिनाई के समय सरलता से किया जा सके तथा आवश्यकता की वस्तुएं प्राप्त की जा सकें।

(12) **विनिमय स्थायित्व**—विनिमय नियंत्रण का उद्देश्य विनिमय दर में स्थायित्व बनाए रखना है विनिमय दर में उतार-चढ़ाव रोकने के लिए निरंतर सजग और सक्रिय रहना पड़ता है। विनिमय दर में स्थायित्व उद्योग, व्यापार, रोजगार, उद्योग आदि की प्रगति के लिए आवश्यक होता है।

विनिमय नियंत्रण के ढंग
(Methods of Exchange Control)

विनिमय नियंत्रण के ढंगों को निम्न तीन वर्गों में रखा जा सकता है—



(अ) प्रत्यक्ष ढंग, (ब) अप्रत्यक्ष, (स) अन्य ढंग।

(अ) प्रत्यक्ष ढंग

वे समस्त उपाय जिनके आधार पर सरकार प्रभावकारी नियंत्रण रख सके, प्रत्यक्ष ढंग कहलाते हैं। प्रत्यक्ष ढंग में निम्न को सम्मिलित किया जाता है—

(1) विनिमय प्रतिबन्ध (Exchange restriction)—इसमें मुद्रा अधिकारी की उन क्रियाओं को सम्मिलित किया जाता है जिसमें विदेशी विनिमय की स्वतन्त्रता को प्रतिबन्धित कर दिया जाता है तथा विनिमय बाजारों में स्वदेशी मुद्रा की पूर्ति को अनिवार्य रूप से रोक दिया जाता है। इसका उपयोग सर्वप्रथम जर्मनी ने 1931 में किया व बाद में अन्य राष्ट्रों ने भी इसे अपनाया। इसमें प्रायः निम्न उपायों को सम्मिलित किया जाता है—

(i) क्रय-विक्रय—इस रीति के अनुसार प्रायः विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय पर केन्द्रीय बैंक का एकाधिकार स्थापित कर दिया जाता है और निर्यात की समस्त आय को केन्द्रीय बैंक में जमा करा दिया जाता है।

(ii) नागरिकों को बिक्री—एकत्र की गई विदेशी विनिमय का एक भाग सरकार रखती है तथा शेष को ऊँचे दामों पर जनता को बेच दिया जाता है।

(iii) प्राथमिकता क्रम—देश में माल आयात करने के लिए एक प्राथमिकता क्रम का निर्धारण करके अनावश्यक आयात पर प्रतिबंध लगा दिया जाता है।

(iv) अवरुद्ध खाते की नीति—इस नीति के अंतर्गत विदेशियों को अपनी सम्पत्ति ले जाने का अधिकार रोक दिया जाता है, तथा उन्हें इसका भुगतान उनकी मुद्रा में नहीं दिया जाता।

(v) विदेशी मुद्रा पर रोक—विदेशी व्यवहारों के लिए सीमित मात्रा में विदेशी मुद्रा दी जाती थी।

(vi) सरकार को सुपुर्दगी—नागरिकों को यह आदेश दे दिए जाते हैं कि वे अपनी विदेशी मुद्राएँ सरकार को सौंप दें।

(vii) बहु-विनिमय दर प्रथा—इस रीति के अंतर्गत आयात एवं निर्यात के लिए विभिन्न विनिमय दरें निर्धारित कर दी जाती हैं तथा आयात की विभिन्न श्रेणियों के लिए विभिन्न विनिमय दरें रखी जाती हैं। इसका प्रमुख उद्देश्य आयात को घटाकर निर्यात को बढ़ाना है जिससे दुर्लभ विदेशी मुद्रा को अर्जित किया जा सके। इस प्रणाली का जन्म जर्मनी में हुआ। जिस राष्ट्र में इस प्रथा को अपनाया जाता है, वहा लाइसेन्स आदि प्रतिबंधों को प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं होती।

बहु-विनिमय दर प्रथा के दोष—बहु-विनिमय दर प्रथा के प्रमुख दोष निम्न हैं—

(i) असंगत दर—इस प्रथा में दो राष्ट्रों के मध्य असंगत विनिमय दर निश्चित हो जाने का भय बना रहता है जो कि देश के लिए हानिकारक हो सकता है।

(ii) नियोजित विकास में बाधा—इस व्यवस्था में नियोजित विकास में बाधाएं उपस्थित होती हैं तथा

(5) विलम्ब काल व्यवस्था—इस व्यवस्था में विदेशी निर्यातकों को भुगतान करने पर प्रतिबंध लगा दिया जाता है। इससे अस्थाई समाधान हो जाता है, जिसमें ऋणी अपने देश की मुद्रा में भुगतान करते हैं जो बैंक के पास जमा कर दी जाती है जो एक निश्चित समय के पश्चात् विदेशी निर्यातकों के प्रति मुक्त कर दिए जाते हैं। मंदीकाल में अनेक राष्ट्रों द्वारा इस व्यवस्था का प्रयोग किया गया था।

(6) भुगतान समझौते—इस व्यवस्था के अंतर्गत भुगतान संबंधी समझौते करके विदेशी विनिमय पर नियंत्रण लगाये जाते हैं। इस व्यवस्था में दोनों राष्ट्रों द्वारा परस्पर साख सुविधाएं प्राप्त हो जाती हैं।

भुगतान समझौते के दोष—भुगतान समझौते के प्रमुख दोष निम्न हैं—

(i) शेष प्रदत्त—खातों में कोई शेष प्रदत्त रह जाने पर उसका प्रयोग एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति से वस्तुएं क्रय करके ही किया जा सकता है।

(ii) लेखा विधि व्यवस्था—इस व्यवस्था में भुगतानों के संबंध में खातों को केवल नामें व जमा किया जाता है जिससे लेखा विधि व्यवस्था का ही प्रयोग किया जाता है और व्यवहार में कुछ नहीं होता।

(ब) अप्रत्यक्ष ढंग

इसके अंतर्गत सरकार विभिन्न नीतियों द्वारा वस्तुओं के आवागमन पर प्रतिबन्ध लगाती है। इसमें प्रायः वे ढंग सम्मिलित किए जाते हैं जो कि अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर वस्तुओं के आवागमन को नियमन करने हेतु अपनाये जाते हैं। इनमें निम्न को सम्मिलित किया जाता है—

(1) आयात पर रोक—आयात पर रोक लगाकर विनिमय नियंत्रण किया जाता है। यह रोक दो प्रकार से लगाई जा सकती है (अ) कोटा व लाइसेन्स द्वारा तथा (ब) आयात कर लगाकर। जब आयात वस्तुओं के संबंध में व्यापारियों को कोटे एवं लाइसेंस दिए जाते हैं तो आयात पर प्रतिबंध स्वतः ही लग जाते हैं। इसी प्रकार आयात पर कर लगाने से मूल्य बढ़ने से मांग में कमी हो जाती है। अतः विदेशी मुद्रा की मांग घट जाती है व विनिमय दर देश के पक्ष में हो जाती है।

(2) निर्यात सहायता—निर्यात करों में छूट देकर भी निर्यातों को प्रोत्साहित किया जा सकता है। इसी प्रकार निर्यातकों को आर्थिक सहायता देकर भी निर्यातों को प्रोत्साहन मिलता है। इसमें स्वदेशी मुद्रा की मांग बढ़ जाती है तथा विनिमय दर पक्ष में हो जाती है।

(3) ब्याज दरों में परिवर्तन—ब्याज दरों में, परिवर्तन का प्रभाव पूंजी के आयात एवं निर्यात पर पड़ता है। यदि देश में ब्याज दर ऊंची कर दी जाए तो विदेशी पूंजी का आगमन बढ़ जाएगा जिससे स्वदेशी पूंजी की मांग बढ़ने से विनिमय दर पक्ष में हो जाएगी। इसके विपरीत ब्याज दर कम करने पर विदेशी पूंजी वापस जाने लगती है व साथ ही स्वदेशी पूंजी भी विदेशों को जाने लगती है, जिससे विदेशी पूंजी की मांग बढ़कर विनिमय दर विपक्ष में हो जाती है। 1924 व 1930 में जर्मनी ने इसी विधि का प्रयोग करके विशाल मात्रा में विदेशी पूंजी प्राप्त की थी।

(स) अन्य ढंग

विनिमय नियंत्रण की अन्य रीतियों को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(1) लाभ-प्राप्त-क्रिया—विनिमय दरों में परिवर्तन होने की संभावना में उसे लाभ-प्राप्त-क्रिया द्वारा प्रभावहीन होने से रोक दिया जाता है। परन्तु अब परिवर्तनशील मौद्रिक व्यवस्था होने से यह क्रियाएं प्रायः असंभव हो गई हैं। वर्तमान समय में विनिमय दर सरकार द्वारा निर्धारित की जाती है तथा उस पर अनेक प्रकार के प्रतिबंध लगाए जाते हैं। अव्यवस्थित दरों के कारण व्यापार शर्तें प्रतिकूल होने पर मुद्रा का मूल्य घट जाता है तथा अनुकूल होने पर बढ़ जाता है।

(2) यथास्थिति समझौते—इस व्यवस्था के अंतर्गत दो राष्ट्रों के मध्य संपत्ति के आवागमन पर प्रतिबंध लगा दिए जाते हैं तथा ऋणों के भुगतान को कुछ समय के लिए स्थगित कर दिया जाता है। इस प्रकार ऋणी को समय देकर उसकी आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बनाया जाता है। इसमें पूंजी के आवागमन पर रोक लगाकर विनिमय दर को

शीलता को महत्व दिया जाता है, जिससे अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में व्यापार को हानि होती है तथा कुल व्यापार की मात्रा भी कम हो जाती है।

(6) राष्ट्रीय हित—विनिमय नियंत्रण से आर्थिक राष्ट्रवाद का उदय हो जाता है तथा राष्ट्रीय हितों को ही सुरक्षित रखने के प्रयास किए जाते हैं, जिससे विश्वयुद्ध की भूमिका का निर्माण हो जाता है।

(7) स्थायी रूप—यदि परिस्थितिवश एक बार विनिमय नियंत्रण की नीति को अपना लिया जाए तो यह अपना स्थायी रूप ग्रहण कर लेती है तथा व्यापार पर भी स्थायी रूप से नियंत्रण हो जाता है।

(8) व्यापार में कमी—विनिमय नियंत्रण से अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में कमी आ जाती है। विनिमय नियंत्रण लगाने एवं आतरिक मूल्यों का ऊंचा स्तर रखने से आयात एवं निर्यात दोनों ही कम हो जाते हैं तथा व्यापार के लाभ में भी कमी आ जाती है।

(9) पक्षपात को बढ़ावा—विनिमय नियंत्रण पक्षपात एवं लालफीताशाही को बढ़ावा देता है तथा जनता एवं अफसरों के नैतिक स्तर को गिराता है। व्यापारियों को अनुज्ञा पत्र आदि लेने की कठिनाइयों के कारण यह अनेक प्रकार की असुविधाओं को जन्म व प्रोत्साहन देता है।

विनिमय नियंत्रण का संचालन

विनिमय नियंत्रण के संचालन से संबंधित प्रमुख बातें निम्न हैं—

(1) एक ही दर का निर्धारण—एक देश का दूसरे देश से समस्त प्रकार के लेन-देन के लिए एक ही दर का निर्धारण किया जाता है, जिसे विनिमय नियंत्रण द्वारा ही पूर्ण किया जा सकता है।

(2) अनुज्ञा-पत्र—विनिमय नियंत्रण लगाने पर निजी व्यापारियों को माल के आयात के लिए अनुज्ञा-पत्र निर्गमित किए जाते हैं। सरकारी खाते में किए जाने वाले आयात पर ऐसे अनुज्ञा-पत्र निर्गमित नहीं किए जाते।

(3) भुगतान व्यवस्था—मुद्रा के हस्तांतरणों को प्रमुख शीर्षकों के अंतर्गत वर्गीकृत करके विदेशी भुगतान की व्यवस्था की जाती है।

(4) अदृश्य मदें—अदृश्य व्यापारिक मदों के भुगतान के लिए आवश्यक विनिमय अनुज्ञप्ति दी जाती हैं जो बिना किसी भेदभाव के निर्गमित की जाती है।

(5) प्रमुख लक्ष्य—विनिमय नियंत्रण का प्रमुख लक्ष्य स्वर्ण एवं डालर की सुरक्षा करना है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए विदेशी व्यापार को डालर व दुर्लभ राष्ट्रों की ओर से हटाकर स्टर्लिंग तथा अन्य सुलभ राष्ट्रों की ओर मोड़े जाते हैं।

(6) पूंजीगत स्थानांतरण—सीमित क्षेत्र में बाहर किए जाने वाले पूंजी संबंधी सभी हस्तांतरणों को स्वीकृति मिलने की आवश्यकता होती है जिससे ऐसे हस्तांतरण सुविधापूर्वक किए जा सकें।

(7) आयात का भुगतान—आयात के भुगतान के लिए किसी भी अन्य मुद्रा का उपयोग किया जा सकता है।

(8) प्राप्तियां—समस्त विनिमय प्राप्तियों के लिए किसी एक बैंक को समस्त अधिकार दे दिए जाते हैं जो उसे प्राप्त करने की उचित व्यवस्था करता है।

(9) प्रशासन व्यवस्था—दैनिक कार्य व्यापारिक बैंकों द्वारा किए जाते हैं तथा अन्य विदेशी विनिमय कार्यों पर प्रशासन व्यवस्था केंद्रीय बैंक की बनी रहती है।

(10) सीमित क्षेत्र—विनिमय नियंत्रण व्यवस्था उन्हीं राष्ट्रों के साथ किए गए विनिमय पर लागू की गयी जो देश स्टर्लिंग क्षेत्र से बाहर थे। इस प्रकार यह व्यवस्था सीमित क्षेत्रों पर ही लागू होती थी।

भारत में विदेशी विनिमय नियंत्रण

सितंबर, 1939 में द्वितीय विश्व युद्ध की घोषणा से भारत में विदेशी विनिमय नियंत्रण को प्रारंभ किया गया। द्वितीय विश्वयुद्ध काल में विनिमय नियंत्रण स्टर्लिंग क्षेत्र तक ही सीमित था क्योंकि उस समय इन मुद्राओं के

उपयोग में मितव्ययिता लाने की अत्यंत आवश्यकता अनुभव की गई। युद्ध की समाप्ति पर भारत ने पर्याप्त विदेशी विनिमय अर्जित कर लिया था, परंतु विनिमय नियंत्रण की आवश्यकता को अनुभव करते हुए उसे जारी रखा गया। 1947 के बाद विनिमय नियंत्रण के कार्यक्षेत्र को और अधिक विस्तृत किया गया तथा भौगोलिक दृष्टि से पाकिस्तान एवं अफगानिस्तान के साथ विनिमय नियंत्रण को 1951 तक मुक्त रखा गया। भारत में प्रारंभ में विनिमय नियंत्रण का उद्देश्य ब्रिटेन को सहायता करना था। परंतु वर्तमान समय में विनिमय नियंत्रण के उद्देश्यों को पंचवर्षीय योजनाओं के साथ समायोजित किया गया है। देश के औद्योगीकरण एवं आर्थिक विकास के लिए विदेशों से ऋण लेना एवं पूंजी को आकर्षित करके अनावश्यक आयात पर प्रतिबंध लगाना विनिमय नियंत्रण नीति का आवश्यक अंग बन गया है। अतः विनिमय नियंत्रण द्वारा विदेशी मुद्रा को आवश्यक आयातों के लिए सुरक्षित करना है। 1957 के पश्चात् अनावश्यक आयातों को नियंत्रित कर दिया गया है। विनिमय नियंत्रण नीति को व्यापार नियंत्रण नीति के साथ लागू किया जाता है तथा बाह्य लेन-देन से संबंधित समस्याओं का नियमन किया जाता है। भारत की विनिमय नियंत्रण प्रणाली ब्रिटेन की प्रणाली पर आधारित होने के कारण उससे मिलती-जुलती है। भारत में विनिमय नियंत्रण का प्रशासन रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया द्वारा किया जाता है। दैनिक व्यवहारों से संबंधित विदेशी विनिमय कार्यों को विदेशी विनिमय में अधिकृत व्यापारिक बैंकों द्वारा किया जाता है तथा रिजर्व बैंक जनता से प्रत्यक्ष रूप से कोई लेन-देन नहीं करती है। रिजर्व बैंक का गवर्नर विनिमय नियंत्रण विभाग का नियंत्रक होता है जो उपनियंत्रक की देख-रेख में कार्य करता है। उपनियंत्रक की सहायता के लिए सहायक नियंत्रक नियुक्त किए जाते हैं। सहायक नियंत्रकों की देख-रेख में कलकत्ता, बंबई, मद्रास, कानपुर एवं नई दिल्ली में विनिमय नियंत्रण संबंधी कार्य उप-कार्यालयों द्वारा संपन्न किया जाता है। प्रत्येक उप-कार्यालय का अपना क्षेत्र बंटा होता है जहां पर कार्य को किया जा सकता है। विदेशी मुद्रा संबंधी प्रार्थना-पत्रों को उससे संबंधित उप-कार्यालय को ही भेजा जा सकता है, जहां पर उस पर विचार किया जाता है।

विदेशी विनिमय पर नियंत्रण लगाने के उद्देश्य से विदेशी विनिमय नियमन अधिनियम 1947 में पारित किया गया। इस अधिनियम के द्वारा रिजर्व बैंक तथा भारत सरकार को समस्त विदेशी विनिमय के लेन-देन करने का नियमन करने का अधिकार दिया गया है। इस अधिनियम की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं—

(1) अधिकृत व्यापारी—विदेशी-विनिमय का लेन-देन केवल अधिकृत व्यापारी ही कर सकता है।

(2) आयात का भुगतान—आयात के लिए आवश्यक अनुज्ञा-पत्र निर्गमित किए जाते हैं। आयातकर्ता को विदेशों का भुगतान करने के लिए एक अधिकृत बैंक में निर्धारित फार्म भरना होगा तथा भुगतान उसी देश की मुद्रा में देने के प्रयास किए जाते हैं। भुगतान हो जाने पर लाइसेंस की प्रति रिजर्व बैंक को वापस कर दी जाती है।

(3) प्रशिक्षण, यात्रा आदि—विदेशों में प्रशिक्षण एवं यात्रा आदि के लिए विदेशी मुद्रा पर्याप्त मात्रा में दी जाती है।

(4) परिवहन शुल्क—विदेशों को जाने वाले माल का किराया रुपयों में ही चुकाया जाता है, परंतु विदेशों से आयात पर भाड़ा विदेशी मुद्रा में दिया जाता है जिसके लिए रिजर्व बैंक की स्वीकृति ली जाती है।

(5) पारिवारिक निर्वाह—विदेशी कर्मचारी भारत में अपने पारिवारिक निर्वाह के लिए वेतन का 50% भाग या 2360 रुपए जो भी कम हो नियमित रूप से प्रतिवर्ष भेज सकते हैं।

(6) फुटकर भुगतान—फुटकर विदेशी भुगतान के लिए 200 रुपए प्रतिवर्ष तक की राशि का भुगतान रिजर्व बैंक की अनुमति के बिना भेजा जा सकता है।

(7) विदेशी पूंजी—यदि विदेशी कंपनी भारत में विदेशी पूंजी विनियोग करना चाहें, तो पूंजी निर्गमन नियंत्रक से आवश्यक अनुमति प्राप्त करनी होती है। इसी प्रकार विदेशी पूंजी वापस करने के लिए रिजर्व बैंक से अनुमति लेना आवश्यक होगा।

(8) भारतीय मुद्रा—पार्सल द्वारा विदेशों से कोई भी भारतीय मुद्रा आयात नहीं की जा सकती। विदेशी यात्री अपने साथ 20 रुपए तक की भारतीय मुद्रा ही ला सकते हैं।

(9) विदेशी मुद्रा—विदेशी यात्री किसी भी मात्रा में विदेशी मुद्रा को ला सकते हैं, परंतु इसकी प्रविष्टि कस्टम अधिकारी से पास कराना आवश्यक होगी।

(10) विनिमय दरें—विनिमय दरें अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा निर्धारित होती है, परंतु इनमें 1% तक घट बढ़ हो सकती है। स्टर्लिंग के संबंध में विनिमय दर का निर्धारण 'भारतीय विदेशी विनिमय व्यापारी संघ' (Foreign exchange Dealers Association of India) द्वारा निर्धारित की जाती है।

(11) अन्य भुगतान—भारत को अन्य निजी कारणों से 100 करोड़ रुपए के वार्षिक भुगतान करने होते हैं जिसे सुविधा के लिए आठ वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

(12) धार्मिक यात्राएँ—हर समिति प्रत्येक यात्रा संबंधी प्रार्थना पर विचार करती है तथा दो वर्ष में केवल एक बार जाने की अनुमति प्रदान करती है।

(13) बीमा शुल्क—विदेशी मुद्रा में बीमा पालिसी लेने पर प्रतिबन्ध है, परंतु भारत स्थित विदेशी ऐसी पालिसी ले सकते हैं। प्राय. बीमा शुल्क विदेशों में भेजने की अनुमति दे दी जाती है। जहाजों के भाड़े को विदेशी मुद्रा में चुकाने पर रिजर्व बैंक की अनुमति लेना आवश्यक होता है।

(14) पूंजी स्थानांतरण—विदेशी पूंजी का स्थानांतरण रिजर्व बैंक की अनुमति से किया जा सकता है। अवकाश प्राप्त व्यक्ति अपनी पूरी बचत, लाभांश आदि विदेशों को ले जा सकते हैं तथा डालर क्षेत्र का व्यक्ति निजी सम्पत्ति के अतिरिक्त 1.25 लाख रुपए तक प्रतिभूतियों को अपने देश में हस्तांतरित कर सकता है। विदेशों में बसे भारतीय रिजर्व बैंक की अनुमति से 50,000 रुपए तक विदेशों को ले जा सकते हैं।

(15) विदेशों से प्राप्त आय—निर्यात के लिए भी आवश्यक अनुज्ञा-पत्र प्राप्त करने होते हैं और प्राप्त कुल विदेशी विनिमय अधिकृत बैंक में जमा करके रिजर्व बैंक को उसकी सूचना दी जाती है। विदेशी मुद्रा को बैंक की सहायता से देशी मुद्रा में बदला जा सकता है, परन्तु 20,000 रुपए से अधिक की विदेशी मुद्रा को भारत में भेजने से पूर्व बैंक की अनुमति प्राप्त करनी होगी। विदेशों में 50 रुपए तक के पार्सल भेंट के रूप में बिना अनुमति के भेजे जा सकते हैं।

(16) स्वर्ण—स्वर्ण व हीरे जवाहरात के आयात-निर्यात के लिए भी आवश्यक अनुज्ञा-पत्र लेने पड़ते हैं। विदेशों में जाने वाला यात्री 15,000 रुपए तक के जेवर आदि ले जा सकता है। पाकिस्तान के लिए यह राशि 2000 रुपए निर्धारित की गई है। रिजर्व बैंक की अनुमति प्राप्त करके इस सीमा से अधिक का सामान भी ले जाया जा सकता है।

इस प्रकार विनिमय नियंत्रण नियम पर्याप्त लोचदार व अनुकूल हैं जिसमें पर्याप्त उदारता एवं सावधानी का प्रयोग किया जाता है। योजनाकाल में विदेशी विनिमय समस्या उपस्थित होने से व प्रतिकूल भुगतान संतुलन के कारण कठोर विनिमय नियंत्रण लगाए गए जिससे विदेशी विनिमय की समस्या का समाधान किया जा सके। देश की कठिन आर्थिक परिस्थितियों एवं आपत्तिकालीन स्थिति की घोषणा के परिणामस्वरूप विदेशी विनिमय दर पर और कठोर नियंत्रण लगाए गए हैं जिससे विदेशी विनिमय की समस्या को सुलझाया जा सके।

विनिमय नियंत्रण का वर्तमान प्रशासन रिजर्व बैंक के हाथों में है। इसके 5 उप-कार्यालय भी हैं, जिनके अधिकार व क्षेत्र निम्न हैं—

नियंत्रण कार्यालय	अधिकार क्षेत्र
1 नई दिल्ली	1. देहली, हिमाचल प्रदेश, पंजाब, जम्मू-कश्मीर व राजस्थान।
2. मद्रास	2. आंध्रप्रदेश, मद्रास, केरल, मैसूर व पांडीचेरी।
3 बम्बई	3. गुजरात व महाराष्ट्र।
4 कलकत्ता	4. आसाम, बिहार, मनीपुर, उड़ीसा, त्रिपुरा, प० बंगाल, अंडमान व निकोबार।
5. कानपुर	5 मध्य प्रदेश व उत्तर प्रदेश।

20

अवमूल्यन एवं अधिमूल्यन
(Devaluation and Over-Valuation)

अवमूल्यन
(Devaluation)

प्रारम्भिक—देश की मुद्रा का विदेशी मुद्राओं में मूल्य कमकर देने की प्रक्रिया को अवमूल्यन कहते हैं। जब कोई देश अपनी मुद्रा के बदले में दूसरे देश को पूर्व की अपेक्षा कम मुद्रा लेने के लिए तैयार हो जाए तो उसे मुद्रा का अवमूल्यन कहेंगे। यह कमी सरकार द्वारा सभी मुद्रा के सन्दर्भ में ही की जाती है। इसमें मुद्रा का आतरिक मूल्य तो अप्रभावित रहता है, परंतु उसका बाह्य मूल्य कम हो जाता है। मुद्रा के आन्तरिक मूल्य के कम होने को मूल्य ह्रास कहते हैं। मूल्य ह्रास प्राय: मुद्रा स्फीति के कारण होती है।

परिभाषाएं—अवमूल्यन की प्रमुख परिभाषाएं निम्न हैं—

(1) पाल एनजिग—"अवमूल्यन से आशय मुद्रा की अधिकृत तुलना में कमी होने से है।"[1]

(2) डा० गांगुली—"अवमूल्यन को सरल शब्दों में एक देश की मुद्रा के बाह्य मूल्य को कम करने के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।"[2]

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की 1944 में स्थापना के पश्चात् विश्व के अनेक राष्ट्रों द्वारा अपनी मुद्रा का मूल्य स्वर्ण में निर्धारित किया गया था। मुद्रा का अवमूल्यन करने पर उसे स्वर्ण में अपना मूल्य कम करना होता था।

भारत में रुपये का अवमूल्यन

6 जून 1966 को भारतीय रुपये का 36·5% से अवमूल्यन किया गया, जो भारत के लिए एक अभूतपूर्व घटना थी। इससे पूर्व भी भारत ने 1949 में रुपये का अवमूल्यन 10% से किया। इस समय देश में मूल्य-स्तर काफी बढ गए थे देश की आर्थिक परिस्थितियां काफी बिगड़ गई थीं, तथा निर्यात अत्यन्त घट रहे थे। इन परिस्थितियों ने अवमूल्यन को अनिवार्य कर दिया। अवमूल्यन से भारतीय रुपये का विदेशी मुद्रा में मूल्य 36·5% से गिर गया और अब प्रत्येक अमेरिकी डालर के लिए 4 76 रुपये के स्थान पर 7 50 रुपये तथा ब्रिटिश पौण्ड के लिए 13·33 रुपये के स्थान पर 21 रुपये चुकाने होंगे। यह अवमूल्यन विश्व बैंक की बेल आयोग की सिफारिशों पर किया गया था।

अवमूल्यन को प्रेरित करने वाली परिस्थितियां

भारत में अवमूल्यन को प्रेरित करने वाली मुख्य परिस्थितियां निम्न थीं—

1. "Devaluation means lowering of the official parities."—Paul Enzig.
2. "Devaluation may be simply defined as the lowering of the external value of the currency of a Country."—Dr. Ganguli.

(1) अत्यधिक ऊंचा मूल्य स्तर—देश के घरेलू मूल्य-स्तर मे काफी वृद्धि हो गई थी, क्योंकि द्वितीय एवं तृतीय पंचवर्षीय योजना मे काफी धन का विनियोग किया गया, परन्तु उसकी तुलना में उत्पादन मे उतनी वृद्धि न होने से मूल्यों मे वृद्धि हुई जिससे निर्यात घटे जिसने अवमूल्यन को प्रेरित किया।

(2) विदेशी व्यापार में अवांछनीय क्रियाएं—भारत के विदेशी व्यापार मे अनेक प्रकार की अवांछनीय क्रियाए पनप चुकी थी जैसे आयात-निर्यात लाइसेन्सो का दुरुपयोग, तस्कर व्यापार, आयात में अधिक राशि के बीजक बनाना आदि। इन समस्त क्रियाओ को दूर करने के लिए अवमूल्यन आवश्यक समझा गया।

(3) अर्थव्यवस्था का सुदृढ़ आधार—देश की अर्थव्यवस्था के आधार को सुदृढ बनाने के लिए भी अवमूल्यन करना आवश्यक समझा गया।

(4) आयात प्रतिस्थापन—आयात प्रतिस्थापन को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से भी अवमूल्यन किया गया, क्योंकि इससे आयात की जाने वाली वस्तुएं महगी होने से आयात प्रतिस्थापन पर ही ध्यान देना होगा।

(5) विदेशी सहायता—पंचवर्षीय योजनाओ की सफलता के लिए विदेशी सहायता आवश्यक समझी गई। 1965 मे पाकिस्तानी आक्रमण एवं कई स्थानो पर सूखा पड़ जाने से देश की अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ा। अतः योजनाओ के लक्ष्यो की पूर्ति के लिए अवमूल्यन करना आवश्यक समझा गया।

(6) भुगतान असन्तुलन—पिछले कई वर्षों से आयात अधिक व निर्यात कम होने से व्यापारिक घाटा बढ रहा था तथा विनिमय दर विपक्ष मे हो रही थी। अतः भुगतान सन्तुलन को ठीक करने के लिए निर्यातो मे वृद्धि करना आवश्यक था जो अवमूल्यन द्वारा ही सम्भव हो सकता था।

(7) स्टर्लिंग क्षेत्र की सदस्यता—भारत स्टर्लिंग क्षेत्र का एक महत्वपूर्ण सदस्य माना जाता था। अतः 18 सितम्बर 1947 को जब सर स्टैफोर्ड क्रिप्स के निवेदन पर सभी स्टर्लिंग क्षेत्र के सदस्यो ने अपनी-अपनी मुद्राओ का अवमूल्यन किया, तो भारत का भी नैतिक कर्त्तव्य था कि वह भी रुपये का अवमूल्यन करें।

(8) पौण्ड पावनों के मूल्य में कमी—भारत को ब्रिटेन से 1700 करोड रुपये के पौण्ड पावने वसूल करने थे। यदि भारत रुपये का अवमूल्यन न करता तो पौण्ड पावनो का रुपयों मे मूल्य कम हो जाता।

(9) डालर की कमी—भारत का अमेरिका के साथ प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन था जिसे दूर करने के लिए रुपये का अवमूल्यन कर दिया गया।

अवमूल्यन के पश्चात् सरकार ने आयातो में उदारता की नीति अपनाई तथा देश के 59 उद्योगो को प्राथमिकता की सूची मे रखा गया, जिसके लिए कच्ची सामग्री एव अन्य वस्तुओ के आयात को पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की गई तथा अनावश्यक आयात पर भारी आयात कर भी लगाए गए।

अवमूल्यन के उद्देश्य

अवमूल्यन के प्रमुख उद्देश्य निम्न हैं—

(1) आयात को कम करना—भुगतान सन्तुलन की प्रतिकूलता को कम करने के उद्देश्य से आयात को हतोत्साहित करने की नीति का पालन किया जाता है, जिसके लिए आयात पर भारी कर एवं आयात निषेध की नीति का पालन किया जा सकता है।

(2) विनिमय नियंत्रण—विनिमय नियत्रण की सहायता से व्यापारिक प्रतिकूलता को सुधारा जा सकता है। इसमे निर्यातको को यह आदेश दे दिए जाते हैं कि वह अपनी विदेशी विनिमय सम्बन्धी समस्त आय सरकार को सुपुर्द कर दें जिसे आयातकर्ताओ मे उचित ढंग से वितरित कर दिया जाएगा। इस प्रकार आयातो को निर्यात की सीमा तक ही रखा जा सकेगा।

(3) निर्यात को प्रोत्साहित करना—भुगतान सन्तुलन को ठीक करने के लिए उत्पादन लागत मे कमी करके निर्यात को प्रोत्साहित करना होता है। अवमूल्यन की सहायता से सस्ते मूल्यो पर विदेशों मे माल बेचा जा सकेगा जिससे निर्यातो को प्रोत्साहन मिलेगा।

(4) मुद्रा का सकुचन—मुद्रा प्रसार के प्रभावो को कम करने के लिए मुद्रा का सकुचन करना होगा, जिसमे

मुद्रा के परिमाण में कमी कर दी जाती है, परिणामस्वरूप कीमतें व लागतें घटने लगती हैं जिससे देश बुरा विक्रय बाजार तथा अच्छा क्रय बाजार बन जाता है, फलस्वरूप निर्यात प्रोत्साहित एवं आयात हतोत्साहित हो जाते हैं।

(5) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से ऋण—भुगतान सन्तुलन की असाम्यता को दूर करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से ऋण लेकर व्यवस्था की जा सकती है, परन्तु यह एक अस्थिर एवं अस्थायी उपाय है जिस पर दीर्घकाल तक निर्भर नहीं रहा जा सकता।

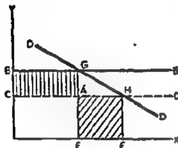
(6) आन्तरिक मूल्य स्तर को ऊँचा उठाना—देश में मूल्य स्तर नीचे गिरने पर वस्तुएं विदेशों में सस्ती हो जाती हैं, जिससे आन्तरिक मूल्य स्तर ऊंचा उठ जाएगा। यदि आयात किया जाए तो वह महंगा पड़ेगा, जिससे मूल्य स्तर बढ़ जाएगा। इस प्रकार उत्पादन को प्रोत्साहन मिलेगा तथा रोजगार बढ़कर मुद्रा संकुचन की स्थिति समाप्त हो जाएगी।

(7) मुद्रा की आन्तरिक व बाह्य कीमतों में समानता—देश में आन्तरिक मूल्य स्तर बढ़ने से मुद्रा का बाह्य मूल्य ऊंचा हो जाता है। इस प्रकार आन्तरिक एवं बाह्य मूल्य में समानता लाने के लिए उत्पादन लागत में कमी अथवा बाह्य मूल्य को कम करना होगा। उत्पादन लागत में कमी करना सरल न होने से अवमूल्यन द्वारा बाह्य मूल्य को कम किया जा सकता है।

(8) संरक्षण प्रदान करना—जब कोई अन्य राष्ट्र राशिपातन द्वारा उद्योग-धन्धों को नष्ट कर रहा हो तो इसे देश की मुद्रा के अवमूल्यन द्वारा ही रोका जा सकता है।

(9) व्यापार बढ़ा बनाए रखना—निर्यात व्यापार में अपनी पूर्व स्थिति को बनाए रखने के लिए भी मुद्रा का अवमूल्यन किया जाता है।

(10) भुगतान सन्तुलन की प्रतिकूलता सुधारना—अवमूल्यन से निर्यात में वृद्धि एवं आयात में कमी होकर असन्तुलन दूर हो जाता है। अवमूल्यन के ऋणात्मक एवं धनात्मक प्रभाव होते हैं जो कि निम्न चित्र द्वारा दिखाये जा सकते हैं—



चित्र में अवमूल्यन से पूर्व विनिमय दर AB है। इस दर पर निर्यात OE है और निर्यात का कुल मूल्य AEGB है। अवमूल्यन से विनिमय दर घटकर CC हो जाती है। इस दर पर निर्यात बढ़कर AF हो जाता है और कुल निर्यात मूल्य AFHC हो जाता है। यदि BCOG आयात का क्षेत्रफल EFHO आयात से कम है तो अवमूल्यन का प्रभाव धनात्मक होगा अन्यथा अधिक क्षेत्रफल होने पर प्रभाव ऋणात्मक होगा।

आवश्यक शर्तें

अवमूल्यन की सफलता के लिए निम्न आवश्यक शर्तों का पालन करना आवश्यक है—

(1) सहयोग करना—विदेशी राष्ट्र को चाहिए कि वह अवमूल्यन करने वाले राष्ट्र के साथ सहयोग करें तथा अवमूल्यन के प्रतिरोध उपायों का पालन न करें जैसे संरक्षण कर लगाना, आयात पर प्रतिबन्ध लगाना आदि।

(2) मांग लोचदार होना—अवमूल्यन की सफलता प्रायः विदेशी विनिमय की मांग एवं पूर्ति पर निर्भर करेगी। यदि लोच कम है तो अधिक मात्रा में अवमूल्यन करने की आवश्यकता होगी। यदि मांग बेलोच है तो अवमूल्यन करने से भुगतान सन्तुलन में साम्यता की स्थापना नहीं हो सकेगी। अवमूल्यन उसी समय सफल हो सकता है जबकि दोनों राष्ट्रों की मांग लोचदार हों। ऐसा करने से आयात में कमी एवं निर्यात में वृद्धि की जा सकेगी।

(3) अनुकूल प्रतिक्रिया—अवमूल्यन करने वाले राष्ट्र में मूल्यों में वृद्धि नहीं होनी चाहिए अन्यथा अवमूल्यन के प्रभाव व्यर्थ हो जाएंगे। अतः मूल्यों पर नियंत्रण लगाकर निर्यात होने वाली वस्तुओं के मूल्यों को पूर्व स्तर पर ही कायम रखना चाहिए।

1966 अवमूल्यन के कारण

1966 का अवमूल्यन निम्न कारणों का परिणाम था—

(1) बहु-विनिमय दर प्रणाली—बहु-विनिमय दर प्रणाली एक स्थायी उपचार के रूप में प्रयोग हो सकती थी, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का सदस्य होने के कारण भारत इसे स्थायी लक्षण नहीं बना सकता था। अतः अवमूल्यन ही श्रेष्ठ उपाय माना गया।

(2) अधिकृत विनिमय दर व बाजार विनिमय दर में अन्तर—रुपये की अधिकृत विनिमय दर 5 रु० = 1 डालर थी, परन्तु बाजार में 7.50 रु० 1 डालर के बराबर था। अतः दो बाजारों के विद्यमान होने से स्थिति बिगड़ रही थी जिसे अवमूल्यन में ही सुधारा जा सकता था।

(3) विदेशी मुद्रा का बढ़ता अन्तर—आयात बढ़ने से विदेशी मुद्रा की कमी बढ़ती गयी जिसे सुधारने हेतु आयातों को घटाना तथा निर्यातों को बढ़ाना आवश्यक था जो अवमूल्यन द्वारा ही सम्भव था।

(4) निर्यात प्रोत्साहन की विफलता—निर्यात प्रोत्साहन के कदम विफल होने से भुगतान-शेष में भारी असन्तुलन आ रहा था जिसे अवमूल्यन द्वारा ही ठीक किया जा सकता था।

(5) आयात में निरन्तर वृद्धि—कड़े नियंत्रण लगाने के बाद भी आयातों में निरन्तर वृद्धि हो रही थी। अवमूल्यन से आयात महंगे होने के कारण आयातों पर स्वतः ही रोक लग गयी।

(6) काला बाजारी पर रोक—देश में विदेशी वस्तुओं की मांग अत्यधिक बढ़ गयी थी, अतः काला बाजारी को रोकने के लिए अवमूल्यन का सहारा लिया गया।

(7) आंतरिक मूल्यों में वृद्धि—भारत में मूल्यों में निरन्तर वृद्धि हो रही थी, जिसे रोकने के लिए अवमूल्यन को आवश्यक समझा गया।

अवमूल्यन से लाभ

अवमूल्यन से प्राप्त होने वाले लाभों को निम्न प्रकार रखा जा सकता है :—

(1) आयात प्रतिस्थापन में वृद्धि—अवमूल्यन से आयात महंगे होने के कारण देश में आयात प्रतिस्थापन में वृद्धि होगी तथा पूंजी का आकर्षण ऐसे उद्योगों में बढ़ जाएगा।

(2) भ्रष्टाचार एवं गलत व्यवहार पर रोक—रुपये की क्रय शक्ति घटने के कारण भ्रष्टाचार विकसित हुआ तथा तस्करी व्यापार में निरन्तर वृद्धि हो रही थी, जिसे रोकना कठिन हो गया था। अतः यह आशा की गई कि अवमूल्यन के पश्चात् इन समाज-विरोधी क्रियाओं में कमी हो जायेगी।

(3) विदेशी राशि को प्रोत्साहन—अवमूल्यन द्वारा भुगतान सन्तुलन में वांछनीय परिवर्तन किए गए तथा यह आशा की गई कि विदेशी राशि को प्रोत्साहन मिलकर भुगतान सन्तुलन अनुकूल हो जाएगा। इसके प्रमुख कारण हैं— (i) देश में पर्याप्त मात्रा में विदेशी पूंजी आने लगेगी, (ii) भारत में विदेशी यात्रा सस्ती होने के कारण पर्यटकों की संख्या में वृद्धि होगी। (iii) विदेशी कम्पनियाँ अपने लाभों को देश में ही विनियोग करना अधिक उचित समझेंगी। विदेशों में विनियोजित धन भी वापस आने लगेगा।

(4) सरकारी आय में वृद्धि—अवमूल्यन की नीति अपनाकर सरकारी आय में वृद्धि होने की सम्भावनाएं बढ़ जाती हैं।

(5) विदेशी विनिमय का सशक्त होना—अवमूल्यन के द्वारा निर्यात को बढ़ाकर विदेशी विनिमय कोषों को सशक्त बनाया जा सकेगा।

(6) पक्षपूर्ण दरें—अवमूल्यन के पश्चात् विदेशी विनिमय दरें आयातों व निर्यातों पर लागू होने के अतिरिक्त अदृश्य प्राप्तियों पर भी लागू होंगी। देश में पूंजी व धन का आकर्षण बढ़ेगा तथा नवीन विनियोगों को प्रोत्साहन प्राप्त होगा।

(7) निर्यात को प्रोत्साहन—अवमूल्यन से यह आशा की गई कि इससे निर्यात प्रोत्साहित होकर देश की

अर्थव्यवस्था पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा। अवमूल्यन से औद्योगिक माल प्रोत्साहित होगा एवं कृषि निर्यातों की मात्रा में भी वृद्धि होगी।

(8) चतुर्थ योजना के लिए विदेशी सहायता—विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं ने भी चौथी योजना की सहायता के लिए अवमूल्यन की शर्त रखी थी, जिसे पूर्ण करना आवश्यक माना गया। इससे अधिक मात्रा में आर्थिक सहायता प्राप्त होने की संभावना थी।

अवमूल्यन की हानियां
(Disadvantages of Devaluation)

अवमूल्यन की हानियों को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(1) विदेशी ऋण भार में वृद्धि—अवमूल्यन से यह भय बना रहता है कि विदेशी ऋण भार एवं उसकी ब्याज का भार बढ़ जाएगा तथा पहले की तुलना में अधिक मात्रा में भुगतान करना होगा। पंचवर्षीय योजनाओं में जो विदेशी ऋण लिए गए हैं उनके भुगतान में अधिक धनराशि व्यय करनी होगी।

(2) प्रतिकूल व्यापार शर्तें—अवमूल्यन से व्यापार शर्तें प्रतिकूल हो जाएंगी क्योंकि आयातों का मूल्य बढ़ जाएगा तथा निर्यातों का मूल्य घट जाएगा।

(3) विदेशी विनियोगों का एकाधिकार—अवमूल्यन के साथ-साथ उदार आयात नीति को अपनाया गया तथा विदेशी पूंजी के आगमन पर से नियंत्रण हटा दिए गए, फलस्वरूप विदेशी विनियोग आकर्षित हुए, परंतु इससे विदेशी विनियोक्ताओं के एकाधिकार का क्षेत्र बढ़ गया।

(4) मूल्यों में वृद्धि—अवमूल्यन से मूल्यों में वृद्धि होने का भय बना रहता है, क्योंकि आयातों के मूल्य बढ़ जाते हैं जिससे उत्पादन लागत में वृद्धि हो जाती है। इससे देश के आर्थिक विकास में रुकावटें उत्पन्न हो जाती हैं।

(5) सरकारी व्यय में वृद्धि—विदेशी दूतावासों एवं अन्य सरकारी कार्यों पर जो व्यय किया जाता था, अवमूल्यन के पश्चात् उसमें पर्याप्त वृद्धि होने से सरकारी व्यय में वृद्धि हो जाएगी। इसके अतिरिक्त आयात हुई वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाने से भी योजनाओं का व्यय बढ़ जाएगा।

(6) शिक्षा पर कुप्रभाव—अवमूल्यन से विदेशी पुस्तकें, वैज्ञानिक उपकरण आदि महंगे होने के कारण शिक्षा पर व्ययों में वृद्धि होगी तथा विदेशों में अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों के लिए समस्या उत्पन्न हो जाएगी तथा पहले से अधिक मात्रा में धन व्यय करना होगा।

(7) तस्कर व्यापार—अवमूल्यन के परिणामस्वरूप तस्कर व्यापार घटने के स्थान पर बढ़ गया जो कि निश्चय ही एक गम्भीर समस्या थी।

अवमूल्यन के प्रभाव

अवमूल्यन के प्रभावों का निम्न प्रकार से अध्ययन किया जा सकता है—

(1) निर्यात में वृद्धि—अवमूल्यन के पश्चात् भारतीय माल विदेशों में सस्ता हो जाएगा तथा विदेशी बाजारों में माल की खपत बढ़ेगी। अवमूल्यन के वास्तविक लाभ प्राप्त करने के लिए 57.5% से अधिक निर्यात करने होंगे तथा पहले की तुलना में 36.5% से अधिक निर्यातों में वृद्धि करनी होगी। परंतु देश में उत्पादन में वृद्धि न होने के कारण अधिक मात्रा में माल का निर्यात संभव न हो सका। उत्पादन में वृद्धि करने के लिए पर्याप्त मात्रा में विदेशी उपकरण आदि आयात करने होंगे जिसके लिए अधिक भुगतान करना होगा जिससे निर्यात से प्राप्त होने वाले लाभ भी शून्य हो जाएंगे। इसके विपरीत कुछ वस्तुओं के निर्यातों में कमी हुई जैसे शक्कर, चमड़ा एवं कपड़ा आदि। इस प्रकार जर्मनी, ब्रिटेन, रूस को निर्यात घटे तथा जापान, लंका आदि को निर्यात बढ़े। परंतु नवम्बर 1967 में ब्रिटेन के पौण्ड के अवमूल्यन से इसको काफी धक्का लगा तथा ब्रिटेन को निर्यात 14% से महंगे हो गए हैं। भारत से इंजीनियरिंग व निर्मित माल का निर्यात बढ़ा है। इसके क्षेत्र में निर्यात बढ़ा व अमेरिका, कनाडा व साझा बाजार को निर्यात घटे। अवमूल्यन के लाभों

को प्राप्त करने के लिए चाय एवं जूट उद्योगों का आधुनिकीकरण करके निर्यातक उद्योगों के विकास के लिए विशेष प्रावधान करने होंगे। अवमूल्यन से इंजीनियरिंग सामान के निर्यात में काफी सफलता प्राप्त हुई है। निर्यातकों को खास सुविधायें देने से निर्यात में और अधिक वृद्धि होने की संभावनाएं हैं। चतुर्थ योजना में निर्यात में 7% वार्षिक से वृद्धि होने का अनुमान लगाया गया है। पंचम योजना में निर्यात बढ़ाने पर अधिक जोर दिया गया है।

(2) विदेशी ऋण भार पर प्रभाव—अवमूल्यन से विदेशी ऋणों एवं ब्याज के भार में वृद्धि हो जायेगी जिससे दायित्वों में वृद्धि होकर देश के आर्थिक विकास पर बुरा प्रभाव पड़ेगा।

(3) मूल्य-स्तर पर प्रभाव—जो उद्योग आयातित माल पर निर्भर हैं उनके मूल्यों में वृद्धि होने से अन्य वस्तुओं के मूल्य भी प्रभावित होंगे तथा देश में स्फीतिक परिस्थितियां उत्पन्न हो जायेंगी, जिन पर सरकार पूर्ण रूप से नियंत्रण नहीं कर सकेगी। मूल्य बढ़ने से महंगाई भत्ता बढ़ाना पड़ा जिससे उपभोक्ता वस्तुओं की मांग में वृद्धि हुई।

(4) नवीन निर्यातों को प्रोत्साहन—अवमूल्यन ने अनेक नवीन वस्तुओं के निर्यात को प्रोत्साहित किया जिसमें विदेशी बाजारों में बिक्री बढ़ी व विदेशी मुद्रा प्राप्त हुई।

(5) राष्ट्रीय आय पर प्रभाव—अवमूल्यन के बाद राष्ट्रीय आय में लगभग 20% से वृद्धि हुई, वास्तविक राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि हुई व आयात में कमी हुई है।

(6) पूंजी विनियोजन पर प्रभाव—अवमूल्यन का उद्देश्य आर्थिक विकास के लिए विदेशी विनियोगों को आकर्षित करना था, परंतु इस उद्देश्य में पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं हुई क्योंकि जितनी विदेशी राशि स्वीकृत की गई, उतनी प्राप्त न हो सकी तथा अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

(7) आयात पर प्रभाव—अवमूल्यन से आयात होने वाले सामान का मूल्य 57.5% से बढ़ गया, जिससे आयात घटकर स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग बढ़ा। विदेशों से आयातित माल की कीमतें बढ़ने से निर्मित वस्तुओं के मूल्य बढ़े। अतः आयातों पर प्रतिबंध लगाकर निर्यात में वृद्धि करके भुगतान संतुलन को पक्ष में किया जाना चाहिए। आयातों पर कठोर प्रतिबंध लगाना आवश्यक माना गया है।

निष्कर्ष—उपरोक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि—

(i) पर्याप्त सजगतापूर्ण दृष्टिकोण अपनाकर ही अवमूल्यन के लाभ प्राप्त किए जा सकते हैं।
(ii) अवमूल्यन के बाद सावधानी प्रयोग न करने से देश को दुष्परिणाम भुगतने होते हैं।
(iii) अवमूल्यन तत्कालीन परिस्थितियों का परिणाम माना जाता है।
(iv) अवमूल्यन स्वयं में कोई लक्ष्य न होकर, केवल समस्याओं का समाधान मात्र है।

अधिमूल्यन (Over-Valuation)

जब देश की मुद्रा इकाई की विनिमय दर को विनिमय बाजार की स्वतंत्र रूप से निर्धारित होने वाली विनिमय दर की तुलना में ऊंची दर पर निर्धारित किया जाये तो उसे अधिमूल्यन कहते हैं।

उद्देश्य (Objectives)

अधिमूल्यन के प्रमुख उद्देश्य निम्न हैं—

(1) विदेशी ऋण भार में कमी—मुद्रा का अधिमूल्यन करके विदेशी ऋण भार में कमी की जा सकती है तथा उसकी भुगतान व्यवस्था की जा सकेगी।

(2) देश का आर्थिक शोषण—देश का आर्थिक शोषण करने की दृष्टि से भी मुद्रा का अधिमूल्यन किया जाता है। परंतु यह उसी समय सफल हो सकेगा, जबकि दूसरे राष्ट्र अधिमूल्यन करने वाले देश से किसी भी मूल्य पर वस्तुओं को क्रय करने के लिए तत्पर हों।

(3) सस्ता आयात—मुद्रा का अधिमूल्यन करके विदेशों से सस्ता आयात प्राप्त किया जा सकता है तथा भुगतान संतुलन पर भी इसका विशेष प्रभाव नहीं पड़ेगा।

(4) विकास व्यय में कमी—अधिमूल्यन द्वारा कोई भी राष्ट्र अपने आर्थिक विकास संबंधी व्ययों में कमी

कर सकता है। नियोजन की सफलता के लिए आवश्यक मात्रा में मशीनें व अन्य उपकरण आयात किए जा सकेंगे तथा न्यूनतम व्यय पर ही देश के आर्थिक विकास को आगे बढ़ाया जा सकता है तथा आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त किया जा सकता है।

अधिमूल्यन के कारण

अधिमूल्यन की नीति के अपनाने के प्रमुख कारण निम्न हैं—

(1) **विशाल ऋण चुकाने पर**—यदि किसी राष्ट्र को विशाल मात्रा में ऋण चुकाने हों तो उसे अपनी मुद्रा का अधिमूल्यन करके लाभ प्राप्त करने चाहिए जिससे उसके भार में कमी की जा सके।

(2) **निर्यातों पर अत्यधिक निर्भरता**—यदि कोई देश निर्यातों पर अत्यधिक निर्भर हो, तो उस देश के लिए मुद्रा का अधिमूल्यन करना उचित माना जाता है, इससे देश को लाभ प्राप्त होते हैं।

(3) **विदेशों से भारी मात्रा में क्रय**—यदि युद्धकालीन तथा अन्य आपत्तिकालीन परिस्थितियों में अचानक ही विदेशों से भारी आयात करना पड़े तो अधिमूल्यन की नीति का सहारा लिया जा सकता है। पुनर्निर्माण कार्यों में भारी मात्रा में आयात करने पर अधिमूल्यन नीति का ही प्रयोग करना होगा।

(4) **मुद्रा प्रसार का सामना**—आन्तरिक मुद्रा प्रसार का सामना करने के लिए भी मुद्रा का अधिमूल्यन किया जाना चाहिए क्योंकि (i) इससे निर्यातों को प्रोत्साहन नहीं मिलता, (ii) विदेशी सामग्रियों की कीमतों को सस्ता कर देती है, (iii) इससे आयात प्रोत्साहित होकर लागत व्ययों में भी वृद्धि हो जाती है। अत: अधिमूल्यन द्वारा लागत को बढ़ने से रोका जाता है।

अवमूल्यन की भाँति अधिमूल्यन करना भी देश के आर्थिक विकास के लिए आवश्यक माना जाता है। अवमूल्यन के भीषण प्रतिकूल परिणाम प्राप्त होने पर देश में अधिमूल्यन की नीति का ही सहारा लिया जा सकता है।

चतुर्थ भाग

अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग

(INTERNATIONAL MONETARY COOPERATION)

21

अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष

(International Monetary Fund)

प्रारंभिक

स० रा० अमेरिका में स्वर्णमान के पतन के पश्चात् इंग्लैंड, फ्रांस एवं अमेरिका में जो त्रिपक्षीय समझौता हुआ। वह 3 सितम्बर, 1939 को द्वितीय महायुद्ध के प्रारंभ होते ही समाप्त कर दिया गया और विदेशी विनिमय के लेन-देन पर फ्रांस तथा इंग्लैंड ने बहुत कड़े प्रतिबंध लगा दिए। युद्धकाल में प्रारंभिक लेन-देनों तथा भुगतानों में अनेक कठिनाइयां उत्पन्न हुईं। अर्थशास्त्रियों के मस्तिष्क में प्रथम विश्वयुद्ध के अनुभव अभी स्पष्ट थे और चालू महायुद्ध समाप्ति के पश्चात् मुद्रा तथा विनिमय, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार तथा भुगतान, मूल्य-स्तर और अविकसित देशों के विकास की समस्याओं का पूर्वानुमान किया जा सकता था। द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व भी अंतर्राष्ट्रीय वित्त एवं व्यापार के क्षेत्र में अव्यवस्था होने से विश्व बाजार में उत्पन्न हुई कठिनाइयों को दूर करने के लिए महत्त्वपूर्ण कदम उठाना आवश्यक समझा गया। अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग के क्षेत्र में अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना एक अभूतपूर्व घटना है जो कि अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक संबंधों की दिशा में एक सचेत एवं उचित प्रयास था।

पृष्ठभूमि
(Background)

अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना 1944 में हुई परन्तु इसका उद्भव प्रथम विश्वयुद्ध के समय से ही प्रारंभ हो गया था। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष को जन्म देने वाली प्रमुख परिस्थितियां निम्न थीं—

(1) **अत्यधिक मुद्रा प्रसार**—युद्धकाल में प्रायः सभी राष्ट्रों ने अत्यधिक मात्रा में नोटों का निर्गमन किया, जो कि अपरिवर्तनशील थे। इस अत्यधिक मुद्रा प्रसार के कारण आर्थिक दशाएं बहुत बिगड़ गईं व मूल्यों में अत्यधिक वृद्धि हुई, जिससे विदेशी व्यापार पर बुरा प्रभाव पड़ा तथा आंतरिक व्यापार पर भी आघात पहुंचा।

(2) **धन व संपत्ति की बर्बादी**—युद्धकालीन अर्थ प्रबंधन में मानवीय धन व सम्पत्ति की बहुत ही बर्बादी एवं हानि हुई, जिससे बचने के लिए प्रत्येक राष्ट्र पुनर्वास एवं पुनर्निर्माण के कार्यक्रम निर्माण करने में व्यस्त था।

(3) *स्वर्णमान का परित्याग—प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व जिन राष्ट्रों में स्वर्णमान चलन में था उसे स्थगित* करना पड़ा तथा पुनः स्थापना के प्रयास विफल हो गए तथा राष्ट्रों की मौद्रिक परिस्थितियों में परिवर्तन होने के कारण वह जल्दी ही टूट गया। फलस्वरूप विश्व में विनिमय दरों में अस्थिरता उत्पन्न हो गई तथा विनिमय नियंत्रण की नीति का सहारा लिया गया।

(4) **स्वार्थपूर्ण आर्थिक नीति**—प्रत्येक राष्ट्र अपनी स्वार्थपूर्ण आर्थिक नीति अपनाने में संलग्न था। कुछ राष्ट्रों ने अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन करके निर्यातों में वृद्धि करने के प्रयास किए तथा आयातों पर नियंत्रण लगाने के प्रयास किये गये, जिससे मौद्रिक व्यवस्था में कटु प्रतियोगिता स्थापित हो गई।

(5) **प्रतिकूल नीति**—प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् विभिन्न राष्ट्रों ने रोजगार एवं आर्थिक स्थिरता के क्षेत्र में प्रतिकूल नीति को अपनाया। विश्व के अनेक राष्ट्रों ने अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा को अपनाया। मूल्यों में भारी उतार-चढ़ाव के कारण अंतर्राष्ट्रीय व्यापार करना असुविधाजनक हो गया तथा पारस्परिक समझौतों की सहायता से विनिमय दरें

निश्चित की गयी।

(6) गलाकाट प्रतिस्पर्धा—आर्थिक अस्थिरता के कारण विभिन्न राष्ट्रों में गलाकाट प्रतिस्पर्धा हो रही थी, जिससे विनिमय दर अस्थिर हो गई तथा सभी राष्ट्रों के व्यापार में कमी हो गई।

(7) खराब अर्थव्यवस्था—विश्व के विभिन्न राष्ट्रों में द्वितीय विश्वयुद्ध से स्थिति अत्यन्त खराब हो गयी थी, जिसे अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना से ही दूर किया जा सकता था।

(8) पुनर्वास व पुनर्निर्माण की समस्याएं—युद्ध के कारण विश्व के राष्ट्रों में पुनर्वास एवं पुनर्निर्माण की समस्याएं उत्पन्न हो गयीं जिसने अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग को आवश्यक बना दिया।

(9) दोषपूर्ण विनिमय दर प्रतिबंध—विनिमय दर पर लगाए गये प्रतिबंध अत्यन्त दोषपूर्ण थे जिसके स्थान पर अंतर्राष्ट्रीय उपाय अपनाना आवश्यक समझा गया।

(10) विभिन्न विनिमय दरें—1930 में विश्व के राष्ट्रों द्वारा विभिन्न प्रकार के व्यवहारों के लिए भिन्न-भिन्न विनिमय दरें अपनाई गईं जिसने अनेक बुराइयों को जन्म दिया।

(11) अंतर्राष्ट्रीय व्यापार पर प्रतिबंध—द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् अंतर्राष्ट्रीय व्यापार पर अनेक प्रकार के प्रतिबंध लगाये गये जिसने अनेक व्यापारिक एवं आर्थिक समस्याओं को प्रेरित किया। इन समस्याओं के समाधान के लिए अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था को अपनाना आवश्यक समझा गया, क्योंकि उत्पादन एवं विश्व व्यापार में अत्यन्त कमी हो गई थी तथा भुगतान के लिए अंतर्राष्ट्रीय इकाई का अभाव था। अतः अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि करने के लिए यह आवश्यक समझा गया कि एक ऐसे वित्तीय यंत्र की स्थापना की जाये जो कि अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सहयोग प्रदान कर सके तथा आर्थिक स्थिरता लाने में सहयोग प्रदान कर सके।

संक्षिप्त ऐतिहासिक विवरण

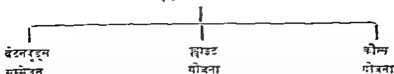
अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के इतिहास को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(1) ब्रेटनवुड्स सम्मेलन (Brettonwoods Conference)—द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व विश्व की असंतोषजनक स्थिति पर विचार करने के उद्देश्य से सं० रा० अमेरिका ने विश्व के कुछ राष्ट्रों के साथ मिलकर ऐसी अंतर्राष्ट्रीय योजनाएं बनाने पर ध्यान दिया जो अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में सहयोग दे सकें। इस समय अमेरिका में अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग के लिए हेरी डी० व्हाइट (Harry D White) एवं हुल (Hull) अग्रणी थे, उधर दूसरी ओर ग्रेट ब्रिटेन में भी इन समस्याओं पर विचार किया जा रहा था। अतः अगस्त 1942 में वाशिंगटन में स्थित ब्रिटिश दूतावास में अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर कीन्स योजना का निर्माण हो रहा था। सं० रा० अमेरिका के प्रस्तावों को व्हाइट योजना (White Plan) के नाम से जाना गया। इनके संबंध में अमेरिकी एवं ब्रिटिश विशेषज्ञों के मध्य अनेक विचार-विमर्श हुए।

(2) व्हाइट योजना—इसमें अमेरिकी सरकार का दृष्टिकोण व्यक्त किया गया। इस योजना को 10 जुलाई, 1943 में प्रकाशित किया गया।

(3) कीन्स योजना—यह योजना 8 अप्रैल, 1943 को जे० एम० कीन्स द्वारा प्रस्तुत की गई। इसमें एक ऐसी प्रणाली को स्थापित करने की सिफारिश की गई जिसमें अंतर्राष्ट्रीय बैंकिंग पद्धति को अपनाकर दीर्घकालीन पूंजी के विनियोजन की व्यवस्था की जा सके।

दोनों योजनाओं में समानता थी, जिसमें स्वर्ण के रूप में एक अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा इकाई की व्यवस्था की गई। आपसी मतभेदों को दूर करने के लिए अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन एवं कुछ अन्य राष्ट्रों के मध्य अप्रैल, 1944 में समझौता हुआ। जुलाई, 1944 में आयोजित करने वाले सम्मेलन के लिए राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने 44 राष्ट्रों को आमंत्रित किया। ब्रेटनवुड्स के सम्मेलन में दो अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्थाओं की रचना की गई—अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष एवं अंतर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक।



स्थापना—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना का निर्णय 22 जुलाई, 1944 को किया गया। 27 दिसम्बर, 1945 को 30 देशों ने समझौता-पत्र पर हस्ताक्षर किए और कोष को वैधानिक रूप मिला। इस कोष द्वारा वास्तविक व्यवहार 1 मार्च, 1947 को प्रारंभ किया गया।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के उद्देश्य

मुद्रा-कोष के प्रमुख उद्देश्य निम्न हैं—

(1) बहुपक्षीय व्यापार पद्धति—यह कोष बहुपक्षीय व्यापार समझौतों को विकसित करने की सुविधाएं देगा।

(2) विनिमय नियंत्रणों को हटाना—यह कोष विनिमय नियंत्रणों को निरुत्साहित करके अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ायेगा। कोष की अनुमति के बिना अन्तर्राष्ट्रीय हस्तांतरण पर कोई प्रतिबंध नहीं लगेगा।

(3) विषमता को दूर करना—भुगतान संतुलन की विषमता को दूर करने के लिए कोष सदस्य राष्ट्रों को मौद्रिक सहायता देगा।

(4) संतुलित विकास में सहायता—सभी राष्ट्रों में रोजगार एवं आय के स्तर को ऊंचा करने के उद्देश्य से यह कोष देश के संतुलित विकास में सहायता प्रदान करेगा।

(5) पूंजी का विनियोजन—कोष का उद्देश्य लाभप्रद कार्यों के पूंजी के विनियोजन को प्रोत्साहित करना है।

(6) संकट काल में सहायता—कोष का उद्देश्य सदस्य राष्ट्रों को संकट काल में मौद्रिक सहायता प्रदान करना है।

(7) विनिमय दरों में स्थायित्व—अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास के लिए यह कोष विनिमय दरों में स्थायित्व लाने का प्रयास करेगा तथा इसके लिए आवश्यक कार्यवाही की जायेगी।

(8) मौद्रिक सहयोग—अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मौद्रिक सहयोग को बढ़ाने के उद्देश्य से यह कोष आर्थिक समस्याओं को सुलझाने के प्रयास करेगा।

मूल-सिद्धांत

अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के प्रमुख सिद्धांत निम्न हैं—

(1) विनिमय दर में समायोजन—विनिमय दरों में आपसी समायोजन करने के लिए कोष की सहमति प्राप्त करना आवश्यक माना गया।

(2) वित्तीय स्रोत—मुद्रा-कोष के अपने वित्तीय स्रोत होते हैं जो कि सुरक्षापूर्ण शर्तों के अधीन किसी भी सदस्य को प्रदान किए जा सकते हैं। इसमें सदस्य अपनी मुद्रा को विदेशी मुद्रा में परिवर्तित कर सकता है।

(3) मंदी पर रोक—मुद्रा-कोष के सदस्य राष्ट्र इस बात पर सहमत थे कि वे मुद्रा में मंदी को रोकने के हर संभव प्रयास करेंगे जिसे सिद्धांत के रूप में स्वीकार किया गया।

(4) निर्देशकों का प्रयोग—इस कोष को 14 निर्देशकों द्वारा शासित किया जाता है, जिनमें से 5 की नियुक्ति सं० रा० अमेरिका, चीन, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस व भारत द्वारा की जाती है, शेष का चुनाव अन्य सदस्यों द्वारा किया जाता है।

(5) सरकारों से संबंध—यह कोष केवल सरकारों से ही संबंध रखता है और इसका विनिमय बाजार से कोई संबंध नहीं है।

(6) बहुपक्षीय व्यवस्था—विनिमय के लेन-देनों पर से प्रतिबंध हटाकर स्वतंत्र बहुपक्षीय व्यवस्था कायम की जायेगी, जिससे किसी भी मुद्रा को सरलता से दूसरी मुद्रा में परिवर्तित किया जा सके।

(7) स्वर्ण में व्यक्त—सदस्यों की मुद्राओं को स्वर्ण में व्यक्त करने की सुविधाएं प्रदान की गयीं।

(8) विनिमय दर में स्थायित्व—समस्त सदस्य राष्ट्र विनिमय दरों में स्थायित्व लाने के प्रयास करेंगे तथा उसमें परिवर्तन भी एक सीमा तक ही होने देंगे।

कोष का संगठन एवं प्रबंध व्यवस्था

कोष के संगठन एवं प्रबंध से संबंधित मुख्य बातें निम्न हैं—

(1) सदस्यता—जिन राष्ट्रों ने 31 दिसम्बर, 1945 से पूर्व इस कोष की सदस्यता स्वीकार की, वह इसके मूल सदस्य कहलाते हैं। कोई भी सदस्य आवश्यक सूचना देकर सदस्यता का परित्याग कर सकता है। वर्तमान समय में इस कोष के 127 राष्ट्र सदस्य हैं।

(2) पूंजी व्यवस्था—प्रत्येक सदस्य का पूंजी का कोष निश्चित कर दिया जाता है, जिसमें परिवर्तन कुल मतों का 80% पक्ष में होने पर ही किया जा सकता है। प्रत्येक राष्ट्र को कुछ राशि स्वर्ण में व शेष अपनी राष्ट्रीय मुद्रा में देनी पड़ती है। स्वर्ण की मात्रा कोटे के 25% या कुल डालर कोष के 10% जो भी कम हो, के बराबर होगी। शेष भाग स्वदेशी मुद्रा में दिया जायेगा।

(3) प्रधान कार्यालय—जिस देश का कोटा सबसे अधिक हो, वहां इसका प्रधान कार्यालय रहेगा। इस समय यह कार्यालय स० रा० अमेरिका में है। कोष का केंद्रीय कार्यालय वाशिंगटन (डी० सी० 20, 431) में स्थित है। इसके अन्य कोई कार्यालय नहीं हैं। कोष के कार्यों को अधिकतम 120 दिनों के लिए स्थगित किया जा सकता है।

(4) प्रबंध मंडल—कोष की प्रबंध व्यवस्था के लिए संचालक मंडल, गवर्नर मंडल एवं अन्य स्टाफ होता है। इसमें प्रत्येक सदस्य राष्ट्र द्वारा एक गवर्नर व एक यथाक्रम गवर्नर (Alternate governor) नियुक्त किया जाता है। यह नियुक्ति 5 वर्ष के लिए की जाती है। संचालक मंडल में 12 सदस्य होते हैं जिसमें 5 सदस्य स्थायी होते हैं। संचालकों की सहायता के लिए उप-संचालकों की भी नियुक्ति की जाती है।

(5) मताधिकार—मुद्रा-कोष के सामान्य निर्णय बहुमत के आधार पर लिए जाते हैं। यह बहुमत, सदस्य संख्या द्वारा न होकर कुल मताधिकार द्वारा निर्धारित हो जाता है। प्रत्येक सदस्य को 200+ एक मत प्रति लाख डालर अभ्यंश का अधिकार होता है। वर्तमान समय में भारत का मताधिकार 9,650, अमेरिका का 67,250, ब्रिटेन का 28,250, जर्मनी का 16,250, फ्रांस का 15,250, है।

कोष की कार्य-विधि

मुद्रा-कोष के पास विभिन्न राष्ट्रों की मुद्रा एवं स्वर्ण के रूप में अपार पूंजीगत साधन होते हैं। कोष की कार्य प्रणाली इस प्रकार की है कि उसमें विदेशी विनिमय में न्यूनतम उच्चावचन हो तथा बहुपक्षीय व्यापार पद्धति के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि हो सके। कोष की कार्य प्रणाली की प्रमुख विशेषताएं निम्न हैं—

(1) परिवर्तन की सुविधा—कोष द्वारा विनिमय दरों को परिवर्तन करने की सुविधाएं प्रदान की गई हैं जो कि निम्न प्रकार हैं—

(i) परामर्श लेना—किसी भी देश द्वारा अपनी मुद्रा के मूल्य में 10% तक कमी या वृद्धि करने के लिए उसे मुद्रा-कोष से केवल परामर्श लेना होगा जिसके लिए कोष मना नहीं कर सकता।

(ii) स्वीकृति—यदि परिवर्तन 10% से अधिक करना हो तो कोष से स्वीकृति लेनी होगी। 20% तक परिवर्तन की स्वीकृति कोष द्वारा 72 घंटों में दे दी जायेगी।

(iii) बहुमत—यदि 20% से भी अधिक परिवर्तन करना है तो इसकी अनुमति का निर्णय $\frac{2}{3}$ बहुमत से लिया जायेगा।

(iv) आनुपातिक परिवर्तन—कोष सभी राष्ट्रों की मुद्राओं में आनुपातिक परिवर्तन ला सकता है। यदि कोई राष्ट्र असंतुष्ट है तो उसे इसकी सूचना 72 घंटों के अंदर कोष को दे देनी चाहिए, जिससे विनिमय दर में परिवर्तन न किया जा सके।

(2) **विदेशी मुद्रा पर प्रतिबंध**—मुद्रा-कोष के पास पर्याप्त मात्रा में कोष बना रहे, इसके लिए विदेशी मुद्रा पर प्रतिबंध लगाते हुए निम्न व्यवस्था की गयी है—

(i) *मुद्रा की मात्रा*—कोष के पास किसी भी समय मुद्रा की मात्रा उसके कोटे के 200% से अधिक नहीं होनी चाहिए।

(ii) *खरीद की सीमा*—कोई भी राष्ट्र 12 माह की अवधि में कोष से अपनी मुद्रा के बदले में अपने कोटे की राशि के 25% से अधिक नहीं खरीद सकता।

(iii) *बढ़ी ब्याज दर*—मुद्रा-कोष का ऋण बढ़ने पर ऋणी सदस्य को बढ़ी दर से ब्याज दर देनी होगी।

(iv) *समुचित उपयोग*—ऋण का समुचित उपयोग हो व कोष के उद्देश्य भी पूर्ण हों, इसके लिए कोष के कार्यों पर अनेक प्रकार के प्रतिबंध लगाये गये हैं।

(3) **स्वर्ण का स्थान**—प्रत्येक राष्ट्र को अपने कोटे का 25% या स्वर्ण कोष का 10% स्वर्ण कोष में जमा करना पड़ता है। किसी भी राष्ट्र की मुद्रा के अभाव होने पर कोष स्वर्ण देकर उसे खरीद सकता है। इस प्रकार स्वर्ण को विनिमय दरों एवं अंतर्राष्ट्रीय मूल्य स्तर का आधार बना दिया गया है। बाद में यह व्यवस्था की गयी कि प्रत्येक देश अपने अभ्यंश का 25% स्वर्ण में चुकाने का उत्तरदायी होगा।

(4) **सुविधाएं**—*युद्धकालीन अर्थव्यवस्था को शांतिकालीन व्यवस्था में परिवर्तित करने के लिए सदस्य राष्ट्रों* को विनिमय नियंत्रण जारी रखने की छूट दी गई तथा यह आशा की गई कि यह नियंत्रण शीघ्रातिशीघ्र हटा दिये जायेंगे।

(5) **आय का वितरण**—कोष की आय का प्रथम 2% भाग उन लेनदार राष्ट्रों को दिया जाता है, जिनकी मुद्रा-कोष के पास उनके कोटे के $\frac{3}{4}$ से कम रहती है। शेष भाग को सदस्यों में उनके कोटे के अनुपात में उनकी ही मुद्रा में वितरित कर दिया जाता है।

(6) **केंद्रीय बैंक का बैंक**—मुद्रा-कोष को केंद्रीय बैंक का बैंक कहा जाता है क्योंकि सदस्य देशों के केंद्रीय बैंक को एक स्थान पर एकत्रित कर लिया जाता है।

(7) **साधनों को तरल रखना**—मुद्रा-कोष को अपने साधनों को तरल रूप में रखना आवश्यक है और इसके लिए निम्न उपाय किये जा सकते हैं :—

(i) कोष के पास सदस्य देश की अधिक मुद्रा होने पर उसे स्वर्ण देकर खरीदा जा सकता है।

(ii) सदस्य स्वर्ण के बदले कोई भी विदेशी मुद्रा क्रय कर सकते हैं।

(iii) कोष के पास रखी मुद्रा का कुछ भाग प्रत्येक राष्ट्र को स्वर्ण देकर पुनः क्रय करना होगा।

(8) **ऋण व्यवस्था करना**—मुद्राओं के सममूल्य में घटा-बढ़ी को रोकने हेतु कोष भुगतान की विषमता को सुधारने में सहायता देना है तथा उस राष्ट्र को पर्याप्त मात्रा में विदेशी मुद्रा को चुका देता। किसी देश की घरेलू वित्त नीति में अस्थिरता होने पर कोष समझाता बुझाता है।

(9) **स्वर्ण द्वारा मुद्रा मूल्य का निर्धारण**—*सदस्य बनने पर प्रत्येक राष्ट्र को सोने में अपनी मुद्रा का स्वर्ण*-मूल्य निश्चित करना पड़ता है जिससे आपसी विनिमय दर निर्धारण में कोई कठिनाई न हो। इस प्रकार स्वर्ण विभिन्न राष्ट्रों की मुद्राओं के विनिमय का सम-मूल्य हो गया। इसकी सीमाएं निश्चित कर दी जाती हैं जिनके बीच में ही कोई सदस्य देश अपनी मुद्रा का अवमूल्यन या अधिमूल्यन कर सकेगा। इससे विनिमय दरों की स्थिरता स्थापित होने में बड़ा लाभ प्राप्त हुआ है। विनिमय दरों में स्थिरता से आर्थिक विकास के सफल प्रयास किए जा सकते हैं।

मुद्रा-कोष के आर्थिक साधन
(Economic Resources of the I. M. F.)

मुद्रा-कोष का सदस्य बनने से पूर्व उस देश का अभ्यंश निश्चित हो जाता है। अभ्यंश में परिवर्तन 80% मताधिकार पक्ष में होने पर ही संभव हो सकता है। समझौता व्यवस्था में यह प्रावधान है कि स्वर्ण भाग का 40% भाग अमेरिका के अतिरिक्त 4 अन्य देशों में रहेगा जिनके नाम ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रांस व भारत हैं। केंद्रीय बैंक में मुद्रा-कोष

का एक खाता खोल दिया जाता है। अभ्यंशों के संबंध में हर पाचवें वर्ष पुनर्विचार किया जाता है। अभ्यंशो में परिवर्तन 15 सितंबर, 1959 को 50% से वृद्धि की गयी। 1966 में अभ्यश 25% बढ़ा दिए गए। मई 1970 में अभ्यंशो में तीसरी वृद्धि की गयी। मुद्रा-कोष में मुख्य राष्ट्रों के अभ्यश निम्न प्रकार हैं—

मुद्रा-कोष में अभ्यश

देश	प्रारंभिक अभ्यश	1970 के बाद अभ्यश (मि० डालर में)
भारत	400	940
जापान	—	1200
जर्मनी	330	1600
फ्रांस	525	1500
चीन	550	550
ब्रिटेन	1300	2800
अमेरिका	2750	6700

कार्यप्रणाली
(Working)

उद्देश्यों को सामने रखते हुए इस कोष के प्रमुख कार्य निम्न थे—

(1) समता विनिमय दरों का निर्धारण—विश्वयुद्ध ने अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को अस्त-व्यस्त कर दिया था अतः यह आवश्यक समझा गया कि विनिमय दरो में समता स्थापित करके ही पुनर्रचना के कार्य में सहायता मिल सकेगी। अवमूल्यन की रीति को उचित नही माना गया क्योंकि इससे राजनीतिक अव्यवस्था उत्पन्न होने के भय बने रहते थे। दिसबर, 1946 में विनिमय दरो को स्वीकृत किया गया जो 32 राष्ट्रों की विनिमय दरों में निर्धारण किया गया। समता दरो से संबंधित किसी भी प्रस्ताव को कोष द्वारा अस्वीकार नही किया गया। इस प्रकार विनिमय दरों के स्थायित्व की ओर भी उचित ध्यान दिया गया।

(2) विनिमय दर समायोजन—इस संबंध में कोष ने 1948 में फ्रांस के फ्रांक का तथा 1949 में ब्रिटेन के पौंड स्टर्लिंग का अवमूल्यन किया। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् फ्रांस की अंतर्राष्ट्रीय स्थिति बिगड़ जाने से 1948 में अव-मूल्यन को स्वीकार किया गया जिससे निर्यात बढ़े तथा फ्रांक की माग बढ़ी। इसी प्रकार 18 सितंबर, 1949 को पौंड का 30.5% से अवमूल्यन किया गया। उसके पश्चात् विभिन्न अन्य राष्ट्रों की मुद्राओं का अवमूल्यन हुआ। इससे अंतर्राष्ट्रीय भुगतान का ढंग अधिक सतुलित हो गया।

(3) तकनीकी सहायता—विभिन्न सदस्य राष्ट्रों की समस्याओं को सुलझाने के लिए कोष ने तकनीकी सहायता की सुविधाएं प्रदान कीं। इसमें कोष के कर्मचारी सदस्य देशों को परामर्श देते हैं तथा कोष बाह्य विशेषज्ञों की भी सेवाएँ प्रदान करने के सफल प्रयास करता है।

(4) अल्पकालीन सहायता—भुगतान संतुलन की कठिनाइयों वाले राष्ट्रों को मुद्रा द्वारा अल्पकालीन सहायता प्रदान की गई। मुद्राओं के लेन-देन की सीमित मात्रा होने के प्रमुख कारण निम्न थे—

(i) अमेरिका द्वारा सहायता—संयुक्त राष्ट्र अमेरिका विश्व के विकासशील राष्ट्रों को व्यापक रूप से आर्थिक सहायता देने को तत्पर था, जिससे मुद्रा-कोष पर अतिरिक्त भार में कमी हो गई।

(ii) सतुलन के घाटे—युद्धोत्तर काल में संतुलन के घाटे बढ़ रहे थे जिससे कोष के साधनों का उचित प्रयोग नही हो रहा था। घाटे की स्थिति को सुधारने के उद्देश्य से विनिमय नियंत्रण की नीति अपनाई गई जिससे मुद्राओं को कम मात्रा में खरीदने की आवश्यकता हुई।

(iii) प्रतिबंधों का प्रयोग—सदस्य राष्ट्रों को स्रोत उपलब्ध कराने में प्रतिबंधों के प्रयोग के कारण मुद्रा का लेन-देन सीमित मात्रा में हुआ।

(5) **साधनों का प्रयोग**—मुद्रा-कोष के सदस्यों को सीमित रूप में ही साधन उपलब्ध कराए जाते हैं। कोष के साधनों का प्रयोग सदस्य राष्ट्रों द्वारा भुगतान संतुलन की अस्थाई घाटे की व्यवस्था को ठीक करने के लिए उपयोग किया जाता है। सहायता प्राप्त न होने पर विनिमय नियंत्रण की विधि को प्रयोग में लाया जाता है।

(6) **ऋण पर ब्याज**—कोष द्वारा सदस्य राष्ट्रों को जो ऋण दिया जाता है उस पर ब्याज भी ली जाती है। ब्याज से सम्बन्धित प्रमुख व्यवस्था निम्न प्रकार है:—

(i) **25 प्रतिशत तक ऋण**—यदि ऋण अपने कोटे के 25% तक ही लिया जाये तो प्रथम 3 माह तक कोई ब्याज नहीं लगेगा, परन्तु अगले 9 माह के लिए प्रतिवर्ष $\frac{1}{2}\%$ से ब्याज लिया जाएगा जो प्रतिवर्ष $\frac{1}{2}\%$ से बढ़ता जाएगा।

(ii) **धन की मात्रा**—कोटे से अधिक ऋण लेने पर प्रत्येक 25% अधिक पर प्रथम वर्ष $\frac{1}{2}\%$ और अगले वर्षों में अतिरिक्त $\frac{1}{2}\%$ ब्याज लिया जाएगा।

(iii) **25 व 50% तक ऋण**—यदि ऋण अपने कोटे के 25 व 50% तक के मध्य लिया जाता है तो आने वाले प्रत्येक वर्ष में $\frac{1}{2}\%$ अतिरिक्त ब्याज लिया जायेगा।

इस प्रकार ब्याज की सीमा 5% तक निर्धारित की गई है। वर्तमान समय में ब्याज की दर 7.25% है। ब्याज का भुगतान स्वर्ण के रूप में ही किया जाता है। यदि मौद्रिक प्रतिभूतियाँ उनके कुल कोटे के आधे से भी कम हैं तो कुछ भाग का भुगतान स्वर्ण में तथा शेष का भुगतान अपने देश की ही मुद्रा में किया जायेगा।

(7) **विनिमय प्रतिबंध**—सदस्यों का यह दायित्व है कि वह विनिमय के लेन-देन प्रतिबंधों को दूर करें तथा उन्हें बनाये रखने के लिए उसे कोष से परामर्श लेना चाहिए। कोष का उद्देश्य विदेशी विनिमय के प्रतिबंधों को समाप्त करना है जिससे विश्व व्यापार में प्रगति की जा सके। अतः भुगतान संतुलन की परिस्थितियों में सुधार लाने की दृष्टि से प्रतिबंधों को हटाया जाना अत्यन्त आवश्यक हो गया है।

(8) **प्रशिक्षण व्यवस्था**—कोष द्वारा सदस्य राष्ट्रों के प्रतिनिधियों को प्रशिक्षण की व्यवस्था भी की गई है और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए 1964 में एक प्रशिक्षणालय स्थापित किया गया। यह प्रशिक्षण आर्थिक विकास, बैंक संचालन, अंतर्राष्ट्रीय भुगतान, वित्तीय व्यवस्था एवं विश्लेषण संबंधी बातों से संबंधित होता है। प्रशिक्षण अंग्रेजी एवं अन्य भाषाओं में प्रदान किया जाता है।

लिए किया जायेगा, जिस उद्देश्य के लिए इस कोष की स्थापना की गई है। इसका उपयोग अन्य कार्यों में नहीं किया जा सकेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष एवं स्वर्णमान

मुद्रा कोष में प्रत्येक सदस्य राष्ट्र को अपने कोटे का 25% या अपने स्वर्ण कोषों का 10% भाग स्वर्ण में जमा कराना आवश्यक होता है। सदस्य राष्ट्रों की मुद्राओं के सममूल्य स्वर्ण में घोषित किए जाते हैं। इनके मूल्यों में एक निश्चित सीमाओं के अन्दर ही परिवर्तन करने की आज्ञा दी जाती है। स्वर्ण का मूल्य 35 डालर प्रति औंस निश्चित किया गया है। यदि कोष के पास किसी मुद्रा का अभाव हो तो वह उसे स्वर्ण के बदले में क्रय कर सकता है। कोष के साथ सदस्य राष्ट्रों द्वारा व्यवहार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि स्वर्णमान एवं कोष योजना एक-दूसरे से संबंधित हैं। इसके विपरीत मुद्रा कोष को स्वर्णमान से भिन्न भी माना जाता है और इस संबंध में निम्न तर्क दिए जाते हैं—

(1) मुद्रा संकुचन विचार तर्करहित—स्वर्ण खोने वाले राष्ट्र में मुद्रा संकुचन की स्थिति उत्पन्न होना स्वाभाविक माना जाता है, परन्तु ऐसा होना आवश्यक नहीं है क्योंकि मुद्रा संकुचन संबंधी विचार तर्कसंगत नहीं है।

(ii) स्वर्ण आधार नहीं—मुद्रा-कोष योजना में स्वर्ण को स्वर्णमान की भांति आधार नहीं माना जा सकता क्योंकि इसमें एक निश्चित सीमाओं के अन्तर्गत आवश्यक परिवर्तन किये जा सकते हैं।

(iii) भुगतान संतुलन में साम्य—आधिक्य एवं घाटे वाले दोनों ही प्रकार के राष्ट्रों से यह अनुरोध किया जाता है कि भुगतान संतुलन में साम्य स्थापित किया जाये। परन्तु स्वर्णमान में इस प्रकार के समायोजन करने की व्यवस्था नहीं थी। इस प्रकार इस कोष की योजना स्वर्णमान की तुलना में बिल्कुल विपरीत ढंग से कार्य करती है।

स्वर्णमान की तुलना में मुद्रा-कोष योजना निश्चय ही श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वर्णमान में देश की आंतरिक एवं बाह्य मौद्रिक नीतियों में संघर्ष होने लगता था। मुद्रा-कोष में किसी भी राष्ट्र को अपनी मुद्रा का संकुचन या प्रसार करने की आवश्यकता नहीं होती। विनिमय दरों में भी आवश्यकतानुसार समायोजन किया जा सकता है। स्वर्णमान के टूटने के पश्चात् विश्व के अधिकांश राष्ट्रों ने पत्र-मुद्रा मान को अपनाया, परन्तु मुद्रा कोष ने विनिमय दरों के परिवर्तनों को भी सीमित करके पत्र-मुद्रा की हानियों से बचाया।

मुद्रा-कोष की सफलताएं

मुद्रा-कोष की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य आर्थिक कठिनाइयों को दूर करके आर्थिक विकास की दर को बढ़ाकर पूर्ण रोजगार की व्यवस्था करना था। मुद्रा-कोष की सफलता को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(1) भुगतान की व्यवस्था—मुद्रा-कोष की स्थापना के समय सभी राष्ट्रों के विदेशी विनिमय कोष घट रहे थे और उन्होंने विनिमय नियंत्रण लगाकर विदेशी व्यापार की मात्रा को कम कर दिया था। अतः स्थिति को सुधारने के लिए मुद्रा-कोष ने विदेशी मुद्रा में ऋण लेने की योजना का निर्माण किया। इसका लाभ यह हुआ कि एक ओर तो ऋण लेने वाले राष्ट्रों की विदेशी विनिमय स्थिति सुदृढ़ हो गई तथा दूसरी ओर उन्हें अधिक सहायता प्राप्त होने की सम्भावना बढ़ गई। इस प्रकार अन्य राष्ट्रों के पास जो मुद्राओं के भण्डार थे, उनके बदले में निश्चित दर पर कोई भी मुद्रा क्रय की जा सकती थी। इस प्रकार बहुमुखी भुगतान व्यवस्था में विदेशी विनिमय में वृद्धि होकर विदेशी व्यापार में वृद्धि हुई।

(2) अन्तर्राष्ट्रीय तरलता—1963 में अन्तर्राष्ट्रीय तरलता को ध्यान में रखते हुए 'विशेष आहरण अधिकार' योजना प्रारंभ की गई जिसे स्वर्ण की भांति उपयोग किया जा सकता था। इस प्रकार 1 जनवरी, 1970 में सदस्य राष्ट्रों को 350 करोड़ डालर का इस प्रकार का अधिकार दिया गया है।

(3) विनिमय दरों में स्थायित्व—मुद्रा-कोष ने विभिन्न सदस्य राष्ट्रों के विनिमय दरों में स्थायित्व लाने के प्रयास किये। सन् 1969 तक 104 राष्ट्रों की मुद्राओं की समता दरें निश्चित की गयी तथा आवश्यकता पड़ने पर इन दरों में परिवर्तन करने की सुविधाएं भी प्रदान की जाती हैं। 1944 में फ्रांस ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन किया

तथा 1949 तक इंगलैंड सहित 28 राष्ट्रों ने अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन किया जो राष्ट्रों के लिए अनुकूल एवं आवश्यक था। इस प्रकार अनेक प्रयासों द्वारा मुद्रा कोष ने विनिमय दरों में स्थायित्व लाने के प्रयास किये। 1970 तक सभी देशों की समता दरें निश्चित हो चुकी थीं। 1971 एवं 1973 में डालर संकट के कारण विनिमय दरों का सारा ढांचा अस्त-व्यस्त हो गया है।

(4) अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण विनिमय मान—मुद्रा-कोष की स्थापना के फलस्वरूप अंतर्राष्ट्रीय स्वर्ण विनिमय मान की स्थापना हुई, जिसमें प्रत्येक राष्ट्र अपनी मुद्रा का मूल्य स्वर्ण में घोषित करता है। कोष ने 35 डालर को 1 औंस स्वर्ण के बराबर माना है। स्वर्ण के क्रय-विक्रय की सुविधा के लिए कोष ने 1952 में एक 'स्वर्ण-व्यवहार सेवा' (Gold Transactions Service) को प्रारंभ किया जिसमें माल बेचने में सुविधा हो गई।

(5) स्वर्णमान के लाभ—कोष के निर्माण के फलस्वरूप विश्व में स्वर्णमान की स्थापना के बिना ही स्वर्णमान संबंधी समस्त लाभ प्राप्त हुए।

(6) तकनीकी सहायता—कोष ने विश्व के अनेक भागों में तकनीकी सहायता के कार्यक्रम बनाए। इसके अतिरिक्त सदस्य राष्ट्रों को अनेक मौद्रिक विषयों पर उचित तकनीकी परामर्श भी दिया गया। सदस्य राष्ट्रों के प्रतिनिधियों को प्रशिक्षण देने की व्यवस्था की गई। कोष अंतर्राष्ट्रीय संगठनों से संपर्क स्थापित रखता है जिससे विश्व में होने वाले समस्त परिवर्तनों की जानकारी प्राप्त कर सकें।

(7) असंतुलन को दूर करना—कोष के पास विभिन्न राष्ट्रों की मुद्रा में पर्याप्त कोष होने से विभिन्न राष्ट्रों में भुगतान असंतुलन स्थिति को दूर करने के प्रयास किये गए हैं। आवश्यकतानुसार विदेशी मुद्राओं का क्रय-विक्रय करके विदेशी विनिमय संबंधी समस्त आवश्यकताएं पूर्ण कर दी जाती हैं। अंतर्राष्ट्रीय भुगतान में साम्य स्थापित करने का भार लेनदार एवं देनदार दोनों ही राष्ट्रों पर समान रूप से डाला जाता है।

(8) मौद्रिक अनुसंधान—मुद्रा-कोष ने अपने प्रयासों द्वारा मौद्रिक अनुसंधान में पर्याप्त मात्रा में वृद्धि की है। सदस्य राष्ट्रों द्वारा अपनी समस्याओं को हल करने में कोष द्वारा समुचित सहायता प्रदान की जाती है तथा इस बात का आश्वासन बना रहता है कि विनिमय दरों में भी स्थिरता बनी रहेगी। सदस्य राष्ट्रों को आवश्यकता पड़ने पर हर प्रकार की मौद्रिक सहायता प्राप्त होने का आश्वासन बना रहता है।

(9) अन्य सफलताएं—मुद्रा-कोष की अन्य प्रमुख सफलताएं निम्नलिखित हैं :—

(i) विशेष आहरण अधिकार की स्थापना—मुद्रा-कोष के इतिहास में विशेष आहरण अधिकार की स्थापना करके मौद्रिक कोषों की मात्रा में वृद्धि की गई। 1970 के प्रारंभ में सदस्य राष्ट्रों में 3500 मिलियन डालर का प्रथम कोटा स्वीकृत किया गया। इस प्रकार स्वर्ण एवं सं० रा० डालर के अतिरिक्त विशेष अधिकार को नवीन रिजर्व साधनों के रूप में माना गया।

(ii) सामान्य कोटे में वृद्धि—कोष के साथ यह समझौता किया गया कि 1970 में कोटे में 35% से वृद्धि की जानी थी। परिणामस्वरूप कोष के वर्तमान साधनों (21.3 बिलियन डालर) में 7.6 बिलियन डालर से वृद्धि हो जायेगी जिसमें सबसे अधिक कोटा देने वाले राष्ट्र मुख्यतया जापान, नीदरलैण्ड, फ्रांस, इटली एवं कनाडा आदि प्रमुख हैं।

(iii) स्वतंत्र बाजार में स्वर्ण मूल्य—अंतर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि करने के उद्देश्य से यह व्यवस्था की गई कि स्वर्ण का मूल्य स्वतंत्र बाजार में निश्चित किया जायेगा तथा स्वर्ण का मूल्य 35 डालर प्रति औंस निर्धारित किया गया है तथा 1969 के अंत में दक्षिणी अफ्रीका से यह अनुबंध व प्रबंध किया गया है कि जब भी बाजार में स्वर्ण का मूल्य 35 डालर प्रति औंस से गिरेगा, तो कोष अपने मौद्रिक स्टाक में वृद्धि करने के लिए नवीन खदानों से निकाला गया स्वर्ण खरीदेगा। जून 1970 तक इन कोष ने 300 मि० डालर का स्वर्ण क्रय किया था।

(iv) औद्योगिक राष्ट्रों का कोष—1970 में विश्व के 14 औद्योगिक राष्ट्रों के कोष में 10,767 मि० डालर या 20% से वृद्धि हुई, जिसमें स्वर्ण, विदेशी विनिमय, विशेष आहरण अधिकार तथा रिजर्व आदि सम्मिलित हैं। कोष की मात्रा 54,539 मि० डालर से 65,306 मि० डालर हो गयी। इस वर्ग में कनाडा, जापान, इंग्लैंड, अमेरिका तथा 10 राष्ट्र योरोप के सम्मिलित हैं। इन राष्ट्रों के कोष में वृद्धि होने का प्रमुख कारण जनवरी, 1970 में विशेष

आहरण अधिकार के प्रारंभ होने से है। जनवरी, 1970 में विशेष आहरण अधिकार के अंतर्गत 2,276.2 मि० डालर प्राप्त हुआ, जबकि पूर्ण आबटन की राशि 3,414 मि० डालर थी। इंग्लैंड व अमेरिका के विशेष आहरण अधिकार में कमी होने पर भी 14 राष्ट्रों के आहरण अधिकार की कुल मात्रा 2,423.3 मि० डालर थी। औद्योगिक योरोपीय राष्ट्रों के विदेशी विनिमय की मात्रा 17,545 मि० डालर तक बढ़ गई जबकि इसकी मात्रा 8,643 मि० डालर थी। मुद्रा-कोष में इन राष्ट्रों का भाग 2,119 मि० डालर के स्थान पर 2,556 मि० डालर हो गया तथा उनके आहरण अधिकार 753.3 मि० डालर के स्थान पर 978.5 मि० डालर हो गये परंतु इन राष्ट्रों के स्वर्ण कोष 17,525 मि० डालर के स्थान पर घटकर 17,395 मि० डालर हो गये। योरोपीय धारण में विदेशी विनिमय का सबसे बड़ा भाग जर्मनी का था जो 2,748 मि० डालर के स्थान पर 8,455 मि० डालर हो गया, इटली व फ्रांस का स्थान इसके पश्चात् आता है। इटली का भाग 1194 मि० डालर के स्थान पर बढ़कर 2,059 मि० डालर व फ्रांस का भाग 286 मि० डालर के स्थान पर बढ़कर 1,257 मि० डालर हो गया।

(v) संयुक्त राष्ट्र कोष—1969 के अन्त में सं० राष्ट्र का कुल कोष 16,964 मि० डालर था जो 1970 के अन्त तक घटकर 14,487 मि० डालर हो गया। इसी प्रकार स्वर्ण कोष की मात्रा 11,859 मि० डालर के स्थान पर घटकर 11,072 मि० डालर, विदेशी विनिमय कोष की मात्रा 2,781 मि० डालर के स्थान पर 629 मि० डालर तथा विशेष आहरण अधिकार की मात्रा 866 9 मि० डालर के स्थान पर घटकर 850·7 मि० डालर हो गयी। इस प्रकार राष्ट्र की कोष में स्थिति 2,324 मि० डालर के स्थान पर घटकर 1,935 मि० डालर हो गयी।

(vi) अन्य राष्ट्रों के कोष की स्थिति—(अ) कनाडा—कनाडा के कुल कोष की मात्रा 1970 में 3,106 मि० डालर के स्थान पर बढ़कर 4,679 मि० डालर हो गयी, परन्तु इसके स्वर्ण कोष 872 मि० डालर से घटकर 791 मि० डालर रह गये। विदेशी विनिमय कोष 1,756 मि० डालर से बढ़कर 3,037 मि० हो गये तथा उनके विशेष आहरण अधिकार 124 3 मि० डालर के स्थान पर बढ़कर 182 1 मि० डालर हो गये। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष में कनाडा के कोष की स्थिति 478 मि० डालर के स्थान पर बढ़कर 670 मि० डालर हो गयी।

(ब) जापान—जापान का कुल कोष 3,654 मि० डालर से बढ़कर 4,839 मि० डालर हो गया। देश की स्वर्ण मात्रा 413 मि० डालर से बढ़कर 532 मि० डालर तथा विदेशी विनिमय कोष की मात्रा 2,615 मि० डालर से बढ़कर 3,188 मि० डालर तथा इसके आहरण अधिकार 121.8 मि० डालर से बढ़कर 146·3 मि० डालर व मुद्राकोष में इसके कोष की मात्रा 627 मि० डालर के स्थान पर बढ़कर 973 मि० डालर हो गई।

(स) इंग्लैंड—1970 में इंग्लैंड के कुल रिजर्व की मात्रा 3,654 मि० डालर से बढ़कर 4,839 मि० डालर हो गई तथा विशेष आहरण की राशि 409 मि० डालर से घटकर 265 7 मि० डालर हो गई।

(vii) विदेशी मुद्राओं का क्रय-विक्रय—मुद्रा-कोष के सदस्यों द्वारा मुद्रा की खरीद का विवरण निम्न प्रकार है—

वर्ष	मुद्रा की खरीद	वार्षिक औसत
1969	2,839	2,839
1968	1,348	1,348
1967	1,061	1,061
1961—66	8,164	1,633
1956 – 61	2,786	557
1948—56	1,236	154

मुद्रा-कोष के लाभ

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष से निम्न लाभ प्राप्त हुए हैं—

(1) प्रशिक्षण लाभ—कोष का प्रशिक्षण संस्थान विकासशील देशों के व्यक्तियों को मौद्रिक एवं आर्थिक

समस्याओं के समाधान के अवसर प्रदान करता है जिससे प्राविधिक ज्ञान का लाभ अन्य राष्ट्रों को प्राप्त होता है।

(2) विनिमय दरों का निर्धारण—मुद्रा-कोष से विश्व के समस्त देशों की विनिमय दरों का निर्धारण हो गया है।

(3) विदेशी भुगतान में सफलता—मुद्रा-कोष विश्व के प्रमुख देशों की मुद्राओं का भण्डार है जिससे किसी भी देश की मुद्रा में भुगतान करना सरल हो गया है।

(4) भुगतान सन्तुलन में सहायक—मुद्रा-कोष से विश्व के विभिन्न देशों के भुगतानों में उत्पन्न अस्थायी असन्तुलन को दूर करने में सहायता प्राप्त हुई है। जिन देशों ने मुद्रा-कोष से सहायता ली है उनमें से कुछ का वर्णन निम्न प्रकार है—

मुद्रा-कोष द्वारा सहायता

(मि० डालर में)

देश	सहायता	देश	सहायता
1. मिश्र	326	6. कनाडा	726
2. कोलम्बिया	405	7. भारत	1,090
3. चिली	467	8. फ्रांस	2,250
4. ब्राजील	578	9. अमेरिका	3,552
5. अर्जेन्टाइना	714	10. ब्रिटेन	7,868

(5) राजनीतिक दबाव से मुक्ति—मुद्रा-कोष से ऋण लेने में कोई भी राजनीतिक दबाव नहीं डाला जाता।

(6) अंतर्राष्ट्रीय संबंध—मुद्रा-कोष ने विश्व के राष्ट्रों के लिए एक साझा मंच तैयार किया है जो पारस्परिक समस्याओं पर विचार करते हैं। इससे आपसी सहयोग बढ़ा है।

(7) संकट का साथी—मुद्रा-कोष दुःख का साथी है। जब किसी देश के सामने आर्थिक संकट आता है तो मुद्रा कोष उदारतापूर्वक सहायता देने का प्रयत्न करता है।

कोष की असफलताएं

अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की प्रमुख असफलताएँ एवं आलोचनाएं निम्न हैं—

(1) कोटे का अवैज्ञानिक आधार—कोष में विभिन्न राष्ट्रों द्वारा दिये गये चन्दे का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं था। चन्दे का आधार विदेशी व्यापार की मात्रा या व्यापार शेष हो सकता था, परन्तु इस ओर कोई भी ध्यान नहीं दिया गया।

(2) भेदभाव—कोष ने ऋण एवं अन्य प्रकार की सुविधाओं को देने में भेदभाव पूर्ण नीति को अपनाया।

(3) डालर की कमी—मुद्रा-कोष की स्थापना से ही डालर की कमी अनुभव हो रही थी, फिर भी कोष ने उसे दुर्लभ मुद्रा घोषित नहीं किया, फलस्वरूप सदस्य राष्ट्रों को डालर में प्रत्यक्ष समझौते करने पड़े।

(4) साधनों का अभाव—कोष के पास पर्याप्त साधनों के अभाव के कारण सदस्य राष्ट्रों को दीर्घकालीन ऋण देकर रोजगार एवं देश के आर्थिक विकास में वृद्धि करना सम्भव नहीं हो पाया है।

(5) सुस्ती को प्रोत्साहन—कुछ राष्ट्र इस कोष से धन उधार लेकर अपने आर्थिक विकास में लगे हुए हैं जबकि इसमें पूंजी अधिकांशतः विकसित राष्ट्रों ने ही लगाई है। इस प्रकार यह कोष सुस्ती को प्रोत्साहित करता है।

(6) साख योग्यता पर विचार नहीं किया—कोष के सदस्य राष्ट्रों की साख क्षमता पर विचार किये बिना ही उन्हें ऋण अधिकार दिए गए, जिससे योग्यता की अवहेलना करते हुए ऋणों को स्वीकार किया गया।

(7) दोषपूर्ण सदस्यता—कोष की कार्यकारिणी की सदस्यता इस प्रकार रखी गई कि केवल अमेरिका के हितों की रक्षा की जा सके, इसने सदस्य ने दोषपूर्ण सदस्यता को प्रोत्साहित किया।

(8) असंतोषजनक प्रगति—मुद्रा-कोष ने सदस्य राष्ट्रों को जो सहायता प्रदान की है वह बहुत ही अल्प एवं

असन्तोषजनक है तथा इसकी विद्यमानता से कोई विशेष लाभ प्राप्त नहीं होते।

(9) दोषपूर्ण विनिमय दरें—कोष ने विनिमय दरों का निर्धारण दोषपूर्ण ढंग से किया है जबकि मुद्रा प्रायः अधिमूल्यित थी। बाद में अधिकांश राष्ट्रों की मुद्रा का अवमूल्यन किया गया।

(10) सीमित कार्यक्षेत्र—कोष ने अपने कार्यक्षेत्र को सीमित रखा है क्योंकि कोष ने केवल विदेशी विनिमय समस्याओं को हल करने का ही प्रयास किया है, और आयात-निर्यात, युद्ध ऋण, स्टर्लिंग आदि की समस्याएं कोष के क्षेत्र से बाहर हैं।

(11) विकासशील राष्ट्रों पर दबाव—मुद्रा कोष में विकसित राष्ट्रों का अधिक भाग है, जिससे यह देश भविष्य में अपने आर्थिक विकास के लिए कोष पर नियन्त्रण हटवाने के प्रयास करेंगे जो कि विकासशील राष्ट्रों के हित में नहीं होगा। इस प्रकार विकासशील राष्ट्रों पर विकसित राष्ट्रों का अनावश्यक दबाव पड़ेगा जो विकास में बाधक सिद्ध होगा।

(12) दोषपूर्ण नियम—कोष के कुछ नियम अत्यंत ही दोषपूर्ण हैं जो कोष की स्थिति को असहाय बना देते हैं। जैसे आन्तरिक स्फीतिक फैलने पर भुगतान संतुलन पर गंभीर असंतुलन होने पर कोष उस राष्ट्र को 10% से अधिक मुद्रा के अवमूल्यन के लिए रोक नहीं पाता और अवमूल्यन 10% से ज्यादा का ही करना पड़ता है।

(13) अन्य आलोचनाएं—कोपेनहेगन (Copenhagen) में सितम्बर, 1970 में होने वाले सम्मेलन में इस कोष की निम्न आलोचनाएं की गईं—

(i) ब्रिटिश पौण्ड का 1967 में अवमूल्यन, 1969 में फ्रैंक का अवमूल्यन, तथा गत वर्ष जर्मन मार्क का पुनर्मूल्यन ने मुद्रा मूल्य के स्थायित्व में सहायता प्रदान की। परन्तु कुछ वित्तीय संस्थाओं का अनुभव है कि आगे-आने वाले समय में मुद्रा दरों के समस्त आधार को पुनर्मूल्यांकित करना होगा।

(ii) कुछ राष्ट्र विशेषकर सं० राष्ट्र यह चाहेंगे कि उनकी मुद्रा में अधिक लोच बनी रहे जिससे अन्य किसी राष्ट्र को वित्तीय कठिनाइयों से बचाया जा सके।

(iii) निश्चित सीमा मार्जिन की सहायता में अस्थाई मुद्रा संकट को अधिक अवसर प्राप्त होंगे।

(iv) मार्जिन की उच्च व निम्न सीमा के विस्तार का योरोपियन आर्थिक समुदाय के राष्ट्रों द्वारा विरोध किया गया है जो कि एक समान योरोपियन मुद्रा (Common European Currency) की स्थापना करने के इच्छुक हैं।

(v) स्फीतिक बुराइयों को दूर करने के लिए सरकार को अविलम्ब कार्यवाही करना चाहिए तथा इस सम्बन्ध में उचित कार्यवाही करने का साहस होना चाहिए।

(vi) मुद्रा-कोष स्फीतिक बुराइयों को सहन करने में असफल रहा।

(vii) कोष के विशेषज्ञों ने स्फीति के आर्थिक प्रभावों को एक जटिल समस्या माना जो कि आज औद्योगिक राष्ट्रों को प्रभावित करती है।

(viii) स्फीति ने सं० रा० अर्थव्यवस्था को भी प्रभावित किया है।

भारत एवं अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष
(India and I. M. F.)

सन् 1944 में ब्रिटेनवुड्स में हुए सम्मेलन में भारत ने भाग लिया तथा अक्टूबर, 1946 में वह इसका सदस्य बन गया। परन्तु इस सम्बन्ध में वाद-विवाद ही रहा कि क्या भारत को इससे लाभ प्राप्त होंगे। सदस्य बनने के विपक्ष में कुछ तर्क दिए गए जो कि निम्न प्रकार हैं—

(1) सैनिक गुट—कोष के प्रमुख सदस्य सैनिक गुटों के सदस्य थे। अतः कोष से केवल उन्हीं राष्ट्रों को ही लाभ मिलने की सम्भावना थी जो कि सैनिक गुटों के सदस्य होंगे।

(2) विकसित राष्ट्रों को सहायता—यह कल्पना की गई कि यह कोष केवल विकसित राष्ट्रों को ही सहायता प्रदान करेगा तथा अविकसित राष्ट्र अधिक लाभान्वित नहीं हो सकेंगे।

(3) अनुकूल भुगतान संतुलन—भारत को भविष्य में भुगतान संतुलन की कठिनाइयों का सामना नहीं करना होगा, जिससे उसका कोष का सदस्य बनना आवश्यक नहीं है।

(4) स्टर्लिंग पावना—यह भी कहा जाता था कि जब तक इंग्लैण्ड अपना स्टर्लिंग पावने की राशि भारत को नहीं चुका देता, उस समय तक भारत को कोष की सदस्यता स्वीकार नहीं करनी चाहिए।

उपर्युक्त तथ्य तर्कहीन होने के कारण भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की सदस्यता स्वीकार कर ली। सदस्य बनने के उपरान्त भारत के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह विदेशी विनिमय के लेन-देन पर से नियंत्रण हटा ले। मुद्रा-कोष ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि राष्ट्रों में विनिमय नियंत्रणों को धीरे-धीरे शिथिल किया जाएगा। सदस्यता ग्रहण करने के पश्चात् 18 दिसम्बर, 1946 को रुपए की विनिमय दर 1 रुपया=0 268601 ग्रेन सोना निश्चित किया गया। स्टर्लिंग में विनिमय दर=1 रुपया=1 शि० 6 पैन्स निश्चित की गई, क्योंकि ब्रिटेन ने 1 पौण्ड=3 58134 ग्रेन स्वर्ण अपनी मुद्रा घोषित की थी। इस प्रकार भारत का मान अब स्टर्लिंग मान न रहकर स्वर्ण समता मान हो गया था।

भारत-मुद्रा ने कोष से जो लेन-देन किया, उसका वर्णन निम्न प्रकार है—

(मि० डालर में)

1947-55	100
1957	200
1961	250
1962	25
1965	200
1966	225
1967	90

भारत को लाभ

भारत कोष में चन्दा देने वाले 5 देशों में गिना जाने लगा है, इस प्रकार वह कोष का स्थायी सदस्य बन गया। भारत को मुद्रा-कोष से जो लाभ प्राप्त हुए, वे निम्न प्रकार हैं—

(1) विदेशी विनिमय ऋण—1947-48 में भारत ने इस कोष से 280 लाख डालर के विदेशी विनिमय ऋण प्राप्त किए जो अपने कोटे के 25% से भी अधिक थी।

(2) डालर सहायता—1948-49 तक भारत ने 7.19 करोड़ डालर व 1949-50 में 10 करोड़ डालर की सहायता प्राप्त की। इसी प्रकार 1953 में व्यापार सन्तुलन की स्थिति खराब होने पर 360 लाख डालर अपनी मुद्रा का पुनः क्रय किया गया।

(3) अवमूल्यन—1949 में अनेक राष्ट्रों की भांति स्टर्लिंग के साथ भारत ने भी अपनी मुद्रा का अवमूल्यन 30 5% से किया जिसके लिए, कोष से आवश्यक अनुमति प्राप्त हो गई।

(4) योजना में सहायता—कोष ने भारत की पंचवर्षीय योजनाओं को अनेक सहायता प्रदान की। यह सहायता निम्न प्रकार रही—

(i) प्रथम योजना—*यह एक छोटी योजना थी तथा भारत के पास स्टर्लिंग पावने के रूप में पर्याप्त विदेशी विनिमय कोष होने से मुद्रा-कोष से सहायता लेने की आवश्यकता नहीं पड़ी।*

(ii) द्वितीय योजना—इस काल में भारी व्यापार असन्तुलन के कारण मुद्रा-कोष से 12.7 करोड़ डालर की विदेशी सहायता एवं 7.2 करोड़ डालर के ऋण प्राप्त हुए।

(iii) तृतीय योजना—इस योजना में प्रत्येक वर्ष मुद्रा-कोष से सहायता प्राप्त की गई। 1961 में 12.6 करोड़ डालर, 1962 में 2.9 करोड़ डालर के ऋण प्राप्त किए व 1963 में 2 करोड़ डालर का भुगतान कर दिया गया। 1964 में फिर से विदेशी विनिमय संकट आया व 1966 में 18.7 करोड़ डालर की सहायता प्राप्त हुई।

(5) पुनः अवमूल्यन—भुगतान संतुलन की स्थिति से छुटकारा पाने के लिए भारत ने जून 1966 में अपनी मुद्रा का पुनः 36.5% से अवमूल्यन किया।

इसी प्रकार जर्मनी व जापान का आर्थिक विकास भी बढ़ा।

(9) व्यापार स्थिति (Trade Flow)—कम-विकसित राष्ट्रों की व्यापार शर्तों में काफी सुधार हुआ। कम-विकसित राष्ट्रों के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि होने से निर्यात मात्रा में पर्याप्त सुधार हुआ। 1975 में निर्यात पहले की तुलना में बढ़े हैं।

(10) भुगतान स्थिति (Payments Position)—सं० रा० अमेरिका में मौद्रिक स्थिति में दबाव में कमी के कारण विश्व के मौद्रिक एवं पूंजी बाजार में प्रभाव पड़ा, फलस्वरूप ब्याज दरों में वृद्धि हुई। विदेशी विनिमय बाजार में भारी सट्टे की प्रवृत्ति बढ़ी। पूंजी की गतिशीलता में वृद्धि यूरो-डालर बाजार की स्थापना से बढ़ी। इसी प्रकार भुगतान स्थिति में परिवर्तन फ्रांस के फ्रेंक एवं डच के मार्क की दरों में परिवर्तन होने के फलस्वरूप हुए। ब्याज दरों में वृद्धि होने से ऋण सेवाओं में वृद्धि हुई। इससे पूंजी के शुद्ध प्रवाह में कमी हो गई।

(11) नीति संबंध (Policy Issues)—स्फीतिक परिस्थितियों ने आर्थिक नीति की पर्याप्तता पर कुठाराघात किया। गत 25 वर्षों की तुलना में आर्थिक प्रबंध की स्थिति युद्ध-काल की तुलना में अच्छी रही। इन राष्ट्रों की प्रशुल्क नीति में सुधार होना आवश्यक था। औद्योगिक राष्ट्रों में 1965 व उसके उपरांत प्रशुल्क नीति में सुधार लाना आवश्यक समझा गया। जनहित में मजदूरी एवं मूल्यों में परिवर्तन किए गए। स्फीतिक परिस्थितियों को सुधारने के प्रयास किए जायेंगे।

(12) क्रय (Purchases)—1969-70 में 33 सदस्य राष्ट्रों ने 17 मुद्राओं में 2996 मि० डालर की कुल खरीद की। इसमें 22 राष्ट्रों द्वारा 2261 मि० डालर की राशि भी सम्मिलित है। फ्रांस एवं ब्रिटेन प्रत्येक का इसमें भाग 44% था। 23 सदस्य राष्ट्रों ने 2381 मि० डालर का क्रय किया। पुन: क्रय 1671 मि० डालर का रहा, जिसमें से 934 मि० डालर ब्रिटेन द्वारा पुन: क्रय किया गया, जो समस्त क्रय का 56% भाग था।

(13) रिजर्व में वृद्धि (Reserve Growth)—मुद्रा कोष के 126 सदस्य राष्ट्रों का अंतर्राष्ट्रीय कोष में 27 बि० SDR से बढ़कर 1974 के अंत तक 178 बि० SDR हो गया। इस कोष में 9% से वृद्धि हुई। औद्योगिक राष्ट्रों के कोष में 2 बि० से वृद्धि हुई। कम-विकसित राष्ट्रों के कोष में 1.3 बि० SDR से वृद्धि हुई। 1974 में विश्व के कोष में 18% से वृद्धि हुई जबकि वास्तविक कोष में कमी रही, क्योंकि निर्यात मूल्य 35–40% से गिर गए थे। 30 अप्रैल, 1975 के वर्ष में विशेष आहरण अधिकार का उपयोग 826 मि० था जिसमें से प्रमुख उपभोक्ता आस्ट्रेलिया (135 मि०), इटली (150 मि०), न्यूजीलैंड (57 मि०) एवं इस्राईल (25 मि०) थे। इनके अतिरिक्त 248 मि० SDR का उपयोग भाग लेने वाले राष्ट्रों द्वारा हुआ। वर्ष में SDR का शेष 9314.4 मि० था।[1] विश्व के औद्योगिक राष्ट्रों ने राष्ट्रीय केंद्रीय बैंक एवं कोषागार से 20 बि० डालर की साख-सुविधाएं प्राप्त की।

(14) स्वर्ण बाजार (Gold Markets)—औद्योगिक एवं कलात्मक स्वर्ण की मांग 1969 में 930 मि० डालर मानी गई जो नवीन स्वर्ण पूर्ति का 72% भाग था वर्तमान स्वर्ण उत्पादन का 65% भाग था। 1969 में 40.7 मि० औंस स्वर्ण का मूल्य 35 डालर औंस के हिसाब से 1425 मि० डालर का मूल्यांकित किया गया। अधिकारी तौर पर स्वर्ण स्टाक में 110 मि० डालर से वृद्धि होकर 1969 के अंत तक स्वर्ण की कुल मात्रा 41 बिलियन डालर हो गई।

भविष्य में अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष द्वारा विकास सहायता की मात्रा, गुण एवं प्रभाव में पर्याप्त परिवर्तन किया जाना निश्चित किया गया है।

अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के प्रबंध संचालक ने यह विचार व्यक्त किया है कि कोई भी बड़ा राष्ट्र कनाडा की भांति अपनी मुद्रा को स्वतन्त्रतापूर्वक विश्व बाजार में विचरित नहीं करेगा। कोष की नीति का आशय अपने सदस्य राष्ट्रों की मुद्रा के स्टाक को पर्याप्त मात्रा में बनाए रखना था और इसके लिए कोष ने स्वर्ण की बिक्री भी की है। कोष द्वारा अंतर्राष्ट्रीय पूंजी जोखिम बीमा सुविधाओं के अंतर्गत निजी उपक्रमों की सुविधाओं में वृद्धि करके विकासशील राष्ट्रों में विनियोग की सुविधाओं में वृद्धि की जाएगी तथा विनिमय नियंत्रण, अवमूल्यन, गृह युद्ध (Civil Strife)

1. The financial Express, Aug. 26, 1975.

आदि खतरों को दूर करने के प्रयास किए जाएंगे।

'कागजी स्वर्ण' (Paper Gold) विशेष आहरण अधिकार का अन्य नाम है जिसे अक्टूबर, 1969 में स्थापित किया गया था। इसके अंतर्गत 1972 के अंत तक 9500 मिलियन डालर का कागजी स्वर्ण का वितरण करना था। कोष के 20 राष्ट्रीय प्रशासनिक संचालक मंडल में 5 स्थान स्थायी सदस्यों के सुरक्षित हैं—सं० राष्ट्र, ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रांस व भारत। अभी हाल ही में जापान ने अपना कोटा बढ़ा दिया था जिससे भारत को अपनी सदस्यता व संचालक नियुक्त करने के अधिकारों के समाप्ति का भय हो गया, परंतु जापान ने यह आश्वासन दिया कि वही उसका स्थायी सदस्य बना रहेगा।

अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष में विभिन्न राष्ट्रों का अंशदान है और इसमें समय-समय पर कमी एवं वृद्धि होती रही है। विश्व की वर्तमान मौद्रिक रिजर्व स्थिति को निम्न प्रकार रखा जा सकता है —

विश्व मौद्रिक रिजर्व

(सं० रा० मि० डालर में)

राष्ट्र का नाम	1959	1969	जुलाई 1970
1. सं० रा० अमेरिका	21,504	16,964	16,065
2. ब्रिटेन	2,801	2,527	2,796
अन्य योरोपीय मुक्त व्यापार राष्ट्र—			
3. आस्ट्रिया	697	1,537	1,685
4 डेनमार्क	328	446	324
5. नार्वे	281	712	674
6. पुर्तगाल	639	1,444	1,371
7. स्वीडन	478	696	669
8 स्विट्जरलैंड	2,063	3,995	3,506
योरोपीय साझा बाजार राष्ट्र—			
9. बैल्जियम	1,306	2,388	2,716
10. फ्रांस	1,736	3,833	4,657
11. प० जर्मनी	4,790	7,129	9,979
12. इटली	3,056	5,013	4,219
13 नीदरलैंड	1,442	2,529	2,799
14. कनाडा	2,030	3,106	4,444
15 जापान	1,447	3,654	3,948
16. आस्ट्रेलिया	1,143	1,261	1,710
17. दक्षिणी अफ्रीका	469	1,397	1,296
विकासशील राष्ट्र—			
18. ब्राजील	366	658	1,011
19 वेनेजुला	724	933	906
20. सऊदी अरब	175	582	708
21. सं० राष्ट्र अरब	304	145	136
22 भारत	814	926	1,117
23. मलेशिया	333	683	690
24 थाइलैंड	319	985	966
25. लीबिया	70	918	1,626
योग-विश्व	57,670	76,950	83,070

इस प्रकार कोष में विश्व मौद्रिक रिजर्व की मात्रा 1959 में 57,670 मि० डालर थी जो 1969 में बढ़कर 76,950 मि० डालर व जुलाई 1970 तक बढ़कर 83,070 मि० डालर हो गई।

कुल विश्व निर्यात में 300% से भी अधिक, आयात में लगभग 350%, रिजर्व बैंक 150% में से वृद्धि हुई। स्वर्ण उत्पादन में भी वृद्धि हुई परंतु इनकी तुलना में कम रही। अप्रैल 1975 को, समाप्त होने वाले वर्ष में कुल आय 166 5 मि० SDR थी। जबकि 1974 में यह आय 38.5 मि० व 1973 व 41.6 मि० थी।[1]

1. The Financial Express, Aug. 26, 1975.

को सदस्य बैंक की अनुमति से ही प्रयोग किया जा सकता है।

(iii) आवश्यकता होने पर—शेष 80% भाग सदस्य राष्ट्रों द्वारा आवश्यकता होने पर उस समय मांगा जाता है जबकि दायित्वों को पूर्ण करना आवश्यक हो।

(iv) अधिकार—अधिक चंदे की माग करने पर सदस्य राष्ट्र को यह अधिकार दिया जाता है कि वह उसे स्वर्ण, डालर अथवा अन्य किसी मुद्रा में भुगतान कर दे।

(4) कार्य-क्षेत्र—बैंक के कार्य-क्षेत्र को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(i) सीमित व्यवसाय—बैंक केवल सदस्य राष्ट्रों के साथ ही व्यवसाय कर सकता है और उसे अन्य व्यक्तियों के साथ प्रत्यक्ष व्यापार करने का अधिकार नहीं है।

(ii) व्यक्तिगत ऋणों को प्रोत्साहन—बैंक द्वारा व्यक्तिगत ऋणों को प्रोत्साहित किया जाता है तथा व्यक्तिगत विदेशी ऋण प्राप्त न होने पर वह अपने पास से ऋण की व्यवस्था करती है।

(iii) गारंटी की शर्तें—ऋण प्रदान करने से पूर्व बैंक ऋणों की वास्तविक मांग की स्थिति को देखता है। ऋण की गारंटी के संबंध में बैंक की प्रमुख शर्तें निम्न हैं—

(अ) संभावना की कमी—ऋणी देश को विश्व के अन्य देशों से अन्य किसी साधनों से ऋण प्राप्त होने की संभावना नहीं होना चाहिए।

(ब) समर्थन करना—ऋण समिति द्वारा ऐसे मांगे गए ऋण का समर्थन किया जाना चाहिए।

(स) हितों का ध्यान—गारंटी देने से पूर्व ऋण देने वाले तथा लेने वाले तथा सदस्यों के हितों को ध्यान में रखा जाता है।

(द) व्यय व्यवस्था—ऐसे ऋणों को केवल पुन निर्माण एवं विकास योजनाओं पर ही व्यय किया जा सकता है।

(य) उपयुक्त रीति—ऋण को चुकाने एवं ब्याज भुगतान करने की उपयुक्त रीति होनी चाहिए।

(फ) केंद्रीय बैंक द्वारा गारंटी—यदि देश स्वयं ऋण नहीं लेता तो उस देश की केंद्रीय बैंक को ब्याज, ऋण व अन्य खर्चों के चुकाने की गारंटी देनी पड़ती है।

(iv) जांच करना—ऋण से संबंधित योजना पर ध्यान देकर उसकी प्रगति का विवरण बैंक को देना पड़ता है तथा बैंक भी समय-समय पर विशेषज्ञों द्वारा जांच कराती रहती है।

(v) सीमित भाग—बैंक योजना का केवल उतना ही भाग देता है जो विदेशों से माल मंगाने में व्यय हो, जो कुल भाग के 50% से अधिक नहीं होना चाहिए।

(vi) बहुउद्देशीय निकासी—बैंक प्रायः बहुउद्देशीय निकासी के आधार पर कार्य करता है, जिससे किसी भी राष्ट्र से माल खरीदा जा सकता है। ऋणों का उद्देश्यों के विरुद्ध कार्य होने पर उसके व्यय पर प्रतिबंध लगा दिए जाते हैं।

(vii) कमीशन लेना—जिन व्यक्तिगत ऋणों की गारंटी ली जाती है, बैंक उस पर अपना कमीशन वसूल करता है। गारंटी के ऋणों पर बैंक 1 से 1.5% तक कमीशन प्राप्त करता है।

(viii) ऋण व चंदे का संबंध—चंदे केवल दायित्वों की सीमा का ही निर्धारण कर पाते हैं, जिससे सदस्यों को प्राप्त होने वाले ऋण की मात्रा का चंदे से कोई संबंध नहीं रहता।

(5) प्रबंध व्यवस्था—विश्व बैंक की प्रबंध व्यवस्था को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(i) गवर्नर मंडल (Board of Governors)—विश्व बैंक की समस्त शक्तियां गवर्नर मंडल में निहित होती है। बैंक में प्रत्येक सदस्य राष्ट्र का एक गवर्नर एवं एक स्थानापन्न गवर्नर होता है, जिनकी अवधि 5 वर्ष होती है। स्थानापन्न गवर्नर, गवर्नर की अनुपस्थिति में कार्य करता है, गवर्नर मंडल साधारण सभा का कार्य करती है, जिन्हें कोई वेतन नहीं मिलता है। इस मंडल की मीटिंग वर्ष में 1 बार अवश्य होती है।

(ii) संचालक मंडल (Board of Directors)—बैंक के प्रशासनिक कार्यों की देखभाल के लिए संचालक मंडल की नियुक्ति की जाती है जिसमें आजकल 20 प्रशासनिक संचालक होते हैं जिनमें 5 सदस्य पांच बड़े अंशधारी वाले

राष्ट्रों के होते हैं तथा शेष को प्रतिनिधि निर्वाचन विधि द्वारा निर्वाचित किया जाता है। प्रत्येक संचालक को अपनी सरकार द्वारा धारण किए हुए अंशों के अनुपात में मत देने का अधिकार होता है। गवर्नर मंडल ने अपने अधिकांश अधिकारों को संचालक मंडल को सौंपा दिया है, जो बैंक के सामान्य कार्यों के प्रति जिम्मेदार रहता है। इन संचालकों की अवधि दो वर्ष होती है तथा यह प्रत्येक माह अपनी सभा का आयोजन करते हैं।

(iii) अध्यक्ष (President)—संचालक मंडल द्वारा एक अध्यक्ष की नियुक्ति की जाती है जो न तो संचालक मंडल का सदस्य होता है और न ही गवर्नर मंडल का, यह बैंक के दैनिक कार्य चलाने के लिए जिम्मेदार होता है। अध्यक्ष कार्यकारी दल का प्रधान होता है जो संचालक मंडल के संचालन एवं निर्देशन के अधीन व्यापार के कार्यों के लिए जिम्मेदार होता है। इसकी सहायता के लिए अनेक विभाग होते हैं।

(iv) सलाहकार परिषद (Advisory Council)—गवर्नर समिति द्वारा कम से कम 7 सदस्यों की एक सलाहकार परिषद की स्थापना की जाती है जिसमें कृषि, उद्योग, बैंकिंग, वाणिज्य व श्रम आदि विषयों में सबंधित विभिन्न विशेषज्ञ नियुक्त किए जाते हैं। इस परिषद की बैठक वर्ष में कम से कम 1 बार अवश्य होती है जिसका संपूर्ण व्यय बैंक सहन करती है तथा यह परिषद सामान्य नीति के संबंध में अपना परामर्श देती है।

(v) ऋण समिति (Loan Committee)—बैंक को ऋण का प्रार्थनापत्र प्राप्त होने पर उसकी समुचित जांच के लिए एक ऋण समिति नियुक्त की जाती है, जिसमें बैंक के 2 सदस्य व ऋणी राष्ट्र का एक सदस्य होता है। इस समिति के आधार पर ही बैंक ऋण देने या न देने का निर्णय करता है।

(6) लाभ का वितरण—बैंक के कुल लाभ का 2% भाग उन सदस्य राष्ट्रों में वितरित किया जाता है, जिनकी मुद्राओं में ऋण का उपयोग किया गया है। शेष लाभ का वितरण सदस्य राष्ट्रों में उनके चंदे के आधार पर वितरित कर दिया जाता है। लाभ का भुगतान सदस्य राष्ट्र की मुद्रा में कर दिया जाता है या स्वर्ण में भुगतान करने की व्यवस्था कर दी जाती है।

आधारभूत सिद्धांत
(Basic Principles)

जिन सिद्धांतों पर विश्व बैंक की स्थापना की गई है वे आधारभूत सिद्धांत निम्न हैं—

(1) पूंजी की सुरक्षा—बैंक द्वारा सदस्य राष्ट्रों के किसी व्यापारी, उद्योग या सरकार को ऋण दिया जा सकता है। यदि ऋण गैर-सरकारी संस्था को दिया जाता है तो उसके भुगतान एवं ब्याज के लिए सरकार द्वारा कोई गारंटी नहीं दी जाती। परंतु बैंक के साधनों की सुरक्षा के लिए निम्न अतिरिक्त सुरक्षा की व्यवस्था की गई है—

(i) ऋण के दायित्वों को निभाना—बैंक कर्ज लेने वाले राष्ट्र से यह आशा रखता है कि वह अपने दायित्वों को निभाने में सफल होगा। इसके लिए यह आवश्यक होगा कि ऋण लेने वाले राष्ट्र का भुगतान सन्तुलन आधिक्य में हो तथा ऋण देने वाला राष्ट्र माल एवं सेवाओं के आयात अतिरिक्त स्थिति में हो। यदि ऋण लेने वाले राष्ट्र में विदेशी विनिमय की कमी की समस्या है तो बैंक उस पर ब्याज शर्तों को कम कर देता तथा तीन वर्षों तक ब्याज का भुगतान उस देश की मुद्रा में ही स्वीकार कर लिया जायगा।

(ii) विदेशी मुद्रा का प्रबंध—किसी भी योजना का व्यय उसी कोष से ही पूर्ण किया जाना चाहिए। बैंक द्वारा कर्ज का प्रबंध प्राय उसी मुद्रा में किया जाता है जिस देश में पूंजीगत या अन्य सामान क्रय करना हो।

(iii) पुनर्निर्माण व विकास के लिए ऋण—बैंक द्वारा ऋण प्रायः पुनर्निर्माण एवं विकास कार्यों के लिए ही दिया जा सकता है। ऋण देने से पूर्व विशेषज्ञों द्वारा उसकी जांच की जानी चाहिए। ऋण का प्रयोग प्राय. उत्पादन के लिए ही किया जाना चाहिए।

(iv) उद्देश्यों में प्रयोग—ऋणों का प्रयोग केवल उन उद्देश्यों के लिए ही किया जाना चाहिए, जिनके लिए वह ऋण दिया गया है।

(2) बैंक के साधन—सदस्य राष्ट्रों द्वारा स्वर्ण में एवं अपने देश की मुद्रा में चंदे के रूप में धन जमा किया जाता है तथा 80% भाग को गारंटी के रूप में रखा जाता है। बैंक प्राय· अपने कोष में से प्रत्यक्ष रूप से कर्ज देने के

स्थान पर उस कोष में से ऋण दे सकता है जो कि बैंक के द्वारा उधार लिया गया है। इसी प्रकार बैंक ऋणों की गारंटी भी दे सकता है। इस प्रकार बैंक के साधन काफी विस्तृत होते हैं।

(3) **प्रतिस्पर्धा का प्रभाव**—बैंक द्वारा ऋण देने में प्रतिस्पर्धा का प्रभाव पाया जाता है। बैंक का प्रमुख उद्देश्य निजी विनियोगों को प्रोत्साहित करना है। निजी विनियोग प्राप्त न होने पर बैंक अपनी पूंजी को उत्पादन कार्यों में प्रयोग करती है।

विश्व बैंक के कार्य
(Functions of International Bank)

बैंक के प्रमुख कार्य निम्न हैं—

(1) **दोहरी भूमिका (Dual role)**—सदस्य राष्ट्रों द्वारा प्रदान की गई पूंजी द्वारा उसके समस्त कार्यों की वित्तीय व्यवस्था संभव नहीं हो पाती और यह मात्रा आवश्यकता के अनुसार बहुत कम थी। यह बैंक ऋण देने के अतिरिक्त ऋण भी प्राप्त करके दोहरी भूमिका का कार्य करता है।

(2) **निर्देशक सिद्धांत (Guiding Principles)**—ऋण प्रदान करते समय बैंक कुछ नीतियों का पालन करता है, जो कि निम्न प्रकार हैं—

(i) **भुगतान संभावना**—बैंक द्वारा राष्ट्र के प्राकृतिक साधनों, उपलब्ध उत्पादक प्लांट क्षमता तथा राष्ट्र के पिछले रिकार्ड के आधार पर ऋण की भुगतान संभावना का अनुमान लगाना अत्यन्त आवश्यक होता है।

(ii) **विदेशी विनिमय**—बैंक द्वारा ऋण लेने वाले राष्ट्र की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए विदेशी विनिमय का उचित प्रबंध किया जाता है।

(iii) **परामर्श देना**—बैंक ऋण लेने वाले राष्ट्र के साथ नियमित सबंध स्थापित करके उसकी प्रगति का अवलोकन करते हुए आवश्यकता पड़ने पर परामर्श देने की व्यवस्था करता है।

(iv) **निजी घरेलू उपक्रम**—बैंक द्वारा देश के ही घरेलू निजी उपक्रमों के विकास के लिए अप्रत्यक्ष उपाय किए जाते हैं।

(v) **सस्ती व्यवस्था**—ऋण लेने वाले राष्ट्र को यह सुविधा रहती है कि प्राप्त ऋण का उपयोग सस्ते व अच्छे सामानों को क्रय करने में किया जाये और इस संबंध में कोई बंधन नहीं रखा जाता।

(vi) **विशिष्ट योजनाओं में ऋण**—बैंक द्वारा केवल ऐसी विशिष्ट योजनाओं के लिए ही ऋण दिये जाते हैं, जो मितव्ययी एवं उच्च प्राथमिक प्रकृति के हों। विश्व बैंक द्वारा निम्न ऋण दिए गए—

बैंक द्वारा दिए गए ऋण

(मि० डालर में)

		प्रतिशत
1. संवादवाहन	415	2
2. कृषि, वन, मछली	1,565	9
3. उद्योग	2,995	16
4. परिवहन	5,529	30
5. विद्युत	5,574	30
6. अन्य	2,207	13
	18,285	100

(3) **ऋण की सुविधाएं (Lending facilities)**—बैंक द्वारा ऋण प्रदान करने में निम्न सुविधाएं दी जाती हैं—

(i) गारंटी देकर—निजी विनियोक्ताओं द्वारा दिए गए ऋणों की गारंटी देना।

(ii) प्रत्यक्ष ऋण देना—बैंक द्वारा सदस्य राष्ट्रों को प्रत्यक्ष रूप से भी ऋण देने की व्यवस्था की जाती है। यह ऋण प्राय. अल्पविकसित देशों को ही दिए गए हैं जिसका वर्णन निम्न प्रकार है—

विकास ऋण

(मि० डालर में)

देश	राशि	प्रतिशत
1. पूर्वी अफ्रीका	1,000	5
2. पश्चिमी अफ्रीका	920	5
3. पूर्वी एशिया	1,915	11
4 मेक्सिको, केन्द्रीय अमेरिका	2,380	13
5 यूरोप, मध्य-पूर्व उत्तरी अमेरिका	2,759	15
6 दक्षिणी एशिया	2,712	15
7. अवर्गीकृत	2,898	16
8. दक्षिणी अमेरिका	3,701	20
	18,285	100

(4) तकनीकी सहायता (Technical Assistance)—बैंक द्वारा ऋण देने के अतिरिक्त तकनीकी सहायता भी प्रदान की जाती है। बैंक द्वारा विकास सलाहकार सेवाओं का निर्माण किया गया है, जिसमें अर्थशास्त्री, सलाहकार एवं प्रशासक होते हैं।

(5) ब्याज दर (Rate of Interest)—बैंक द्वारा वह ब्याज दर वसूल की जाती है जो उसे अन्य राष्ट्रों को चुकानी हो व साथ ही इसमें 1% कमीशन एव 1/4% प्रशासनिक व्ययों को भी जोड़ दिया जाता है।

(6) ऋण स्वीकार करने की विधि (Stages in granting Loans)—ऋण स्वीकार करने में चार स्थितियों से गुजरना पड़ता है जो निम्न हैं—

(i) प्रारंभिक चरण—ऋण लेने वाले राष्ट्र एवं बैंक में प्रारंभिक रूप में विचार-विमर्श करके ऋण के भुगतान की संभावना को ज्ञात किया जाता है तथा इस संबंध में अध्ययन के लिए बैंक का एक विशेष दल अध्ययन हेतु भेज दिया जाता है।

(ii) अनुसंधान—ऋण की आवश्यकता का अनुसंधान करके अध्ययन दल द्वारा तकनीकी वित्तीय एवं प्रशासनिक पहलू पर अनुसंधान किया जाता है।

(iii) शर्तों का निर्माण—इस चरण में ऋण के रूप में ली जाने वाली राशि एवं ब्याज आदि का निर्धारण किया जाता है तथा अन्य शर्तों का निर्माण किया जाता है।

(iv) ऋण का प्रशासन—बैंक का प्रतिनिधि नियमित रूप से ऋण के उपयोग का निरीक्षण करके उसकी नियमित प्रगति को ज्ञात करता रहता है।

विश्व बैंक की सफलताएं

30 जून, 1975 तक विश्व बैंक ने अपने जीवन के 29 वर्ष पूर्ण कर लिए हैं। इस बैंक की सफलता के वर्णन को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(1) विकास हेतु अधिक ऋण—इस बैंक ने विकास कार्यों के लिए अधिक मात्रा में ऋण प्रदान किए। 1969 में 1399 मि० डालर के ऋण स्वीकार किए गए। 1947 तक बैंक का कार्य पुनर्निर्माण से सबंधित रहा। 1947 के पश्चात्

समस्त कठिनाइयां समाप्त हो गई हैं जिससे भारत को पूजी प्राप्त होने में सुविधा प्राप्त हो गई है। विश्व बैंक द्वारा भारत को 40 ऋण 1206 मि० डालर के दिए गए, जिनका उपयोग विभिन्न कार्यों में किया गया। विश्व तथा विकास कार्यक्रम भी प्रवाह गति से चल रहा है *विकास कार्यों के लिए प्राप्त वित्तीय सहायता का वर्णन निम्न रूप में रखा जा सकता है*—

(1) रेलों के लिए ऋण—रेलों के विकास के लिए भारत को समय-समय पर अनेक ऋण प्राप्त हुए हैं। इस संबंध में पहला ऋण 18-8-1949 को 34 मि० डालर का प्राप्त हुआ। यह ऋण 15 वर्ष के लिए 3% ब्याज व 1% कमीशन पर प्राप्त हुआ। इस ऋण का भुगतान 1950 से प्रारंभ हो गया। इसके उपरांत भी रेलों के विकास के लिए ऋण प्राप्त हुए हैं।

(ii) दामोदर घाटी योजना ऋण—अप्रैल 1950 को विश्व बैंक ने दामोदर घाटी योजना के लिए मि० 18.5 डालर का ऋण प्रदान किया तथा 1958 में 25 मि० डालर का अतिरिक्त ऋण मिला।

(iii) विद्युत योजना हेतु ऋण—विद्युत विकास के लिए 1954 में टाटा को 16.2 मि० डालर का ऋण दिया गया। इसके अतिरिक्त कोयला, जल विद्युत योजना एवं शक्ति के विकास के लिए, बोकारो विद्युतगृह के लिए भी ऋण प्रदान किया गया।

(iv) बंदरगाहों के लिए ऋण—*1958 को कलकत्ता बंदरगाह के विकास के लिए 29 मि० डालर एवं मद्रास बंदरगाह के विकास के लिए 14 मि० डालर का ऋण मिला।*

(v) *हवाई परिवहन की उन्नति हेतु ऋण—1957 में एयर इंडिया को 5.6 मि० डालर का ऋण वायुयान क्रय करने को दिया गया।*

(vi) औद्योगिक विनियोग को ऋण—औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम को 1955 को 10 मि० डालर ऋण वित्त कार्यक्रमों को पूर्ण करने हेतु दिया। 1959 में 10 मि० डालर व 1960 को 20 मि० डालर का ऋण प्राप्त हुआ। इस पर ब्याज दर $5\frac{1}{2}\%$ रही।

(vii) लोहा व इस्पात हेतु ऋण—देश में लोहे एवं इस्पात की उत्पादन सुविधाओं के विस्तार के लिए अनेक ऋण समय-समय पर स्वीकृत किए गए।

(viii) कृषि विकास हेतु ऋण—कृषि विकास के लिए 1949 में 10 मि० डालर का ऋण मिला तथा अन्य कृषि औजारों को भी सहायता के रूप में प्राप्त किया गया।

(3) ऋणों की सुविधा—विश्व बैंक द्वारा यह सुविधा भी प्रदान की गयी कि वह प्राप्त ऋणों का उपयोग किसी भी कार्य में सुविधापूर्वक करें। विश्व बैंक द्वारा भारत को इस प्रकार की सुविधाएं दी गई हैं कि वह प्राप्त ऋणों का उपयोग उसी प्रयोजन में न करके किसी भी कार्य में सुविधापूर्वक कर सके।

(3) ऋणदाताओं की बैठक—विश्व बैंक ने भारत की मांगों को ऋणदाताओं की बैठक के सामने रखा है तथा उनके सामने विनिमय संबंधी कठिनाइयों को रखा गया तथा उसी के परिणामस्वरूप द्वितीय योजना के लिए 600 मि० डालर की सहायता प्राप्त हुई। भारत को सबसे अधिक ऋण अमेरिका से प्राप्त होते हैं।

(4) विदेशी विनिमय संकट में सहायता—देश में विदेशी विनिमय का संकट उत्पन्न होने पर विश्व ने सदैव सहायता प्रदान की है तथा संकट टालने में सहायता की है।

(5) तकनीकी सहायता (Technical Assistance)—विश्व बैंक ने भारत को तकनीकी सहायता भी प्रदान की है, जिसका वर्णन निम्न प्रकार है—

(i) *तकनीकी परामर्श देना—देश की विभिन्न विकास योजनाओं के लिए विश्व बैंक से तकनीकी परामर्श प्राप्त होता रहता है जिसके आधार पर योजनाओं को पूर्ण किया जाता है।*

(ii) सर्वे दल—विश्व बैंक ने भारत के विकास कार्यों के मूल्यांकन के लिए समय-समय पर सर्वे दल भेजे हैं तथा भारत के अधिकारियों ने आवश्यक प्रशिक्षण भी प्राप्त किया है।

(6) पाकिस्तान विवाद में मध्यस्थता—विश्व बैंक ने पाकिस्तान विवाद में भी मध्यस्थता करके 1960 में नहर पानी विवाद को सुलझाया।

(7) सार्वजनिक क्षेत्र पर महत्व—विश्व बैंक ने सार्वजनिक क्षेत्र के विकास को अधिक महत्व देना स्वीकार किया है, जिससे भविष्य में देश के विकास को सहायता प्राप्त हो सके। भारतीय संस्थाओं द्वारा सहायता प्राप्त योजनाओं को प्रारम्भ करने पर ही भारतीय उपकरण का अधिकतम उपयोग सम्भव किया जा सकता है। विश्व बैंक अमेरिकी सलाहकार के प्रति पक्षपातपूर्ण व्यवहार अपनाती है। उदाहरणार्थ दस्तुर एण्ड कम्पनी को 0 3 मि. टन इस्पात योजना (IISCO) के विस्तार के लिए जो ऋण दिया गया, उस पर भारतीय सलाहकारों की नियुक्ति को स्वीकार नहीं किया गया।

(8) मध्य प्रदेश के चम्बल क्षेत्र विकास को ऋण—विश्व बैंक की एक टीम ने अभी हाल ही में उत्तरी मध्य प्रदेश की चम्बल घाटी का अध्ययन करके राज्य सरकार को सहायता देना स्वीकार किया है। इस घाटी के विकास के लिए 70 62 करोड़ रुपए की योजना का निर्माण किया गया है जिसके पूर्ण होने पर डकैती समस्या के समाप्त होने के साथ-साथ कृषि में भी विकास सम्भव हो सकेगा। विश्व बैंक की सहायता दक्ष टीम की रिपोर्ट के आधार पर निश्चित किया जाएगा जिसने सड़क एवं वायु मार्ग से 2 63 लाख हेक्टर क्षेत्र का सर्वेक्षण करके अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करने की योजना का निर्माण किया है। वर्तमान वर्ष में डिमनी चान्दपुर (Dimni Chandpur) के 770 एकड़ भूमि एवं बुधारखेड़ा (Budharkheda) में 550 एकड़ भूमि पर इस कार्यक्रम को केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रारम्भ किया गया है। इस प्रकार प्रति वर्ष लगभग 800 हेक्टर भूमि पर सुधार कार्यक्रम प्रारम्भ किए जाकर 5 वर्षों में यह कार्य पूर्ण किया जा सकेगा। इस कार्य के लिए 6 करोड़ रुपये की लागत के 2000 हल्के ट्रैक्टरों की आवश्यकता होगी। इसके अतिरिक्त 1 लाख हेक्टर भूमि पर कृषि कार्य किया जाएगा तथा अतिरिक्त 1 लाख हेक्टर भूमि पर घास व जंगल लगाए जायेंगे। सिंचाई कार्यों के लिए मुरैना एवं भिण्ड जिले में लगभग 5000 नलकूप एवं 5000 कुए निर्माण किए जाएंगे, जिसके लिये इन जिलों में पर्याप्त जल साधन उपलब्ध हैं। इस योजना से मध्य प्रदेश के भिण्ड, मुरैना, ग्वालियर एवं दतिया जिलों को लाभ होगा।

(9) भारत सहायता क्लब (Aid India Club)—भारत में योजनाओं के निर्माण से विदेशी आवश्यकताओं में काफी वृद्धि हो गई है, जिसके लिए पर्याप्त मात्रा में आयात करने पड़े हैं। तृतीय योजना काल में भारत को 5472 मि० डालर के ऋण देने का वचन दिया गया जिससे भारत को आर्थिक कठिनाइयों को दूर करने में सहायता प्राप्त हुई। 1958 में ही विदेशी राष्ट्रों ने भारत को सहायता देने के उद्देश्य से सम्मेलन किये एवं 1961 में फ्रांस में सम्मेलन ने भारत सहायता क्लब की स्थापना करके देश को प्रति वर्ष विदेशी सहायता प्रदान की जाती है। इससे विदेशी विनिमय कठिनाई हल होने में सुविधा मिली।

विश्व बैंक सहायता के पहलू

विश्व-बैंक द्वारा भारत को जो सहायता दी जा रही है, उसके प्रमुख पहलू निम्न हैं—

(1) कृषि को महत्व—भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि को अधिक महत्व है जिसे विश्व-बैंक ने भी समझ लिया है, क्योंकि बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए यही एक उपाय है। कृषि का विकास शिक्षित प्रबन्धकों एवं तकनीकी कर्मचारियों की उपलब्धता पर निर्भर करता है। इस दिशा में विश्व-बैंक, विश्व कृषि संगठन (F.A O.) एवं अन्तर-राष्ट्रीय विकास परिषद (I.D A) साथ मिलकर कार्य करेंगे।

(2) सहायता की शर्तें—विश्व बैंक व अन्य सहायक संस्थाओं से प्राप्त होने वाली सहायता की शर्तें काफी उदार बना दी गई है तथा वित्तीय सहायता में भी वृद्धि कर दी गई है। प्रयोग में न लिए गए ऋण के भार को कम करने के उद्देश्य से वार्षिक व्यय 3/4% से घटाकर 3/8% कर दिया गया है। इस प्रकार ऋण की अवधि को भी बढ़ा कर 30 वर्ष तक कर दी है।

(3) अधिक सहायता की आवश्यकता—भारत के आर्थिक विकास को ध्यान में रखते हुए विश्व बैंक से और अधिक आर्थिक सहायता की आवश्यकता है। पर्याप्त मात्रा में बाह्य सहायता प्राप्त होने पर योजनाओं के आकार में वृद्धि की जा सकती है। परन्तु यदि ऋण प्रदान करने वाली संस्थाओं ने साधन भी बढ़ा दिए जायें तो भी इनसे प्राप्त होने वाली सहायता भारत की आवश्यकताओं के लिए अपर्याप्त होगी, क्योंकि जो देश ऋण प्राप्त कर रहे हैं, उनकी भी

आवश्यकतायें भविष्य में बढ़ने की सम्भावनाएं हैं। अफ्रीकी राष्ट्र भी धीरे-धीरे स्वतंत्र हो रहे हैं तथा इनके आर्थिक विकास के लिए साधनों की मांग भी इनसे ही प्राप्त हो सकेगी।

(4) स्वतन्त्र सहायता—स्वतंत्र रूप से विदेशी सहायता प्राप्त करके ही देश का आर्थिक विकास सम्भव हो सकता है।

विश्व बैंक सहायता के पहलू

कृषि को महत्त्व	सहायता की शर्तें	अधिक सहायता की आवश्यकता	स्वतन्त्र सहायता

भारतीय योजनाओं के लिए स्वतन्त्र सहायता की आवश्यकता है क्योंकि सशर्त ऋणों के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की कठिनाइयां उपस्थित रहती हैं तथा समय पर पर्याप्त मात्रा में धन की प्राप्ति नहीं हो पाती।

आलोचनाएं—विश्व बैंक से भारत को जो सहायता प्राप्त हुई है उनकी प्रमुख आलोचनाएं निम्न हैं—

(i) ऊंची ब्याज दर—विश्व बैंक ने ऋणों पर जो ब्याज वसूल किया है वह भारत जैसे अविकसित राष्ट्रों के लिए महंगा है। अतः यह आवश्यक है कि बैंक द्वारा ब्याज के सम्बन्ध में उदारता की नीति अपनाई जाय।

(ii) सीमित ऋण—भारत को विश्व बैंक से अन्य राष्ट्रों की तुलना में सबसे अधिक ऋण मिला है, फिर भी यह ऋण देश की आवश्यकताओं को देखते हुए कम है।

(iii) निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति—बैंक के ऋण निश्चित उद्देश्यों के लिए ही प्रदान किए जाते हैं जिनसे उन्हें अन्य किसी प्रयोजन में प्रयोग न करने से अधिक लाभ नहीं उठाया जा सकता। अतः आवश्यकता इस बात की है कि सामान्य ऋण प्रदान किए जायें जिन्हें किसी भी उद्देश्य से प्रयोग किया जा सके।

विश्व बैंक की वार्षिक रिपोर्ट

विश्व बैंक ने अपनी वार्षिक रिपोर्ट देते समय बताया कि विकासशील राष्ट्रों में उत्पादक एवं सार्वजनिक क्षेत्र में विनियोग तथा उत्पादन में तीव्र वृद्धि करनी चाहिए। 1955 व 1964 की अवधि में विश्व के विकासशील राष्ट्रों में निर्माण कार्यों के उत्पादन में 7% वार्षिक से वृद्धि हुई, परन्तु इस क्षेत्र में रोजगार में केवल 4% से ही वृद्धि हुई। एशिया की नागरिक श्रमशक्ति का 1/4 भाग निर्माण एवं सार्वजनिक उपयोगिता के उद्योगों में केन्द्रित थी। इसी अनुपात को 2000वें वर्ष तक बनाए रखा जा सकता है। इन क्षेत्रों में रोजगार बढ़ाने के लिए यह आवश्यक होगा कि सार्वजनिक क्षेत्र में विनियोग एवं उत्पादन बढ़ाया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में यह अनुमान लगाया गया कि सरकारी व्यापार एवं उनकी क्रियाओं को तीव्रता से नहीं बढ़ाया जा सकता। रोजगार के अवसरों के अभाव में शहरी व्यक्तियों को परम्परागत सेवा कार्यों में जुट जाना होगा। इस संबंध में विदेशी व्यापार एवं उनकी सहायक नीतियों को आकर्षित करने के प्रयास करने होंगे। शहरी विकास का उद्देश्य उत्पादन तथा रोजगार में वृद्धि करके न्यूनतम लागत पर सेवाएं प्रदान करना है। विश्व बैंक वर्ग से भारत को अधिकतम ऋण प्राप्त हुआ है और जून 1975 तक 36 बि० डालर में से 5 बि० डालर का ऋण विश्व बैंक से मिला। 1975 तक भारत ने विश्व बैंक से 4,978 मि० डालर का ऋण प्राप्त किया—44 बैंक ऋण 1,536 मि० डालर, 71 I. D. A. ऋण 3,441 डालर की थी। IDA ऋण 50 वर्षों में भुगतान होना है।

बैंक की शुद्ध आय 1970 में 123 मि० डालर थी तथा संचालकों ने 100 मि० डालर की राशि को अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ को हस्तान्तरित कर दिया। जुलाई 1970 में संघ द्वारा एक समझौता हुआ जिसमें तीन वर्षों में 800 मि० डालर की राशि का प्रबन्ध करना निश्चित किया गया। यह समझौता 1971 से प्रारम्भ हुआ। विकासशील राष्ट्रों का सकल घरेलू उत्पादन 6·7% से व निर्यात 1969 में 9% से बढ़ गया। इसके अतिरिक्त कृषि एवं उद्योग के क्षेत्र में नवीन विनियोग किए गए। विकासशील राष्ट्रों ने नवीन बाह्य पूंजी को उत्पादक कार्यों में विनियोग किया। जनसंख्या

23

अंतर्राष्ट्रीय वित्त निगम

(International Finance Corporation)

प्रारंभिक

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् विश्व में जितनी भी अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं की स्थापना हुई उनमें सबसे अधिक सफलता विश्व बैंक को प्राप्त हुई है। विश्व बैंक की स्थापना के बाद विश्व के पिछड़े हुए राष्ट्रों के आर्थिक विकास की ओर विशेष ध्यान दिया गया। इसके उपरांत भी एक नवीन संस्था की स्थापना की ओर विशेष ध्यान दिया जा रहा था क्योंकि विश्व बैंक की आर्थिक सहायता में दो कमियों का अनुभव किया गया जो सर एडवर्ड बायल (*Sir Edward Boyle*) के अनुसार निम्न प्रकार थी—

(i) **अंशपूंजी में भाग न लेना**—विश्व बैंक केवल ऋण प्रदान करता है, जिससे वह उद्योग की प्रगति आदि के संबंध में कोई रुचि नहीं लेता। इसके अतिरिक्त ऋण लेने वाली संस्था पर एक स्थायी भार बना रहता है जो ब्याज के रूप में प्रतिवर्ष चुकाना पड़ता है। इसके विपरीत अंशधारी को लाभ होने पर ही लाभांश दिया जाता है तथा उसका संस्था पर कोई भार नहीं होता।

(ii) **गारंटी पर ऋण देना**—विश्व बैंक द्वारा ऋण सरकार की गारंटी पर ही दिए जाते हैं, परंतु इसमें विशेष प्रोत्साहन नहीं मिलता, क्योंकि सरकार प्रत्येक प्रकार के उद्योग के लिए गारंटी देना पसंद नहीं करती तथा सरकारी गारंटी लेने पर यह भय भी बना रहता है कि सरकार संस्था के व्यापार में हस्तक्षेप न करने लगे।

अविकसित देशों को ऋण की अपेक्षा पूंजी सस्ती तथा अधिक उपयोगी सिद्ध होती है।

उपर्युक्त कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए तथा सदस्य राष्ट्रों को अधिकतम आर्थिक सहायता देने के उद्देश्य से अंतर्राष्ट्रीय वित्त निगम की स्थापना की गई जिसने जुलाई, 1955 से अपना कार्य प्रारंभ किया। निगम के प्रारंभ में 31 सदस्य थे जिनकी कुल स्वीकृत पूंजी 7.8 करोड़ डालर थी। यह विश्व बैंक की ही एक सहायक संस्था के रूप में कार्य करता है तथा उसकी प्रबंध व्यवस्था भी विश्व बैंक के समान ही होती है। विश्व बैंक का अध्यक्ष ही इस वित्त निगम का सभापति होता है।

वित्त निगम की आवश्यकता

अंतर्राष्ट्रीय वित्त निगम की स्थापना की आवश्यकता निम्न कारणों से उदय हुई—

(1) **पर्याप्त सहायता का अभाव**—विश्व बैंक द्वारा पर्याप्त मात्रा में सहायता प्राप्त नहीं हो पाती थी, जिससे विकास के अवसर प्राप्त न हो सके।

(2) **सरकारी हस्तक्षेप**—निजी संस्थाएं सरकारी हस्तक्षेप के भय से सरकार की गारंटी पर ऋण लेना पसंद नहीं करती थीं।

(3) **पूंजी का अभाव**—विश्व बैंक से केवल ऋण प्राप्त हो पाते थे और जोखिम पूंजी प्राप्त नहीं हो पाती थी क्योंकि विश्व बैंक केवल ऋण प्रदान कर सकता था, जोखिम पूंजी नहीं।

(4) **रुचि का अभाव**—विश्व बैंक उद्योगों के विकास में रुचि नहीं लेता था क्योंकि वह एक ऋणदाता ही बना रहता था जिसमें उद्योग के विकास में विशेष हित नहीं होता।

(5) पूंजी सस्ती एवं उपयोगी—अविकसित राष्ट्रों में ऋण की तुलना में पूंजी सस्ती एवं उपयोगी मानी जाती है जो कि विश्व बैंक द्वारा प्रदान नहीं की जाती थी।

अत पृथक अंतर्राष्ट्रीय वित्त निगम की स्थापना में आवश्यकता अनुभव की गई, जिसने विश्व बैंक की कमियों को दूर करते हुए एक पूरक के रूप में कार्य करके अविकसित राष्ट्रों को सहायता प्रदान की।

उद्देश्य

अंतर्राष्ट्रीय वित्त निगम के प्रमुख उद्देश्य निम्न प्रकार हैं—

(1) पूंजी तथा व्यवस्था में सहयोग—निगम का उद्देश्य देशी तथा विदेशी निजी पूंजी में सहयोग स्थापित करके उसे अनुभवी प्रबंध से संयोजित करना है।

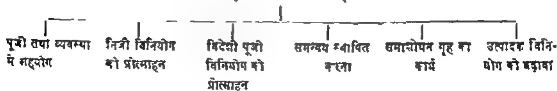
(2) निजी विनियोग को प्रोत्साहन—वित्त निगम का उद्देश्य सदस्य राष्ट्रों के निजी उद्योगों को आर्थिक सहायता प्रदान करके उन राष्ट्रों में उत्पादक उद्योगों की स्थापना करके, विकास एवं प्रसार करना है। यह कार्य उस देश की सरकार या केंद्रीय बैंक की गारंटी के बिना ही किया जाता है।

(3) विदेशी पूंजी विनियोग को प्रोत्साहन—वित्त निगम का उद्देश्य विकसित राष्ट्रों की अतिरिक्त पूंजी की मात्रा को अविकसित राष्ट्रों में विनियोजन के लिए प्रोत्साहित करना है। इस संबंध में आने वाली कठिनाइयों को वित्त निगम दूर करने के प्रयास करेगा। आवश्यकता पड़ने पर निगम निजी उद्योगपतियों के साथ मिलकर निजी व्यवसायों में पूंजी का विनियोजन भी करेगा।

(4) समन्वय स्थापित करना—निगम का उद्देश्य निजी पूंजी एवं प्रबंध में समन्वय स्थापित करना है। इस प्रकार यह निगम निजी पूंजी के लिए कुशल प्रबंधकों एवं कुशल प्रबंधकों के लिए पूंजी का प्रबंध करता है। परिणाम-स्वरूप निगम के इन प्रयासों से अविकसित राष्ट्रों में निजी क्षेत्र में पूंजी के विनियोजन में वृद्धि हो जाती है।

(5) समाशोधन गृह का कार्य—देशी एवं विदेशी पूंजी, अनुभवी प्रबंध एवं विनियोग के अवसरों की खोज करके वित्त निगम समन्वय एवं समाशोधन गृह का प्रबंध करके उनके सामञ्जस्य द्वारा अधिकाधिक लाभ प्राप्त करने के प्रयास करेगा।

(6) उत्पादक विनियोग को बढ़ावा—वित्त निगम देशी एवं विदेशी निजी पूंजी के उत्पादक विनियोगों को प्रोत्साहित करेगा तथा उनके विकास के अवसर प्रदान करेगा।



निगम की सदस्यता

अंतर्राष्ट्रीय वित्त निगम विश्व बैंक की एक संबद्ध संस्था के रूप में कार्य करती है तथा इसका सदस्य होने के लिए विश्व बैंक का सदस्य होना आवश्यक होता है। जो राष्ट्र विश्व बैंक की सदस्यता खो देता है वह स्वतः ही इस निगम की सदस्यता से भी हट जाता है। कोई भी सदस्य राष्ट्र कभी भी लिखित सूचना देकर वित्त निगम की सदस्यता को छोड़ सकता है तथा अपनी पूंजी वापस ले सकता है। विश्व बैंक के सभी सदस्य निगम के सदस्य नहीं बन पाए हैं। निगम की वर्तमान सदस्य संख्या 96 है। सदस्यता-मुक्त होने पर निगम उस राष्ट्र की पूंजी को पारस्परिक समझौते के आधार पर वापस कर देता है।

निगम की पूंजी

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की अधिकृत पूजी 11 करोड़ डालर है जो एक-एक हजार डालर के 1 लाख 10 हजार अंशों में विभाजित है। यह पूजी सदस्यो में अंशों के रूप में विभाजित की गई है। सदस्यों को अंश का विभाजन उसी अनुपात में किया गया है जो अनुपात उनकी पूजी का विश्व बैंक की पूंजी के साथ है। प्रत्येक अंश का मूल्य 1000 डालर है। 30 जून, 1975 को निगम की स्वीकृत पूजी 11 करोड डालर थी जिसमें से प्रमुख राष्ट्रो का भाग निम्न प्रकार था—

पूंजी का विभाजन

(लाख डालर में)

राष्ट्र	पूंजी	प्रतिशत भाग
स० रा० अमेरिका	351.68	36.45
ब्रिटेन	144 00	14.93
फ्रांस	58.15	6.03
भारत	44.31	4.59
जर्मनी	36.55	3 79
कनाडा	36 00	3.73
नीदरलैंड्स	30 46	3.16

इस प्रकार विश्व के 7 राष्ट्रो के पास 7.27 करोड़ डालर की पूजी है जो कुल का 68% भाग है। इस निगम के कोष को विश्व बैंक के कोष से पृथक रखा जाता है जो बैंक से उधार लेन-देन नही कर सकता परंतु बैंक के अधिकारियों की सेवाएं प्राप्त कर सकता है। यह विश्व के अन्य वित्तीय संस्थाओं से संपर्क स्थापित करता है तथा इसका कार्यालय विश्व बैंक के साथ ही होता है तथा अन्य कार्यालयो को कहीं भी स्थापित किया जा सकता है। इस निगम के प्रमुख कार्यालय पेरिस, न्यूयार्क व लदन में हैं।

निगम की प्रबंध व्यवस्था

निगम का प्रबंध विश्व बैंक की भांति किया जाता है जिसमें गवर्नर मडल (Board of governors) होता है और प्रत्येक सदस्य राष्ट्र को स्थान दिया जाता है। सदस्य राष्ट्रो द्वारा विश्व बैंक में मनोनीत किए गए गवर्नर ही इस बोर्ड के सदस्य होते हैं। निगम के दैनिक कार्यों को चलाने के लिए एक संचालक मंडल होता है। विश्व बैंक का अध्यक्ष इस निगम के संचालक मंडल का सभापति होता है। वित्त निगम का अध्यक्ष संचालक मडल द्वारा नियुक्त किया जाता है, जो संचालक मडल की बैठकों में भाग लेता है। परतु उसे मतदान का अधिकार नहीं होता है। इस निगम को विश्व बैंक से पृथक रखा जाता है, तथा इसकी संपत्ति भी पृथक रखी जाती है। यह निगम विश्व बैंक से ऋण भी ले सकता है तथा प्रत्येक सदस्य को प्रति अंश एक वोट देने का अधिकार प्राप्त होता है तथा निर्णय बहुमत के आधार पर लिए जाते हैं। विश्व बैंक की भांति प्रत्येक सदस्य को 250+1 मत प्रति अंश देने का अधिकार प्राप्त है। इसका नियन्त्रण पूर्ण रूप से विश्व बैंक द्वारा ही किया जाता है जिससे प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कार्य विश्व बैंक की सहायता से ही किया जाता है। वित्त निगम का प्रधान कार्यालय विश्व बैंक के साथ है। इसके प्रमुख कार्यालय लदन, पेरिस एव न्यूयार्क में हैं।

वित्त निगम की कार्य-प्रणाली

निगम को केवल ऋण देने के अधिकार दिए गए हैं। 1 सितंबर, 1961 से निगम को उद्योगों में पूजी विनियोग करने के अधिकार दे दिए हैं।

(2) औद्योगिक क्षेत्र—निगम अपने धन का विनियोग औद्योगिक क्षेत्र के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों नहीं करेगा।

(3) दीर्घकालीन ऋण—वित्त निगम द्वारा प्रायः 5 से 15 वर्ष के लिए दीर्घकालीन ऋण दिए जाते हैं।

(4) अंशपूंजी में परिवर्तन—निगम अपने ऋणों को निजी उद्योगों में अंश पूंजी के रूप में कभी भी परिवर्तित कर सकता है।

(5) विस्तृत विनियोग—वित्त निगम के विनियोग स्थायी ब्याज वाले बंधक बांड से लेकर असुरक्षित ऋण पत्रों में हो सकते हैं। इस प्रकार निगम को विनियोग करने के विस्तृत अधिकार प्राप्त हैं।

(6) पृथक्-पृथक् ब्याज दर—प्रत्येक ऋण पर जोखिम मात्रा एवं अन्य शर्तों के आधार पर पृथक्-पृथक् ब्याज दरों का निर्धारण किया जाता है।

(7) विनियोग की मात्रा—वित्त निगम द्वारा लगाई गई विनियोग की मात्रा कभी भी विनियोजित होने वाली कंपनी की पूंजी के आधे से अधिक नहीं होगी।

(8) निजी क्षेत्र—वित्त निगम अपनी पूंजी का विनियोजन सार्वजनिक क्षेत्र की अपेक्षा निजी क्षेत्र में ही करेगा।

(9) अविकसित राष्ट्रों को प्राथमिकता—निगम द्वारा धन के विनियोजन के समय विकसित राष्ट्रों की अपेक्षा अविकसित राष्ट्रों को ही प्राथमिकता प्रदान की जायेगी।

ऋण की आवश्यक शर्तें

अंतर्राष्ट्रीय वित्त निगम जिन शर्तों पर ऋण प्रदान करता है, वे शर्तें निम्न हैं—

(1) उत्पादक उद्देश्य—निगम द्वारा केवल उस संस्था को ही वित्तीय सहायता दी जाती है, जिसका उद्देश्य देश में उत्पादक उद्योगों की स्थापना करना तथा देश की अर्थव्यवस्था का विकास करना है। इस प्रकार निगम केवल निर्माण उद्योगों में ही धन का विनियोजन करता है। यह सार्वजनिक कार्यों एवं विदेशी व्यापार के अर्थ-प्रबंध के लिए कोई भी ऋण प्रदान नहीं करता।

(2) विनियोग का आकार—निगम उन उद्योगों में ही धन का विनियोजन करेगा जिसकी स्वयं की पूंजी कम-से-कम 5 लाख डालर हो तथा जिसने कम-से-कम 1 लाख डालर के ऋण की मांग की हो। निगम अधिकतम 30 लाख डालर तक ऋण प्रदान कर सकता है।

(3) निजी उपक्रमों में विनियोग—वित्त निगम केवल निजी उपक्रमों में ही धन का विनियोग करेगा तथा सार्वजनिक एवं शासकीय उपक्रमों में धन का विनियोग नहीं करेगा। यदि किसी संस्था में सरकार ने थोड़ी परंतु निजी साहसियों ने अधिक पूंजी लगाई है तो उस संस्था को निगम द्वारा ऋण प्रदान किया जा सकता है। निगम देशी एवं विदेशी दोनों ही प्रकार के उद्योगों में धन का विनियोजन करता है।

(4) कुशल प्रबंध—उपक्रम का प्रबंध कुशल एवं सक्षम हो, इसके लिए यह आवश्यक है कि उसकी प्रबंध व्यवस्था कुशल संचालक मंडल के हाथों में हो।

(5) निजी सहयोग—वित्त निगम के विनियोग के अतिरिक्त निजी पूंजीपतियों का सहयोग भी प्राप्त होना चाहिए, तथा लगभग आधी या आधी से अधिक पूंजी का विनियोग निजी विनियोजकों द्वारा किया जाना चाहिए।

(6) उत्पादक व उपयोगी उपक्रम—निगम द्वारा केवल उन उत्पादक एवं उपयोगी उपक्रमों को ही ऋण प्रदान किया जाएगा जो निजी क्षेत्र में हैं तथा देश के लिए आवश्यक हैं।

(7) उद्योगों का स्थान—निगम प्रायः ऐसे उद्योगों को ही ऋण प्रदान करता है जो कि अविकसित राष्ट्रों में ही स्थापित किए जाते हैं। ऋणी देशों के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने खाते निर्धारित ढंग से रखे, उनका नियमित अंकेक्षण करावें तथा अंकेक्षण रिपोर्ट यथासमय निगम को देते रहें।

वित्त निगम का वित्तीय ढंग

प्रारंभ में वित्त निगम अंश पूंजी में विनियोजन के अतिरिक्त किसी अन्य रूप में विनियोग नहीं कर सकता

था। परंतु बाद में अनेक प्रकार की कठिनाइयां आने पर यह निश्चित किया गया कि प्रारंभ में उद्योगों को ऋण ही देना चाहिए। इस प्रकार निगम के चार्टर में उसे पूंजी में भाग लेने का अधिकार नहीं दिया गया, परंतु बाद में उसे पूंजी में परिवर्तित करने का अधिकार सुरक्षित रख दिया गया। इसमें अनेक कठिनाइयां उपस्थित हुईं जिससे 1961 में निगम को प्रत्यक्ष रूप से अंश पूंजी क्रय करने के अधिकार प्राप्त हो गये, जिससे निगम को लाभांश प्राप्त होने का अधिकार रहेगा व साथ ही प्रतिभूतियों का अभिगोपन कर सकेगा। निगम भिन्न-भिन्न प्रकार के ऋणों पर विभिन्न दर से ब्याज वसूल करता है। निगम अपने ऋणों को 5 से 15 वर्ष की अवधि में अंशों में परिवर्तित कर सकता है। प्रतिभूति का स्वभाव उद्योग की प्रकृति, अवधि, शर्तों एवं अन्य अनेक बातों पर निर्भर करता है। प्रार्थी को ऋण की रकम एक मुश्त या किश्तों में दी जा सकेगी। ऋण का उपयोग उद्योग द्वारा किसी भी रूप में किया जा सकेगा और उसमें निगम कोई हस्तक्षेप नहीं करेगा। ऋण देने से पूर्व उपक्रम की प्रबंध क्षमता आदि को ध्यान में रखा जाता है, परंतु किसी भी उपक्रम के प्रबंध की जिम्मेदारी नहीं ली जाएगी। निगम किसी भी उद्योग के प्रबंध में हस्तक्षेप नहीं करेगा। ऋण देने के उपरांत निगम द्वारा उपक्रमों के कार्यों पर ध्यान दिया जाता है जिससे उसके ऋण का सदुपयोग होता रहे। ऋणों पर उस देश की सरकार की किसी भी प्रकार की कोई गारंटी नहीं मांगी जाती है। निगम द्वारा समस्त विनियोग प्रायः डालरों में विनियोग किए जाते हैं। ऋण का भुगतान एक मुश्त अथवा किश्तों में किया जा सकता है।

वित्त निगम की प्रगति

30 जून, 1976 तक निगम ने अपने 20 वर्ष पूर्ण कर लिए हैं और इस काल में इसकी प्रगति को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(1) **विनियोजन में वृद्धि**—निगम ने जिन संस्थाओं को ऋण प्रदान किए हैं, उनकी कुल लागत 1010 मि० डालर थी जिसमें निगम का भाग 190 मि० डालर था। इस प्रकार निगम के प्रत्येक 1 डालर के विनियोग के लिए उसे 6 डालर का विनियोजन प्राप्त हुआ। इस प्रकार निगम को विनियोजन में पर्याप्त प्रोत्साहन प्राप्त हो रहा है।

(2) **विश्व बैंक को सहायता**—वित्त निगम विश्व बैंक के सहयोग के साथ विश्व के अविकसित राष्ट्रों को वित्तीय सहायता प्रदान करता है। इससे एक ओर अविकसित राष्ट्रों को वित्तीय सुविधाएं प्राप्त होती हैं तथा दूसरी ओर विश्व बैंक का दायित्व हल्का हो जाता है। अब तक निगम ने 17 कंपनियों में 19 मि० डालर के अंश क्रय किए।

(3) **सहायता प्राप्त राष्ट्र**—निगम अधिक से अधिक राष्ट्रों को वित्तीय सहायता प्रदान करने के प्रयास करता है तथा ऋण की मात्रा में भी वृद्धि की गई है। निगम ने भौगोलिक दृष्टि से व्यवसाय में वृद्धि की है तथा अफ्रीका एवं एशिया के राष्ट्रों में विनियोजन में वृद्धि की है।

(4) **साधनों में वृद्धि**—निगम को 1965 से अपनी पूंजी एवं कोष की तुलना में विश्व बैंक से 4 गुने तक ऋण लेने की शक्ति प्रदान की है, जिससे इसके साधनों में वृद्धि हो गई है तथा यह अधिक मात्रा में ऋण प्रदान कर सकता है।

(5) **विनियोग की मात्रा**—निगम ने अपने विनियोग अविकसित राष्ट्रों में अधिक किए हैं। निगम को अपने विनियोगों पर 7.4% से वार्षिक आय हुई है। अंशों में निगम का विनियोग 40% तक बढ़ गया है। निगम जनता के अंशों के निर्गमन का अभिगोपन भी करता है जिससे स्थानीय पूंजी बाजार विकसित हो जाता है। निगम अपने विनियोगों की मात्रा को सदैव परिवर्तित करता रहता है।

(6) **ऋण की मात्रा**—निगम ने विश्व के अनेक राष्ट्रों को ऋण प्रदान किए हैं तथा अविकसित राष्ट्रों को अधिकाधिक सहायता प्रदान की है। प्रायः ऋण 5 से 10% ब्याज पर दिए जाते हैं तथा निगम अपनी ऋण पूंजी को अंश पूंजी में परिवर्तित करने का अधिकार रखती है। निगम ने 57 राष्ट्रों में स्थित उद्योगों में लगभग 1262 मि० डालर के विनियोग किए हैं। अब तक 57 राष्ट्रों में 249 उद्योगों में पूंजी का विनियोग किया गया है। इस प्रकार ऋण देने वाली यह एक प्रमुख संस्था है। इन्हीं उद्योगों में अन्य विनियोग 5131 मि० डालर के रहे हैं।

जून, 1975 में निगम ने 20 विकसित राष्ट्रों को 32 उद्योगों में 211.7 मि० डालर का ऋण दिया है जबकि 1974 में 203.4 मि० डालर ऋण दिया गया था। इसमें से 9.5 मि० डालर एक भारतीय कंपनी को प्राप्त हुआ है।

1974-75 में विश्व के औद्योगिक राष्ट्रों मे 30 मि० डालर का व्यापार शेष में घाटा था। इन राष्ट्रों में उत्पादन 1973 मे 6% था जो 1974 मे घटकर 0.4% रह गया। 1975 मे आर्थिक विकास मे 1.5% से कमी हुई। 1974 में मशीनरी एवं औद्योगिक उपकरणों का मूल्य 1970 की तुलना में 75% बढ़ गया था। 1975 मे 211 7 मि० डालर के ऋण मे से 80 1 मि० डालर लेटिन अमेरिका की 12 योजनाओं मे, 63 4 मि० डालर यूरोप की 7 योजनाओं मे 55.1 मि० डालर एशिया की 8 योजनाओं मे, 8.4 मि० डालर प० एशिया की 3 योजनाओं में तथा 4 7 मि० डालर अफ्रीका की 3 योजनाओं को दिया गया।[1]

(7) ऋणी देश की सरकार से संबंध—निगम किसी उद्योग मे पूंजी लगाने से पूर्व उस देश की सरकार से स्वीकृति प्राप्त नहीं करता, परंतु विनियोजन की सूचना अवश्य दी जाती है। यदि सरकार पूंजी विनियोजन की अनुमति न दे तो निगम उद्योगों मे पूंजी लगाने से इन्कार कर सकता है।

भारत एवं अंतर्राष्ट्रीय वित्त निगम
(India and I F. C.)

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम द्वारा भारत को जो आर्थिक सहायता प्राप्त हुई है, उसका वर्णन निम्न प्रकार है—

(1) सदस्य—भारत 5 बड़े स्थायी सदस्यों मे से एक है, जिससे यह निगम के प्रशासनिक संचालक मंडल का भी स्थायी सदस्य है।

(2) उद्योगों का कम विकसित होना—भारत में आयोजन काल से ही अधिकांश उद्योग सरकारी क्षेत्र में ही विकसित किए गए हैं जिससे वित्त निगम का लाभ नहीं उठा पाए, क्योंकि यह निगम केवल निजी उद्योगों को ही वित्तीय सुविधाएं प्रदान करता है।

(3) सहायता व अंशपूंजी—भारत के विभिन्न उद्योगों को निगम ने कुल मिलाकर 18 मि० डालर ऋण एवं अंशपूंजी के रूप मे 8.1 मि० डालर प्रदान किए हैं। ऋणों तथा अंश पूंजी का ब्यौरा निम्न प्रकार है—

(लाख डालर में)

	ऋण	पूंजी	योग
1. आसाम सिलमेनाइट	0.8	—	0 8
2 फोर्ट ग्लोस्टर	1.5	3 5	5 0
3. प्रिमोजन विर्यारिंग	2.1	3.8	5.9
4. अमश्री केमिकल्स	3.6	1.0	4.6
5. लक्ष्मी मशीन वर्क्स	4.3	3.1	7.4
6. महिन्द्रा स्टील	14.3	8.3	22.6
7. इंडियन एक्सप्लोसिव	40 9	24.3	65.2
8. जुआरी केमिकल्स	112.5	37.1	149.6
	180.0	81.1	261.1

(4) लाभ नहीं उठाना—भारत ने प्रारंभिक वर्षों में वित्त निगम से कोई लाभ नहीं उठाए क्योंकि उसे कम ब्याज पर दीर्घकालीन ऋण विश्व बैंक से प्राप्त हो जाते रहे।

आलोचनाएं—अंतर्राष्ट्रीय वित्त निगम की प्रमुख आलोचनाएं निम्न प्रकार हैं—

(1) ऊंची ब्याज दर—निगम द्वारा ऊंची ब्याज दर ली गई जो प्रायः 8 से 10% तक रहती थी और इस ब्याज का भार अविकसित राष्ट्र उठाने में असमर्थ थे।

1. The Financial Express, Aug. 21, 1975.

(2) छोटे उद्योगों की उपेक्षा—निगम कम से कम 1 लाख डालर से कम की वित्तीय सहायता प्रदान नहीं करता है जिससे यह ऋण केवल बड़े उद्योगों को ही प्राप्त हो पाता है तथा मध्यम व छोटे वर्ग के उद्योग वित्त निगम की सेवाओं से वंचित रह जाते हैं।

(3) साधनों का अभाव—वित्त निगम के स्वयं के वित्तीय साधन अपर्याप्त हैं, जिससे अविकसित राष्ट्रों की ऋण संबंधी मांग की पूर्ति नहीं हो पाती है। निगम ने अभी तक केवल 20 करोड़ डालर के ऋण दिए हैं जो अविकसित राष्ट्रों की माग को देखते हुए अपर्याप्त हैं।

(4) नियमों में कठोरता—निगम द्वारा यह कठोर शर्त लगाई गई है कि ऋण एवं ब्याज का भुगतान अमेरिकी डालर में ही होगा, जो अविकसित राष्ट्रों के लिए एक समस्या बन जाती है।

(5) भेदभावपूर्ण व्यवहार—निगम भेद-भावपूर्ण व्यवहार अपनाता है और इसने अधिकांशतः ऋण लैटिन अमेरिका के राष्ट्रों को ही दिया है जिससे अफ्रीका एवं एशिया के अविकसित राष्ट्रों की उपेक्षा की गई।

कठिनाइयां

वित्त निगम को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है जो कि निम्न हैं—

(1) जागृति का अभाव—निगम की वित्तीय प्रबंध की बढ़ती हुई आवश्यकताओं एवं जटिलताओं के प्रति व्यापक जागृति का अभाव पाया जाता है जिससे आवश्यकता पड़ने पर योग्य वित्तीय विशेषज्ञ उपलब्ध नहीं हो पाते हैं।

(2) पूंजी की कमी—जब किसी विशेष योजना के लिए पूंजी के एकत्रीकरण का प्रस्ताव रखा जाता है तो वह उसकी आवश्यकता से कम पड़ जाती है, जिससे अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है और समय पर पूंजी का प्रबंध नहीं हो पाता।

(3) कार्यशील पूंजी का अपर्याप्त अनुमान—यह अनुमान लगाया जाता है कि कार्यशील पूंजी की आवश्यकता को बैंक से अल्पकालीन ऋण लेकर पूर्ण कर लिया जाएगा, जिससे कार्यशील पूंजी का अपर्याप्त अनुमान लगाया जाता है।

(4) विलंब—आवश्यक योजनाओं के निर्माण होने एवं उन्हें लाभप्रद ढंग से संचालन करने में बहुत विलंब हो जाता है।

(5) वित्तीय प्रबंध उपकरणों का अभाव—निगम को अनेक प्रकार के वित्तीय प्रबंध उपकरणों की आवश्यकता रहती है, जिसका सर्वथा अभाव पाया जाता है।

(6) अनुभव की कमी—विकासशील राष्ट्रों में वित्तीय, तकनीकी एवं प्रशासनिक अनुभव की कमी पाए जाने के कारण आर्थिक, राजनैतिक एवं सामाजिक दशाएं स्थिर नहीं रह पातीं।

इन कठिनाइयों के होते हुए भी निगम ने अविकसित राष्ट्र के विकास के लिए आवश्यक सुविधाएं प्रदान की हैं तथा निजी क्षेत्र के विनियोजन में काफी सहायता प्रदान की है। निगम को अंशपूंजी क्रय करने के अधिकार मिलने से वह उद्योगों में अंशधारी के रूप में भाग ले सकता है। निगम ऋण देते समय किसी राजनीतिक व आर्थिक शर्त नहीं लगाता। इस प्रकार से यह निगम देश के आर्थिक विकास में सहायक सिद्ध होता है। आशा है, भविष्य में वित्त निगम वित्तीय सहायता देने में पूर्ण रूप से सफल हो सकेगा।

24

अंतर्राष्ट्रीय विकास संघ

(International Development Association)

प्रारम्भिक

विश्व के विकासशील एवं अविकसित राष्ट्रों को आर्थिक विकास के लिए वित्तीय सहायता की आवश्यकता अनुभव हुई। विश्व में विश्व बैंक के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसी संस्था नहीं थी जो यह कार्य पूर्ण कर सकें। विश्व बैंक बहुत समय से विश्व में एक ऐसे संगठन की स्थापना की आवश्यकता को अनुभव कर रहा था जो विश्व बैंक के सहायक के रूप में अविकसित राष्ट्रों को सस्ती दर पर ऋण प्रदान कर सके। इस प्रकार के संगठन की स्थापना का सुझाव सर्वप्रथम 1958 में अमेरिका के सिनेट सदस्य श्री मोनरोनी (Monroney) ने रखा और 1959 की विश्व बैंक की बैठक में अंतर्राष्ट्रीय विकास संघ की स्थापना का प्रस्ताव रखा गया जिस पर सदस्यों की स्वीकृति प्राप्त होने पर 24 सितम्बर, 1960 में लागू करके नवम्बर, 1960 में नियमपूर्वक कार्यान्वित कर दिया गया। अंतर्राष्ट्रीय विकास संघ एक नवीन संस्था है जो अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अविकसित एवं अल्प-विकसित राष्ट्रों के आर्थिक विकास कार्यक्रमों में वित्तीय सहायता प्रदान करता है।

आवश्यकता

इस संघ की स्थापना की आवश्यकता विकासशील राष्ट्रों के सम्मुख अनेक पूंजी संबंधी गंभीर समस्याओं के कारण उदय हुई। इन समस्याओं को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—



(1) पूंजी की समस्या—प्रत्येक देश को प्रायः दो प्रकार की पूंजी की आवश्यकता होती है। (अ) विकास पूंजी जो बड़े उद्योगों के विकास के लिए प्रयोग की जाती है। यह पूंजी उत्पादक होती है, जो उत्पादन कार्यों में लगाई जाती है। (ब) सामाजिक पूंजी जो सार्वजनिक हित के कार्यों में प्रयोग की जाती है। यह पूंजी अनुत्पादक होती है और इसके भुगतान के लिए लंबी अवधि का ऋण लेना आवश्यक होता है।

(2) ब्याज की समस्या—दीर्घकालीन पूंजी के लिए ब्याज चुकाने की समस्या उत्पन्न होती है जो कि अविकसित राष्ट्रों के लिए एक भार स्वरूप होता है। अतः इस भार को कम करने के लिए कोई समुचित व्यवस्था होना आवश्यक था क्योंकि ब्याज का भुगतान प्रायः विदेशी मुद्रा में ही मांगा जाता है। इससे समस्या और अधिक गंभीर हो

जाती है क्योंकि 5 या 6% वार्षिक की दर से ब्याज लगाने से भी 20 वर्ष में यह राशि मूलधन के बराबर हो जाती है।

(3) सामाजिक उद्योग—निजी उद्योग प्रायः लाभकारी उद्योगों में ही धन का विनियोजन करते हैं तथा सरकारी विनियोजन प्रायः सामाजिक उद्योगों में किया जाता है जो देर से लाभ देने वाले होते हैं और विलंब से ही लाभ प्रदान करते हैं। इन उद्योगों में पूंजी लगाने की क्षमता भी सीमित होती है। अतः यह आवश्यक होता है कि कोई बाह्य संस्था सामाजिक उद्योगों के विकास के लिए ऋण का प्रबंध करे।

(4) पूंजी संबंधी समस्याएं—अंतर्राष्ट्रीय बैंक एवं अंतर्राष्ट्रीय वित्त निगम व्यावसायिक सिद्धांतों पर बनाए जाने के कारण अविकसित राष्ट्रों की वित्त संबंधी समस्याओं को हल करने में समर्थ नहीं हो पाई हैं। इसके अतिरिक्त सदस्य राष्ट्रों के सम्मुख ऋणों के भुगतान की समस्या अत्यंत गंभीर हो गई है, जिसके लिए एक अंतर्राष्ट्रीय संस्था की स्थापना करना आवश्यक हो गया है।

अंतर्राष्ट्रीय विकास संघ की स्थापना तथा उद्देश्य
(Establishment and Arms of International Development Association)

अमेरिका की सिनेट के सदस्य श्री मोनरोनी ने 195- में विश्व में एक ऐसी अंतर्राष्ट्रीय संस्था के निर्माण का सुझाव दिया था जो अविकसित देशों को सस्ते ऋण प्रदान कर सकें और भुगतान उन देशों की ही मुद्रा में प्राप्त करने को तत्पर हो सकें। राष्ट्रपति आइजनहावर ने इस योजना पर अपनी सहमति प्रदान की।

उद्देश्य—संघ का मुख्य उद्देश्य विश्व बैंक के पूरक के रूप में कार्य करते हुए अविकसित सदस्य राष्ट्रों को विकास संबंधी सस्ते एवं दीर्घकालीन ऋण प्रदान करना है। विकास संघ सुलभ ऋणों की व्यवस्था करता है।

संघ का संगठन

विश्व बैंक का सदस्य बनने पर कोई भी राष्ट्र इस संघ का भी सदस्य बन सकता है। 30 जून, 1968 को इस संघ में सदस्यों की संख्या 108 थी जो विकसित एवं अविकसित दो वर्गों में विभाजित थी। विकसित राष्ट्र 18 व अविकसित राष्ट्र 90 इसके सदस्य थे। इस संघ की पूंजी 100 करोड़ डालर है जिसमें से 75 करोड़ डालर विकसित देशों एवं 25 करोड़ डालर अविकसित देशों के लिए हैं। संघ की प्रार्थित पूंजी 99.91 करोड़ डालर है। विकसित राष्ट्रों को अपना चंदा स्वर्ण या परिवर्तनशील मुद्रा में देना पड़ता है जबकि अविकसित देशों को अपने चंदे का 10% स्वर्ण में तथा शेष 90% भाग राष्ट्रीय मुद्रा में देना पड़ता है जो 5 किस्तों में चुकाना पड़ता है। इस संघ के बड़े अंशधारियों में अमेरिका, इंग्लैंड, जर्मनी व कनाडा का नाम है जिनके चंदे निम्न प्रकार हैं—

चंदे का विवरण

राष्ट्र का नाम	चंदे की राशि (मि० डालर में)
कनाडा	37.83
जर्मनी	52.96
इंग्लैंड	131.14
अमेरिका	320.29
भारत	40.35

अविकसित राष्ट्र ऋण के लिए इसी संघ पर निर्भर हैं परंतु संघ के वित्तीय साधन अपर्याप्त होने से इस पर अधिक निर्भर नहीं रहा जा सकता। अतः संघ के साधनों में वृद्धि करने का प्रस्ताव रखा गया है। इस की प्रबंध व्यवस्था विश्व बैंक की ही भांति होती है जिसमें गवर्नर मंडल, संचालक मंडल एवं अन्य उच्च अधिकारी-गण कार्य करते हैं। इसके पदाधिकारी वही व्यक्ति होते हैं जो विश्व बैंक में कार्य कर रहे हैं। विकास संघ की सदस्यता विश्व

बैंक के सभी सदस्य राष्ट्रों के लिए खुली है तथा अन्य शर्तें विश्व बैंक की सदस्यता के समान ही हैं। प्रत्येक सदस्य को 500+प्रति 5000 डालर पर एक मत देने का अधिकार होता है। भारत को 8570 वोट देने का अधिकार है।

विकास संघ का प्रबंध—विश्व बैंक का संचालन करने वाले व्यक्तियों के हाथों में ही इस संघ की प्रबंध व्यवस्था है। गवर्नर मण्डल, प्रशासकीय संचालक एवं उच्च अधिकारियों के अतिरिक्त विश्व बैंक के कर्मचारी इसके समस्त कार्यों की व्यवस्था करने के लिए उत्तरदायी हैं। आवश्यकता पड़ने पर संस्था के लिए पृथक से कर्मचारी नियुक्त किए जा सकते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ के कार्य
(Functions of I. D. A.)

यह संघ विश्व बैंक की पूरक संस्था है तथा अविकसित देशों को विकास करने के लिए सस्ते एवं दीर्घकालीन ऋण की व्यवस्था करता है। संघ की शर्तें सरल एवं सुविधाजनक हैं। संघ द्वारा विशेष योजनाओं के लिए भी ऋण दिए जाते हैं। विश्व बैंक के समान विकास संघ भी एक विशेषज्ञ समिति नियुक्त करती है जो पूर्णरूपेण अध्ययन करके अपनी रिपोर्ट संघ के सम्मुख रखती है जिसके आधार पर ऋण देने या न देने का निश्चय किया जाता है। संघ द्वारा ऐसी शर्तों पर ऋण दिया जाता है जिसका भुगतान सन्तुलन पर बुरा प्रभाव न पड़े। यह संघ अविकसित राष्ट्रों के वित्तीय सहायता प्रदान करने वाले सार्वजनिक अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं के साथ सहयोग करता है। संघ द्वारा राजनीतिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं किया जाता। संघ के ऋण प्रायः स्थानीय मुद्राओं में वापस किए जाएंगे, जिससे वह अपने सीमित दुर्लभ मुद्रा साधनों से वंचित न रह जाएं। ऋण देने के बाद संघ द्वारा समय-समय पर जांच-पड़ताल करनी चाहिए। आवश्यकता पड़ने पर संघ प्राविधिक सहायता की भी व्यवस्था कर सकता है। इस प्रकार संघ के ऋण देने की व्यवस्था अधिक सरल व सुविधाजनक रहती है, क्योंकि ऋण अधिक रोजगार एवं लचीले होते हैं। इस उदारता के मुख्य कारण निम्न हैं—

(1) दीर्घकालीन ऋण—यह ऋण कम से कम 15 वर्ष की अवधि के लिए दिये जाते हैं जिससे ऋण पर्याप्त हो सकें।

(2) प्राथमिकता—ऋण प्रदान करते समय उन राष्ट्रों को प्राथमिकता दी जाती है, जिन्हें साख के अभाव के कारण विश्व बैंक से ऋण प्राप्त नहीं हो सका था।

(3) विकासात्मक प्राथमिकता—संघ द्वारा विकास से सम्बन्धित उद्योगों को प्राथमिकता के आधार पर ऋण स्वीकृत किए जाते हैं।

(4) सरकार की गारण्टी—यह संघ भी विश्व बैंक की भांति सरकार की गारण्टी के बिना ही निजी साहसियों को ऋण प्रदान करते हैं।

(5) स्थानीय मुद्रा की सुविधा—संघ के ऋण ऋणी संस्था द्वारा स्थानीय मुद्रा में भी वापस किए जा सकते हैं।

(6) कम ब्याज दर—संघ की ब्याज दर विश्व बैंक की तुलना बहुत ही कम है। प्रायः ऋणों पर प्रशासनिक व्ययों को ही सम्मिलित किया जाता है।

(7) विनियोजन—संघ के लागत व्यय का एक निश्चित भाग स्वयं ही ले लिया जाता था, परन्तु इससे विदेशी विनिमय की समस्या का सरलता से हल किया जा सकता है।

इस प्रकार संघ द्वारा प्रदान किए जाने वाले ऋण अधिक सरल एवं प्राप्त होने वाले हैं जिन्हें सरलता से निजी क्षेत्र में विनियोजित किया जा सकता है तथा देश के विकास के प्रयास किए जा सकते हैं।

संघ की प्रगति

इस संघ ने अपना कार्य 8 नवम्बर, 1961 से प्रारम्भ किया तथा 30 जून, 1967 को इस संघ ने 1684 मि० डालर के ऋण स्वीकृत किए। इसके अतिरिक्त 96 मि० डालर के ऋण अबद्ध (uncommitted) थे। 30 जून, 1698 को स्वीकृत ऋण की राशि बढ़कर 1776 मि० डालर हो गई और अबद्ध ऋण की मात्रा 55 मि० डालर थी। संघ द्वारा

ऋण शक्ति, परिवहन, कृषि एवं वन विकास, शिक्षा, जल पूर्ति योजना, उद्योग आदि पर ऋण दिया गया जो ब्याजरहित होता है। ऋण पर 3/4% की दर से व्यय लिया जाता है। ऋण का सबसे अधिक भाग एशिया एवं मध्य-पूर्व के राष्ट्रों को ही प्राप्त हुआ है। संघ की अभिदान राशि 1017 मि० डालर हो गयी है। विकास संघ द्वारा 57 देशों को कुल 4406 मि० डालर के ऋण स्वीकृत किए गए हैं। इसमें से 2424 मि० डालर की राशि ही वितरित हो सकी है। संघ द्वारा दिए गए ऋण का विवरण निम्न प्रकार है—

संघ द्वारा दिए गए ऋण

(मि० डालर में)

देश		स्वीकृत ऋण	वितरित राशि
1.	मिश्र	56	—
2.	ट्यूनीशिया	63	25
3.	तंजानिया	78	47
4.	इथोयोपिया	83	31
5.	केनिया	83	40
6.	कोरिया	91	45
7.	टर्की	149	96
8.	इण्डोनेशिया	333	51
9.	पाकिस्तान	590	655
10.	भारत	1525	1290

भारत एवं अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ
(India and I. D. A.)

भारत इस संघ का एक प्रारम्भिक सदस्य है और अपने चन्दे के आधार पर भारत को संघ में एक प्रशासनिक संचालक नियुक्त करने का अधिकार है। संघ की स्थापना के समय से ही भारत को सड़कों, रेलों, सिंचाई, विद्युत शक्ति बन्दरगाह एवं परिवहन के विकास के लिए पर्याप्त मात्रा में ऋण प्राप्त हुआ है। 1966 में संघ ने भारत को 150 मि० डालर का ऋण, आवश्यक विदेशी विनिमय का प्रबन्ध करने के उद्देश्य से, स्वीकृत किया। यह ऋण ब्याजरहित है जिसे अगले 10 वर्ष बाद अर्थात् 1976 से 50 वर्षों की अवधि में वापस करना होगा। 31 मार्च, 1969 तक संघ ने भारत को 758 करोड़ रुपए के ऋण प्रदान किए जिनमें से 570 करोड़ रुपए का उपयोग किया जा चुका है। भारत को संघ द्वारा कुल सहायता का लगभग 50% भाग प्राप्त हुआ है। इस प्रकार संघ ने भारत के प्रति उदारतापूर्ण दृष्टिकोण अपनाया है।

विश्व बैंक एवं अन्य विश्व संस्थाओं ने ऋणों की सहायता से भारत ने निर्माण उद्योगों में काफी प्रगति की है एवं अनेक प्रकार के उद्योगों की स्थापना की है व साथ ही इनके विकास पर प्राथमिकता दी गई है। विदेशी विनिमय की कठिनाई के कारण भारत आवश्यकता की वस्तुओं को आयात करने में असमर्थ था, जिससे इस संघ ने नवीन ऋणों को स्वीकृत करके विदेशी विनिमय सबंधी सुविधाएं प्रदान की हैं।

अभी हाल ही में इस संघ ने औद्योगिक आयात के लिए भारत को 75 मि० डालर का ऋण स्वीकृत किया है। यह ऋण सरल शर्तों पर मिला है जो 10 वर्ष पश्चात् 50 वर्षों की अवधि में भुगतान किया जाएगा। यह ऋण ब्याजमुक्त है, परन्तु 0.75% की दर से प्रशासनिक लागत ही ली जाएगी। 1950 से पूर्व भारत का औद्योगिक उत्पादन में भाग कुल सकल राष्ट्रीय उत्पादन का 13% था जो 1968-69 में बढ़कर 18% हो गया। इस प्रकार भारतीय औद्योगिक उत्पादन में काफी विकास हुआ। इस ऋण की सहायता से पूंजीगत वस्तुओं एवं कृषि रसायन सम्बन्धी उद्योगों का विकास सम्भव हो सकेगा। इस ऋण द्वारा विदेशों से कच्ची सामग्री, उपकरण व अन्य भागों के आयात के लिए आवश्यक विदेशी मुद्रा उपलब्ध होगी। औद्योगिक क्षेत्र में व्यापारिक गाड़ियां, कृषिगत ट्रैक्टर, परिवहन संबंधी उपकरण,

मशीन टूल्स, विद्युत मोटर, खाद एवं अन्य उद्योगों को सम्मिलित किया जाता है। लाभ प्राप्त करने वाली संस्थाएं 1.6 मि० व्यक्तियों को रोजगार प्रदान करेंगी तथा आशा की जाती है कि 1970-71 तक उद्योगों द्वारा 1 बिलियन डालर की लागत का माल उत्पादित किया जा सकेगा।

विकास संघ द्वारा भारत को 44 ऋण स्वीकृत किए गए हैं जिसकी राशि 1925 मि० डालर है। यह राशि कुल स्वीकृत ऋणों की लगभग 45% है।

आलोचनाएं

संघ की प्रमुख आलोचनाएं निम्न हैं—

(1) उदार ऋणों की आलोचनाएं—आलोचकों का कथन है कि इस संघ द्वारा उदार शर्तों पर ऋण प्रदान करने से विश्व बैंक द्वारा किए गए कार्यों की प्रशंसा सम्भव न हो सकेगी।

(2) मुद्रा प्रसार का भय—उदार ऋणों के कारण ऋणी देश मुद्रा प्रसार के चक्र में फंस सकते हैं जिससे देश का आर्थिक विकास खतरे में पड़ सकता है।

(3) लोच का अभाव—संघ द्वारा जो ऋण प्रदान किए जाते हैं, उनमें प्रायः पर्याप्त लोच का अभाव पाया जाता है।

(4) व्यापार के स्वरूप पर प्रभाव—संघ द्वारा जो ऋण अविकसित राष्ट्रों के विकास के लिए दिया जाता है, उस मुद्रा का प्रयोग व्यापार के स्वरूप पर प्रभाव डाल सकता है।

(5) ग्रेशम का नियम लागू होना—ग्रेशम का नियम विदेशी सहायता के संबंध में भी लागू किया जा सकता है।

(6) सीमित साधन—अविकसित राष्ट्रों की विकास संबंधी आवश्यकताओं को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि इस संघ के वित्तीय साधन बहुत सीमित हैं जिससे यह राष्ट्रों के विकास के लिए अल्प मात्रा में ही ऋण प्रदान करके उनके विकास में सहयोग दे सकेंगे।

सुझाव

संघ के कार्यों को उपयोगी बनाने के लिए निम्न सुझाव दिए जा सकते हैं—

(1) वित्तीय साधनों में वृद्धि—संघ के वित्तीय साधनों में वृद्धि करना आवश्यक है जिससे अविकसित राष्ट्रों के विकास के लिए अधिकाधिक ऋण प्रदान किए जा सकें।

(2) संघ को माध्यम बनाना—विश्व के अन्य राष्ट्रों द्वारा अविकसित राष्ट्रों को जो सहायता प्रदान की जाए, वह सहायता प्रत्यक्ष देने के स्थान पर प्रायः संघ के माध्यम से दी जानी चाहिए, जिससे विकास कार्यों में समन्वय स्थापित किया जा सके।

(3) कम ब्याज—संघ द्वारा प्रदान किए जाने वाले ऋणों पर न्यूनतम ब्याज वसूल करनी चाहिए, जिससे ऋणों का अच्छा व उचित उपयोग सम्भव किया जा सके।

(4) ठहरावों में प्रविष्ट—संघ को किसी भी सदस्य देश में सदस्यों की मुद्रा में प्रतिरिक्त साधन प्राप्त करने के ठहरावों में प्रविष्ट होने की सुविधा होनी चाहिए, जिससे, आवश्यक ऋण सम्बन्धी सुविधाएं प्राप्त हो सकें।

अंतर्राष्ट्रीय विकास संघ द्वारा भारत को 227.5 मि० डालर की सहायता दी गई जो संघ द्वारा स्वीकृत की गई सम्पूर्ण राशि 605.6 मि० डालर का 37% भाग है। संघ ने गुजरात व पंजाब में कृषि साख योजनाओं के लिए सहायता स्वीकार की। इस संघ ने भारत के औद्योगिक साख व विनियोग निगम को 40 मि० डालर का एक ऋण भी स्वीकार किया है। अभी हाल ही में इस संघ ने भारत में ग्रामीण विद्युतीकरण के लिए 43 करोड़ रु० की मांग स्वीकृत की है। अंतर्राष्ट्रीय विकास संघ द्वारा उन लोगों तक पहुंचना है जिन तक विश्व बैंक नहीं पहुंच पाता। संघ का उद्देश्य उन लोगों को सुन्दर, स्वस्थ तथा निर्माणकारी जीवन प्रदान करना है। यदि 1975 वर्ष के लिए प्रथम साल है। यह साख सिंचाई के लिए पानी का उपयोग करके कृषि उत्पादन को बढ़ाने में सहायक होगी। यह योजना ग्रामीण विद्युत निगम

25

एशियाई विकास बैंक

(Asian Development Bank)

प्रारंभिक

एशियाई विकास बैंक की स्थापना का प्रश्न सर्वप्रथम 1963 में उठाया गया और 26 नवंबर, 1966 को इसकी विधिवत् स्थापना की गयी। एशिया महाद्वीप के अधिकांश राष्ट्र चिरकाल तक विदेशी साम्राज्य द्वारा शोषित होते रहे तथा जनता पर अनेक प्रकार के शोषण किए गए। यह राष्ट्र प्रारंभ से ही गरीब रहे हैं, परंतु अधिकांश राष्ट्रों में स्वतंत्रता प्राप्त होने से आर्थिक विकास की ओर ध्यान दिया गया। यद्यपि अंतर्राष्ट्रीय विश्व बैंक, विकास संघ एवं वित्त निगम की स्थापना से एशिया के अधिकांश पिछड़े हुए राष्ट्रों को पर्याप्त मात्रा में आर्थिक सहायता प्राप्त हुई है, फिर भी इन राष्ट्रों की विकास की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए पृथक् से एशियाई विकास बैंक की स्थापना की आवश्यकता को अनुभव किया गया। अतः दिसंबर, 1963 में मनीला में एक आर्थिक सम्मेलन हुआ जिसमें एशिया के विकास के लिए पृथक् बैंक की स्थापना के संबंध में विचार किया गया तथा ऐसी संस्था स्थापित करने का प्रस्ताव पारित भी कर दिया गया। एशिया एवं सुदूर पूर्व के आर्थिक सहयोग (Ecafe) ने इस प्रस्ताव पर गंभीरतापूर्वक विचार करके एक कार्यकारी समिति का निर्माण किया जिसने अपनी रिपोर्ट 1965 में वैलिंगटन में होने वाली वार्षिक सभा के सम्मुख प्रस्तुत की। इस सभा में एक सलाहकार समिति नियुक्त की गई, जिसने अपना दौरा करके एक समझौता पत्र तैयार किया, जिसे इकेफे के द्वितीय अधिवेशन में 1965 में स्वीकार कर लिया गया जिस पर 31 राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया तथा इस बैंक का कार्य 19 दिसंबर से प्रारंभ किया गया। 31 दिसंबर, 1967 को स्विटजरलैण्ड भी इसका सदस्य बन गया, जिससे इसकी सदस्य संख्या बढ़कर 32 हो गई।

एशियाई विकास बैंक के उद्देश्य एवं कार्य

इस बैंक के प्रमुख उद्देश्य एवं कार्य निम्न प्रकार हैं—

(1) विनियोग को प्रोत्साहित करना—बैंक का उद्देश्य देश में सरकारी एवं निजी विनियोग को प्रोत्साहित करना होता है।

(2) व्यापार को बढ़ावा—बैंक विदेशी एवं अंतरक्षेत्रीय व्यापार को प्रोत्साहित करने के प्रयास करेगा।

(3) विकास वित्त प्रदान करना—बैंक द्वारा अपने साधनों का प्रयोग सदस्य राष्ट्रों की विकास योजनाओं के लिए आवश्यक वित्तीय साधन प्रदान करना है व साथ ही उन विकास कार्यक्रमों को प्राथमिकता प्रदान की है जो समूचे राष्ट्र का आर्थिक विकास कर सकें।

(4) सहयोग प्रदान करना—बैंक का उद्देश्य एशिया के राष्ट्रों में राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं को सहयोग प्रदान करना होता है।

(5) तकनीकी सहायता—यह बैंक विकास योजनाओं कार्यक्रमों की तैयारी आदि के लिए भी तकनीकी सहायता प्रदान करता है।

(6) समन्वय स्थापित करना—बैंक सदस्य राष्ट्रों की विकास नीतियों एवं योजनाओं में समन्वय स्थापित करके साधनों के अधिकतम उपयोग करने के प्रयास करता है।

(7) सहयोग प्रोत्साहित करना—बैंक का प्रमुख कार्य एकेफे के क्षेत्र में विकास व सहयोग को प्रोत्साहित करना है जिससे आर्थिक विकास शीघ्र संभव हो सके।

(8) अन्य संगठनों से सहयोग—बैंक का उद्देश्य अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्थापित किए गए अन्य संगठनों के साथ सहयोग स्थापित करना है।

(9) अन्य कार्य—बैंक का उद्देश्य विकास से संबंधित अन्य समस्त कार्य भी करना है। इस प्रकार से एशियाई विकास बैंक का मुख्य कार्य इसके क्षेत्र के देशों के आर्थिक विकास में आर्थिक एवं तकनीकी सहायता प्रदान करता है एशिया के अधिकांश देशों में इन तत्वों का अभाव पाया जाता है और उसकी पूर्ति इस बैंक द्वारा की जाती है।

सदस्यता

एशियाई विकास बैंक के निम्न राष्ट्र सदस्य हो सकते हैं—

(1) इकेफे के सदस्य राष्ट्र।

(2) इकेफे के संयुक्त सदस्य राष्ट्र।

(3) संयुक्त राष्ट्र संघ एवं उससे संबद्ध संस्था के सदस्य।

(4) अन्य विकसित राष्ट्र जो संयुक्त राष्ट्र संघ या अन्य संस्था के सदस्य हैं।

किसी भी राष्ट्र को इस बैंक का सदस्य उसी समय बनाया जा सकता है, जबकि बैंक के कुल गवर्नरों का $\frac{2}{3}$ भाग, जिनके पास कम से कम $\frac{3}{4}$ मतदान क्षमता हो, उस राष्ट्र को सदस्य बनाने के पक्ष में हों व सिफारिश करें। वर्तमान समय में इस बैंक में 35 राष्ट्र सदस्य हैं। इनमें से 21 सदस्य सुदूर-पूर्व-क्षेत्र एवं शेष 14 सदस्य बाहरी क्षेत्र से हैं।

पूंजी व्यवस्था

बैंकों की अधिकृत पूंजी 1100 मि० डालर है जिसमें से 1004 मि० डालर की पूंजी बिक चुकी है। इसमें से आधी पूंजी प्रदत्त पूंजी है। साधनों में वृद्धि करने के लिए बैंक पूंजी में वृद्धि या ऋण पत्रों को बेच सकती है। इस बैंक ने अभी तक तकनीकी सहायता विशेष कोष, कृषि विशेष कोष एवं बहुउद्देशीय विशेष कोष का निर्माण किया है। इस बैंक ने अभी तक कोई ऋण पत्र नहीं बेचे हैं। इसकी पूंजी का 60% भाग एशियाई राष्ट्रों द्वारा तथा 40% भाग अन्य राष्ट्रों द्वारा खरीदा जा सकता है। बैंक की कुल पूंजी का 38% भाग एशिया के बाहर के राष्ट्रों द्वारा खरीदा गया है यह राशि 380 मि० डालर है। चुकता पूंजी का आधा भाग स्वर्ण में या परिवर्तित मुद्रा में 5 किस्तों में तथा शेष आधा भाग अपनी मुद्रा में दिए जाने की व्यवस्था है। अमेरिका व जापान प्रत्येक का अंशदान 200 मि० डालर है, भारत का अंशदान 93 मि० डालर है। आस्ट्रेलिया का अंशदान 85 मि० डालर है। इस प्रकार बैंक के अमेरिका जापान एवं भारत सबसे बड़े हिस्सेदार हैं।

पूंजी के अतिरिक्त बैंक ऋणों द्वारा अपने साधनों में वृद्धि कर सकता है। बैंक के विशेष कोषों में विकसित देशों से भी अनुदान प्राप्त किए जा सकते हैं। अब तक कृषि विशेष कोष, तकनीकी सहायता विशेष कोष, एवं बहु-उद्देशीय विशेष कोष की स्थापना की जा चुकी है। एशियाई विकास बैंक द्वारा अभी तक कोई ऋण-पत्र नहीं बेचे गए हैं।

प्रबंध व्यवस्था

बैंक का प्रत्येक सदस्य राष्ट्र इसके गवर्नर बोर्ड में एक गवर्नर एवं एक वैकल्पिक गवर्नर नियुक्त करता है। यह बोर्ड सचालक मंडल का निर्वाचन करता है जिसमें 10 व्यक्ति होते हैं। इनमें 7 संचालक एशियाई राष्ट्रों के तथा 3 संचालक गैर-एशियाई राष्ट्रों से लिए जाते हैं। एशियाई राष्ट्र का नागरिक, जो गवर्नर मण्डल में हो वह अध्यक्ष

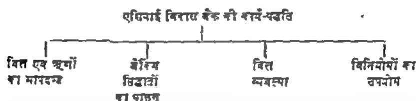
चुनाव भी करते हैं जो संचालक मण्डल का सभापति तथा स्टाफ का प्रमुख अधिकारी होता है। मतों का 80% भाग सदस्यों में उनके हिस्सों के अनुपात में तथा शेष 20% सब सदस्यों में समान रूप से बांटा जाता है। भारत, जापान एवं आस्ट्रेलिया को संचालक मण्डल में उनके अंशदान के आधार पर चुना गया है। इनके गैर-क्षेत्रीय संचालकों में इंग्लैण्ड, अमेरिका एवं प० जर्मनी हैं। क्षेत्रीय संचालक 10% अंश पूंजी के आधार पर निर्वाचित किए जाते हैं। क्षेत्रीय संचालक थाईलैण्ड, द० कोरिया एवं फिलीपाइन हैं तथा गैर-क्षेत्रीय संचालकों में इंग्लैण्ड, अमेरिका एवं प० जर्मनी हैं। स्टाफ की नियुक्ति भौगोलिक वितरण की आवश्यकता को ध्यान में रखकर किया जाता है। जापान के टाकेशी वाटानाबे (Takeshi Watanabe) को 5 वर्ष के लिए इस बैंक का अध्यक्ष चुना गया है। 1968 में आस्ट्रेलिया के विलियम मेक्मोहन (William McMohan) को चेयरमैन चुना गया था।

बैंक के कार्य

यह बैंक अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं के प्रयत्नों में वृद्धि करेगा। इसका प्रबंध एवं संचालन एशिया के राष्ट्रों द्वारा ही किया जाता है। पूंजी की कमी के कारण एशिया के राष्ट्र अपने देश का आर्थिक विकास करने में असमर्थ रहे हैं। यह बैंक एशिया के राष्ट्रों के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान देगा। बैंक के क्षेत्र में कृषि, उद्योग एवं शक्ति आदि को सम्मिलित किया जाता है। यह बैंक 6% वार्षिक की दर से ब्याज वसूल करता है। बैंक द्वारा 20-25 वर्ष की दीर्घकालीन अवधि के लिए ऋण दिए जाते हैं।

बैंक की कार्य-पद्धति

एशियाई विकास बैंक की कार्य-पद्धति निम्न प्रकार है—



(1) **वित्त एवं ऋणों का मापदण्ड**—यह बैंक सदस्य राष्ट्रों के विशिष्ट योजनाओं में ही वित्त-व्यवस्था करता है। योजनाओं का चुनाव करते समय राष्ट्र की आवश्यकताओं एवं विकास की ओर भी विशेष ध्यान दिया जाता है। किसी भी राष्ट्र द्वारा आपत्ति उठाए जाने पर बैंक उद्योग विशेष में विनियोग नहीं करेगा। ऋण उचित शर्तों पर दिए जाएंगे जिसमें दायित्व के भुगतान की सामर्थ्य को भी ध्यान में रखा जाएगा।

(2) **बैंकिंग सिद्धांतों का पालन**—बैंक अपनी साख को बढ़ाने एवं वित्तीय साधनों को आकर्षित करने के उद्देश्य से दुर्लभ ऋण नीति का पालन करता है तथा अपने कार्यों का संचालन सुदृढ़ बैंकिंग सिद्धांतों के आधार पर किया जाता है।

(3) **वित्त व्यवस्था**—यह बैंक सदस्य राष्ट्रों के उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करता है, जो कि अपनी चुकता पूंजी में से प्रत्यक्ष रूप में ऋण देकर या पूंजी बाजार से ऋण लेकर, साझेदार होकर धन उधार दिया जाता है। यह बैंक ऋणों की गारंटी भी देता है। यह कृषि, उद्योग एवं विद्युत शक्ति के लिए [illegible]% ब्याज पर 20 से 25 वर्ष के लिए दीर्घकालीन ऋण प्रदान करता है।

(4) **विनियोगों का उपयोग**—विनियोगों एवं ऋणों का उपयोग केवल सदस्य राष्ट्रों में उत्पादित वस्तुएं क्रय करने में ही किया जा सकता है। गैर-सदस्य राष्ट्रों में विनियोग के लिए संचालकों में से 2/3 संचालकों की स्वीकृति प्राप्त होना आवश्यक है

नीति निर्धारित करने वाले सिद्धांत—सदस्य देशों को विभिन्न रूपों में जो आर्थिक सहायता एशियाई विकास

बैंक द्वारा प्राप्त हो जाती है, उसका निर्धारण निम्न सिद्धांतों पर आधारित है —

(i) बैंक के कार्य का संचालन ब्याज की दर का निर्धारण लाभ अर्जित करने के उद्देश्य को ध्यान में रखकर किया जाएगा।

(ii) बैंक सार्वजनिक एवं निजी संस्थाओं के लिए आर्थिक सहायता दे सकता है।

(iii) बैंक छोटे देशों को विशेष लाभ पहुंचाने के प्रयास करता है।

(iv) बैंक क्षेत्रीय महत्व की विशिष्ट योजनाओं के लिए ही आर्थिक सहायता प्रदान करता है।

(v) जिन देशों को अन्य स्रोतों से आर्थिक सहायता प्राप्त हो जाती है, उन्हें आर्थिक सहायता देने में कोई प्राथमिकता नहीं दी जाती है।

(vi) ऋण प्रदान करते समय ऋणों की अदायगी की संभावना पर भी विचार किया जाता है।

बैंक का महत्व

एशियाई विकास बैंक के महत्व को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(1) स्थिरता—इस बैंक की स्थापना से संपूर्ण एशिया में आर्थिक विकास हो रहा है जिससे समस्त देशों में राजनीतिक एवं आर्थिक स्थिरता में वृद्धि हो गई है।

(2) गैर-क्षेत्रीय राष्ट्रों का योगदान—बैंक की स्थापना से अविकसित क्षेत्रीय सदस्यों एवं गैर-क्षेत्रीय विकसित राष्ट्रों के आर्थिक विकास में विकास के अवसर प्राप्त हो रहे हैं।

(3) क्षमता में वृद्धि—पश्चिम के विकसित राष्ट्रों द्वारा एशियाई राष्ट्रों को वित्तीय सहायता देने से बैंक की वित्तीय क्षमता में अपार वृद्धि हुई है। इससे अमेरिका पर भी सहायता का भार कम हो गया है।

(4) महत्वपूर्ण संस्था—अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा सीमित मात्राओं में ही ऋण प्रदान किया जाता था। एशियाई राष्ट्रों को आर्थिक विकास के लिए दुर्लभ मुद्रा में वित्तीय साधनों के प्राप्त होने से इस बैंक को एक महत्वपूर्ण संस्था माना जाता है।

(5) बहुपक्षीय सहायता—इस बैंक की स्थापना से एशिया के राष्ट्रों को वित्तीय सहायता बहुपक्षीय समझौते के आधार पर प्राप्त होती है जिससे विश्व के अन्य राष्ट्र भी एशिया के राष्ट्रों के विकास में योगदान देने लगे हैं।

(6) अंतर्राष्ट्रीय सहयोग—यह बैंक एशिया के राष्ट्रों के आर्थिक विकास के लिए अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की एक आवश्यक व लाभप्रद संस्था मानी जाती है। भारत इस बैंक का सदस्य होने के कारण बैंक से अनेक प्रकार की सहायता प्राप्त करता है।

तकनीकी सहायता

यह बैंक आर्थिक सहायता के अतिरिक्त तकनीकी सहायता भी निम्न कार्यों के लिए देता है—

(i) कृषि, उद्योग एवं सार्वजनिक क्षेत्रों में कार्यरत उपक्रमों को तकनीकी सहायता प्रदान करना।

(ii) प्रादेशिक एवं राष्ट्रीय विकास के लिए योजना निर्माण करना तथा उनके लिए साधनों की उचित व्यवस्था करना।

(iii) बैंक द्वारा विशेषज्ञों के दल को भेजने की व्यवस्था करना।

प्रगति

19 दिसंबर, 1975 को इस बैंक ने अपने 10 वर्ष पूर्ण कर लिए हैं। इस अल्पावधि में बैंक की उपलब्धियों को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(1) संगठन का कार्य—बैंक ने अपने संगठन संबंधी कार्य को पूर्ण कर लिया और इसने अपनी आर्थिक पूंजी का 973 मि० डालर प्राप्त कर लिया है जिसका 60% भाग 12 राष्ट्रों द्वारा प्रदान किया गया है।

(2) आमदनी—बैंक को 1969 में 5.5 मि० डालर की शुद्ध आमदनी हुई है जबकि 1968 में यह आय 2 1 मि० डालर थी।

(3) ऋण—31 दिसंबर, 1969 तक बैंक ने 27 ऋण 139 मि० डालर स्वीकृत किए।

(4) ब्याज दर—साधारण पूंजी से दिये गये ऋणों पर $6\frac{7}{8}$% तथा कोष में से दिये गये ऋणों पर $1\frac{1}{2}$% से 3% तक ब्याज लिया गया।

(5) कृषि सर्वेक्षण—सदस्य देशों ने कृषि को महत्त्व दिया, अतः बैंक ने कृषि सर्वेक्षण प्रारंभ किया, जिसका उद्देश्य कृषि विकास के योगदान को ज्ञात करना है।

(6) क्षेत्रीय परिवहन सर्वेक्षण—इन्डोनेशिया सरकार की प्रार्थना पर इस बैंक ने क्षेत्रीय परिवहन सर्वेक्षण प्रारंभ किया, जिसका उद्देश्य परिवहन के विकास की संभावनाओं का अध्ययन करना था।

(7) विनियोग—1969 के अंत में बैंक के कुल विनियोग 225 मि० डालर थे।

(8) तकनीकी सहायता—10 राष्ट्रों को 2 23 मि० डालर की तकनीकी सहायता दी गई।

(9) बौण्ड की बिक्री—बैंक ने प्रथम बार 1969 में बौण्डों की बिक्री की, जिसकी राशि 60 मि० डालर थी इन पर ब्याज 7% व अवधि 15 वर्ष निश्चित की गई।

(10) वित्तीय साधन—बैंक की साधारण अंश पूंजी 401 मि० डालर थी, जिसमें से 340 मि० डालर परिवर्तनशील मुद्रा में थी।

(11) आर्थिक विकास—बैंक ने एशिया के राष्ट्रों के आर्थिक विकास के लिए पर्याप्त मात्रा में ऋण प्रदान किए, जिसमें से कुछ भाग साधारण पूंजी के रूप में भी लगाया गया।

भारत एवं एशियाई विकास बैंक
(India and A. D. B.)

भारत में बैंक के साधनों का सीमित मात्रा में ही उपयोग किया गया है, फिर भी यह बैंक देश के विकास में सहायक रहा है। इस संबंध में मुख्य बातें निम्न हैं—

(1) खाद्य उत्पादन में सहायक—एशियाई विकास बैंक भारत में खाद्यान्न उत्पादन में विशेष सहायक सिद्ध हो सकता है। देश का कृषि विकास सिंचाई, विद्युत, उर्वरक एवं अन्य साधनों की सुलभता पर निर्भर करता है। ऐसी परिस्थिति में देश के आर्थिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि विकास बैंक द्वारा इन्हीं योजनाओं के विकास पर उचित ध्यान दिया जाना चाहिए। एशियाई विकास बैंक विभिन्न राष्ट्रों के विशेषज्ञों की सेवाएं प्राप्त करके सहायता प्राप्त कर सकता है।

(2) प्रतिकूल स्थिति में सुधार—भारत का व्यापार संतुलन प्रतिकूल स्थिति में है। आयात की मात्रा अधिक परंतु निर्यात की मात्रा कम रही है जिससे व्यापार संतुलन की स्थिति प्रतिकूल रही है। इस स्थिति को सुधारने के लिए बैंक द्वारा ऐसे उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान की जानी चाहिए जिससे उत्पादन में वृद्धि होकर आयात में कमी की गई। इसके अतिरिक्त कृषि से संबंधित उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान की गई जिससे निर्यात बढ़ाकर विदेशी मुद्रा अर्जित की जा सकती है। भुगतान संतुलन की स्थिति को सुधारने के लिए इस बैंक ने पर्याप्त सहायता प्रदान की है।

(3) स्थगित भुगतान पद्धति—निर्यात बढ़ाने के उद्देश्य से विदेशों से मशीनों आदि के आयात के लिए स्थगित भुगतान पद्धति की विधि को अपनाया गया।

(4) पूंजीगत वस्तुओं में उत्पादन वृद्धि—भारत में पूंजीगत वस्तुओं में धन विनियोग करने के लिए वित्तीय साधनों का अभाव पाया जाता है। जिसे बैंक द्वारा ऋण प्राप्त करके समस्त कार्य सुगमता से किए जा सकते हैं। यह बैंक भारत की मदद करता है।

वर्तमान स्थिति

बैंक को 54 मि० डालर का ऋण 3 राष्ट्रों द्वारा प्रदान किया गया जिससे सरल व कम ब्याज दरों पर विकासशील एशियाई राष्ट्रों को ऋण प्रदान किए जा सकें। इस ऋण में से 30 मि० डालर जापान ने दिए हैं। यह निर्णय बैंक के गवर्नर मण्डल के तृतीय मीटिंग मे लिया गया। यह धन, एक विशेष बैंक कोष में जमा किया गया जो प्रविकसित राष्ट्रो को सामान्य ब्याज दर पर ऋण प्रदान करेगा। इस कोष द्वारा 8 विकासशील योजनाओ के लिए 23 मि० डालर की राशि दी जा चुकी है। इस बैंक द्वारा पर्यटक विभाग के विकास की ओर भी ध्यान दिया जा रहा है तथा परिवहन सेवाओं के विकास के लिए पर्याप्त मात्रा मे ऋण दिया जा चुका है। इस बैंक द्वारा एक क्षेत्रीय परिवहन सर्वेक्षण किया जा रहा है जो अगले बीस वर्षों की आवश्यकताओ को ध्यान में रखकर कार्यक्रमों का निर्माण करेगा। इस सर्वेक्षण द्वारा उद्योग, खनिज, जंगल, मछली, कृषि एवं पर्यटक क्षेत्र से संबंधित परिवहन आवश्यकताओं का अध्ययन किया गया है। इसके अतिरिक्त मानवीय साधनों पर विनियोग की ओर भी ध्यान दिया जा रहा है। एशिया के प्रत्येक देश मे प्रशिक्षित व्यक्तियो की आवश्यकता है जिसका प्रायः अभाव पाया जाता है। अतः ऋण प्रदान करते समय व्यक्तियो के प्रशिक्षण कार्यक्रम को भी सम्मिलित किया जाता है। अगस्त 1970 तक बैंक की प्रार्थित पूंजी 488.6 मि० डालर हो गई जिसमे से 411.1 मि० डालर परिवर्तित मुद्रा के रूप मे थी। इसके अतिरिक्त बैंक ने 1969 मे 15 मि० डालर ड्च मार्क एवं 5 मि० डालर के बराबर आस्ट्रेलियन शिलिंग के बराबर अंश जारी किए। बैंक ने ऋण देने के अधिक वायदे किए हैं, परंतु साधनों के अभाव के कारण उन्हे पूर्ण करना संभव नही है। अत. उदार ऋणो के लिए बैंक के विशेष कोष में अंशदान देना आवश्यक हो गया है। ब्रिटेन ने 1970-73 की अवधि में इस कोष में 6 मि० स्टर्लिंग के बराबर अंशदान करने की घोषणा की।

एशिया के अविकसित राष्ट्रों की समस्या के समाधान के लिए बैंक ने विशेष कोष का निर्माण किया है जिसमें ब्रिटेन ने 6 मि० पौण्ड, जापान ने 30 मि० डालर एवं आस्ट्रेलिया ने 10 मि० डालर की राशि का अंशदान किया है। इसके अतिरिक्त इस कोष मे अंशदान करने के लिए भारत, फिनलैंड, नीदरलैंड, पाकिस्तान एवं स्विटजरलैंड ने भी वायदे किए हैं। इस धन का उपयोग सदस्य राष्ट्रो के भुगतान संतुलन की समस्या के समाधान पर व्यय किया जाएगा। भारत एवं पाकिस्तान जैसे विकासशील राष्ट्रो ने बैंक के तकनीकी सहायता विशेष कोष (Technical Assistance special fund) मे अंशदान देकर यह सिद्ध कर दिया है कि विकसित राष्ट्र ही नही बल्कि विकासशील राष्ट्र भी स्वयं विकास के लिए प्रयास कर सकते हैं। बैंक के अध्यक्ष का कथन है कि सियोल (Seoul) मीटिंग में सदस्य राष्ट्रों द्वारा दिए गए प्रस्तावो पर बैंक का गवर्नर मण्डल शीघ्र ही विचार करेगा। बैंक के सदस्य राष्ट्र तकनीकी शिक्षा के वित्त की ओर विशेष रुचि ले रहे हैं बैंक का ऋण योजना के घरेलू एवं विदेशी विनिमय को सम्मिलित करते हुए उपयोग किया जाना चाहिए। पाकिस्तान ने बैंक को सिफारिश की कि ऋण व सहायता साधनो का उपयोग सरल ऋणो (Soft Loans) के रूप मे उपयोग किया जाना चाहिए, जिसमे ब्याज दर कम हो तथा अवधि दीर्घकालीन हो। बेल्जियम एवं नीदरलैंड का विचार है कि ऋण देने मे विशेष कोष का उपयोग किया जाना चाहिए। बैंक को अपने ऋणो का उपयोग सुविधाजनक व सरल शर्तों पर देना चाहिए जिससे एशिया के अविकसित राष्ट्रों का शीघ्रता से विकास किया जा सके।

एशियाई विकास बैंक के तकनीकी सहायता विशेष कोष मे भारत ने 22 लाख रुपए का अंशदान घोषित किया है, जिसका उपयोग भारत में तकनीकी सलाहकार एवं विशेषज्ञो के रूप मे उपयोग किया जायेगा। इस कोष में आस्ट्रेलिया, ब्रिटेन, जापान एवं स० रा० अमेरिका ने भी अंशदान दिए हैं।

इस बैंक ने एक नवीन योजना प्रारंभ की है जिसमे बैंक ऋण के आवेदन का इन्तजार किए बिना ही अपने विशेषज्ञों को एशिया के अविकसित एवं विकासशील राष्ट्रो को भेजकर वहा अपने ऋण के उपयोग संबंधी योजनाओं का सुझाव देता है। इस संबंध मे निर्यात बढ़ाने वाले राष्ट्र—K.M.T., चीन, दक्षिणी कोरिया एवं हांगकांग का आर्थिक दृष्टि से तीव्र गति से विकास हो रहा है। जापान ने अपने देश का आर्थिक विकास संतोषप्रद कर लिया है। बैंक के पास सीमित साधन होने के कारण सुलभ ऋण सीमित मात्रा में ही दिए गए हैं, परन्तु भविष्य में दुर्लभ ऋण कोष से भी यह ऋण दिए जा सकेंगे। दुर्लभ ऋण कोष मे 420 मि० डालर की राशि थी। भविष्य में बैंक बाह्य राष्ट्रों

से पर्याप्त मात्रा में धन प्राप्त कर सकेगा तथा 1969 में बैंक ने बॉण्ड निर्गमित करके लेनदार के रूप में कार्य किया।

वर्तमान समय में एशियाई विकास बैंक एक ऐसी नीति का निर्धारण कर रहा है, जिसमें ऋण प्राप्त करने वाले राष्ट्र की विशिष्ट दशाओं को पूर्ण करने के उद्देश्य से सहायता देने के प्रयास किए जाएंगे। इस प्रकार यह बैंक एशिया के अविकसित एवं विकासशील राष्ट्रों के आर्थिक विकास के लिए अनेक प्रकार की सुलभ शर्तों पर ऋण देने के प्रयत्न कर रहा है। आशा है इन राष्ट्रों को विकास के लिए पर्याप्त धन प्राप्त हो सकेगा।

बैंक की कठिनाइयां

एशियाई विकास बैंक की प्रमुख कठिनाइयों को निम्न प्रकार रखा जा सकता है —

(1) द्विपक्षीय समझौते में कमी—यह आशा व्यक्त की गई कि विकसित राष्ट्रों से एशिया के द्विपक्षीय समझौते में कमी हो जाएगी।

(2) क्षेत्रीय प्रतियोगिता—बैंक को क्षेत्रीय प्रतियोगिता से आर्थिक क्षेत्र में अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

(3) अपर्याप्त पूंजी—बैंक के पास पूंजी की कमी के कारण कारण उसके कार्यचालन में अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

(4) स्थानीय मुद्रा में चंदा—सदस्य राष्ट्रों द्वारा स्थानीय मुद्रा में चंदा देने से अनेक समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं और इनका प्रयोग सीमित मात्रा में ही किया जा सकता है।

आलोचनाएं

एशियाई बैंक की प्रमुख आलोचनाओं को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(1) अनुचित हस्तक्षेप—यह बैंक किसी भी राष्ट्र के उद्योगों में साधारण पूंजी के रूप में धन का विनियोग कर सकता है। इस प्रकार विदेशी पूंजी के विनियोजन से उस राष्ट्र के उद्योगों के प्रबन्ध में अनुचित हस्तक्षेप होने के भय बने रहते हैं, जिससे देश का आर्थिक विकास संभव नहीं हो पाता।

(2) भारत का अल्पमत—इस बैंक में भारत का सदैव ही अल्पमत रहेगा, क्योंकि अमेरिका एशिया के छोटे राष्ट्रों के समर्थन से समूचे बैंक पर छा जाएगा और अपनी नीति से बैंक की कार्यप्रणाली को प्रभावित करेगा तथा राजनीतिक कुचक्रों का शिकार अन्य राष्ट्रों को बनाएगा। अधिक अंशदान देने से अमरीका बैंक के सचालक मण्डल का स्थायी सदस्य बना रहेगा जिसे जापान व आस्ट्रेलिया जैसे सदस्यों एवं अधिकांश गैर-क्षेत्रीय सदस्यों का भी समर्थन प्राप्त होता रहेगा। इससे अमेरिका का बैंक पर प्रभाव पड़ने की संभावना बढ़ जाएगी।

(3) सरकारी क्षेत्र की उपेक्षा—बैंक में अमरीका का अधिक प्रभुत्व होने से यह भय बना रहता है कि भारतीय सरकारी क्षेत्र की उपेक्षा की जाएगी जिससे भारत के समाजवादी समाज के लक्ष्य की प्राप्ति न हो सकेगी। इस संबंध में निजी क्षेत्र के उद्योगों के विकास की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है।

बैंक के साधन सीमित होते हुए भी एशिया के अविकसित राष्ट्रों के विकास में इस बैंक का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह बैंक अन्य राष्ट्रों के साथ सहयोग बढ़ाने एवं अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि करने में अपार सहयोग देगा तथा एशिया के अविकसित एवं विकासशील राष्ट्रों के आर्थिक विकास में सहयोग देगा। आशा है भविष्य में बैंक एशिया के विकासशील देशों के आर्थिक विकास में पूर्ण रूप से योगदान देगा।

26

स्टर्लिंग एवं डालर क्षेत्र

(Sterling and Dollar Areas)

प्रारंभिक

किसी देश की मुद्रा का संबंध स्टर्लिंग से होने की व्यवस्था को ही स्टर्लिंग क्षेत्र के नाम से जानते हैं। इसमें आपसी भुगतान एवं व्यापार स्टर्लिंग में ही किया जाता है। द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व विश्व में ब्रिटेन ही एक ऐसा राष्ट्र था जिसका साम्राज्य दूर-दूर तक फैला हुआ था। ब्रिटेन का व्यापार विश्व के अधिकांश राष्ट्रों से होने के कारण लंदन विश्व का एक आकर्षक वित्तीय केन्द्र बना हुआ था जहां प्रत्येक बैंक अपनी अतिरिक्त पूंजी रखकर समस्त पारस्परिक लेन-देनों को स्टर्लिंग की सहायता से निपटाता था तथा उन्हीं के खातों में स्टर्लिंग की कमी या वृद्धि कर दी जाती थी। जो राष्ट्र स्टर्लिंग के माध्यम से लेन-देन करते थे वे स्टर्लिंग क्षेत्र के नाम से जाने जाने लगे। परन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध में ब्रिटेन की स्थिति खराब हो गई। युद्धोपरांत अनेक उपनिवेश स्वतंत्र हो गए जिससे ब्रिटेन के व्यापार एवं आय में हानि हुई। परिणामस्वरूप ब्रिटेन अब पहले की भांति अधिक शक्तिशाली राष्ट्र नहीं रहा। इसके विपरीत सं० रा० अमेरिका की आर्थिक शक्ति में वृद्धि हो रही थी और न्यूयार्क विश्व का श्रेष्ठतम वित्त केंद्र बन गया था, जिससे ब्रिटेन की अपेक्षा न्यूयार्क में धन एकत्रित एवं जमा होने लगा; फलस्वरूप डालर की मांग बढ़ने से डालर एक दुर्लभ मुद्रा बन गया। डालर का बाजार में सदैव अभाव बना रहा तथा सं० रा० अमेरिका का भुगतान संतुलन सदैव पक्ष में ही बना रहा। वर्तमान समय में अमेरिका डालर के अतिरिक्त स्विस फ्रैंक एवं जर्मन मार्क भी दुर्लभ मुद्रा में ही गिने जाते हैं।

स्टर्लिंग क्षेत्र
(Sterling Area)

ऐसे समस्त राष्ट्र जो अपने विदेशी भुगतान पौण्ड-स्टर्लिंग में करें तथा अपनी मुद्रा का संबंध भी स्टर्लिंग से ही जोड़ें तो उन्हें स्टर्लिंग क्षेत्र कहेंगे। स्टर्लिंग क्षेत्र के अंतर्गत प्रायः संबंधित राष्ट्र अपने विदेशी विनिमय कोषों को लंदन में रखते हैं तथा समस्त अंतर्राष्ट्रीय भुगतान भी स्टर्लिंग में ही करते हैं। इन राष्ट्रों की विनिमय दरें भी स्टर्लिंग से जुड़ी रहती हैं जिनमें ब्रिटेन की सहमति से ही परिवर्तन किया जा सकता है। स्टर्लिंग क्षेत्र के राष्ट्रों में आपसी व्यापार एवं भुगतान संतुलन स्टर्लिंग में ही किया जाता है तथा बाहर के देशों में पौण्ड-स्टर्लिंग कोष भी रखे जाते हैं। ऐसा करने से विदेशी भुगतान में अनेक सुविधाएं प्राप्त हो जाती हैं।

विकास

1930 तक स्टर्लिंग क्षेत्र का कोई अस्तित्व नहीं था, किंतु ब्रिटेन साम्राज्य के सभी राष्ट्रों के ब्रिटेन से अच्छे व स्थायी व्यापारिक संबंध थे। 1931 में ब्रिटेन ने स्वर्णमान का परित्याग कर दिया, फलस्वरूप साम्राज्य के राष्ट्रों ने स्टर्लिंग से संबंध बनाए रखने के उद्देश्य से स्टर्लिंग विनिमय मान को अपनाया। द्वितीय विश्वयुद्ध काल में ब्रिटेन के समस्त सहयोगी राष्ट्रों ने विनिमय नियंत्रण समान ढंग से लगाए जिससे स्टर्लिंग में भुगतान करना सुविधाजनक हो गया और इसी समय से स्टर्लिंग क्षेत्र को मान्यता मिली। इस क्षेत्र में साम्राज्य के बाहर के राष्ट्र भी सदस्य बने हैं जिन्होंने

अपना संबंध स्टर्लिंग से ही बनाए रखा। बहुमुखी समझौता होने से दो कार्य अपनाए गए—प्रथम विश्व में यूरोपीय भुगतान संघ की स्थापना की गयी तथा द्वितीय मुद्रा क्षेत्र की स्थापना हुई, जिसमें स्टर्लिंग क्षेत्र को सम्मिलित किया जाता है। बहुमुखी समझौतों ने दो दिशाएं अपनाईं, प्रथम में यूरोपीय भुगतान संघ की स्थापना हुई तथा द्वितीय में मुद्रा क्षेत्रों की स्थापना हुई, जिसमें स्टर्लिंग क्षेत्र को सम्मिलित किया जाता है।

कोनन ने स्टर्लिंग क्षेत्र के राष्ट्रों को निम्न भागों में विभाजित किया—

(1) ब्रिटेन एवं आयरिश गणराज्य जो पूंजी विनियोजन की व्यवस्था करते हैं।

(2) दक्षिणी अफ्रीका एवं दक्षिणी रोडेशिया जो स्वर्ण उत्पादक राष्ट्र हैं।

(3) ब्रिटेन के उपनिवेश राष्ट्र जो डालर अर्जित कर सकते हैं।

(4) आस्ट्रेलिया एवं न्यूजीलैण्ड जो कृषि एवं अन्य सामान पर धन का विनियोग करते हैं।

(5) रुपया क्षेत्र वाले राष्ट्र—भारत, पाकिस्तान व लंका।

(6) अन्य क्षेत्र जिसमें बर्मा, ईराक, आइसलैण्ड आदि को सम्मिलित किया जाता है।

विशेषताएं

स्टर्लिंग क्षेत्र की 1939 तक प्रमुख विशेषताएं निम्न प्रकार रहीं—

(1) घनिष्ठ संबंध—ब्रिटेन से इन राष्ट्रों के घनिष्ठ व्यापारिक संबंध बने रहे।

(2) कोष लंदन में—ये राष्ट्र अपने विदेशी विनिमय कोष लंदन में ही रखते थे।

(3) खातों का निबटारा—इस क्षेत्र के राष्ट्र अपने लेनदेन का निबटारा लंदन के द्वारा ही किया करते थे।

(4) व्यापक सदस्यता—इस क्षेत्र की सदस्यता बहुत व्यापक थी तथा इसमें अनेक राष्ट्र सम्मिलित किए जाते थे।

(5) संबंध—पौण्ड एवं डालर में घनिष्ठ संबंध होने से इनमें विनिमय दर में परिवर्तन होते रहते थे।

(6) स्टर्लिंग से संबंध—इस क्षेत्र के राष्ट्रों ने अपनी मुद्रा का संबंध स्टर्लिंग से जोड़ लिया था।

(7) समूह—यह विभिन्न राष्ट्रों का एक समूह था।

वर्तमान क्षेत्र की विशेषताएं

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् स्टर्लिंग क्षेत्र में अनेक परिवर्तन हो गए जिनसे उसकी विशेषताएं परिवर्तित हो गईं। वर्तमान समय में स्टर्लिंग क्षेत्र की प्रमुख विशेषताएं निम्न हैं—

(1) नियंत्रणों में कमी—स्टर्लिंग क्षेत्र से संबंधित सभी राष्ट्र अपने राष्ट्र के विदेशी विनिमय पर न्यूनतम नियंत्रण रखते हैं।

(2) पूंजी निर्यात पर रोक—इस क्षेत्र के बाहर के राष्ट्रों को पूंजी निर्यातों पर कठोर प्रतिबंध लगाए जाते थे।

(3) नियंत्रण कोष—सदस्य राष्ट्रों द्वारा अर्जित की गई समस्त दुर्लभ मुद्रा को एक पृथक् से नियंत्रण कोष में रख दिया जाता है।

(4) भुगतान व्यवस्था—स्टर्लिंग क्षेत्र के बाहर के राष्ट्रों को भुगतान करने के लिए सीमित मात्रा में ही दुर्लभ मुद्रा उपलब्ध हो सकती है।

(5) स्वतंत्रतापूर्वक भुगतान—क्षेत्र के अंदर भुगतान प्रायः स्वतंत्रतापूर्वक किए जाते हैं।

(6) सीमित आयात—डालर एवं दुर्लभ मुद्रा वाले क्षेत्रों से आयात सीमित कर दिया जाता है, जिससे उन राष्ट्रों के साथ भुगतान संतुलन की समस्या न हो पावे तथा भुगतान संतुलन प्रतिकूल न हो सके।

स्टर्लिंग क्षेत्र का संपूर्ण विश्व में अपना एक प्रभावकारी पृथक् अस्तित्व था तथा उसमें भुगतान संतुलन संबंधी समस्याओं का समाधान हो जाता था।

स्टर्लिंग क्षेत्र के लाभ

स्टर्लिंग क्षेत्र के निर्माण से अनेक लाभ प्राप्त हुए हैं जो कि निम्न हैं—

(1) भुगतान में सुविधा—लंदन एक केंद्रीय बैंक की भांति कार्य करता है जहां क्षेत्र के सभी राष्ट्र अपनी राशि जमा कर देते हैं तथा लंदन के माध्यम से ही आपसी भुगतानों को संपन्न कर दिया जाता है।

(2) संयुक्त परिवार—स्टर्लिंग क्षेत्र की तुलना एक संयुक्त परिवार से की जा सकती है जिसमें समस्त राष्ट्र अपनी आय को एक सामान्य निधि में जमा कर देते हैं जो संकट काल में निर्बल राष्ट्रों को सहायता प्रदान करता है।

(3) अंतर्राष्ट्रीय सहयोग—यह क्षेत्र अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक एवं आर्थिक सहयोग का एक संक्षिप्त रूप है अ अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सहयोग प्रदान करता है।

(4) पूंजी विनियोजन सरल—स्टर्लिंग क्षेत्र के सदस्यों को पूंजी का विनियोजन करना अत्यंत सरल ए सुविधाजनक होता है क्योंकि सदस्य राष्ट्र लंदन मुद्रा बाजार से पूंजी प्राप्त कर सकता है तथा मुद्रा बाजार की सेवाओं का लाभ सरलता से प्राप्त किया जा सकता है।

(5) [illegible] में प्रगति—इस क्षेत्र के विभिन्न राष्ट्र आपस में एक-दूसरे के समीप आते हैं तथा व्यापार आपसी माल को प्राथमिकता प्रदान करते हैं जिससे [illegible] व्यापार बढ़ाने में सहायता मिलती है, परिणाम स्वरूप उनके व्यापार में प्रगति होती है।

(6) पूंजी का स्थानान्तरण सरल—स्टर्लिंग क्षेत्र के अंदर पूंजी का स्थानान्तरण सुविधापूर्वक [illegible] सकता है, जिसमें स्वतन्त्रता बनी रहती है।

स्टर्लिंग क्षेत्र की समस्याएं

स्टर्लिंग क्षेत्र विभिन्न राष्ट्रों का गठबंधन होने से अनेक जटिल समस्याओं का सामना करना [illegible] इस क्षेत्र की प्रमुख समस्याएं निम्न हैं—

(1) डालर भुगतान समस्या—डालर भुगतान समस्या ने डालर आयात पर प्रतिबंधों को कठोर [illegible] को विवश किया।

(2) जानकारी का अभाव—डालर पूर्ति का अनुमान लगाने के लिए जानकारी का अभाव पाया जा[illegible] जिससे सामूहिक कोष का संचालन उचित ढंग से नहीं हो पाता।

(3) असन्तोष नीति—ब्रिटेन की नीति सदस्य राष्ट्रों के लिए संतोषप्रद न होने से इस क्षेत्र के स[illegible] सन्तुष्ट नहीं रह पाते।

(4) अवरुद्ध कोष की धीमी गति—ऐसा कहा जाता है कि इस क्षेत्र के प्रमुख राष्ट्र इंग्लैंड ने [illegible] अवरुद्ध कोषों को अत्यंत धीमी गति से अवरुद्ध किया है, जिसमें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

(5) समन्वित नीति में कठिनाई—स्टर्लिंग क्षेत्र के सदस्य राष्ट्र राजनैतिक एवं आर्थिक दृष्टि से [illegible] होने के कारण उनकी पृथक्-पृथक् राष्ट्रीय नीतियां होती हैं जिनमें विविधता पाए जाने के कारण एक समन्वित नी[illegible] का निर्धारण करना कठिन हो जाता है जिससे मौद्रिक संबंधों में समानता स्थापित करना संभव नहीं हो पाता।

(6) दोषपूर्ण वितरण—समस्त राष्ट्रों द्वारा अर्जित दुर्लभ मुद्रा को लंदन में जमा करने पर वह मुद्रा आवश्यकता पड़ने पर उन राष्ट्र को प्राप्त नहीं हो पाती और उसका दोषपूर्ण ढंग से अन्य राष्ट्रों में वितरण कर दिया जाता है, जिससे राष्ट्रों की मांगों की उपेक्षा कर दी जाती है।

(7) अनुशासन की कमी—द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् ब्रिटेन के उपनिवेशों के स्वतन्त्र होने से उन्होंने स्वतंत्र आर्थिक नीति का पालन किया। इन राष्ट्रों की अपनी अनेक आर्थिक समस्याएं थीं जिनके समाधान के प्रयत्न आवश्यक थे, परिणामस्वरूप इन राष्ट्रों में अनुशासन का अभाव पाया गया।

(8) दयनीय आर्थिक स्थिति—ब्रिटेन की आर्थिक स्थिति निरंतर दयनीय बनी होने से भुगतान संतुलन

असंतोषप्रद रहा जिससे 1949 व 1967 में दो बार स्टर्लिंग का अवमूल्यन करना पड़ा ।

भारत को लाभ

स्टर्लिंग क्षेत्र के निर्माण से भारत को जो लाभ प्राप्त हुए वे निम्न हैं—

(1) भुगतान की जिम्मेदारी—भारत को अन्य सदस्य देशों से अंतर्राष्ट्रीय व्यापार करने की स्वतंत्रता प्राप्त हो गई तथा भुगतान की जिम्मेदारी बैंक ऑफ इंग्लैंड पर डाल दी गई।

(2) पौंड पावना—युद्धकाल में भारत ने काफी मात्रा में फौजी व अन्य उपभोक्ता सामान इंग्लैंड को निर्यात किया जिसके बदले में पौंड पावने एकत्रित हो गए जिन्हें बाद में वस्तुओं के आयात के रूप में प्रयोग किया गया ।

(3) पूंजी का हस्तांतरण संभव—भारत को अन्य देशों से पूंजी के हस्तांतरण की सुविधा प्राप्त हुई जिससे भारत को अनेक प्रकार के लाभ प्राप्त हुए व पूंजी का हस्तांतरण सरल एवं सुविधाजनक हो गया ।

स्टर्लिंग क्षेत्र का भविष्य

स्टर्लिंग क्षेत्र के भविष्य को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(1) यूरोपीय साझा बाजार की सदस्यता—भारत राष्ट्रमंडल एवं स्टर्लिंग क्षेत्र से घनिष्ठ संबंध बनाए रखने के उद्देश्य से ब्रिटेन यूरोपीय साझा बाजार का सदस्य नहीं हो पाया है क्योंकि साझा बाजार के राष्ट्र इंग्लैंड को समस्त सुविधाएं देने को तत्पर नहीं हैं । अतः ब्रिटेन अभी तक उस बाजार का सदस्य नहीं हो पाया है ।

(2) अंतर्राष्ट्रीय संगठन—अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की स्थापना के कारण लंदन के मुद्रा एवं पूंजी बाजार का महत्त्व घट गया है जिससे स्टर्लिंग क्षेत्र की मांग भी घट गयी है ।

(3) ब्रिटेन का योगदान—स्टर्लिंग क्षेत्र ने अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक क्षेत्र में व्यापार के विकास एवं भुगतान को सरल बनाने में उल्लेखनीय प्रयास किया है, जिसमें ब्रिटेन को काफी त्याग करना पड़ा है तथा इस बात पर भी ध्यान रखा गया है कि स्टर्लिंग क्षेत्र के किसी भी राष्ट्र को हानि न हो ।

(4) स्टर्लिंग क्षेत्र के अन्य राष्ट्र—इस क्षेत्र के अन्य राष्ट्र योजनाबद्ध आर्थिक विकास में संलग्न हैं और अधिक पूंजी, मशीन आदि के आयात पर निर्भर हैं, जो सुविधाएं उसे इंग्लैंड से प्राप्त नहीं हो पाएंगी। दूसरी ओर जर्मनी, जापान एवं अमेरिका अपना माल बेचने के लिए तत्पर हैं व अनेक प्रकार की ऋण सुविधाएं भी प्रदान कर रहे हैं । इसके अतिरिक्त अन्य राष्ट्रों ने अपने पृथक् संघ का निर्माण कर लिया है जिससे स्टर्लिंग क्षेत्र के महत्त्व में कमी आने की संभावना है । अतः इसका भविष्य उज्ज्वल नहीं कहा जा सकता ।

स्टर्लिंग के रूप में विश्व व्यापार की मात्रा में बहुत कमी हो गई है । द्वितीय विश्वयुद्ध के अंत में स्टर्लिंग क्षेत्र का व्यापार दुगुना था जो अब केवल 20% ही रह गया है। परंतु मूल्य की दृष्टि से इसमें 60% की वृद्धि हुई है और कुल व्यापार 25 बिलियन पौंड अथवा 60 बिलियन डालर मूल्यांकित किया गया। विश्व व्यापार में वृद्धि के फलस्वरूप स्टर्लिंग में वित्तीय मूल्य में वृद्धि होगी । युद्ध के पश्चात् ब्रिटेन का विश्व-व्यापार में भाग कम हो गया है, फिर भी ब्रिटेन का अधिकांश विनियोग राष्ट्रमंडल के राष्ट्रों में ही केंद्रित है। 1966 तक स्टर्लिंग क्षेत्रों में विनियोग करने पर ब्रिटेन पर कोई प्रतिबंध नहीं था, 1968 में ब्रिटिश सरकार ने कोई भी प्रतिबंध न लगाने का निश्चय किया है। स्टर्लिंग से बाहर के राष्ट्र दीर्घकालीन पूंजी के लिए इंग्लैंड पर निर्भर नहीं रहेंगे।

भारत में भी वित्तमंत्रालय वर्तमान रुपये-पौंड स्टर्लिंग संबंध के स्थान पर रुपये को 'मुद्राओं के बास्केट' (Basket of currencies) से संबद्ध करने का विचार कर रहा था। इसके लिए रुपये का विदेशी विनिमय मूल्य भारत के विदेशी व्यापार के भार के आधार पर निर्धारित हुआ। भारत ने वर्तमान में 1975 के लिए 201 मि० SDR निकाले हैं।[1]

1. The financial express, Aug. 26, 1975.

(11) **अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में सहायक**—यूरो-डालर का प्रयोग अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास में किया गया है जिससे भुगतान संतुलन में सुविधा हो गई है तथा अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में अपार वृद्धि हुई।

इस प्रकार यूरो-डालर का आविष्कार अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक अर्थव्यवस्था में एक क्रांतिकारी परिवर्तन लाया जिससे अंतर्राष्ट्रीय भुगतान में सुविधाएं उत्पन्न हो गई तथा अमरीकी अर्थव्यवस्था पर भी बुरा प्रभाव नहीं पड़ा, इससे बैंकों की क्रियाओं में वृद्धि होकर लाभ अर्जित करने की शक्ति में भी वृद्धि हुई। यूरो-डालर की सहायता से भविष्य में भी एशिया के व्यापार एवं बैंकिंग व्यवस्था को अधिक लाभ प्राप्त होने की संभावना हो गई है।

27

अमेरिकी निर्यात-बैंक एवं विकास ऋण कोष

(*Export Bank and Development Loan Fund of United States*)

प्रारम्भिक

विश्व के राष्ट्रों को दो वर्गों में विभाजित किया जाता है—प्रथम विकासशील राष्ट्र एवं द्वितीय विकसित राष्ट्र। विकासशील राष्ट्रों को प्रायः दीर्घकाल तक मशीनें एवं अन्य पूंजीगत सामान विदेशों से मंगवाना पड़ता है जिसका तत्काल भुगतान करना सम्भव नहीं हो पाता। विकासशील राष्ट्र प्रायः केवल उन्हीं राष्ट्रों से माल खरीदते हैं जहां से उन्हें दीर्घकाल के लिए ऋण मिल जाए। विश्व में, दूसरे वर्ग में विकसित राष्ट्र रखे जाते हैं जो विकास के उच्च शिखर पर पहुंच गए हैं, जिनकी उत्पादन लागत कम हो जाती है तथा अधिक लाभ प्राप्त होते हैं। इन राष्ट्रों के माल को विकासशील राष्ट्रों में बेचना आवश्यक होता है। अन्यथा वहां बेरोजगारी एवं अराजकता फैलने का भय बना रहता है। विकासशील राष्ट्र की भुगतान क्षमता सीमित एवं अपर्याप्त होने से उन्हें ऐसे राष्ट्रों से माल क्रय करने में प्राथमिकता देनी होती है जो उन्हें दीर्घकाल तक सुविधापूर्वक ऋण प्रदान कर सकें। ऋण के अतिरिक्त विकसित राष्ट्रों द्वारा आर्थिक सहायता भी प्रदान की जाती है।

अमेरिका विश्व का एक विकसित राष्ट्र है, जिसके कुल निर्यात विश्व के निर्यातों के 15-20 प्रतिशत तक रहते हैं। अमरीका कृषि एवं उद्योग दोनों में ही सम्पन्न है तथा उसका अतिरिक्त माल विदेशों में बिकना बहुत आवश्यक है। इसके लिए आवश्यक है कि अमरीका द्वारा निर्मित किया जाने वाला माल अच्छा व सस्ता हो तथा बिक्री के लिए उधार की विशेष सुविधाएं प्रदान की जाएं। इन समस्त सुविधाओं को प्राप्त करने के उद्देश्य से ही निर्यात बैंक की स्थापना की गई।

स्थापना

1934 में सोवियत-अमरीकी व्यापार के लिए वित्तीय व्यवस्था करने के लिए अमेरिकी निर्यात बैंक की स्थापना की गई। इस वर्ष एक अन्य बैंक की स्थापना हुई, जिसका उद्देश्य अमेरिकी माल को विकासशील राष्ट्रों में बिक्री के लिए सहायता प्रदान करना था। अतः 1936 में इन दोनों बैंकों को मिलाकर एक कर दिया गया तथा उसका नाम निर्यात-आयात बैंक रखा गया। प्रारंभ में इस बैंक की स्थापना 5 वर्षों के लिए की गई थी, बाद में उसे समय-समय पर बढ़ाया जाता रहा है। इस बैंक की स्थापना 1945 में के अधिनियम के आधार पर हुई है। 1968 में इस बैंक का नाम अमेरिकी निर्यात-आयात बैंक कर दिया गया तथा उसका कार्यकाल 30 जून, 1973 तक बढ़ा दिया गया है।

बैंक का उद्देश्य

बैंक का मुख्य उद्देश्य निर्यात को बढ़ाकर अमेरिका को वित्तीय सुविधाएं प्रदान करना था। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए निम्न उपायों का प्रयोग किया गया —

(1) कटौती ऋण सुविधा—इस बैंक ने सितम्बर 1966 से व्यापारिक बैंकों को विदेशी निर्यात बिलों की जमानत पर एक वर्ष के लिए ऋण की सुविधाएं प्रदान की हैं तथा इन बिलों का इस बैंक में कटौती करके भुनाया जा सकता है। सितम्बर 1967 से अल्पकालीन एवं मध्यकालीन बिलों पर ऋण की कटौती की सुविधाएं दी जाने लगी हैं।

(2) प्रत्यक्ष ऋण सुविधा—बैंक द्वारा आयातों को प्रत्यक्ष ऋण सुविधा प्रदान की जाती है, परन्तु ऋण देते समय व्यापारियों की भुगतान क्षमता को ध्यान में रखा जाता है। इसके अतिरिक्त उत्पादन अवधि एवं उत्पादन गति को भी ध्यान में रखना पड़ता है। यह ऋण सुविधाएं केवल उन्हीं विदेशी व्यापारियों को प्रदान की जाती हैं, जो केवल अमेरिका से ही माल का क्रय करते हैं।

प्रक्रिया—यदि कोई विदेशी व्यापारी अमेरिका के किसी उत्पादक से माल खरीदना चाहता है तो वह इस बैंक के पास एक प्रार्थनापत्र भेजता है, जिसमें यह बताना आवश्यक है कि खरीददार माल का तत्काल भुगतान करने की स्थिति में नहीं है। बैंक द्वारा स्वीकृति देने पर माल निर्यात कर दिया जाता है तथा माल की स्वीकृति प्राप्त होते ही प्रतिज्ञा-पत्र दे दिया जाता है तथा बैंक द्वारा अमेरिकी व्यापारी को राशि का भुगतान कर दिया जाता है। इससे निर्यातक को भी तत्काल भुगतान प्राप्त हो जाता है बैंक द्वारा अपने देश के निर्यात बढ़ाने में सहायता प्राप्त होती है तथा विशेष प्रकार की जोखिम भी नहीं उठानी पड़ती तथा माल की बिक्री में भी वृद्धि हो जाती है।

ऋण का उद्देश्य—बैंक द्वारा ऋण प्राय: पूंजीगत सामान क्रय करने के लिए दिए जाते हैं। कभी-कभी ऋण कृषि पदार्थों को क्रय करने के लिए भी दिए जा सकते हैं। विदेशी वित्त निगम भी बैंक से सुविधाएं प्राप्त करते हैं। डालर की दुर्लभता के कारण बैंक के ऋण द्वारा इसे दूर करने के प्रयास किए गए हैं।

अवधि—बैंक द्वारा ऋण योजना की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए 5 से 15 वर्षों की अवधि के लिए ऋण प्रदान किए जाते हैं। ब्याज दर का निर्धारण भी योजना के स्वरूप एवं बाजार दर को भी ध्यान में रखकर किया जाता है। ऋण के भुगतान की किश्त का निर्धारण योजना के फलीभूत होने के समय को ध्यान में रखकर निश्चित किया जाता है।

सावधानियां—बैंक द्वारा ऋण प्रदान करते समय निम्न सावधानियों को ध्यान में रखा जाता है—

(i) सरकारी गारण्टी—जिन राष्ट्रों में विनिमय नियंत्रण लगे हुए हैं उन राष्ट्रों को ऋण देते समय सरकारी गारण्टी प्राप्त करना आवश्यक होगा जिससे आवश्यकता पड़ने पर पर्याप्त विदेशी विनिमय प्राप्त हो सके।

(ii) तकनीकी औचित्य की जांच—ऋण प्रदान करते समय योजना की तकनीकी औचित्य की जांच करना नितान्त आवश्यक होता है। ऋण देते समय अमरीकी सरकार की नीति एवं भुगतान संतुलन की स्थिति पर पड़ने प्रभावों का अध्ययन अवश्य किया जाता है जिससे आर्थिक व सामाजिक स्थिति पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन किया जा सके।

(iii) ऋण का मान—ऋण प्रदान करते समय प्रार्थी की कुल डालर की स्थिति एवं उसे चुकाने हेतु क्षमता पर पूर्ण ध्यान दिया जाना चाहिए।

(iv) गारण्टी का आधार—जिन व्यापारियों की साख अच्छी नहीं है उन्हें गारण्टी के आधार पर ही ऋण प्रदान किए जाते हैं जो किसी भी बैंक, व्यक्ति या सरकार की हो सकती है।

(3) गारण्टी एवं बीमा की सुविधा—बैंक द्वारा अमरीकी निर्यातकों को गारण्टी एवं बीमे की सुविधाएं दी जाती हैं। निर्यातकों को ऋण की गारण्टी 5 वर्ष की अवधि के लिए दी जाती है। इस संबंध में व्यापारिक बैंक को प्रथम 18 मास की व्यापारिक जोखिम स्वयं उठानी पड़ती है। विदेशी ग्राहकों द्वारा माल के भुगतान की जोखिम का बीमा विदेशी साख बीमा संघ द्वारा किया जाता है। इस संघ की स्थापना अक्तूबर 1961 को हुई थी। बीमे की सुविधा उसी समय प्राप्त होगी, जबकि निर्यातक ने वित्तीय प्रबन्धन स्वयं ही किया हो। बीमा की शुल्क की राशि माल मंगाने वाले राष्ट्र की बाजार स्थिति द्वारा निर्धारित की जाती है। अल्पकालीन निर्यात पर व्यापारिक हानि के 90% की पूर्ति की जाती है। बैंक द्वारा 80% माल का दायित्व संभाला जाता है।

(4) अन्य सुविधाएं—इस बैंक ने अमेरिका से खरीदे गए माल पर डालर ऋण की सुविधाएं प्रदान की हैं तथा विकासशील राष्ट्रों के विकास के लिए स्थापित किए गए अनेक संघों में सक्रिय रूप से भाग लिया है। अमेरिका द्वारा उत्पादित सुरक्षा का सामान मित्रराष्ट्रों को सरलता से बेचा गया है तथा विकासशील राष्ट्रों ने विकास योजनाओं में विशेष लाभ प्राप्त किए हैं।

बैंक के वित्तीय साधन

इस बैंक की प्रदत्त पूंजी 1000 मि० डालर है जो पूर्णतया अमेरिका द्वारा ही प्रदान की गई है। इसकी कोषनिधि 1120 मि० डालर है तथा यह बैंक समय-समय पर पूंजी बाजार से ऋण भी प्राप्त करता रहता है तथा अमेरिका कोषागार से भी वित्तीय सहायता प्राप्त करता है। बैंक के दायित्व 900 करोड़ डालर से बढ़कर 13.5 अरब डालर तक हो सकते हैं।

भुगतान संतुलन स्थिति

बैंक की आर्थिक क्रियाओं से न केवल अमेरिकी उत्पादकों को लाभ प्राप्त हुए हैं बल्कि भुगतान संतुलन की स्थिति में भी सुधार होता है। 1961 व 1969 की अवधि में इस बैंक को 10 अरब डालर का लाभ हुआ। गत वर्ष ऋण की मात्रा में और अधिक वृद्धि होने से भुगतान संतुलन की स्थिति में सुधार होने की संभावनाएं बढ़ गई हैं।

आर्थिक सहायता

इस बैंक ने अपने कार्यकाल में लगभग 10 अरब डालर की आर्थिक सहायता प्रदान की है जिसका 80 प्रतिशत भाग ऋण व शेष गारण्टी या बीमा के रूप में प्रदान किया गया है। इस प्रकार निर्यात व्यापार की वित्तीय व्यवस्था करने में इस बैंक का योगदान अत्यन्त प्रभावशाली रहा है। सहायता प्राप्त करने वाले राष्ट्रों की संख्या लगभग 165 हो गई है। बैंक द्वारा सबसे अधिक सहायता दक्षिण अमेरिका के राष्ट्रों को प्रदान की गई। एशियाई राष्ट्रों को भी पर्याप्त सहायता प्रदान की गई है।

प्रबन्ध व्यवस्था

बैंक की प्रबन्ध व्यवस्था एक निर्देशक मण्डल द्वारा की जाती है जिसके अध्यक्ष एवं 4 सदस्यों की नियुक्ति रिका के राष्ट्रपति द्वारा की जाती है, जिसकी नीतियों का निर्धारण वित्तीय सलाहकार समिति द्वारा किया जाता है। लाह कार समिति की स्थापना भी की गई है, जिसमें 9 सदस्य होते हैं। बैंक समय-समय पर नीतियों का निर्धारण ने के लिए बैठकों का आयोजन करता रहता है।

सिद्धांत

यह बैंक आर्थिक सहायता प्रदान करने में निम्न सिद्धांतों को ध्यान में रखता है—

(1) निश्चित कार्य—यह सहायता निश्चित कार्यों के लिए ही दी जाती है जिसमें ऋण की वापसी की धिकाधिक संभावनाएं हों।

(2) शुल्क व्यवस्था—बैंक द्वारा गारण्टी एवं बीमा शुल्क के रूप में जोखिम के आधार पर ही शुल्क लिया जाता है।

(3) पूरक के रूप में कार्य—बैंक को निजी साहस के पूरक के रूप में कार्य करना चाहिए तथा उसे आर्थिक यता देने के प्रयास करने चाहिए। बैंक द्वारा निजी साहस के साथ प्रतिस्पर्धा नहीं की जाती।

अमेरिकी विकास ऋण कोष
(Development Loan Fund of America)

अमेरिका के मित्र राष्ट्रों को आर्थिक सहायता देने के उद्देश्य से एवं उन राष्ट्रों के आर्थिक विकास के लिए
सशील राष्ट्रों के विकास के लिए आवश्यक ऋणों हित
1 नागरिक, सरकार, वित्त निगम व विदेशी व्यापारियों आदि को प्राप्त हो सकते हैं। ऋण

28

यूरोपीय भुगतान संस्थाएं

(European Payments Institutions)

प्रारंभिक

यूरोप के राष्ट्रों के आर्थिक विकास के लिए यूरोपीय भुगतान संस्थाओं की स्थापना पर अधिक जोर दिया गया, जो न केवल आर्थिक सहायता देंगे बल्कि तकनीकी सहयोग भी प्रदान करेंगे। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् यूरोप के राष्ट्रों की अर्थव्यवस्था अस्तव्यस्त हो गई थी। इस काल में विभिन्न राष्ट्रों की उत्पादन क्षमता पर काफी बुरा प्रभाव पड़ा तथा युद्ध की समाप्ति के पश्चात् यूरोप के अधिकांश राष्ट्रों में उपभोग एवं निर्यात के लिए वस्तुओं की कमी हो गई। इस काल में स्वर्णमान के समाप्त हो जाने पर अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा प्रणाली प्रायः समाप्त हो गई तथा विदेशों से आवश्यक वस्तुओं का आयात करने के लिए द्विपक्षीय व्यापार समझौतों का सहारा लिया गया। अनेक राष्ट्रों ने इस संबंध में बहुपक्षीय व्यापार समझौतों का भी प्रयोग किया। इस समय यूरोपियन आर्थिक सहयोग संगठन के सदस्यों ने बहुपक्षीय व्यापार प्रणाली को स्थापित करने के उद्देश्य से यूरोपीय भुगतान संस्था की स्थापना की।

विश्वयुद्ध का प्रभाव

द्वितीय विश्वयुद्ध का यूरोप के राष्ट्रों की अर्थव्यवस्था पर गहरा प्रभाव पड़ा, जिसे निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(1) स्फीतिक वातावरण—इस काल में देश की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के उद्देश्य से मुद्रा का प्रसार किया गया, फलस्वरूप देश में स्फीतिक वातावरण उत्पन्न हो गया और मूल्यों में अत्यधिक वृद्धि होने से अर्थव्यवस्था के विकास पर बुरा प्रभाव पड़ा।

(2) उत्पादन में कमी—युद्धकाल में प्रायः यूरोप के सभी राष्ट्रों में आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन गिर गया क्योंकि युद्ध के कारण उद्योग एवं परिवहन व्यवस्था नष्ट हो गई तथा कृषि पर भी बुरा प्रभाव पड़ा, इससे उत्पादन में कमी हो गई।

(3) प्रतिकूल भुगतान संतुलन—युद्ध के कारण पश्चिमी यूरोप के राष्ट्रों में आयात में निरंतर वृद्धि होती गई, व निर्यात बढ़ नहीं सके जिससे भुगतान संतुलन विपक्ष में हो गया।

(4) डालर की प्राप्ति में कठिनाई—उत्पादन एवं व्यापार की स्थिति बिगड़ने से आर्थिक स्थिति में सुधार लाना संभव नहीं था, व्यापार, उत्पादन एवं भुगतान व्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ा जिससे डालर प्राप्त करना अत्यंत कठिन हो गया।

इतिहास

यूरोप की स्थिति में सुधार करने के उद्देश्य से निम्न उपाय प्रयोग में लाए गए—

(1) यूरोपीय पुनर्जीवन कार्यक्रम—द्वितीय विश्वयुद्ध से प्रभावित यूरोप के राष्ट्रों को सहायता देने के उद्देश्य से सं० रा० अमेरिका ने उदारतापूर्वक आर्थिक सहायता देने के कार्यक्रम बनाए, जिसमें अनुदान एवं ऋण की राशि को

भी सम्मिलित किया जाता है। परन्तु इससे यूरोप की आर्थिक स्थिति में विशेष सुधार नहीं हुआ तथा यूरोप में साम्राज्यवाद के बढ़ने का भय बढ़ गया। अतः यूरोप के राष्ट्रों को साम्यवाद से बचाने एवं उन राष्ट्रों को आर्थिक मुक्ति दिलाने के उद्देश्य से यूरोपीय पुनर्जीवन कार्यक्रम का निर्माण किया गया जिसके माध्यम से यूरोप के राष्ट्रों को आर्थिक सहायता देना आवश्यक माना गया। इस कार्यक्रम से उत्पादन में वृद्धि होकर भुगतानों में सुविधा प्राप्त हो सकती थी। इसको मार्शल योजना के नाम से भी जाना जाता है। इसकी सहायता के फलस्वरूप उत्पादन का सूचक काफी बढ़ गया तथा यूरोप में प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि होकर व्यापार सन्तुलन पक्ष में हो गया।

(2) अंतरयूरोपियन भुगतान एवं क्षतिपूर्ति समझौते—विभिन्न राष्ट्रों के आपसी लेनदेन का समाशोधन करने एवं ऋणों की व्यवस्था करने के उद्देश्य से अंतरयूरोपियन भुगतान एवं क्षतिपूर्ति समझौते पर ध्यान दिया गया। 1947 से पश्चिमी राष्ट्र व्यापार की वृद्धि करना चाहते थे, परन्तु भुगतान की कठिनाई के कारण ऐसा करना संभव न हो सका। अतः इस कठिनाई को दूर करने के उद्देश्य से दो समझौते किए गए जिन्हें अंतरयूरोपियन भुगतान एवं क्षतिपूर्ति समझौते के रूप में जानते हैं। इन समझौतों के अंतर्गत इन राष्ट्रों ने आपसी लेनदेन का समाशोधन करने का निश्चय किया तथा ऋणों को स्वीकार किया गया। इस प्रकार भुगतान संतुलन की राशि को ध्यान में रखते हुए ऋणों को स्वीकार किया गया तथा तात्कालिक कठिनाइयों को दूर किया गया। परन्तु इस व्यवस्था में अनेक प्रकार की व्यावहारिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा जिन्हें दूर करने के उद्देश्य से यूरोपियन भुगतान संघ का निर्माण किया गया जिस पर 19 सितंबर, 1950 को समस्त सदस्य राष्ट्रों द्वारा हस्ताक्षर किए गए। संघ की स्थापना से पूर्व यूरोपीय राष्ट्रों के मध्य सीमित मात्रा में ही व्यापार होता था। इस संघ की स्थापना के पश्चात् भुगतान संबंधी स्थिति में काफी सुधार हुआ। इससे यूरोपियन राष्ट्रों के मध्य वास्तविक आर्थिक सहयोग प्राप्त हो सका है तथा इन राष्ट्रों की उत्पादकता में पर्याप्त मात्रा में वृद्धि हुई है।

यूरोपीय भुगतान संघ के उद्देश्य

इस संघ के उद्देश्यों को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(1) व्यापार को प्रोत्साहन—इस संघ की स्थापना का उद्देश्य यूरोपीय राष्ट्रों [illegible] मध्य आपसी व्यापार में वृद्धि करना है। इसके अतिरिक्त सदस्य राष्ट्रों की ऋण सीमाएं निर्धारित कर दी जाती हैं जिससे अविकसित एवं निर्बल राष्ट्र शिथिल होकर व्यापार में वृद्धि करने के प्रयासों को ही त्याग न सकें। इस प्रकार प्रत्येक सदस्य राष्ट्र का अभ्यंश सम्पूर्ण अंतरयूरोपीय व्यापार का 15 प्रतिशत भाग ही निश्चित किया जाता था, परन्तु व्यापार की मात्रा में अधिक वृद्धि होने पर उसके अभ्यंश में परिवर्तन किया जा सकता था।

(2) व्यापार संतुलन में सुधार—इस संघ का उद्देश्य सदस्यों को अपनी व्यापार संतुलन स्थिति में सुधार के लिए प्रोत्साहित करना है, तथा इसी दृष्टि से प्रत्येक सदस्य को अपने अभ्यंश का 20% तक ऋण सरलता से प्राप्त हो सकता था। परन्तु जब ऋण अभ्यंश के बराबर हो जाता था तो ऋण की पूरी राशि को स्वर्ण में चुकाना पड़ता था।

(3) अंतर्राष्ट्रीय भुगतान बैंक—सदस्य राष्ट्रों के आयात-निर्यात का लेखा अंतर्राष्ट्रीय भुगतान बैंक को सौंप दिया जाता था जिसमें समस्त सदस्य राष्ट्रों के केंद्रीय बैंक के खाते होते थे तथा समाशोधन गृह की भांति जो समस्त राष्ट्रों के लेनदेन का हिसाब कर देता था। इसमें भुगतान संतुलन प्रतिकूल होने पर भी तत्काल भुगतान नहीं किया जाता था तथा वह राशि उस राष्ट्र के नाम से खाते में चढ़ा दी जाती थी।

संघ की पूंजी

मार्शल योजना के अंतर्गत रखी गई पूंजी में से 350 मि० डालर की राशि को इस संघ की पूंजी के रूप में कार्य में लाया गया। यह राशि ऋणदाताओं के लिए गारण्टी के रूप में कार्य करती थी।

हिसाब मुद्रा

संघ द्वारा अपने हिसाब की मुद्रा स्वर्ण इकाई में रखी गई जो 0.888671 ग्राम शुद्ध स्वर्ण के समान थी। इस

संघ की मौद्रिक इकाई के मूल्य को सदैव के लिए स्थायित्व प्रदान करने की व्यवस्था की गई तथा इस मूल्य में कोई भी परिवर्तन स्वीकार नहीं किया गया।

प्रशासन व्यवस्था

इस संघ का प्रशासन अंतर्राष्ट्रीय भुगतान बैंक एवं केंद्रीय बैंक की सहायता से किया जाता था और इस संघ का अपना स्वयं कोई कर्मचारी मण्डल नहीं था। यह संघ यूरोपीय आर्थिक सहयोग संगठन के अंतर्गत कार्य करता था। इस संगठन में एक प्रबंधकारिणी परिषद होती थी जिसमें प्रबंध मण्डल के 7 सदस्यों का चुनाव प्रतिवर्ष होता था। यह परिषद ऋण की शर्तें एवं अन्य नीतियों का निर्धारण करती थी तथा संबंधित राष्ट्रों को आवश्यक सुझाव देती थी। इस परिषद द्वारा विशेष परिस्थितियों में ऋण देने की व्यवस्था भी की जाती थी। इस परिषद के सदस्य पूर्णकालीन नहीं होते थे तथा सर्वसम्मत निर्णयों को ही स्वीकार किया जाता था। परिषद को विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञों की सेवाओं का लाभ सरलता से प्राप्त हो जाता था जिससे इसकी नीतियां सरलता से कार्यान्वित हो जाती थीं।

यूरोपीय भुगतान संस्था से लाभ

इस संघ की स्थापना से सदस्य राष्ट्रों को निम्न लाभ प्राप्त हुए—

(1) **व्यापार में वृद्धि**—भुगतान समस्या के लिए समायोधन गृह की स्थापना से आपसी व्यापार एवं लेनदेन में पर्याप्त वृद्धि हो गयी है जिससे कुल व्यापार में भी वृद्धि हो गयी है। भुगतान संबंधी समस्या के सरल हो जाने से इन राष्ट्रों के आपसी व्यापार में तीव्र गति से वृद्धि हुई।

(2) **मुद्राएं परिवर्तनशील**—इस संघ की स्थापना से सदस्य राष्ट्रों की मुद्राएं आपस में परिवर्तनशील हो गईं क्योंकि समस्त व्यापारिक लेनदेन इसी संघ के द्वारा किया जाता था।

(3) **व्यापार में सुविधा**—सदस्य राष्ट्रों को कहीं से भी माल क्रय करने की छूट मिलने से अच्छा व सस्ता माल वसूल किया जाता था। भुगतान सन्तुलन की व्यवस्था के आधार पर ऋण आदि भी सरलता से प्राप्त हो जाया करते थे।

कठिनाइयां

संघ को प्रारंभ में कुछ कठिनाइयों का सामना करना पड़ा जो कि निम्न प्रकार हैं—

(1) **असंतुलन की समस्या**—संघ के कुछ सदस्य राष्ट्र नियमित रूप से व्यापारिक घाटे की स्थिति में थे जबकि कुछ अन्य राष्ट्र सदैव आधिक्य की स्थिति में रहते थे। अतः संघ के सामने यह समस्या थी कि असंतुलन की स्थिति वाले राष्ट्रों की समस्या का किस प्रकार समाधान किया जाए। इसके लिए अमेरिकी सहायता की सुविधाएं देने का प्रबंध किया गया।

(2) **ऋण शेष**—भुगतान संघ की स्थापना होते समय यूरोपीय राष्ट्र एक-दूसरे के ऋणी थे। यह राशि ऋणी राष्ट्रों से समान क्रय करके पूर्ण की जाती थी, इससे व्यापारिक भेदभाव बने रहने की संभावना थी जिससे संघ के सिद्धांतों को आघात पहुंचने की संभावना थी। इस कठिनाई को हल करने के उद्देश्य से ऋणी राष्ट्र द्वारा ऋण की राशि का एकमुश्त अथवा किश्तों में भुगतान करने का कार्यक्रम बनाया गया। इसी प्रकार किसी राष्ट्र के शेष कोषों का व्यापारिक घाटे की पूर्ति में उपयोग किया जा सकता था।

यह संघ अन्य अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं की भांति कोई स्थायी संघ नहीं था, परंतु इसकी स्थापना से यूरोपीय बाजार में आर्थिक सहयोग की भावना बढ़ी। इसी से प्रेरित होकर 1957 में यूरोपीय साझा बाजार की स्थापना की गई। परंतु 1958 में यूरोप के प्रमुख 12 राष्ट्रों द्वारा अपनी मुद्राओं को परिवर्तनशील घोषित करने से यूरोपीय भुगतान संघ की मांग की आवश्यकता प्रायः समाप्त-सी हो गई। इस प्रकार यह संघ यूरोप के सदस्य राष्ट्रों के मध्य बहुदेशीयता की

पुनः स्थापित करने में सफल सिद्ध हुआ है। संघ के उद्देश्य अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से मिलते हैं। इस संघ ने यूरोपीय व्यापार एवं मुद्रा व्यवस्था मे घनिष्ठता एवं निकटता का संबंध स्थापित कर दिया। सन् 1958 में भुगतान संघ का समापन करके यूरोपीय मौद्रिक समझौता किया गया जिसमें 600 मि० डालर की पूंजी का उपयोग ऋण देने में किया गया। परन्तु इस ओर कम ध्यान दिए जाने से यूरोपीय मौद्रिक समझौता समाप्त कर दिया गया। अत यूरोपीय भुगतान संघ एवं यूरोपीय मौद्रिक समझौता दोनों ही समाप्त कर दिए गए हैं।

अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्थाएं एवं सहयोग

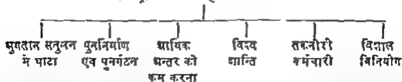
(International Monetary Institutations and Helps)

प्रारंभिक

वर्तमान समय में आर्थिक, सामाजिक एवं मौद्रिक क्षेत्रों में अंतर्राष्ट्रीय सहयोग बढ़ रहा है। विश्व के अर्द्धविकसित एवं विकासशील राष्ट्रों के भावी विकास के लिए अंतर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त हुआ है। विश्व के विभिन्न राष्ट्रों की आर्थिक नीतियों में परस्पर निर्भरता को ही अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग के नाम से जानते हैं। देश के आर्थिक विकास में सार्वजनिक एवं निजी दोनों प्रकार की सहायता की आवश्यकता होती है। सार्वजनिक क्षेत्र में विश्व बैंक द्वारा आर्थिक सहायता प्रदान की जाती है। इस संबंध में निजी विदेशी विनियोग का भी अत्यन्त महत्त्व है। प्रारंभ में अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष एवं विश्व बैंक द्वारा पर्याप्त मात्रा में वित्तीय सहायता प्राप्त होने की आशा न होने से मौद्रिक सहयोग प्राप्त करने के उद्देश्य से अन्य मौद्रिक उपायों को अपनाया गया, जिसमें अनेक अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्थाओं ने सहयोग प्रदान किया। विश्व के अविकसित राष्ट्रों का विकास अंतर्राष्ट्रीय सहयोग के बिना सम्भव नहीं है। प्रायः विकसित राष्ट्रों द्वारा विकासशील राष्ट्रों को अनेक प्रकार के ऋण व अन्य सहायता प्रदान की जाती है तथा आवश्यकता पड़ने पर अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्थाओं से भी आवश्यक सहायता एवं ऋण प्राप्त कर लिए जाते हैं।

अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग की आवश्यकता

वर्तमान समय में अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर आर्थिक सहयोग निम्न कारणों से आवश्यक हो गया है—



(1) भुगतान संतुलन में घाटा—अविकसित राष्ट्रों द्वारा भारी मात्रा में पूंजीगत सामान आयात किया जाता है तथा वे अधिक मात्रा में माल का निर्यात भी नहीं कर पाते, जिससे भुगतान संतुलन में निरंतर घाटा बना रहता है तथा वे सदैव विदेशी विनिमय का अभाव अनुभव करते हैं, जिसका समाधान अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग द्वारा ही सम्भव हो सकता है।

(2) पुनर्निर्माण एवं पुनर्गठन—द्वितीय विश्वयुद्ध से ग्रसित राष्ट्रों की अर्थव्यवस्था को नष्ट कर दिया और उनके पुनर्निर्माण एवं पुनर्गठन के लिए अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग प्राप्त करना आवश्यक हो गया।

आर्थिक अंतर को कम करना—विभिन्न राष्ट्रों के मध्य आर्थिक अंतर को कम करने के उद्देश्य से भी

अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग प्राप्त करना आवश्यक हो गया था।

(4) विश्व शांति—अर्द्धविकसित एवं विकासशील राष्ट्रों के आर्थिक विकास के लिए विश्व शांति का होना अतिआवश्यक है और इस उद्देश्य की पूर्ति अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग द्वारा संभव हो सकती है।

(5) तकनीकी कर्मचारी—विकास कार्यक्रमों को चलाने के लिए तकनीकी कर्मचारियों की आवश्यकता होती है जिसका अविकसित राष्ट्रों में अभाव पाया जाता है। परंतु अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग की सहायता से विकसित राष्ट्रों के वैज्ञानिक एवं तकनीकी ज्ञान का लाभ उठाया जा सकता है।

(6) विशाल विनियोग—अविकसित राष्ट्रों के आर्थिक विकास के लिए विशाल पूंजी विनियोजन की आवश्यकता होती है जो इन राष्ट्रों में उपलब्ध नहीं होती। बड़े पैमाने पर पूंजीगत विनियोग का प्रबंध अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग द्वारा ही संभव हो सकता है, क्योंकि अविकसित राष्ट्रों में आय व उत्पादन का निम्न स्तर होने से पूंजी का निर्माण संभव नहीं हो पाता।

विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्थाएं एवं सहयोग

द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व स्वर्णमान प्रचलन में था तथा विभिन्न राष्ट्रों के मध्य सहयोग एवं समन्वय पाया जाता था व राष्ट्रीयता को महत्त्व दिया जाता था। 1931 में स्वर्णमान के टूटने पर राष्ट्रीयता समाप्त हो गई। अतः मुद्रा में स्थायित्व लाने के उद्देश्य से ब्रिटेन, सं० रा० अमेरिका एवं फ्रांस में एक त्रिपक्षीय समझौता हुआ। इसके पश्चात् कोटावा समझौता द्वारा अंतर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करने के प्रयास किए गए, परंतु वास्तव में अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग की धारणा का विकास वर्तमान शताब्दी में ही हुआ है। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् अनेक मौद्रिक संस्थाएं अंतर्राष्ट्रीय सहयोग के रूप में विकसित हुईं, जिनको निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(1) अमेरिकन ऋण कार्यक्रम
(American Loan Programme)

द्वितीय विश्वयुद्ध ने ब्रिटेन एवं यूरोप के राष्ट्रों की अर्थव्यवस्था को लड़खड़ा दिया और इन राष्ट्रों की युद्ध जर्जरित अर्थव्यवस्था को पुनः जीवन प्रदान करने के उद्देश्य से भारी मात्रा में पूंजीगत सामान, खाद्यान्न एवं अन्य कच्ची सामग्री की आवश्यकता थी, जो कि सं० रा० अमेरिका से ही प्राप्त हो सकती थी। परंतु डालर की कमी के कारण अमेरिका से यह समस्त सामान क्रय करना संभव नहीं था। फलस्वरूप अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक समझौते हुए जिसमें ऋण समझौते किए गए तथा इन राष्ट्रों को एक निश्चित सीमा तक अमेरिका से उधार लेने की स्वीकृति प्राप्त हुई। इस व्यवस्था को अमेरिकन ऋण कार्यक्रम में सम्मिलित किया गया, जिससे अनेक अविकसित राष्ट्रों ने लाभ उठाए।

(2) यूरोपियन पुनर्जीवन कार्यक्रम
(European Recovery Plan)

अमेरिकन ऋण कार्यक्रम के अंतर्गत जो ऋण स्वीकृत करके सहायता प्रदान की गई वह उन राष्ट्रों की संपूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति न कर सके तथा देश का विकास करने के लिए इन राष्ट्रों को और अधिक ऋण की आवश्यकता थी। अतः अमेरिका के स्टेट सचिव जार्ज मार्शल ने 1947 में यूरोपीय राष्ट्रों के आर्थिक विकास एवं पुनर्गठन के लिए अधिक मात्रा में आर्थिक सहायता देने का वचन दिया तथा इस संबंध में उन्हें अपनी समस्याओं के हल करने में परस्पर सहयोग भी प्रदान करना होगा। अतः यूरोपियन राष्ट्रों को आर्थिक सहायता देने के उद्देश्य से अप्रैल, 1948 में यूरोपियन पुनर्जीवन कार्यक्रम कानून पारित किया गया जिससे यूरोप के राष्ट्रों को अनेक प्रकार की सुविधाएं प्राप्त हुईं।

(3) यूरोपियन आर्थिक सहयोग संगठन
(*The Organisation for European Economic Cooperation*)

इस समय 18 यूरोपियन राष्ट्रों ने मिलकर एक यूरोपियन आर्थिक सहयोग संगठन की स्थापना की जिसका प्रमुख

विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्थाएं एवं सहयोग

- अमेरिकन ऋण कार्यक्रम
- यूरोपियन पुनर्जीवन कार्यक्रम
- यूरोपियन आर्थिक सहयोग संगठन
- यूरोपियन भुगतान संघ
- स्टर्लिंग क्षेत्र पद्धति
- आर्थिक सहयोग एवं विकास संगठन
- यूरोपियन मौद्रिक समझौता
- अफ्रीकन साझा बाजार
- कोलम्बो योजना
- विश्व व्यापार नीति
- अंतर्राष्ट्रीय व्यापार संघ
- हवाना चार्टर
- जी. ए. टी. टी.
- मुक्त व्यापार क्षेत्र
- यूरोपियन साझा बाजार
- सर्वाधिक मान्य राष्ट्र धारा
- खुला सामान्य लाइसेंस
- अंकटाड (UNCTAD)

कार्यालय पेरिस में रखा गया। अमेरिकन सहायता कार्यक्रम को चलाने में सहायता देने का कार्य वाशिंगटन में स्थित यूरोपियन सहयोग प्रशासन को सौंप दिया गया। यह प्रशासन सदस्य राष्ट्रों एवं यूरोपियन आर्थिक सहयोग संगठन की सरकारों से सम्पर्क स्थापित करता था। यह प्रशासन सहायता पाने वाले राष्ट्रों के कार्यों की मूल्यांकन रिपोर्ट भी प्रकाशित करता था। इस प्रकार यह संगठन यूरोपियन सहयोग का एक स्थायी केंद्र बन गया। इस संगठन ने अपने कार्यों का संपादन अत्यन्त कुशलता के साथ किया तथा यूरोप के राष्ट्रों ने आशातीत प्रगति की। इस संगठन ने सदस्य राष्ट्रों के मध्य आर्थिक सहयोग पर्याप्त सीमा तक बढ़ाया, तथा उत्पादन बढ़ाने, वित्तीय स्थिरता प्राप्त करने एवं व्यापार संतुलन लाने में अत्यन्त सहायता प्रदान की।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् विश्व के समस्त प्रभावित राष्ट्र अपनी अर्थव्यवस्था को सुधारने एवं पुनर्निर्माण के कार्य में लग गए थे, क्योंकि युद्ध में राष्ट्रों की अर्थव्यवस्था अस्तव्यस्त हो गयी थी। प्रत्येक राष्ट्र तीव्र औद्योगीकरण एवं व्यापार का विस्तार करना चाहता था। परंतु इसके लिए अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की अत्यधिक आवश्यकता थी। अतः अंतर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन के निर्माण का प्रस्ताव रखा गया जो कि व्यावहारिक न हो सका। विश्व व्यापार की वृद्धि करने हेतु तटकरों में कमी एवं पक्षपात को हटाने के उद्देश्य से गाट[1] का प्रस्ताव रखा गया जिससे तुरत लाभ प्राप्त हो सकें। इसी समय यूरोप के कुछ राष्ट्रों ने मिलकर एक लघु संघ का निर्माण किया जिसे "यूरोपीय आर्थिक सहयोग संगठन" के नाम से जानते हैं। इसकी स्थापना अप्रैल, 1948 को हुई।

सदस्य—इस संगठन के निम्नलिखित 16 सदस्य हैं—फ्रांस, प० जर्मनी, इटली, पुर्तगाल, नार्वे, यूनान, नीदरलैण्ड, स्वीडन, बेल्जियम, आस्ट्रिया, स्विट्जरलैंड, आइसलैंड, आयरलैंड, डेनमार्क, लक्जेम्बर्ग और टर्की। सं० रा० अमेरिका व कनाडा इस संगठन के सदस्य नहीं हैं, परंतु विशेष आमंत्रण पर कार्यवाही में हिस्सा ले सकते हैं। इंगलैंड भी इसमें सम्मिलित किया जा सकेगा। यद्यपि इस संगठन के प्रायः समस्त सदस्य यूरोपीय राष्ट्र ही हैं, परंतु व्यापारिक एवं औद्योगिक महत्व के कारण इस संगठन का प्रभाव, यूरोप से बाहर के क्षेत्रों में भी फैल रहा है। आजकल इस संगठन का महत्व काफी बढ़ गया है।

(4) यूरोपियन भुगतान संघ
(European Payment Union)

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् स्वर्णमान के टूट जाने से अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली की संगठित व्यवस्था टूट गई, जिससे विदेशी वस्तुएं प्राप्त करना कठिन हो गया। अतः आवश्यकता की वस्तुओं को प्राप्त करने के उद्देश्य से यूरोपियन राष्ट्रों ने द्विपक्षीय एवं बहुपक्षीय व्यापारिक समझौतों का सहारा लिया। इस संबंध में भुगतान की समस्या को निपटाने के उद्देश्य से यूरोपियन भुगतान संघ की स्थापना की गई। इसमें सभी सदस्य राष्ट्र चालू खाता शेष की राशि की सूचना दिया करते थे तथा इसके आधार पर प्रत्येक देश सामूहिक लेनदेनों को ज्ञात कर लेता था, परंतु इनके भुगतान की जिम्मेदारी इसी संघ पर होती थी जिसने सदस्य राष्ट्रों ने इस संघ को अपने अभ्यंश के 20% तक साख देने की सुविधा दी। यदि लेनदार सदस्य का दायित्व इससे अधिक होता था तो शेष का 50% तक का भुगतान स्वर्ण में किया जाता था। 100% से अधिक के घाटों का भुगतान पूर्णतया स्वर्ण में ही किया जाता था। वस्तुओं को संघ के किसी भी सदस्य राष्ट्र से खरीदा जा सकता था।

उद्देश्य—इस संगठन की स्थापना निम्न उद्देश्यों के लिए की गई—

(1) आर्थिक शक्ति का विकास—सदस्य राष्ट्रों की आर्थिक शक्ति का विकास अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की सहायता से करना।

(2) उत्पादन क्षमता बढ़ाना—सदस्य राष्ट्रों की उत्पादन-क्षमता एवं योग्यता के विकास के लिए संगठित प्रयास करना।

(3) आधुनिकीकरण—कृषि एवं औद्योगिक यंत्रों का आधुनिकीकरण करके उत्पादन बढ़ाने का प्रयास करना।

1· गाट का पूरा नाम जा० ए० टी० टी G.A.T.T. है।

(4) व्यापार की बाधाओं को हटाना—व्यापार के मार्ग में आने वाली बाधाओं को हटाकर अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का विकास करना।

(5) पूर्ण रोजगार प्राप्त करना—पूर्ण रोजगार प्राप्त करने के प्रयत्न करना।

(6) आर्थिक विकास में स्थायित्व लाना—आर्थिक-व्यवस्था में स्थायित्व लाने के प्रयास करना जिससे राष्ट्रीय मुद्रा में जनता का विश्वास स्थिर रहे एवं व्यापारिक विकास हो सके।

इसका प्रमुख कार्यालय पेरिस (फ्रांस) में है। समय-समय पर सदस्य राष्ट्रों के प्रतिनिधि यहां एकत्रित होते हैं तथा नीति का निर्धारण करते है।

यूरोपियन उत्पादकता एजेंसी (European Productivity Agency) की स्थापना इसी संगठन के अंतर्गत की गई है जो उत्पादन एवं राष्ट्रीय आय में वृद्धि करके सदस्य राष्ट्रों के व्यक्तियों के रहन-सहन के स्तर में सुधार करने के प्रयास करेगी। यह विभाग श्रम एवं पूंजी के मतभेद दूर करता है तथा उद्योगों में वैज्ञानीकरण एवं वैज्ञानिक प्रबंध लाने का प्रयास करता है।

परंतु इस संगठन के कार्यों से असंतुष्ट होकर 6 सदस्य राष्ट्रों[1] ने यूरोपियन साझा बाजार तथा 7 सदस्य राष्ट्रों[2] ने यूरोपियन मुक्त व्यापार-क्षेत्र (Furopean Free Toade Area) की पृथक् से स्थापना कर ली है।

(5) स्टर्लिंग क्षेत्र पद्धति
(Sterling Area System)

1931 में स्वर्णमान के टूटने से ब्रिटेन से संबंधित राष्ट्रों ने अपनी मुद्रा का संबंध स्टर्लिंग से स्थापित कर दिया और विभिन्न मुद्राओं का एक पृथक् क्षेत्र बना दिया गया जिसे स्टर्लिंग क्षेत्र के नाम से जानते हैं। द्वितीय विश्व-युद्ध में स्टर्लिंग क्षेत्र संकुचित हो गया तथा विनिमय नियंत्रण व्यवस्था को अपनाया जाने लगा। इसमें सदस्य राष्ट्र क्षेत्र के अन्य राष्ट्रों से वस्तुओं का स्वतंत्रतापूर्वक आदान-प्रदान कर सकता है तथा सरलतापूर्वक पूंजी का स्थानांतरण भी कर सकता है। परंतु इस क्षेत्र में अनेक प्रकार के राष्ट्रों के सम्मिलित होने से प्रशासन संबंधी अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। भारत को भी इस क्षेत्र के निर्माण से अनेक लाभ हुए।

(6) आर्थिक सहयोग एवं विकास संगठन
(The Organisation for Economic Cooperation and Development)

यूरोपीय आर्थिक सहयोग संगठन जो एक क्षेत्रीय संगठन था, अब एक व्यापक संगठन के रूप में परिवर्तित हो गया है, जिसे 'आर्थिक सहयोग एवं विकास संगठन' कहते हैं। इसमें 18 यूरोपीय राष्ट्रों के अतिरिक्त कनाडा एवं अमेरिका भी सदस्य बन गए हैं। इस संगठन की एक 'विकास सहायता समिति' (Development Assistance Com mittee) है, जो अविकसित राष्ट्रों को आवश्यक सहायता देने की संभावनाओं का पता लगाती है। जापान इस समिति का एक सक्रिय सदस्य है। इस समिति में पूंजी प्रदान करने वाले निम्न 10 राष्ट्र सम्मिलित हैं—अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, नीदरलैण्ड, पुर्तगाल, जापान, जर्मनी, बेल्जियम एवं कनाडा। इसके अतिरिक्त यूरोपीय आर्थिक समुदाय का कमीशन भी इसमें सम्मिलित किया गया है।

1970 में टोक्यो में 67 राष्ट्रों की निर्माण समिति की सहायता से विकास सहायता समिति के सदस्य विचार-विमर्श के लिए एकत्रित हुए। 1968 में इस संगठन के सदस्य राष्ट्रों द्वारा दिए गए ऋण का 56% भाग कठिन व परंपरागत शर्तों पर निर्भर था। निजी विनियोग के लिए 'पीयरसन आयोग' (Pearson Commission) ने द्विपक्षीय सहायता कार्यक्रम की सिफारिश की है। निजी पूंजी के प्रवाह में उल्लेखनीय प्रगति हुई है। 1965 व 1968 के मध्य प्रत्यक्ष व द्विपक्षीय समझौते के आधार पर विकासशील राष्ट्रों को पूंजी के प्रवाह में 3000 मि० डालर वार्षिक से वृद्धि हुई। यह

1. इसमें फ्रांस, प० जर्मनी, बेल्जियम, इटली, नीदरलैंड्स एवं हॉलैंड सम्मिलित हैं।
2. इसमें स्वीडेन, इंग्लैंड, डेनमार्क, नार्वे, आस्ट्रिया, स्विट्जरलैंड एवं पुर्तगाल सम्मिलित हैं।

(9) कोलम्बो योजना
(Columbo Plan)

दक्षिण एवं दक्षिण-पूर्व एशिया के राष्ट्रों के नागरिकों के जीवन-स्तर को ऊंचा करने एवं वहां की आर्थिक व सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए कोलम्बो योजना का निर्माण किया गया। 1950 में प्रथम बैठक कोलम्बो में की गयी। इन राष्ट्रों के आर्थिक विकास की विभिन्न समस्याओं पर परामर्श करने के उद्देश्य से एक सलाहकार समिति का निर्माण किया गया और इस समिति की प्रथम बैठक 1950 में सिडनी में हुई जिसमें इन राष्ट्रों के आर्थिक विकास के लिए 6 वर्षीय विकास योजना का कार्यक्रम बनाया गया। इसके अतिरिक्त तकनीकी शिक्षा की कमी को पूर्ण करने के लिए तकनीकी ज्ञान के विस्तार पर भी ध्यान दिया गया और इस उद्देश्य के लिए पृथक् से एक स्थायी समिति की स्थापना की गयी जिसने यह सुझाव दिया कि इन राष्ट्रों के विकास कार्यक्रम के लिए अपार मात्रा में विदेशी सहायता की आवश्यकता होगी और इसके लिए विश्व के अन्य राष्ट्रों का सहयोग प्राप्त करना आवश्यक होगा। अतः इस संबंध में एक सामूहिक तकनीकी योजना को प्रारंभ किया गया जिसकी सहायता से सदस्य राष्ट्रों के विकास के प्रयास किए जाएंगे।

सदस्यता—प्रारंभ में इस योजना की सदस्यता केवल राष्ट्रमण्डलीय राष्ट्रों तक ही सीमित थी, परंतु बाद में इसकी सदस्यता अन्य राष्ट्रों के लिए भी खोल दी गई है। इस समय इस योजना में 24 राष्ट्र सदस्य हैं जो इस प्रकार हैं—आस्ट्रेलिया, बर्मा, कनाडा, भारत, कोरिया, मलयेशिया, न्यूजीलैण्ड, फिलीपीन, थाईलैण्ड, वियतनाम, अफगानिस्तान, जापान, मालदीव द्वीप-समूह, अमेरिका, ब्रिटेन, सिंगापुर, पाकिस्तान, नेपाल, लाओस, इण्डोनेशिया, लंका, कम्बोडिया एवं भूटान।

तकनीकी योजना की विशेषताएं—कोलम्बो योजना की सामूहिक तकनीकी योजना की प्रमुख विशेषताएं निम्न प्रकार हैं—

(1) आर्थिक-तकनीकी दृष्टि से सहायता—इसमें आर्थिक-तकनीकी दृष्टि से विकसित सदस्य राष्ट्रों द्वारा कम विकसित राष्ट्रों को पर्याप्त सहायता दी जाती है जैसे थाइलैण्ड को सबसे अधिक आर्थिक सहायता अमेरिका व जापान से प्राप्त हुई है।

(2) सुझाव की छूट—कोई भी सदस्य राष्ट्र कार्यक्रमों में परिवर्तन लाने के उद्देश्य से आवश्यक सुझाव रखने की स्वतंत्रता रखता है, जिससे पारस्परिक सद्भावना में वृद्धि होती है।

(3) राजनैतिक स्वार्थों से मुक्ति—इस योजना द्वारा उपलब्ध सहायता सदैव राजनैतिक स्वार्थों से मुक्त रहती है तथा सदस्य राष्ट्रों के मध्य किसी प्रकार की राजनैतिक दासता उपस्थित नहीं होती है। इस योजना की सफलता को देखते हुए प्रारंभ में 6 वर्ष के लिए बनाई गई योजना को बढ़ाकर इसकी अवधि 1971 तक बढ़ा दी गई।

योजना की प्रगति—25 वर्षों की अवधि में इस योजना के अंतर्गत सदस्य राष्ट्रों का काफी विकास किया गया तथा इस क्षेत्र के लगभग सभी राष्ट्रों के व्यक्तियों के रहन-सहन का स्तर सुधारने एवं आय बढ़ाने के अनेक प्रयास किए गए। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए इन राष्ट्रों की सरकारों ने विकास की योजनाओं का पालन किया एवं उन्हें कार्यान्वित किया है। इस योजना के कुछ राष्ट्रों में निर्यात की दर में काफी वृद्धि हुई है। इस योजना के अधिकांश राष्ट्र कृषि अर्थव्यवस्था पर आधारित हैं अतः योजना में कृषि पैदावार की ओर बढ़ाने के अधिक प्रयास किए गए। इसके अतिरिक्त इन राष्ट्रों में औद्योगिक क्षेत्रों में भी काफी प्रगति हुई है। इन राष्ट्रों में औद्योगिक योजनाओं को पूर्ण करने का कार्य बड़ी तेजी से चल रहा है तथा शिक्षा, परिवहन आदि के विकास पर भी पूर्ण ध्यान दिया जा रहा है। इससे इन राष्ट्रों के आर्थिक एवं जनकल्याण संबंधी योजनाओं को पूर्ण करने में सहायता मिली। इस योजना से कृषि एवं औद्योगिक क्षेत्र में पर्याप्त विकास संभव हो सका है। इससे बेरोजगारी की स्थिति में भी सुधार हुआ है। भारत को सबसे अधिक आर्थिक सहायता अमेरिका, आस्ट्रेलिया, कनाडा, ब्रिटेन, जापान एवं न्यूजीलैंड से प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त अंतर्राष्ट्रीय बैंक से भी पर्याप्त मात्रा में आर्थिक सहायता प्राप्त होती है। कोलम्बो योजना के अंतर्गत सदस्य राष्ट्रों में तकनीकी व्यक्तियों का अभाव है, फिर भी भारत ने इस संबंध में प्रशंसनीय कार्य किया है। भारत ने विभिन्न राष्ट्रों के हजारों व्यक्तियों को प्रशिक्षण सुविधाएं प्रदान की हैं। इसी प्रकार भारत को विदेशी विशेषज्ञों की

सेवाएं प्राप्त होती हैं। भारत को विदेशों से पर्याप्त मात्रा में वित्तीय सहायता प्राप्त हुई है। इस प्रकार इस योजना के सदस्य राष्ट्रों ने पर्याप्त प्रगति की है।

(10) विश्व व्यापार नीति
(World Trade Policy)

अंकटाड (UNCTAD) को विकासशील राष्ट्रों के साथ मिलकर एक विश्व व्यापार नीति का पालन करना चाहिए था जिसमें 1970 तक विकासशील राष्ट्रों के विदेशी मुद्रा अर्जन करने में 2000 मि० डालर की कमी हो जानी थी। वर्तमान समय में विकासशील राष्ट्रों की दृष्टि से कोई विश्वव्यापार नीति नहीं है। इस बात की नितांत आवश्यकता है कि विकासशील राष्ट्रों से निर्यात को व्यवस्थित ढंग से बढ़ाया जाए तथा औद्योगिक राष्ट्रों की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए आयात को प्राथमिकता दी जाए। व्यापार में वृद्धि करने के लिए कोई समान नीति का पालन नहीं किया गया है।

(11) अंतर्राष्ट्रीय व्यापार संघ
(International Trade Organisation)

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार संघ की स्थापना से विश्व व्यापार में आने वाली कठिनाइयों को समाप्त करना था। द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व ही विश्व के प्राय: सभी राष्ट्रों से स्वतंत्र व्यापार व्यवस्था समाप्त हो गई थी तथा प्रत्येक विकासशील राष्ट्र संरक्षण की नीति अपनाकर अपने राष्ट्र को आत्मनिर्भर बनाने में संलग्न था। इससे विश्व के विदेशी व्यापार में अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। सन् 1945 में द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति पर विश्व के अधिकांश राष्ट्रों ने यह अनुभव किया कि यदि शीघ्र ही सामूहिक आधार पर कोई ठोस प्रयास नहीं किए गए तो विदेशी व्यापार में पुन: अनेक प्रकार की कठिनाइयां उत्पन्न हो सकती हैं। अंतर्राष्ट्रीय व्यवहारों में विभिन्न राष्ट्रों की सरकारें हस्तक्षेप करती थी तथा व्यापार में भी भेदभाव की नीति अपनाई जाती थी। पूंजी [redacted] स्वतंत्र आवागमन पर प्रतिबंध था। अत: अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की आवश्यकता उदय हुई जिससे विश्व व्यापार की कठिनाइयों को दूर किया जा सके। अत: 1945 के व्यापार समझौते एवं 1946 के वित्तीय समझौते के फलस्वरूप एक अंतर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन की स्थापना के विचार का जन्म हुआ। इस संगठन की प्रथम बैठक 1947 में जेनेवा में तथा द्वितीय बैठक 1948 में हवाना में हुई। विश्व के लगभग 58 राष्ट्रों ने इसमें भाग लिया। भारत ने भी इसमें सक्रिय भाग लिया।

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार संघ की विशेषताएं—इस संघ के प्रमुख निर्देश निम्न हैं—

(1) प्रशुल्क कर एवं प्राथमिकता—इस समझौते में यह स्वीकार किया गया कि सदस्य राष्ट्र प्रशुल्क कर में कमी करें तथा प्राथमिकताओं को समाप्त करें। प्रत्येक सदस्य राष्ट्र एक-दूसरे के प्रति शर्तरहित परमानुगृहीत राष्ट्र का व्यवहार (Unconditional Most Favoured Nation Treatment) रखे तथा प्रशुल्क करों में कमी बहुमुखी आधार (Multilateral basis) पर की जाय।

(2) पूर्ण रोजगार—प्रत्येक सदस्य राष्ट्र यह प्रयत्न करेगा कि वह अपने क्षेत्र में पूर्ण रोजगार प्रदान करे। यह प्रयास उसके राजनैतिक स्वरूप के अनुरूप हो तथा संघ के उद्देश्यों के विरुद्ध न हो।

(3) प्रतिबंधक व्यापारिक रीतियों पर प्रतिबंध—प्रत्येक सदस्य राष्ट्र इस बात का प्रयास करेगा, कि उसके राष्ट्र में उद्योगपति ऐसा कोई कार्य नहीं करें जो प्रतियोगिता को रोके तथा एकाधिकार को बढ़ावे।

(4) परिमाणात्मक प्रतिबंध एवं विनिमय नियंत्रण—संघ का कोई भी सदस्य राष्ट्र अन्य सदस्य राष्ट्रों के आयात एवं निर्यात पर किसी भी प्रकार का कोई प्रतिबंध नहीं लगायेगा। परंतु इसके निम्न अपवाद हैं—

1. समस्त राष्ट्रों को समान अधिकार का आश्वासन देना, भेद-भाव की नीति न अपनाना तथा करने में अन्य देशों से समानता के व्यवहार को बनाए रखना ही अंतर्राष्ट्रीय परमानुगृहीत राष्ट्र का व्यवहार कहलाता है।

(i) खाद्य पदार्थ एवं कच्चे माल के अभाव का सामना करने हेतु लगाये गये अस्थाई प्रतिबंध, (ii) अल्प-पूर्ति वस्तुओं के वितरण पर लगाये गये प्रतिबंध, (iii) सरकारों के मध्य हुए वस्तु समझौते के अंतर्गत प्रतिबंध तथा (iv) भुगतान संतुलन हेतु आयात पर नियंत्रण।

(5) आर्थिक प्रगति—युद्धजर्जरित राष्ट्रों को यह सुविधा दी गई कि वे व्यापार पर नियंत्रण लगाकर अपने राष्ट्र को पुन संस्थापित कर सकें। आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए राष्ट्र भी विदेशी व्यापार पर नियंत्रण लगाकर औद्योगीकरण को प्रोत्साहित करते हैं।

(6) प्राकृतिक सम्पत्ति का विकास—विश्व के प्राकृतिक साधनों का पूर्ण विकास करने एवं उनका अनावश्यक दुरुपयोग रोकने के लिए यह संघ समस्त प्रयासों का प्रयोग करेगा।

(7) अल्प वस्तु के उत्पादन का विस्तार—संघ ऐसी वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ाने का प्रयास करेगा जो अल्पमात्रा में उत्पादित की जाती हैं तथा उनसे उपभोक्ताओं के हितों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

(8) वस्तु समझौते—संघ में उन समस्त परिस्थितियों को भी स्पष्ट कर दिया गया है जिनके आधार पर विभिन्न राष्ट्र आपस में आयात, निर्यात, उत्पादन एवं मूल्य के संबंध में कोई समझौता कर सकते हैं। यह समझौते एक निश्चित अवधि के लिए ही होंगे तथा इन पर पुनर्विचार व परिवर्तन किया जा सकता है।

(12) हवाना चार्टर
(Havana Charter)

गत दो विश्वयुद्धों में विश्व के अनेक राष्ट्रों को काफी हानि उठानी पड़ी। अत. विश्व के अधिकांश राष्ट्रों ने यह अनुभव किया कि समस्त राष्ट्रों की उन्नति अंतर्राष्ट्रीय व्यापार संगठनों द्वारा ही सम्भव हो सकती है। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को बहुपक्षीय समझौते के आधार पर बढ़ाने की दृष्टि से 1947 में हवाना में एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया गया। इस सम्मेलन में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन की स्थापना हेतु एक चार्टर का निर्माण किया गया जो 'हवाना चार्टर' के नाम से प्रसिद्ध है। इस चार्टर पर लगभग 54 राष्ट्रों ने अपनी सहमति दी जिनमें से भारत भी एक था।

हवाना चार्टर एक ऐतिहासिक चार्टर है जिसमें 9 अध्याय हैं।

हवाना चार्टर के उद्देश्य—इसके प्रमुख उद्देश्य निम्न हैं—

(1) विश्व के अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि करना।
(2) लोगों की मांग, आय व उपभोग बढ़ाना।
(3) पिछड़े राष्ट्रों में आर्थिक व औद्योगिक विकास करना तथा वहां पर विदेशी पूंजी को बढ़ावा देना।
(4) उत्पादन बढ़ाने में प्रत्येक राष्ट्र को समान सुविधायें प्रदान करना।
(5) विश्व में आर्थिक विकास, रोजगार, व्यापार नीति इत्यादि से संबंधित समस्याओं को हल करना।
(6) विश्व के विभिन्न राष्ट्रों को सहायता प्रदान करना जिससे विश्व व्यापार में बाधाएं उपस्थित न हों।
(7) प्रशुल्क करों में कमी करना, अन्य रुकावटों से दूर करना तथा लाभप्रद व्यापार में वृद्धि करना।
(8) पक्षपातपूर्ण व्यापार एवं भेदात्मक नीति को पूर्णतया समाप्त करने का प्रयास करना।
(9) समस्त राष्ट्र के उत्पादकों को समान अवसर प्रदान करना।
(10) विश्व के सदस्य राष्ट्रों में पारस्परिक समझौते करना तथा अंतर्राष्ट्रीय परमानुगृहीत राष्ट्र का व्यवहार करने की सुविधाएं प्रदान करना।

अंतर्राष्ट्रीय व्यापारिक नियमों का पालन करके विश्व व्यापार में सरलता से वृद्धि की जा सकती है। भारत में 1949 प्रशुल्क आयोग ने इस चार्टर को स्वीकार करने की सिफारिश की थी।

भविष्य—हवाना चार्टर असफल हो चुका है तथा अंतर्राष्ट्रीय व्यापार संघ की आज तक स्थापना न हो सकी है। 54 राष्ट्रों में से केवल 3 राष्ट्रों ने ही इसे मान्यता प्रदान की। स्वयं संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने 1951 में इसे मानने से इंकार कर दिया। भारत का निर्णय भी इंग्लैंड व अमेरिका के निर्णय पर आधारित था। अमेरिका के इंकार करने

से भारत भी इसे स्वीकार करने को तैयार नहीं था। इस चार्टर का कोई व्यावहारिक महत्त्व नहीं रहा और यह समझौता केवल एक कागजी कार्यवाही के रूप में ही रह गया। इस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय व्यापार संघ का भविष्य भी अंधकारमय हो गया।

(13) प्रशुल्क एवं व्यापार का सामान्य समझौता अथवा गाट (General Agreement on Tariffs and Trade or G. A. T. T.)

सन् 1947 में जिस समय अंतर्राष्ट्रीय व्यापार संघ के लिए चार्टर बनाया जा रहा था[1], उसी समय सदस्य राष्ट्रों ने प्रशुल्क संबंधी वार्ता पर आगे बढ़ने का निश्चय किया और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की वृद्धि हेतु जी० ए० टी० टी० की रूपरेखा तैयार की। इसमें एक समझौता किया गया जो 1 जनवरी, 1948 से व्यवहार में लाया गया। इस समझौते में यह निश्चय किया गया कि विभिन्न राष्ट्र व्यापारिक संबंधों को बढ़ावें तथा आयात व निर्यात करों में कमी करें। अन्य राष्ट्रों को इस समझौते का लाभ देने के उद्देश्य से 1949 में द्वितीय कान्फ्रेंस ऐनेकी (फ्रांस) में की गई, जिसमें 28 राष्ट्रों ने भाग लिया। इस समझौते का 16वां सम्मेलन मई-जून, 1960 में जेनेवा में हुआ। वर्तमान समय में इस समझौते के चतुर्थ भाग को परिवर्तन करने हेतु 11 जुलाई, 1966 को एक सम्मेलन ब्रुसेल्स में हुआ।

जी० ए० टी० टी० के उद्देश्य : इस समझौते के प्रमुख उद्देश्य निम्न हैं—

(1) विश्व में सदस्य राष्ट्रों में स्वतंत्र व्यापार को प्रोत्साहित करना।

(2) अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में भेदभावपूर्ण-व्यवहार को पूर्णतया समाप्त करना।

(3) 'शर्तरहित परमानुग्रहीत राष्ट्र व्यवहार' की नीति को बहुमुखी बनाना।

(4) वर्तमान शाही प्राथमिकता पद्धति (*Imperial Preference System*) को गाट के क्षेत्र से पृथक करना।

(5) अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में रुकावट डालने वाले प्रतिबंधों एवं प्रशुल्क करों को हटाना।

(6) विदेशी विनिमय संबंधी कठिनाइयों को दूर करना।

जी० ए० टी० टी० एक अंतर्राष्ट्रीय समझौता है, जिसमें यह व्यवस्था की गई है कि विदेशी एवं देशी माल में समान व्यवहार अपनाया जाए। सदस्य राष्ट्रों के व्यापारिक संबंधों के लिए एक व्यापारिक नीति संहिता (Code of Trade Policy) का निर्माण किया गया है। नवम्बर, 1958 से प्रतिवर्ष दो सम्मेलन बुलाये जाते हैं जिनमें महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर विचार किया जाता है। सदस्य राष्ट्र इस संघ से पृथक नहीं हो सकता और पृथक होने के लिए भी उसे 6 माह पूर्व की सूचना देना आवश्यक होगा। इस समझौते से विकसित राष्ट्रों को अविकसित राष्ट्रों की तुलना में अधिक लाभ प्राप्त हुआ है। विश्व व्यापार में औद्योगिक राष्ट्रों को अधिक लाभ प्राप्त हो रहा है। अविकसित राष्ट्रों को प्राइमरी उत्पादकों के निर्यात पर मिलने वाली छूट के बदले निर्मित माल के आयात पर अधिक छूट देनी पड़ती है इससे अविकसित राष्ट्र प्राकृतिक साधनों का देश के अनुकूल उपयोग नहीं कर सके। इस समझौते के सिद्धांतों में परिवर्तन किया गया तथा विकसित राष्ट्रों ने यह मान लिया कि विश्व बाजार में प्राइमरी उत्पादन को अधिक रियायतें दी जाएं तथा वस्तुओं की कीमतों में स्थायित्व लाया जाए। इसी प्रकार औद्योगिक राष्ट्र इस सिद्धांत पर राजी हो गये हैं कि वे अविकसित राष्ट्रों को दी गई छूट व रियायतों के बदले, किसी भी प्रकार के लाभ की आशा नहीं रखेंगे। परंतु इसे व्यवहार में पालन करना इतना सरल नहीं है। इस समझौते ने विश्व व्यापार को स्वतंत्र बनाने में सफलता प्राप्त की है।

वर्तमान समय में गाट में 68 सदस्य हैं। स्विट्जरलैंड ने 1 अगस्त, 1966 को इस समझौते में प्रवेश किया। इसमें से 45 राष्ट्र विकसित एवं शेष अविकसित राष्ट्र सदस्य हैं। इस समझौते का महान असहयोगी फ्रांस है जिसने अभी तक समझौते में हुए परिवर्तन को मानने से इंकार कर दिया है।

भारत एवं जी० ए० टी० टी० : भारत प्रारंभ से ही गाट के विभिन्न सम्मेलनों में भाग लेता रहा है। 1948-49 के तोरक्वे सम्मेलन में भारत को उस वर्ष 1.85 करोड़ रु० की प्रत्यक्ष एवं 5.13 करोड़ रु० की अप्रत्यक्ष छूट प्राप्त

1. 1947 में जेनेवा में एक बैठक हुई थी और हवाना चार्टर जेनेवा में बनाया जा रहा था।

हुई। इसके बदले में भारत ने आयात माल पर .89 करोड़ रु० की प्रत्यक्ष एवं 3.77 करोड़ रु० की अप्रत्यक्ष सहायता दी। परंतु इससे भारत को विशेष लाभ नहीं हुआ क्योंकि भारत ने जिन वस्तुओं पर छूट दी थी, वे औद्योगिक विकास के लिये आवश्यक थी और जिन वस्तुओं पर छूट प्राप्त हुई उनमे भारत को एकाधिकार प्राप्त था। ये वस्तुएं बिना किसी छूट के भी बेची जा सकती थीं। 1958 के जेनेवा सम्मेलन मे भारत ने जापान को कई सुविधाएं प्रदान करने की घोषणा की। फ्रांस भारतीय कुटीर वस्त्र के माल पर रियायत दे रहा है। वर्तमान समय मे जटा (Coir) माल में, जिसमे भारत को लगभग एकाधिकार प्राप्त है, डच, यूरोपीय आर्थिक संगठन से रियायतें प्राप्त करने से, विश्व बाजार मे भारत से प्रतिस्पर्धा कर रहा है। डच के इस उद्योग को आवश्यक कच्चा माल भारत से ही प्राप्त होता है। अत. गाट के अंतर्गत रियायतें प्राप्त करने की अपेक्षा यह उचित व अच्छा रहेगा कि भारत अपनी नीति मे सुधार करके, आवश्यक कच्चे माल का निर्यात डच को बंद कर दे। यह सुझाव दिया जाता है कि भारत को प्रशुल्क करों मे छूट प्राप्त करते समय निम्न सिद्धांतों को ध्यान मे रखना चाहिए—

(1) आयात पर अधिक छूटें—इस संघ की सदस्यता होने से भारत को पूंजीगत माल एव मशीनरी के आयात पर अधिक छूट प्राप्त करनी चाहिए।

(2) उन वस्तुओं के निर्यात पर अधिक छूट देनी चाहिए जो निर्मित माल हो, विदेशो मे जिन पर प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड रहा हो, तथा जिनकी स्थानापन्न वस्तुएं विदेशों में खोजी जा चुकी हों।

(3) समझौते के अंतर्गत होने वाले व्यापार की प्रगति की समय-समय पर जाच की जानी चाहिए।

(4) भारतीय छोटे पैमाने के उद्योग एवं कुटीर उद्योग तथा अन्य निर्मित माल के निर्यात पर अधिकाधिक सुविधाएं व छूट प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए।

(5) जिन-जिन वस्तुओं के संबंध मे समझौते हुए, उनके आयात-निर्यात पर विशेष ध्यान रखना चाहिए।

(6) भविष्य मे समझौते के अंतर्गत जो नवीन शर्तें तय की जायें उन पर व्यापारी एवं उद्योगपतियों की सलाह ले लेनी चाहिए।

जी०ए०टी०टी० का भविष्य—वर्तमान समय में प्रशुल्क करो एवं प्रतिबंधो का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वर्तमान समय मे स्वतंत्र व्यापार-नीति को मान्यता नहीं दी जाती। देश की प्रगति बहुपक्षीय समझौतों पर ही आधारित है। द्विपक्षीय समझौते एक अस्थायी उपाय हैं। द्विपक्षीय समझौते से कुल विश्व व्यापार में कमी आ जाती है। भारत बहुपक्षीय समझौते द्वारा ही विदेशी व्यापार की प्रगति कर सकता है। भारत को अपने आयात विश्व के सस्ते एवं सर्व-श्रेष्ठ बाजार से प्राप्त करने चाहिएं, इसी प्रकार निर्यातों को विश्व के अच्छे बाजारों में बेचना चाहिए। निर्यात का बाजार क्षेत्र भी व्यापक बनाना चाहिए। बहुपक्षीय समझौता एवं गाट समझौते का भविष्य पिछड़े हुए एवं अर्द्ध-विकसित राष्ट्रो के निर्यात बढ़ाने पर निर्भर है। भविष्य में आशा की जाती है कि विश्व के अन्य राष्ट्र भी इसके सदस्य बनेंगे एव विश्व व्यापार तथा बहुपक्षीय व्यापार मे वृद्धि होगी। यद्यपि वर्तमान समय में यूरोपीय आर्थिक समुदाय के छः राष्ट्र एवं केनेडी प्रस्ताव (Kennedy Round of Talks) के राष्ट्रो के साथ विदेशी व्यापार में रुकावटें आ सकती हैं परन्तु इसकी सदस्य संख्या बढ़ने पर विश्व व्यापार एवं भारत के व्यापार मे वृद्धि होगी। अब यह भी स्वीकार कर लिया गया है कि विकसित एव औद्योगिक प्रगति वाले राष्ट्रों के स्थान पर कम विकसित राष्ट्रों को अपनी वस्तुएं निर्यात करने के लिए अधिक प्रोत्साहन देना होगा।

अभी हाल ही मे गाट ने एक ट्रेनिंग कोर्स प्रारम्भ किया है जिसमें भारत, इथाइल, कोरिया, हांगकांग मलवाई, पीरू, फिलीपाइन्स, अरब व उगेण्डा के अधिकारियों ने भाग लिया। यह कोर्स 5 माह [redacted] होगा जिसमे व्यापार नीति, कृषि व्यापार प्रवृत्ति, और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार आदि पर विचार किया जायेगा। इस कोर्स का उद्देश्य विकसित राष्ट्रों को सहायता करना है जिसमे वे नीतिनिर्धारण करने वाले सरकारी अधिकारियों को प्रशिक्षण दे सकें। अभी समझौते के आधार पर वर्तमान कपड़े के अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की बाजार प्रणाली को तीन वर्षों के लिये आगे बढ़ा दिया है जो कि अगले दिसम्बर में समाप्त होने वाली थी। 1975 मे छोटे औद्योगिक राष्ट्रों की क्रियाएं 7 बड़े राष्ट्रो की तुलना में ठीक थी। 1974 व 1975 के मध्य 6 बड़े राष्ट्रों का सम्मिलित व्यापार शेष 16,000 मि० डालर था। यदि वित्तीय समस्याएं गम्भीर हो जाए तो औद्योगिक राष्ट्रों की अर्थव्यवस्था पर स्फीतिक प्रभाव पड़ेंगे। इन राष्ट्रो ने 1974 में

औद्योगिक क्षेत्र से 81,000 मि० डालर का माल आयात किया था। विश्व उत्पादन में 3% से ही वृद्धि हुई थी। पूर्वी ब्लॉक के राष्ट्रों के उत्पादन में 6.5 से व विकसित राष्ट्रों के उत्पादन में 5% से वृद्धि हुई थी। विश्व व्यापार में 6% से ही वृद्धि हुई। तेल राष्ट्रों के निर्यात में 220 प्रतिशत से व विकासशील तेल-आयात राष्ट्रों में 200% से वृद्धि हुई। औद्योगिक राष्ट्रों के निर्यात में 7% से वृद्धि हुई। निर्मित माल के निर्यात में 1/3 से वृद्धि हुई जबकि कृषि उत्पादन में 23% से वृद्धि हुई। व्यापार शेष के सम्बन्ध में तेल निर्यातक राष्ट्रों का शेष 66,000 मि० डालर था।[1]

(14) मुक्त व्यापार क्षेत्र
(Free Trade Area)

यूरोपीय आर्थिक सहयोग संगठन (O. E. E. C.) की कार्यवाही से असंतुष्ट होकर[2] सदस्य राष्ट्रों के दूसरे दल[3] ने 20 नवम्बर, 1959 को अपना एक पृथक व्यापारिक संघ बनाया जिसे 'यूरोपीय मुक्त व्यापार क्षेत्र' के नाम से जानते हैं।

सदस्य—इस क्षेत्र के 7 सदस्य हैं स्वीडन, नार्वे, डेनमार्क, स्विट्जरलैण्ड, पुर्तगाल, आस्ट्रिया एवं इंग्लैण्ड। इंग्लैण्ड इस दल का नेता है। इसमें आर्थिक विकास की विभिन्न अवस्थाएं हैं। डेनमार्क कृषि-प्रधान एवं इंग्लैंड उद्योग प्रधान राष्ट्र होने के कारण इस प्रकार समझौता किया गया है जिससे सदस्य राष्ट्रों के व्यापार में वृद्धि हो। इन 7 राष्ट्रों का कुल व्यापार सन् 1959 में विश्व व्यापार का 17.7 प्रतिशत था जब कि यूरोपीय साझा बाजार का व्यापार 23 प्रतिशत था।

उद्देश्य—इस क्षेत्र के मुख्य उद्देश्य निम्न हैं—

(1) सदस्य राष्ट्रों में पारस्परिक व्यापार बढ़ाना, (2) यूरोप की व्यापार संबंधी समस्याओं का हल निकालना, एवं (3) विश्व के अन्य राष्ट्रों से व्यापारिक संबंध बढ़ाना।

विशेषताएं—इस संघ की प्रमुख विशेषताएं निम्न हैं—

(1) तटकर की समाप्ति—यह संघ आंतरिक तटकर समाप्त करेगा, परंतु गैर-सदस्य राष्ट्रों पर कर लगाने की पूर्ण स्वतंत्रता सदस्य राष्ट्रों को दी जायेगी।

(2) उपनिवेशों को छोड़ना—इस संघ में समुद्रपार उपनिवेश सम्मिलित नहीं किये गये हैं।

(3) औद्योगिक माल तक सीमित क्षेत्र—इस संघ का क्षेत्र केवल औद्योगिक माल तक ही सीमित है क्योंकि कृषि माल के संबंध में पूर्ण रूप से कोई समझौता नहीं हो पाया है।

(4) सीमित बंधन—इस संघ में बंधन सीमित हैं तथा इसका उद्देश्य व्यावहारिक है।

मुक्त व्यापार संघ एवं भारत—भारत के विदेशी व्यापार में इस संघ का काफी महत्व है। भारत के कुल आयात व निर्यात में क्रमशः 20% व 30% भाग इसी क्षेत्र का है, परंतु इसमें से अधिकांश व्यापार केवल इंग्लैंड द्वारा ही होता है। इंग्लैंड में साम्राज्य प्राथमिकता योजना (Commonwealth Preference Scheme) के अंतर्गत भारतीय माल को विशेष सुविधाएं प्राप्त होती हैं। भारत के अधिकांश निर्यात इंग्लैंड में करमुक्त हैं। इस संघ के शेष 6 राष्ट्रों को भारत से केवल 5 प्रतिशत निर्यात किये जाते हैं। विश्व व्यापार में इस संघ का काफी महत्व है क्योंकि इस क्षेत्र से विश्व के 1/6 निर्यात एवं 1/5 आयात किये जाते हैं।

मुक्त व्यापार क्षेत्र की प्रगति—अनुमान था कि दिसम्बर, 1966 तक यह संघ निर्मित माल के लिए एक 'अकेला स्वतंत्र बाजार' के उद्देश्य को प्राप्त करने में सफल हो जायेगा। इस क्षेत्र के सदस्य राष्ट्रों में 1973 तक तटकर पूर्णरूप से समाप्त हो जायेंगे। इस क्षेत्र का औसत मासिक व्यापार 612 मि० डालर हो गया जबकि पूर्व में मासिक औसत

1. The financial Express, Sep. 4, 1975.

2. कुछ राष्ट्र ऐसे व्यापारिक प्रतिबंध चाहते थे जिससे सदस्य राष्ट्र अपनी सार्वभौमिकता एवं व्यक्तिगत अधिकार बनाये रखें। यह सुविधाएं यूरोपीय आर्थिक सहयोग संगठन में उपलब्ध न थी इसी कारण ये राष्ट्र असंतुष्ट बने रहे।

3. इस दल का नेता इंग्लैंड था।

व्यापार केवल 305 मि० डालर था। इस क्षेत्र के व्यापार में वार्षिक 12 प्रतिशत से वृद्धि हुई। यूरोपीय साझा बाजार से इस क्षेत्र की वृद्धि 10 प्रतिशत ही हुई। साझा बाजार को निर्यात मे 5 प्रतिशत एवं आयात मे 8.8 प्रतिशत की वृद्धि हुई। विश्व के विकसित राष्ट्रो से इस क्षेत्र के व्यापार में विशेष वृद्धि नही हुई है। इस क्षेत्र का औसत मासिक आयात 3,000 मि० डालर था।

EFTA क्षेत्र के राष्ट्रो में नार्वे ने काफी प्रगति की है और भुगतान संतुलन में काफी वृद्धि हुई है। इनके व्यापार में 147% से वृद्धि हुई है। इन राष्ट्रों में स्वीडन, डेनमार्क, फिनलैंड और नार्वे स्वयं अच्छे बाजार हो गये हैं। इस क्षेत्र के निर्माण से सदस्य देशो के निर्यात एवं आयात व्यापार में विशेष रूप से वृद्धि हुई है। भविष्य में यह क्षेत्र अधिक शक्तिशाली सिद्ध हो सकता है।

(15) यूरोपीय साझा बाजार
(European Common Market or E. C. M.)

प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व विश्व में स्वतंत्र व्यापार की नीति का पालन हो रहा था। इससे प्रायः समस्त राष्ट्रो को विदेशी व्यापार में कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति पर राजनैतिक, सामाजिक व आर्थिक दृष्टि से यूरोप दो भागो में बट गया। पूर्वी यूरोप पर सोवियत रूस और पश्चिमी यूरोप पर अमरीका का प्रभाव बढने लगा। इन दोनो भागों में तीव्र प्रतिस्पर्धा होने लगी। रूस व साम्यवादी राष्ट्रो के प्रभाव को कम करने हेतु अमरीका ने सन् 1944 में मार्शल योजना चालू की। इसी प्रकार पश्चिमी जर्मनी को पाश्चात्य राष्ट्रो के प्रभाव के अतर्गत लाने हेतु अनेक प्रयास किये गये। 1929 की विश्वमदी एवं द्वितीय विश्वयुद्ध ने यूरोपीय राष्ट्रों की स्थिति बहुत खराब कर दी थी। अत आर्थिक क्षेत्र मे मिलकर काम करने की प्रेरणा प्रारभ हुई। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर सर्वप्रथम सन् 1951 में यूरोप के 6 राष्ट्रो ने मिलकर राजनैतिक एवं आर्थिक प्रतिस्पर्धा को समाप्त कर 'यूरोपियन कोयला एवं इस्पात सगठन' (European Coal and Steel Community) का निर्माण किया। इसका उद्देश्य समस्त 6 राष्ट्रो में कोयला एव इस्पात के उत्पादन में विवेकीकरण एवं वृद्धि करना था। इस योजना की सफलता[1] से प्रेरित होकर इन्ही राष्ट्रों ने एक 'यूरोपियन सुरक्षा सगठन' (European Defence Community) की स्थापना का प्रयास किया। इस संगठन का उद्देश्य सैनिक शक्ति का एकीकरण करना था। लेकिन फ्रांस द्वारा विरोध करने से इस संगठन की स्थापना न हो सकी।

परन्तु इस असफलता के फलस्वरूप भी आर्थिक जगत मे सघ स्थापित करने की प्रवृत्ति बढ़ रही थी। अतः इन राष्ट्रो ने एक 'यूरोपियन अणु शक्ति संगठन' (European Atomic Energy Community) की स्थापना की। इसमें इन्हें काफी सफलता प्राप्त हुई। इससे प्रेरित होकर 25 मार्च, 1957 को इन्ही राष्ट्रो ने रोम सधि पर हस्ताक्षर किये और इसी सधि के आधार पर यूरोपीय साझा बाजार (European Common Market) की स्थापना की गई। इस बाजार का निर्माण 1 जनवरी, 1958 को हुआ। इसके 6 सदस्य राष्ट्र निम्न प्रकार हैं—(1) बेल्जियम, (2) पश्चिमी जर्मनी, (3) फ्रांस, (4) इटली, (5) लक्जेम्बर्ग, एवं (6) हालैण्ड। इन सदस्य राष्ट्रो के अतिरिक्त 16 सहयोगी राष्ट्र और हैं। इस बाजार का प्रबंध स्वतन्त्र प्रजातान्त्रिक प्रणाली के आधार पर होता है। इस बाजार की अपनी कार्यकारिणी, मन्त्रिमंडल एवं सदस्य हैं। यद्यपि यह बाजार एक 'तटकर संगठन' (Custom Union) के रूप में ही प्रारम्भ किया गया था परन्तु आज यह विश्व की एक महान् आर्थिक एवं राजनैतिक शक्ति का रूप ग्रहण कर रहा है। इस बाजार का क्षेत्रफल 4 49 लाख वर्गमील एवं जनसंख्या 17 करोड़ है। इस बाजार ने महत्त्वपूर्ण प्रगति की है और आज यह विश्व का सबसे बड़ा व्यापारी हो गया है।

उद्देश्य

इस बाजार के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

(1) बाजार क्षेत्र विस्तृत करना—बाजार का क्षेत्र इतना विस्तृत करना कि सदस्य राष्ट्रो के उद्योगों का क्षमतापूर्वक संचालन हो तथा संपूर्ण क्षेत्र आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली बन जाए।

1. इस योजना से सन् 1952 की अपेक्षा सन् 1956 में कोयला एवं इस्पात का उत्पादन दुगुना हो गया।

(2) कम लागत पर उत्पादन—विस्तृत बाजार उपलब्ध करना जिससे बड़े पैमाने पर उत्पादन कम लागत पर संभव हो सके।

(3) तटकर संगठन की स्थापना—एक तटकर संगठन (Custom Union) की स्थापना करना, जो 12 वर्षों की अवधि में तटकरों को समाप्त करके एक ऐसे बाजार का निर्माण करे जिसमें बिना प्रतिबंध के परस्पर व्यापार बढ़ सके।

(4) करों की दरें समान करना—समुद्र पार राष्ट्रों के माल के आयात व निर्यात पर करों की दरें समान करना जो कि सदस्य राष्ट्रों में प्रचलित करों की औसत दर से अधिक न हो।

(5) श्रम व पूंजी की गतिशीलता—बाजार के क्षेत्र के अंदर श्रम व पूंजी की गतिशीलता पर कोई भी प्रतिबंध न होगा।

(6) आचरण संहिता का निर्माण—एक सामान्य आचरण संहिता रखी जायेगी जो सदस्य राष्ट्रों के उद्योगों को आर्थिक सहायता दे।

(7) समान परिवहन व मजदूरी दरें—सदस्य राष्ट्रों के मध्य परिवहन व मजदूरी की दरें समान रहेंगी।

(8) यूरोपियन सामाजिक कोष—श्रमिकों के सहायतार्थ एक 'यूरोपियन सामाजिक फण्ड' (European Social Fund) की स्थापना होगी जिससे श्रमिकों के प्रशिक्षण हेतु आधा व्यय चुकाया जायेगा।

(9) यूरोपियन विनियोग कोष—एक यूरोपियन विनियोग फण्ड (European Investment Fund) की स्थापना का लक्ष्य रखा गया जो उद्योगपतियों को, श्रमिकों की दशाएं सुधारने हेतु वित्तीय सहायता देगा।

(10) रोजगार व मूल्य में स्थायित्व—सदस्य राष्ट्र ऐसी आर्थिक नीतियां अपनायेंगे, जिनमें सामूहिक अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान साम्यावस्था में रहे राष्ट्रीय मुद्रा में विश्वास बढ़े एवं रोजगार व मूल्य में स्थायित्व रहे।

(11) परामर्श-मौद्रिक समिति—एक परामर्श-मौद्रिक समिति (Advisory Monetary Commitee) की स्थापना का लक्ष्य रखा गया जो सदस्य राष्ट्रों के भुगतान संतुलन पर निगरानी रखे तथा कठिनाइयां उत्पन्न होने पर उपाय बताये।

संगठन

इस बाजार को आर्थिक मामलों में असाधारण प्रभुसत्ता प्राप्त है। इसके कार्य विभिन्न एजेंसी द्वारा किये जाते हैं। यूरोपियन आर्थिक संगठन (European Economic Council) प्रशासन संबंधी कार्य करता है। इसमें प्रत्येक सदस्य राष्ट्र का एक-एक सदस्य होता है। इस संगठन के सहायतार्थ 9 सदस्यों का एक यूरोपियन कमीशन है। इसके अतिरिक्त एक परामर्श-मौद्रिक समिति एवं 'यूरोपियन आर्थिक एवं सामाजिक समिति' का भी गठन किया गया है।

ब्रिटेन व यूरोपीय साझा बाजार

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ब्रिटेन यूरोप में एक शक्तिशाली राष्ट्र माना जाने लगा। 1947 में ब्रिटेन को विनिमय संकट का सामना करना पड़ा। यद्यपि इस समय अमरीका द्वारा मार्शल योजना प्रारंभ कर दी गई थी, परन्तु ब्रिटेन ने इससे कोई लाभ प्राप्त नहीं किया। ब्रिटेन ने उदार नीति का पालन किया जिससे यूरोप में इसका प्रभाव घट गया। सन् 1957 में जब ई० सी० एम० के लिए रोम संधि हुई तो ब्रिटेन ने इसका विरोध किया और अपना स्वयं का एक अलग गुट बना लिया।[1] जुलाई, 1961 में फिनलैण्ड को इस नये गुट का सदस्य बना लिया गया। लेकिन यह संघ अपने उद्देश्यों की पूर्ति में सफलता प्राप्त नहीं कर सका। आस्ट्रिया अक्तूबर, 1965 से साझा बाजार का सदस्य बनने का प्रयास कर रहा है और उसे अनुमति भी प्राप्त हो गई है। सन् 1965 से ब्रिटेन ने साझा बाजार के सदस्य बनने का एक असफल प्रयास किया। ब्रिटेन प्रारंभ से ही साझा बाजार का सदस्य होना नहीं चाहता था और इसी कारण उसने

1. ब्रिटेन के इस गुट का नाम यूरोपियन स्वतन्त्र व्यापार संघ रखा गया। इसमें कुल 7 सदस्य थे—ब्रिटेन, पुर्तगाल, स्विट्जरलैंड, आस्ट्रिया, स्वीडन, डेनमार्क एवं नार्वे। ब्रिटेन इस संघ का नेता था।

रोम संधि प्रस्तावों को नहीं माना था।

समान कृषि नीति के प्रश्न पर साझा बाजार में समझौता होने से ब्रिटेन को आर्थिक संरक्षण भले ही प्राप्त हो जायें, परंतु उसे राजनैतिक सत्ता से हाथ धोना पड़ेगा, क्योंकि फ्रांस, जर्मनी व इटली को चार-चार वोट, नीदरलैंड व बेल्जियम को दो-दो वोट एवं लक्जेम्बर्ग को एक वोट मिला है। पहले प्रत्येक राष्ट्र को वीटो का अधिकार था, परंतु अब बहुमत द्वारा ही निर्णय लिए जाते हैं जो समस्त राष्ट्रों को मान्य होंगे। अब जर्मनी व फ्रांस एक हो गए हैं, जो ब्रिटेन पर राजनैतिक दबाव अवश्य डालेंगे। यह प्रत्यक्ष रूप से ब्रिटेन की राजनैतिक सत्ता को एक चुनौती थी। प्रारंभ से ही फ्रांस ब्रिटेन को साझा बाजार में सदस्य बनाने के पक्ष में नहीं था और ब्रिटेन भी सदस्य होना नहीं चाहता था। परंतु अब परिस्थितियाँ बदल चुकी हैं। ब्रिटिश विदेश मंत्री—ने घोषित किया था कि "ब्रिटेन साझा बाजार का सदस्य बनने को तैयार व इच्छुक है, बशर्ते कुछ ब्रिटिश हितों की रक्षा की जाए—सरकार एक विस्तृत यूरोपियन एकता देखना चाहेगी।"[1] ब्रिटेन ने साझा बाजार का सदस्य बनने का आग्रह किया।[2] फ्रांस भी रोम संधि प्रस्तावों में संशोधन चाहता है, इस कारण ब्रिटेन का सदस्य होना अब निश्चित-सा हो गया है। ब्रिटेन का साझा बाजार में सदस्य बन जाने पर यह आवश्यक नहीं है कि यूरोपीय स्वतंत्र व्यापार संघ का अस्तित्व समाप्त ही हो जाए। साझा बाजार में ब्रिटेन के सदस्य बन जाने से अन्य सदस्य राष्ट्रों को भी पर्याप्त लाभ हुआ है परंतु कामनवैल्थ के राष्ट्रों ने ब्रिटेन के साझा बाजार में सदस्य बनने का पूर्ण रूप से स्वागत नहीं किया है। उदाहरणस्वरूप, ब्रिटेन के साझा बाजार में सदस्य बनने से आस्ट्रेलिया के निर्यात व्यापार में लाखों पौंड की हानि होगी, न्यूजीलैंड के निर्यात व्यापार कम होंगे व साइप्रस की अर्थव्यवस्था पर भी बुरा प्रभाव पड़ेगा।

भारत और यूरोपीय साझा बाजार

भारत को यूरोपीय साझा बाजार से अनेक लाभ प्राप्त हुए हैं। पंचवर्षीय योजनाओं में साझा बाजार के औसत निर्यात व्यापार में वृद्धि हुई है। यह व्यापार विकसित एवं विकासशील दोनों ही प्रकार के राष्ट्रों के साथ बढ़ा है।

भारत के ब्रिटेन से सदैव ही घनिष्ठ व्यापारिक संबंध रहे हैं। सन् 1913-14 से पूर्व भारत के कुल आयात में से 93% भाग ब्रिटेन का था परंतु द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद यह घटकर 26% ही रह गया। शनैः-शनैः ब्रिटेन से आयात की अपेक्षा निर्यात बढ़े तथा भारत विदेशी विनिमय अर्जित करने लगा। वर्तमान समय में भारत ब्रिटेन को बहुत अधिक मात्रा में माल निर्यात करता है। ब्रिटेन के साझा बाजार में सम्मिलित होने से भारत के विदेशी व्यापार पर कुप्रभाव पड़ेगा।

साझा बाजार एवं वर्तमान संकट

प्रारंभ में 1965 से फ्रांस ने साझा बाजार से अपने को पृथक कर लिया था, परंतु फरवरी, 1966 से पुनः उसने भाग लेना स्वीकार कर लिया है। साझा बाजार के सदस्य राष्ट्रों ने एक समान कृषि नीति को कार्यान्वित करने का विचार कर लिया है। अब कोई भी राष्ट्र 'वीटो' का प्रयोग नहीं करेगा और समस्त निर्णय बहुमत के आधार पर लिए जाएंगे।

अतः ब्रिटेन के साझा बाजार में प्रवेश से भारत को व्यापारिक दृष्टि से लाभ होगा या नहीं, इसका निर्णय भविष्य में ही हो सकेगा। लेकिन साझा बाजार के साथ निरंतर बढ़ता प्रतिकूल व्यापारिक सतुलन सरकार के लिए एक चिन्ता का कारण बन गया है। भारत सरकार को साझा बाजार के साथ निर्यात बढ़ाने के प्रयास करने चाहिए। साझा

1 "Britain is ready and willing to join the Common Market, provided that certain British Interest can be safeguarded......the Government would like to see a wider European unity." British Foreign Minister declared.

२. इसके निम्न कारण हैं—(१) साझा बाजार के राष्ट्रों में महत्वपूर्ण उन्नति हुई है, (२) शाही अधिमान की नीति अब उपयोगी नहीं रही, (३) कामनवैल्थ के संबंध अब ब्रिटेन से घनिष्ठ नहीं रहे, (४) कामनवैल्थ राष्ट्रों में राजनैतिक एकता नहीं है।

बाजार ने भारत से निर्यात होने वाली कुछ वस्तुओं पर 31 दिसम्बर, 1966 तक कोई भी कर न लगाने का निश्चय किया था। साझा बाजार के विकास पर ही विश्व का व्यापार निर्भर है। भारत के निर्यात में वृद्धि भी साझा बाजार की प्रगति पर निर्भर है।

(16) सर्वाधिक मान्य राष्ट्र धारा
(Most Favoured Nation Clause)

जब कोई दो राष्ट्र व्यापारिक समझौता करते हैं तो उसमें अनेक धाराओं को भी सम्मिलित करने के साथ-साथ 'सर्वाधिक मान्य राष्ट्र धारा' को भी सम्मिलित कर लेते हैं। इस धारा का यह अर्थ होता है कि यदि विदेशी व्यापार में कोई राष्ट्र कोई सुविधा किसी राष्ट्र को देता है तो वह सुविधा स्वतः ही उस राष्ट्र को भी प्राप्त हो जाएगी जिस राष्ट्र के समझौते में इस धारा का उल्लेख है। उदाहरणार्थ भारत व जापान के मध्य व्यापारिक समझौते में 'सर्वाधिक मान्य राष्ट्र धारा' भी सम्मिलित है और यदि भारत अमरीका से आने वाले किसी माल पर आयात-कर 30 प्रतिशत कर दे जबकि उस माल पर सामान्य आयात-कर 40 प्रतिशत है तो इस धारा के अनुसार जापान से आने वाले माल पर भी अब आयात-कर 30 प्रतिशत ही लगेगा, 40 प्रतिशत नहीं।

आजकल अधिकांश राष्ट्रों तटकरों में संबंध के परस्पर सुविधाओं का विनिमय करने लगे हैं। व्यापारिक समझौता करने वाले राष्ट्र यह निश्चय कर लेते हैं कि वे विशेष करों को कम कर देंगे। यह कमी सामान्य एवं विशेष हो सकती है।

लाभ—(1) सही रास्ते पर लाना—जब कोई राष्ट्र ऊंचे तटकर लगाता है तथा टैरिफ वार्ता में भी भाग नहीं लेता तो उसके विरुद्ध इस धारा का प्रयोग करके उसे सही रास्ते पर लाया जा सकता है।

(2) व्यापार में वृद्धि—जो राष्ट्र निर्मित माल का निर्यात करता है, उसके साथ इस धारा का उपयोग करके व्यापार में वृद्धि की जा सकती है।

(3) लाभ प्राप्त होना—जो राष्ट्र अन्य प्रकार की सुविधाएं नहीं देते हैं, उन्हें इस धारा से महत्वपूर्ण रियायतें व लाभ प्राप्त हो सकते हैं।

(4) बहुमूल्य रियायत—इस धारा के आश्वासन से ही राष्ट्र के विदेशी व्यापार में बहुमूल्य रियायत प्राप्त हो जाती है।

हानियां—इसकी हानियां निम्नलिखित हैं—

(1) यदि किसी अवधि में स्वतंत्र व्यापार की नीति या संरक्षण की नीति प्रचलित हो इस धारा से सामान्य करों में भी गिरावट आ जाती है और व्यापार पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

(2) एक साथ अनेक राष्ट्रों से इस धारा के अंतर्गत वार्ता चलाना प्रायः कठिन व अव्यावहारिक होता है।

(3) इस धारा के प्रयोग किए बिना ही करों में भारी छूट प्राप्त की जा सकती है।

(4) इस स्थायित्व वाले एवं अननुकूल बाजार वाले राष्ट्रों के लिए यह धारा बहुत हानिकारक रहती है।

(5) यह धारा विशेष तटकर संधियों के निर्माण को रोकती है।

(6) इस प्रकार तटकर में कमी करना एक बुराई एवं आर्थिक बोझ माना जाता है।

(17) खुला सामान्य लाइसेंस
(Open General Licence)

भारत के विदेशी व्यापार पर नियंत्रण करने के लिए सन् 1947 में आयात-निर्यात नियंत्रण अधिनियम पास किया गया। इस अधिनियम के अंतर्गत सरकार आयात एवं निर्यात दोनों पर नियंत्रण करती है। भारत से वस्तुओं का निर्यात बिना लाइसेंस लिए नहीं किया जा सकता और जिन वस्तुओं पर नियंत्रण लगाया गया है उनको एक सूची में दर्ज कर लेते हैं। जो वस्तुएं इस सूची में दर्ज नहीं की जाती हैं वे वस्तुएं नियंत्रण से मुक्त होती हैं तथा बिना निर्यात लाइसेंस लिए ही निर्यात की जा सकती हैं।

इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी वस्तुएं होती हैं जो निर्यात नियंत्रित वस्तुओं की सूची मे तो होती हैं परंतु इन पर निर्यात लाइसेंस अपेक्षाकृत अधिक सरलता से प्राप्त हो जाता है। ऐसी वस्तुओं को पृथक् से लिखा जाता है, और इन पर जो लाइसेंस निर्गमित किया जाता है, उसे 'खुला सामान्य लाइसेंस' कहते हैं। वर्तमान समय मे भारत मे निम्न चार प्रकार के खुले सामान्य लाइसेंस दिए जाते हैं—

(1) वे समस्त वस्तुएं जो विदेशो मे उपभोग हेतु निर्यात की जाती हैं।

(2) मिर्च, जिसका निर्यात दुर्लभ मुद्रा क्षेत्रो को किया जाता है।

(3) वे समस्त वस्तुएं जो पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध हैं और जिन्हें सरलता से विदेशो मे निर्यात किया जा सकता है। इसमे 59 वस्तुएं सम्मिलित की जाती हैं।

(4) पाकिस्तान को निर्यात की जाने वाली वस्तुएं जिनकी समय-समय पर सरकार द्वारा घोषणा की जाती है।

(18) संयुक्त राष्ट्र व्यापार एवं विकास सम्मेलन
(United Nations, Conference of Trade and Development or UNCTAD)

अनेक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनो एवं संघो के निर्माण के बावजूद भी विश्व के विकासशील एवं अर्द्धविकसित राष्ट्र अपने क्षेत्र का औद्योगिक विकास तीव्रगति से न कर सकें। बीसवी शताब्दी मे जारी किए गए हवाना चार्टर एवं अंतर्राष्ट्रीय व्यापार व तटकर समझौते (गाट) से अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि होने एवं विकासशील राष्ट्रो की अर्थव्यवस्था मे सुधार होने की आशा की गई थी, परंतु इससे व्यापार एवं अर्थव्यवस्था दोनों को ही प्रोत्साहन नही मिला तथा गरीब एव अमीर राष्ट्रो की दूरी बढ़ती ही गई तथा 1970 तक विकासशील राष्ट्रो की स्थिति मे कोई विशेष सुधार नहीं हुआ। अतः विकासशील राष्ट्रो के व्यापार एवं अर्थव्यवस्था के सुधार के लिए जोर दिया गया और इन्ही प्रयासो के परिणामस्वरूप 1960 मे संयुक्त राष्ट्र संघ के व्यापार एव विकास सम्मेलन (UNCTAD) का जन्म हुआ।

प्रथम सम्मेलन जेनेवा मे हुआ, जिसमे विकासशील राष्ट्रों की समस्याओ एव उनके निराकरण पर विशेष जोर दिया गया। इन राष्ट्रो के विकास से संबंधित अनेक महत्वपूर्ण विषयो पर विचार-विमर्श करके विभिन्न राष्ट्रो के मध्य व्यापारिक संबंधो मे वृद्धि करने के उद्देश्य से कुछ निश्चित सिद्धांतो का प्रतिपादन किया गया। इन समस्त सिफारिशों को कार्यान्वित करने के उद्देश्य से एक संगठन का निर्माण किया गया तथा यह आशा व्यक्त की गई कि द्वितीय सम्मेलन होने तक संगठन के लक्ष्यो को प्राप्त किया जा सकेगा परंतु प्रथम सम्मेलन के लक्ष्यो को प्राप्त नही किया जा सका। इस काल मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे काफी वृद्धि हुई, फिर भी विकासशील राष्ट्रो के आर्थिक विकास की गति कम होकर अमीरी व गरीबी के बीच की खाई मे और अधिक वृद्धि हुई। विकसित राष्ट्रो मे राष्ट्रीय एवं प्रति व्यक्ति आय 60 डालर प्रतिवर्ष की दर से बढ़ रही है, वहां अविकसित राष्ट्रो मे इसकी वृद्धि 2 डालर है। प्रारंभ मे यह सिफारिश की गई थी कि विकसित राष्ट्र अपनी आय का एक प्रतिशत भाग सहायता के रूप मे विकासशील राष्ट्रो को देंगे, परतु इसमें निरंतर कमी होती गई तथा भाड़े व अन्य क्षेत्रो मे भेदभावपूर्ण नीति अपनाने से विकासशील राष्ट्रो का भुगतान सतुलन स्थिति पर बुरा प्रभाव पड़ा है। विकासशील राष्ट्रो के निर्यात मे भी वृद्धि नहीं हुई है तथा इनको विदेशी मुद्रा के अभाव का सामना करना पड़ा।

इस सम्मेलन मे विकासशील राष्ट्रो को तटकर आदि सुविधाओ से जो वंचित रखा जाता था उसमे परिवर्तन किया गया तथा इन राष्ट्रो को भी अनेक प्रकार की सुविधाएं प्रदान की गई। विकासशील राष्ट्रो को जो सहायता दी जाएगी, उसके बदले मे उनसे किसी प्रकार की सहायता प्राप्त करने की अपेक्षा नही की जाएगी। इसी प्रकार केनेडी समझौते से भी विकासशील राष्ट्रो को व्यापार संबंधी अनेक प्रकार की सुविधाएं प्रदान की गई। तृतीय व्यापार एव विकास सम्मेलन (UNCTAD III) द्वारा विकासशील राष्ट्रों के आर्थिक विकास करने के प्रयास किए गए।

समस्याएं – विकासशील राष्ट्रो के आर्थिक विकास के लिए यह बहुत आवश्यक है कि इन राष्ट्रो की समस्त समस्याओ को आपसी बातचीत द्वारा दूर कर दिया जाय। द्वितीय सम्मेलन 1967 मे भी समस्त समस्याओ का समाधान करना संभव नही था, अतः प्राथमिकता एवं आपसी विचार-विमर्श के अनुसार उन कठिनाइयों को दूर करने के प्रयास किए जाने चाहिए। विभिन्न राष्ट्रो ने विकासशील राष्ट्रो के विकास के लिए अनेक विचार-विमर्श किए गए तथा

यह निश्चित किया गया कि समस्त विकासशील राष्ट्रों के आधारभूत हित एकसमान हैं। इस संबंध में विकासशील राष्ट्रों में एकता होना आवश्यक है। इसके लिए स्वयं प्रयास करने की आवश्यकता है। अतः पारस्परिक व्यापार को बढ़ाने, एवं घनिष्ठ सहयोग प्राप्त होना आवश्यक है।

इस सम्मेलन का द्वितीय अधिवेशन 29 मार्च, 1968 को समाप्त हुआ। यह अधिवेशन 58 दिन तक चला। यदि ब्रिटेन एव सं० रा० अमरीका में आर्थिक संकट उत्पन्न न हुए होते तो शायद इस सम्मेलन के अधिक अच्छे परिणाम प्राप्त होते क्योंकि इन राष्ट्रों ने अपनी आवश्यकताओं के प्रति खास-तौर से ध्यान दिया। विश्व के विकसित राष्ट्रों में विकासशील राष्ट्रों की कठिनाइयों के संबंध मे आवश्यक जागरूकता का अभाव पाया जाता है। विकासशील राष्ट्रों को औद्योगिक क्षेत्र में निर्यात बढ़ाने की संभावनाएं बढ़ गई हैं। इस सम्मेलन में 77 राष्ट्रों ने एकता का परिचय दिया है। इस प्रकार विकसित एवं अविकसित राष्ट्रों मे सहयोग की भावना उत्पन्न हो सकेगी।

इस सम्मेलन का तृतीय अधिवेशन भी हो चुका है और इस अधिवेशन से विकासशील देशों के विकसित होने के अवसरों मे अपार वृद्धि हुई है। आशा है भविष्य में विकसित एवं विकासशील राष्ट्रों में आपसी भावना और बढ़ेगी।

30

अंतर्राष्ट्रीय तरलता

(International Liquidity)

प्रारंभिक

प्रत्येक क्रय के लिए नगदी में भुगतान करना आवश्यक होता है। अतः नकद सौदों को क्रय करने, ऋणों के भुगतान के लिए एवं आकस्मिक विपत्तियों के लिए जो कुछ भी बचाकर रखा जाता है उसे तरलता कहते हैं। विदेशों से आयात किए गए माल का भुगतान निर्यात द्वारा किया जाता है। यदि आयात की मात्रा निर्यात की अपेक्षा अधिक है तो शेष दायित्व का भुगतान स्वर्ण द्वारा किया जाता है या उस देश के संचित कोषों का उपयोग किया जा सकता है। इस प्रकार उस देश की विदेशी मुद्रा की संचित निधि एवं स्वर्ण कोष ही विदेशी भुगतान का सहारा होता है और इस प्रकार इन कोषों के संपूर्ण योग को ही अंतर्राष्ट्रीय तरलता कहते हैं। इस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय तरलता से आशय स्वर्ण एवं विश्व बाजारों में स्वतंत्रता से स्वीकार की जाने-वाली मुद्रा के कोषों की कुल विश्व पूर्ति से है। कुल अर्थ्यता में स्वर्ण एवं राष्ट्रीय मुद्रा को महत्त्व दिया जाता है।

अंतर्राष्ट्रीय तरलता की परिभाषा

(1) **अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की रिपोर्ट**—अंतर्राष्ट्रीय तरलता में वे समस्त साधन सम्मिलित किए जाते हैं, जो राष्ट्रों के मौद्रिक अधिकारियों को भुगतान असंतुलन संबंधी घाटे को पूर्ण करने हेतु उपलब्ध होते हैं।"[1]

(2) **फ्रिज मैचलप (Fritz Machlup)**—"अंतर्राष्ट्रीय तरलता का अर्थ भुगतान क्षमता की तत्परता से लगाया जाता है। इसे कोषों के अनुपात के रूप में व्यक्त किया जा सकता है, जो एक निश्चित समयावधि में वांछित कोषों को उपलब्ध करता है।"[2]

(3) **फीय होर्सफील्ड**—अंतर्राष्ट्रीय तरलता से आशय विश्व के स्वर्ण कोष या मुद्रा की पूर्ति से लगाया जाता है, जो कि स्वतंत्र रूप से अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रयोग किया जाता है जैसे डालर या स्टर्लिंग तथा उन्हें ऋण प्राप्त करने की सुविधाएं भी सम्मिलित हैं।"[3]

1. "International liquidity consists of all the resources that are available to the monetary authorities for the purpose of meeting balance of payments deficits."—I. M. F. Annual Report, 1964, p 25

2. "International liquidity means capacity to pay promptly. It can be expressed as a ratio of funds disposable to funds needed over a certain period of time."

3. "International liquidity is the terms given to the world supply of reserves of gold or of currencies which are freely usable internationally, such as dollars or sterling plus facilities for borrowing these."—Finance and Development, Dec. 1964, p. 171.

वास्तव में अंतर्राष्ट्रीय तरलता का पूर्ण अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का भुगतान करने हेतु उपलब्ध वित्तीय साधनों पर निर्भर है। इन वित्तीय साधनों में स्वर्ण, विदेशी मुद्राएं एवं ऋण लेने की योग्यता को सम्मिलित किया जाता है। स्वर्ण कोषों की मात्रा को अंतर्राष्ट्रीय तरलता का सबसे उत्तम अंग माना जा सकता है। वर्तमान समय में विदेशी मुद्राएं भी कोष में रखी जा सकती हैं। इसी प्रकार जिन राष्ट्रों में ऋण लेने की योग्यता है वह सरलता से आयातों का भुगतान कर सकता है, जिससे विदेशी व्यापार निरंतर चलता रहता है।

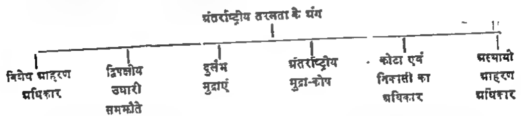
1960 में डालर का पतन हुआ तथा उस पर दौड़ प्रारंभ होने से अंतर्राष्ट्रीय द्रवता की पर्याप्तता पर शंका की जाने लगी। अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक कोष में निरंतर वृद्धि हो रही है, परंतु स्वर्ण कोष अनुपात से कम बढ़ पाए हैं। वर्तमान समय में विश्व अर्थव्यवस्था में वृद्धि होने से स्वर्ण एवं मुद्रा का संतुलन बिगड़ गया है जिससे द्रवता के अभाव की समस्या उत्पन्न हो गई है। स्वर्ण में वृद्धि करना सरल न होने से यह आवश्यक है कि इस अभाव को मुद्राओं की सहायता से दूर किया जाए, परंतु ऐसा करना भी सरल नहीं है।

अंतर्राष्ट्रीय तरलता के अंग

अंतर्राष्ट्रीय तरलता के अंग निम्न प्रकार हैं —

(1) अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के विशेष आहरण अधिकार।
(2) द्विपक्षीय उधारी समझौते।
(3) दुर्लभ मुद्राएं।
(4) अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष तथा राष्ट्रों के केंद्रीय बैंकों के पास सोने के कोष।
(5) अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष पर कोटा एवं निकासी का अधिकार।
(6) अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के अस्थायी आहरण अधिकार।

उपर्युक्त में से किसी में भी वृद्धि होने से विश्व तरलता में वृद्धि हो सकती है। इसे निम्न चार्ट द्वारा भी दिखाया जा सकता है—



अंतर्राष्ट्रीय द्रवता की आवश्यकता

अंतर्राष्ट्रीय भुगतान किसी भी राष्ट्र की मुद्रा में किया जा सकता है, जिसके लिए एक मुद्रा को दूसरी मुद्रा में परिणत करना पड़ता है जो कि विनिमय बैंकों या केंद्रीय बैंक द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है। इस संबंध में यदि केंद्रीय बैंक के साधन पर्याप्त न हों तो अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष से ऋण लिया जा सकता है। यदि यह व्यवस्था संभव न हो सकेगी तो संबंधित राष्ट्र आयात न कर सकेंगे तथा विश्व व्यापार की मात्रा में वृद्धि संभव न हो सकेगी। अतः विश्व व्यापार की वृद्धि के लिए स्वर्ण एवं अन्य परिवर्तनशील मुद्रा की उपलब्धि होना आवश्यक है जिसके लिए पर्याप्त मात्रा में अंतर्राष्ट्रीय तरलता का प्रबंध होना आवश्यक है।

अंतर्राष्ट्रीय तरलता का महत्त्व

वर्तमान समय में अंतर्राष्ट्रीय लेन-देन का भुगतान करना एक कठिन समस्या बन गया है। यदि अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में व्यापार संबंधी भुगतानों का प्रबंध न किया जाए तो अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में अनेक प्रकार की बाधाओं का सामना

करना पड़ता है। इस दृष्टि से अंतर्राष्ट्रीय तरलता का काफी महत्त्व है। इस महत्त्व को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(1) अंतर्राष्ट्रीय भुगतानों में सरलता—पर्याप्त मात्रा में तरल कोष होने पर अंतर्राष्ट्रीय भुगतान में सरलता एवं नियमितता बनी रहेगी तथा तरल कोषों के अभाव में भुगतान करने में अनेक प्रकार की कठिनाइयां उपस्थित होंगी तथा व्यापार पर भी बुरा प्रभाव पड़ेगा।

(2) डालर की दुर्लभता—डालर की मांग बढ़ने से 1957 तक डालर की दुर्लभता बनी रही जिससे स्वर्ण के निर्यात होने का भय बना रहता है। तरलता होने पर इस समस्या को हल किया जा सकता है।

(3) अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्थाएं—विश्व में अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष एवं अन्य मौद्रिक संस्थाओं की स्थापना से अंतर्राष्ट्रीय तरलता का महत्त्व बढ़ गया है।

(4) सीमित डालर सहायता—डालर सहायता उदारतापूर्वक प्राप्त होने पर तरल कोषों की कमी को दूर किया जा सकता था, परन्तु 1968 से सहायता में कमी करने के कारण तरल कोषों में जो अभाव उत्पन्न हो गया है उसकी पूर्ति करने के लिए तरलता का महत्त्व बढ़ गया है।

(5) नवीन योजनाएं—अनेक प्रकार की नवीन योजनाओं के प्रारंभ होने से तरल कोषों का अभाव अनुभव किया गया जिससे विदेशी व्यापार पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। अतः विदेशी व्यापार के समुचित विकास के लिए तरलता को बनाए रखना आवश्यक है।

(6) विश्व व्यापार में वृद्धि—गत 20 वर्षों में विश्व व्यापार की मात्रा में अत्यधिक वृद्धि हो जाने से विश्व के तरल कोषों पर भारी प्रभाव पड़ा है जिसे दूर करने के लिए अंतर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि करना आवश्यक होगा।

(7) स्वर्ण कोषों में कमी—अमरीकी स्वर्ण कोषों की कमी के कारण अंतर्राष्ट्रीय तरलता की मात्रा में भी कमी होने से तरलता का महत्त्व बढ़ गया है।

(8) प्रतिकूल व्यापार संतुलन—स्वर्ण कोषों का 70% भाग सं० रा० अमरीका के पास था जिससे अन्य राष्ट्रों के सम्मुख नियमित रूप से भुगतान करने की समस्या बनी हुई थी। यदि अमरीका का व्यापार संतुलन प्रतिकूल हो जाता तो समस्या का समाधान संभव था, परन्तु ऐसा संभव न होने से अंतर्राष्ट्रीय तरलता का महत्त्व बढ़ गया।

(9) विदेशी व्यापार—विदेशी व्यापार में वृद्धि करने के लिए अंतर्राष्ट्रीय तरलता का महत्त्व अधिक है।

अंतर्राष्ट्रीय तरलता की माप

अंतर्राष्ट्रीय तरलता को निम्न सूत्र से मापा जा सकता है—

सूत्र—

$$L = R - R\ min + Fo + Fp - \Delta R\ min$$

यहां पर,

$L =$ तरलता।

$R =$ स्वर्ण व विदेशी मुद्रा-कोष।

$R\ min =$ न्यूनतम कोष मात्रा।

$Fo =$ सरकारी वित्त प्रबंधन।

$Fp =$ निजी वित्त प्रबंधन।

$\Delta R\ min =$ तरलता के प्रयोग के कारण $R\ min$ में वृद्धि।

तरल कोषों की पर्याप्तता
(Adequacy of Liquidity)

किसी भी राष्ट्र में तरल कोषों की स्थिति पर्याप्त है या नहीं, यह उस राष्ट्र के आर्थिक, सामाजिक, जनता की बचत शक्ति, व्यापारिक स्थिति आदि बातों पर निर्भर करेगा। राष्ट्रों की आर्थिक नीतियां भिन्न-भिन्न होने से तरल कोषों की पर्याप्तता भी भिन्न-भिन्न हो जाती है। देश के आर्थिक विकास के लिए अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर तरलता का पर्याप्त

मात्रा में होना अति आवश्यक है। कोषों की पर्याप्तता का अनुमान आर्थिक नीति के आधार पर लगाया जा सकता है जो कि विभिन्न राष्ट्रों में भिन्न-भिन्न होती है।

अंतर्राष्ट्रीय तरलता के उद्देश्य

अंतर्राष्ट्रीय तरलता की पर्याप्तता के प्रमुख उद्देश्य निम्न हैं—

(1) यथोचित वितरण—अंतर्राष्ट्रीय कोषों का विभिन्न राष्ट्रों में यथोचित वितरण होना चाहिए क्योंकि एक ही राष्ट्र में कोषों का केंद्रीयकरण होने से वह पर्याप्त नहीं माने जा सकते।

(2) विदेशी व्यापार का नियमित भुगतान—यदि देशी मुद्रा के प्रति जनता का विश्वास बना रहे तथा विदेशी व्यापार की नियमित ढंग से भुगतान व्यवस्था हो तो तरल कोष पर्याप्त माने जाएंगे। यदि निर्यात व्यवस्था संभव न हो तो अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं से ऋण प्राप्ति की सुविधाएं होनी चाहिए।

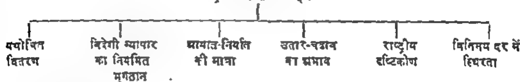
(3) आयात-निर्यात की मात्रा—भुगतान संतुलन प्रतिकूल होने पर विदेशी विनिमय अथवा स्वर्ण द्वारा उसे संतुलित किया जाता है। इस प्रकार विभिन्न राष्ट्रों के कुल आयात एवं निर्यात की मात्रा तरल कोषों को प्रभावित करती है।

(4) उतार-चढ़ाव का अभाव—यदि अंतर्राष्ट्रीय लेन-देन आकस्मिक उतार-चढ़ाव के अभाव में चलते रहे तो अंतर्राष्ट्रीय तरल कोषों को पर्याप्त माना जाएगा, अन्यथा कोषों में वृद्धि करना आवश्यक होगा।

(5) राष्ट्रीय दृष्टिकोण—राष्ट्रीय दृष्टिकोण से प्रत्येक देश में पत्र-मुद्रा के पीछे स्वर्ण या विदेशी विनिमय कोष रखा जाता है। व्यवहार में केंद्रीय बैंक निर्धारित मात्रा से अधिक मात्रा में कोष रखते हैं जिससे मौद्रिक अर्थ-व्यवस्था में पर्याप्त लोच बनी रहे। इसी प्रकार आंतरिक स्तर पर तरल कोष रखने का उद्देश्य भी मुद्रा के मूल्य को स्थिर रखकर मुद्रा को सुदृढ़ बनाना है।

(6) विनिमय दर में स्थिरता—तरलता को पर्याप्त मात्रा में रखकर मुद्रा की विनिमय दर को स्थिर बनाए रखा जा सकता है और इसके लिए विदेशी विनिमय पर नियंत्रण लगाए जा सकते हैं।

अंतर्राष्ट्रीय तरलता के उद्देश्यों को निम्न चार्ट द्वारा दिखाया जा सकता है :



तरलता में वृद्धि के कारण

अंतर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि निम्न कारणों से होती है—

(1) विदेशी विनिमय—विश्व के सभी राष्ट्र प्रायः उन्हीं मुद्राओं को रखना चाहते हैं, जिन्हें सभी राष्ट्रों में स्वीकार किया जाए जैसे डालर व स्टर्लिंग। 1948 से अमरीका का भुगतान संतुलन प्रतिकूल होने से अंतर्राष्ट्रीय तरलता में अपार वृद्धि हुई है। यदि अमरीका भुगतान संतुलन अनुकूल हो गया तो तरलता में कमी आ जाएगी।

(2) स्वर्ण की स्थिति—खानों से निकलने वाले स्वर्ण का कुछ भाग औद्योगिक कार्यों एवं कुछ संग्रह के लिए निजी भंडार में चला जाता है तथा कुछ केंद्रीय बैंक के पास जमा हो जाता है। इस प्रकार केंद्रीय बैंक में जो स्वर्ण जमा होता है वह अंतर्राष्ट्रीय स्वर्ण कोषों में वृद्धि करता है।

अंतर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि के उपाय

अंतर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि करने के निम्न उपाय बताए जा सकते हैं—

(1) स्वर्ण मूल्य में वृद्धि करना—स्वर्ण के अंतर्राष्ट्रीय मूल्य में वृद्धि करके अंतर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि की जा सकती है। इससे स्वर्ण का मौद्रिक मूल्य बढ़ जाएगा। ऐसा करने से सबसे अधिक लाभ अमरीका को प्राप्त होगा।

(2) अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा का निर्गमन—अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष को अंतर्राष्ट्रीय केंद्रीय बैंक की भांति कार्य करना चाहिए। इसके लिए विश्व में अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा का निर्गमन किया जाना चाहिए तथा अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष को समाशोधन गृह के रूप में कार्य करना चाहिए।

(3) स्वर्ण उत्पादन में वृद्धि—अंतर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि करने के लिए यह आवश्यक है कि स्वर्ण उत्पादन में वृद्धि की जाए, जिसके लिए नवीन खदानों की खोज करना आवश्यक होगा। परन्तु इस संबंध में यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि लागत में वृद्धि नहीं होनी चाहिए। अनुमान लगाया गया है कि इस प्रकार से स्वर्ण कोषों में वृद्धि करने की संभावनाएं सबसे कम हैं।

(4) लोचपूर्ण विनिमय दर—लोचपूर्ण विनिमय दर अपनाने से विश्व के सभी राष्ट्रों की अंतर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या को हल किया जा सकता है।

समस्याएं

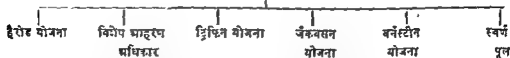
अंतर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि करने में अनेक समस्याएं उपस्थित हो जाती हैं जो कि निम्न प्रकार हैं—

(1) तस्कर बाजार—स्वर्ण का बाजार मूल्य अधिक होने पर वहां तस्कर व्यापार द्वारा स्वर्ण आकर बिकेगा, जिससे विदेशी विनिमय कोषों को निरंतर हानि होगी। स्वर्ण का मूल्य बढ़ने पर एक ओर तो काला धन जमा करने वालों को लाभ होगा तथा दूसरी ओर स्वर्ण में ही विनियोजन बढ़ेगा।

(2) मुद्रा स्फीति—प्रत्येक राष्ट्र स्वर्ण की आड़ पर पत्र-मुद्रा का प्रचलन करता है। स्वर्ण के मूल्य में वृद्धि होने पर मुद्रा-स्फीति का भय बना रहेगा और देश की अर्थ-व्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ सकता है। इससे मुद्रा एवं साख व्यवस्था पर भी बुरा प्रभाव पड़कर देश के आर्थिक विकास को प्रोत्साहन नहीं मिल सकेगा।

(3) डालर के अवमूल्यन की समस्या—विश्व के अनेक राष्ट्रों ने डालर एवं स्टर्लिंग को अपनी पत्र-मुद्रा का आधार बना लिया है। स्वर्ण के मूल्य में वृद्धि होने मात्र से स्वर्ण की मांग बढ़ जाएगी, परिणामस्वरूप समस्त स्वर्ण कोष समाप्त होकर दायित्वों को पूर्ण करना संभव नहीं हो पाएगा। इस प्रकार स्वर्ण के मूल्य में वृद्धि होने से डालर में अवमूल्यन हुआ समझा जाएगा।

तरलता वृद्धि संबंधी विभिन्न योजनाएं



अंतर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि करने हेतु प्रमुख योजनाएं निम्न प्रकार हैं—

(1) हैरोड योजना (Harrod Plan)—मूल्यों में निरंतर वृद्धि होने से हैरोड ने यह सुझाव रखा कि स्वर्ण कीमत का 35 डालर प्रति औंस से बढ़कर 70 डालर प्रति औंस कर दिया जाए अर्थात् डालर के मूल्य में अवमूल्यन कर दिया जाए जिससे अंतर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि की जा सके।

दोष

इस योजना के प्रमुख दोष अग्रलिखित थे—

(i) आधिक्य बढ़ना—डालर का अवमूल्यन करने से चालू खाते में आधिक्य बढ़ जाएगा जिससे प्रतिस्पर्धात्मक अवमूल्यन होने लगेगा।

(ii) मुद्रा प्रसार की समस्या—स्वर्ण मूल्यों में वृद्धि करने से मुद्रा प्रसार की समस्याएं उत्पन्न हो जाएंगी।

(iii) सट्टे में वृद्धि—मूल्य बढ़ने से स्वर्ण मूल्यों की प्रवृत्ति के संबंध में अनिश्चितता उत्पन्न होकर सट्टे की प्रवृत्तियों में वृद्धि हो जाएगी।

(iv) स्वर्ण उत्पादकों को लाभ—स्वर्ण के पुनर्मूल्यन से विश्व के स्वर्ण उत्पादक राष्ट्रों को विशेष लाभ होने की संभावना हो जाएगी।

(v) कारण का अभाव—अमरीका के भुगतान संतुलन में असाम्यता उपस्थित न होने से डालर का अवमूल्यन करने से कारण बताने संबंधी समस्याएं उत्पन्न हो जाएंगी।

(2) विशेष आहरण अधिकार (Special Drawing Rights)—अंतर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि करने के लिए विशेष आहरण अधिकार योजना का पालन किया जा सकता है। इस योजना की प्रमुख विशेषताएं निम्न हैं—

(i) मुद्रा का क्रय—घाटे वाला राष्ट्र प्रारंभिक 5 वर्ष की अवधि में अपने अधिकार के 70% तक अन्य मुद्रा को खरीद सकेगा।

(ii) अधिकार का स्वर्ण मूल्य—इसमें स्वर्ण का मूल्य प्रचलित दर के हिसाब से निश्चित किया जाता है। तथा ब्याज की दर भी कम रखी गई है, जिससे धन का दुरुपयोग न हो।

(iii) अवमूल्यन—मुद्रा का अवमूल्यन होने पर संबंधित राष्ट्र को अतिरिक्त भुगतान करना होगा।

(iv) शर्तरहित आहरण—इसमें अधिकतम निर्धारित सीमा तक आहरण करने के लिए देनदार राष्ट्र पूर्णरूप से स्वतंत्र होंगे तथा यह राशि 5 वर्ष बाद वापस की जाएगी।

(v) अतिरिक्त कोष—सदस्य राष्ट्र वार्षिक आधार पर निश्चित राशि तक अतिरिक्त कोष निर्माण किए जायेंगे और इसका प्रयोग भुगतान सतुलन संबंधी घाटों की पूर्ति के लिए ही किया जा सकेगा।

S D R योजना के पक्ष में विचार

(1) कोई भी राष्ट्र SDR के माध्यम से भुगतान असंतुलन को दूर कर सकता है।

(2) अल्पविकसित देशों की व्यापार की स्थिति, व्यापार का वातावरण, पूंजी एवं सहायता आदि की संभावनाएं बढ़ जाएगी।

(3) SDR योजना को अपनाकर परिवर्तनशील विनिमय दरों की नीतियों को ठुकरा दिया गया है।

(4) SDR की योजना से अंतर्राष्ट्रीय सहयोग में वृद्धि होगी।

(5) SDR की यह योजना अंतर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या को हल करने में सहायक सिद्ध होगी।

सीमाएं

विशेष आहरण अधिकार योजना की अपनी कुछ सीमाएं हैं, जिन्हें निम्न प्रकार रखा जा सकता है।

(i) महत्वपूर्ण भाग को छोड़ देना—इस कोष की सदस्यता विश्वव्यापी न होने से विश्व व्यापार एवं भुगतान का महत्त्वपूर्ण भाग छोड़ दिया गया है।

(ii) वैज्ञानिक ढंग का अभाव—इसमें कोटे का निर्धारण मुद्रा-कोष के आधार पर किया गया है जो कि कोई वैज्ञानिक ढंग नहीं है।

(iii) उद्देश्यों के विपरीत—विकासशील राष्ट्रों ने इस अधिकार का प्रयोग दुर्लभ मुद्रा की प्राप्ति में किया है, जिससे इसका उपयोग योजना के उद्देश्यों के विपरीत है।

(iv) यह योजना कोई स्थायी हल प्रस्तुत नहीं करती है क्योंकि तरलता का मुख्य आधार स्वर्ण है जिसका उत्पादन बढ़ाया जाना आवश्यक है।

(v) SDR से मूल्यों में पर्याप्त वृद्धि होगी और थोड़े समय में ही तरल कोषों की कमी हो जाएगी।

(vi) SDR विकास का प्रबंध करने में असमर्थ रहते हैं। यह केवल भुगतान के घाटों को पूर्ण करने में ही मदद करते हैं।

(vii) SDR को वास्तव में अस्थायी हल माना गया है।

(viii) SDR पर ब्याज की दर भी बहुत कम है जो कि केवल 1.5% है।

(ix) अनुमान है कि 1980 तक अल्पविकसित देशों के घाटे की राशि 26 अरब डालर होगी, जिसका प्रबंध करना कठिन होगा।

(x) SDR का सभी देशों द्वारा स्वीकार किया जाना भी शंकास्पद है।

(xi) कहा जाता है कि SDR से केवल ऋणदाता को ही लाभ प्राप्त होगा।

(xii) इससे केवल विकसित देशों को ही लाभ होगा। 86 अल्पविकसित देशों को SDR का 28% तथा विकसित देशों को SDR का 72% प्राप्त होगा।

(xiii) कठिन समय में SDR को कोई भी प्राप्त करना नहीं चाहेगा।

(3) ट्रिफिन योजना (Triffin Plan)—इस योजना के अनुसार राष्ट्रीय मुद्राओं के कोषों का राष्ट्रीयकरण करके अंतर्राष्ट्रीय केंद्रीय बैंक की स्थापना की जाए जो आवश्यकतानुसार साख उत्पन्न करे तथा मुद्रा को रिजर्व मुद्रा के रूप में चलाया जा सके।

दोष

इस योजना के प्रमुख दोष निम्न हैं—

(i) असामयिक—इस योजना में अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सफलता प्राप्त करना असामयिक माना जाता है।

(ii) मुद्रा प्रसार—इस व्यवस्था में मुद्रा प्रसार का भय बना रहता है जो अर्थव्यवस्था के विकास के लिए उचित नहीं समझा जाता।

(iii) राष्ट्रीयता का हनन—इस व्यवस्था को अपनाने से राष्ट्रीय हितों को त्यागना पड़ता है, जिससे राष्ट्रीयता का हनन हो जाता है तथा समस्त कार्य अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर ही किए जाते हैं।

(4) जेकबसन योजना (Jacobson Plan)—इस योजना के अंतर्गत यह प्रस्ताव रखा गया कि आधिक्य भुगतान वाले राष्ट्रों के साथ स्थायी रूप से ऋणवचन-बद्ध समझौते किए जाने चाहिए, जिससे तरलता की मांग बढ़ने पर प्रमुख मुद्रा को उधार लिया जा सके तथा जरूरतमंद राष्ट्रों को ऋण प्रदान किया जा सके। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष ने भी इस योजना को स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार अन्य विभिन्न योजनाओं एवं उपायों द्वारा अंतर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि करने के उपाय किए गए हैं, जिनमें मुद्रा एवं कोटा वृद्धि की योजनाएं प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। इस संबंध में अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष द्वारा विशेष आहरण अधिकार योजना को स्वीकार करके उसे कार्यान्वित किया गया है।

(5) बर्नस्टीन योजना (Bernsttin Proposal)—इसमें अधिक निधि रखने वाले समस्त देश मुद्रा-कोष को ऋण दें तथा बदले में ब्याज सहित बाण्ड ले लें, जिनके पीछे स्वर्ण की गारंटी हो। इन राष्ट्रों की निश्चित परिपक्वता का समय होगा। इसमें निधि भुगतान व्यवस्था अन्य में एक सहायक संस्था का निर्माण भी किया जाना था।

(6) स्वर्ण पूल (Gold Pool)—महाद्वीपीय केंद्रीय बैंक को डालर से एक स्वर्ण पूल का निर्माण करें जिसका प्रयोग स्वतंत्र रूप से स्वर्ण मूल्य को स्थायी बनाने में किया जाए। यह समझना खाली हो गया है।

31

मूल्य परिवर्तन को मापने की विधि (निर्देशांक)

[(Technique for Measuring Price Variations (Index Number))]

प्रारंभिक

निर्देशांकों का उद्देश्य मूल्यों की सामान्य प्रवृत्ति की ओर संकेत करना है। सामान्य प्रवृत्ति का ज्ञान प्राप्त करने हेतु ही विभिन्न वस्तुओं एवं सेवाओं की कीमतों का औसत ज्ञात किया जाता है। इसी औसत को सामान्य मूल्य स्तर या निर्देशांक कहते हैं। मुद्रा की क्रय शक्ति ही मुद्रा का मूल्य होता है। वस्तुएं एवं सेवाएं मुद्रा के रूप में मापने के कारण मुद्रा का संबंध वस्तुओं एवं सेवाओं से ही होता है। मुद्रा की क्रय शक्ति घटने पर कम वस्तुएं एवं सेवाएं तथा मुद्रा का मूल्य अधिक होने पर अधिक वस्तुएं व सेवाएं खरीदी जा सकती हैं। इस प्रकार मुद्रा के मूल्य एवं वस्तुओं के मूल्यों में विरोधी संबंध रहता है। इस प्रकार जब मुद्रा का मूल्य घटता है तो वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि तथा जब मुद्रा का मूल्य बढ़ता है तो वस्तुओं के मूल्यों में कमी हो जाती है। वस्तुओं एवं सेवाओं की कीमतें एक साथ नहीं घटती-बढ़ती, बल्कि इनमें धीरे-धीरे ही परिवर्तन होते रहते हैं। कुछ वस्तुओं के मूल्य बढ़ते, कुछ के घटते एवं अन्य के स्थिर रहते हैं, परंतु मूल्यों में एक केंद्रीय प्रवृत्ति पाई जाती है। वस्तुओं के मूल्यों में परिवर्तन होने से द्रव्य के मूल्यों में उच्चावचन होते जिससे समाज के विभिन्न वर्गों की आर्थिक स्थिति में परिवर्तन होते रहते हैं, फलस्वरूप देश की अर्थव्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है। उचित आर्थिक नीतियों की सहायता से द्रव्य के मूल्य को स्थिर रखना आवश्यक है जिससे समाज में स्थिरता एवं आर्थिक समृद्धि को प्राप्त किया जा सके। द्रव्य के मूल्य में होने वाले परिवर्तनों को मापने के लिए सूचक अंकों (Index Numbers) का प्रयोग किया जाता है।

निर्देशांक की परिभाषा

निर्देशांक की प्रमुख परिभाषाएं निम्न हैं—

(1) किनले—"निर्देशांक एक ऐसा अंक है, जो एक चुनी वस्तु या वस्तुओं के समूह के मूल्यों को प्रदर्शित करता है या एक निश्चित तिथि पर उन वस्तुओं के सामयिक मूल्यों का औसत प्रदर्शित करे, जो एक प्रमाप के रूप में उपयोग की जाए, जहां आगे चलकर हम उन्हीं वस्तुओं के मूल्यों की तुलना कर सकें।"[1]

(2) सिकराइट के अनुसार—"निर्देशांक अंकों की एक श्रृंखला है, जो कि मुद्रा के मूल्यों के साथ मूल्य स्तर में परिवर्तन को दिखाती है। यह सापेक्षिक अंक होते हैं, जो विभिन्न समयों पर मुद्रा की क्रय शक्ति का तुलनात्मक अध्ययन

1. "An index number is a number which represents the price of a chosen commodity or group of commodities or the average of closely consecutive prices of those commodities at a selected date, which is used as a standard wherewith we may compare the prices of the same article at later dates."—Kinley : *Money*, p. 13.

करने में सहायक होते हैं, तथा मूल्य स्तर के उतार-चढ़ाव को मापते हैं।"[1]

(3) चांडलर—"निर्देशांक अंक हैं, जो कि एक समय में औसत मूल्यों की ऊँचाई की सापेक्षिता को प्रदर्शित करें।"[2]

यदि सूचनांक बढ़ रहे हैं तो सामान्य मूल्य स्तर में वृद्धि मानी जाती है, जिसमें वस्तुओं एवं सेवाओं में मूल्यों में बढ़ने की प्रवृत्ति होती है, फलस्वरूप मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है। इसके विपरीत यदि सूचनांक गिर रहे हैं तो सामान्य मूल्य स्तर कम हो जाता है, जिसमें वस्तुओं के मूल्य गिरते हैं परंतु मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है। निर्देशांक मुद्रा मूल्य का प्रत्यक्ष मापक नहीं है, बल्कि मूल्यों के तुलनात्मक रूप को ही प्रदर्शित करता है। इस प्रकार निर्देशांक मुद्रा के मूल्य के पूर्ण एवं निरपेक्ष मापक को प्रदर्शित नहीं करता। यह मूल्यों के परिवर्तन के तुलनात्मक रूप को ही प्रदर्शित करते हैं। मूल्यों के निर्देशांक दो विभिन्न समय में मूल्य स्तरों की तुलना करने में सहायक सिद्ध होते हैं। आर्थिक घटना के तुलनात्मक परिवर्तन को सूचित करने के लिए भी निर्देशांकों का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार निर्देशांक मूल्यों के परिवर्तन के तुलनात्मक रूप को ही प्रदर्शित करते हैं।

निर्देशांक संबंधी अनुसंधान का कार्य सर्वप्रथम 1707 में हुआ और इस पद्धति का विस्तृत प्रयोग 1860 के पश्चात् ही हुआ है। सबसे प्राचीन निर्देशांक बिशप फ्लीटवुड (Bishop Fleetwood) द्वारा निर्मित क्रोनिकोम प्रेसियोसम (Chronicom Preciosum) में देखने को मिलता है। इन निर्देशांकों का आविष्कार मुद्रा में होने वाले परिवर्तनों को नापने हेतु किया गया था, परंतु वर्तमान काल में इसका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हो गया है और प्रत्येक क्षेत्र में इसका प्रयोग किया जाने लगा है। आजकल इसका प्रयोग उत्पत्ति, विक्रय एवं व्यापार आदि में होने लगा है।

निर्देशांक के भेद

निर्देशांक दो प्रकार के होते हैं—

(1) साधारण निर्देशांक—यह वह अंक होते हैं जिनको तैयार करने में वस्तुओं के सापेक्षिक महत्त्व को ध्यान में नहीं रखते हैं।

भारयुक्त निर्देशांक (Weighted Index Number)—यह मूल्यस्तर के वे अंक होते हैं जिनको तैयार करते समय वस्तुओं के सापेक्षिक महत्त्व को भी ध्यान में रखा जाता है।

सूचनांक बनाने की विधि

सूचनांक या निर्देशांक बनाने में निम्न बातों को ध्यान दिया जाना चाहिए—

(1) वस्तुओं एवं सेवाओं का चुनाव—समाज में अनेक प्रकार की वस्तुओं का क्रय-विक्रय किया जाता है, अत: प्रत्येक वस्तु की कीमत का विचार करना असंभव है। अतः ऐसी वस्तुओं एवं सेवाओं का चुनाव किया जाता है जो कि अन्य वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करें। चुनाव करते समय निर्देशांक के उद्देश्यों को भी ध्यान देना आवश्यक है। यदि निर्देशांक का उद्देश्य रहन-सहन स्तर का पता लगाना है तो जीवन से संबंधित वस्तुओं का ही चुनाव करेंगे। इस संबंध में यह ध्यान रखना होगा कि वह वस्तुएं समाज के विभिन्न व्यक्तियों द्वारा प्रयोग की जाती हों। प्रो० मिचेल का कथन है कि "चुनी हुई वस्तुओं की संख्या का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, लेकिन वस्तुओं के वर्गों की संख्या इतनी पर्याप्त होनी

1. "Index numbers are series of numbers which show variations in price levels with those in the value of money. These are relative numbers which enable us to compare the purchasing power of money at different periods of time, and measure the movements in the level of Prices."—Secrist : *An Introduction to Statistical Methods*, p. 295.

2. "Index numbers are figures which show the height of average prices at one time relative to their height at some other time."—Chandler : *An Introduction to Monetary Theory*, p. 8.

(7) वस्तुओं का चुनाव—वस्तुओं का चुनाव करते समय इस बात पर ध्यान दिया जाता है कि वे वस्तुएं सर्वसाधारण के उपयोग की एवं प्रतिनिधि हों। वस्तुओं का चुनाव करते समय प्रायः निम्न बातों पर ध्यान दिया जाना चाहिए—

(i) वर्गीकृत एवं प्रमापीकृत—वस्तुएं वर्गीकृत एवं प्रमापीकृत होनी चाहिएं जिससे मूल्यों का निर्धारण उचित ढंग से किया जा सके।

(ii) प्रतिनिधि स्थानों का चुनाव—प्राय. ऐसे स्थानों का चुनाव करना चाहिए जहां वस्तुएं बड़ी मात्रा में खरीदी एवं बेची जाती हो तथा जहा के मूल्य अन्य स्थानों को प्रभावित कर सकें।

(iii) थोक मूल्य—निर्देशांकों की गणना में वस्तुओं के थोक मूल्यों को लिया जाता है, क्योंकि एक ही स्थान पर यह समान रूप से पाए जाते हैं।

(iv) लोकप्रिय वस्तुएं—वस्तुएं ऐसी होनी चाहिए जो उस स्थान पर अधिक लोकप्रिय हों तथा प्रत्येक व्यक्ति उनका प्रयोग करता हो।

(v) गुण में समानता—चुनी हुई वस्तुओं के गुण में कोई विशेष अंतर नहीं होना चाहिए। प्रायः उन वस्तुओं को ही लेना चाहिए जो सर्वाधिक प्रचलित हों।

(vi) प्रतिनिधित्व—वस्तुएं ऐसी हों जो रीति-रिवाज, रुचि, आदत एवं आवश्यकताओं का उचित प्रतिनिधित्व करें। प्रतिनिधित्व वाली वस्तुए ही अधिक उपयोगी मानी जाती हैं।

(8) वस्तुओं का वर्गीकरण—विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के मूल्य के परिवर्तनों का पृथक्-पृथक् अनुमान लगाने में वस्तुओं का वर्गीकरण करना आवश्यक होता है। परिवर्तन की दिशा व मात्रा का अनुमान वर्ग के आधार पर ही किया जाना चाहिए जिससे प्रत्येक वर्ग के सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त हो सके। भारत में थोक निर्देशांकों की 112 वस्तुओं को 5 प्रमुख वर्गों एवं 20 उपवर्गों में विभाजित किया गया है।

(9) भारित करने का ढंग—निर्देशांक रचना में वस्तुओं को उनके महत्त्व के आधार पर भार देना बहुत आवश्यक हो जाता है, क्योंकि व्यावहारिक जीवन में विभिन्न प्रकार की वस्तुएं समान मात्रा में प्रयोग नहीं की जातीं। भार का चुनाव उचित ढंग से करना चाहिए, अन्यथा परिणाम भ्रमोत्पादक होंगे। भार निश्चित करने के दो ढंग हैं, जो कि निम्न प्रकार हैं—

(i) परिमाण भार—इस विधि में समस्त वस्तुओं को परिमाण के आधार पर भार प्रदान किया जाता है।

(ii) मूल्य भार—इसमें मूल्यों के आधार पर वस्तुओं को भार प्रदान किया जाता है। इसकी दो विधिया हैं जो कि निम्नलिखित हैं—

(अ) प्रत्यक्ष भार (Explicit)—जो भार अंकों के रूप में दिए जायें, उन्हें प्रत्यक्ष भार कहते हैं। उदाहरणार्थ यदि भोजन पर 30 रु०, वस्त्र पर 20 रु० एवं ईंधन पर 20 रु० व्यय हो तो भार क्रमश. 3 : 2 : 2 होगा।

(ब) अप्रत्यक्ष भार (Implicit)—जब वस्तु को अधिक महत्त्व प्रदान करना हो तो उसमें कई प्रकार के मूल्यों का समावेश किया जाना चाहिए जैसे यदि गेहूं व शक्कर क्रमशः 5 : 3 प्रकार के हों तो उनका भार भी क्रमशः 5 : 3 होगा।

(10) मूल्य-अनुपात निकालना—इसकी गणना करने में आधार वर्ष के मूल्य को 100 मानकर दिए हुए वर्ष की कीमतों का निर्देशांक बनाना होता है जिसे आधार वर्ष की कीमतों के प्रतिशत में ज्ञात करते है। इसे निम्न सूत्र से ज्ञात कर सकते हैं—

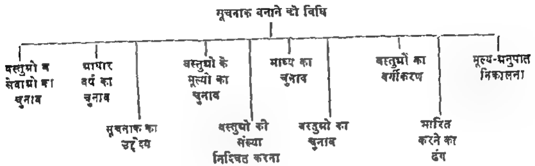
सूत्र—(i) स्थिर आधार रीति—

$$\text{प्रचलित वर्ष का निर्देशांक} = \frac{\text{चालू वर्ष का मूल्य}}{\text{आधार वर्ष का मूल्य}} \times 100$$

(ii) शृंखला आधार रीति :

$$\text{निर्देशांक} = \frac{\text{चालू वर्ष का मूल्य}}{\text{पिछले वर्ष का मूल्य}} \times 100$$

इसे निम्न चार्ट द्वारा दिखाया जा सकता है—



निर्देशांक उद्देश्य

निर्देशांक के प्रमुख उद्देश्य निम्न हैं—

(1) मनुष्य के विभिन्न वर्गों पर पड़ने वाले परिवर्तनों के प्रभाव का अध्ययन करना।

(2) मूल्यों में होने वाले सामान्य परिवर्तनों को मापना।

निर्देशांकों के लक्षण

निर्देशांक के प्रमुख लक्षण निम्न हैं—

(1) सापेक्ष रूप—निर्देशांक सदैव सापेक्ष रूप में ही बनाए जाते हैं, जबकि निरपेक्ष रूप में प्रकट करने पर वह तुलना के योग्य नहीं होते। इसमें आधार को 100 मानकर प्रतिशत ज्ञात कर लिया जाता है।

(2) सार्वभौम उपयोगी—निर्देशांकों की उपयोगिता सार्वभौमिक होती है तथा प्रत्येक बात का प्रदर्शन पिछले वर्षों के आधार पर किया जाता है।

(3) संख्याओं में प्रदर्शन—निर्देशांक सदैव संख्याओं में ही प्रदर्शित किए जाते हैं, जिससे उनका स्थायी प्रभाव पड़ता है।

(4) तुलना का आधार—तुलना समय या स्थान के आधार पर की जाती है। समय के लिए विशेष माह या वर्ष को तथा स्थान के लिए विशेष भू-भाग को आधार माना जाता है।

(5) माध्य के रूप में—निर्देशांक द्वारा परिवर्तन की सूचना को माध्य के रूप में प्रदर्शित किया जाता है, जिसमें सामान्य रूप से समस्त प्रकार के परिवर्तनों की दिशा एवं मात्रा को दर्शाया जा सकता है।

निर्देशांक की विशेषताएं

निर्देशांक को सर्वोत्तम उसी समय कहा जाता है, जबकि उसमें निम्न विशेषताएं हों—

(1) वस्तु की इकाई को सम्मिलित करना—आधार वर्ष में देश की मुद्रा के बराबर मूल्य की वस्तु की इकाई को ही सम्मिलित किया जाता है, जिसमें भार की समस्या का समाधान स्वतः ही हो जाता है।

(2) प्रवृत्ति सूचनांक—इसमें प्रवृत्ति सूचनांकों का निर्माण करना भी आवश्यक होता है, जिससे सामान्य स्तर पर होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन किया जा सके।

(3) प्रधिक वस्तुएं—सूचनांक में समस्त क्षेत्र की अधिकाधिक वस्तुओं को सम्मिलित करना चाहिए जिससे उनकी उपयोगिता बढ़ जाए। यदि थोक मूल्यों या फुटकर मूल्यों का निर्देशांक तैयार करना है तो उससे सम्बन्धित सभी वस्तुओं के मूल्यों को सम्मिलित किया जाना चाहिए।

(4) मात्रा में परिवर्तन—फैशन, रुचि एवं स्वभाव में परिवर्तन होने से मात्रा में भी प्रतिवर्ष परिवर्तन होना आवश्यक है।

निर्देशांकों का महत्व
(*Importance of Index Numbers*)

निर्देशांक के महत्व को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(i) आर्थिक बैरोमीटर एवं पूर्वानुमान—निर्देशांक को आर्थिक बैरोमीटर कहा जाता है जिसमें आर्थिक घटनाओं का पूर्वानुमान लगाया जा सकता है।

(ii) परिवर्तन को व्यक्त करना—अनुसंधान की विषय-सामग्री में होने वाले परिवर्तन की मात्रा एवं प्रवृत्ति को व्यक्त करने के उद्देश्य से भी निर्देशांक प्रयोग किए जाते हैं।

(iii) तुलनात्मक अध्ययन—आर्थिक एवं सामाजिक परिवर्तनों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए निर्देशांकों को ही आधार माना जाता है।

(iv) व्यावसायिक उच्चावचन—व्यवसाय में होने वाले अवसाद या समृद्धि को निर्देशांक की सहायता से सरलता से मापा जा सकता है।

(v) सापेक्षिक परिवर्तन—परिवर्तन सदैव सापेक्षिक व महत्वपूर्ण होते हैं तथा इन्हें मापने के लिए प्रायः निर्देशांक ही अधिक उपयुक्त माने जाते हैं।

निर्देशांक का बनाना

निम्न काल्पनिक उदाहरण से निर्देशांक की रचना की जा सकती है—

साधारण सूचनांक

वस्तुएं	मूल्य 1960	निर्देशांक 1960	मूल्य 1976	निर्देशांक 1976
	प्रति कि०		प्रति कि०	
गेहूं	25	100	100	400
चावल	20	100	50	250
शक्कर	200	100	800	400
कपड़ा प्रतिगज	20	100	50	250
औसत		100		$\frac{1300}{4} = 325$

1960 की अपेक्षा 1976 में मूल्यों में 225% से वृद्धि हुई।

भारित निर्देशांक

वस्तुएं	भार	1960		1976	
		मूल्य	निर्देशांक	मूल्य	निर्देशांक
गेहूं	6	25	100 × 6 = 600	100	400 × 6 = 2400
चावल	3	20	100 × 3 = 300	50	250 × 3 = 750
शक्कर	2	200	100 × 2 = 200	800	400 × 2 = 800
कपड़ा	1	20	100 × 1 = 100	50	250 × 1 = 250
			$\frac{1200}{12}$		$\frac{4200}{12}$
			= 100		350

अत: स्पष्ट है कि 1960 की अपेक्षा 1976 में मूल्यों में 250 प्रतिशत से वृद्धि हुई है।

निर्देशांक की उपयोगिता
(Utility of Index Numbers)

निर्देशांक की उपयोगिता को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(1) भविष्य के निष्कर्ष—निर्देशांक वर्तमान प्रवृत्तियों को प्रकट करने के अतिरिक्त, भविष्य के बारे में भी निष्कर्ष निकालते हैं तथा वर्तमान क्रियाओं को नियंत्रित एवं संचालित करते हैं।

(2) राष्ट्रीय आय का अनुमान—निर्देशांक की सहायता से राष्ट्रीय आय में होने वाले परिवर्तनों का पहले से ही अनुमान लगा लेते हैं तथा उनके आधार पर ही योजनाएं निर्मित की जाती हैं।

(3) कठिन तथ्यों को सरल—निर्देशांक सदैव कठिन तथ्यों को सरल बनाते हैं तथा अनेक भावात्मक तथ्यों को निर्देशांक की सहायता से ही व्यवस्थित रूप प्रदान किया जाता है।

(4) सरकारी नियंत्रण सम्भव—विभिन्न क्षेत्रों के परिवर्तनों को ज्ञात करके सरकार उन पर उचित नियंत्रण लगाकर देश हित में कार्य कर सकती है।

(5) वेतन निश्चित करने में सहायक—जीवन-निर्वाह निर्देशांक की सहायता से मजदूरी में होने वाले परिवर्तन का अध्ययन किया जाता है तथा वेतन आदि निश्चित करने में सरलता बनी रहती है।

(6) मूल्यों के परिवर्तनों का अध्ययन—निर्देशांक की सहायता से मूल्यों के परिवर्तनों का अध्ययन करके व्यवसायी एवं उपभोक्तागण अपनी क्रियाओं को संचालित कर सकते हैं।

(7) जन-साधारण को लाभ—बीमा कंपनियां प्रव्याजि की दर, रेलवे भाड़े की दरें आदि को निर्देशांक की सहायता से निश्चित करती हैं। इस प्रकार निर्देशांक की सहायता से अनेक प्रकार की महत्वपूर्ण सूचनाएं प्राप्त हो जाती हैं।

(8) विभिन्न राष्ट्रों की सूचनाएं—निर्देशांक की सहायता से विभिन्न राष्ट्रों की उत्पादन, क्रय शक्ति आदि अनेक महत्वपूर्ण सूचनाएं प्राप्त हो जाती हैं जो देश के नियोजित आर्थिक विकास के लिए आवश्यक मानी जाती है।

(9) तुलनात्मक अध्ययन संभव—निर्देशांक की सहायता से तुलनात्मक अध्ययन संभव हो जाता है, क्योंकि निर्देशांक आंकड़ों को सापेक्षिक रूप से प्रकट करते हैं, जिससे तुलना करने में सुविधा बनी रहती है।

निर्देशांक की सीमाएं
(Limitations Of Index Numbers)

निर्देशांक की प्रमुख सीमाएं इस हैं—

(1) व्यक्तिगत इकाइयों की अवहेलना—निर्देशांक में व्यक्तिगत इकाइयों की अवहेलना की जाती है तथा यह सामान्य रूप से ही सत्य होते हैं तथा समस्त इकाइयों पर औसत रूप से ही लागू होते हैं।

(2) तुलना संभव नहीं—विभिन्न स्थानों पर व्यक्तियों के रहन-सहन का ढंग विभिन्न होने से निर्देशांक तुलना योग्य नहीं हो पाते।

(3) शंकास्पद दृष्टि—निर्देशांक विभिन्न प्रकार के होते हैं जिनके निर्माण करने की विधियां विभिन्न प्रकार की होती है जिससे उन्हें शंकास्पद दृष्टि से देखा जाता है।

(4) संकेत मात्र—निर्देशांक द्वारा परिवर्तन की दिशा एवं औसत की ओर ही संकेत मात्र होने से वास्तविक स्थिति का सही ज्ञान प्राप्त नहीं हो पाता।

(5) भ्रमात्मक परिणाम—निर्देशांक से परिस्थितियों का स्पष्टीकरण न होने से परिणाम भ्रमात्मक होते हैं।

(6) भिन्नता को ध्यान नहीं—मूल्यों के निर्देशांक निर्मित करते समय किस्म की भिन्नता पर ध्यान किसी नहीं दिया जाता।

(7) अन्य कार्यों में अनुपयोगी—किसी एक उद्देश्य से निर्मित किए गए निर्देशांकों का प्रयोग दूसरे अन्य कार्यों में संभव नहीं हो पाता।

(8) अशुद्धता—निर्देशांक आधार वर्ष पर निर्भर होते हैं और आधार वर्ष के चुनाव में असुविधा होने पर परिणाम अशुद्ध निकलते हैं।

(9) अपूर्ण—निर्देशांक न्यादर्श के आधार पर निर्मित किए जाने से अपूर्ण रहते हैं।

(10) गुणों को कम महत्व—निर्देशांक की सहायता से गुणात्मक तथ्यों को संख्यात्मक रूप प्रदान किया जाता है जिससे गुणों को कम महत्व दिया जाता है।

(11) पदार्थ के गुण की अवहेलना—उत्पादन निर्देशांक निर्माण करते समय पदार्थ के गुणों की अवहेलना करने से निष्कर्ष भ्रमात्मक होते हैं।

(12) फुटकर मूल्य निर्देशांक का अभाव—प्राय: निर्देशांक थोक मूल्य के आधार पर बनाए जाते हैं जिसके फुटकर मूल्य निर्देशांकों का अभाव बना रहता है।

निर्देशांक निर्माण में कठिनाइयां
(Difficulites in the Construction Of Index Number)

निर्देशांक निर्माण करने में अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है जो कि निम्नलिखित हैं—

(1) आंकड़े संग्रह करना कठिन—प्राय: फुटकर रूप से बेची जाने वाली वस्तुओं के संतोषप्रद आंकड़े प्राप्त करना कठिन होने से रहन-सहन संबंधी निर्देशांक दोषपूर्ण होते हैं।

(2) तुलना में असुविधा—विभिन्न देशों में खान-पान एवं रहन-सहन समान न होने से एक समय एक राष्ट्र के लिए बनाए गए निर्देशांक दूसरे समय या राष्ट्र के लिए तुलना योग्य नहीं हो पाते।

(3) आधार वर्ष चुनाव में कठिनाई—निर्देशांक बनाने में एक ऐसे वर्ष के चुनाव करने में कठिनाइयां उत्पन्न होंगी जिसमें कोई असाधारण घटना घटित न हुई हो। परिस्थितियों के परिवर्तन होने से आधार वर्ष में भी परिवर्तन करना आवश्यक होता है।

(4) औसत की कठिनाई—औसत ज्ञात करने की अनेक विधियां हैं और भिन्न-भिन्न औसत के प्रयोग करने से भिन्न-भिन्न निर्देशांक प्राप्त होते हैं जिससे औसत का चुनाव कठिन हो जाता है।

(5) मूल्यों एवं मात्राओं में भिन्नता—प्राय सापेक्षिक मूल्यों एवं मात्राओं में परिवर्तन होने से निर्देशांक के निर्माण करने में अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा।

(6) वस्तुओं के चुनाव एवं भार देने में कठिनाई—प्रतिनिधि वस्तुओं का चुनाव करने एवं उन्हें उचित भार देने में अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है जिससे संतोषप्रद निष्कर्ष प्राप्त नहीं हो पाते।

भारत में निर्देशांक
(Index Numbers in India)

भारत में निर्देशांक बनाने के मुख्य स्रोत निम्न हैं—

(i) **सरकारी साधन**—भारत सरकार प्रतिमास देश की व्यापारिक स्थिति के निर्देशांक प्रकाशित करती है। 1939 से भारत सरकार के आर्थिक सलाहकार द्वारा निर्देशांक तैयार किये जाते हैं जिसमें 23 वस्तुओं के थोक एवं 18 वस्तुओं के मुख्य कृषि वस्तुओं के सूचक अंक तैयार किये जाते हैं। इनके अतिरिक्त श्रम कमिश्नर भी निर्देशांक तैयार करते हैं। रिजर्व बैंक भी प्रतिमास निर्देशांक प्रकाशित करता है।

(ii) **गैर-सरकारी स्रोत**—इसमें भारत की प्रमुख पत्र-पत्रिकाएं एवं अनेक व्यापारिक संस्थाएं समय-समय पर अनेक पत्रिकाओं के माध्यम से निर्देशांक तैयार करती हैं, इनमें कामर्स, कैपिटल, ईस्टर्न इकोनोमिस्ट आदि प्रमुख हैं दोष

भारतीय निर्देशांक के प्रमुख दोष निम्न हैं—

(i) **अपूर्ण एवं अविश्वसनीय**—भारत में तैयार किये जाने वाले निर्देशांक प्राय. अपूर्ण एवं अविश्वसनीय होते हैं, क्योंकि इन्हें तैयार करने के साधन अनुपयुक्त एवं अपर्याप्त माने जाते हैं, जिससे पर्याप्त समंक प्राप्त नहीं हो पाते।

(ii) **साधन असंतोषजनक**—भारत में शिक्षित, योग्य एवं अनुभवी व्यक्तियों का अभाव होने से निर्देशांक के साधन असंतोषजनक हैं।

(iii) **पूर्णतया तटस्थ**—सरकारी अधिकारी सरकारी कार्यों में अधिक व्यस्त होने के कारण इन कार्यों में पूर्णतया तटस्थ रहते हैं, जिससे आंकड़े अत्यन्त असंतोषजनक एवं अविश्वासी रहते हैं।

(iv) **ज्ञान का अभाव**—निम्नपाल या अन्य व्यक्ति जो समंक एकत्रित करते हैं, उन्हें प्राय. ज्ञान के अभाव के कारण पूर्णतया निर्देशांक तैयार करने में कठिनाइयां उपस्थित होती हैं।

आशा है कि भारत सरकार इन कमियों को दूर करने के प्रयास करेगी तथा नियोजन कार्य में उपयोग में लाएगी। भविष्य में इन कमियों को दूर करके ही सही ढंग से निर्देशांक बनाए जा सकते हैं।

32

द्रवता पसंदगी एवं ब्याज सिद्धांत

(Liquidity Preference and Interest Theories)

प्रारंभिक

धन को नकदी में रखना ही तरलता कहलाती है। प्रत्येक व्यक्ति स्वभावतः अपने धन को तरल रूप में रखना चाहता है जिससे आवश्यकता के समय वह उसे उपयोग कर सके और अपनी मांग की पूर्ति कर सके। मुद्रा का कार्य मूल्य का संचय करना है। भविष्य अनिश्चित होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति भविष्य में अपनी आवश्यकतानुसार वस्तुएं प्राप्त करने के उद्देश्य से अपने साधनों को तरल रूप में रखना पसंद करता है। यदि वे अपने साधनों को किसी अन्य ढंग से रखें तो उन्हें यह लाभ प्राप्त नहीं होंगे। सम्पत्ति को तरल रूप में रखना एक मनोवैज्ञानिक दशा है और भविष्य अनिश्चित होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति साधनों को नकद रूप में ही रखना अधिक पसंद करता है। निजी विनियोग प्रायः दो बातों से प्रभावित होते हैं—पूंजी की सीमांत कार्यक्षमता एवं ब्याज की दर। ब्याज की दर को प्रभावित एवं निर्धारित करने वाले अनेक सिद्धांत हैं। प्रतिष्ठित विचारधारा के अनुसार ब्याज वर्तमान उपभोग से वंचित रखने का प्रतिफल है। इसके विपरीत कीन्स ने ब्याज दर का पूर्णतया मौद्रिक आधारों पर विवेचन किया है। समस्त सम्पत्तियों में मुद्रा ही सर्वाधिक तरल मानी जाती है और जनता अपनी सम्पत्ति को तरलता में रखना अधिक पसंद करती है। उन्हें इस तरलता से दूर रखा जा सकता है बशर्ते इसके बदले उन्हें कुछ पारितोषिक प्राप्त हो, जो उन्हें ब्याज के रूप में ही प्राप्त हो सकता है।

किसी भी वस्तु की भांति ब्याज दर का निर्धारण मुद्रा की मांग एवं पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है। इस संबंध में मुद्रा की पूर्ति वस्तु की पूर्ति की तुलना में भिन्न होती है। मुद्रा की मांग पर मुद्रा की पूर्ति को सरकार या केंद्रीय बैंक के नियंत्रण में रखा जाता है। अतः मुद्रा की पूर्ति स्थिर रहती है, जिस पर जनता का कोई नियंत्रण नहीं होता। अतः ब्याज दर के निर्धारण में मुद्रा की मांग अथवा तरलता पसंदगी का ही अधिक प्रभाव पड़ता है।

तरलता पसंदगी या मुद्रा की मांग
(Liquidity Preference or Demand of Money)

आय प्राप्त होने के उपरांत प्रत्येक व्यक्ति यह निश्चित करता है कि वह अपनी आय का कितना भाग उपभोग पर व्यय करे तथा बचे हुए भाग को किस रूप में रखे। इस बचे हुए भाग को या तो वह किसी को उधार दे सकता है या अपने ही पास नकद रूप में रख सकता है। यदि वह बची हुई आय किसी अन्य व्यक्ति को सौंप देता है तो वह उसके प्रयोग से वंचित हो जायेगा। अतः प्रत्येक व्यक्ति अपनी आय को सदैव नकद रूप में ही रखना चाहेगा जिसके प्रमुख 3 उद्देश्य होते हैं जो कि निम्न हैं—

तरलता पसंदगी के उद्देश्य

मुद्रात्मक उद्देश्य	परिकाल्पिक उद्देश्य	व्यावसायिक उद्देश्य

ब्याज सिद्धांत
(Interest Theories)

अर्थ

राष्ट्रीय लाभांश का वह भाग जो पूंजी के बदले पूंजीपति को दिया जाए उसे ब्याज कहते हैं। इस प्रकार ब्याज वह मूल्य है जो ऋणी ऋणदाता को पूंजी की सेवाओं के बदले देता है। दूसरे शब्दों में ब्याज पूंजी की सेवाओं का पुरस्कार है।

परिभाषाएं

अर्थशास्त्रियों ने ब्याज की भिन्न-भिन्न परिभाषाएं दी हैं, जिनमें कोई मौलिक भेद नहीं है। ब्याज की प्रमुख परिभाषाएं निम्न हैं—

(1) कार्वर—"ब्याज वह आय है जो कि पूंजी के स्वामी को प्राप्त होती है।"[1]

(2) कीन्स—"ब्याज वह मूल्य है जो कि तरलता से दूर रहने के बदले में भुगतान किया जाता है।"[2]

(3) सेलिगमैन—"ब्याज पूंजी के कोष से प्राप्त होने वाला प्रत्याय है।"[3]

(4) मार्शल—"किसी एक ऋणी द्वारा ऋण के उपयोग के बदले जैसे एक वर्ष के लिए जो भुगतान किया जाता है, वह ऋण के भुगतान के अनुपात में व्यक्त किया जाता है, जिसे ब्याज कहते हैं। इस शब्द का उपयोग वृहत् रूप से उस कुल आय के लिए भी प्रयोग किया जाता है, जो कि पूंजी से प्राप्त होती है।"[4]

(5) विकसैल—"ब्याज पूंजी को उधार लेने वाले व्यक्ति द्वारा किया गया वह भुगतान है, जो कि उसकी उत्पादकता के कारण पूंजीपति को उसके वंचित रहने के कारण प्राप्त होती है।"[5]

(6) चैपमैन—"शुद्ध ब्याज पूंजी पर ऋण के बदले में भुगतान है, जबकि ऋण लेने वाले पर कोई जोखिम, कोई असुविधा एवं कोई कार्य नहीं डाला जाता। इस भुगतान को शुद्ध ब्याज, नेट ब्याज या आर्थिक ब्याज कहते हैं।"[6]

ब्याज के सिद्धांत

ब्याज के अनेक सिद्धांत बताए गए हैं जिन्हें सुविधा की दृष्टि से निम्न दो वर्गों में रखा जा सकता है—

(अ) अमौद्रिक सिद्धांत (Non-Monetary Theories)

(ब) मौद्रिक सिद्धांत (Monetary Theories)

1 "Interest is the income which goes to the owner of capital."—Carver.

2 "Interest is the price paid for parting away with liquidity."—Keynes.

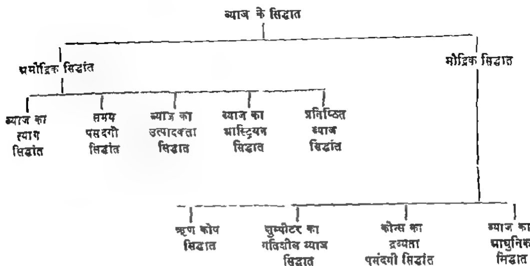
3. "Interest is a return from the fund of capital."—Seligman

4. "The Payment made by a borrower for the use of a loan for say a year is expressed as the ratio which that payment bears to the loan and is called interest. And this term is also used more broadly to represent money equivalent of the whole income which is derived from capital."—Marshall

5 "Interest is a payment made by the borrower of capital, by virtue of its productivity, as a reward for his abstinence."—Wicksell.

6 "Net income is a payment for the loan of capital, when no risk, no inconvenience and no work is entailed on the lender. This payment is termed pure interest, net interest or economic interest."—Chapman

ब्याज के सिद्धांतों को अग्र चार्ट द्वारा दिखाया जा सकता है—



(अ) अमौद्रिक सिद्धांत

ब्याज के विभिन्न अमौद्रिक सिद्धांतों में निम्न को सम्मिलित किया जाता है—

(1) ब्याज का त्याग सिद्धांत (Abstinence Theory of Interest)—यह सिद्धांत सीनियर (Senior) द्वारा प्रतिपादित किया गया जिसमें उन्होंने बचत में त्याग को सम्मिलित किया। बचतकर्त्ता को कुछ त्याग करना पड़ता है, अतः इस त्याग के बदले जो प्रतिफल दिया जाता है उसे ब्याज कहते हैं। अतः त्याग के बदले में जो पारितोषिक प्राप्त होता है उसी को ब्याज कहेंगे।

आलोचनाएं

इस सिद्धांत की प्रमुख आलोचनाएं निम्न प्रकार हैं—

(i) बिना कष्ट के बचत—कुछ व्यक्ति बिना किसी कष्ट के ही बचत कर लेते हैं क्योंकि ये व्यक्ति या तो धनी होते हैं या मितव्ययी। इन लोगों की आय आवश्यकता से अधिक होने के कारण धन संचय करने में कोई विशेष त्याग नहीं करना पड़ता।

(ii) दूरदर्शिता—कुछ व्यक्ति अपनी दूरदर्शिता के कारण भी बचाकर धन एकत्रित करते हैं तथा इन्हें ब्याज की दर की चिंता नहीं रहती।

इस प्रकार इसमें त्याग किए बिना ही धन संचय करने से ब्याज प्राप्ति का हक समाप्त हो जाना चाहिए जो व्यवहार में संभव नहीं है।

(2) समय पसंदगी सिद्धांत (Time Preference Theory)—यह सिद्धांत फिशर द्वारा प्रतिपादित किया गया। यह मनोविज्ञान पर आधारित है। यह सिद्धांत इस कल्पना पर आधारित है कि भविष्य अनिश्चित होने से मनुष्य भावी सुखों की अपेक्षा वर्तमान सुखों को अधिक महत्व प्रदान करता है। मुद्रा को वर्तमान आवश्यकताओं पर ही व्यय किया जाता है जिसके मुख्य कारण निम्न हैं—

(i) आय का समयानुसार वितरण—आय के संबंध में कई प्रकार की संभावनाएं बन जाती हैं जैसे (i) आयु के साथ-साथ आमदनी में वृद्धि होती रहे, (ii) आय में आयु के आधार पर कमी भी होती रहे, तथा (iii) आय

व्यक्ति के जीवनपर्यन्त एक समान बनी रहे। यदि भविष्य में आय बढ़ने की संभावना हो तो वर्तमान में व्यय करने की आतुरता बढ़ जाती है और भविष्य को अधिक चिंता नहीं की जाती। इसके विपरीत यदि भविष्य में आय के बढ़ने की संभावना न हो तो मानव को भविष्य की अधिक चिंता हो जाएगी तथा वर्तमान में कम व्यय किया जाएगा।

(ii) व्यक्तियों का स्वभाव—व्यक्तियों के स्वभाव पर भी धन की पसंदगी निर्भर करती है। यदि एक दूरदर्शी व्यक्ति है तो वह भविष्य के प्रति अधिक सतर्क बना रहता है तथा वर्तमान आवश्यकताओं पर व्यय करते समय भविष्य की आय को भी ध्यान में रखता है।

(iii) आय का आकार—धनवान व्यक्ति में निर्धन की अपेक्षा अधिक मात्रा में समय पसंदगी पाई जाती है और उसकी दर भी ऊंची होती है। प्राय: एक निर्धन व्यक्ति वर्तमान पर व्यय करने के लिए अधिक आतुर रहता है तथा भविष्य की ओर विशेष ध्यान नहीं देता।

(iv) भविष्य में प्रयोग की निश्चितता—मनुष्य को भविष्य में अपनी आय की जितनी अधिक निश्चितता होगी उतनी ही वर्तमान आवश्यकताओं पर व्यय करने की आतुरता कम होगी। यदि भविष्य में आय की निश्चितता नहीं है तो वर्तमान में अधिक व्यय करने की आतुरता बनी रहेगी।

इस प्रकार जिस व्यक्ति की समय पसंदगी की दर अधिक होगी, वह ऋण लेने को तत्पर हो जाएगा। इसके विपरीत जिस व्यक्ति की समय पसंदगी कम होगी वह ऋण उधार देगा तथा लाभ उठायेगा। इस प्रकार धीरे-धीरे लेन-देन की दर समय पसंदगी दर के बराबर हो जाएगी।

आलोचनाएं

इस सिद्धांत की प्रमुख आलोचनाएं निम्न हैं—

(i) स्वभाव को स्थिर मानना—सिद्धांत में बचत करने वालों के स्वभाव को वर्तमान एवं भविष्य में स्थिर माना गया है, जबकि वास्तव में इसमें समय-समय पर परिवर्तन होता रहता है।

(ii) अपूर्ण सिद्धांत—फिशर का सिद्धांत एकपक्षीय एवं अपूर्ण है क्योंकि इसमें केवल समय पसंदगी को ही ध्यान में रखा जाता है तथा अन्य बातों को छोड़ दिया जाता है।

(iii) क्रय शक्ति को अपरिवर्तित मानना—फिशर ने अपने सिद्धांत में वर्तमान एवं भविष्य के मध्य मुद्रा की क्रय शक्ति को अपरिवर्तित माना है जो कि वास्तविकता के विरुद्ध है।

इस प्रकार समय पसंदगी व्यक्तिगत रूप से निर्धारित होती है तथा अन्य घटकों का भी ब्याज दर के निर्धारण में काफी प्रभाव पड़ता है जिसका अध्ययन करना नितांत आवश्यक है।

(3) ब्याज का उत्पादकता सिद्धांत (Productivity Theory of Interest)—यह सिद्धांत जे॰ बी॰ से (J B. Say) द्वारा प्रतिपादित किया गया। इसमें यह माना गया कि पूंजी की सहायता से अतिरिक्त उपज प्राप्त हो जाती है। उस अतिरिक्त उपज में से पूंजी के प्रयोग के बदले में ब्याज देने को व्यक्ति तत्पर हो जाते हैं। यदि उन्हें अतिरिक्त उपज अधिक प्राप्त होती हो तो वे अधिक ब्याज देने को तत्पर होंगे। बाद में जे॰ बी॰ क्लार्क ने इसमें सुधार करके ब्याज दर के निर्धारण में पूंजी की सीमांत उत्पादकता को ध्यान में रखा। इसके उपरांत इसमें भी सुधार करके शुद्ध एवं कुल उत्पादकता में भेद किया गया। यह माना गया कि शुद्ध उत्पत्ति ही ब्याज दर का निर्धारण करती है। वर्तमान समय में ब्याज निर्धारण में पूंजी की मौद्रिक उत्पादकता पर अधिक ध्यान दिया जाता है।

आलोचनाएं

इस सिद्धांत की प्रमुख आलोचनाएं निम्न हैं—

(i) केवल मांग पक्ष को महत्व—सिद्धांत में केवल मांग पक्ष को ही ध्यान दिया गया है जबकि ब्याज का निर्धारण मांग एवं पूर्ति दोनों के द्वारा ही होता है।

(ii) सीमांत उत्पादकता—पूंजी की सीमांत उत्पादकता भिन्न-भिन्न व्यवसायों में भिन्न-भिन्न होती है जिससे ब्याज दर भी भिन्न-भिन्न होनी चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता और ब्याज दर को समान रखा जाता है।

(iii) उत्पादन में सहायक—पूंजी केवल उत्पादन मे ही सहायक होती है और वह मूल्य निर्धारण में सहायता प्रदान नहीं करती है।

(iv) उत्पादन शक्ति का आधारित होना—सिद्धात के अनुसार ब्याज का निर्धारण पूंजी की सीमांत उत्पादकता के आधार पर होता है, परतु वास्तव में सीमात उत्पादकता का निर्धारण ब्याज की दर से होता है। यदि ब्याज दर अधिक है तो पूंजी की सीमान्त उत्पादकता अधिक होगी अन्यथा नही।

(v) सीमांत उत्पादकता को मापना कठिन—व्यवहार मे उद्योग की सीमात उत्पादकता को मापना अत्यन्त कठिन होता है और ब्याज दर का निर्धारण सभव न होगा।

(vi) अनुत्पादक ऋणों पर ब्याज—व्यवहार मे अनुत्पादक ऋणो पर भी ब्याज ली जाती है जबकि केवल उत्पादक ऋणो पर ही ब्याज लेनी चाहिए थी।

(4) ब्याज का आस्ट्रियन सिद्धांत (Agio Theory)—यह सिद्धात 1834 मे जॉन रे (John Rae) द्वारा प्रतिपादित किया गया परतु इसे वैज्ञानिक रूप से प्रस्तुत करने का श्रेय बॉम बावर्क (Bohm Bawerk) को प्राप्त है। इसमे बाद में फिशर एवं अन्य अमरीकन अर्थशास्त्रियो ने सशोधन करके इसे लोकप्रिय बनाया। यह सिद्धात मनोविज्ञान पर आधारित है जिसमें इस बात की कल्पना की गयी है कि प्रत्येक मनुष्य भविष्य की अपेक्षा वर्तमान को सदैव ही अधिक महत्व प्रदान करता है। अत ब्याज की उत्पत्ति इस कारण होती है कि लोग भविष्य की अपेक्षा वर्तमान उपभोग को अधिक महत्व देते हैं। उधार देने के कारण तरलता मे कुछ समय के लिए कमी हो जाती है और उपभोग को स्थगित करना पड़ता है और इस स्थगन का पुरस्कार ही ब्याज कहलाता है। भविष्य अनिश्चित होने के कारण राशि उधार देने मे वर्तमान मे कुछ बट्टा लग जाता है जिसे हम ऋणी से वसूल करते हैं। यही पारितोषिक (Agio) हमे ब्याज के रूप में प्राप्त होता है।

उपयोगी बातें

इस सिद्धात की प्रमुख उपयोगी बातें निम्नलिखित हैं—

(i) ब्याज का निर्धारण—उत्पादक एवं अनुत्पादक दोनो ही प्रकार के ऋणो पर ब्याज का निर्धारण किया जा सकता है।

(ii) अपनी पूंजी पर ब्याज—पूंजीपति जब अपने उद्योग मे अपनी ही पूंजी का विनियोजन करता है तो उसे उस पर भी ब्याज मिलनी चाहिए, क्योंकि वह वर्तमान उपभोग को रोककर अपनी आय में बचत करता है।

आलोचनाएं

इस सिद्धात की प्रमुख आलोचनाए निम्न हैं—

(i) वर्तमान वस्तुओं में अधिक उपयोगिता—मनुष्य वर्तमान वस्तुओ मे भविष्य की अपेक्षा अधिक उपयोगिता अनुभव करने के कारण वह वर्तमान आवश्यकताओं को ही अधिक महत्व प्रदान करता है।

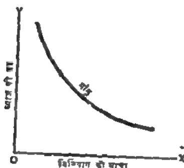
(ii) भविष्य अनिश्चित होता है—भविष्य अनिश्चित होने के कारण कुछ नही कहा जा सकता कि भविष्य मे क्या होगा, जिससे वह वर्तमान को ही अधिक महत्व देता है।

(iii) वर्तमान आवश्यकता की तीव्रता—वर्तमान आवश्यकताएं भावी आवश्यकताओं की अपेक्षा अधिक तीव्र होती हैं जिससे भावी आवश्यकताओ को कम मूल्यांकित किया जाता है।

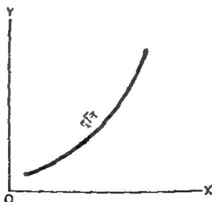
(5) प्रतिष्ठित ब्याज सिद्धांत (Classical Theory of Interest)—यह सिद्धात बचत की माग एव पूर्ति के सिद्धात पर आधारित है। एक साधारण वस्तु की भांति मुद्रा का मूल्य भी बचत की माग एवं पूर्ति द्वारा ही निर्धारित होता है। माग का संबंध उन व्यक्तियो से रहता है जो विनियोग करते हैं तथा पूर्ति का सबंध बचत करने वालो से होता है। माग एवं पूर्ति को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(i) बचत के लिए मांग—पूंजी की माग प्रायः उद्योगपतियो द्वारा की जाती है जो उसे उद्योगो मे

विनियोजित करते हैं। पूंजी की मात्रा कम होने पर केवल उत्पादक कार्यों के लिए ही पूंजी का विनियोजन किया जाता है। इसके विपरीत पूंजी की मात्रा अधिक होने पर उसे कम उत्पादक कार्यों में भी विनियोजित किया जा सकता है। प्रत्येक उत्पादक पूंजी का विनियोजन उस सीमा तक करता है जहां पर ब्याज दर पूंजी की सीमांत उत्पादकता के बराबर हो जाये। इस प्रकार ब्याज दर ऊंची होने पर पूंजी की मांग कम होगी और ब्याज दर नीची होने पर पूंजी की मांग अधिक होगी। इसका अर्थ यह है कि पूंजी का मांग वक्र ऊपर से नीचे की ओर झुकने की प्रवृत्ति रखता है जैसा कि निम्न चित्र में स्पष्ट किया गया है—



(ii) बचत की पूर्ति—पूंजी या बचत की पूर्ति समाज में व्यक्तियों की बचत पर आधारित है। बचत करने पर व्यक्ति को वर्तमान सुख का त्याग करना पड़ता है और उसके बदले वह पुरस्कार पाने के प्रयास करता है जो कि ब्याज कहलाता है। प्राय. व्यक्ति ब्याज दर के आधार पर अपनी बचत करते हैं तथा ब्याज दर बढ़ने पर बचत की मात्रा में भी वृद्धि हो जाती है तथा पूंजी अधिक मात्रा में उपलब्ध होने लगती है। इसके विपरीत ब्याज दर कम होने पर पूंजी की मात्रा में कमी हो जाती है। अत. पूंजी की पूर्ति रेखा बायीं ओर से दायीं ओर चली जाती है जैसा कि निम्न चित्र से स्पष्ट है—



(iii) साम्य की स्थापना—प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार ब्याज की स्थापना मांग एवं पूर्ति के साम्य बिंदु पर निर्भर करती है। जहां पर कुल बचतें एवं कुल विनियोग बराबर हों वहीं पर ब्याज दर का निर्धारण हो जाता है। यदि किसी समय बचतें विनियोग से अधिक हों तो ब्याज दर कम होगी जिससे जनता द्वारा बचत में कमी की जायेगी तथा विनियोग के लिए मांग बढ़ जायेगी और बाद में बचतों एवं विनियोगों में साम्य स्थापित हो जायेगा। इसके विपरीत यदि बचतें विनियोग से कम हों, तो ब्याज दर बढ़ जायेगी। ब्याज दर बढ़ने से बचतें बढ़ेंगी तथा विनियोग के लिए पूंजी की मांग घटेगी और अन्त में बचत एवं विनियोग में फिर से साम्य स्थापित हो जायेगा और इस प्रकार मांग

एव पूर्ति के साम्य पर ब्याज दर का निर्धारण हो जाता है। इसे (अगले पृष्ठ पर) चित्र की सहायता से दिखाया जा सकता है—

उपर्युक्त चित्र मे माग वक्र (DD) पूर्ति पक्ष (SS) को r बिंदु पर काटता है यही साम्य का बिंदु है जहां पर ब्याज दर का निर्धारण हो जाता है। xy ही ब्याज की दर है। इस संबंध मे दो बातें महत्त्वपूर्ण हैं—(i) पूंजी की माग रेसापूंजी की सीमांत उत्पादकता को भी दर्शाती है, (ii) पूंजी की माग रेखा विनियोग की मांग को भी बताती है और पूंजी की पूर्ति रेखा वस्तुओं की पूर्ति बताती है, अत. संतुलन ब्याज की दर पर विनियोग की माग एवं बचत की पूर्ति दोनों बराबर होती है।

आलोचनाएं

इस सिद्धांत की प्रमुख आलोचनाएं निम्न हैं—

(i) विनियोग में ब्याज लोच का अभाव—ब्याज दर एवं विनियोग में मांग का संबंध अप्रत्यक्ष एवं दूरस्थ होता है जिससे विनियोग में ब्याज लोच का अभाव पाया जाता है। अतः ब्याज दर ऊंची होने पर भी विनियोग स्तर काफी ऊंचा हो जाता है क्योंकि ब्याज दर के स्थान पर पूंजी की सीमांत उत्पादकता पर अधिक प्रभाव पड़ता है। समाज की बचत प्रवृत्ति एवं ब्याज दर में दूर का संबंध बना रहता है। प्रायः ब्याज दर का बचत पर कम प्रभाव पड़ता है, फिर भी आय-स्तर का प्रभाव अधिक प्रभावशाली माना जाता है। एक विशेष आय-स्तर पर ब्याज बेलोच माना जाता है, जबकि कुछ आय-स्तर पर बचत होती ही नहीं है। अतः इस समस्या के समाधान में प्रतिष्ठित सिद्धांत असफल रहा है।

(ii) बैंक साख की उपेक्षा—वर्तमान समय में साख मुद्रा का महत्त्व अधिक बढ़ गया है। सिद्धांत के अनुसार विनियोग की मांग बढ़ने पर ब्याज दर में भी वृद्धि होनी चाहिए, परंतु यह व्यवस्था वर्तमान समय में सही नहीं है।

(iii) अनुमान अयोग्य है—इस सिद्धांत के अनुसार ब्याज की जिस ढंग से व्याख्या की गई है वह अनुमान अयोग्य प्रतीत होती है। यह दोष इस कारण उत्पन्न होता है कि पूर्ण रोजगार के अनुरूप ही आय का एक स्थायी स्तर माना गया है।

(iv) मूल्य सूचक के रूप में उपेक्षा—प्रतिष्ठित लेखकों ने मुद्रा के मूल्य सूचक के रूप में कार्य की उपेक्षा की है, जिससे सिद्धांत मे त्रुटि रहना स्वाभाविक हो गया है।

(v) संतुलन का अभाव—प्रायः यह कहा जाता है कि ब्याज दर बचत एवं विनियोग के मध्य संतुलन स्थापित करने में अयोग्य रहता है।

(vi) ब्याज द्रवता के त्याग का पुरस्कार—वास्तव में ब्याज उस व्यक्ति को प्राप्त होता है जो अपने नकद साधनों का परित्याग करता है, जबकि सिद्धांत मे ब्याज को उपभोग से विरत रहने का पुरस्कार माना है।

(vii) विनियोग के महत्त्व को भुलाना—ब्याज दर के निर्धारण में विनियोग का स्थान महत्त्वपूर्ण होता है परन्तु उसके महत्त्व को भुला दिया गया है।

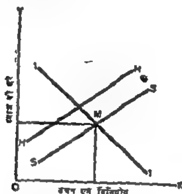
(viii) साम्य का आगमन—बचत एवं विनियोग मे साम्य की स्थापना ब्याज दर के फलस्वरूप न होकर व्यवहार में आय-स्तर के परिवर्तनों द्वारा ही संभव हो पाती है।

(ब) मौद्रिक सिद्धांत

ब्याज के मौद्रिक सिद्धांत मे निम्न को सम्मिलित करते हैं—

(6) ऋण कोष सिद्धांत (Loanable Funds Theory)—इस सिद्धांत का प्रतिपादन विकसैल ने किया। इसमे वास्तविक बचतें एवं मांग दोनों को ही सम्मिलित किया जाता है। यह पूर्ति पक्ष की ओर ध्यान देता है। विनियोग अनुसूची माग पक्ष की ओर ध्यान देती है और दोनों के साम्य पर ही ब्याज दर का निर्धारण हो जाता है।

विक्सैल के अनुसार बैंक साख का ब्याज दर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि बैंक साख की मात्रा प्राय. बैंक की नकद कोष स्थिति पर निर्भर करती है। इस प्रकार इस सिद्धांत में ब्याज दर का निर्धारण विनियोग एवं बचत के साम्य पर निर्भर करेगा। इसे निम्न चित्र द्वारा दिखाया जा सकता है—



विनियोग (I) एवं बचत (S) एक-दूसरे को M बिंदु पर काटते हैं जहां साम्य की स्थिति है और इस बिंदु पर ब्याज दर का निर्धारण हो जाता है। H H वक्र असंचयन-व अविनियोग के कारण उपलब्ध उधार देय-कोषों की पूर्ति को दर्शाता है। इस प्रकार ऋण कोष सिद्धांत में मुद्रा निष्पक्ष नहीं रहती, बल्कि सक्रिय रूप से भाग लेती है। इसी कारण से ब्याज की बाजार दर स्वाभाविक दर से निम्न होती है।

उधार-देय-कोष की पूर्ति—कोष की पूर्ति निम्न स्रोतों से होती हैं—

(1) बचतें—ये बचतें व्यक्तियों द्वारा व्यापारियों द्वारा की जाती हैं।

(2) पिछली बचतें—पिछली संचय की गयी बचतों का संचय बैंठने पर उधार-देय-कोष की मात्रा बढ़ जाती है।

(3) बैंक साख—बैंक साख द्वारा पूंजी की पूर्ति बढ़ायी जा सकती है।

(4) अन्यतत्व—कोष की मात्रा घिसावट कोष, सामान्य कोष एवं आर्थिक नीति द्वारा निर्धारण होता है।

उधार-देय-कोष की मांग—यह मांग निम्न स्रोतों से होती है—

(1) सरकार द्वारा मांग—युद्ध एवं संकट काल के समय सरकार इस कोष की मांग करती है।

(2) उत्पादकों व व्यापारियों द्वारा मांग—पूंजीगत सामान क्रय करने एवं व्यापार के लिए माल क्रय करने हेतु उधार-देय-कोष की मांग की जाती है।

(3) उपभोक्ताओं द्वारा मांग—उपभोक्ता द्वारा आय से अधिक उपभोग करने पर इस कोष की मांग की जाती है।

(4) संचय हेतु मांग—मुद्रा को नकद रूप में रखने पर भी कोष की मांग की जाती है।

आलोचनाएं

इस सिद्धांत की प्रमुख आलोचनाएं निम्न हैं—

(i) मांग संबंधी घटकों की उपेक्षा—इस सिद्धांत में मांग संबंधी मौद्रिक घटकों की उपेक्षा की गई है जिससे यह एकपक्षीय रह जाता है।

(ii) गलत धारणा—बैंक साख वक्र को ब्याज लोच रहित मानना गलत है, क्योंकि ब्याज दर कम होने पर साख का सृजन कम होगा व अधिक दर होने पर सृजन भी अधिक होगा

(iii) ब्याज दर अनिश्चित—इस सिद्धांत के अनुसार ब्याज की दर अनिश्चित रहती है।

इस प्रकार ऋण कोष में बचत एवं साख मुद्रा की पूर्ति दोनों का समावेश किया जाता है। यह सिद्धांत प्रतिष्ठित ब्याज सिद्धांत की दुर्बलताओं को दूर करने के प्रयास करता है।

(7) शुम्पीटर का गतिशील ब्याज सिद्धांत (Schumpeter's Dynamic Interest Theory)—शुम्पीटर ने गतिशील एवं स्थैतिक समाज में भेद किया है। स्थैतिक समाज में उत्पादन एवं उपभोग अपरिवर्तित होने से धात्विक साम्य की दशा बनी रहती है, कीमतें उत्पादन लागत के बराबर होने से ब्याज उदय नहीं होता। इस प्रकार विनियोग में कोई वृद्धि नहीं होती। इसके विपरीत गतिशील समाज में उत्पादन की नवीन विधियों के प्रयोग होने से उत्पादन प्रक्रिया में वृद्धि होने से नवीन मुद्रा की आवश्यकता होती है जिसकी पूर्ति साख सृजन द्वारा की जाती है। सीमित कोषों में प्रतियोगिता होने से ब्याज दर में वृद्धि हो जाती है तथा नवीन वस्तुएं अधिक मूल्य प्राप्त करती हैं। यह स्थिति उस समय तक बनी रहती है जबकि नवीन प्रयोग अर्थव्यवस्था के अंग नहीं बन जाते।

(8) कींस का द्रवता पसंदगी सिद्धांत (Liquidity Preference Theory of Keynes)—कीन्स ने ब्याज सिद्धान्त के लिए एक नवीन मौद्रिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार ब्याज वह पुरस्कार है जो कि एक विशेष अवधि में द्रवता के त्याग के बदले में प्राप्त होता है। इसके सिद्धान्त के अनुसार ब्याज दर का निर्धारण मुद्रा की पूर्ति एवं माग द्वारा होता है। मुद्रा की पूर्ति सदैव स्थायी रहती है क्योंकि उस पर बैंकिंग प्रणाली द्वारा नियंत्रण लगाया जाता है, अतः ब्याज दर पर नियंत्रण मुद्रा की मांग या द्रवता पसंदगी द्वारा ही होता है। मुद्रा की पूर्ति को M द्वारा प्रदर्शित करने पर

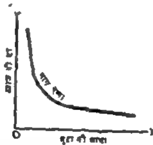
$$M = m_1 + m_2$$

यहां पर M = मुद्रा की मात्रा

m_1 = सक्रिय मुद्रा

m_2 = सट्टे उद्देश्य से रखी गयी मुद्रा

मुद्रा की माग रेखा सदैव नीचे की ओर गिरती हुई होती है जिसे निम्न प्रकार दिखाया जा सकता है—



द्रवता पसंदगी से आशय अर्थव्यवस्था में विभिन्न कार्यों के लिए मुद्रा की माग से है। इसमें द्रवता पसंदगी से आशय उस प्राथमिकता से लगाया जाता है जो नकदी के रूप में प्रदर्शित की जाती है। द्रवता पसंदगी के प्रायः तीन कारण प्रमुख होते हैं, जैसे—

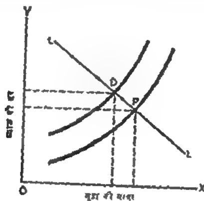
(i) दूरदर्शिता उद्देश्य—मनुष्य संकट या अन्य आकस्मिक कार्यों के लिए नकद में धन रखना पसंद करता है, जिससे उसे सबसे अधिक सुविधा बनी रहती है। आवश्यकता पड़ने पर माल क्रय करने या अन्य कार्यों के लिए वह इस मुद्रा का उपयोग सरलता से कर सकता है।

(ii) व्यावसायिक उद्देश्य—प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिदिन के कार्यों के लिए धन की आवश्यकता होती है। रोजगार एवं उत्पादन में वृद्धि होने से व्यावसायिक उद्देश्यों के लिए माग में वृद्धि हो जाती है। यदि किसी व्यक्ति को मुद्रा के रूप में आय प्राप्त होती है तो व्यावसायिक उद्देश्य के लिए कम मात्रा में मुद्रा की आवश्यकता होगी। इसके विपरीत यदि आय व व्यय में अधिक अंतर है, तो वहां द्रवता पसंदगी अधिक होगी। इसके अतिरिक्त आय व मूल्यों में अंतर

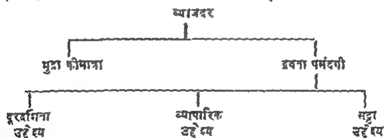
होने पर भी मुद्रा की तरलता निर्भर करती है।

(iii) सट्टा उद्देश्य—सटोरिए उतार-चढ़ावों से होने वाले लाभ की प्राप्ति के उद्देश्य से भी द्रव्य को तरल रूप में रखना पसन्द करते हैं। यह सबसे महत्त्वपूर्ण उद्देश्य होता है जो कि ऋणदाता के मनोविज्ञान पर आधारित है।

इस सिद्धान्त के अनुसार यदि व्यक्तियों की द्रवता पसंदगी स्थिर रहे तो ब्याज दर में भी परिवर्तन होते रहते हैं। मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने पर ब्याज दर गिर जायेगी। इसके विपरीत यदि मुद्रा की मात्रा में कमी हो जाये तो ब्याज दर बढ़ जाती है। इस प्रकार मुद्रा की मात्रा एवं द्रवता पसंदगी में सदैव विपरीत दर संबंध बना रहता है। मुद्रा की मात्रा एवं द्रवता पसंदगी में परिवर्तन होने से ब्याज दर पर इन दोनों घटकों का प्रभाव पड़ता है। इसे निम्न चित्र द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है—



ब्याज के इस सिद्धांत को निम्न चार्ट द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—



सन्तुलन ब्याज दर को निम्न समीकरण द्वारा बताया जा सकता है—

$M = m_1 + m_2$

आलोचनाएं

कीन्स के ब्याज सिद्धांत की प्रमुख आलोचनाएं निम्न हैं—

(i) द्रव्य की अस्पष्ट व्याख्या—कीन्स ने अपने सिद्धांत में द्रव्य की स्पष्ट व्याख्या नहीं की जिससे मुद्रा का अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता।

(ii) अनिश्चितता—प्रतिष्ठित सिद्धांत की भांति कीन्स के सिद्धांत में भी अनिश्चितता पाई जाती है क्योंकि आय का स्तर ज्ञात किए बिना द्रव्य की मांग एवं पूर्ति के आधार पर ब्याज दर ज्ञात करना संभव नहीं हो पाता।

(iii) अपूर्ण—कीन्स का सिद्धांत एकपक्षीय है क्योंकि ब्याज दर निर्धारण में केवल द्रवता पसंदगी को ही अधिक महत्त्व दिया गया है, जबकि ब्याज निर्धारण में पूर्ति का भी प्रभाव पड़ता है।

(iv) वास्तविक घटकों की उपेक्षा—ब्याज को एक विशुद्ध मौद्रिक घटना माना गया है जबकि वास्तविक

घटकों को ध्यान में रखा जाना चाहिए, जबकि ब्याज दर में वास्तविक घटकों की उपेक्षा की गई है।

(v) **पुरस्कार संबंधी गलत धारणा**—कीन्स ने ब्याज दर को पुरस्कार संबंधी गलत धारणा से संबंधित किया है जो कि भ्रमात्मक है।

(vi) **पूंजी [redacted] विनियोजन में स्वतंत्रता का अभाव**—कीन्स के अनुसार ब्याज दर विनियोजन में कोष की मांग स्वतन्त्र होती है जबकि वास्तव में ऐसा संभव नहीं होता।

(vii) **समय तत्व का अस्पष्ट होना**—कीन्स ने अपने सिद्धांत में समय तत्त्व की विचारधारा का स्पष्ट वर्णन नहीं किया है, जिससे सही अर्थ ज्ञात करना कठिन हो जाता है।

(viii) **बचत की उपेक्षा करना**—कीन्स ने ब्याज को द्रवता पसंदगी के त्याग का पुरस्कार बताया है, न कि प्रतीक्षा का पुरस्कार है। आलोचकों का विचार है *कि बिना बचत या प्रतीक्षा के विनियोग के लिए कोष प्राप्त नहीं* हो पाते।

(iv) ***यथार्थता से मेल नहीं खाना**—यह सिद्धांत यथार्थता से मेल न खाने के कारण पूर्ण रूप से त्रुटिपूर्ण माना* जाता है। मंदीकाल में ब्याज दर अधिकतम होनी चाहिए क्योंकि सभी व्यक्ति अधिकतम मात्रा में तरल संपत्ति अपने पास रखना पसंद करेंगे। इसी प्रकार पुनरुत्थान की अवस्था में ब्याज दर न्यूनतम होनी चाहिए, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति विनियोग करने का इच्छुक होता है। परंतु वास्तव में यह देखा गया है कि इन दोनों ही परिस्थितियों में ब्याज दर यथार्थता से विपरीत दिशा की ओर रहती है।

(x) **असंगति एवं अस्पष्ट धारणा**—वास्तव में मांग से आशय निष्क्रिय कोषों के लिए मांग तथा ब्याज से आशय द्रवता के परित्याग के लिए चुकाई गई कीमत से है। परंतु कीन्स ने निष्क्रिय कोषों में सामान्य क्रय शक्ति संबंधी समस्त अधिकारों को ही सम्मिलित किया है। इसमें कीन्स का कथन असंगत एवं अस्पष्ट प्रतीत होता है।

(xi) **दीर्घकाल में व्याख्या नहीं करता**—यह सिद्धांत दीर्घकाल में ब्याज की दर की व्याख्या नहीं करता और केवल अल्पकाल में ही लागू होता है।

(xii) **बॉम बावर्क की आलोचनाएं**—यह सिद्धांत बाम बावर्क के सिद्धांत से मेल खाता है, जिससे बॉम बावर्क *की समस्त आलोचनाएं भी इसी सिद्धांत में लागू हो जाती हैं।*

(xiii) **सीमांत उत्पादकता के विचार की अवहेलना**—पूंजी की मांग पर उसकी सीमांत उत्पादकता का अधिक प्रभाव पड़ता है, परंतु कीन्स ने अपने सिद्धांत में पूंजी की सीमांत उत्पादकता को एकदम भुला दिया है जो कि उचित नहीं है। व्यापार में पूंजी की मांग बढ़ने से आय में वृद्धि होती है जिससे ब्याज का भुगतान सरलता से किया जा सकता है। अविकसित एवं गरीब राष्ट्रों में ब्याज दर ऊंची होती है, क्योंकि वहां पूंजी का अभाव पाया जाता है और पूंजी की सीमांत उत्पादकता भी अधिक होती है। अतः इस सिद्धांत में पूंजी की सीमांत उत्पादकता का काफी महत्त्व है जिसे भुलाया नहीं जा सकता।

कीन्स एवं प्रतिष्ठित सिद्धांत की तुलना
(Comparison between Keynes and Classical Theory of Interest)

कीन्स का ब्याज सिद्धांत प्रतिष्ठित सिद्धांत की तुलना में निम्न दृष्टि से भिन्न है—

(1) **मांग एवं पूर्ति का अंतर**—*प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री द्वारा बचत एवं विनियोग की मांग एवं पूर्ति पर ध्यान* दिया गया है, जबकि कीन्स ने मुद्रा की मांग एवं पूर्ति द्वारा ब्याज दर का निर्धारण माना है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री उपयोग के लिए पूंजी की मांग का अध्ययन करते हैं जबकि कीन्स ने निष्क्रिय कोष को मुद्रा की मांग में ब्याज दर की निर्धारक माना है।

(2) **ब्याज एवं बचत का संबंध**—प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री का विचार है कि ब्याज दर में वृद्धि होने से बचत में वृद्धि हो जाती है, जबकि कीन्स का कथन है कि बचत का संबंध सदैव आय से होता है। कीन्स के अनुसार ब्याज दर ऊंची होने पर आय एवं बचत में कमी हो जायेगी।

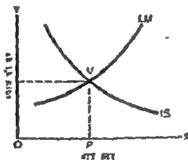
(3) मुद्रा का प्रवाह—प्रतिष्ठित सिद्धांत में मुद्रा के प्रवाह को आधार मानकर ब्याज दर निश्चित की गई है जबकि कीन्स ने ब्याज की दर को ही मुद्रा के प्रवाह का परिणाम माना है।

(4) आय बचत विनियोग का अंतर—प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री द्वारा आय को कोई महत्व नहीं दिया जाता बल्कि बचत एवं विनियोग के साम्य पर ब्याज दर के निर्धारण को माना है। इसके विपरीत कीन्स ने आय को रोजगार पर आधारित माना है तथा ब्याज दर को आय पर आधारित माना है।

(5) पूर्ण रोजगार का अंतर—प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री पूर्ण रोजगार पर ब्याज दर का निर्धारण करते हैं जबकि कीन्स रोजगार एवं आय दोनों को ही निरंतर परिवर्तनशील मानकर कल्पना करते हैं तथा ब्याज का निर्धारण करते हैं।

(6) तत्वों का अंतर—प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री ब्याज को मितव्ययता एवं पूंजी की उत्पादकता पर आधारित मानते हैं, जबकि कीन्स ने ब्याज को एक मौद्रिक घटक मानकर मुद्रा की मांग एवं पूर्ति के आधार पर ब्याज दर का निर्धारण किया है। कीन्स तरलता पसंदगी एवं निष्क्रिय कोषों को महत्व प्रदान करते हैं।

(7) ब्याज का आधुनिक सिद्धांत—ब्याज की दर उस बिंदु पर निर्धारित होती है जिस पर *IS* तथा LM वक्र एक-दूसरे को काटते हों। IS वक्र बचत व विनियोग के मध्य संतुलन को व्यक्त करता है जबकि LM वक्र मुद्रा की मांग एवं पूर्ति के मध्य संतुलन को व्यक्त करता है। जहां पर यह दोनों वक्र एक-दूसरे को काटते हों वहां पर मुद्रा, ब्याज तथा आय का संतुलन स्थापित हो जाता है। अन्य ब्याज की दर पर ये दोनों क्षेत्र एक साथ संतुलन में नहीं होते हैं। इसे निम्न चित्र द्वारा दिखाया जा सकता है—



पंचम भाग

भारत में मौद्रिक एवं बैंकिंग स्थिति

MONETARY AND BANKING CONDITION IN INDIA

भारत में रजतमान (1835-98)

1835 मे देश म. रजतमान की स्थापना हुई जिसके लिए मुद्रा अधिनियम पारित किया गया। इस मान की प्रमुख विशेषताएं निम्न थी—

(i) टकसाल स्वतंत्र एवं असीमित घोषित की गई (ii) रुपये का सिक्का असीमित विधि ग्राह्य माना गया, (iii) स्वर्ण से अनुपात 15.1 निश्चित किया, गया (iv) चादी के रुपये मे शुद्धता $\frac{1}{12}$ व वजन 180 ग्रेन निर्धारित किया गया (v) भारत मे एक धातु—रजतमान की स्थापना की गई।

1848-49 मे आस्ट्रेलिया तथा केलिफोर्निया मे सोने की खानें मिलने से सोने का मूल्य गिरना प्रारंभ हो गया जिसके परिणामस्वरूप 25 दिसबर, 1852 की सरकारी घोषणा के अनुसार सोने के सिक्के भुगतान मे स्वीकार करना बद कर दिया गया।

मैंसफील्ड आयोग—चादी की उत्पत्ति कम होने से चादी के भावो मे निरतर वृद्धि होती गयी। परिणामस्वरूप मुद्रा की पूर्ति की समस्या उत्पन्न हो गयी जिसका समाधान करने हेतु 1866 में मैंसफील्ड आयोग की नियुक्ति की गयी जिसने 5, 10 व 15 रुपये की स्वर्ण व चादी की मुद्राएं चलाने की सिफारिश की। सरकार ने 10 व 5 रु० के मूल्य की स्वर्ण मुद्राए चालू की, परंतु कुछ समय पश्चात् चादी के मूल्य गिरना प्रारम्भ हो गया।

1871 से रजतमान का पतन प्रारंभ हो गया तथा चादी का मूल्य भी घटने लगा था। एक ओर चादी की पूर्ति बढ़ने एव दूसरी ओर माग कम होने से चादी का मूल्य 1873 व 1894 के मध्य 40% तक घट गया जिससे देश मे चादी का आयात बढने से मुद्रा की मात्रा बढी व स्फीतिक परिस्थितिया उत्पन्न होकर मूल्यो मे वृद्धि हो गई, जिसका विदेशी व्यापार पर बुरा प्रभाव पड़ा।

हरशैल समिति 1892
(Herschell Committee 1892)

1871 के पश्चात् रजतमान मे अनेक प्रकार की कठिनाइया उपस्थित होने पर 1892 मे लार्ड हरशैल की अध्यक्षता मे एक समिति का निर्माण किया गया।

कार्य—इस समिति को निम्न कार्य सौंपे गए—

(i) भारत मे स्वर्णमान स्थापित किया जाना चाहिए या नही।

(ii) रुपये व स्टर्लिंग की विनिमय दर क्या निश्चित की जाए।

(iii) चादी की स्वतत्र मुद्रा ढलाई क्या बंद कर दी जानी चाहिए।

सिफारिशें—इस समिति की प्रमुख सिफारिशें निम्न थे हैं—

(i) देश मे स्वर्ण के सिक्कों का चलन रोक दिया जाए।

(ii) रुपये की विनिमय दर 1 शि० 4 पेंस निश्चित की जाए।

(iii) सोने एव चादी की स्वतत्र ढलाई बंद कर दी जाए।

1893 मे सरकार ने एक नवीन मुद्रा अधिनियम पारित किया जिसके समिति की सिफारिशो को अधिकांशतया मान लिया गया, जिससे विदेशी पूजी का आयात आकर्षित हुआ व चादी का आयात हतोत्साहित हुआ।

फाउलर समिति 1893
(Fowler Committee 1898)

1893 में 1 शि० 4 पेंस की दर निर्धारित की गई, परंतु परिस्थितिवश यह दर बनी न रह सकी। मुद्रा व्यवस्था मे भी अनेक अनिश्चितताएं व अनियमितताएं उत्पन्न हो गई। अतः आवश्यक सुझाव देने के उद्देश्य से 1898 मे सर हेनरी फाउलर की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गई।

सिफारिशें—इस समिति ने निम्न सिफारिशें पेश कीं—

(i) ब्रिटिश सावरेन को असीमित विधि ग्राह्य सिक्का घोषित किया गया।

(ii) मुद्रण के लाभ को पृथक् स्वर्ण कोष में जमा कर दिया गया जो रुपयों को सावरेन में परिवर्तित करने हेतु इस निधि का प्रयोग किया जायेगा।

(iii) प्रतिकूल व्यापार संतुलन होने से सरकार को स्वर्ण देने की व्यवस्था की गई।

(iv) चाँदी के रुपये को असीमित विधि ग्राह्य माना जाए परन्तु इनकी स्वतन्त्र ढलाई न हो।

(v) रुपये की विनिमय दर 1 शि० 4 पेंस पर स्थिर रखी गई।

सरकार ने इस समिति की सिफारिशों को मान लिया तथा 1899 में एक नवीन मुद्रा अधिनियम पारित किया गया जिसमें सावरेन को विधि-ग्राह्य मुद्रा घोषित करके, स्वर्णमान कोष स्थापित किया गया तथा स्वर्ण ढालने की योजना को रद्द कर दिया गया। इससे स्वर्ण-विनिमय मान की स्थापना की गई।

स्वर्ण विनिमय मान की स्थापना—फाउलर समिति की सिफारिशों को मानते हुए सरकार ने स्वर्ण मुद्राएं निवासियों डाकखानों एवं रेलवे कार्यालयों के माध्यम से प्रचारित करने के प्रयास किए परन्तु कुछ समय पश्चात् ही देश में निरंतर अकाल पड़ने के कारण स्वर्ण मुद्राएं वापस लौट आयीं और सरकार ने यह माना कि देश की जनता स्वर्ण मुद्राओं के पक्ष में नहीं है और उनका टंकण बंद करके स्वर्ण विनिमयमान की दिशा में प्रथम प्रयास किया।

स्वर्ण विनिमयमान की दिशा में दूसरा प्रयास सरकार द्वारा मुद्रा टंकण पर होने वाले लाभ को भारत में न रखकर इंग्लैंड में रखने से हुआ। इस लाभ को इंग्लैण्ड में विनियोजित किया गया जिससे आवश्यकता के समय इससे चाँदी क्रय की जा सके।

तीसरी घटना के रूप में सरकार ने 1900 में स्वर्ण मुद्रा का परित्याग कर चाँदी के रुपये टंकण करने प्रारम्भ कर दिए। इस प्रकार स्वर्ण विनिमयमान की सभी शर्तें पूर्ण कर दी गयीं।

विशेषताएं—स्वर्ण विनिमयमान की प्रमुख विशेषताएं निम्न रहीं—

(i) सीमित मात्रा में ब्रिटिश सावरेन प्रचलन में था।

(ii) दो कोषों की स्थापना करके विनिमय दर को स्थिर रखने के प्रयास किये गये।

(iii) आन्तरिक कार्यों के लिए रजत सिक्का एवं पत्र मुद्रा प्रचलन में थी।

(iv) रुपये का अधिकतम स्वर्ण में मूल्य 16½ पेंस तथा न्यूनतम मूल्य 15 पेंस निश्चित किया गया।

दोष—इस व्यवस्था ने निम्न दोष उत्पन्न हो गए—

(i) सरकार को प्रत्येक बार कार्य में हस्तक्षेप करना पड़ा जिससे यह प्रणाली जटिल होती गई।

(ii) देश में मूल्यों में स्थिरता कायम न हो सकी।

(iii) मूल्यों की अस्थिरता ने व्यापार एवं आर्थिक जीवन में अनिश्चितता उत्पन्न करके देश की अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव डाला जिसकी जनता ने आलोचनाएं कीं।

(v) स्वर्ण मुद्रा चलन के लिए उपयुक्त नहीं होने से सोने का सीमित मात्रा में ही मुद्रण किया जाना चाहिए।

1914 में प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ जाने से आयोग की सिफारिशों को कार्यान्वित न किया जा सका।

प्रथम युद्धकाल (1914)

प्रथम विश्वयुद्ध का मुद्रा प्रणाली पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा और स्थिति को सुधारने के उद्देश्य से सरकार ने अनेक उपाय अपनाए। युद्ध प्रारंभ होते ही समाज में भय का वातावरण उत्पन्न हो गया तथा व्यापार एवं वाणिज्य में अनिश्चितता छा गई। विनिमय की दर में कमी होती गई, अतः सरकार ने निजी व्यक्तियों को स्वर्ण देना बंद कर दिया दूसरी ओर आयात कम होने से व्यापार संतुलन अनुकूल हो गया। चांदी की मांग में निरंतर वृद्धि होने के कारण, उसके मूल्य में वृद्धि हो गई। स्थिति को सुधारने के लिए चांदी का निर्यात बंद कर दिया गया तथा सरकार ने बड़ी मात्रा में चांदी खरीदी तथा पत्र मुद्रा में भारी मात्रा में वृद्धि की गई, फलस्वरूप स्वर्ण विनिमय मान टूट गया। युद्धकाल में सरकार के सम्मुख मुद्रा संबंधी अनेक कठिनाइयां उपस्थित हुईं, जिनका विवरण निम्न प्रकार है—

(1) धातु सुरक्षा—पत्र-मुद्रा बट्टे पर बिकने लगी थी। चांदी एवं स्वर्ण मुद्राएं गलाने पर प्रतिबंध लगा दिए गए और विदेशों से प्राप्त सोना या चांदी सरकारी कोष में जमा करवाना अनिवार्य कर दिया गया।

(2) विनिमय दर—चांदी के मूल्य बढ़ने एवं व्यापार संतुलन पक्ष में होने के कारण रुपये की विनिमय दर बढ़ना प्रारंभ हो गयी। यह विनिमय दर 1919 में 2 शि० 4 पें० व 1920 में 2 शि० 11 पें० तक हो गयी और स्वर्ण विनिमय मान टूट गया। विदेशी विनिमय सौदों पर कोई प्रतिबंध लगा दिए गए।

(3) मुद्रा की पूर्ति—युद्धकाल में मांग बढ़ने से मुद्रा की मांग अधिक हो गयी। अमेरिका ने इस कठिनाई में भारत सरकार को 20 करोड़ औंस चांदी बेची परंतु उससे भी मांग की पूर्ति संभव न हो सकी। चांदी के भाव भी शीघ्र गति से बढ़ने से रुपये का टंकन करना कठिन हो गया। अतः सरकार ने 1 रु० व 2½ रु० के नोट चालू किए।

(4) अन्य—सरकार ने मुद्रा स्फीति को रोकने हेतु कोषागार विपत्र बेचना प्रारंभ किया तथा दीर्घकालीन ऋण प्राप्त किए। जनता पर नए कर लगाए गए।

बैबिंगटन-स्मिथ समिति (1919)
(Babington-Smith Committee 1919)

युद्ध की समाप्ति के पश्चात् व्यापार शेष अनुकूल रहा, जिससे भारतीय रुपये की मांग बढ़ी व चांदी के मूल्यों में वृद्धि होती गई तथा पत्र मुद्रा को सिक्कों में बदलना कठिन हो गया। इस काल में रुपये की विनिमय दर में अनेक परिवर्तन हुए। अतः देश की मौद्रिक स्थिति की जांच करने के लिए 1919 में सर हेनरी बैबिंगटन-स्मिथ की अध्यक्षता में एक समिति की नियुक्ति की गई जिसे निम्न कार्य सौंपे गए—

(i) विनिमय मान की स्थिरता के लिए आवश्यक सुझाव देना।

(ii) युद्ध के प्रभाव का अध्ययन भारतीय चलन पद्धति पर देखना।

(iii) चलन में हेर-फेर की सिफारिशें करना।

सिफारिशें—समिति की प्रमुख सिफारिशें निम्न हैं—

(i) विदेशी विनिमय दर स्वर्ण में 2 शि० की दर पर निश्चित की जानी चाहिए।

(ii) विदेशी भुगतानों के लिए सरकार के पास अधिक मात्रा में स्वर्ण कोष जमा करना।

(iii) रुपये को असीमित विधि ग्राह्य बना रहना चाहिए।

सरकार ने फरवरी 1920 में 1 रुपये=2 शि० की दर को स्वीकार कर लिया, परंतु बार-बार सरकार के प्रयास करने के उपरांत भी वह सफल न हो सकी और अतः में विनिमय दर को स्वतंत्र छोड़ना पड़ा। इससे भारत का निर्यात व्यापार हतोत्साहित हुआ, तथा आयात व्यापार प्रोत्साहित हुआ जिससे व्यापार संतुलन प्रतिकूल हो गया। परन्तु यह स्थिति बहुत समय तक नहीं रही। इससे विनिमय दर में धीरे-धीरे वृद्धि हो गई। 1925 में इंग्लैण्ड ने स्वर्ण-

मान ग्रहण किया जिससे स्वर्ण एवं स्टर्लिंग का स्वर्ण मूल्य समान हो गया। अतः विनिमय की दर 1 शि॰ 6 पेंस पर ही स्थिर बनी रही।

हिल्टन यंग कमीशन 1925
(Hilton Young Commission 1925)

अगस्त 1925 में हिल्टन यंग की अध्यक्षता में 11 सदस्यों का एक शाही आयोग नियुक्त किया गया जिसकी रिपोर्ट 4 अगस्त, 1926 को प्रकाशित हुई।

उद्देश्य—इस कमीशन की स्थापना के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित थे—

(i) चलन एवं बैंकिंग पद्धति में समन्वय स्थापित करना तथा केंद्रीय बैंक के संबंध में आवश्यक सुझाव देना।

(ii) रुपये की विनिमय दर क्या रखी जाए।

(iii) स्वर्ण विनिमय मान की कार्यप्रणाली की जांच करना।

मुद्रा प्रणाली के दोष

कमीशन ने मुद्रा प्रणाली का अध्ययन करके उसमें निम्न दोषों को बताया—

(i) लोच का अभाव—मुद्रा प्रणाली में लोच का अभाव होने से आवश्यकतानुसार उसमें परिवर्तन लाना संभव नहीं था।

(ii) कोषों का दुहरापन—इस मान में दो कोष रखे जाते थे, एक भारत में एवं दूसरा स्वर्ण कोष लंदन में। इससे बहुत-सा स्वर्ण व्यर्थ में बेकार पड़ा रहता था।

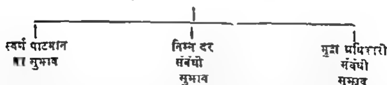
(iii) इंग्लैण्ड पर निर्भरता—मुद्रा प्रणाली इंग्लैण्ड पर आधारित थी, जिससे इंग्लैण्ड के आर्थिक परिवर्तन का प्रभाव भारतीय मुद्रा पर पड़ता था।

(iv) जटिल प्रणाली—भारतीय मुद्रा प्रणाली को जटिल बताया गया जो सर्वसाधारण की समझ में सरलता से नहीं आती थी।

(v) स्वचालकता का अभाव—स्वर्ण का स्वतंत्र आयात एवं निर्यात न होने से प्रणाली में स्वचालकता का अभाव पाया जाता था।

(vi) साख व मुद्रा पर नियंत्रण का विभाजन—मुद्रा पर सरकार का तथा साख पर इंपीरियल बैंक का नियंत्रण रहता था, जिसमें रुपये के मूल्य में स्थिरता नहीं लाई जा सकी।

सिफारिशें—कमीशन की सिफारिशों को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—



(1) स्वर्ण पाट मान का सुझाव—भारत में स्वर्ण विनिमय मान 15 वर्ष तक सफलतापूर्वक चलता रहा। यह व्यवस्था कम खर्चीली तथा लोचदार थी, परंतु कमीशन ने भारत के लिए स्वर्णपाट मान को अपनाने की सिफारिश की तथा इसकी निम्न विशेषताएं बताई गईं—

(अ) रुपये को स्वर्ण से संबंधित कर देने पर भी स्वर्ण वास्तविक रूप में मुद्रा की भांति नहीं चलेगा।

(ब) कानून द्वारा मुद्रा अधिकारियों पर दायित्व डाले गए जिससे रुपये के स्वर्ण मूल्य एवं विनिमय दर मे स्वर्ण बिंदुओं में स्थिरता आ जाए।

(स) चलन में चलन-नोट एवं चांदी के रुपये ही बने रहने चाहिए और उसमें कोई परिवर्तन नहीं करना चाहिए।

भारत को धातु बाजार में स्वर्ण क्रय करने की पूर्ण स्वतंत्रता दी गई तथा अमौद्रिक कार्यों के लिए स्वर्ण की पूर्ति संभव की जा सकेगी। कमीशन ने भारत के लिए स्वर्ण पाट मान को ही अच्छा बताया और इस संबंध में निम्न तर्क दिए—

(अ) एक ठोस कदम—उस समय की परिस्थितियों को देखते हुए यह कहा गया कि स्वर्ण मान का प्रचलित करना कठिन है अतः विकल्प के रूप में स्वर्णपाट मान को ही अपनाने की ओर एक ठोस कदम था।

(ब) विनियोग व बैंकिंग आदत का विकास—मुद्रा का विशाल भाग संचित के रूप में रखने से मुद्रा प्रणाली का कुशल संचालन संभव नहीं हो पाता, इससे मुद्रा प्रसार एवं संकुचन का भय भी बना रहेगा तथा मूल्यों में उतार-चढ़ाव की आशंका सदैव बनी रहेगी। परंतु स्वर्णपाट मान से यह दोष दूर हो जाएगा तथा विनियोग एवं बैंकिंग आदत का विकास संभव हो सकेगा।

(स) सरल एवं विश्वसनीय—यह मान सरल है तथा मुद्रा के स्थायित्व में शीघ्रता से विश्वास उत्पन्न करने में सफल हो जाता है। सांकेतिक मुद्रा की परिवर्तनशीलता के अधिकार को सरलता से समझा जा सकता है।

(द) न्यूनतम व्यय पर स्वर्ण कोष—इस व्यवस्था में न्यूनतम व्ययों पर अधिकतम स्वर्ण कोष का उपयोग संभव हो सकता है, जिससे मूल्यों पर बुरे प्रभाव नहीं पड़ेंगे तथा व्यापार व वाणिज्य पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ेगा।

(इ) अन्य कारण—स्वर्ण पाटमान को अपनाने के अन्य कारणों में निम्न को सम्मिलित किया जाता है— (i) मुद्रा के बाह्य मूल्य को स्थिर रखने में स्वर्ण का उपयोग हो सकेगा। (ii) मुद्रा का प्रसार एवं संकुचन को स्वचालित किया जा सकेगा। (iii) इंग्लैण्ड भी स्वर्ण धातुमान पर आधारित था। (iv) अमौद्रिक कार्यों के लिए स्वर्ण का उपयोग संभव हो सकता है।

अतः व्यवहार में स्वर्णधातु मान के स्थान पर स्वर्ण विनिमय मान या स्टर्लिंग विनिमय मान की ही स्थापना हो गयी जिसका आयोग ने तर्कसंगत विरोध किया था।

(2) विनिमय दर सबंधी सुझाव

गहन अध्ययन के पश्चात् समिति ने देश में 1 शि० 6 पेंस की विनिमय दर अपनाने की सिफारिश की और इसके पक्ष एव विपक्ष में निम्न तर्क प्रस्तुत किए—

पक्ष में तर्क—1 शि० 6 पेंस की दर के पक्ष में निम्न तर्क रखे गए—

(i) पहले से संतुलित व्यवस्था—इस दर पर देश में मूल्य, मजदूरियां आदि पहले से ही संतुलित हो चुकी थी। अतः इसमें परिवर्तन करने में अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता।

(ii) अन्य दर का असफल होना—16 पेंस की दर पूर्व वर्षों में असफल हो चुकी है अतः उस दर को निश्चित करने से अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ सकता था।

(iii) व्यापार संतुलन में सुविधा—देश में व्यापार संतुलन की स्थिति के लिए भी 18 पेंस की दर को अपनाना उचित एवं न्यायसंगत था।

(iv) ऋणदाताओं व ऋणी के लिए न्यायपूर्ण—यह दर ऋणी एवं ऋणदाताओं के लिए सबसे अधिक न्यायसंगत एवं न्यायपूर्ण मानी जाती है।

(v) 16 पेंस की कृत्रिम दर—16 पेंस की दर को बनाए रखने के लिए मुद्रा प्रसार की सहायता लेनी होगी, जिससे यह एक कृत्रिम दर है, जिसे अपनाया जाना संभव नहीं होगा।

(vi) भारतीय स्तर में गिरावट—अन्य दर को स्वीकार करने से भारत का आंतरिक मूल्य स्तर गिर जाएगा जिससे मुद्रा प्रसार का सहारा लेना होगा।

(vii) गृह खर्चों को कम करना—इस दर के अपनाने से गृह खर्चों का भार कम हो जाएगा तथा देश में औद्योगीकरण में सहायता प्राप्त होगी।

(viii) स्वर्ण आयात संभव—अन्य दरों के अपनाने से स्वर्ण का मूल्य गिर जाएगा तथा स्वर्ण का आयात सम्भव न हो सकेगा। अतः 18 पेंस की दर ही उचित मानी जाती है।

(ix) केंद्रीय बजटों का आधार—कई वर्षों से केंद्रीय व प्रांतीय बजट इसी दर पर बनाए जा रहे थे, अतः इसी दर को उचित बताया गया।

(x) स्वाभाविक एवं प्राकृतिक दर—इस दर को स्वाभाविक एवं प्राकृतिक दर बताया गया क्योंकि पिछले वर्षों से यही दर स्थिर रही थी।

(xi) ऋण एवं ठेके—आयोग का मत था कि गत 3-4 वर्षों में विदेशों को माल देने तथा ऋण आदि के रूप में 18 पेंस की दर पर सौदे किए गए हैं, अतः इसी दर को स्वीकार करना उचित होगा, क्योंकि 16 पेंस की दर करने पर भारतीय आयातकों को अधिक रुपये चुकाने होंगे और ऋणियों को हानि होगी।

विपक्ष में तर्क—1 शि० 6 पेंस के विरोधी में अनेक तर्क दिए गए जिनमें से प्रमुख निम्न हैं—

(i) मूल्य स्तर में समायोजन का अभाव—विनिमय दर 18 पेंस स्थापित होने से भारतीय मूल्य का समायोजन संभव नहीं हो पाया है, जिससे भारतीय उत्पादकों को बड़ी हानि का सामना करना पड़ेगा।

(ii) इस दर पर विदेशी उद्योगपति लाभान्वित—16 पेंस की दर अपनाने से विदेशी उत्पादकों को $12\frac{1}{2}\%$ की दर से आर्थिक लाभ प्राप्त होने की संभावनाएं बढ़ जाएंगी।

(iii) ऋणियों को हानि—18 पेंस की दर अपनाने से ऋणियों को $12\frac{1}{2}\%$ का अतिरिक्त भार पड़ेगा, जो कि अन्यायपूर्ण एवं असंगत रहेगा।

(iv) समय लगना—18 पेंस की दर पर मूल्यों में समायोजन करने में अधिक समय लगेगा, जिससे देश की अर्थव्यवस्था पर बुरे प्रभाव पड़ेंगे।

(v) निर्यात में कमी—18 पेंस की दर अपनाने से देश के निर्यात व्यापार में कमी हो जाएगी जिससे देश के उत्पादकों एवं कृषकों को हानि का सामना करना पड़ेगा।

(vi) मजदूरी समायोजन में कठिनाई—इस दर पर मजदूरी को समायोजित करने के लिए उसमें कमी करनी होगी, जिससे औद्योगिक संघर्ष बढ़ेगा व अर्थव्यवस्था को हानि उठानी पड़ेगी।

(vii) अप्राकृतिक दर—18 पेंस की दर को अप्राकृतिक बताया गया जिसका देश की व्यवस्था पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ेगा।

(viii) प्राचीन दर—16 पेंस की दर को प्राचीन दर बताया गया जो कि गत 25 वर्षों से भारत में प्रचलित है।

(ix) वित्त पर अच्छा प्रभाव—16 पेंस की दर का देश की वित्तीय अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ेगा।

(x) युद्ध पूर्व दर को अपनाना—विश्व के समस्त राष्ट्रों ने युद्ध पूर्व दर को अपनाया है, अतः भारत को उसी दर को अपनाना चाहिए।

(xi) श्रमिकों पर अच्छा प्रभाव—इस दर के अपनाने से मजदूरी पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ेगा, जिससे श्रमिकों पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा।

(xii) व्यापार संतुलन पर अच्छा प्रभाव—16 पेंस की दर अपनाने से व्यापार संतुलन पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा तथा प्रतिकूल व्यापार संतुलन की स्थिति पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा।

(xiii) कृषकों को हानि—18 पेंस की दर को अपनाने से कृषकों को हानि होगी। 1917 से पूर्व जो प्रचलित हुए थे उनके लिए 16 पेंस की दर को उचित बताया गया जिससे कृषकों को लाभ होगा।

भारत सरकार ने 1920 में चलन अधिनियम पारित करके 1 शि० 8 पेंस की विनिमय दर को स्वीकार कर लिया।

(3) मुद्रा अधिकारी संबंधी सुझाव

देश मे मुद्रा एवं साख की नीतियों में समन्वय लाने के उद्देश्य से कमीशन ने रिजर्व बैंक आफ इंडिया नामक केंद्रीय बैंक स्थापित करने के सुझाव दिए। यह बैंक चलन एवं साख पर नियंत्रण रखने के साथ-साथ विदेशी विनिमय दर पर भी नियंत्रण एवं प्रबंध रखेगा। सरकार ने इस मत को स्वीकार कर लिया परंतु अत्यधिक विरोध होने के कारण रिजर्व बैंक संबंधी विधेयक 1928 मे पास न हो सका। 1934 मे पुनः यह विधेयक रखा गया और इसे स्वीकार कर लिया गया। फलत. 1 अप्रैल, 1935 से रिजर्व बैंक ने कार्य प्रारंभ कर दिया।

स्टर्लिंग विनिमय मान (1931-1939)

भारत मे स्टर्लिंग विनिमय मान की स्थापना के प्रमुख कारण निम्न थे—

(i) स्वर्णमान का त्याग—सितंबर 21, 1931 को इंग्लैंड ने अपना स्वर्णमान का परित्याग कर दिया जिससे स्टर्लिंग का स्वर्ण से संबंध विच्छेद हो गया। अतः स्टर्लिंग विनिमय मान पर निर्भर रहना पड़ा।

(ii) स्वर्ण धातु मान की असफलता—मुद्रा अधिनियम 1927 के अंतर्गत भारत में जिस स्वर्ण धातु मान की स्थापना की गई, वह स्थापित न हो सका।

स्टर्लिंग विनिमय मान के पक्ष व विपक्ष में तर्क

पक्ष में तर्क—विनिमय मान के पक्ष मे निम्न तर्क दिए जा सकते हैं—

(i) पक्षपात—स्टर्लिंग से रुपये का गठबंधन करने से अंग्रेजी माल के आयात के लिए विशेष सुविधाएं प्रदान की गई।

(ii) स्वर्ण कोषों का बिखर जाना—स्टर्लिंग का ह्रास होने से स्वर्ण कोषों के बिखर जाने का भय बना हुआ था।

(iii) व्यापार के लिए हानिप्रद—अन्य राष्ट्रों ने अपनी-अपनी मुद्रा का अवमूल्यन कर दिया था, परंतु भारत मे 1 शि० 6 पैंस की दर को ही कायम रखा जिससे व्यापार मे हानि का सामना करना पड़ा।

(iv) हिल्टन यंग कमीशन द्वारा विरोध—यह कमीशन रुपये को किसी भी राष्ट्र के साथ संबंधित करने के पक्ष मे नहीं था।

(v) आर्थिक पराधीनता—भारत आर्थिक दृष्टि से इंग्लैण्ड के साथ पराधीन हो जाएगा।

विपक्ष में तर्क—स्टर्लिंग विनिमय मान के विपक्ष मे निम्न तर्क दिए जा सकते हैं—

(i) गृह खर्चे मे असुविधा—रुपये को स्टर्लिंग से संबंध विच्छेद करने से गृह खर्चों में अनेक प्रकार की असुविधाओं का सामना करना पड़ेगा।

(ii) व्यापार में लाभ—रुपये का स्टर्लिंग से संबंध स्थापित करने मे विदेशी व्यापार के लिए अत्यंत लाभकारी सिद्ध होगा।

(iii) स्वर्ण मूल्य मे कमी—रुपये का स्टर्लिंग विनिमय मान से संबंध स्थापित करने से स्वर्ण मूल्य में कमी हो जाने की संभावना थी।

(iv) स्वर्ण राष्ट्रों से व्यापार में वृद्धि—रुपये को स्टर्लिंग से गठबंधन करने से, स्वर्णमान राष्ट्रों के साथ में वृद्धि हो जाएगी।

(v) देश को खतरा—भारत एक देनदार देश था, अतः उसे स्वतंत्र रूप से छोड़ देने से देश को अधिक खतरे का भय था।

(vi) विनिमय दर में स्थिरता—रुपये का स्टर्लिंग से गठबंधन करने से विनिमय दर मे स्थिरता बनी रहेगी तथा किसी भी प्रकार का कोई भय नहीं रहेगा।

तथा बाद में नोटों के प्रकाशन की जिम्मेदारी भी रिजर्व बैंक ने अपने ऊपर ले ली तथा नोटों के निर्गमन का कार्य भी संभाल लिया।

सरकारी प्रयास

भारत सरकार ने मुद्रा प्रणाली के संबंध में निम्न कार्य किये—

(i) भारतीय रुपये की विनिमय दर 1 शि० 6 पेंस पर निश्चित की गई।

(ii) 1927 में देश में स्वर्ण धातुमान की स्थापना की गई।

(iii) मुद्रा एवं साख पर नियंत्रण लगाने के लिए देश में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना की गई।

द्वितीय महायुद्ध एवं मुद्रा प्रणाली

3 सितम्बर, 1939 को द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारंभ हो गया, उस समय भारत में स्टर्लिंग विनिमय मान प्रचलित था तथा रुपए का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं था। रुपए को देश का प्रामाणिक सिक्का माना जाता था तथा चांदी का रुपया व अठन्नी अपरिमित विधि ग्राह्य मुद्रा थी। विनिमय दर की न्यूनतम सीमा 1 शि० $5\frac{49}{64}$ पेंस एवं अधिकतम दर 1 शि० $6\frac{3}{16}$ पेंस निश्चित की गई। इस समय भारतीय मुद्रा प्रणाली में लोच का अभाव पाया जाता था तथा इसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं था।

मुद्रापूर्ति की समस्या

द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारंभ होते ही जनता का पुन: पत्र-मुद्रा से अविश्वास उत्पन्न हो गया और कागज के नोटों के बदले में चांदी के रुपयों की माग बढ़ गयी। जून से अगस्त, 1940 तक 22 करोड़ रु० की चांदी की मुद्रा जनता को दी गयी। इस परिस्थिति का सामना करने हेतु 25 जून, 1940 को एक अध्यादेश निकालकर आवश्यकता से अधिक चांदी के सिक्के एकत्रित करना अपराध माना गया जिससे मुद्रा की मांग कम हो गयी।

मुद्रा स्फीति

द्वितीय युद्धकाल की महत्वपूर्ण घटना मुद्रा-स्फीति थी। अगस्त, 1939 में 179 करोड़ रु० के मूल्य की पत्र-मुद्रा चलन में थी जो 1945 में बढ़कर 1152 करोड़ रुपए हो गयी। मुद्रा स्फीति के अनेक कारण थे (i) उत्पादन में वृद्धि संभव न होना, (ii) व्यापार की मात्रा में वृद्धि होना, (iii) सरकार के रक्षा व्यय में अपार वृद्धि होना, (iv) सेना के लिए सामान भेजने से नागरिकों के लिए सामान की कमी हो गयी, (v) ब्रिटिश सरकार को युद्ध संचालन के लिए बहुत अधिक माल खरीदना था।

विनिमय नियंत्रण

युद्ध प्रारंभ होते ही भारत सरकार ने भारत रक्षा नियमों के अंतर्गत समस्त विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय पर प्रतिबंध लगा दिए और इसके लिए देश में एक विनिमय नियंत्रण विभाग की स्थापना की गयी। युद्धकाल में स्टर्लिंग के लेनदेन पर कोई प्रतिबंध नहीं था। विदेशी मुद्राओं के क्रय-विक्रय के लिए रिजर्व बैंक से लाइसेंस लेना अनिवार्य कर दिया गया। इसके अतिरिक्त विदेशी मुद्रा तथा सिक्कों के लेनदेन पर रोक लगा दी गयी। स्वर्ण के निर्यात को रोक दिया गया और भारत में आयात होने वाला समस्त स्वर्ण तथा चांदी रिजर्व बैंक में जमा करना अनिवार्य कर दिया गया। 28 जुलाई, 1941 को जापानी व्यापारिक संस्थाओं के खाते रोक दिए गए। युद्धकाल में विदेशी यात्रा पर प्रतिबंध लगा दिए गए। कोई भी व्यक्ति रिजर्व बैंक की अनुमति बिना भारत से अन्य देशों को नहीं जा सकता था। विदेशी विनिमय का प्रयोग अत्यंत आवश्यक कार्यों के लिए ही प्राथमिकता के आधार पर किया जाता था।

प्रभाव

द्वितीय विश्वयुद्ध का भारतीय मुद्रा प्रणाली पर निम्न प्रभाव पड़ा—

(1) *नियंत्रित वितरण की योजना—देश में रुपए के सिक्कों की कमी हो गई थी,* जिससे 15 जून, 1940 को नियंत्रित वितरण की योजना का निर्माण किया गया जिसमें आवश्यकता से अधिक मात्रा में सिक्कों के जमा पर प्रतिबंध लगाकर उसे दंडनीय घोषित कर दिया गया।

(2) सिक्कों की प्रामाणिक शुद्धता में कमी—चांदी के रुपयों की मांग बढ़ने से सरकार ने चांदी के सिक्कों की प्रामाणिक शुद्धता को कम कर दिया तथा नवीन नोटों का प्रकाशन भी किया।

(3) नवीन रेजगारी का प्रबंध—1942 में छोटे सिक्कों का अभाव होने से उस कमी को दूर करने के सरकार ने अनेक प्रयास किए—(i) लाहौर में एक नवीन टकसाल खोली गई, (ii) *छेद वाला पैसा निकाला गया,* (iii) *सभी* टकसालों में सिक्के ढालने की गति में वृद्धि की गई, (iv) गिलट का अधन्ना चालू किया गया एवं (v) नवीन सिक्कों का प्रचलन बढ़ाया।

(4) विदेशी विनिमय नियंत्रण—सरकार ने विदेशी विनिमय नियंत्रण का कार्य रिजर्व बैंक को सौंप दिया। नियंत्रण अधिकारियों ने विनिमय दर को 1 शि० 6 पेंस की दर पर स्थिर रखा।

(5) साम्राज्य डालर कोष योजना—युद्ध के कारण दुर्लभ मुद्राओं को उचित दर पर क्रय-विक्रय करने के उद्देश्य से साम्राज्य डालर कोष योजना प्रारंभ की गई, जिसमें स्टर्लिंग क्षेत्र के सभी राष्ट्र अपने निर्यातों से प्राप्त डालर को इस कोष में जमा करते थे तथा स्टर्लिंग के रूप में साख प्राप्त करते थे तथा आवश्यकता पड़ने पर उसे व्यय करते थे। बाद में इसका नाम बदलकर 'स्टर्लिंग क्षेत्र डालर कोष' कर दिया गया।

(6) अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष—1944 में वित्तीय मामलों में सहयोग प्राप्त करने एवं विनिमय दरों में स्थायित्व लाने के उद्देश्य से अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना की गई। इस कोष का भारत भी एक सदस्य था।

(7) *स्टर्लिंग पावने में वृद्धि—युद्ध से पूर्व भारत इंग्लैंड का ऋणी था, परंतु युद्धकाल में भारत से अधिक* मात्रा में निर्यात होने से भारत के पौंड पावने में अत्यधिक वृद्धि हुई। सरकार ने इस पौण्ड पावने के आधार पर नोट छापकर भारतवासियों का भुगतान किया जिससे एक ओर तो मुद्रा प्रसार हुआ तथा दूसरी ओर इंग्लैंड पर भारी ऋण जमा हो गया।

(8) चलन एवं साख मुद्रा में वृद्धि—युद्धकाल में चलन एवं साख मुद्रा की मात्रा में अत्यधिक वृद्धि हुई जिससे मुद्रा का मूल्य कम हो गया तथा वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि हो गई। इस प्रकार देश में मुद्रा स्फीति फैल गई जिसे रोकने के कोई प्रयास प्रारंभिक अवस्था में नहीं किए गए।

(9) पुराने सिक्कों को बंद करना—पुराने सिक्कों में चांदी की अधिक मात्रा होने से सरकार ने उन्हें वापस लेना व चलन से बंद करना प्रारंभ कर दिया तथा उनके स्थान पर कम वजन के नवीन सिक्के प्रचलित किए गए।

(10) अपरिमित विधि ग्राह्य नोटों का चलन—रुपए की कमी को दूर करने के उद्देश्य से सरकार ने 1940 में 1 रु० व 2 रुपए के अपरिमित विधि ग्राह्य नोटों के रूप में प्रकाशन किया जिन्हें रुपए के सिक्कों में परिवर्तित नहीं किया जा सकता था।

(11) जनता [redacted] विश्वास में कमी—युद्ध प्रारंभ होते ही जनता का देश की मुद्रा प्रणाली में विश्वास कम हो गया, जिससे जनता ने बैंकों व डाकखानों से अपना रुपया वापस निकालना प्रारंभ कर दिया। इससे नोटों को परिवर्तित कराने की दौड़ प्रारंभ हो गई तथा प्रत्येक व्यक्ति जल्द से जल्द अपनी जमा राशि को वापस लेना चाहता था। परिणामस्वरूप रुपए के सिक्के प्रचलन से बाहर हो गए तथा देश में सिक्कों की अपार कमी हो गई।

(12) आयात एवं निर्यात नियंत्रण—विदेशी विनिमय का समुचित उपयोग करने के उद्देश्य से स्टर्लिंग क्षेत्र से बाहर के राष्ट्रों से कोई भी *वस्तु का आयात करने पर प्रतिबंध लगाए गए। उपभोग पदार्थों का आयात केवल स्टर्लिंग* क्षेत्र के राष्ट्रों से ही हो सकता था। इसी प्रकार स्टर्लिंग क्षेत्र के बाहर के राष्ट्रों को जाने वाली वस्तुओं के निर्यात पर भी कठोर नियंत्रण लगाए गए। इस प्रकार व्यापार संतुलन की प्रतिकूलता को दूर करने के प्रयास किए गए।

(13) अन्य नियंत्रण—इसके अतिरिक्त विनिमय नियंत्रण की नीति को सफल बनाने के लिए निम्न उपाय अपनाए गए—

(i) भुगतान पर प्रतिबंध—1941 से व्यापारिक कंपनियां रिजर्व बैंक से लाइसेंस लेकर ही स्टर्लिंग क्षेत्र से बाहर अपने लाभ को भेज सकती थीं।

(ii) अनुज्ञा-पत्र—स्वर्ण के आयात-निर्यात के लिए अनुज्ञा-पत्र लेना आवश्यक कर दिया गया।

(iii) मुद्रा के आयात-निर्यात पर रोक—नवम्बर, 1940 से यह प्रतिबंध लगाया गया कि भारतीय मुद्रा का निर्यात बिना सरकारी आज्ञा के संभव न हो सकेगा। इसी प्रकार विदेशी मुद्रा के आयातों पर भी कठोर नियंत्रण लगाए गए।

(iv) अमर राशि पर प्रतिबंध—शत्रु-राष्ट्रों का जो धन भारतीय बैंकों में जमा था उसके निकालने पर कठोर प्रतिबंध लगा दिए गए।

द्वितीय विश्वयुद्ध काल में भारतीय मुद्रा की प्रमुख समस्या मुद्रा प्रसार संबंधी थी। इस प्रकार युद्ध का भारतीय मुद्रा पर गहरा प्रभाव पड़ा जिसने अनेक नवीन समस्याओं को जन्म दिया तथा देश की अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ा। अधिक मुद्रा प्रसार के कारण जनता को अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना उठाना पड़ा तथा जनता में अविश्वास की लहर व्याप्त हो गई।

युद्धोत्तर काल में मुद्रा प्रणाली (1945-47)

युद्ध की समाप्ति के पश्चात् भारतीय मुद्रा प्रणाली में अनेक घटनाएं घटीं जो कि निम्न प्रकार हैं—

(1) देश विभाजन—देश विभाजन के साथ-साथ भारतीय मुद्रा का भी भारत व पाकिस्तान में क्रमशः 13 3 के अनुपात में विभाजन कर दिया गया और भारतीय नोट पाकिस्तान में 30 सितम्बर, 1947 तक चले और 1 अक्टूबर, 1948 से पाकिस्तान ने अपने नोटों का प्रकाशन किया।

(2) अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष व बैंक की स्थापना—1947 में अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं विश्व बैंक की स्थापना हुई, जिससे रुपए-स्टर्लिंग का गठबंधन समाप्त हो गया तथा रुपए का मूल्य 0.268601 ग्राम स्वर्ण निश्चित किया गया। इस प्रकार देश में स्वर्ण-समता मान की स्थापना हुई और रुपए का संबंध अन्य मुद्राओं में भी स्थापित हो गया।

(3) दाशमिक पद्धति का प्रयोग—चोर बाजारी एवं सट्टे पर रोक लगाने की दृष्टि से सरकार ने जनवरी, 1947 में 500 रु०, 1000 रु० व 10,000 रु० के नोटों का अमुद्रीकरण करके उसे गैर-कानूनी घोषित किया तथा 15 अगस्त, 1950 से नवीन मुद्राओं को पूर्णतया भारतीय बना दिया गया तथा 1 अप्रैल, 1957 से मुद्रा की दाशमिक प्रणाली को अपनाया गया।

(4) रुपए का अवमूल्यन—18 सितम्बर, 1949 को इंग्लैंड द्वारा पौंड का अवमूल्यन करने से भारत ने अपनी मुद्रा का 30.5% से अवमूल्यन कर दिया, फलस्वरूप रुपए का डालर मूल्य 30.225 सेंट से घटकर केवल 21 सेंट रह गया तथा स्वर्ण मूल्य 0.268601 ग्राम स्वर्ण से घटकर 0.186621 ग्राम स्वर्ण हो गया। रुपए का पुनः अवमूल्यन 6 जून, 1966 को किया गया था।

(5) हीनार्थ प्रबंधन—अप्रैल, 1951 से देश के आर्थिक विकास में आर्थिक नियोजन की पद्धति को अपनाया गया, जिसमें वित्तीय साधनों के लिए हीनार्थ प्रबंधन की पद्धति का सहारा लिया गया।

बड़े नोटों का विमुद्रीकरण

द्वितीय युद्धकाल में चोर बाजारी एवं घूसखोरी द्वारा व्यक्तियों ने बहुत धन अर्जित किया जो प्रायः बड़े मूल्यों के नोटों में ही रखा गया होगा। अतः 11 व 12 जनवरी, 1946 को दो अध्यादेश जारी करके 100 रु० से ऊपर की राशि के सब नोटों को रद्द करने की घोषणा की गयी। इन नोटों के विमुद्रीकरण का उद्देश्य चोर बाजार, घूसखोरी तथा करों की चोरी करने वालों को पकड़ना तथा बढ़े हुए धन को उत्पादन के कार्यों में लगाना था। परंतु इस योजना का उद्देश्य पूर्ण न हो सका क्योंकि बड़े व्यापारियों को इस नीति का ज्ञान पहले से हो जाने के कारण उन्होंने अपना धन बैंकों में

जमा करके इस हानि से बच गए।

विदेशी विनिमय नियंत्रण अधिनियम—1947
(Foreign Exchange Regulation Act—1947)

मार्च, 1947 में भारतीय सुरक्षा नियम समाप्त होने पर विदेशी विनिमय पर नियंत्रण लगाने के उद्देश्य से मार्च, 1947 में ही विदेशी विनिमय नियंत्रण अधिनियम पारित किया गया जिसकी मुख्य बातें निम्न थी—

(i) मुद्रा को भेजना—भारत में रहने वाले विदेशी सीमित मात्रा में विदेशों को मुद्रा भेज सकते थे।

(ii) संपत्ति की राशि—विदेशी का स्वदेश लौटने पर वह अपने वेतन आदि की समस्त राशि अपने देश में वापिस ला सकेगा।

(iii) लाभ को भेजना—भारत में स्थित विदेशी व्यापारिक संस्थाएं अपने लाभों को प्रधान कार्यालय को भेज सकती हैं।

(iv) प्रतिबंध—हीरे, जवाहरात, सोना एवं अन्य प्रतिभूतियों के आयात-निर्यात पर कठोर प्रतिबंध लगाए गए।

(v) विनियोजन की आज्ञा—विदेशों में पूंजी के विनियोजन की आज्ञा प्रदान नहीं की गई।

(vi) आयात लाइसेंस—आयात के लिए आयात लाइसेंस लेना आवश्यक कर दिया गया जिसका भुगतान स्वतंत्रतापूर्वक किया जा सकता है।

(vii) ऋणों का ब्याज आदि—ऋणों पर ब्याज बीमा आदि का भुगतान विदेशी मुद्रा में स्वतंत्रतापूर्वक किया जा सकता है।

(viii) विदेशी विनिमय का लेन-देन—विदेशी विनिमय के लेन-देन का कार्य केवल रिजर्व बैंक द्वारा अधिकृत बैंकों द्वारा ही संभव हो सकता है।

साम्राज्य डालर कोष
(Empire Dollar Pool)

युद्धकाल में डालर दुर्लभ मुद्रा हो गयी थी क्योंकि युद्ध का सामान केवल अमेरिका से ही प्राप्त हो सकता था। डालर का महत्त्व बढ़ जाने से यह आवश्यक हो गया कि उसके कोषों का सदुपयोग किया जाए।

द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व प्रायः अधिकांश राष्ट्र अपनी विदेशी मुद्रा कोषों को स्टर्लिंग के रूप में लन्दन में रखते थे। परन्तु युद्ध प्रारंभ होने पर स्टर्लिंग की स्वतंत्र परिवर्तनशीलता समाप्त हो गई जिससे स्टर्लिंग को डालर में परिवर्तित करने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इस कठिनाई से बचने के लिए समस्त राष्ट्रों ने *सितम्बर 1939 में एक साम्राज्य डालर कोष की स्थापना की।*

इन कोष में ब्रिटिश साम्राज्य के राष्ट्रों का विदेशी विनिमय जमा कर दिया जाता था तथा आवश्यकता पड़ने पर उस कोष से धन निकाल लिया जाता था। इस प्रकार स्टर्लिंग क्षेत्र से बाहर के राष्ट्रों को निर्यात करने पर जो डालर प्राप्त होता था वह उन्हें डालर कोष में जमा करके उसके बदले स्टर्लिंग साख प्राप्त कर लिया करता था। इस कोष में से प्रत्येक राष्ट्र अपनी आवश्यकतानुसार डालर निकाल सकता था तथा उसके अपव्यय पर प्रतिबंध था। इस प्रकार दुर्लभ मुद्रा को प्राप्त करके उसे सामूहिक कोष में जमा करना तथा एक निश्चित दर पर क्रय एवं विक्रय की योजना का निर्माण करना था।

भारत इस कोष का एक महत्त्वपूर्ण सदस्य था। युद्ध की समाप्ति पर 1946 में इस कोष को लन्दन में केंद्रीय कोष में रख दिया गया। भारत को इस कोष के उपयोग की पूर्ण स्वतंत्रता दी गई और इसका उपयोग पंचवर्षीय योजनाओं में किया गया। युद्धकाल में भारत ने डालर-कोष में कुल 453 करोड़ रु० के मूल्य की विदेशी मुद्रा जमा की, जिसमें से 405 करोड़ रु० अमेरिकन डालर थे। इसमें से भारत ने 339 करोड़ रु० की विदेशी विनिमय काम में ले ली। अतः इस कोष में भारत की शुद्ध जमा राशि 114 करोड़ रु० थी।

भारत का पौंड पावना
(Sterling Balance of India)

द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व भारत इंग्लैंड का ऋणी था परन्तु युद्ध काल में भारत का इंग्लैंड पर भारी मात्रा में ऋण चढ़ गया क्योंकि जो माल इंग्लैंड या उसके मित्र-राष्ट्रों को भेजा जाता था वह भारत सरकार के हिसाब में इंग्लैंड में जमा हो जाया करता था, इसी कारण इसका नाम स्टर्लिंग या पौंड पावना पड़ा। रिजर्व बैंक को इस पावने की आड़ पर नोट निर्गमन करने के अधिकार प्राप्त थे, फलतः एक ओर इंग्लैंड पावने एकत्रित होते गए तथा दूसरी ओर भारत में नोटों की मात्रा में वृद्धि हो गई जिससे मुद्रा प्रसार बढ़ा। अतः युद्ध काल में मुद्रा प्रसार होने का प्रमुख कारण स्टर्लिंग पावने का एकत्रित होना था।

पौंड पावने की वृद्धि

युद्ध से पूर्व भारत का रिजर्व बैंक अपनी सम्पत्ति का कुछ भाग स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के रूप में इंग्लैंड में रखा करता था जिसकी मात्रा 1939 में केवल 64 करोड़ रुपए थी। परंतु युद्ध काल में इसकी मात्रा में आश्चर्यजनक ढंग से वृद्धि हुई और यह मात्रा बढ़कर लगभग 25 गुनी हो गई और 1946 में यह कोष बढ़कर 1662 करोड़ रुपए हो गया। पौंड पावने की इस वृद्धि को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

पौंड पावने की वृद्धि

(करोड़ रुपए में)

वर्ष	पौंड पावना	मूल्य स्तर	नोट निर्गमन
1939	64	100	176
1939-40	91	108	209
1940-41	169	143	241
1941-42	231	160	307
1942-43	394	238	513
1943-44	755	245	777
1944-45	1182	244	969
1945-46	1549	280	1163
1946-47	1662	302	1223

पौंड पावना वृद्धि के कारण

पौंड पावने में वृद्धि होने के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं—

(i) रक्षा-व्यय संबंधी समझौता—सितम्बर, 1939 में इंग्लैंड एवं भारत के मध्य युद्ध-व्यय के बंटवारे के संबंध में एक समझौता हुआ, जिसके आधार पर एक सीमित मात्रा से अधिक व्यय होने पर उसका भुगतान इंग्लैंड द्वारा किया जाएगा। इससे भारत को इंग्लैंड से काफी बड़ी राशि युद्ध-व्यय के रूप में प्राप्त होने से पौंड पावने में वृद्धि हो गई।

(ii) डालरों में भुगतान प्राप्त—युद्धकाल में अमेरिकी सेनाएं भारत में रहीं और उनके व्यय के बदले में डालरों में भुगतान प्राप्त हुआ, परन्तु इसे साम्राज्य डालर कोष में जमा कर दिया जाता था जिससे भारत के पौंड पावने में धनै-धनै. वृद्धि हुई और काफी मात्रा में पौंड पावना एकत्रित हो गया।

(iii) मूल्यवान धातुओं की बिक्री—युद्ध के प्रारम्भिक वर्षों में मूल्यवान धातुओं की बिक्री से उसका भुगतान भी स्टर्लिंग के रूप में ही प्राप्त हुआ जिसे पौंड पावने के रूप में बढ़ा दिया गया।

(iv) निर्यात में वृद्धि—भारत ने मित्र-राष्ट्रों को समस्त उपभोग सामग्री का काफी मात्रा में निर्यात किया

और उसके बदले में स्टर्लिंग प्राप्त किए जिससे पौंड पावने में वृद्धि हो गई।

(४) इंग्लैंड द्वारा वस्तुओं का क्रय—युद्धकाल में इंग्लैंड ने भारत से जो वस्तुएं तथा सेवाएं प्राप्त की उनका भुगतान भी उसे स्टर्लिंग के रूप में ही प्राप्त हुआ, जिससे पौंड पावने में वृद्धि हो गई।

पौंड पावने के भुगतान के संबंध में वाद-विवाद रहा है। प्रारंभ में यह कहा गया था कि भारत को इसका भुगतान प्राप्त नहीं होना चाहिए क्योंकि स्टर्लिंग ऋण युद्ध ऋण है, रुपए की ऊंची विनिमय दर, युद्ध से भारत को लाभ एवं इंग्लैंड की आर्थिक स्थिति खराब होना आदि थे। इसके विपरीत भारत ने भुगतान प्राप्त करने पर जोर दिया क्योंकि यह ऋण महान् त्याग के बाद दिया गया, नियंत्रित मूल्य पर माल बेचा गया, यह एक पूंजी थी जिसके आधार पर आर्थिक विकास सम्भव हो सकेगा, देश का विकास करना था तथा यह ऋण इंग्लैंड को बलपूर्वक दिया गया था। इस संबंध में काफी तर्क-वितर्क रहा और इंग्लैंड भुगतान को टालता रहा। भारत ने इस प्रश्न को अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा सम्मेलन के सम्मुख रखा जिसमें यह निश्चित किया गया कि इंग्लैंड इस भुगतान को शनैः-शनैः करेगा। इस संबंध में अनेक समझौते हुए जो कि निम्न प्रकार हैं—(i) जनवरी, 1947 का प्रथम समझौता, (ii) 14 अगस्त, 1947 का समझौता, (iii) जुलाई, 1948 का समझौता, (iv) जुलाई, 1949 का समझौता, (v) जुलाई, 1951 का समझौता, (vi) फरवरी, 1952 का समझौता।

वर्तमान स्थिति—सन् 1952 के समझौते के बाद भारत सरकार पौंड पावने का प्रयोग करने में लगभग स्वतन्त्र रही और पंचवर्षीय योजनाओं के कारण पौंड पावनों की राशि में तेजी से कमी आयी। पौंड पावने का उपयोग पंचवर्षीय योजनाओं के लिए किया गया। प्रथम पंचवर्षीय योजना में स्टर्लिंग निधि का अधिक उपयोग संभव न हो सका। द्वितीय योजना काल में इसका अधिक उपयोग किया गया जिससे स्टर्लिंग की मात्रा केवल 213 करोड़ रुपए ही रह गई। तृतीय योजना के प्रारंभ में स्टर्लिंग कोष की मात्रा 136 करोड़ रुपए थी जो 1962 में घटकर 87 करोड़ रुपए रह गई, जबकि विधान के अनुसार सरकार को चलन के लिए न्यूनतम 100 करोड़ रुपए की स्टर्लिंग निधि रखना अनिवार्य था।

पौंड पावने भुगतान संबंधी आलोचनाएं—पौंड पावने के भुगतान के संबंध में प्रमुख आलोचनाएं निम्नलिखित हैं—

(i) दीर्घकालीन योजना का अभाव—स्टर्लिंग भुगतान संबंधी समझौते अल्पावधि के थे जिससे दीर्घकालीन योजना का निर्माण न किया जा सका, परिणामस्वरूप पौंड पावने का उपयोग उपभोक्ता सामान व अन्य अनुपयोगी वस्तुओं के क्रय करने में किया गया, जो देश के आर्थिक विकास के लिए उचित नहीं था।

(ii) पूंजी माल की सुविधा का अभाव—ब्रिटेन द्वारा पौंड पावने के बदले उचित मूल्य पर पूंजी माल को न देने से औद्योगिक विकास में सहायता प्राप्त नहीं हुई।

(iii) कम ब्याज दर—एकत्रित स्टर्लिंग शेष पर भारत को बहुत कम ब्याज दर मिली जो औसतन 0·78% वार्षिक थी।

(iv) अधिक कीमत चुकाना—ब्रिटेन के युद्ध कार्यों के लिए अधिक कीमत वसूल की गई जिससे स्टर्लिंग शेष काफी घट गए।

(v) समझौतों में कड़ापन—प्रारम्भिक समझौतों के आधार पर स्टर्लिंग राशि प्रयोग [redacted] होने पर उसे रद्द कर दिया जाता था तथा अगले वर्ष अधिक राशि की आवश्यकता होने पर अधिक राशि उपलब्ध नहीं हो सकती थी, इससे कार्य करने में अनेक कठिनाइयां उपस्थित हुईं।

(vi) सीमित राशि उपलब्ध होना—इस कोष से सीमित मात्रा में ही धन उपलब्ध हो सका जिसका पुनर्गठन में उपयोग नहीं किया जा सका।

(vii) अपर्याप्त राशि—देश की आवश्यकताओं को देखते हुए जो राशि प्राप्त होती थी वह बहुत ही कम एवं अपर्याप्त थी, जिसका उपयोग देश के विकास में संभव न हो सका।

पौंड पावने भारतीय कष्टों की एक कहानी है और इसका प्रयोग देश को आर्थिक कष्टों से मुक्त करने के लिए किया गया था।

रुपए का पौंड से संबंध 25 सितम्बर, 1975 से तोड़ दिया गया। इसका शुद्ध प्रभाव यह होगा कि भावात

अवमूल्यन के सिवाय किसी भी अन्य तरीके से उसे ठीक नहीं किया जा सकता था।"

18 सितम्बर, 1949 को ब्रिटेन ने पौंड का 30.5% अवमूल्यन कर दिया और पौंड की विनिमय दर 4.03 डालर से घटकर 2.80 डालर हो गयी। अनेक अन्य 29 देशों ने भी अपनी-अपनी मुद्रा का अवमूल्यन घोषित किया। 1949 का अवमूल्यन युद्धोत्तरकालीन आर्थिक जगत की एक अभूतपूर्व घटना थी। भारत ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन 29 सितम्बर, 1949 को किया। स्टर्लिंग का अवमूल्यन होने के 24 घंटे के अन्दर भारत ने भी अपनी मुद्रा का 30.5% अवमूल्यन कर दिया जिससे रुपए का डालर मूल्य 30.225 सेंट से घटकर 21 सेंट हो गया तथा स्वर्ण मूल्य .268601 ग्राम से घटकर .186611 ग्राम हो गया। डालर का मूल्य रुपए में 31 पैसे से बढ़कर 4 रुपए 75 पैसे हो गया।

अवमूल्यन के कारण—भारतीय रुपए के अवमूल्यन करने के प्रमुख कारण निम्नलिखित थे—

(i) **स्टर्लिंग क्षेत्र से व्यापार**—भारत का अधिकांश व्यापार स्टर्लिंग क्षेत्र से होता था और यदि रुपए का अवमूल्यन न करते तो भारतीय माल स्टर्लिंग क्षेत्र में महँगा होने से व्यापार पर बुरा प्रभाव पड़ता।

(ii) **पौंड पावना**—भारत का इंग्लैंड पर जो पौंड पावना शेष था, अवमूल्यन न करने पर उस कोष में कमी हो जाती और हानि उठानी पड़ती।

(iii) **अपेक्षाकृत ऊँचे मूल्य**—मुद्रा प्रसार के कारण भारत में वस्तुओं के मूल्य अपेक्षाकृत ऊँचे थे। यदि अवमूल्यन न किया जाता तो यह मूल्य स्टर्लिंग क्षेत्र में और महँगे हो जाते, जिससे इंग्लैंड व अन्य स्टर्लिंग क्षेत्रों में भारतीय माल प्रतियोगिता नहीं कर पाता।

(iv) **प्रतिकूल व्यापार संतुलन**—युद्धोत्तरकाल में भारत का व्यापार संतुलन विपक्ष में था। अतः स्थिति को सुधारने के लिए निर्यात को प्रोत्साहित एवं आयात को हतोत्साहित करना था। यह तभी संभव हो सकता था जबकि अवमूल्यन का सहारा लिया जाता।

(v) **डालर संकट**—भारत में डालर संकट निरंतर बढ़ रहा था जिसके लिए यह आवश्यक था कि अमेरिका से आयात कम एवं निर्यात अधिक किए जाएं, और इस उद्देश्य की पूर्ति रुपये के अवमूल्यन से ही हो सकती थी।

(vi) **डालर क्षेत्र व्यापार में वृद्धि**—अवमूल्यन के अभाव में अमेरिका अन्य राष्ट्रों से माल सस्ते भाव पर खरीद लेता और भारत का व्यापार डालर क्षेत्र में कम हो जाता। अतः स्थिति को सुधारने के लिए रुपये का अवमूल्यन करना आवश्यक समझा गया।

(vii) **स्टर्लिंग से घनिष्ट संबंध**—भारत का सदैव से स्टर्लिंग के साथ घनिष्ट संबंध रहा है जिससे नैतिक दृष्टि स्टर्लिंग क्षेत्र के नियमों का पालन करना पड़ता है। परिणामस्वरूप स्टर्लिंग के अवमूल्यन होने से भारत को भी अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करना पड़ा।

आठ सूत्रीय कार्यक्रम

अवमूल्यन के प्रभाव को व्यापक बनाने हेतु भारत सरकार ने 5 अक्टूबर, 1949 को एक *आठ सूत्रीय कार्यक्रम* बनाया। इस योजना के मुख्य तत्व निम्नलिखित थे—

(1) भारत विदेशी विनिमय दर का प्रयोग न्यूनतम करेगा।
(2) दुर्लभ क्षेत्र में निर्यात पर निर्यात कर लगाकर दुहरी आय प्राप्त की जाएगी।
(3) बैंकिंग सुविधाओं द्वारा जनता को धन बचाने के लिए प्रोत्साहित किया जाएगा।
(4) सरकारी व्यय में मितव्ययिता लाने के प्रयास किये जाएंगे।
(5) दुर्लभ मुद्रा क्षेत्र से न्यूनतम माल आयात किया जाएगा।
(6) वस्तुओं के मूल्य कम से कम रखने की चेष्टा की जाएगी।
(7) कर की चोरी करने वालों को अपेक्षित राशि जमा करने को प्रोत्साहित किया जाएगा।
(8) अनाज एवं अन्य आवश्यक वस्तुओं के मूल्य में 10% से कमी की जाएगी।

अवमूल्यन के प्रभाव
(Effects of Devaluation)

रुपये के अवमूल्यन के प्रमुख प्रभावों को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(i) अनुकूल व्यापार संतुलन—अवमूल्यन से निर्यातों में वृद्धि एवं आयातों में कमी हो गई, फलस्वरूप व्यापार सन्तुलन अनुकूल हो गया।

(ii) मूल्य स्तर में वृद्धि—देश में अवमूल्यन से आन्तरिक मूल्य स्तर में काफी वृद्धि हो गई। सरकार ने मूल्य वृद्धि को रोकने के अनेक प्रयास किए, परन्तु उनमें सफलता प्राप्त न हो सकी।

(iii) पौंड पावने में कमी—स्टर्लिंग निधि का जितना भाग अमेरिका में व्यय किया गया, उसके मूल्य में 30.5% से कमी हो गई।

(iv) ऋण भार में वृद्धि—अवमूल्यन से अमेरिका व विश्व बैंक के ऋण भार में वृद्धि हो गई।

(v) जीवन-स्तर पर बुरा प्रभाव—आयात प्रतिबंधों के कारण देश में उपभोग पदार्थों का अभाव हो गया, खाद्यान्न तथा खाद्य पदार्थों के आयात में 40% से वृद्धि हो गई तथा सूती वस्त्रों के मूल्यों में वृद्धि होने के कारण जीवन-स्तर पर बुरा प्रभाव पड़ा।

(vi) विदेशी विनियोग में वृद्धि—डालर के रूप में प्रतिभूतियों के सस्ते होने से भारत में विदेशी विनियोग की मात्रा में वृद्धि हो गई।

(vii) जूट व कपास उद्योग में संकट—पाकिस्तान, अमेरिका आदि राष्ट्रों द्वारा अवमूल्यन न करने से जूट व कपास के मूल्यों में वृद्धि हो गई, जिससे ये उद्योग संकट में आ गये और देश के औद्योगिक विकास में बाधाएं उपस्थित हुईं।

(viii) अनुकूल भुगतान संतुलन—अवमूल्यन से निर्यात में वृद्धि एवं आयात में कमी हो जाएगी तथा भुगतान सन्तुलन अनुकूल हो जायगा।

विदेशी विनिमय संकट
(Foreign Exchange Crisis)

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत की समस्याओं में से विदेशी विनिमय ही गंभीर समस्या थी। योजनाकाल में भारी मात्रा में माल आयात होने से यह समस्या और जटिल हो गई। प्रथम पंचवर्षीय योजना में कुल 318 करोड़ रुपये के विदेशी विनिमय का घाटा रहा, जिसमें से 196 करोड़ रु० की पूर्ति विदेशी सहायता से की गयी तथा शेष 122 करोड़ रु० की पूर्ति देश के विदेशी विनिमय कोष से की गई। द्वितीय योजना के प्रथम वर्ष से ही भुगतान-सन्तुलन की स्थिति बहुत बिगड़ गयी और चालू खाते में 292 करोड़ रु० से घाटा रहा। 31 मार्च, 1957 को पौंड पावने की राशि 413 करोड़ रु० रह गयी। इस योजना में कुल 1100 करोड़ रु० के भुगतान शेष का घाटे का अनुमान किया गया। इस संकट के प्रमुख कारण थे—(i) व्यापारियों ने प्रथम योजना के अन्त में प्राप्त लाइसेंसों का माल द्वितीय योजना के प्रारम्भ में प्राप्त किया तथा (ii) सरकार ने विदेशी विनिमय आवश्यकताओं के अनुमान लगाने में भूल की फलतः कुल 1127 करोड़ रु० की विदेशी विनिमय व्यय की गई। तृतीय योजना में कुल 3200 करोड़ रु० के विदेशी विनिमय के घाटे का अनुमान लगाया गया जिसमें से 2500 करोड़ रु० की सहायता भारत सहायता क्लब से ली गयी।

योजना काल में सरकार भारतीयों के अधिक धन व्यय करने के कारण विदेशी विनिमय संकट में वृद्धि हुई जिससे विनिमय दर घटती गई और उसे संभालने के लिए रु० का अवमूल्यन करना पड़ा।

रुपए का पुनः अवमूल्यन—1966
(Again Devaluation of Rupee in—1966)

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारतीय रुपये का दो बार अवमूल्यन किया जा चुका है। प्रथम बार अवमूल्यन 18

1950-51 में व्यापार संतुलन 49·60 करोड़ रुपए से विपक्ष में था जो सन् 1965-66 में बढ़कर 547.60 करोड़ रु० हो गया।

(2) विदेशी विनिमय की कठिनाई लगातार बढ़ रही थी, आयात पर कठोर नियंत्रण लगाए गए, फिर भी अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा जैसे बेकारी फैलना, कारखानों का बंद होना, उत्पादन में कमी तथा कीमतों में वृद्धि होना आदि।

(3) रुपए की क्रय शक्ति घट गई थी, क्योंकि वस्तुओं की कीमतों में 80 प्रतिशत तक वृद्धि हो गई थी। इन बढ़े हुए मूल्यों को नीचे लाना सम्भव नहीं था और ऊंचे मूल्य के कारण भारतीय माल को विदेशों में बेचने में कठिनाइयां आ रही थीं। भारतीय माल को विदेशी बाजार में सस्ता बनाने की यह अवमूल्यन रीति निकाली गई।

(4) इस्कर व्यापार में वृद्धि हो रही थी तथा विदेशी मुद्रा की कमी बढ़ती जा रही थी।

(5) आयात में लगातार वृद्धि हो रही थी और उद्योगों में आत्मनिर्भरता कम होती जा रही थी। सन् 1950-51 में 651 करोड़ रुपए का माल आयात किया गया जो सन् 1965-66 में बढ़कर 1349 करोड़ रु० हो गया।[1]

(6) पिछले वर्षों में ऐसी अनेक सुविधाएं दी गई और नियंत्रण लगाए गए जिनसे भुगतान का अंतर दूर होने की आशा थी, किन्तु उनमें असफलता रही।

(7) देश के भीतर रखे विदेशी मुद्रा कोष की मात्रा में कमी होती जा रही थी।

मान्यताएं—भारत में अवमूल्यन उस समय तक लाभदायक सिद्ध नहीं होगा, जब तक कि निम्न सिद्धांतों का पालन नहीं किया जाय—

(1) सरकारी व्ययों में कमी करनी होगी जिससे लागत कम हो सके और विदेशी बाजारों में प्रतिस्पर्धा की जा सके।

(2) उत्पादन सीमित करने के समस्त बंधनों को हटाना होगा जिससे मूल्यों में स्थायित्व बना रहे तथा माल की कमी भी महसूस न हो सके।

(3) विद्युत् शक्ति, खाद, इस्पात व सीमेंट के कारखानों के अतिरिक्त समस्त विद्यमान कारखानों को उनकी पूर्ण क्षमतानुसार उत्पादन कार्य में लगाना होगा।

(4) चतुर्थ योजना के आकार एवं प्राथमिकता के क्रम को उस समय तक निश्चित नहीं करना चाहिए जब तक कि उत्पादन आदि पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन न कर लिया जाय।

अवमूल्यन की सहायक कार्यवाहियां—सरकार ने अवमूल्यन के साथ-साथ निम्न सहायक कार्यवाहियों की घोषणा की—

(1) अनेक वस्तुओं पर निर्यात कर लगा दिए गए।

(2) भारत के लिए विश्व बैंक तथा अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से विदेश वित्तीय सहायता प्राप्त होने की आशा की गई।

(3) आवश्यक मशीनों व अन्य संबंधित माल के आयात करने में उदारता अपनाई गई।

(4) उत्पादन में बाधक नियंत्रणों को हटाकर उत्पत्ति के स्रोतों को पनपने के अधिकाधिक अवसर दिए गए।

अवमूल्यन की सफलता—अवमूल्यन की सफलता निम्न बातों पर निर्भर करेगी[2]—

(1) निर्यात में मुख्यतः उन वस्तुओं को सम्मिलित किया जाय, जिनकी मांग लोचदार हो, जिससे मूल्य घटने पर निर्यात बढ़ाये जा सकें। (2) निर्यात की जाने वाली परम्परागत एवं गैर-परम्परागत वस्तुएं पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होनी चाहिएं, जिससे देश में पूर्ति पर बुरा प्रभाव नहीं पड़े, (3) देश की पूर्ति-व्यवस्था में पर्याप्त लोच होनी चाहिए, (4) देश की पूर्ति-व्यवस्था में प्रतिस्थापित वस्तुएं उत्पादन करने की पर्याप्त क्षमता होनी चाहिए, जिससे मूल्यों

1. The Fourth Five Year Plan, p. 76.

2. Based on the article written by Dr. K. D. Dhodha—Forum of Free Enterprise, Bombay-1.

पर बुरा प्रभाव न पड़े, (5) मूल्य स्थायित्व होने की परिस्थिति में ही अवमूल्यन का उपयोग करना चाहिए।

अवमूल्यन का भारतीय विदेशी व्यापार पर प्रभाव

अवमूल्यन से भारत के विदेशी व्यापार पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ेंगे। यह प्रभाव निम्नलिखित हैं—

(1) निर्यात में वृद्धि—अवमूल्यन के पश्चात् विदेशी बाजारों में भारतीय वस्तुओं के दाम डालर के हिसाब से 36.5 प्रतिशत से कम हो गए हैं। इससे भारतीय माल अन्य प्रतिस्पर्धा करने वाले देशों की तुलना में सस्ता सिद्ध होगा। इस सुविधा से भारतीय निर्यात व्यापार बढ़ाने में अत्यधिक सुविधा प्राप्त होगी। परंतु अवमूल्यन से निर्यात में वृद्धि उसी समय होगी जबकि—

(i) देश में वस्तुओं की उत्पादन लागत कम की जाय,

(ii) निर्यात की जाने वाली वस्तुओं के गुणों में वृद्धि की जाय,

(iii) निर्यात प्रोत्साहन उपायों में लगातार वृद्धि की जाय।[1]

अनुमान है कि यदि निर्यात की मात्रा 57.5% से बढ़ जाए तो पूर्णरूप से प्रति इकाई डालर आय की हानि बराबर हो सकती है। यदि निर्यात 57.5% से भी अधिक हो जाय तो व्यापार का असंतुलन कम हो जाएगा। 1965-66 में 803 करोड़ रुपए का निर्यात हुआ यदि इतना ही निर्यात 1966-67 में हो तो हमें 341 करोड़ रुपए अधिक प्राप्त हुए। परंतु हम जो वस्तुएं निर्यात करते हैं, वही वस्तुएं अफ्रीका के देश भी निर्यात करते हैं जिससे उनकी वस्तुएं अब महंगी हो जाएंगी और उनका बाजार में टिकना कठिन हो जाएगा। श्री वेणीप्रसाद डालमिया का विचार था कि "इसमें संदेह नहीं कि अवमूल्यन से निर्यात को प्रोत्साहन मिलेगा। आयात विकल्प के प्रति रुचि बढ़ेगी और निर्यात उद्योग विकसित होंगे, परंतु इसके लिए उत्पादन में बाधक नियंत्रणों को शीघ्र हटा देना चाहिए।"

(2) आयात पर प्रभाव—अवमूल्यन के पश्चात् आयात पर अधिक रुपए देने पड़ेंगे इससे आयात में कमी होगी और देश में ही कच्चे औद्योगिक पदार्थ का अधिक उपयोग हो सकेगा। इस प्रकार भारत आत्मनिर्भरता की ओर तेजी से बढ़ेगा। 1965-66 में 1350 करोड़ रु० का आयात किया गया। यदि उत्पादन वृद्धि नहीं की गई तो 1966-67 में इतना ही आयात करें तो अवमूल्यन की नई दर से आयात में 776 करोड़ रु० अधिक अर्थात् कुल 2126 करोड़ रु० देना होगा। आयातित वस्तुओं में 75% पूंजीगत कच्चा माल तथा 25% खाद्य व अन्य पदार्थ रहते हैं। अतः औद्योगिक विकास के लिए मशीनों व अन्य उपकरणों के आयात में कमी करना संभव नहीं दिखाई देता फिर भी प्रयास किया जाएगा कि आयात कम हो। अवमूल्यन से देश की अर्थव्यवस्था पर दो प्रकार के प्रभाव पड़ने की आशा थी—

(i) विदेशी माल महंगा होने से कम मात्रा में माल आयात होंगे।

(ii) उद्योगपतियों को आयात होने वाले माल के उत्पादन में रकम विनियोग करने को प्रोत्साहन प्राप्त होगा।

इस प्रकार निर्यात पर अनुकूल और आयात पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने से विदेशी व्यापार बराबर हो जाएगा और विदेशी भुगतान हेतु कम मात्रा में विदेशी मुद्रा की आवश्यकता होगी।

(3) विदेशी पूंजी में वृद्धि—अवमूल्यन से विदेशी पूंजी बढ़ेगी तथा विदेशी उद्योगपति अधिक आकर्षित होंगे, उद्योगों को विकसित करने का अवसर प्राप्त होगा। जो विदेशी अब भारत में कल-पुर्जे या धन लगाएंगे, उन्हें रुपए में पहले से कम भुगतान करना होगा।

(4) भविष्य में लाभ—विदेशी पूंजीपतियों की लगी हुई पूंजी पर लाभ, रायल्टी एवं मूलधन आदि जो बाहर भेजा जाता है इसमें अब लाभ होगा क्योंकि अब उसे 7 रु० 50 पैसे के बदले 1 डालर भेजना पड़ेगा जबकि पहले 4 रु० 75 पैसे में ही 1 डालर अपने देश भेज सकता था। इस प्रकार हमें 15-20 करोड़ रु० तक की विदेशी मुद्रा की बचत होगी।

(5) सोने की तस्करी में कमी—अवमूल्यन से पूर्व सोने का भाव यहां अधिक होने से तस्करी में वृद्धि हो रही थी तथा विदेशी मुद्रा को तस्कर व्यापारी बचा लेते थे। परंतु अवमूल्यन से भाव का अंतर कम हो जाएगा और चोरी से

1. Based on the statement made by Dr. V. K. R. V. Rao, former member Planning Commission and Chairman of Institute of Foreign Trade.

सोना लाने में मुनाफा घट जाएगा, इससे तस्करी में कमी होगी। रुपए के अवमूल्यन से तस्कर व्यापार का लाभ कम हो जाएगा क्योंकि तस्कर व्यापारियों को भारत में अपना माल बेचने से जो राशि प्राप्त होगी वह अब विदेशी मुद्रा में कम होगी।

(6) पर्यटन से आय में वृद्धि—अब भारत में आने वाले मुसाफिरों की संख्या बढ़ जाएगी इससे विदेशी मुद्रा का भंडार बढ़ेगा तथा आय में वृद्धि होगी। दूसरी ओर भारत से विदेश जाने वाले व्यक्तियों की संख्या पहले से बहुत कम हो जाएगी।

(7) मूल्यों पर प्रभाव—अवमूल्यन से विलासिता की वस्तुओं जैसे मोटरें, रेफ्रीजरेटर तथा उपभोक्ता वस्तुएं जैसे अनाज, तेल आदि जो विदेशों से आती हैं, उनकी कीमतों में वृद्धि होगी तथा देश में वस्तुओं की कीमतें भी बढ़ जाएंगी। अवमूल्यन की घोषणा के तुरंत बाद ही कलकत्ता, बंबई जैसे बड़े शहरों से उपभोक्ता की वस्तुएं एक बाजार से अचानक गायब हो गईं।

(8) विदेशी सहायता—विदेशी सहायता जो प्राप्त हो चुकी है उसके भुगतान पर 57.4 प्रतिशत की वृद्धि हो जाएगी। विदेशी सहायता 2600 करोड़ रु० से बढ़कर अब 4000 करोड़ रु० हो जाएगी। परंतु चतुर्थ योजना के अंतर्गत जो विदेशी सहायता प्राप्त होगी, उस पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ेगा, क्योंकि उसका मूल्य रुपयों में नई दर पर ही होगा। चतुर्थ योजना में 4340 करोड़ रुपए विदेशी सहायता की आवश्यकता होगी।

(9) पंचवर्षीय योजनाओं पर प्रभाव—यदि अवमूल्यन से महंगाई बढ़ी तो योजनाओं के लिए अधिक धनराशि जुटानी होगी और इसके लिए नए-नए कर लगाने की आवश्यकता होगी जिससे जीवन-स्तर पर बुरा प्रभाव पड़ेगा।

(10) देनदारी में वृद्धि—अवमूल्यन से कर्ज व सूद के रूप में भारी रकम लगानी पड़ेगी। अतः इसमें कोई शंका नहीं कि अगले आने वाले वर्षों में अवमूल्यन से हमारी अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। देनदारी का पहले की अपेक्षा अधिक भुगतान करना होगा।

(11) उत्पादन बढ़ाने में बाधा—तीन योजनाओं के दौरान भारत में छोटे, मझले व बड़े अनेक कारखाने स्थापित हो चुके हैं। इन कारखानों को पूर्ण क्षमतानुसार उत्पादन करने के लिए आवश्यक मात्रा में कच्चा माल, पुर्जे व उपकरण आदि का प्राप्त होना आवश्यक है। अतः इन कारखानों को पूर्णरूपेण चालू रखने के लिए पहले के मुकाबले 200-250 करोड़ रुपए का अतिरिक्त आयात करना होगा जिसमें अधिक भुगतान देना होगा। इस कारण अवमूल्यन से औद्योगिक उत्पादन बढ़ाने में बाधा उपस्थित हो सकती है।

(12) देश पर विदेशी उद्योगों का प्रभुत्व बढ़ेगा—अवमूल्यन से देश में भारतीय कंपनियों में विदेशी पूंजी 57.5 प्रतिशत से बढ़ जाएगी इससे हमारे राजनैतिक जीवन पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। अवमूल्यन से भारतीय बाजारों में अमेरिकन पूंजी की बहुतायत हो जाएगी।

(13) बजट को लाभ—अवमूल्यन से निर्यात शुल्कों से काफी आय होगी और विदेशी सहायता के रुपए का मूल्य बढ़ जाएगा। इस प्रकार कुल मिलाकर बजट पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा। इस वृद्धि के 3 स्रोत बताए गए—

(i) सरकार का व्यय निर्यात सम्वर्द्धन योजनाओं पर हो रहा था, जो बच जाएगा क्योंकि अवमूल्यन के पश्चात् निर्यात संवर्द्धन योजना समाप्त कर दी गयी है।

(ii) 12 वस्तुओं के निर्यात पर कर लगाए गए उनसे 140 करोड़ रुपए की अतिरिक्त आय का अनुमान लगाया गया।

(iii) सरकार को विदेशी मुद्रा में जो सहायता प्राप्त होगी, रुपयों में उसका मूल्य अधिक होगा।

(14) कच्चा माल व पुर्जों के आयात में वृद्धि—योजनाओं में जो कारखाने लगाये गये, उनमें से अधिकांश विदेशों से आने वाले कच्चे माल एवं कल-पुर्जों की कमी के कारण पूरी क्षमता से उत्पादन नहीं कर पा रहे हैं। पैदावार को बढ़ाकर ही देश में दामों में स्थिरता लाई जा सकती है। अतः अवमूल्यन के पश्चात् कच्चा माल एवं पुर्जे के आयात का तरीका काफी सरल कर दिया गया है। इसके साथ ही ऐसा प्रबन्ध किया जायेगा कि मिट्टी का तेल, नारियल की गिरी एवं कपास का आयात बढ़ाया जा सके।

(15) खाद प्रोग्राम में कठिनाई—अवमूल्यन से खाद प्रोग्राम में कठिनाइयाँ उपस्थित होंगी—ऐसा अनुमान लगाया गया कि 6 नये खाद कारखानों में, जो कि सरकारी क्षेत्र में खुलेंगे, अब 58 करोड़ रुपए की अधिक राशि व्यय होगी। इन कारखानों में 100 करोड़ रु० के स्थान पर अब 158 करोड़ रुपए व्यय होंगे। इस बढ़ोतरी से सस्ते खाद उत्पादन की आशा नहीं रही। सस्ते खाद का प्रबंध करने हेतु अब 50 करोड़ रु० की आर्थिक सहायता सरकार देगी। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में 2.4 मिलियन टन नाइट्रोजन, 1 मिलियन टन फॉस्फेट का लक्ष्य रखा गया है जबकि खाद उद्योग की वर्तमान उत्पादन क्षमता केवल क्रमशः 2.4 लाख टन व 1.2 लाख टन है। वर्तमान समय में 9 खाद कारखाने उत्पादन कार्य में संलग्न हैं, 5 कारखाने निर्माण अवस्था में हैं, 4 अन्य कारखानों का निर्माण प्रारंभ हो चुका है। इसके अतिरिक्त 4 नये कारखाने निजी क्षेत्र में खुलेंगे। इस प्रकार समस्त कारखानों की उत्पादन क्षमता 1.6 मि० टन ही होगी जब कि उपयोग 2.4 मि० टन सन् 1970-71 तक हो जाने की संभावना है। विदेशी विनिमय की कठिनाई से तथा अवमूल्यन हो जाने से नये कारखानों की स्थापना करने में अनेकों कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है।

दवाइयों की कीमतों में 15-20% प्रतिशत से वृद्धि—अवमूल्यन से दवाइयों की कीमतों में 15-20% से वृद्धि हो जाने की संभावना है। अवमूल्यन से कच्ची सामग्री, अन्य खर्च, श्रम व्यय तथा पैकिंग सामग्री की लागत में वृद्धि हो जाने का अनुमान है। इस उद्योग का आयात बिल जो 6 से 9 करोड़ तक के बीच रहता था अब 57% से बढ़ जायेगा। इससे दवाइयों के मूल्यों 15-20 प्रतिशत की वृद्धि हो जावेगी। आयातक आयात किए गए माल के वास्तविक मूल्य से अधिक मूल्य का बीजक बनवाकर अंतर की राशि को आयातक के खाते में विदेशों में जमा कर देते थे। अवमूल्यन से इस लाभ की सीमा में कमी हो जाएगी।

(17) संरक्षकों को ऋण—अवमूल्यन से उन संरक्षकों को काफी हानि उठानी पड़ेगी जिनके वार्ड (ward) विदेशों में अध्ययन कर रहे हैं। अतः पुरानी व नई दरों से उत्पन्न हुई दूरी को कम करने के लिए सरकार ने ऋण की व्यवस्था की है जिस पर 2 प्रतिशत ब्याज लिया जावेगा तथा जिसे 5 वर्ष की अवधि में लौटाया जा सकेगा। इस निर्णय से 1966-67 वर्ष के बजट में 165 करोड़ रुपए की हानि हुई। इस हानि को पूरा करने हेतु 140 करोड़ रुपए की राशि अतिरिक्त निर्यात-कर के रूप में वसूल की जावेगी तथा 25 करोड़ रु० कर-साख योजना की समाप्ति से प्राप्त हो जाने की संभावना है।

(18) पाकिस्तान से व्यापार में कठिनाई—पाकिस्तान ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नहीं किया इससे पाकिस्तान से आयात महंगे पड़ेंगे। ऐसी संभावना है कि अवमूल्यन से पूर्वी पाकिस्तान से जूट की तस्करी में वृद्धि होगी। यह जूट कलकत्ता की मिलों को भेजा जा सकता है।

(19) भारत की साख गिरी—अवमूल्यन से मुद्रा का मूल्य गिरा, साथ ही भारत की प्रतिष्ठा भी कम हो गई। देश में इतना उत्पादन भी नहीं होता कि निर्यात पर्याप्त मात्रा में बढ़ाये जा सकें। श्री उ० न० ढेबर ने भी अवमूल्यन का विरोध करते हुए कहा कि इससे देश की अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ा।

(20) वस्त्र निर्यात महंगा—वस्त्र निर्यात से विदेशी मुद्रा का 10 प्रतिशत हिस्सा प्राप्त किया जाता है। परन्तु इसके विपरीत इसकी आयात राशि भी बहुत अधिक है। पिछले 5 वर्षों में जहाँ वस्त्र के निर्यात से 344 करोड़ रु० की आय हुई वहाँ 538 करोड़ रु० का सामान विदेशों से मंगवाया भी गया। इस प्रकार इस व्यापार में 1964 तक 194 करोड़ रु० का घाटा ही रहा। अब अवमूल्यन होने के बाद भी वस्त्र निर्यात से लाभ नहीं होगा जब तक कि आयात पर प्रतिबंध नहीं लगाये जायेंगे।

(21) अमेरिकी अनाज का आयात विनाशक—भारत को अब अमेरिका से मंगाये खाद्यान्न का मूल्य डालरों में चुकाना होगा। आने वाले वर्षों में भारत को खाद्यान्नों के आयात पर 545 करोड़ रु० खर्च करने होंगे। खाद्यान्नों की मात्रा 1 करोड़ टन होगी और इसे मंगाने में 90 करोड़ रुपया जहाजी भाड़ा देना होगा। यह समस्त राशि डालर में ही चुकानी होगी। मुद्रा के अवमूल्यन से खाद्यान्न का आयात अब अधिक चिन्तनीय हो गया है।

(22) विज्ञापन मूल्य में वृद्धि—अवमूल्यन से विज्ञापन मूल्यों में 10 प्रतिशत से वृद्धि हो गई है। इसका उद्योगों पर भार पड़ेगा और सरकार के आयकर में कमी हो जावेगी।

महंगाई में वृद्धि—अवमूल्यन के पश्चात् महंगाई में निरंतर वृद्धि हो रही है। अनेक पदार्थों का मूल्य 20-

25 प्रतिशत मे बढ गया। दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं की कीमत अपनी सीमा से बहुत अधिक बढ गई। उपभोक्ताओं मे घबराहट फैल गई। कीमतो के बढ़ने का मूल कारण है—रुपये की माग की तुलना में पूर्ति की अधिकता, सरकार की बडी-बडी योजनायें, करों की अधिकता, घाटे की अर्थव्यवस्था आदि।

(24) जनसंख्या में वृद्धि—अवमूल्यन से जनसंख्या वृद्धि की तीव्र गति मे कोई भी रुकावट पैदा नही हो सकती। इसको रोकने हेतु अन्य उपाय काम में लाने होंगे।

(25) मुद्रा स्फीति की आशंका—अवमूल्यन से मुद्रा स्फीति का डर बढ गया, जो कि सतुलित अर्थव्यवस्था के लिये घातक सिद्ध होगा। यदि देश मे उत्पादन की कमी एवं उत्पादन लागत की अधिकता बनी रही, तो अवमूल्यन भारतीय अर्थव्यवस्था के लिये एक अभिशाप बन जायेगा।

(26) शिक्षा क्षेत्र में कठिनाइयां—अवमूल्यन से सभी विदेशी पुस्तकों के मूल्य में वृद्धि हो गयी जिससे अध्यापन की कठिनाइयां बढ गयी। विदेशी पुस्तक 10 डालर की जो पहले 48 रुपए में मिलती थी, अब 75 रुपए में मिलेगी।

1975 मे रुपए की विनिमय दर पौंड से अलग किए जाने से उत्पन्न अनिश्चितताएं भी दूर कर दी जानी हैं जिससे विनिमय दर मे स्थिरता लायी जा सके। पौंड की कीमत तेजी से घट रही थी जिससे निर्यात तो लाभदायक थे, परन्तु आयात महंगा था। यह स्थिति अनिश्चित काल तक नही चलने दी जा सकती थी। देश मे मुद्रास्फीति नियंत्रण होने से रुपए की क्रय शक्ति बढ रही है। आंतरिक विकास को गति देकर रुपए को मजबूत बनाया जाना चाहिए। इसके लिए आर्थिक प्रगति एवं उत्पादन की क्षमता का विस्तार जरूरी है। इससे निर्यात हेतु अधिक माल उपलब्ध होकर रुपए को ताकत मिलेगी। वर्तमान समय मे कोई भी राष्ट्र एक दूसरे से पृथक रहकर कार्य नहीं कर सकता, अतः मुद्रा विनिमय दर मे स्थिरता लाना आवश्यक है। विश्व मे विकासशील देशो की शक्ति को सब स्वीकार करने लगे हैं। भारत भी अपनी जरूरतों के प्रति जागरुक है।[1]

अवमूल्यन-आलोचनात्मक मूल्यांकन

अवमूल्यन घोषित करने का उद्देश्य भारतीय अर्थव्यस्था मे सुधार करना था। सरकार अब भी मूल्य वृद्धि को रोकने के प्रयास कर रही है इससे स्पष्ट है कि अवमूल्यन ने मुद्रा प्रसार को प्रोत्साहित किया और इसका प्रभाव भारतीय अर्थव्यवस्था के विभिन्न पहलुओ पर देखा जा सकता है।

यह सत्य है कि अवमूल्यन निर्यात को बढ़ाने के उद्देश्य से किया गया था, जिससे विदेशों मे भारतीय माल 36.5% से सस्ता हो जाय, तथा आयात को घटाने के लिए किया गया था क्योंकि आयात की कीमत मे 57.5% से वृद्धि हो जायेगी। उदार आयात नीति के अंतर्गत उद्योगों को आवश्यक कच्चा माल एवं अन्य सामग्री प्राप्त हो जायेगी परंतु उसका लाभ उस समय तक प्राप्त नहीं हो सकता जब तक कि विद्यमान वर्तमान क्षमता का पूर्णरूप से उपयोग नही किया जाये। भारत से निर्यात की जाने वाली वस्तुओ मे लगभग 80% भाग परंपरागत वस्तुओं का है जिनका निर्यात बेलोच है। इनमे जूट, चाय, कपडा, तेल व खली, मसाले, चमड़ा व चमड़े का सामान, फल व सब्जियां आदि प्रमुख हैं। शेष निर्यात में 20% भाग इंजीनियरिंग सामान का है जिसके निर्यात को बढाने के भरसक प्रयास करने चाहिएं।

अवमूल्यन के पश्चात् के कुछ वर्षों की व्यापार सतुलन की स्थिति निम्नलिखित रही—

भारत का व्यापार संतुलन

(करोड रुपये में)

	आयात	निर्यात	सतुलन
1965-66	1,499	806	613
1966-67	1,932	1,094	838
1967-68	19,87	1,198	789
1968-69	1,911	1,357	654
1975-76	4,212	3,240	972

1. नवभारत टाइम्स, 27 सितम्बर, 1975।

अवमूल्यन के पश्चात् निर्यात कम होने के प्रमुख कारण थे—(1) सूखे व मानसून के असफल होने से घरेलू उत्पादन में भारी कमी एवं (2) औद्योगिक उत्पादन में कमी होना। कृषि क्षेत्र की कठिनाइयों को सरलता से नहीं किया जा सकता परंतु औद्योगिक उत्पादन में उदार आयात नीति तथा विदेशी सहायता के द्वारा वृद्धि की जा ती। इसके अतिरिक्त अवमूल्यन के बाद कुछ कठिनाइयां आईं जिन्हें दूर नहीं किया जा सके। ये कठिनाइयां हैं[1]—

(1) अवमूल्यन के साथ ही निर्यात-सहायता योजनाएं, जो उस समय चालू थीं, समाप्त कर दी गईं।

(2) निर्यात अनुबंधों की स्थिति, जो अवमूल्यन से पूर्व किए गए थे, अनिश्चित रही विशेषतया रुपया ान क्षेत्रों में।

(3) यह धारणा कि अवमूल्यन से भारतीय निर्यात को अचानक लाभ होगा, विदेशी खरीदारों ने मूल्य कम े पर अत्यधिक जोर डाला।

सुझाव—अवमूल्यन से भारतीय अर्थव्यवस्था पर बुरे प्रभाव न पड़कर अच्छे प्रभाव ही पड़ें, इस संबंध में नलिखित सुझाव दिए जा सकते हैं—

(1) निजी व्यापारियों द्वारा मूल्यों पर कठोर नियंत्रण लगाया जाना चाहिए।

(2) मूल्य स्थायित्व को अधिकतम प्राथमिकता देनी चाहिए, तथा मुद्रा प्रसार की दर को 6% तक सीमित देना चाहिए।

(3) उत्पादन बढ़ाने के प्रयास करने होंगे तथा उद्योगों को कठोर लाइसेंसिंग पद्धति से मुक्त रखना होगा।

(4) हीनार्थ प्रबंधन पर कठोर नियंत्रण लगाना होगा।

(5) सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों को अच्छा लाभ प्राप्त करने के प्रयास करने चाहिए।

(6) आय पर लगाये गये अतिरिक्त 10% सरचार्ज को समाप्त करना चाहिए तथा अतिरिक्त मूल्य ह्रास प्रबंध करना चाहिए।

(7) समस्त अनावश्यक प्रतिबंधों व नियंत्रणों को जिनसे लाल फीताशाही (Red Tapism) को प्रोत्साहन मता है, तुरंत हटा देना चाहिए, जिससे प्रगति शीघ्रता से हो सके।

(8) मजदूरी का निर्धारण उत्पादकता के आधार पर होना चाहिए।

(9) सार्वजनिक क्षेत्र के केवल उन्हीं उद्योगों को प्राथमिकता देनी चाहिए जो बेहतर व अच्छे नतीजे Results) दें।

(10) आयात व उत्पादन करों को कम करके, विशेषतया आयात की गई मशीनरी व कच्ची सामग्री पर, ्योगों की लागत को कम करने के प्रयास करने चाहिए।

(11) निर्यात प्रोत्साहन व आयात प्रतिस्थापन में भाग लेने वाले समस्त उद्योगों को पर्याप्त व उचित ्हायता देनी चाहिए जिसके प्रभाव में वे उद्योग यूरोप व अमेरिका के उद्योगों से प्रतिस्पर्धा करने में असमर्थ हों।

(12) देश में कई उद्योगों को जो निर्यात बढ़ाने में समर्थ हैं, अवमूल्यन के उपरान्त भी सहायता व सुविधा ा आवश्यक है। ऐसा करने पर ही देश आत्मनिर्भरता प्राप्त कर सकेगा तथा भुगतान संतुलन की स्थिति को पक्ष में ा सकेगा।

(13) इसके अतिरिक्त श्री बी० एम० मोदी, भारतीय चैम्बर्स ऑफ कामर्स के उपाध्यक्ष ने अवमूल्यन के ाभ प्राप्त करने के लिए निम्नलिखित उपायों को अपनाने पर जोर दिया—

(i) कठोर उपायों द्वारा देश के व्यापार व उद्योग को अधिक मात्रा में स्वतंत्रता प्रदान की जानी चाहिए।

(ii) सरकार को नियमन व नियंत्रण के क्षेत्र को सीमित कर देना चाहिए।

(iii) संयुक्त स्टॉक कंपनियों को बंजर भूमि पर खेती करने की अनुमति देनी चाहिए।

(iv) भारी निर्यात करों में छूट देनी चाहिए।

1. Based on the statement made by Mr. Dinesh Singh, former Commerce Minister, ı the Lok Sabha.

है। विदेशी मुद्रा विनिमय के लिए अब भारतीय रुपए का संबंध उन देशों की मुद्राओं से रहेगा, जिनसे भारत का ज्यादा व्यापार चलता है। रुपए का संबंध डालर, पौण्ड, स्टर्लिंग, मार्कयेन आदि से जोड़ा जाएगा। तेल निर्यात करने वाले पश्चिमी एशिया के देशों में से एक की मुद्रा भी इस समूह में शामिल कर ली जाएगी। नवीन व्यवस्था में भारतीय रुपए का विदेशी मुद्रा मूल्यांकन प्रतिदिन कुछ चुने हुए देशों की विदेशी मुद्रा से निर्धारित किया जाएगा, जिनसे हमारा व्यापार अधिक चलता है, तो भी रिजर्व बैंक स्टर्लिंग, पौण्ड का प्रयोग बीच की मुद्रा के रूप में करता रहेगा। 25 सितंबर, 1975 से पौण्ड की खरीद व बिक्री के लिए निर्धारित वर्तमान मूल्य 18 60 रुपए प्रति पौण्ड के स्थान 18 3048 रु० प्रति पौण्ड निर्धारित किया गया है। भविष्य में इस विनिमय दर का निर्धारण उन देशों की विदेशी मुद्राओं की तुलना में निर्धारित किया जाएगा, जिन्हें भारत अपनाएगा। बहुत-सी विदेशी मुद्राओं की दर प्रायः बदलते रहने के कारण अन्तरिम रूप से नई व्यवस्था अपनायी गयी है। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के गवर्नरों के बोर्ड की अन्तरिम समिति की बैठक में विदेशी मुद्रा विनिमय की टिकाऊ प्रणाली अपनाने पर विचार किया जाता है, आशा है, शीघ्र निर्णय होकर अनिश्चय की वर्तमान स्थिति समाप्त हो जाएगी।[1]

वर्तमान भारतीय मुद्रा प्रणाली की प्रमुख विशेषताएं निम्न हैं—

(i) **पत्र-चलन**—रिजर्व बैंक द्वारा पत्र-चलन में 2 रुपये, 5 रुपये, 10 रुपये व 100 रुपये के नोट जारी किए जाते हैं। बाद में सरकार की गारंटी पर 1 रुपए के नोट निर्गमित किए गए।

(ii) **विनिमय दर**—स्टर्लिंग के रूप में रुपये का मूल्य 1 शि० 6 पैंस निर्धारित किया गया है। स्वर्ण में रुपये का मूल्य 18662 ग्रेन स्वर्ण या 23 94 सेंट अमरीकी डालर निश्चित किया।

(iii) **मौद्रिक इकाई**—भारत में मौद्रिक इकाई रुपया है जो 100 नये पैसों में विभाजित है। दशमलव सिक्के 1, 2, 5, 10, 20, 25, 50 व 100 पैसे के हैं।

(iv) **विनिमय नियन्त्रण**—विदेशी विनिमय को सुरक्षित रखने एवं पूंजी का निर्यात रोकने की दृष्टि से भारत ने जटिल विनिमय नियन्त्रण प्रणाली को अपनाया है। इस प्रणाली की प्रमुख विशेषताएं निम्न हैं —

(अ) **नियन्त्रित दर**—व्यापारिक संस्थाओं को जो विदेशी मुद्रा प्राप्त हो, उसे नियन्त्रित दरों पर देना पड़ता है।

(ब) **अधिकृत एजेन्सी**—आवश्यक विदेशी मुद्रा देश की अधिकृत एजेंसी वाली संस्थाओं से सीमित मात्रा में प्राप्त की जा सकती है।

(स) **रिजर्व बैंक द्वारा**—समस्त विदेशी विनिमय व्यवहार रिजर्व बैंक द्वारा ही संपादित किए जा सकते हैं।

(द) **नियन्त्रण**—आयात एवं निर्यात पर आवश्यक नियंत्रण लगाये गये हैं जिससे विदेशी विनिमय संबंधी मांग एवं पूर्ति का नियमन किया जा सके।

(य) **विदेशी प्रतिभूतियों पर प्रतिबंध**—विदेशी प्रतिभूतियों के क्रय एवं विक्रय पर कठोर नियंत्रण लगाये जाते हैं।

(र) **बहुमुखी भुगतान प्रणाली**—मुद्रा कोष द्वारा बहुमुखी भुगतान प्रणाली के साथ-साथ विनिमय नियंत्रण को अपनाने के प्रयास भी किए जाते हैं।

रुपये को पौंड के साथ इस कारण संबद्ध किया गया था कि दिसम्बर 1971 से विनिमय दरों में स्थायित्व बना रहे। अगस्त 1971 में डालर को स्वर्ण में परिवर्तित करना रोकने से स्थिर विनिमय दर का अन्त हो गया। रुपये व पौंड की विनिमय दर 18 9677 रुपये प्रति पौण्ड थी। यदि इसे केन्द्रीय दर माना जाए तो 2.25% के मार्जिन का समायोजन संभव हो सकता है। रिजर्व बैंक ने 18 80 रुपये को ही पौण्ड से विनिमय दर माना और कुछ माह बाद यह दर 18 60 रुपये प्रति पौण्ड कर दी गयी थी।[2]

1 नव भारत टाइम्स 26 सितंबर, 1975
2. The Financial express Sep 25, 1975

भारत में बैंकिंग का विकास एवं बैंकिंग विधान

(Development of Banking in India and Banking legislation)

प्रारंभिक

भारत में महाजन द्वारा लेन-देन के कार्यों को संपन्न करने से कहा जाता है कि वैदिक काल से ही भारत में बैंकिंग संबंधी कार्य संपन्न किए जाते थे। मुस्लिम युग में इनके कार्यों में अत्यन्त वृद्धि हुई जिसमें विदेशियों की मुद्रा परिवर्तन का कार्य भी सम्मिलित था। परंतु अंग्रेजों के आने के उपरांत इनका पतन प्रारंभ हो गया। बैंकिंग के विकास को निम्न भागों में रखा जा सकता है—

(1) 1806 तक का काल

बैंकिंग विकास संबंधी इस काल की प्रमुख विशेषताएं निम्न हैं—

(i) **महत्त्व कम होना**—महाजन एवं साहूकार अंग्रेजी भाषा व विदेशी प्रणाली से परिचित न होने से व्यापार में हाथ नहीं बंटा सके जिससे उनका महत्त्व कम हो गया।

(ii) **एजेंसी-गृह की स्थापना**—बंबई एवं कलकत्ता में अनेक एजेंसी-गृहों की स्थापना हुई, जिनसे व्यावहारिक कार्यों में सुविधा मिली।

(iii) **एजेंसी-गृह के कार्य**—एजेंसी-गृह के कार्यों में वित्तीय सहायता, जमा पर रुपया प्राप्त होना, मुद्रा का निर्गमन करना आदि सम्मिलित थे।

(iv) **व्यापारिक अधिकारों का अंत**—1813 में ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापारिक अधिकारों का अंत हो गया जिससे एजेंसी-गृह का भी शनैः शनैः पतन हो गया।

1806 से 1860 तक का काल

इस काल की प्रमुख विशेषताएं निम्न थीं—

(i) **प्रेसीडेंसी बैंक की स्थापना**—इस समय में 3 प्रेसीडेंसी बैंकों की स्थापना हुई, जो कि कलकत्ता, बंबई व मद्रास में थे।

(ii) **हिस्सा पूंजी**—सरकार इन तीनों बैंकों में अपनी हिस्सा पूंजी रखती थी। तीनों ही बैंक सरकार के कार्यों को किया करते थे।

(iii) **कार्य में असफलता**—इन बैंकों के कार्यों में एकीकरण न होने से वे सफलतापूर्वक कार्य न कर सके।

(iv) **नोट निर्गमन का अधिकार**—1862 में पूर्व इन बैंकों के नोट निर्गमन के अधिकार को सरकार ने अपने हाथों में ले लिया।

(v) **कार्यों पर प्रतिबंध**—जनता के हितार्थ इन बैंकों के कार्यों पर कुछ प्रतिबंध लगाए गये थे जैसे विदेशी

(vii) **सट्टे व्यवसाय**—बैंकों ने अधिक लाभ अर्जित करने के लालच में अपना धन सट्टे व्यवसाय में लगाया जिससे वे शीघ्र दिवालिया हो गये।

(viii) **आपसी प्रतियोगिता**—बैंकों के अधिकाधिक व्यापार करने के उद्देश्य से नकद कोषों की मात्रा में अत्यधिक कमी हो गई तथा जनता द्वारा बैंकों पर दौड़ करने पर बैंक आर्थिक संकट में फंस गये तथा असफल हो गये।

उपर्युक्त कारणों से देश में अनेक व्यापारिक बैंक असफल हो गये तथा बैंकों की स्थिति काफी बिगड़ गई।

(5) 1939 से 1946 तक का काल

युद्धोत्तर काल में देश में पुराने बैंकों की उन्नति हुई तथा अनेक नवीन बैंक स्थापित हो गये। बैंकिंग व्यवस्था संगठित रूप से कार्य कर रही थी तथा बैंकों का काफी विकास हुआ। इस काल की प्रमुख विशेषताएं निम्न थीं—

(i) **नवीन बैंकों की स्थापना**—इस काल में बैंकों का तेजी से विकास हुआ तथा बैंकों ने लाभ अर्जित किये जिससे नवीन बैंकों की स्थापना हुई।

(ii) **विनियोग नीति में परिवर्तन**—इस अवधि में बैंकों ने नकद कोष में वृद्धि करके अपनी विनियोग नीति में परिवर्तन किये।

(iii) **जमा राशि में वृद्धि**—जनता का विश्वास शनैः शनैः बैंकों में बढ़ने से जमा राशि में पर्याप्त मात्रा में वृद्धि हो गई।

(iv) **असंतुलित प्रसार**—बैंकिंग सुविधाओं में अत्यधिक वृद्धि होने से नवीन शाखाएं शहरी क्षेत्रों में स्थापित की गई तथा ग्रामीण क्षेत्रों की ओर ध्यान नहीं दिया गया, फलस्वरूप देश में बैंकों का असंतुलित ढंग से प्रसार हुआ।

दोष—इस काल में बैंकिंग विकास के प्रमुख दोष निम्नलिखित थे—

(i) **लाभांश वितरण**—बैंकों ने अपने बढ़े हुए लाभों को सुरक्षित कोष में रखने के स्थान पर लाभांश के रूप में वितरित कर दिया गया, जिससे लाभों का उचित उपयोग सम्भव न हो सका।

(ii) **दोषपूर्ण प्रबंध**—बैंकों की शाखाओं में तीव्रता से वृद्धि होने के कारण प्रबंध में अनेक दोष उत्पन्न हो गये जिससे बैंकों के ठप्प होने का क्रम बराबर बना रहा।

(iii) **बैंकिंग सेवाओं का असमान वितरण**—बैंकों की शाखाएं ग्रामीण क्षेत्र में स्थापित न होने से बैंकों का असमान विकास हुआ।

(iv) **व्यवसाय का परिवर्तन**—बैंकों के व्यवसाय का नियंत्रण ऐसे व्यक्तियों को हस्तांतरित हो गया जो अपने व्यवसाय में अधिक दिलचस्पी रखते थे।

(6) 1947 से बाद का काल

इस काल की प्रमुख विशेषताएं निम्न थीं—

(i) **विभाजन के प्रभाव**—1947 में भारत के विभाजन के साथ-साथ साम्प्रदायिक झगड़े बढ़े जिससे बैंकिंग व्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ा। इससे कुछ बैंक असफल हो गये व अन्य आर्थिक संकट में फंस गये। कुछ बैंकों के प्रधान कार्यालय जो पाकिस्तान में थे, उन्हें वहां से हटाकर भारत में स्थापित करना पड़ा।

(ii) **उद्योग व व्यापार का विकास**—देश में उद्योग एवं व्यापार का तीव्र गति से विकास होने से व्यापारियों ने अपनी बचत के उपयोग के साथ-साथ बैंकों से अग्रिम राशि ऋण के रूप में प्राप्त की।

(iii) **वित्तीय स्थिति में सुधार**—इस काल में बैंकों की वित्तीय स्थिति में काफी सुधार हुआ।

(iv) **छोटे-छोटे बैंकों का एकीकरण**—देश में अनेक छोटे-छोटे बैंकों के एकीकरण की प्रवृत्ति पाई गई जिससे बैंकों की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हो गई।

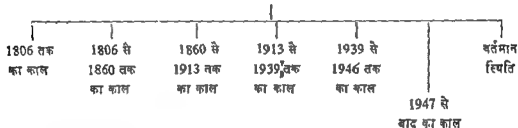
(v) **बैंकिंग कंपनी अधिनियम 1949**—1949 में बैंकिंग कंपनी अधिनियम पारित किया गया, जिससे बैंकिंग क्षमता में पर्याप्त मात्रा में वृद्धि हुई।

(vi) ऋण लेने की सुविधा—विभाजन के दुष्परिणामों से बचने के उद्देश्य से रिजर्व बैंक ने ऋण लेने की सुविधाओं में वृद्धि की जिससे अनेक बैंक असफल होने से बचे तथा बैंकों ने अपनी आर्थिक स्थिति को संभाल कर प्रगति करने के सफल प्रयास किये।

(7) वर्तमान स्थिति

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत में बैंकों ने तीव्र प्रगति की तथा अनेक शहरी एवं नागरिक क्षेत्रों में बैंकों की शाखाएं खोली गईं। इस समय तक अनेक छोटे-छोटे बैंकों को मिलकर बड़े बैंक में परिवर्तित कर दिया गया तथा बैंकिंग व्यवस्था काफी सुदृढ़ हो गई।

भारत में बैंकिंग के विकास को निम्न चार्ट द्वारा दिखाया जा सकता है—



बैंकिंग व्यवस्था के दोष

भारत की वर्तमान बैंकिंग व्यवस्था के प्रमुख दोष निम्न थे—

(i) बैंकिंग का असंतुलित विकास—गत 23 वर्षों में बैंकों की नवीन शाखाएं व्यापारिक केंद्रों पर खोली गई हैं तथा कस्बों में इनका सर्वथा अभाव पाया जाता है, जिससे बैंकिंग का संतुलित विकास सम्भव न हो सका।

(ii) विशिष्ट संस्थाओं का अभाव—भारत में विशिष्ट संस्थाओं के अभाव के कारण कृषि आदि कार्यों के लिए बैंकों से पर्याप्त मात्रा में धन उपलब्ध न हो सके। इसी प्रकार विदेशी व्यापार को वित्तीय सहायता देने वाले विदेशी विनिमय बैंकों का अभाव पाया जाता है।

(iii) बिल बाजार के विकास का अभाव—भारत में बिल बाजार के विकास के अभाव के कारण व्यापारियों को सस्ती साख की सुविधाएं प्राप्त नहीं हो पाती।

(iv) बैंकिंग कार्य प्रणाली में दोष—भारत में बैंकिंग प्रणाली के अन्य प्रमुख दोष निम्न हैं—

(अ) पूंजी की कमी—बैंकों के पास पूंजी के अभाव के कारण वे अपने दायित्वों को ठीक ढंग से निभाने में असमर्थ रहे।

(ब) अपर्याप्त जमानत—बैंकों ने अपर्याप्त जमानत पर भी ऋण प्रदान किए हैं।

(स) अनुचित संबंध—व्यापारियों द्वारा बैंकों से अनुचित संबंध स्थापित करने के कारण बैंकों के कार्यों में असुविधा का सामना करना पड़ा।

(द) झूठे समंक—बैंकों की वास्तविक स्थिति को छुपाने की दृष्टि से झूठे समंक प्रस्तुत किए गए।

(य) शाखाएं खोलना—बैंकों ने अपनी शाखाएं ऐसे स्थान पर खोलीं, जहां पहले से ही बैंक विद्यमान थे।

(र) प्रबंध में क्षमता का अभाव—प्रबंधकों की अयोग्यता के कारण प्रबंध में क्षमता का अभाव पाया गया।

(v) अप्रभावी साख नियंत्रण नीति—रिजर्व बैंक की साख नियंत्रण की अप्रभावी नीति के कारण बैंकों पर नियंत्रण का अभाव पाया गया।

(vi) एकीकरण का अभाव—आधुनिक बैंकों एवं स्वदेशी बैंकर में एकीकरण के अभाव के कारण साख व्यवस्था

का समुचित प्रसार संभव नहीं हो पाता।

(vii) अपर्याप्त कार्यशील पूंजी—भारत में बैंकों की कार्यशील पूंजी अपर्याप्त होने से वे अपने कार्यों को कुशलतापूर्वक संपन्न करने में असमर्थ रहते हैं।

(viii) असंतोषजनक सुविधाएं—जनसंख्या एवं आकार की दृष्टि से भारत में बैंकों का अभाव पाया जाता है जिससे बैंकिंग सुविधाओं का प्रसार नहीं हो पाता है।

सुझाव

बैंकिंग विकास के लिए निम्न सुझाव दिए जा सकते हैं—

(i) पर्याप्त सुविधाएं—अन्य राष्ट्रों की भांति भारत में भी बैंकिंग सुविधाओं में वृद्धि करने के उद्देश्य से बैंकों की संस्थाओं में वृद्धि होनी चाहिए।

(ii) अनार्थिक इकाइयों की समाप्ति—बैंकों की कार्यशील पूंजी में वृद्धि करके अनार्थिक इकाइयों को समाप्त करने के प्रयास किए जाने चाहिए। बैंकों की परिदत्त पूंजी एवं रक्षित कोष 5 लाख रुपए से कम नहीं होना चाहिए।

(iii) कार्य-विधि में सुधार—बैंकों को अपनी कार्य-विधि में सुधार करके बैंकिंग सिद्धांतों का पालन करना चाहिए।

(iv) बैंकों का एकीकरण—देश की छोटी-छोटी बैंकिंग इकाइयों का एकीकरण करके अनार्थिक इकाइयों को समाप्त कर देना चाहिए, जिससे आपसी प्रतियोगिता को समाप्त किया जा सके।

(v) जमा बीमा निगम—मध्यम वर्ग के जमाकर्त्ताओं के धन को सुरक्षित रखने के उद्देश्य से जमा बीमा निगम की स्थापना की जानी चाहिए।

(vi) कुशल प्रबंधक—बैंकों के कार्यों पर कड़ा नियंत्रण लगाने के लिए बैंकों में शिक्षा प्राप्त एवं कुशल प्रबंधकों को ही रखा जाना चाहिए।

(vii) ऋण एवं विनियोग नीति—जमा राशि का एक निश्चित भाग ही ऋण के रूप में दिया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त बैंकों को अपनी जमा राशि को सरकारी प्रतिभूतियों में ही जमा करना चाहिए जिससे जनता के विश्वास में वृद्धि हो सके तथा संपत्ति भी अधिक से अधिक तरल बन सके।

(viii) ग्रामीण क्षेत्रों में सुविधाएं—बैंकिंग सुविधाओं का विकास नगरीय क्षेत्रों के स्थान पर ग्रामीण क्षेत्रों में किया जाना चाहिए जिससे बैंकों का संतुलित ढंग से विकास किया जा सके। नवीन शाखाएं इस प्रकार खोली जानी चाहिए कि उनमें आपसी प्रतिस्पर्धा न हो। इसी उद्देश्य से स्टेट बैंक ने अपनी शाखाएं ग्रामीण क्षेत्र में स्थापित करके इस दोष को समाप्त करने के सतत प्रयास किये हैं। इससे बैंकों का संतुलित ढंग से विकास संभव होकर देश के आर्थिक विकास में सहायता प्राप्त होगी।

बैंकिंग का राष्ट्रीयकरण
(Nationalisation of Banking)

(iii) अन्य बैंकों की स्थापना व विकास—बैंकों के राष्ट्रीयकरण से व्यापारिक बैंकों के विकास के साथ-साथ अन्य कृषि, औद्योगिक एवं विदेशी विनिमय बैंको की स्थापना एवं विकास संभव हो सकेगा।

(iv) साख निर्माण—बैंको के राष्ट्रीयकरण द्वारा ही बैंको की साख-निर्माण शक्ति का राष्ट्र हित मे उपयोग किया जा सकेगा।

(v) सुविधाओं का विकास—राष्ट्रीयकरण से बैंकिंग सुविधाओ का विकास होगा तथा निम्न लाभ प्राप्त हो सकेंगे—

(अ) कुशलता एवं मितव्ययता—सरकारी प्रबंध वाले अधिक कुशलता एवं मितव्ययता से कार्य करके जनता का अधिकतम विश्वास प्राप्त कर सकेंगे।

(ब) बचत को प्रोत्साहन—देश में बचत को प्रोत्साहन करने एवं उसे बैंकों मे जमा करने की आदत का विकास करना होगा कि जो राष्ट्रीयकरण द्वारा ही संभव हो सकता है।

(स) सुदृढ़ स्थिति—राष्ट्रीयकरण से आपसी प्रतियोगिता समाप्त होकर बैंको की स्थिति सुदृढ़ हो सकेगी।

विपक्ष में तर्क—राष्ट्रीयकरण के विपक्ष मे निम्न तर्क दिए जा सकते है—

(i) योग्य प्रबंधकों का अभाव—भारत में योग्य प्रबंधको के अभाव के कारण यह उचित नही होगा कि बैंको का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय जो कि देश हित मे नहीं होगा।

(ii) कुशलता में कमी—सरकारी संस्थाओ मे लोच, मितव्ययता एवं कुशलता का अभाव पाये जाने से कार्य सचालन मे बाधाएं उपस्थित होगी जो आर्थिक विकास के लिए हानिप्रद होगा।

(iii) औद्योगिक विकास में बाधा—औद्योगिक विकास मे अनेक बाधाएं उपस्थित होना उद्योगो मे गोपनीयता की समाप्ति के कारण है जो राष्ट्रीयकरण करने से संभव होगा।

जमा-बीमा-निगम
(Deposit-Insurance-Corporation)

स्थापना—जून 1960 मे लक्ष्मी बैंक महाराष्ट्र एवं अगस्त 1960 मे प्लाई सेन्ट्रल बैंक के असफल होने पर जनता ने सरकार से अपने व्यक्तिगत हितो को सुरक्षित करने के उद्देश्य से जमा बीमा निगम की स्थापना का सुझाव दिया, फलस्वरूप 1 जनवरी, 1962 को सरकार ने पृथक् से जमा बीमा निगम की स्थापना की।

पूंजी—निगम की अधिकृत पूजी एक करोड़ रुपये है जो रिजर्व बैंक द्वारा दी गई है। यह निगम रिजर्व बैंक से 5 करोड़ रुपये तक ऋण भी ले सकता है।

प्रबंध व्यवस्था—रिजर्व बैंक का गवर्नर इस निगम का अध्यक्ष होता है तथा 5 सदस्यो का सचालक मडल प्रबंध के लिए रखा जाता है।

कार्य—प्रत्येक कार्य को बीमित बैंक के रूप मे पूजीकृत करना होगा तथा जमाकर्त्ता के बीमे की राशि 1500 रुपये निर्धारित की गई है। इस प्रकार प्रत्येक 5 मे से 4 जमाकर्त्ताओं को पूर्ण सुरक्षा प्राप्त होगी तथा कुल जमा का 24% भाग तक बीमा हो सकेगा। बीमा के व्यय को पूर्ण करने के उद्देश्य से 100 रुपये पर 15 पैसे की दर से प्रति-रिक्त प्रव्याजि लिया जा सकता है, परतु वर्तमान समय मे यह दर 5 पैसे सैंकडा है। बैंको के कार्यों के निरीक्षण के आधार पर इस योजना की सफलता निर्भर करती है। निगम रिजर्व बैंक से निवेदन करके किसी भी बैंक का निरीक्षण कर सकता है।

आलोचनाएं

इस निगम की प्रमुख आलोचनाएं निम्न हैं—

(i) वास्तविक आधार [illegible] अभाव—भारत मे आकडो के अभाव के कारण वास्तविक आधार निश्चित करना सभव नही है जिससे प्रव्याजि की दर तय करने मे कठिनाइयां उपस्थित होती हैं।

(ii) अपर्याप्त उपाय—बैंकों के असफल होने से हानि के बचने का जमा बीमा निगम ही पर्याप्त उपाय नहीं है जब तक कि बैंकों पर पहले से अधिक मात्रा में नियमन व नियंत्रण न लगाए जाएं। अतः यह एक अपर्याप्त उपाय माना जाता है।

(iii) अनावश्यक योजना—जनता की 90% से भी अधिक जमाएं प्रायः ऐसे बैंकों में हैं, जिनकी आर्थिक स्थिति काफी सुदृढ़ है, जिससे इस निगम की स्थापना करना अनावश्यक होगा।

(iv) प्रीमियम का अधिक भार—छोटे बैंकों पर अधिक मात्रा में भार पड़ता है क्योंकि बड़े बैंकों की तुलना में उन्हें अधिक मात्रा में प्रीमियम की राशि का भुगतान करना होता है।

बैंकिंग का भविष्य
(Future of Banking)

भारत में बैंकिंग का भविष्य काफी उज्ज्वल है, जबकि देश में बैंकिंग का समुचित ढंग से विकास संभव नहीं हो पाया है। देश के आर्थिक विकास के लिए नियोजन की नीति को अपनाया गया है जिसके लिए बैंकों की सुदृढ़ आधार पर स्थापना हो, इसके लिए 1949 में बैंकिंग कंपनी अधिनियम पारित किया गया। बैंकों के कार्य के लिए कर्मचारियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था भी की गई है तथा कुशल प्रबंध एवं संचालन की ओर ध्यान दिया जा रहा है। भविष्य में बैंकों के एकीकरण एवं राष्ट्रीयकरण की ओर ध्यान दिया जा रहा है।

भारत में बैंकिंग विधान
(Banking Legislation in India)

इतिहास—भारत में बैंकिंग विधान के इतिहास को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(1) भारतीय कंपनी अधिनियम 1913—1905 में बैंकिंग संकट के कारण बैंकिंग विधान की आवश्यकता का अनुभव किया गया, फलतः भारतीय कंपनी अधिनियम 1913 में संशोधन करके बैंकिंग व्यवसाय पर नियंत्रण लगाने के प्रयास किये गये।

कंपनी अधिनियम 1936—केंद्रीय बैंकिंग जांच समिति ने 1931 में पृथक् बैंकिंग विधान के निर्माण की सिफारिश की, परन्तु सरकार ने इसे स्वीकार न करते हुए कंपनी अधिनियम 1936 में संशोधन कर दिए।

(3) कंपनी अधिनियम में संशोधन—रिजर्व बैंक 1939 की सिफारिशों के आधार पर कंपनी अधिनियम में आवश्यक संशोधन किये गये।

(4) रिजर्व बैंक अधिनियम—इस अधिनियम के अंतर्गत बैंकों पर नियंत्रण एवं नियमन करने के उद्देश्य से रिजर्व बैंक अधिनियम 1934 में पारित किया गया।

(5) सरकारी अध्यादेश—1946 में सरकारी अध्यादेश ने रिजर्व बैंक को किसी भी बैंक के खातों की जांच आदि की पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान की।

(6) बैंकिंग कंपनी अधिनियम 1949—बैंकिंग व्यवस्था का समुचित नियमन एवं नियंत्रण करने के उद्देश्य से बैंकिंग कंपनी अधिनियम 1949 में पारित किया गया।

बैंकिंग विधान की आवश्यकता

स्वर्णमान का अंत होने से बैंक दर भी अधिक प्रभावी हो पाई है अतः देश में बैंकों का समुचित विकास करने के लिए बैंकिंग विधान की आवश्यकता हुई। बैंकिंग एक सेवा उद्योग है और इसमें चालू पूंजी का अधिकांश भाग जमा करने वालों का होता है, परंतु प्रबंध-व्यवस्था अल्पसंख्यकों के अधिकार में ही रहती है और जमा करने वालों का उसमें कोई हाथ नहीं रहता। अतः सरकार द्वारा ऐसी व्यवस्था होना आवश्यक था, जिससे जमाकर्ताओं के निक्षेपों का दुरुपयोग संभव न हो सके। इसके लिए बैंकिंग विधान बनाने की आवश्यकता का अनुभव किया गया। विधान की

आवश्यकता के प्रमुख कारण निम्न थे—

(i) शाखाओं पर प्रतिबंध—बैंकों ने अपनी शाखाओं का विस्तार बिना जांच-पड़ताल के किया है जिससे अधिकांश शाखाएं अलाभकारी सिद्ध हुई हैं।

(ii) असंतुलित विकास—कहीं आवश्यकता से अधिक बैंक हैं तथा दूसरी ओर इनका पूर्णतया अभाव पाया जाता है जिससे बैंकों का संतुलित ढंग से विकास संभव नहीं हो पाया है।

(iii) अधिकारों में वृद्धि—बैंकिंग विधान के लागू होने से साख एवं विदेशी विनिमय संबंधी नीति को सरलता से कार्यान्वित किया जा सकता है।

(iv) बैंकों का असफल होना—अनेक बैंक असफल हुए अतःप्रबंध एवं संचालन में सुधार लाना आवश्यक है।

(v) समन्वय स्थापित करना—स्वदेशी बैंकर्स एवं आधुनिक बैंकिंग में समन्वय के अभाव के कारण साख नियंत्रण का अभाव पाया जाता है, जिससे बैंकिंग का समुचित विकास संभव नहीं हो पाया है।

वर्तमान बैंकिंग अधिनियम 1949

भारत में सर्वप्रथम भारतीय बैंकिंग अधिनियम 1949 में पारित किया गया जिसकी प्रमुख विशेषताएं निम्न हैं—

(1) बैंक की परिभाषा—अधिनियम के अंतर्गत प्रत्येक ऐसी कंपनी को बैंक कहा गया है जो भारतीय कंपनी अधिनियम के अन्तर्गत स्थापित हो और बैंकिंग का व्यवसाय करती हो। कोई भी कंपनी इस व्यवसाय को उसी समय कर सकती है जबकि वह अपने नाम के सामने बैंक शब्द का प्रयोग करे।

(ii) प्रबंध व्यवस्था—इस संबंध में निम्न व्यवस्था है—

(अ) प्रबंध अभिकर्त्ता—बैंकिंग कंपनियों के प्रबंध के लिए कोई भी व्यक्ति प्रबंध अभिकर्त्ता नियुक्त नहीं किया जा सकता।

(ब) संचालक—कोई भी व्यक्ति किसी बैंक का संचालक नियुक्त नहीं किया जा सकता यदि वह किसी दूसरे बैंक का संचालक है या अन्य किसी व्यवसाय में संलग्न है। इसी प्रकार दिवालिया व्यक्ति को बैंक का संचालक नियुक्त नहीं किया जा सकता तथा कंपनी के लाभ पर कमीशन नहीं दिया जा सकेगा।

(iii) पूंजी एवं मतदान व्यवस्था—बैंक की प्रार्थित पूंजी उसकी अधिकृत पूंजी के आधे से कम नहीं होनी चाहिए तथा प्राप्त पूंजी प्रार्थित पूंजी के आधे से कम न हो। पूंजी में वृद्धि करने के लिए रिजर्व बैंक की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक है। अमेरिका में बैंकों को जनसंख्या के अनुरूप पूंजी रखनी होती है, परंतु भारत में बैंक के समस्त कार्यक्षेत्र को आधार मानकर पूंजी निश्चित की जाती है।

मतदान का अधिकार पूंजी के आधार पर था, परंतु 1963 के संशोधन के आधार पर अंशधारी को कुल मतदान के 1% से अधिक मत देने का अधिकार न होगा।

(iv) नकद कोष व्यवस्था—प्रत्येक अनुसूचित बैंक को अपनी मांग दायित्व का 5% एवं समय दायित्व का 2% भाग नकद में रिजर्व बैंक के पास रखना पड़ता है। इस प्रतिशत में आवश्यकतानुसार 15 से 30 प्रतिशत तक वृद्धि की जा सकती है। 1949 अधिनियम में यह व्यवस्था की गई कि गैर-अनुसूचित बैंकों को भी रिजर्व बैंक के पास चालू खाते में नकद कोष रखना होगा।

(v) शाखाएं—अधिनियम के अंतर्गत कोई भी बैंक रिजर्व बैंक की अनुमति के बिना न तो कोई नवीन शाखा खोल सकता है और न ही उसे एक स्थान से दूसरे स्थान को हस्तांतरित कर सकता है, जिससे एक ही स्थान पर बैंकों का केंद्रीयकरण न हो सके।

(vi) एकीकरण व्यवस्था—दो या दो से अधिक बैंक आपस में एकीकरण की व्यवस्था कर सकते हैं तथा इसके लिए साधारण बैठक में एकीकरण की योजना को प्रस्तुत किया जाता है।

(vii) बैंक का समापन—बैंक द्वारा ऋणों का भुगतान न करने पर रिजर्व बैंक की प्रार्थना पर न्यायालय

द्वारा इस बैंक का समापन किया जा सकता है। केंद्रीय सरकार द्वारा आदेश प्राप्त होने पर ही रिजर्व बैंक प्रार्थना कर सकेगा। प्रार्थना देने पर *सरकारी निस्तारक नियुक्त किया जाएगा तथा न्यायालय की आज्ञा ही अंतिम मानी जाती है।*

(viii) ऋणों पर प्रतिबंध—कोई भी बैंक अपने अंशों की जमानत पर या संचालकों को उचित जमानत के अभाव में ऋण नहीं दे सकेगा। बैंक जनहित को ध्यान में रखते हुए ही नीति का निर्धारण करता है। इस संबंध में रिजर्व बैंक साख का नियंत्रण कर सकता है तथा मूल्य वृद्धि पर रोक लगा सकता है।

(ix) संपत्ति में तरलता—संपत्ति में तरलता बनाए रखने के उद्देश्य से प्रत्येक बैंक अपनी मांग-जमा तथा समय-जमा का कम से कम 20% भाग तरल संपत्ति के रूप में रखेगा। इस तरलता का कम से कम 75% भाग भारत में ही रखना होगा।

(x) लाभ वितरण पर प्रतिबंध—प्रत्येक भारतीय बैंक एवं विदेशी बैंकों के भारतीय शाखाओं के वार्षिक लाभ का कम से कम 20% भाग प्रतिवर्ष संचित कोष में रखना आवश्यक होगा।

(xi) पूर्णदत्त पूंजी तथा रक्षित कोष—बैंकों की शाखाएं कलकत्ता या बंबई में होने पर उनकी परिदत्त पूंजी एवं रक्षित कोष मिलाकर 10 लाख रुपए होना चाहिए। यदि बैंक के समस्त कार्यालय एक ही राज्य में हैं तो यह सीमा 5 लाख रुपए होनी चाहिए। यदि बैंकों की कोई भी शाखा बंबई एवं कलकत्ता में नहीं है तो प्रधान कार्यालय में पूंजी एवं रक्षित कोष की मात्रा 1 लाख रुपए तथा प्रत्येक कार्यालय में यह सीमा 10 हजार रुपए होगी। यदि बैंकों की स्थापना बाहर हुई तो यह राशि 15 लाख रुपए तथा शाखाएं कलकत्ता या बंबई में होने पर यह राशि 20 लाख रुपए होनी चाहिए। वर्तमान समय में नवीन बैंकिंग कंपनी की परिदत्त पूंजी की मात्रा की न्यूनतम सीमा को 50,000 रुपए से बढ़ाकर 5 लाख रुपए कर दिया गया है।

(xii) व्यवसाय का विवरण—अधिनियम में बैंकों द्वारा अधिकृत व्यवसाय की पूरी सूची दी गई है। बैंक को किसी भी प्रकार का प्रत्यक्ष व्यापार करने का अधिकार नहीं होगा, किसी भी अचल संपत्ति को 7 वर्ष से अधिक की अवधि के लिए नहीं रख सकता, बैंक कोई सहायक कंपनी स्थापित नहीं कर सकता तथा किसी भी कंपनी के प्राप्त पूंजी के 20% से अधिक के अंश नहीं खरीद सकता।

(xiii) उद्देश्य—अधिनियम का निर्माण बैंकों के दोषों को दूर करने के लिए किया गया था। बैंकों के प्रमुख दोष निम्न थे—

(अ) अचल संपत्ति की आड़ पर अधिक मात्रा में ऋण दे दिया जाता था।

(ब) संचालकों द्वारा हित रखने वाली कंपनियों में अपर्याप्त प्रतिभूति की आड़ पर अधिक ऋण दे दिया जाता था।

(स) चिट्ठे द्वारा वास्तविक स्थिति का ठीक ज्ञान प्राप्त नहीं हो पाता था।

(द) बैंक के प्रबंधक धन का दुरुपयोग किया करते थे।

(य) बैंकों ने बिना सोचे-समझे अपनी शाखाओं का विस्तार किया जो कि हानिकारक सिद्ध हुआ।

(xiv) सम्मेलन अधिकार—रिजर्व बैंक को यह अधिकार दे दिए गए कि रिजर्व बैंक यदि किसी बैंक की आर्थिक स्थिति में गड़बड़ी है तो वह केंद्रीय सरकार से उस बैंक के लिए विलंब काल (Moratorium) घोषित करने की सिफारिश कर सकता है, जिसमें बैंक 6 माह तक कार्य बन्द कर देता है। इस अवधि में रिजर्व बैंक उस बैंक को किसी भी बैंक के साथ मिलाने की योजना बना सकता है।

रिजर्व बैंक के अधिकार

बैंकों पर उचित नियंत्रण लगाने के उद्देश्य से अधिनियम ने रिजर्व बैंक को निम्न अधिकार प्रदान किए हैं—

(i) ऋण नीति का नियंत्रण—रिजर्व बैंक को ऋण नीति को नियंत्रित करने का अधिकार होता है। देश के अहित में नीति होने पर रिजर्व बैंक उन समस्त ऋण नीतियों पर प्रतिबंध लगा सकता है तथा कार्य की उचित व्यवस्था कर सकता है।

(1) केंद्रीयकरण प्रवृत्ति में असफल—भारत में बैंकिंग अधिनियम केंद्रीयकरण की प्रवृत्ति को रोकने में असफल रहा है।

(2) असंतुलित विकास—बैंकों का विकास शहरी क्षेत्रों में ही अधिक हुआ है और ग्रामीण क्षेत्र की उपेक्षा की गई है, जिससे असंतुलित विकास को प्रोत्साहन मिला है।

(3) नियंत्रण का अभाव—बैंकिंग विधान ने ग्रामीण साख पर कोई ध्यान नहीं दिया है तथा बैंकों का समुचित ढंग से विकास एवं संगठन संभव नहीं हो पाया है।

(4) तरलता का अभाव—अधिनियम ने बैंकों की तरलता की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया है जिससे अधिकांश बैंक असफल हो गए हैं।

इन दोषों को दूर करने के उद्देश्य से बैंकिंग विधान में समय-समय पर अनेक संशोधन हुए हैं जैसे 1950, 1951, 1953, 1956, 1959, 1960, 1962, 1963, एवं 1964 में आवश्यक संशोधन स्वीकार किए गए।

35

मुद्रा बाजार एवं बिल बाजार
(Money Market and Bill Market)

मुद्रा बाजार

प्रारंभिक

मुद्रा बाजार वह बाजार केंद्र है जिसमें अल्पकालीन पूंजी का लेन-देन होता है। फेडरल रिजर्व बैंक न्यूयार्क के अनुसार "मुद्रा बाजार मुद्रा तथा मुद्रा संबंधी ऐसी सम्पत्ति के लेन-देन के लिए एक सक्रिय बाजार है, जिसे वित्त संस्थाएं सामान्य व्यवसाय के अंतर्गत अपनी आर्थिक स्थिति पर्याप्त तरल बनाए रखने हेतु रखती है।" प्रायः बाजार शब्द से आशय उस समस्त क्षेत्र से लगाया जाता है जहां क्रेता एवं विक्रेता स्वतंत्रतापूर्वक प्रतियोगितापूर्ण स्थिति में माल का क्रय एवं विक्रय करते हैं। मुद्रा बाजार में मुद्रा के क्रेता एवं विक्रेता होते हैं जिनमें परस्पर प्रतियोगिता पाई जाती है। मुद्रा के उधार लेने को क्रय एवं मुद्रा के उधार देने को विक्रय कहते हैं। मुद्रा के खरीदने वालों में ऋणियों, व्यापारियों आदि को सम्मिलित किया जाता है तथा मुद्रा के बेचने वालों में ऋणदाता एवं अन्य संस्थाएं सम्मिलित की जाती हैं। वस्तु की भांति मुद्रा का मूल्य निर्धारण भी मुद्रा की मांग एवं पूर्ति के संतुलन पर निर्भर करता है।

परिभाषाएं

मुद्रा बाजार की प्रमुख परिभाषाएं निम्न हैं—

(1) क्राउथर—"मुद्रा बाजार एक सामूहिक नाम है जो विभिन्न श्रेणियों की मुद्रा में व्यवहार करने वाली विभिन्न फर्मों एवं संस्थाओं को दिया जाता है।"[1]

(2) चाको (Chakoo)—"एक मुद्रा बाजार ऐसा यंत्रीकरण है जो कि ऋणी को कोष प्राप्त करना सम्भव बनाता है तथा ऋणदाताओं को धन के विनियोजन के उपयुक्त अवसर प्रदान करता है।"[2]

(3) रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया—"मुद्रा बाजार मुख्यतया अल्पकालीन प्रवृत्ति की मौद्रिक संपत्ति को व्यवहार करने का एक केन्द्र बिन्दु है, ऋणियों की अल्पकालीन आवश्यकताओं को पूर्ण करके, ऋणदाताओं को तरलता या नकदी का प्रबन्ध करता है। यह एक ऐसा स्थान है जहां अल्पकालीन विनियोजित कोष वित्तीय एवं अन्य संस्थाओं व व्यक्तियों की इच्छा पर उपलब्ध किए जाते हैं तथा ऋणियों को स्वीकार किए जाते हैं, जिनमें संस्थाएं, व्यक्ति एवं स्वयं सरकार

1. "The money market is the collective name given to the various firms and institutions that deal in various grades of money"—Crowther.

2. "A money market is a mechanism which makes it possible for borrowers to obtain funds and for lenders to find suitable outlets for that money."—Chakoo.

को सम्मिलित किया जाता है।"[1]

मुद्रा एवं पूंजी बाजार

मुद्रा एवं पूंजी बाजार में घनिष्ठ संबंध होते हुए भी मौलिक अन्तर पाया जाता है। मुद्रा बाजार में अल्पकालीन तथा पूंजी बाजार में दीर्घकालीन ऋणों का लेन-देन स्वीकार किया जाता है। प्रायः अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन ऋणों को पृथक् करना सम्भव न होने से पूंजी बाजार को मुद्रा बाजार का ही एक अंग माना जाता है। पूंजी बाजार में अंशों, ऋण-पत्रों एवं अन्य दीर्घकालीन प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय किया जाता है। पूंजी बाजार में लम्बी अवधि के लेन-देन को सम्मिलित किया जाता है। इस प्रकार मुद्रा एवं पूंजी बाजार में केवल अवधि का अन्तर पाया जाता है। संगठित मुद्रा बाजार में आर्थिक लेन-देन संबंधी रीति-नीतियों में समन्वय पाया जाता है और कार्य-विधियां व्यवस्थित रहती हैं। इस स्थिति के अभाव में मुद्रा बाजार को असंगठित बाजार कहा जाता है।

मुद्रा बाजार के कार्य
(Functions of Money Market)

मुद्रा बाजार के कार्यों को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

मुद्रा बाजार के कार्य
- मुद्रा इकाई में स्थिरता
- साख प्रदान करना

(i) मुद्रा इकाई में स्थिरता—मुद्रा बाजार में उचित नियमन द्वारा मुद्रा इकाई में स्थिरता लाई जा सकती है। पूंजी के संचय को प्रोत्साहित करके उसमें गतिशीलता उत्पन्न करके विभिन्न व्यवसायों एवं क्षेत्रों में उसका वितरण कर दिया जाता है।

(ii) साख प्रदान करना—मुद्रा बाजार द्वारा उत्पादक कार्यों के लिए अल्पकालीन साख की पूर्ति की जाती है जिससे राष्ट्रीय आय एवं संपन्नता में वृद्धि की जा सके।

मुद्रा बाजार के अंग

मुद्रा बाजार के दो अंग होते हैं—

मुद्रा बाजार के अंग
- ऋणीक्षेत्र
- ऋणदाता क्षेत्र
  - आधुनिक भाग
  - स्वदेशी भाग

1. "A money market is the centre for dealings, mainly of short-term character in monetary assets, it meets the short-term requirements of borrower and provides liquidity or cash to the lenders. It is the place where short-term investible funds are placed at the disposal of financial and other institutions and individuals are bid by borrowers again comprising institutions and individuals and also the Government itself."—Reserve Bank of India : Functions and workings, p. 21-22.

(i) ऋणी क्षेत्र, एवं

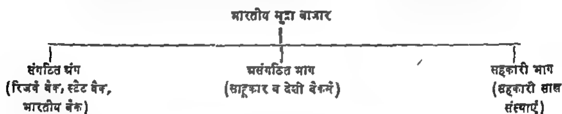
(ii) ऋणदाता क्षेत्र—इसके भी दो अंग होते हैं जैसे (अ) आधुनिक भाग एवं (ब) स्वदेशी भाग।

(अ) आधुनिक भाग का गठन आधुनिक ढंग से किया जाता है। यह संगठित भाग होता है और इसमें स्टेट बैंक, मिश्रित पूंजी वाले बैंक, रिजर्व बैंक आदि संगठित बैंकों को सम्मिलित किया जाता है।

(ब) स्वदेशी भाग असंगठित भाग होता है, जिसमें महाजन, सर्राफ आदि को सम्मिलित किया जाता है।

भारतीय मुद्रा बाजार
(Indian Money Market)

भारतीय मुद्रा बाजार में द्विधाभिता का गुण पाया जाता है, जिसमें एक अंग संगठित है तथा दूसरा अंग असंगठित व तीसरा अंग सहकारी है। संगठित भाग में रिजर्व बैंक, स्टेट बैंक, विदेशी बैंक तथा भारतीय बैंक आते हैं। असंगठित बाजार में साहूकारों एवं देशी बैंकरों का प्रभुत्व बना रहता है। तृतीय अंग में सहकारी साख संस्थाएं आती हैं। भारतीय मुद्रा बाजार सर्वथा अव्यवस्थित नहीं है, क्योंकि देशी बैंकरों को स्टेट बैंक से कटौती की सुविधाएं प्राप्त हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त अन्य बैंक भी सुविधाएं प्रदान करती हैं। इसे निम्न चार्ट द्वारा दिखाया जा सकता है—



मुद्रा बाजार की विशेषताएं

भारतीय मुद्रा बाजार की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं—

(i) बट्टा बाजार का अभाव—व्यापारिक बिलों के अभाव के कारण देश में बट्टा बाजार का अभाव पाया जाता है।

(ii) अंतर्बैंक व्यवस्था—मुद्रा बाजार में अंतर्बैंक भाग मुद्रा बाजार को व्यवस्था की सुविधाएं पाई जाती हैं।

(iii) दलाल—मुद्रा बाजार में स्कन्ध दलाल (Stock brokers) एवं मांग-ऋण दलाल (Call loan brokers) पाए जाते हैं।

(iv) दो प्रकार के बाजार—देश में संगठित एवं असंगठित दो प्रकार के बाजार पाए जाते हैं, जहां ब्याज की दर विभिन्न प्रकार की पाई जाती है।

(v) संस्थाएं—मुद्रा बाजार में मिश्रित पूंजी के बैंक एवं अर्द्ध-सहकारी संस्थाएं भी पाई जाती हैं।

(vi) बिल बाजार का अभाव—भारत में विकसित बिल बाजार के अभाव के कारण मुद्रा बाजार के विकास में बाधाएं उपस्थित होती हैं।

(vii) भेद का अभाव—असंगठित भाग में अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन वित्त में कोई भेद प्रतीत नहीं होता।

मुद्रा बाजार का महत्व
(Importance of Market)

संगठित मुद्रा बाजार देश के आर्थिक विकास में बहुत उपयोगी है। इसके महत्व को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(i) पूंजी का उचित वितरण—मुद्रा बाजार की सहायता से देश की पूंजी का विभिन्न क्षेत्रों में उचित

वितरण संभव हो जाता है तथा व्यापारियों को उचित ब्याज दर पर पर्याप्त मात्रा में अल्पकालीन पूंजी प्राप्त हो जाती है।

(ii) तरलता में वृद्धि—व्यापारिक बेंक अपनी प्रतिभूतियों को कभी भी तरलता में बदल सकते हैं जिससे विकसित राष्ट्रों में व्यापारिक बैंक अपनी जमा को याचना ऋण एवं अल्पकालीन प्रतिभूतियों में विनियोजित कर देते हैं जिससे सम्पत्ति की तरलता के साथ-साथ ब्याज भी प्राप्त होता रहता है।

(iii) सूचक यंत्र—संगठित मुद्रा बाजार देश की अर्थव्यवस्था का सूचक यंत्र माना जाता है, जिसके आधार पर सरकार अपनी अर्थ-नीति में आवश्यक परिवर्तन कर सकती है। मुद्रा बाजार को भी आर्थिक नीति के अनुरूप परिवर्तित कर दिया जाता है।

(iv) वित्तीय पूर्ति—संगठित मुद्रा बाजार में सरकार अल्पकालीन वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति सरलता से कर सकती है तथा आवश्यक मात्रा में धन प्राप्त कर सकती है।

(v) प्रभावशाली मौद्रिक नीति—संगठित मुद्रा बाजार मौद्रिक नीति को प्रभावशाली बनाने में सहायता प्रदान करता है तथा साख का नियमन सरलता व सुविधापूर्वक सम्पन्न किया जा सकता है। केन्द्रीय बैंक ब्याज दर की सहायता से साख की मात्रा को उचित स्तर पर ला सकता है।

(vi) वित्तीय संस्थाओं को उपयोगी—संगठित मुद्रा बाजार व्यवसाय के अतिरिक्त अन्य वित्तीय संस्थाओं के लिए भी अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा। एक ओर तो बचत को प्रोत्साहन मिलेगा तथा दूसरी ओर उस बचत को उत्पादक कार्यों में विनियोजित किया जा सकता है।

(vii) व्यापार को उपयोगी—संगठित मुद्रा बाजार व्यापार एवं वित्तीय संस्थाओं के लिए उपयोगी होता है क्योंकि एक ओर तो बचत प्राप्त हो जाती है तथा दूसरी ओर विनियोजन के लिए उपयुक्त प्रतिभूतियां प्राप्त हो जाती हैं।

भारतीय मुद्रा बाजार के दोष
(Defects of Indian Money Market)

मुद्रा बाजार अविकसित अवस्था में है तथा देश के विकास के साथ-साथ वित्तीय मांगों में भी अनेक परिवर्तन आना स्वाभाविक है। वर्तमान में भारतीय मुद्रा बाजार में अनेक दोष पाए जाते हैं जो कि निम्न प्रकार हैं—

(1) ब्याज दर में भिन्नता—भारत में स्थान-स्थान पर ब्याज दर में अन्तर पाया जाता है। इन ब्याज दरों में आपस में कोई संबंध नहीं होता तथा बैंक दर का इन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। ब्याज दर में भिन्नता होने का प्रमुख कारण मुद्रा बाजार का असंगठित होना है।

(2) धन का अभाव—मुद्रा बाजार में व्यापार एवं उद्योगों के लिए पूंजी बहुत कम मात्रा में उपलब्ध हो पाती है क्योंकि ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधाओं के अभाव के कारण धन का प्रायः अभाव बना ही रहता है।

(3) देशी साहूकारों की अधिकता—मुद्रा बाजार में देशी साहूकारों की अधिकता पाई जाती है जो कि ग्रामीण एवं आंतरिक व्यापार को वित्तीय सहायता प्रदान करते हैं। इनकी संख्या अधिक होने के साथ-साथ बैंकिंग व्यवस्था से कोई गठबंधन नहीं है तथा रिजर्व बैंक भी इनको नियोजित नहीं कर सका है। इससे मुद्रा बाजार अस्त-व्यस्त हो गया है।

(4) संगठित बिल बाजार का अभाव—भारत में अभी तक सुसंगठित बिल बाजार का विकास नहीं हो पाया है। देश में हुण्डियों का प्रयोग अति प्राचीन समय से होता आया है, फिर भी इनका उपयोग बहुतायत से नहीं हो पाया है तथा बैंकों द्वारा भी बिलों एवं हुण्डियों के रूप में अधिक मात्रा में विनियोजन नहीं किया जाता। रिजर्व बैंक द्वारा भी इसके विकास के विशेष प्रयास नहीं किए गए। 1952 में रिजर्व बैंक ने बिल बाजार योजना को कार्यान्वित किया।

(5) विशिष्ट संस्थाओं का अभाव—भारत में वित्तीय सहायता प्रदान करने वाली विशिष्ट संस्थाओं का अभाव पाया जाता है जिससे व्यापार एवं वाणिज्य की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पाती।

(6) अपर्याप्त बैंकिंग सुविधाएं—जनसंख्या एवं प्राकृतिक साधनों की तुलना में देश में बैंकिंग सुविधाओं की कमी है। ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधाओं की अपार कमी है। हमारा देश इस दृष्टि से काफी पिछड़ा हुआ है। बैंकों

भारत में बिल बाजार
(Bill Market in India)

सन् 1935 से पूर्व इम्पीरियल बैंक भारत सरकार के चलन विभाग से 12 करोड़ रुपए तक की राशि हो उधार ले सकता था। जिस बाजार में बिलों को खरीदने एवं बेचने वाले व्यापारी होते हैं उसे बिल बाजार कहते हैं। बिल बाजार की सहायता से संकट के समय केंद्रीय बैंक से साख प्राप्त हो जाती है तथा संकट समाप्त होने पर उसे वापिस कर दिया जाता है। इससे मुद्रा एवं कोषों का हस्तांतरण सुविधापूर्वक किया जा सकता है तथा विदेशी विनिमय कोषों का सदुपयोग संभव हो सकता है। रिजर्व बैंक की स्थापना के पश्चात् आवश्यकता पड़ने पर रिजर्व बैंक से प्रतिभूतियों के आधार पर ऋण प्राप्त किया जाता था। परन्तु 1951 में रिजर्व बैंक द्वारा बैंक दर में वृद्धि करने पर प्रतिभूतियों की जमानत पर ऋण दिया जाने लगा। इसी समय रिजर्व बैंक ने एक नवीन योजना प्रारम्भ की जो बिल बाजार योजना के नाम से जानी जाती है और जनवरी 1952 में इसकी घोषणा की गई थी।

बिल बाजार का महत्त्व

भारत में बिल बाजार के महत्त्व को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(1) कृषि उपज का स्थानान्तरण—बिल बाजार कृषि उपज को एक स्थान से दूसरे स्थान को हस्तांतरण में सुविधाएं प्रदान करता है तथा कृषकों को आवश्यकता पड़ने पर अल्पकालीन वित्त की सुविधाएं भी प्रदान करता है।

(2) वित्तीय सहायता—बिल बाजार की सहायता से व्यापारियों को सुगमता से वित्तीय सहायता प्राप्त हो जाती है।

(3) केन्द्रीय बैंक का सहयोग—केन्द्रीय बैंक के सक्रिय सहयोग से बिल बाजार का समुचित ढंग से विकास संभव हो जाता है।

(4) अल्पकालीन साख—बिल बाजार की सहायता से अल्पकालीन साख सुविधापूर्वक प्राप्त हो जाती है।

(5) विनियोग के सुलभ साधन—बैंकिंग संस्थाओं को अल्पकालीन विनियोग के लिए सुगमता से साधन उपलब्ध हो जाते हैं तथा आर्थिक संकट के समय बिलों को बेचकर आवश्यक राशि प्राप्त की जा सकती है।

बिल बाजार की विशेषताएं

बिल बाजार की प्रमुख विशेषताएं निम्न हैं—

(i) आधा प्रतिशत कम ब्याज—बिलों के प्रयोग को प्रोत्साहित करने के लिए ऋणों पर बैंक दर से आधा प्रतिशत कम ब्याज लेने की व्यवस्था की गई।

(ii) ऋण की न्यूनतम सीमा—प्रत्येक बैंक को दिए जाने वाले ऋण की न्यूनतम सीमा 25 लाख रुपए निर्धारित की गई है तथा प्रत्येक बिल की न्यूनतम सीमा 1 लाख रुपए निर्धारित की गई है।

(iii) ऋण देने की व्यवस्था—रिजर्व बैंक द्वारा [illegible] करोड़ रुपए की राशि तक बिलों की जमानत पर ऋण देने की व्यवस्था की गई है जो रिजर्व बैंक के किसी भी कार्यालय से प्राप्त किए जा सकते हैं।

(iv) मुद्रांक कर का आधा भाग—बिलों के अधिकाधिक प्रचार के लिए यह सुविधा दी गई कि माग बिलों को मियादी बिलों में परिवर्तित करने के लिए जो मुद्रांक कर लगेगा उसका आधा भाग रिजर्व बैंक द्वारा प्रदान किया जाएगा जिससे अधिकाधिक प्रचार संभव हो सके।

रिजर्व बैंक की बिल बाजार योजना

प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ होने पर 16 जनवरी, 1952 को रिजर्व बैंक ने बिल बाजार योजना को

कार्यान्वित किया, जिसमें अनुसूचित बैंक वचन-पत्रों (Promissory Notes) के आधार पर रिजर्व बैंक से माग ऋण प्राप्त कर सकते हैं। यह योजना केवल उन अनुसूचित बैंकों तक सीमित रखी गई जिनकी कुल जमा राशि 10 करोड़ रुपए थी। 1953 में इस योजना को 5 करोड़ की जमा राशि वाले बैंकों पर लागू किया गया। रिजर्व बैंक ने ऋण की न्यूनतम सीमा को 25 लाख रुपए से घटाकर 10 लाख रुपए तथा अकेले बिल की राशि को 1 लाख रुपए से घटाकर 50 हजार रुपए कर दिया। 1956 में रिजर्व बैंक ने बिल दर में $\frac{1}{2}$% से वृद्धि कर दी और इसे 3 बढ़ाकर $3\frac{1}{2}$% कर दिया गया। 1957 में वचन-पत्रों पर मुद्रांक कर 12 पैसे प्रति हजार से बढ़ाकर 1 रुपया 25 पैसे प्रति हजार कर दिया गया। 1957 में बैंक दर बढ़ाकर 4% कर दी गई। बिल बाजार संबंधी प्रारंभिक योजना की मुख्य विशेषताएं निम्न थीं—

(1) प्रत्येक बैंक को दिए जाने वाले ऋण की न्यूनतम सीमा 25 लाख रुपए रखी गयी और प्रत्येक बिल की न्यूनतम सीमा 1 लाख रु० रखी गई।

(2) बिलों पर दिए जाने वाले ऋणों पर बैंक दर से $\frac{1}{2}$ प्रतिशत कम ब्याज लेने की व्यवस्था की गयी।

(3) रिजर्व बैंक द्वारा 10 करोड़ रु० या अधिक निक्षेप वाले अनुसूचित बैंकों की अवधि बिलों की जमानत पर ऋण देने की व्यवस्था की गई।

(4) मांग बिलों को सावधि बिलों में परिवर्तित करने में जो मुद्रांक कर लगेगा। उसका आधा रिजर्व बैंक देगा।

1958 में रिजर्व बैंक ने निर्यात बिलों को वित्तीय सहायता प्रदान की। बिलों की न्यूनतम सीमा ऋणी के संबंध में 1 लाख रुपए एवं वचन-पत्र के संबंध में 5 हजार रुपए निर्धारित की गई।

योजना की मुख्य बातें

रिजर्व बैंक बिल बाजार योजना की मुख्य बातें निम्न हैं—

(1) मुद्रांक कर में छूट—रिजर्व बैंक ने मांग बिल को सावधि बिल में परिवर्तित करके आधे मुद्रांक कर को स्वयं चुकाने की व्यवस्था की है।

(2) ऋण की न्यूनतम सीमा—ऋण की न्यूनतम सीमा एक समय में 10 लाख रु० व प्रत्येक बिल के लिए 50 हजार रुपया निर्धारित की है जबकि जुलाई 1954 में यह सीमा क्रमशः 25 लाख रु० व 1 लाख रुपए थी।

(3) ऋण की नीति—ऋण देते समय जमानत के अतिरिक्त बैंक की कार्य-पद्धति की भी जाँच की जाती है।

(4) बिल की अवधि—बिल के भुगतान की अवधि 90 दिन रखी गई है।

(5) बिल पर ऋण—रिजर्व बैंक ने अनुसूचित बैंकों को अवधि प्रतिज्ञा पत्रों व अंतर्देशीय बिलों की जमानत पर ऋण देने की व्यवस्था की है।

(6) ऋण देने की रीति—ऋण लेने के इच्छुक बैंकों को रिजर्व बैंक के कार्यालय में आवेदन-पत्र भेजना होता है तथा मान्य बिल पर कम से कम दो अच्छे व्यक्तियों के हस्ताक्षर कराना आवश्यक होता है।

(7) ऋण की शर्तें—यह ऋण उन समस्त बैंकों को प्राप्त हो सकता है जो 1849 के बैंकिंग कानून के अंतर्गत लाइसेंस प्राप्त बैंक हैं।

(8) ब्याज की दर—ब्याज दर प्रारंभ में $3\frac{1}{2}$% जिसे घटाकर 3% कर दिया गया और इस दर में परिवर्तन होता रहता है। वर्तमान में बैंक दर के हिसाब से ही ब्याज ली जाती है।

योजना की प्रगति

रिजर्व बैंक द्वारा अनुसूचित बैंकों को दिए गए ऋणों की राशि निम्न प्रकार है—

रिजर्व बैंक द्वारा प्रदत्त ऋण

(करोड़ रुपए में)

योजना	राशि
1. प्रथम योजनाकाल	567
2. द्वितीय योजनाकाल	1320
3. तृतीय योजनाकाल	1462

रिजर्व बैंक द्वारा वार्षिक आधार पर दिए गए ऋण की राशि निम्न प्रकार है—

ऋण राशि

(करोड़ रुपए में)

वर्ष	राशि
1971–72	1165
1968–69	1353
1967–68	368
1966–67	418
1965–66	323
1960–61	255
1955–56	229
1951–52	29

इस तालिका से स्पष्ट है कि बैंकों को दिए गए ऋणों की राशि में उतार-चढ़ाव बने रहते हैं। गत कुछ वर्षों से इसकी मात्रा में निरंतर वृद्धि हो रही है। 1951–52 में ऋण राशि 29 करोड़ रुपए थी जो 1971–72 में बढ़कर 1165 करोड़ रुपए हो गई।

सुसंगठित बिल बाजार अभाव के कारण

भारत में बिल बाजार का संगठित ढंग से विकास संभव नहीं हो पाया है और इसके प्रमुख कारण निम्न हैं–

(1) सीमित पुनः कटौती की सीमा—इंपीरियल बैंक की अन्य व्यापारिक बैंकों से प्रतिस्पर्धा होने के कारण बिलों को भुनाने में हिचकिचाते रहे। 1935 में रिजर्व बैंक की स्थापना के उपरांत भी बिल बाजार का समुचित विकास नहीं हो सका क्योंकि—(i) भारत में बिलों की अत्यधिक कमी रही है, तथा गोदामों की कमी के कारण कृषि बिलों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि संभव नहीं हो सकी है।

(ii) हुण्डियों के लिखने की भाषा एवं ढंग भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं जिससे उनका अधिक प्रयोग व प्रचलन संभव नहीं हो पाया है।

(iii) रिजर्व बैंक ने व्यापारिक बैंकों को बिलों की आड़ पर अग्रिम ऋण देने को प्रोत्साहित नहीं किया।

(2) हुण्डियों में विविधता—प्रायः हुण्डियाँ क्षेत्रीय एवं स्थानीय भाषा में लिखी जाती हैं, जिससे उनका अखिल भारतीय बाजार नहीं बन पाता।

(3) कोषागार-विपत्रों का निर्गमन—भारत में व्यापारिक बैंक अपने धन को कोषागार विपत्रों में

विनियोजित करना लाभप्रद समझते हैं जिससे बिल बाजार के विकास को प्रोत्साहन नहीं मिल सका है।

(4) भारी मुद्रांक कर—भारी मुद्रांक कर के कारण बिलों के हस्तांतरण में कठिनाइयां उपस्थित होती हैं तथा बिल-बाजार विकसित नहीं हो पाता।

(5) ऋण देने की व्यवस्था—बैंक प्रायः बिलों को बट्टा करके ऋण देने की तुलना में नकद में ऋण देना अधिक अच्छा समझते हैं क्योंकि इसे कभी भी वापस या रद्द किया जा सकता है।

(6) निर्गम व स्वीकृत गृहों का अभाव—भारत में बिलों को निर्गमित करने एवं स्वीकार करनेवाली संस्थाओं के अभाव के कारण बिल बाजार का समुचित ढंग से विकास संभव नहीं हो पाया है।

(7) सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोग—बैंकों द्वारा अपनी संपत्ति की तरलता बनाए रखने के लिए सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोजित करना अच्छा समझते हैं, क्योंकि इनके आधार पर कभी भी नकद राशि प्राप्त की जा सकती है। इससे बिल बाजार का अधिक विकास संभव नहीं हो पाया है।

(8) विशेष संस्थाओं में कमी—पाश्चात्य देशों में बिलों को स्वीकार करने वाली तथा कटौती करने वाली विशेष संस्थाएं हैं। भारत में इस प्रकार की विशेष संस्थाओं का सर्वथा अभाव पाया जाता है।

बिल बाजार में सुधार के उपाय

भारतीय बिल बाजार में सुधार लाने के निम्न उपाय किए जा सकते हैं—

(1) निर्गम व स्वीकृति गृहों की स्थापना—भारत में निर्गम एवं स्वीकृति गृहों जैसी संस्थाओं की स्थापना की जानी चाहिए, जो कि व्यापारियों की आर्थिक स्थिति का सही मूल्यांकन करके बिलों के उपयोग में वृद्धि कर सकें।

(2) समाशोधन गृह—देश के विभिन्न भागों में पर्याप्त मात्रा में समाशोधन गृहों की स्थापना की जानी चाहिए जिससे बिलों के भुनाने व भुगतान करने में सुविधा प्राप्त हो सके।

(3) एकरूपता—बिलों की परिभाषा एवं लेखन विधि में एकरूपता होनी चाहिए जिससे बिलों को अखिल भारतीय स्तर पर उपयोग किया जा सके एवं उनका प्रचार बढ़ाया जा सके।

(4) खड़ी फसल पर ऋण—खड़ी फसल की आड़ पर बिलों को निर्गमित किया जाना चाहिए तथा उन्हें अधिकाधिक प्रचार करने की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(5) मुद्रांक कर में कमी—देश में मुद्रांक कर में कमी की जानी चाहिए, जिससे बिलों का हस्तांतरण सुविधापूर्वक किया जा सके।

(6) बट्टा दर में कमी—बिलों के बट्टे दर में भी कमी की जानी चाहिए, जिससे बिलों के प्रयोग को प्रोत्साहित किया जा सके।

(7) केंद्रीय बैंक की स्थापना—प्राचीन समय में यह सुझाव दिया गया था कि बिल बाजार के विकास के लिए देश में केंद्रीय बैंक की स्थापना की जानी चाहिए। इस दृष्टि से 1935 में में रिजर्व बैंक की स्थापना करके इसे कार्यान्वित किया गया।

(8) भण्डार गृहों की स्थापना—देश में भण्डार गृहों की स्थापना की जानी चाहिए जिससे माल को इन भण्डार गृहों में रखकर रसीद को बिलों के साथ संलग्न करके साख प्राप्त की जा सके।

(9) कृषि उपज पर बिल—भारत कृषि प्रधान देश होने के कारण कृषि उपज के आधार पर बिलों को लिखा जाना चाहिए तथा उन्हें प्रोत्साहित करना चाहिए।

(10) स्वदेशी बैंकर की हुण्डियां—भारत में अन्य बिलों की भांति स्वदेशी बैंकर की हुण्डियों को भी प्रोत्साहित करना चाहिए।

(11) बिलों में परिवर्तन—अनुसूचित बैंकों को अपने माल बिलों का साधारण बिलों में परिवर्तित करने की सुविधाएं प्रदान करनी चाहिए जिससे बिलों को अधिक प्रोत्साहित किया जा सके।

(12) बैंकिंग विकास—देश के सभी प्रगतिशील भागों में बैंकों की शाखाएं स्थापित की जानी चाहिए जिससे

कृषि या मुद्रा बाजार के साथ संबंध स्थापित किया जा सके।

एक अच्छे बिल बाजार में एक स्वतंत्र पुनर्कटौती पद्धति एवं बिलों को पुनर्कटौती सुविधाओं का होना आवश्यक है। बिलों को बट्टा गृह (Discount Houss) में व्यापार में स्टाक (Stock in trade) की ही भांति माना जाता है। देश में बट्टा गृहों की स्थापना से व्यापारिक बैंकों के साथ प्रतिस्पर्धा बढ़ने की संभावनाएं बढ़ जाती हैं। यदि ये गृह विशेषकर मुद्रा आधार पर कार्य करें, तो वे रिजर्व बैंक के साथ नियंत्रण उपायों के अंतर्गत सम्मिलित नहीं किए जाएंगे। विश्व में लदन का बिल बाजार विख्यात है। विभिन्न राष्ट्रों के बिल बाजार में बट्टा दरें भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं, अतः विश्व ब्याज की दरों को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

विश्व ब्याज दरें

केंद्रीय बैंक की बट्टा दरें—(प्रतिशत में प्रतिवर्ष)

राष्ट्र	1960	1965	1966	1967	1968	1969	1970
विकसित राष्ट्र							
1. बेल्जियम	5 00	4.75	5.25	4 00	4.50	7.50	7.50
2. कनाडा	3.50	4.75	5.25	6.00	6 50	8.00	6.50
3. डेनमार्क	5.50	6.50	6.50	7.50	6.00	9.00	9.00
4. फ्रांस	3.50	3.50	3.50	3.50	6.00	8 00	7.50
5. प० जर्मनी	4.00	4 00	5.00	3.00	3 00	6 00	7.00
6. इटली	3.50	3.50	3.50	3.50	3 50	4 00	5.50
7. जापान	6 94	5.48	5.48	5.84	5.84	6.25	6.25
8. न्यूजीलैण्ड	6.00	7.00	7.00	7.00	7 00	7.00	7.00
9 द० अफ्रीका	4.50	6 00	6 00	6.00	5,50	5.50	5.00
10. स्वीडेन	5.00	5.50	6.00	6.00	5.00	7.00	7.00
11. स्विट्जरलैण्ड	2.00	2.50	3.50	3.00	3 00	3.75	3.75
12. यूनाइटेड किंगडम	5.00	6.00	7 00	8 00	7 00	8.00	7.00
13. यूनाइटेड स्टेट्स	3.00	4.50	4.50	4 50	5.50	6 00	6 00
विकासशील राष्ट्र							
14. ब्राजील	8 00	12 00	12.00	22.00	22.00	20.00	20 00
15. घाना	4.00	4 50	7.00	6.00	5.50	5.50	5.50
16. भारत	4 00	6 00	6 00	6.00	5 00	5.00	5.00
17. नाइजीरिया	5.50	5 00	5.00	5 00	4.50	4.50	4.50
18. पाकिस्तान	3 50	5 00	5 00	5 00	5.00	5·00	5.00
19. फिलीपाइन्स	5 00	6 00	4.75	6.00	7.50	10 00	10.00
20. थाइलैण्ड	5.00	5.00	5 00	5.00	5.00	5.00	5 00
21. संयुक्त अरब राज्य	3.00	5.00	5.00	5.00	5.00	5.00	5.00

इस प्रकार प्रत्येक राष्ट्र की ब्याजदरों में 1960 की तुलना में 1970 में वृद्धि हुई है जो ब्राजील व फिलीपाइन्स में अधिक रही है।

बिल बाजार योजना की आलोचना

भारत में बिल बाजार योजना की मुख्य आलोचनाएं निम्न हैं—

(1) इस योजना से छोटे बैंक लाभान्वित नहीं हो पाते हैं।

(2) ऋण देने की नीति अत्यंत जटिल है जिसमें रिजर्व बैंक बैंक की कार्यपद्धति की भी जांच करता है।

(3) इस योजना का उद्देश्य मौसमी आवश्यकताओं की पूर्ति करना है जिससे यह उद्योग व व्यापार की साख की आवश्यकता को पूर्ण करने में असमर्थ रहती है।

(4) देशी बैंकरों को इस योजना मे सम्मिलित नहीं किया गया है।

(5) व्यापारिक बिलों को स्वतंत्र रूप से क्रय करने व भुनाने की व्यवस्था न होने से, यह एक उचित योजना नहीं मानी जाती।

(6) बैंको को ऋण लेने के लिए बहुत-सी शर्तों को पूर्ण करना होता है जो बहुत असुविधाजनक है।

नवीन बिल बाजार योजना—नवंबर 1970 से एक नयी बिल बाजार योजना प्रारंभ की गयी जिसका नाम बिल पुनर्कटौती योजना है। इसमे रिजर्व बंक केवल देश के लाइसेंस प्राप्त अनुसूचित बैंको के बिलों की ही पुनर्कटौती करेगा। इसके लिए प्रत्येक बिल की न्यूनतम राशि एक हजार रुपए व पुनर्कटौती की न्यूनतम राशि 50 हजार रु० निर्धारित की गयी थी। 6 अप्रैल, 1972 से भारतीय औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम पर लिखित बिलो को भी इस योजना मे स्वीकृत किया गया है।

रिज़र्व बैंक ऑफ इंडिया
(Reserve Bank of India)

प्रारंभिक

सर्वप्रथम वारेन हेस्टिंग्स ने देश में केंद्रीय बैंक की स्थापना का प्रश्न उठाया तथा बैंक ऑफ बंगाल एवं बिहार को केन्द्रीय बैंक बनाने की सिफारिश की। 1913 में चैंबरलेन आयोग के सदस्य लार्ड कीन्स ने एक केंद्रीय बैंक की स्थापना का प्रश्न उठाया और इसकी सिफारिशों के आधार पर उस समय तीनों प्रेसीडेंसी बैंकों को मिलाकर इंपीरियल बैंक की स्थापना की गई परंतु उसे नोट निर्गमन का अधिकार नहीं दिया गया। 1926 में हिल्टन यंग कमीशन ने भी देश में केंद्रीय बैंक की स्थापना पर जोर दिया जिससे मुद्रा बाजार का व्यवस्थित एवं संगठित ढंग से विकास किया जा सके। आयोग का मत था कि भारतीय मुद्रा बाजार में मुद्रा एवं साख नियमन करने की द्विशासन पद्धति का अंत किया जाना चाहिए। 1931 में केंद्रीय बैंकिंग जांच समिति ने भी रिजर्व बैंक की स्थापना पर जोर डाला। 1933 में गोल मेज सम्मेलन में केंद्रीय बैंक की स्थापना पर जोर दिया गया जिस पर 6 मार्च, 1934 को वाइसराय के हस्ताक्षर हो गए तथा 1 अप्रैल, 1935 से रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया की स्थापना हो गई।

इंपीरियल बैंक को केंद्रीय बैंक न बनाने के कारण

उस समय इंपीरियल बैंक को ही रिजर्व बैंक बनाया जा सकता था, परंतु निम्न कारणों से ऐसा संभव न हो सका—

(i) व्यापारिक कार्यों की समाप्ति—इंपीरियल बैंक को रिजर्व बैंक में परिणत करने से उसे अपने समस्त व्यापारिक कार्य छोड़ने पड़ते जो देश हित में नहीं था।

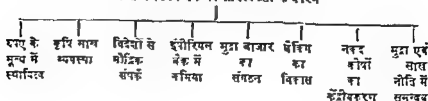
(ii) चलन का दुरुपयोग—चलन का प्रबंध अधिकार इंपीरियल बैंक को सौंपने से चलन के दुरुपयोग होने का भय था।

(iii) प्रतियोगिता—इंपीरियल बैंक, एक व्यापारिक बैंक होने के कारण वह अन्य बैंकों से प्रतियोगिता करता जिससे जनता का विश्वास केंद्रीय बैंक में नहीं रहता।

(iv) संचालक मंडल—बैंक का संचालक मंडल भी केंद्रीय बैंक के प्रस्ताव के विरुद्ध था।

आवश्यकता—भारत में रिजर्व बैंक की स्थापना की आवश्यकता निम्न कारणों से अनुभव की गई—

भारत में रिजर्व बैंक की आवश्यकता के कारण



(1) रुपए के मूल्य में स्थायित्व—देश में रुपए के आंतरिक एवं बाह्य मूल्य में स्थिरता लाने के उद्देश्य से केंद्रीय बैंक की स्थापना की आवश्यकता को अनुभव किया गया।

(2) कृषि साख व्यवस्था—देश में कृषि साख व्यवस्था का प्रबंध करने के लिए भी केंद्रीय बैंक आवश्यक था।

(3) विदेशों से मौद्रिक संपर्क—विदेशों से मौद्रिक संपर्क बनाए रखने के लिए भी रिजर्व बैंक की स्थापना करनी आवश्यक थी।

(4) इंपीरियल बैंक में कमियां—इंपीरियल बैंक देश में केंद्रीय बैंक के कुछ कार्यों को कर रहा था, परंतु उसमें कुछ कठिनाइयों के कारण उसे देश का केंद्रीय बैंक बनाना अनुपयुक्त समझा गया।

(5) मुद्रा बाजार का संगठन—देश में मुद्रा बाजार का उचित ढंग से संगठन करने के लिए रिजर्व बैंक की स्थापना पर जोर दिया गया।

(6) बैंकिंग का विकास—देश में बैंकिंग व्यवस्था का विकास करने एवं उसके सफल संचालन के लिए रिजर्व बैंक की आवश्यकता थी।

(7) नकद कोषों का केंद्रीयकरण—भारत में केंद्रीय बैंक की स्थापना से नकद कोषों का एकत्रीकरण करके उसे बैंकों के लाभार्थ प्रयोग किया जा सकता था तथा मुद्रा व साख व्यवस्था में लोच बनी रहती।

(8) मुद्रा एवं साख नीति में समन्वय—रिजर्व बैंक की स्थापना से देश में मुद्रा एवं साख नीति में समन्वय स्थापित किया जा सकता था।

रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण

रिजर्व बैंक की स्थापना के समय से ही उसके राष्ट्रीयकरण का प्रश्न उठाया जाता रहा था। इसी बीच विश्व में केंद्रीय बैंकों के राष्ट्रीयकरण की भावना प्रभावशाली हो गयी थी जिसके फलस्वरूप 1945 में बैंक ऑफ फ्रांस तथा कॉमनवेल्थ बैंक ऑफ आस्ट्रेलिया का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया तथा 1 मार्च 1946 से बैंक ऑफ इंग्लैंड को सार्वजनिक क्षेत्र में ले लिया गया। इस पृष्ठभूमि में भारत के स्वतंत्र होते ही रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न जोर पकड़ गया। रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण के पक्ष एवं विपक्ष में अनेक तर्क दिए गए जो निम्न हैं—

पक्ष में तर्क—राष्ट्रीयकरण के पक्ष में निम्न तर्क दिए गए—

(i) वैधानिकता—युद्धकाल में रिजर्व बैंक सरकारी बैंक की भांति कार्य करने से उसे स्वतंत्रता नहीं थी, परंतु राष्ट्रीयकरण से उसे अपनी स्थिति का वैधानिक रूप प्राप्त हो जाएगा।

(ii) विस्तृत अधिकार—केंद्रीय बैंक के विस्तृत अधिकारों को निजी संस्था में रहना अनुचित एवं अनावश्यक समझा जाने से उसका राष्ट्रीयकरण करना ही उचित समझा गया।

(iii) मुद्रा बाजार पर नियंत्रण—रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण से मुद्रा बाजार पर पूर्ण रूप से नियंत्रण लगाया जा सकेगा तथा उसे संगठित करके उसके दोषों को दूर किया जा सकेगा।

(iv) आर्थिक एवं मौद्रिक नीति की सफलता—सरकार की आर्थिक एवं मौद्रिक नीति की सफलता भी रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण पर ही संभव हो सकेगी।

(v) अंतर्राष्ट्रीय सहयोग—देश की अनेक मौद्रिक समस्याओं के समाधान के लिए अंतर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त होना आवश्यक था जो रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण द्वारा ही संभव हो सकेगा।

(vi) बैंकिंग विवरण प्राप्त करना—एक व्यापारिक बैंक के रूप में कार्य करने से अन्य बैंकों का बैंकिंग संबंधी विवरण प्राप्त करना कठिन होगा, परंतु राष्ट्रीयकरण से यह समस्या समाप्त हो जाएगी।

(vii) मूल्य स्तर पर नियंत्रण—दोषपूर्ण नीति के कारण मुद्रा स्फीति ने मूल्यों में वृद्धि की। मूल्य स्तर पर नियंत्रण लगाने के लिए रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण करना आवश्यक समझा गया।

(viii) योजनाओं की सफलता—देश के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए जो योजनाएं बनाई गईं, उनकी सफलता भी रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण होने पर ही संभव हो सकती थी।

(ix) अधिकारों का दुरुपयोग—रिजर्व बैंक में अंशों का केंद्रीयकरण बढ़ रहा था तथा अधिकारों के दुरुपयोग होने का भय था, जिसे राष्ट्रीयकरण द्वारा ही दूर किया जा सकता था।

(x) अन्य राष्ट्रों में केंद्रीयकरण—विदेशों में केंद्रीय बैंक का राष्ट्रीयकरण किया जा चुका था, अतः भारत में भी रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण करना आवश्यक समझा गया। इंग्लैंड जैसे देश ने, जहां निजी साहस को अधिक महत्त्व दिया जाता है, अपने केंद्रीय बैंक का राष्ट्रीयकरण कर दिया तो भारत जहां प्रजातांत्रिक व्यवस्था का प्रारंभ ही हुआ था वहां रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण करके सरकार को मुद्रा नियमन संबंधी अधिकार दिए जाने चाहिए।

विपक्ष में तर्क—रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण के विपक्ष में निम्न तर्क दिए जा सकते हैं—

(i) राजनैतिक प्रभाव—राजनैतिक प्रभाव के अभाव में ही रिजर्व बैंक सफलतापूर्वक कार्य कर सकता है परंतु राष्ट्रीयकरण से राजनैतिक प्रभाव पड़ने की संभावनाएं अधिक बढ़ जाती हैं।

(ii) नौकरशाही तथा लालफीताशाही—राष्ट्रीयकरण से नौकरशाही एवं लालफीताशाही की बुराइयों के आने की संभावनाएं बढ़ जाती हैं, जिससे प्रबंध व्यवस्था में अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

(iii) जनता के धन की बर्बादी—राष्ट्रीयकरण करने से जनता का धन बर्बाद होगा तथा जनता के हितों का ध्यान नहीं रखा जा सकेगा।

(iv) तकनीकी योग्यता का अभाव—केंद्रीय बैंक तकनीकी संस्था है परंतु राष्ट्रीयकरण होने से उसके संचालन में विशेष योग्यता वाले व्यक्ति प्राप्त नहीं हो सकेंगे व इनका कार्य सुचारु रूप से संपन्न नहीं हो सकेगा।

(v) स्वतंत्रता की समाप्ति—राष्ट्रीयकरण करने से रिजर्व बैंक अपने कार्यों को स्वतंत्रतापूर्वक नहीं कर सकेगा क्योंकि कार्यों पर सरकार का नियंत्रण रहेगा तथा उस पर राजनीतिक प्रभाव अधिक पड़ेगा।

(vi) औद्योगिक नीति के विरुद्ध—रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण करना सरकार की औद्योगिक नीति के विरुद्ध था।

राष्ट्रीयकरण के पक्ष में अधिक तर्क होने से 1949 में रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। भारत सरकार ने 1948 में रिजर्व बैंक अधिनियम पास कर दिया और 1 जनवरी, 1949 से बैंक पर पूर्णतः सरकारी अधिकार हो गया। बैंक के प्रत्येक अंश के बदले में 100 रु० मूल्य के स्थान पर 118 रु० 10 आने हर्जाने देने का निश्चय किया गया।

रिजर्व बैंक की वर्तमान स्थिति

रिजर्व बैंक की वर्तमान स्थिति में निम्न को सम्मिलित किया जाता है—

(1) पूंजी व्यवस्था—इस बैंक की पूंजी 5 करोड़ रुपए है जो 100-100 रुपए के 5 लाख अंशों में विभाजित है। 1935 में इस बैंक ने एक अंशधारी बैंक के रूप में कार्य प्रारंभ किया था और उसकी संचालन शक्ति कुछ ही व्यक्तियों के हाथों में ही केंद्रित थी जिससे 1940 में यह नियम बनाया गया कि कोई भी व्यक्ति 20,000 रुपए से अधिक के अंश अपने नाम में नहीं रख सकेगा। 5 अंशों पर 1 वोट देने का अधिकार था। राष्ट्रीयकरण के पश्चात् समस्त अंशों को सरकार ने 100 रुपए के अंश को 118 रुपए 62 पैसे में क्रय कर लिया। इस समय सभी अंश केंद्रीय सरकार के स्वामित्व में हैं।

(2) प्रबंध व्यवस्था—रिजर्व बैंक का प्रबंध 15 सदस्यों वाली केंद्रीय संचालक समिति द्वारा किया जाता है। इसकी प्रबंध व्यवस्था में निम्न व्यक्ति होते हैं—

(i) गवर्नर व उप-गवर्नर—रिजर्व बैंक में 1 गवर्नर तथा 3 उप-गवर्नर होते हैं, जिनकी नियुक्ति केंद्रीय सरकार द्वारा 5 वर्षों के लिए की जाती है। यह समस्त वेतन प्राप्त कर्मचारी होते हैं जिनका वेतन केंद्रीय बोर्ड द्वारा निर्धारित किया जाता है।

(ii) संचालक—केंद्रीय बोर्ड में 6 संचालक केंद्रीय सरकार द्वारा 4 वर्ष के लिए मनोनीत किए जाते हैं जो बारी-बारी से निवृत्त होते रहते हैं।

(iii) बोर्डों के संचालक—रिजर्व बैंक के 4 बोर्डों के लिए केंद्रीय बोर्ड से 4 संचालक 5 वर्ष की अवधि

के लिए केंद्रीय सरकार द्वारा मनोनित किए जाते हैं।

(iv) सरकारी कर्मचारी—केंद्रीय बोर्ड में केंद्रीय सरकार द्वारा एक सरकारी कर्मचारी भी मनोनीत किया जाता है जो सरकार की इच्छानुसार अवधि तक कार्य करता है, परंतु उसे मतदान का कोई अधिकार नही होता।

(3) केंद्रीय बोर्ड—इस बोर्ड में 1 वर्ष में कम से कम 6 तथा तीन माह में कम से कम 1 बैठक होना अनिवार्य है। रिजर्व बैंक का गवर्नर इस बोर्ड की बैठक को बुलाने का आयोजन कर सकता है। इसी प्रकार तीन संचालक भी गवर्नर से बैठक के लिए निवेदन कर सकते हैं। रिजर्व बैंक के 4 स्थानीय बोर्ड बंबई, कलकत्ता, मद्रास व दिल्ली में हैं, जिसमें 5 सदस्य होते हैं, और इनकी नियुक्ति 4 वर्ष के लिए केंद्रीय सरकार द्वारा की जाती है। ये बोर्ड केंद्रीय बोर्ड द्वारा सौंपे गए कार्यों को करते हैं। रिजर्व बैंक का गवर्नर बैंक का प्रमुख प्रशासनिक अधिकारी होता है, जिसकी सहायता के लिए उप-गवर्नर नियुक्त किए जाते हैं।

संचालक मंडल के सदस्यो की अयोग्यताएं—निम्नलिखित व्यक्तियो को संचालक मंडल के सदस्य के रूप मे अयोग्य माना जाता है—

(i) जो कभी दिवालिए घोषित किए जा चुके हैं।

(ii) जो किसी व्यापारिक एवं निजी बैंक के संचालक हैं।

(iii) जो सरकारी वेतनभोगी अधिकारीगण हैं।

(iv) जो पागल या अस्वस्थ मस्तिष्क के व्यक्ति हैं।

(4) रिजर्व बैंक का कार्यालय (Office of Reserve Bank)—रिजर्व बैंक का प्रधान कार्यालय बम्बई मे है और उसने अपने कार्यों को संतोषप्रद ढंग से पूर्ण करने के लिए कलकत्ता, नई दिल्ली, कानपुर, नागपुर, बम्बई, बंगलौर एवं मद्रास मे स्थानीय कार्यालय भी स्थापित किए हैं। रिजर्व बैंक अपनी शाखाएं कही भी खोल सकता है, परंतु इसके लिए केंद्रीय सरकार की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक होगा। जिन स्थानों पर रिजर्व बैंक के कार्यालय नही हैं वहा पर एजेंट या प्रतिनिधि के रूप मे स्टेट बैंक ऑफ इंडिया, स्टेट बैंक ऑफ हैदराबाद तथा बैंक ऑफ मैसूर आदि कार्य करते हैं। इस बैंक के बैंकिंग विभाग की एक शाखा लंदन मे भी खोली गई है। इस बैंक के नियंत्रण विभाग चार स्थानो नई दिल्ली, कलकत्ता, कानपुर एवं मद्रास मे हैं।

(5) प्रशासनिक विभाग (Administrative Department)—रिजर्व बैंक की प्रशासन व्यवस्था ठीक ढंग से चलाने के लिए कई विभाग स्थापित किए गए हैं, जिनमे से मुख्य विभाग निम्नलिखित हैं—

(i) बैंकिंग विभाग—इसकी स्थापना 1 जुलाई 1935 को हुई। यह विभाग एक ओर तो सरकारी कार्य करता है तथा दूसरी ओर बैंकों का धन अपने पास जमा करता है तथा उन्हे आवश्यकतानुसार धन देकर समाशोधन गृह का कार्य करता है।

(ii) विनिमय नियंत्रण विभाग—इसकी स्थापना सितंबर 1939 मे हुई। विनिमय नियंत्रण के लिए 1947 मे विनिमय नियमन अधिनियम पारित किया गया।

(iii) औद्योगिक वित्त विभाग—सितंबर 1957 मे इसकी स्थापना की गई जो छोटे, मध्यम उद्योगो एवं राज्य वित्त निगम को वित्तीय व्यवस्था करता है।

(iv) विधि विभाग—इसकी स्थापना 1951 मे की गई। यह विभाग बैंकिंग कंपनी अधिनियम, विदेशी विनिमय नियमन अधिनियम, स्टेट बैंक ऑफ इंडिया अधिनियम आदि की धाराओ को समय-समय पर जारी करता है।

(v) गैर-बैंकिंग कंपनियों का विभाग—जनता से जमा प्राप्त करने वाली कंपनियो के कार्यों के अध्ययन एवं नियंत्रण के लिए इस विभाग की स्थापना की गई है।

(vi) आर्थिक विभाग—यह विभाग देश की विभिन्न आर्थिक समस्याओ का अध्ययन करता है।

(vii) अनुसंधान एवं समंक विभाग—इस विभाग का मुख्य कार्य साख, मुद्रा, वित्त आदि समस्याओ का अध्ययन एवं अनुसंधान करके संबंधित आंकडो को एकत्रित एवं प्रकाशित करना है तथा रिजर्व बैंक को नीतियो के निर्धारण मे सहायता करता है।

(viii) बैंकिंग कार्यवाही एवं विकास विभाग—1964 में बैंकिंग विकास एवं बैंकिंग कार्यवाही विभाग को

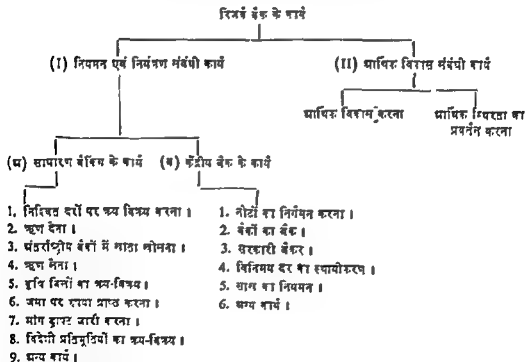
मिलाकर बैंकिंग कार्यवाही एवं विकास विभाग बनाया गया जो दो कार्य करता है—(अ) बैंकों का समय-समय पर निरीक्षण करके बैंकों द्वारा भेजे गए विवरणों की जाँच करता है तथा पूँजी में वृद्धि एवं एकीकरण के संबंध में निर्णय लेता है तथा बैंकों के दोषों को दूर करने के उद्देश्य से सुझाव प्रस्तुत करता है। (ब) यह विभाग ग्रामीण बचतों को प्रोत्साहित करके साख-सुविधाओं में वृद्धि करता है तथा व्यापारिक बैंकों के कर्मचारियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था करता है।

(ix) कृषि साख विभाग—अप्रैल 1935 में इस विभाग की स्थापना की गई। यह विभाग कृषि साख समस्याओं का अध्ययन करता है तथा राज्य सहकारी बैंकों से समन्वय स्थापित करता है।

(x) *नोट निर्गम विभाग—यह विभाग नासिक में स्थित इंडिया सिक्यूरिटी प्रेस (India Security Press)* से नोट प्रकाशित करके सरकारी खजानों को वितरण के लिए भेजता है तथा उसका पूर्ण हिसाब रखता है। इस विभाग की शाखाएं कलकत्ता, बम्बई, नई दिल्ली, बंगलौर, नागपुर, कानपुर एवं मद्रास में है।

रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया के कार्य
(Functions of Reserve Bank of India)

रिजर्व बैंक भारत का केंद्रीय बैंक है और इसके कार्यों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। रिजर्व बैंक के कार्यों को निम्न चार्ट द्वारा भी दिखाया जा सकता है—



(I) नियमन एवं नियंत्रण संबंधी कार्य

(अ) साधारण बैंकिंग के कार्य (General Banking Functions)—रिजर्व बैंक के साधारण बैंकिंग के कार्यों को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(1) निश्चित दरों पर क्रय-विक्रय करना—रिजर्व बैंक समय-समय पर निश्चित दरों पर भारत में भुगतान किए जाने वाले 90 दिवस की अवधि के व्यापारिक एवं वाणिज्यिक बिलों का क्रय-विक्रय करता एवं उन्हें भुनाता है। इसी प्रकार इंग्लैंड में 90 दिन में भुगतान होने वाले विनिमय बिलों को भी भुनाता एवं क्रय-विक्रय करता है।

(2) ऋण देना—रिजर्व बैंक भी केंद्रीय एवं राज्य सरकारों को 90 दिवस में भुगतान होने वाले ऋण देता है जो कि स्वीकृत प्रतिभूतियों, स्वर्ण, चांदी या वचन-पत्रों आदि की जमानत पर दिए जाते हैं।

(3) अंतर्राष्ट्रीय बैंकों में खाता खोलना—रिजर्व बैंक विदेशी के केंद्रीय बैंक में अपना खाता खोलता है तथा एजेंसी के रूप में संबंध स्थापित करता है।

(4) ऋण लेना—रिजर्व बैंक किसी भी बैंक से 1 महीने की अवधि के लिए अपनी हिस्सा पूंजी के बराबर ऋण ले सकता है।

(5) कृषि बिलों का क्रय-विक्रय—रिजर्व बैंक भारत में भुगतान होने वाले 15 माह की अवधि के कृषि संबंधी बिलों का क्रय-विक्रय करता एवं उन्हें भुनाता है।

(6) जमा पर रुपया प्राप्त करना—रिजर्व बैंक बिना ब्याज के सरकार या जनता से जमा पर रुपया प्राप्त कर सकता है।

(7) मांग ड्राफ्ट जारी करना—रिजर्व बैंक अपने ही कार्यालयों पर मांग ड्राफ्ट जारी कर सकता है।

(8) विदेशी प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय—रिजर्व बैंक भारत के बाहर अन्य देशों की उन प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय कर सकता है जिनका भुगतान क्रय करने की तिथि से 10 वर्षों के अंदर हो जाता है।

(9) अन्य कार्य—रिजर्व बैंक अपनी रक्षा में हीरे, जवाहरात एवं प्रतिभूतियां रख सकता है, स्वर्ण एवं चांदी के सिक्कों का क्रय-विक्रय कर सकता है, केंद्रीय एवं राज्य सरकार की प्रतिभूतियों का क्रय एवं विक्रय कर सकता है तथा 1 लाख रुपए तक की स्टर्लिंग का बैंकों से क्रय-विक्रय कर सकता है।

(ब) केंद्रीय बैंक के कार्य—ये कार्य निम्न हैं—

(1) नोटों का निर्गमन करना (Issue of Notes)—इस संबंध में रिजर्व बैंक निम्न कार्य करता है—

(i) एकाधिकार—रिजर्व बैंक को नोट निर्गमन करने का एकाधिकार प्राप्त है। इसके लिए रिजर्व बैंक ने पृथक् से एक नोट निर्गमन विभाग की स्थापना की है। इस विभाग का विवरण पृथक से रखा जाता है। रिजर्व बैंक अधिनियम की धारा 24 के अनुसार 2, 5, 10, 20, 50, 100, 500, 1,000, 5,000 तथा 10,000 रुपए के नोट निर्गमित कर सकता है।

(ii) सुरक्षित कोष व्यवस्था—नोटों का निर्गमन एक सुरक्षित कोष के आधार पर किया जाता है जिसमें स्वर्ण, प्रतिभूतियां तथा स्वीकृत विनिमय बिलों को सम्मिलित किया जाता है।

(iii) आनुपातिक कोष प्रणाली—1956 तक चलन के पीछे 40% भाग स्वर्ण में तथा 60% भाग प्रतिभूतियों के रूप में रखा जाता था।

(iv) न्यूनतम कोष प्रणाली—1956 में अधिनियम में संशोधन किया गया और आनुपातिक कोष प्रणाली के स्थान पर न्यूनतम कोष प्रणाली पद्धति को अपनाया गया। इस नवीन व्यवस्था के अंतर्गत कम से कम 400 करोड़ रुपए की विदेशी प्रतिभूतियां तथा 115 करोड़ रुपए का स्वर्ण रखने की व्यवस्था की गई। स्वर्ण का मूल्य 62.50 प्रति तोला के हिसाब से मूल्यांकित किया गया था।

(v) नवीन संशोधित व्यवस्था—31 अक्टूबर, 1957 को अधिनियम में नवीन संशोधन किया गया, जिसके अनुसार नोट निर्गमन विभाग द्वारा रखे वाले कोष की मात्रा 200 करोड़ रुपये की दर गई, जिसमें से कम से कम 115 करोड़ रुपये का स्वर्ण होना आवश्यक था। इस प्रकार विदेशी प्रतिभूतियों की मात्रा घटकर 85 करोड़ रुपये कर दी गई। इससे चलन व्यवस्था अधिक लोचदार हो गई है।

(vi) चलन तिजोरियां (Currency Chests)—मुद्रा की समुचित मात्रा चलन में लाने के लिए रिजर्व बैंक के निर्गमन विभाग के 10 कार्यालय (बंगलौर, बंबई, बाइकुल (बंबई), कलकत्ता, कानपुर, हैदराबाद, मद्रास, नागपुर, पटना तथा नयी-दिल्ली) तथा 1 उप-कार्यालय गोहाटी में हैं। इनके अतिरिक्त देश-भर में लगभग 2000 स्थानों

पर रिजर्व बैंक की तिजोरियाँ रखी रहती हैं जिनमें नोट रहते हैं। ये तिजोरियाँ स्टेट बैंक तथा अन्य सहायक बैंकों की प्रमुख शाखाओं में रखी रहती हैं। व्यापारिक बैंकों की साख की आवश्यकता रिजर्व बैंक की तिजोरी से पूरी हो जाती है।

(2) **बैंकों का बैंक (Banker's Bank)**—रिजर्व बैंक संकट के समय आर्थिक सहायता प्रदान करता है तथा बैंकों का नियमन करता है। इस संबंध में रिजर्व बैंक निम्न कार्य करता है—

(i) **साख नीति का नियमन**—रिजर्व बैंक बैंक-दर या खुले बाजार की क्रियाओं द्वारा बैंकों की साख नीति का नियमन एवं नियंत्रण करता है।

(ii) **बैंकों का पथ-प्रदर्शक**—बैंकिंग कंपनी अधिनियम ने रिजर्व बैंक को नियंत्रण संबंधी व्यापक अधिकार दे दिए हैं जिससे यह बैंकों के पथ-प्रदर्शक का कार्य करता है।

(iii) **अंतिम ऋणदाता**—प्रत्येक अनुसूचित बैंक को अपनी माँग दायित्व का 5% व काल दायित्व का 2% भाग नकद कोष में रिजर्व बैंक के पास जमा करना पड़ता था। 1949 में अधिनियम में संशोधन करके यह व्यवस्था की गई कि बैंकों को रिजर्व बैंक के पास चालू खाते खोलकर नकद कोष रखने होंगे। तत्पश्चात् 1956 में संशोधन करके यह व्यवस्था की गई कि बैंकों द्वारा माँग दायित्व का 20% तथा काल दायित्व का 80% भाग तक नकद कोष में जमा किया जा सकता है। सितंबर 1962 में संशोधन के आधार पर यह निश्चित किया गया कि बैंकों को कुल माँग दायित्व व काल दायित्व का केवल 3% भाग ही जमा करना होगा जिसे रिजर्व बैंक द्वारा 15% तक बढ़ाया जा सकता है। रिजर्व बैंक बैंकों को आर्थिक संकट के समय आर्थिक सहायता प्रदान कर सकता है।

(3) **सरकारी बैंकर (Banker to the Governments)**—रिजर्व बैंक केंद्रीय व राज्य सरकारों के समस्त बैंक संबंधी कार्यों को संपन्न करता है जो कि निम्नलिखित हैं—

(i) **सरकारी ऋणों का प्रबंध करना**—रिजर्व बैंक सरकारी ऋणों का प्रबंध करके उनका हिसाब-किताब रखता है। बैंक सरकार को 90 दिवस का अल्पकालीन ऋण प्रदान करता है।

(ii) **आर्थिक सलाहकार**—रिजर्व बैंक सरकार को साख, मुद्रा एवं अन्य समस्याओं के संबंध में समय-समय पर आर्थिक सलाह देता है। *आर्थिक नीति के निर्माण में भी सरकार को सहायता प्रदान करता है।*

(iii) **सरकारी धन प्राप्त करना**—रिजर्व बैंक सरकार की ओर से धन प्राप्त करता है तथा उसे भुगतान आदि में प्रयोग करता है। सरकार का वार्षिक लेन-देन 140 अरब रुपये का होता है। इतनी राशि का लेन-देन करने तथा समय-समय पर उसका हिसाब सरकार को भेजने में भारी श्रम एवं कुशलता की आवश्यकता होती है। इस कार्य के लिए बंगलौर, बंबई, कलकत्ता, मद्रास, कानपुर, नागपुर, नयी-दिल्ली एवं पटना में बैंक के सार्वजनिक लेखा विभाग हैं तथा शेष स्थानों पर स्टेट बैंक ही रिजर्व बैंक के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता है। समस्त लेन-देन कोषागार नियमों के आधार पर किए जाते हैं।

(iv) **विदेशी विनिमय की व्यवस्था**—रिजर्व बैंक विदेशी विनिमय की व्यवस्था करता है तथा धन के हस्तांतरण में सहायता देता है। सरकारी साधारण कार्यों के बदले उसे प्रतिफल प्राप्त नहीं होता है।

(v) **प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय**—रिजर्व बैंक सरकारी प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय करता एवं धन का हस्तांतरण करता है।

(v) **ऋण देना**—आवश्यकता पड़ने पर रिजर्व बैंक सरकार को समय-समय पर ऋण देने का प्रबंध करता है।

(vii) **विदेशी सरकार का ओर से कार्य**—रिजर्व बैंक विदेशी सरकार की ओर से भी कार्य करता है।

(4) **विनिमय दर का स्थायीकरण (Stability of Exchange Rate)**—रिजर्व बैंक द्वारा विनिमय दर को स्थायी रखने के प्रयास किए जाते हैं। इसके लिए समय-समय पर निश्चित दरों पर विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय किया जाता है तथा 1939 में विनिमय नियंत्रण विभाग एवं 1947 में विदेशी विनिमय नियमन अधिनियम पारित किए गए। अप्रैल 1947 में भारत ने *अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य बनने से उसने स्टर्लिंग से* अपना वैधानिक संबंध तोड़ा तथा रुपये का मूल्य स्वर्ण में घोषित किया गया जो 1 रुपया = ·268 ग्राम स्वर्ण था। 1949 में अवमूल्यन करने पर

यह मूल्य ·186 ग्राम हो गया और 1966 के अवमूल्यन के पश्चात् यह घटकर ·118 ग्राम स्वर्ण हो गया। रिजर्व बैंक विदेशी मुद्राओं का क्रय-विक्रय निश्चित दरों पर करता है।

(5) साख का नियमन (Control of Credit)—साख देश की अर्थव्यवस्था का प्रमुख साधन होने से उस पर समुचित नियंत्रण रखना आवश्यक होगा। रिजर्व बैंक को साख के नियमन संबंधी निम्नलिखित प्रमुख अधिकार प्राप्त हैं—(i) बैंक दर में परिवर्तन करना, (ii) नकद कोष अनुपात में परिवर्तन करना, (iii) खुले बाजार की क्रियाएं करना, (iv) मुद्रा व साख संबंधी आंकड़े एकत्रित करना, (v) जनता से प्रत्यक्ष व्यवहार करना, (vi) बैंकों के विरुद्ध प्रत्यक्ष कार्यवाही करना एवं (vii) समझाने, बुझाने की रीति अपनाना।

(6) अन्य कार्य—रिजर्व बैंक के अन्य कार्यों में निम्न को सम्मिलित किया जा सकता है—

(i) कृषि वित्त व्यवस्था—कृषि साख की समस्याओं को हल करने के उद्देश्य से कृषि साख विभाग में विशेषज्ञों की नियुक्ति की जाती है। यह विभाग सहकारी बैंकों को परामर्श भी देता है तथा कलकत्ता, बंबई, नयी दिल्ली एवं मद्रास में इसके क्षेत्रीय कार्यालय हैं। यह विभाग 1956 से गोदामों की भी व्यवस्था करता है।

(ii) समंक एकत्रित व प्रकाशित करना—रिजर्व बैंक, साख, बैंकिंग, मुद्रा व वित्त संबंधी समंक एकत्रित करके वार्षिक रिपोर्ट के रूप में उन्हें प्रकाशित भी करता है तथा आवश्यक अनुसंधान कार्यों को करता है।

(iii) साख नियंत्रण—रिजर्व बैंक साख नियमन विधियों द्वारा साख नियंत्रण का कार्य करता है तथा आवश्यकतानुसार साख प्रसार या संकुचन करता है।

(iv) समाशोधन गृह—रिजर्व बैंक समाशोधन गृह की सुविधाएं प्रदान करता है जिससे रुपये का हस्तांतरण काफी सुविधाजनक बन गया है। रिजर्व बैंक की स्थापना के पश्चात् समाशोधन गृहों की संख्या 4 से बढ़कर 160 हो गयी है, इनमें से बंगलौर, बंबई, कलकत्ता, कानपुर, मद्रास, नागपुर एवं नयी दिल्ली के समाशोधन गृहों की व्यवस्था रिजर्व बैंक करता है। शेष की व्यवस्था स्टेट बैंक व उसके सहायक बैंक करते हैं।

(v) औद्योगिक वित्त—रिजर्व बैंक उद्योगों के विकास एवं समस्याओं का अध्ययन करके औद्योगिक वित्त प्रदान करता है।

(vi) बैंकिंग शिक्षा—रिजर्व बैंक देश में बैंकिंग शिक्षा की समुचित व्यवस्था करता है।

(vii) मुद्रा परिवर्तन—रिजर्व बैंक बड़े नोटों के बदले छोटी-छोटी इकाई की मुद्रा को परिवर्तित करने के कार्य भी करता है।

(II) आर्थिक विकास संबंधी कार्य

(1) आर्थिक विकास करना—रिजर्व बैंक ने देश के आर्थिक विकास के लिए निम्न कार्य किया है—

(i) बैंकिंग सुविधाओं का विस्तार—साधनों के अभाव एवं ब्याज की ऊंची दर के कारण रिजर्व बैंक अनावश्यक बैंकिंग सुविधाओं का विस्तार करने में प्रयत्नशील रहता है। इसके लिए एक पृथक् बैंकिंग विकास विभाग खोला गया है।

(ii) रिजर्व बैंक एवं कृषि साख—रिजर्व बैंक ने सहकारी बैंकों एवं समितियों द्वारा कृषि कार्यों के लिए दीर्घ, मध्य एवं अल्पकालीन वित्त उपलब्ध कराने में सहायता की है। इसके लिए देश में राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष तथा राष्ट्रीय कृषि साख (स्थायित्व) कोष की स्थापना की गयी है। इन कोषों की स्थापना फरवरी 1956 में की गयी। 15 वर्षों में रिजर्व बैंक द्वारा दी जाने वाली कृषि-साख की वार्षिक राशि 45 गुनी बढ़ गयी है। रिजर्व बैंक भूमि-बंधक बैंकों के द्वारा ऋण-पत्र खरीदता है और उनकी धरोहर पर ऋण भी देता है। 1957 में एक ग्रामीण-ऋण-पत्र योजना भी प्रारंभ की गयी।

(2) आर्थिक स्थिरता का प्रवर्तन करना—पंचवर्षीय योजनाओं के संदर्भ में रिजर्व बैंक दो उद्देश्यों की पूर्ति करता है—

(i) आर्थिक विकास हेतु आवश्यक वित्त प्रदान करना।

समय-समय पर बैंक दरों में जो परिवर्तन किए हैं वे निम्न प्रकार हैं—

1975	8%
8 जनवरी, 1971	5% से बढ़ाकर 6%
2 मार्च, 1968	$4\frac{1}{2}$% से बढ़ाकर $5\frac{1}{2}$%
17 फरवरी, 1965	6% से घटाकर 5%
26 सितंबर, 1964	$4\frac{1}{2}$% से बढ़ाकर 5%
3 जनवरी, 1963	4% से बढ़ाकर $4\frac{1}{2}$%
16 मई, 1957	$3\frac{1}{2}$% से बढ़ाकर 4%
15 नवंबर, 1951	3% से बढ़ाकर $3\frac{1}{2}$%

विशेषताएं—भारत में बैंक दर की प्रमुख विशेषताएं निम्न प्रकार रही हैं—

(i) 1935-51 तक का काल—1 अप्रैल 1935, को बैंक दर $3\frac{1}{2}$% थी जो नवंबर 1935 में घटाकर 3% कर दी गई और 15 नवंबर, 1951 को फिर से बढ़ाकर $3\frac{1}{2}$% कर दी गई। इस अवधि में भारतीय बैंकों ने साख सुविधाओं का बहुत कम लाभ उठाया जिसके प्रमुख कारण निम्न हैं—

(अ) ट्रेजरी पत्रों का अधिक प्रयोग—बैंकों ने तरलता एवं परिपक्वता को ध्यान में रखते हुए बिलों की अपेक्षा ट्रेजरी पत्रों का अधिक उपयोग किया।

(ब) इच्छा में कमी—इस काल में बैंकों द्वारा रिजर्व बैंक से ऋण लेने की इच्छा में कमी रही।

(स) आर्थिक स्थिति में सुधार—युद्धोत्तर काल के प्रारंभिक वर्षों में बैंकों की आर्थिक स्थिति में सुधार रहा जिससे बट्टे की सुविधाओं को कम प्रयोग किया गया।

(द) सरकारी प्रतिभूतियों का संचय—इस काल में बैंकों ने सरकारी प्रतिभूतियों में काफी मात्रा में संचय एवं विनियोग किया, जिससे साख सुविधाओं का लाभ नहीं उठाया जा सका।

(ii) 1951-57 तक का काल—15 नवंबर, 1951 को बैंक दर बढ़ाकर $3\frac{1}{2}$% कर दी गई तथा रिजर्व बैंक द्वारा यह घोषणा की गई कि वह बैंकों से सरकारी प्रतिभूतियां नहीं खरीदेगा, फलस्वरूप बैंकों द्वारा प्रदान किए जाने वाले ऋणों में भारी कमी हो गई। इस काल में बैंक दर नीति काफी प्रभावशाली रही।

(iii) 1957 के बाद का काल—मुद्रा स्फीति की दशाओं को नियंत्रित करने के उद्देश्य से बैंक दर में परिवर्तन हुए। 15 मई, 1957 को बैंक दर $3\frac{1}{2}$%; बढ़ाकर 4% से 2 जनवरी, 1963 को 4%; बढ़ाकर $4\frac{1}{2}$% से 25 सितंबर को इसे बढ़ाकर 5% तथा 17 फरवरी, 1965 को बढ़ाकर 6% कर दिया गया। इससे देश में धन का संचय बढ़ा तथा दूसरी ओर विदेशी पूंजी के आयात को प्रोत्साहन मिला। इस प्रकार गत 10-15 वर्षों से बैंक दर की नीति साख नियंत्रण करने में सफल हुई है।

(2) नकद कोष में परिवर्तन (Change in Cash Reserves)—रिजर्व बैंक को सदस्य बैंकों में नकद कोषों में परिवर्तन करने का अधिकार होता है। प्रत्येक बैंक को अपनी मांग दायित्व का 5% व काल दायित्व का 2% नकद कोष रिजर्व बैंक में जमा करना होता है। 1949 में बैंकिंग कंपनी अधिनियम में परिवर्तन करके रिजर्व बैंक के पास चालू खाते खोलने का अधिकार दिया गया। बैंकों के पास पर्याप्त मात्रा में नकद कोष होने से रिजर्व बैंक द्वारा नकद कोष में परिवर्तन करने से साख नियंत्रण की नीति अधिक प्रभावशाली न हो सकी। अतः इस दोष को दूर करने के उद्देश्य से 1956 में रिजर्व बैंक अधिनियम में संशोधन करके काल दायित्व का प्रतिशत 2% से बढ़ाकर 8% तथा मांग दायित्व का प्रतिशत 5% से बढ़ाकर 20% तक कर सकता था। सितम्बर 1962 में अधिनियम में संशोधन करके यह परिवर्तन किया गया कि बैंकों को मांग दायित्व व काल दायित्व का केवल 3% भाग ही जमा करना होगा जिसे 15% तक बढ़ाया जा सकता है। 1956 के संशोधन अधिनियम में रिजर्व बैंक को अतिरिक्त धन जमा करने के अधिकार दिए गए। इस प्रकार नकद कोष में परिवर्तन करके साख का नियंत्रण किया जाता है।

(3) चुना साख नियंत्रण (Selective Credit Control)—साख का नियंत्रण विशिष्ट कार्यों के लिए करने पर उसे चुना साख नियंत्रण कहते हैं। एक अविकसित राष्ट्र मे नियंत्रण का उद्देश्य आवश्यक कार्यों को प्रोत्साहित करना है। रिजर्व बैंक देशहित मे बैंकों की ऋण नीति को निर्धारित कर सकता है। अतः रिजर्व बैंक बैंकों को यह आदेश दे सकता है कि निश्चित कार्यों के लिए ही ऋण प्रदान किया जाना चाहिए। 1956 मे साख वृद्धि होने से सट्टेबाजी को प्रोत्साहन मिला तथा मूल्य स्तर में वृद्धि हुई। अतः साख पर नियंत्रण इस उद्देश्य से लगाया गया कि सट्टे के व्यवहारों को रोका जा सके तथा देश का आर्थिक विकास सम्भव किया जा सके।

(4) खुले बाजार की क्रियाएं (Open Market Operations)—इसमे रिजर्व बैंक द्वारा साख की मात्रा को नियन्त्रित करने के उद्देश्य से खुले बाजार की नीति का पालन किया जाता है जिसमे रिजर्व बैंक द्वारा खुले तौर पर प्रतिभूतियो की खरीद एवं बिक्री की जाती है। द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व यह क्रियाएं अत्यंत सीमित मात्रा मे की जाती थी। युद्धकाल मे इन क्रियाओं द्वारा विनियोग सीमित रखा गया, परन्तु युद्ध समाप्त होते ही इन क्रियाओं द्वारा विनियोग की मात्रा मे वृद्धि हो गई। 1951 मे रिजर्व बैंक ने यह घोषणा की कि वह सरकारी प्रतिभूतियों का क्रय नही करेगा, जिससे बैंक दर नीति अधिक प्रभावशील हो गई तथा साख के नियमन करने मे अधिक सफलता मिली। प्रथम योजनाकाल मे रिजर्व बैंक ने 150 करोड़ रुपये का विनियोजन किया। 1957 से प्रतिभूतियों का विक्रय अधिक बढ़ा जिससे बैंकों की तरलता मे कमी हो गई। इस प्रकार साख कम करने के लिए रिजर्व बैंक द्वारा प्रतिभूतियां बेची जाती हैं तथा साख में वृद्धि करने के लिए प्रतिभूतियो को खरीदा जाता है तथा बैंकों को अधिक मात्रा मे धन दिया जाता है, परिणामस्वरूप साख का विस्तार हो जाता है। यह नीति काफी सफल रही।

रिजर्व बैंक की धारा 17 (8) के अनुसार रिजर्व बैंक को खुले बाजार की क्रियाओं के लिए निम्न अधिकार प्राप्त होते हैं—

(i) 1 लाख रुपये से कम मूल्य के विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय रिजर्व बैंक कर सकता है।

(ii) रिजर्व बैंक केंद्रीय या राज्य सरकार की किसी भी अवधि की प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय कर सकता है।

(iii) रिजर्व बैंक ऐसे व्यापारिक बिलों की खरीद, बेच या भुना सकता है जिन पर कम से कम दो प्रतिष्ठित हस्ताक्षर हो। इनकी अवधि 90 दिन व कृषि संबंधी बिलों की अवधि 15 माह तक हो सकती है।

(5) तरलता अनुपात में परिवर्तन (Change in Liquidity Ratio)—रिजर्व बैंक देश के अनुसूचित बैंकों को एक न्यूनतम तरलता अनुपात बनाए रखने के आदेश देता है जो कि कम से कम 25% होना चाहिए। परन्तु भारत मे बैंकिंग कंपनियां प्रारंभ से ही इससे भी अधिक मात्रा मे तरलता अनुपात रखे हुए हैं। इस प्रकार रिजर्व बैंक ने बैंको के तरलता अनुपात में परिवर्तन करके उन्हे बैंकिंग सिद्धांत के आधार पर सुदृढ़ ही नही बनाया, बल्कि देश मे साख की मात्रा का उचित ढंग से नियमन एवं नियंत्रण भी किया है।

(6) नैतिक प्रभाव (Moral Suasion)—रिजर्व बैंक अन्त मे नैतिक प्रभाव की नीति का पालन करके साख की मात्रा को नियन्त्रित करने मे सफल हो जाता है। इस कार्य के लिए रिजर्व बैंक द्वारा दो बैंको की सभाएं बुलाई जाती हैं तथा बैंको मे साख की मात्रा को कम करने के लिए नैतिक दबाव डाला जाता है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण सामने आए हैं, जबकि रिजर्व बैंक ने इस विधि द्वारा साख का नियमन एवं नियंत्रण किया है।

गुणात्मक साख नियंत्रण

जब केंद्रीय बैंक कुछ निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति हेतु सदस्य बैंकों को साख प्रदान करने के आदेश देता है तो ऐसे साख नियंत्रण को गुणात्मक साख नियंत्रण कहा जाता है। रिजर्व बैंक को देश के अन्य बैंकों द्वारा दिए जाने वाले ऋणों की मात्रा, उद्देश्य व ढंग को निर्धारित करने का अधिकार है। गुणात्मक साख नियंत्रण के संबंध में रिजर्व बैंक की निम्न क्रियाएं रही हैं—

(1) अनुमति की आवश्यकता—ऋण की सीमा बांधने पर उस निश्चित सीमा से अधिक ऋण देने पर रिजर्व बैंक से पूर्व अनुमति लेनी पड़ती थी। उदाहरणार्थ खाद्यान्न की जमानत पर ऋण देने से पूर्व रिजर्व बैंक की अनुमति प्राप्त

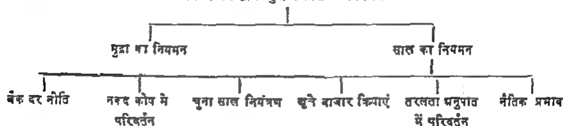
करना आवश्यक था।

(ii) मूल्यांतर निश्चित करना—गुणात्मक साख नियंत्रण का प्रयोग 1956 में किया गया। 17 मई, 1956 को रिजर्व बैंक ने अनुसूचित बैंकों को यह आदेश दिए कि किसी भी संस्था को 50 हजार रुपए से अधिक राशि उधार न दी जाए और इनकी जमानत के मार्जिन को 10% बढ़ा दिए जाएं। 1963 में चीनी की जमानत पर दिए गए ऋण पर 45% मार्जिन लगा दिया गया। वनस्पति घी के विरुद्ध अग्रिम देने के लिए मार्जिन 50% कर दिया।

(iii) ऋण पर प्रतिबंध—रिजर्व बैंक ने 1946, 1957 व 1958 में व्यापारिक बैंकों को अंशों की जमानत पर ऋण न देने के आदेश दिए। 11 मार्च, 1960 को कंपनी के अंशों की जमानत पर दिए जाने वाले ऋण पर 50% मार्जिन निश्चित किया गया।

अभी हाल ही में रिजर्व बैंक ने अपनी साख नीति में और सुविधाएं प्रदान की हैं। व्यापारिक बैंक अब खाद्य निगम तथा अन्य राज्य एजेंसियों के खाद्यान्न की मात्रा के 80% तक रिजर्व बैंक से पुनर्वित्त की सुविधाएं प्राप्त कर सकते हैं। इस घोषणा से निर्यात हेतु अग्रिम राशि एवं कृषि के लिए प्रत्यक्ष ऋण व्यवस्था के अतिरिक्त समस्त पुनर्वित्त सुविधाओं को वापस ले लिया गया है। यह सुविधा इसलिए प्रदान की गई है कि खाद्यान्न की वित्त व्यवस्था के लिए स्टेट बैंक 100 करोड़ रुपए से अधिक सहायता देने में असमर्थ था। रिजर्व बैंक द्वारा खाद्यान्न प्राप्ति संबंधी साख की व्यवस्था अपने ही साधनों से करनी होगी।

रिजर्व बैंक द्वारा मुद्रा व साख नियंत्रण को निम्न चार्ट द्वारा दिखाया जा सकता है—



अप्रभावी साख नियंत्रण नीति
(Ineffective Credit Control Policy)

भारत में रिजर्व बैंक साख नियंत्रण नीति में बहुत सफल नहीं हो पाया है, जिसके प्रमुख कारण निम्न हैं—

(1) संगठित मुद्रा एवं बिल बाजार का अभाव—भारत में मुद्रा बाजार का संगठन दोषपूर्ण है जिससे विभिन्न अंगों में संपर्क का अभाव पाया जाता है जिससे बैंक दर में परिवर्तन होने पर ब्याज दर में परिवर्तन नहीं हो पाता। इसी कारण से प्रभावशाली बैंक दर नीति के लिए संगठित बिल बाजार का होना आवश्यक है जो देश में अविकसित अवस्था में है जिससे रिजर्व बैंक की साख नियंत्रण की क्रियाएं सीमित मात्रा में ही सफल हो सकी हैं।

(2) लोच का अभाव—देश में आर्थिक ढांचा लोचदार होने पर बैंक दर में परिवर्तन होने से ब्याज दरों में भी परिवर्तन होना चाहिए। परंतु भारत में ब्याज, मूल्यों एवं मजदूरी पर अनेक नियंत्रण लगाए गए, जिससे देश की अर्थव्यवस्था में लोच का अभाव पाया गया व रिजर्व बैंक की साख नीति सफल नहीं हो पाई।

(3) स्वदेशी बैंकर पर नियंत्रण का अभाव—भारत में वित्त की व्यवस्था स्वदेशी बैंकर द्वारा की जाती है, परंतु इन पर रिजर्व बैंक किसी भी प्रकार का कोई नियंत्रण नहीं रख सका है जिससे वे आधुनिक बैंकिंग व्यवस्था से पृथक रहते हैं। इस प्रकार स्वदेशी बैंकर पर नियंत्रण के अभाव में साख नियंत्रण नीति सफल नहीं हो पाई है।

(4) बैंकों पर नकद कोष की अधिकता—युद्धोत्तर काल में बैंकों पर मुद्रा प्रसार के कारण काफी मात्रा में नकद कोष एकत्रित होने से, वे स्वयं बड़ी मात्रा में साख का निर्माण कर लेते हैं, जिससे रिजर्व बैंक साख नियंत्रण नीति

में सफल नहीं हो पाता।

(5) खुले बाजार की सीमित शक्ति—रिजर्व बैंक खुले बाजार में स्वतंत्र रूप से कार्य न कर सका जिससे साख नियंत्रण नीति अधिक सफल न हो सकी।

सफलता के उपाय

साख नियंत्रण नीति को सफल बनाने के लिए रिजर्व बैंक ने जो उपाय अपनाए हैं, उन्हें निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(1) नकद कोषों में परिवर्तन—1956 में अधिनियम में संशोधन करके यह व्यवस्था की गई कि काल दायित्व का प्रतिशत [illegible] से बढ़ाकर 8% तक तथा माग दायित्व का प्रतिशत 5 से बढ़ाकर 20% तक कर दिया जाय। इसके अतिरिक्त अधिक जमा कोष रखने के भी अधिकार मिलें। 1962 में संशोधन करके माग एवं काल दायित्व की सीमा 3% से 15% तक कर दी गई।

(2) बैंक दर व खुले बाजार की क्रियाएं—रिजर्व बैंक ने समय-समय पर बैंक दर में वृद्धि की जो 6% तक हो गई इससे साख की मात्रा में संकुचन हुआ। इसी प्रकार 1951 में यह घोषणा की गई कि रिजर्व बैंक अब सरकारी प्रतिभूतियों का क्रय नहीं करेगा। इससे भी साख की मात्रा में संकुचन हुआ।

(3) साख सूचना प्राप्त करना—1962 में अधिनियम में संशोधन करके रिजर्व बैंक को यह अधिकार मिला कि वह बैंकों से सूचना प्राप्त करे और इसके लिए साख सूचना विभाग की स्थापना भी की गई है। इस प्रकार की प्राप्त सूचनाएं उन बैंकों को प्रदान की जाती हैं, जो उन्हें प्राप्त करना चाहें।

(4) गैर-बैंकिंग संस्थाओं पर नियंत्रण—1963 के संशोधन से रिजर्व बैंक को व्यापारिक बैंकों पर सख्त नियंत्रण रखने एवं गैर-बैंकिंग संस्थाओं से समस्त वित्तीय जानकारी प्राप्त करने के अधिकार प्राप्त हो जाते हैं।

(5) बिल बाजार योजना—मुद्रा एवं साख की मात्रा में अधिक नियंत्रण करने के उद्देश्य से 16 जनवरी, 1952 को रिजर्व बैंक ने बिल बाजार योजना में लोच उत्पन्न की।

(6) चुना साख नियंत्रण नीति—1949 के बैंकिंग कंपनी अधिनियम के आधार पर रिजर्व बैंक को व्यापक अधिकार प्राप्त हो गए, जिसके आधार पर वह ऋणों संबंधी प्रतिबंध लगा सकता है, परंतु इस नीति से भारत को सीमित मात्रा में ही सफलता प्राप्त हुई है।

(7) इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण—यह बैंक व्यापारिक बैंक की भांति कार्य कर रहा था तथा इसके निजी साधन काफी प्रचुर मात्रा में थे, परंतु इसकी साख नीति रिजर्व बैंक की नीति के प्रतिकूल रहती थी। अतः नीति में एकरूपता लाने के उद्देश्य से इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया।

रिजर्व बैंक एवं कृषि साख
(Reserve Bank and Agriculture Credit)

रिजर्व बैंक ने पृथक से कृषि साख विभाग की स्थापना की है, जिसका कार्य कृषि से संबंधित समस्याओं का अध्ययन करना तथा परामर्श देना है। 1947 तक रिजर्व बैंक ने इस ओर विशेष कार्य नहीं किया, परंतु 1949 से इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किए गए।

सेवाएं

कृषि वित्त के संबंध में कृषि साख विभाग निम्न सेवाएं प्रदान करता है—

(i) अखिल भारतीय सर्वे का आयोजन—रिजर्व बैंक द्वारा 1951-52 में अखिल भारतीय स्तर पर साख सर्वे का आयोजन किया गया है।

(ii) सहकारी आंदोलन से संपर्क—यह विभाग सहकारी आंदोलन से निकट का संपर्क रखता है तथा समय-

समय पर अधिकारियों की नियुक्ति भी करता है।

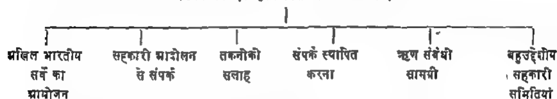
(iii) तकनीकी सलाह—यह विभाग केंद्रीय एवं राज्य सरकारों को कृषि साख से संबंधित मामलों में महत्त्वपूर्ण तकनीकी सलाह प्रदान करता है।

(iv) संपर्क स्थापित करना—इस विभाग के अधिकारी अन्य विभागों एवं एजेंसियों से संपर्क स्थापित करते हैं।

(v) ऋण संबंधी सामग्री—यह विभाग ऋण संबंधी सामग्री को एकत्रित करके उपचार नियमों पर अपना परामर्श भी देता है।

(vi) बहुउद्देशीय सहकारी समितियां—इस विभाग ने कृषि अर्थप्रबंधन से संबंधित पर्याप्त मात्रा में सामग्री एकत्रित करके बहुउद्देशीय सहकारी समितियों की स्थापना पर अधिक जोर दिया है।

रिजर्व बैंक की कृषि साख सेवाओं को निम्न चार्ट के रूप में रखा जा सकता है—



अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वे कमेटी की सिफारिशें

1951 में श्री ए० डी० गोरवाला की अध्यक्षता में ग्रामीण साख का सर्वेक्षण करके सिफारिशें देने के उद्देश्य से अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वे समिति की नियुक्ति की गई जिसने निम्न सिफारिशें पेश की—

(1) कोषों का निर्माण—साख विस्तार के लिए समिति ने विभिन्न कोषों के निर्माण की सिफारिशें की, जो कि निम्नलिखित हैं—

(अ) राष्ट्रीय कृषि साख स्थायित्व कोष (National Agricultural Credit Stabilisation Fund)—इस कोष का प्रारंभ 1 करोड़ रुपये से प्रारंभ किया गया। इसका प्रयोग राज्य सहकारी बैंकों को मध्यकालीन ऋण देने में किया गया।

(ब) राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष (National Agricultural Credit long-term Operation Fund)—इस कोष का प्रारंभ 10 करोड़ रुपये से किया गया, इसका उपयोग राज्य सरकारों को ऋण देने एवं केंद्रीय भूमि बंधक बैंकों को ऋण देने में किया गया। इस कोष की राशि का उपयोग निम्न कार्यों के लिए किया गया है—

(i) राज्य सरकार की गारंटी पर केंद्रीय भूमि-बंधक बैंकों को 20 वर्ष तक के लिए ऋण देना।

(ii) राज्य की सहकारी साख समितियों के अंश क्रय करने के लिए 20 वर्ष तक के लिए ऋण देना।

(iii) राज्य सहकारी बैंकों को 15 माह से 5 साल तक के लिए ऋण देना।

(iv) राज्य सहकारी बैंकों की गारंटी पर केंद्रीय भूमि बंधक बैंकों के ऋणपत्रों को क्रय करना।

(स) राष्ट्रीय कृषि साख (सहायता एवं गारंटी) कोष (National Agricultural Credit-Relief and Guarantee-Fund)—इस कोष में कृषि एवं खाद्य मंत्रालय प्रतिवर्ष 1 करोड़ रुपये देगा जिसका उपयोग सहकारी समितियों के लिए होगा।

(द) राष्ट्रीय गोदाम विकास कोष (National Warehousing Development Fund)—इस कोष का प्रयोग गोदाम निगम की अंश पूंजी में भाग लेने एवं वित्तीय सहायता देने में किया जाता है।

(3) कृषि साख कोष—रिजर्व बैंक ने कृषि साख से संबंधित दो कोषों का निर्माण करके सहकारी बैंकिंग के संबंध में पर्याप्त सहायता प्रदान की है।

(4) सहकारी संस्थाओं का निरीक्षण—कृषि साख विभाग समय-समय पर सहकारी संस्थाओं का निरीक्षण करके साख आवश्यकताओं का अनुमान लगाता है।

(5) हाथकरघा बुनकर सहकारी समितियों को सहायता—रिजर्व बैंक द्वारा हाथकरघा बुनकर सहकारी समितियों को बैंक दर से $1\frac{1}{2}\%$ कम ब्याज दर पर साख सुविधाएं प्रदान की जाती हैं।

(6) गहन कृषि कार्यक्रम हेतु सहायता—खाद्यान्न व अन्य कृषि उत्पादन में वृद्धि करने के लिए गहन कृषि कार्यक्रम बनाए गए हैं तथा इनकी सफलता के लिए रिजर्व बैंक द्वारा आर्थिक सहायता प्रदान की जाती है। इस क्षेत्र के केंद्रीय सहकारी बैंकों को विशेष सुविधाएं प्रदान की जाती हैं।

(7) भूमिबंधक बैंकों को सहायता—रिजर्व बैंक भूमि बंधक बैंकों के ऋण-पत्रों को क्रय करके उन्हें सहायता प्रदान करता है।

(8) पूर्ति सुविधा (Reimbursement Facility)—रिजर्व बैंक राज्य सहकारी बैंकों द्वारा प्रदान किए गए मध्यकालीन ऋणों के 75% भाग तक पूर्ति कर सकता है जिससे सहकारी बैंकों को साख विस्तार में काफी सहायता प्राप्त होती है।

सहकारी विकास नीति
(Cooperative Development Policy)

रिजर्व बैंक की सहकारी विकास नीति को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(1) कार्य प्रोग्राम (Action Programme)—रिजर्व बैंक द्वारा सहकारी साख कार्यों के लिए जो ऋण स्वीकृत किया जाता है उसका पूर्णरूप से उपयोग संभव नहीं हो पाता, जिसमें ऋण नीति को सफलतापूर्वक कार्य करने में अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अतः इस संबंध में अधिकाधिक लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से देश में रिजर्व बैंक द्वारा कार्य प्रोग्राम का निर्माण किया गया जिसमें साख को उत्पादन व्यय की आवश्यकताओं से सबंधित कर दिया जाता है। राज्य एवं केंद्रीय सहकारी बैंकों की ऋण नीति में इस प्रकार परिवर्तन करना होगा, जिससे ऋणों का सबंध फसल के उत्पादन व विपणन से किया जा सके।

(2) कृषि साख स्थायीकरण कोष (Agricultural Credit Stabilisation Fund)—भारत में प्रतिवर्ष बाढ़, सूखा व बीमारी आदि से फसलें नष्ट हो जाती हैं और कृषक ऋण वापिस करने में असमर्थता अनुभव करता है, इससे सहकारी बैंकिंग व्यवस्था भी बिगड़ जाती है। इस स्थिति का सामना करने के उद्देश्य से रिजर्व बैंक ने कृषि साख स्थायीकरण कोष की स्थापना की। इस कोष में राज्य एवं केंद्रीय सहकारी बैंक द्वारा अपने वार्षिक लाभ का कम से कम 25% भाग हस्तांतरित कर दिया जाएगा और राज्य सहकारी बैंक आवश्यकता पड़ने पर इस कोष से धन प्राप्त कर सकेंगे।

(3) सहकारी बैंकों पर वैधानिक नियंत्रण (Statutory Control over Cooperative Bank)—कृषि साख की व्यवस्था सहकारी बैंकों से की जाती है अतः रिजर्व बैंक का सहकारी बैंकों पर वैधानिक दृष्टि से नियंत्रण होना आवश्यक है। अतः संसद में एक 'बैंकिंग नियम विधेयक 1964' पारित किया गया। इस विधेयक (Bill) में यह व्यवस्था की गई कि 'बैंकिंग कंपनी अधिनियम 1949' का नाम बदल कर 'बैंकिंग नियंत्रण अधिनियम 1949' कर दिया जाएगा।

(4) कृषि साख निगम (Agricultural Credit Corporation)—कृषि उपज में वृद्धि करने के उद्देश्य से विभिन्न स्थानों में कृषि साख निगम की स्थापना को अनुमत किया गया। यह निगम केवल उसी समय कार्य करना प्रारंभ करेगा जबकि सहकारी समितियां सुचारु रूप से कार्य करना प्रारंभ नहीं कर देती हैं।

रिजर्व बैंक ने प्रथम बार सहकारी बैंकों द्वारा दिए जाने वाले अग्रिम की न्यूनतम ऋण दर निश्चित की है। इसने मूंगफली, तिलहन एवं अन्य कृषि उत्पादों पर 14% न्यूनतम अग्रिम राशि निर्धारित की है। सुस्त काल में

के लिए पर्याप्त मात्रा मे पूंजी का प्रबंध करना है तथा दूसरी ओर मुद्रा स्फीति को नियंत्रित करके अधिकाधिक विनियोग के अवसर प्रदान करने हैं। रिजर्व बैंक ने प्रथम एवं द्वितीय योजनाओं की वित्त-व्यवस्था मे सहायता प्रदान करके योजनाओं को सफल बनाने मे काफी योगदान दिया। तृतीय एवं चतुर्थ योजना की सफलता के लिए भी आवश्यक मौद्रिक साधनों को जुटाने के प्रयास किए जायेंगे। रिजर्व बैंक द्वारा निर्यात प्रोत्साहन के लिए आर्थिक सहायता देने के प्रयास किए जाते हैं। चतुर्थ योजना मे निर्यात वृद्धि का लक्ष्य 7% रखा गया परंतु *1969-70* मे निर्यात मे 4.3% से ही वृद्धि संभव हो सकी। पंचम योजना का निर्यात लक्ष्य 7% रखा गया।

रिजर्व बैंक का आलोचनात्मक मूल्यांकन
(Critical Appraisal of Reserve Bank)

रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया ने अपने 40 वर्ष से भी अधिक समय में महान सफलताओं एवं असफलताओं का सामना किया है। रिजर्व बैंक की प्रगति, सफलताओ एवं असफलताओं के विवरण को निम्न प्रकार उचित ढंग से रखकर अध्ययन किया जा सकता है—

प्रगति एवं सफलताएं

1966 को समाप्त होने वाले गत 15 वर्षों की अवधि में नकद साख एवं अधिविकर्ष की मात्रा मे कमी रही, क्योंकि जो साख-सीमा स्वीकृत की गई उसका पूर्ण उपयोग संभव न हो सका तथा बैंक मुद्रा का उपयोग काफी बढ़ा। चालू जमा राशि 1951 में 38 से बढ़कर 1966 में 45 हो गई, फिर भी कुल साख की मात्रा 1951 में 16.4 के स्थान पर घटकर 1966 मे 16.3 हो गई। इस अवधि मे बैंको के जमा में उल्लेखनीय प्रगति हुई जो 1951 में 777 करोड़ रुपये से बढ़कर 1966 मे 2,980 करोड़ रुपए हो गई, अर्थात् इसमे 280% से वृद्धि हुई। जमा का डेबिट योग 1951 में 18,227 करोड़ रुपये से बढ़कर 1966 मे 40,663 करोड़ रुपये हो गया जिसमें 120% से वृद्धि हुई। इसी प्रकार ऋण, बिल एवं नकद साख व अधिविकर्ष की मात्रा 1951 में 550 करोड़ रुपये के स्थान पर 1966 मे 2,065 करोड़ रुपये हो गई। *1 लाख से अधिक जनसंख्या वाले क्षेत्रों में यह 83.8% थी जबकि ग्रामीण क्षेत्रों में यह केवल 2%* थी। जमा में वृद्धि ग्रामीण क्षेत्र मे 1,077% थी। टण्डन समिति की सिफारिशों के आधार पर रिजर्व बैंक ने यह निर्णय लिया है कि बैंकों द्वारा उद्योग व व्यापार को दिए जाने वाले ऋण पर अधिक ब्याज दर वसूल की जाएगी। नकद साख पर ब्याज दर 10/0 अधिक व आधिक्य ऋण पर ब्याज दर 1½% अधिक रहेगी।[1]

1957 में रिजर्व बैंक ने एक पृथक औद्योगिक वित्त विभाग की स्थापना करके उद्योगो को आर्थिक सहायता प्राप्त की। रिजर्व बैंक राज्य वित्त निगमों को ऋण प्रदान करता है। पुनर्वित्त निगम एवं औद्योगिक साख तथा विनियोग आयोग को भी बैंक से वित्तीय सहायता प्राप्त होती है।

अनिवासी (Non-residents) के कोष पर अर्जित ब्याज की राशि को रिजर्व बैंक की अनुमति के बिना विदेशों को सरलता से भेजा जा सकता है। यह सुविधा विदेशी विनिमय कोषों को आकर्षित करने के उद्देश्य से प्रदान की गई। इससे दो वर्ष पूर्व केंद्रीय सरकार ने ऐसे कोषों पर अर्जित ब्याज को आयकर से मुक्त घोषित किया था। इस प्रकार विदेशी कोषों को आकर्षित करने का यह द्वितीय साधन था जिसे रिजर्व बैंक द्वारा घोषित किया गया। इस संबंध मे 'विदेशी विनिमय नियमन अधिनियम 1947' मे आवश्यक परिवर्तन किए गए हैं तथा बैंकों को इस संबंध में निर्देश देकर पृथक से खाते खोलने की समुचित व्यवस्था की गई है जिससे विदेशी कोषों को सरलता से आकर्षित किया जा सके।

स्वदेशी बैंकरों ने रिजर्व बैंक के साथ खाते खोलना निश्चित किया है तथा बैंकिंग व गैर-बैंकिंग व्यवसाय का पृथक से हिसाब रखा जाएगा, जिससे संगठित क्षेत्र में इनके योगदान में वृद्धि हो सके। इस संबंध में रिजर्व बैंक इस बात का परीक्षण करेगा कि हुंडी को किस प्रकार व्यापारिक कागजों में परिवर्तित किया जा सकता है। छोटे

1. The financial express Sep. 25, 1975

व्यापारियों, उद्योगपतियों व कलाकारों को खास सुविधाएं उपलब्ध करानी होगी। इन स्वदेशी बैंकरों का कार्य फुटकर प्रकृति का होता है तथा उनके स्थानीय ज्ञान एवं कम लागत का अपना विशेष महत्त्व होता है। रिजर्व बैंक का प्रयास स्वदेशी बैंकरों को संगठित बैंकिंग व्यवस्था से संबंधित करने का रहा। सर्राफ द्वारा समस्त ऋण उत्पादक कार्यों के लिए ही दिए गए तथा कोई भी ऋण घरेलू या व्यक्तिगत आवश्यकताओं के लिए स्वीकृत नहीं किया गया। हुंडी एक असुरक्षित ऋण होने पर भी बैंक को उसके पुन. कटौती में कोई हानि नहीं उठानी पड़ी। इस संबंध में मुल्तानी सर्राफ का योगदान विशेष उल्लेखनीय रहा है। भविष्य में व्यापारिक एवं सहकारी बैंकों की प्रतियोगिता के कारण स्वदेशी बैंकरों के व्यवसाय पर बुरा प्रभाव पड़ सकता है। परंतु स्वदेशी बैंकरों ने संगठित बैंकिंग पद्धति के विकास में सहायक के रूप में कार्य किया है। इस संबंध में यह सुझाव रखा गया कि यदि मुल्तानी सर्राफ आधुनिक तकनीक का प्रयोग करते हुए अपने खातों एवं प्रबंध को व्यवस्थित ढंग से रखकर अपनी पूंजी को कंपनी के रूप में लगाकर संगठित ढंग से विकास कर सकें तो इनका भविष्य उज्ज्वल हो सकेगा तथा देश के आर्थिक विकास में योगदान प्राप्त होगा।

रिजर्व बैंक ने राष्ट्रीय औद्योगिक साख (दीर्घकालीन) कोष में 60 करोड़ रु० के अंशदान को बढ़ाकर 1974-75 में 125 करोड़ रु० कर दिया है। रिजर्व बैंक का कृषि एवं उद्योग में विनियोग जून 1974 में 115 करोड़ रु० से से बढ़कर जून 1975 में 220 करोड़ रु० हो गया है।

रिजर्व बैंक ने राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष में 1974-75 में 50 करोड़ रु० का विनियोग बढ़ाकर कुल विनियोग 334 करोड़ रु० किया है। इस प्रकार से राष्ट्रीय कृषि साख (स्थायित्व) कोष में 45 करोड़ रुपये का विनियोग किया गया है और कुल कोष की मात्रा 140 करोड़ रु० हो गयी है। रिजर्व बैंक द्वारा 1974-75 में 45 करोड़ रु० का अंशदान करने से कृषि क्षेत्र में सहकारी क्षेत्र द्वारा अधिक विनियोग संभव हो सकेगा। इस साधन में से कुछ धन 50 ग्रामीण बैंकों के निर्माण पर व्यय होगा, जो मुख्यतया कृषि वित्त में उपयोगी सिद्ध होंगी।

राष्ट्रीय औद्योगिक साख (दीर्घकालीन) कोष में रिजर्व बैंक ने 145 करोड़ रु० से वृद्धि की जिससे 1974-75 में इस कोष में 390 करोड़ रु० जमा हो गए। इस कोष में से मुख्यतया भारतीय औद्योगिक विकास बैंक एवं भारतीय औद्योगिक पुनर्गठन निगम को लाभ होगा, जिनके पास कोष का अभाव है।

1975-76 बजट में रिजर्व बैंक के आधिक्य के रूप में 150 करोड़ रु० दिखाये गए हैं और 1974-75 में रिजर्व बैंक का लाभ 370 करोड़ रु० था।[1]

सफलता की विशेषताएं

रिजर्व बैंक की सफलता की प्रमुख विशेषताएं निम्न हैं—

(1) मौद्रिक नीति—रिजर्व बैंक देश को एक सुलभ मुद्रा नीति देने में सफल रहा। बैंक दर जो 7 से 9% रहती थी, उसे घटाकर 3% कर दिया और बाद में यह दर बढ़कर 6% हो गयी।

(2) बैंकों का बैंक—रिजर्व बैंक ने देश के अन्य बैंकों को आर्थिक सहायता देने एवं उनकी स्थिति सुदृढ़ बनाकर बैंकिंग व्यवस्था को एक दृढ़ नींव प्रदान की।

(3) बैंकिंग व्यवस्था का विकास—रिजर्व बैंक ने बैंकिंग अधिनियम के अंतर्गत सुदृढ़ बैंकिंग विकास की नींव डाली एवं निर्बल बैंकों के एकीकरण को प्रोत्साहित किया।

(4) रुपए के मूल्य में स्थायित्व—रिजर्व बैंक गत 41 वर्षों में रु० का बाह्य एवं आंतरिक मूल्यों में स्थायित्व बनाए रखने में सफल रहा।

(5) नोट निर्गमन के कार्य—रिजर्व बैंक ने पत्रमुद्रा के निर्गमन का कार्य सफलतापूर्वक निभाया। 1956 से न्यूनतम जमा प्रणाली के आधार पर नोटों का निर्गमन किया गया।

(6) स्फीति पर नियंत्रण—रिजर्व बैंक के साख के नियमन द्वारा स्फीति पर नियंत्रण लगाये गये हैं और इसी

1. The financial exprers, July 11, 1975

उद्देश्य से बैंक दर में वृद्धि की गई तथा 1956 में चुने साख नियंत्रण की नीति को अपनाया, जिससे देश के आर्थिक विकास में पर्याप्त वित्त व्यवस्था संभव हो सके।

(7) **सार्वजनिक ऋणों का प्रबंध**—रिजर्व बैंक ने सरकार की ओर से सार्वजनिक ऋणों का उचित ढंग से प्रबंध किया है तथा अल्पकालीन ऋण की उचित व्यवस्था की है।

(8) **औद्योगिक वित्त व्यवस्था**—रिजर्व बैंक ने औद्योगिक वित्त निगम, राज्य वित्त निगम तथा अन्य निगमों की स्थापना करके औद्योगिक वित्त की समुचित व्यवस्था की है।

(9) **धन का हस्तांतरण**—रिजर्व बैंक ने बहुत कम व्यय पर धन का हस्तांतरण एक स्थान से दूसरे स्थान को किया है।

(10) **साख का नियमन**—रिजर्व बैंक विभिन्न उपायों को अपनाकर साख का नियमन करने में सफल हुआ है तथा चुनी साख नियंत्रण पद्धति द्वारा सट्टे पर रोक लगाई गयी है तथा मूल्यों को नियंत्रित किया गया है।

(11) **बिल बाजार की स्थापना**—1952 में रिजर्व बैंक ने देश में बिल बाजार की स्थापना करके बिल बाजार को प्रोत्साहित किया है तथा लोच उत्पन्न की है।

(12) **आंकड़ों का प्रकाशन**—रिजर्व बैंक मुद्रा, बैंकिंग, साख एवं सहकारिता आदि के संबंध में आवश्यक आंकड़ों को एकत्रित करके उनके प्रकाशन की व्यवस्था करता है जिससे बैंक द्वारा समंकों का आवश्यकतानुसार उपयोग किया जा सके।

(13) **संगठित बैंकिंग प्रणाली**—1949 बैंकिंग कंपनी अधिनियम से रिजर्व बैंक को संगठित बैंकिंग प्रणाली की स्थापना में योगदान मिला है। इस संबंध में कमजोर बैंकों के एकीकरण की व्यवस्था की जाती है। रिजर्व बैंक को कमजोर बैंकों का अनिवार्य रूप से विलियन करने का अधिकार भी प्राप्त है।

(14) **विनिमय दर में स्थिरता**—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य बनने से भारत के रुपये का मूल्य स्वर्ण में घोषित करके विनिमय दरों में स्थिरता लाने के सफल प्रयास किये हैं।

(15) **कृषि साख विभाग**—कृषि क्षेत्र में वित्तीय सहायता देने के उद्देश्य से रिजर्व बैंक ने कृषि साख विभाग की स्थापना की है तथा अखिल भारतीय ग्रामीण साख समिति की सिफारिशों के आधार पर साख-व्यवस्था का पुनर्निर्माण किया है।

(16) **अंतिम ऋणदाता**—रिजर्व बैंक ने अंतिम ऋणदाता के रूप में कार्य करके अनेक बैंकों को डूबने से बचाया है।

(17) **ब्याज दर में स्थिरता**—साख की मात्रा में आवश्यकतानुसार प्रसार एवं संकुचन करके ब्याज की दरों में स्थिरता लाने के प्रयास किये गये हैं।

(18) **स्फीति नियंत्रण**—रिजर्व बैंक ने साख नियमन विधियों द्वारा स्फीति पर नियंत्रण लगाने के सफल प्रयास किये हैं। इस संबंध में बैंक दर को बढ़ाया गया तथा सरकारी प्रतिभूतियों के क्रय करने की नीति में परिवर्तन किया है। इसी प्रकार देश के आर्थिक विकास के लिए समय-समय पर पर्याप्त मात्रा में कोष उपलब्ध किए हैं तथा नियोजन की वित्त व्यवस्था भी है।

असफलताएं

रिजर्व बैंक की असफलताओं को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(1) **मुद्रा बाजार एवं बैंकिंग प्रणाली में संगठन का अभाव**—1949 के बैंकिंग अधिनियम से रिजर्व बैंक को मुद्रा बाजार में विभिन्न साख संस्थाओं में समन्वय स्थापित करने के अधिकार प्राप्त हैं, परन्तु मुद्रा बाजार एवं बैंकिंग प्रणाली में संगठन का अभाव पाया जाता रहा, जिसे रिजर्व बैंक दूर न कर सका।

(2) **कृषि साख की अपर्याप्त व्यवस्था**—रिजर्व बैंक को, दो कोषों का निर्माण करके, कृषि साख में वृद्धि करने के अधिकार मिले, परंतु वह कृषि साख की समुचित व्यवस्था न कर सका।

(3) **मूल्य स्थिरता में असफलता**—रिजर्व बैंक रुपये का आंतरिक मूल्य स्थिर रखने में असमर्थ रहा। देश में मुद्रा प्रसार पर नियंत्रण न लगाये जा सके जिसका देश की आर्थिक स्थिति पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा।

(4) **साख सुविधा का अभाव**—रिजर्व बैंक ने बैंकों के विस्तार में उदार नीति का पालन किया, फिर भी साख सुविधाओं का अत्यधिक अभाव बना रहा और रिजर्व बैंक इस अभाव को दूर नहीं कर सका।

(5) **संगठित बिल बाजार का अभाव**—1952 में बिल बाजार का विकास व स्थापना जिस उद्देश्य से की गई, उसमें रिजर्व बैंक सफल न हो सका।

(6) **स्वदेशी बैंकिंग प्रणाली पर नियंत्रण का अभाव**—रिजर्व बैंक मुद्रा बाजार के महत्वपूर्ण अंग स्वदेशी बैंकिंग को न तो नियंत्रित कर सका और न उसके लिए उचित प्रबंध व्यवस्था कर सका।

(7) **ब्याजदर में असमानता**—देश के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में ब्याजदर में पर्याप्त भिन्नता पायी जाती रही, जिसे रिजर्व बैंक नियंत्रित करने में असमर्थ रहा।

(8) **बैंकिंग संकट में असमर्थता**—बैंकिंग संकट से बैंक जो बड़ी मात्रा में असफल हो जाते थे, उसे रिजर्व बैंक ने कम अवश्य किया, परंतु पूर्णरूप से नियंत्रण करने में असमर्थ रहा।

(9) **रुपए के मूल्य में स्थिरता का अभाव**—अनेक प्रयासों के बावजूद भी रिजर्व बैंक रुपये के मूल्य में स्थायित्व लाने में असमर्थ रहा और मुद्रा की क्रय शक्ति कम होती गयी।

(10) **विदेशी विनिमय में असफलता**—विदेशी विनिमय के क्षेत्र में रिजर्व बैंक मिश्रित पूंजी वाले बैंकों को अवसर देने में असमर्थ रहा।

(11) **बैंकिंग सुविधाओं की अपर्याप्तता**—रिजर्व बैंक देश में पर्याप्त मात्रा में बैंकिंग सुविधाएं प्रदान करने में असमर्थ रहा।

का सुझाव दिया था, परंतु अनेक कारणो से इस प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया गया। ये कारण निम्न थे—

(i) यह बैंक भारतीय बैंकों के हित में कार्य नही कर पाता।

(ii) इसका उद्देश्य प्रारंभ से ही अधिकाधिक लाभ अर्जित करना था, अत. इसे केंद्रीय बैंक के अधिकार प्रदान करना उचित नही था।

(iii) यह एक पूर्णत. व्यापारिक बैंक था जिसकी देश-भर मे 300 शाखाएं होने से व्यापारिक बैंकों से प्रतिस्पर्धा होने के भय से इसे केंद्रीय बैंक नही बनाया जा सका।

(iv) इस बैंक की प्रबंध व्यवस्था पूर्णतया विदेशियो के हाथो में थी, जिससे इसे केंद्रीय बैंक मे परिवर्तित करने पर जनता का विश्वास कम होने का भय था।

सरकारी नियंत्रण

सरकार ने इम्पीरियल बैंक पर कुछ नियंत्रण लगाये जो कि निम्नलिखित थे—

(i) **सरकार द्वारा नियुक्ति**—प्रबंध मंडल के अधिकांश सदस्यों की नियुक्ति सरकार द्वारा की जाती थी। सरकार को 2 व्यवस्थापक गवर्नर, मुद्रा नियंत्रक एवं स्थानीय मंडल के सचिव व 4 गवर्नरों को नियुक्त करने का अधिकार था।

(ii) **खातों की जांच**—सरकार को बैंक के खातो को जाचने के पूर्ण अधिकार प्राप्त थे। खातो को जाचने का कार्य अंकेक्षकों द्वारा किया जाता था, जिनकी नियुक्ति एकाउन्टेंट जनरल द्वारा की जाती है।

(iii) **व्यापारिक बैंकों के अधिकार**—बैंक को व्यापारिक बैंक के समस्त कार्य करने के अधिकार प्राप्त थे, परंतु यह 6 माह से अधिक अवधि के लिए ऋण नही दे सकता था।

(iv) **विदेशी विनिमय पर प्रतिबंध**—बैंक अपनी निजी आवश्यकताओ के अतिरिक्त विदेशी विनिमय मे लेन-देन नही कर सकता था।

(v) **प्रबंध व्यवस्था**—बैंक की प्रबंध व्यवस्था 3 स्थानीय कार्यालयो द्वारा होती थी तथा कोई अन्य मंडल सरकारी अनुमति के बिना कार्य नहीं कर सकता था।

(vi) **वित्तीय नीति**—सरकार वित्तीय नीति के संबंध मे बैंक को आदेश दे सकती थी तथा कोई भी सूचना प्राप्त की जा सकती थी।

इम्पीरियल बैंक का महत्त्व
(Importance of Imperial Bank)

इम्पीरियल बैंक का देश की अर्थव्यवस्था मे बहुत अधिक महत्त्व था जिसके प्रमुख कारण निम्न थे—

(i) **विस्तृत कार्यक्षेत्र**—इम्पीरियल बैंक की पूरे देश मे 300 से भी अधिक शाखाएं होने से इसका कार्यक्षेत्र काफी विस्तृत था तथा देश के विभिन्न भागो मे सरलता व मितव्ययता से बैंकिंग सुविधाएं प्रदान की जा सकती थी।

(ii) **एजेंट का कार्य**—जहा पर रिजर्व बैंक की शाखाए नही थी, वहा पर इसने एजेंट का कार्य करके सरकार का समस्त कार्य किया।

(iii) **जनता का विश्वास**—इस बैंक की नीतियां एवं साधन अच्छे होने से जमा की राशि काफी अधिक रहती थी और जनता को इस बैंक मे अधिक विश्वास था।

इम्पीरियल बैंक के दोष
(Defects of Imperial Bank)

इम्पीरियल बैंक की कार्यप्रणाली मे प्रमुख दोष निम्न थे—

(i) **केंद्रीय बैंक के रूप में असफल**—इम्पीरियल बैंक अन्य व्यापारिक बैंको के साथ प्रतियोगिता करता था जिससे यह बैंक केंद्रीय बैंक के कार्यों को सफलतापूर्वक संपन्न करने मे असमर्थ रहा तथा देश मे केंद्रीय बैंक का अभाव

(ii) अभारतीय अधिकारी—इस बैंक को एकाधिकार प्राप्त होने पर भी उच्च पदों पर विदेशी लोग सेवारत थे, जिससे इस व्यवस्था के भारतीयकरण करने का परामर्श दिया गया।

(iii) निजी एकाधिकार—यह बैंक सरकार के अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्यों को करता है परंतु फिर भी इस पर सरकार का अधिकार न होकर निजी एकाधिकार है जिससे देश के विकास को खतरा बना रहता है।

(iv) स्थानीय कार्यालयों का अभाव—इस बैंक के स्थानीय कार्यालयों का अभाव था, जबकि सरकारी कामकाज करने के लिए कम से कम 275 स्थानों पर बैंकों की शाखाएं खोलने की आवश्यकता को अनुभव किया गया।

आलोचनाओं के साथ-साथ समिति का यह मत था कि इम्पीरियल बैंक के अधिक स्थानीय कार्यालय एवं शाखाओं की स्थापना भी जानी चाहिए। समिति इस बैंक के राष्ट्रीयकरण के स्थान पर उसके अधिकाधिक सरकारी नियंत्रण के पक्ष में थी।

ग्रामीण साख सर्वे समिति, 1954
(Rural Credit Survey Committee, 1954)

श्री ए० डी० गोरवाला की अध्यक्षता में ग्रामीण साख सर्वे समिति की स्थापना की गई, जिसने अपनी रिपोर्ट 1954 में प्रस्तुत की। इसकी सिफारिशें निम्न प्रकार हैं—

(i) विशेषाधिकारों की समाप्ति—बैंक के विशेषाधिकारों को समाप्त करके उन पर कड़े नियंत्रण लगाए जाने चाहिए।

(ii) धन हस्तांतरण की सुविधा—सरकारी खजाने द्वारा बैंक को सस्ती दर पर धन के हस्तांतरण की सुविधाएं प्रदान की जानी चाहिए।

(iii) मतदान अधिकार पर प्रतिबंध—बैंक के पदाधिकारियों के मतदान अधिकार पर प्रतिबंध लगा देने चाहिए।

(iv) भारतीयकरण—इंपीरियल बैंक के उच्च पदों पर कार्य करने वाले अधिकारियों का भारतीयकरण कर देना चाहिए।

(v) ग्रामीण साख सुविधाएं—देश में एक शक्तिशाली बैंक की स्थापना कर के देहातों में बैंकिंग सुविधाओं का विस्तार किया जाना चाहिए।

(vi) इम्पीरियल बैंक एवं दस अन्य बैंकों को मिलाकर एक नये बैंक की स्थापना की जानी चाहिए जिसका नाम स्टेट बैंक ऑफ इंडिया रखा जाए तथा जिसमें अधिकांश पूंजी सरकार के अधिकार में हो।

(ख) स्टेट बैंक ऑफ इंडिया
(State Bank of India)

ग्रामीण साख सर्वे समिति की सिफारिशों को स्वीकार करते हुए सरकार ने 1 जुलाई 1955 को स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना की तथा रिजर्व बैंक ने इंपीरियल बैंक के समस्त अंशों को क्रय कर लिया। 1955 में स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम पारित किया गया तथा इम्पीरियल बैंक की समस्त संपत्ति एवं दायित्व स्टेट बैंक को हस्तान्तरित कर दिए गए।

पूंजी व्यवस्था—बैंक की अधिकृत पूंजी 20 करोड़ रुपये रखी गई है जो 100 रुपये के 20 लाख अंशों में विभाजित है। बैंक की प्रदत्त पूंजी 5.625 करोड़ रु० है जिसे बढ़ाकर 12.5 करोड़ रु० किया जा सकता है। इम्पीरियल बैंक के जो अंश क्रय किये गए उनका मूल्य पूर्णदत्त अंशों पर (500 रुपए) 1765 रु० 10 आने एवं अंशतः दत्त अंशों पर (125 रु०) 431 रु० 12 आने 4 पाई निश्चित की गई। स्टेट बैंक के अंशों का बाजार मूल्य 350 रु० निश्चित किया गया तथा इम्पीरियल बैंक के पुराने अंशधारियों को 350 रु० पर अंश क्रय करने के अधिकार प्रदान किये गए। बैंक की पूंजी कम से कम 55 प्रतिशत भाग रिजर्व बैंक के पास रहेगा व शेष अन्य प्रार्थियों को दिया जाएगा, परन्तु रिजर्व बैंक के पास वास्तव में 92% अंश हैं। इम्पीरियल बैंक के अंशधारियों को 10,000 रु० का भुगतान तत्काल

तथा शेष के लिए $3\frac{1}{2}\%$ वाले सरकारी ऋण पत्रो के निर्गमन की व्यवस्था की गई जिसका भुगतान 1965 मे करना था। स्टेट बैंक मे कोई भी व्यक्ति या संस्था 200 अंशों से अधिक क्रय नही कर सकते परंतु यह सीमा किसी निगम, स्वायत्त संस्था निजी एवं सार्वजनिक धार्मिक ट्रस्टो पर लागू नही होती है। इसकी व्यवस्था प्रजातांत्रिक है क्योंकि कोई भी व्यक्ति 1% से अधिक मतदान देने का अधिकारी नही है।

प्रबंध व्यवस्था—प्रबंध केन्द्रीय बोर्ड तथा 7 स्थानीय कार्यालयो द्वारा होता है।

(अ) केंद्रीय बोर्ड—बैंक की स्थापना के समय संचालक मंडल के सदस्यो की संख्या 20 होती थी जिसमे से निजी अंशधारियो द्वारा 6 संचालक नियुक्त किए जाते थे। परंतु 1 दिसंबर, 1964 को अधिनियम मे संशोधन करके संचालक मंडल का गठन निम्न प्रकार रखा गया—

(1) संचालक मंडल की सिफारिश पर सरकार द्वारा 1 अध्यक्ष तथा 1 उपाध्यक्ष की नियुक्ति की जाती है।

(2) स्थानीय मंडल का सभापति केंद्रीय संचालक मंडल का पदेन सदस्य होता है। वर्तमान समय मे स्थानीय मंडल के सदस्यो की संख्या 7 है।

(3) सरकार न्यूनतम 2 व अधिकतम 6 संचालक नियुक्त कर सकती है।

(4) सरकार के अनुमोदन पर संचालक मंडल द्वारा कम से कम 2 प्रबंध संचालक नियुक्त किए जाएगे।

(5) यदि निजी अंशधारियो पर 10% से कम अंश हैं तो वे 2 संचालक नियुक्त कर सकते हैं।

(ब) स्थानीय बोर्ड (Local Boards)—स्टेट बैंक का केंद्रीय कार्यालय बंबई में है, परंतु इसके 7 स्थानीय मंडल भी हैं, जो कि कानपुर, अहमदाबाद, मद्रास, हैदराबाद, नई दिल्ली, बंबई एवं कलकत्ता में हैं। स्थानीय बोर्ड का गठन निम्न प्रकार है—

(i) संचालक मंडल के सदस्य—संचालक मंडल के कार्यक्षेत्र में रहने वाले सदस्य संबंधित स्थानीय बोर्ड में भी रहते हैं।

(ii) अंशधारियों द्वारा चुना सदस्य—प्रत्येक क्षेत्र मे निवास करने वाले अंशधारियो द्वारा प्रत्येक मंडल के लिए एक सदस्य चुना जाता है, बशर्ते पूंजी के कम से कम $2\frac{1}{2}\%$ अंश उनके पास हो।

(iii) गवर्नर—सभापति द्वारा स्थानीय मण्डल के सदस्यो मे से 1 सदस्य को रिजर्व बैंक का गवर्नर नियुक्त किया जाता है।

(iv) अध्यक्ष—स्टेट बैंक के अध्यक्ष प्रत्येक स्थानीय बोर्ड में पदेन अध्यक्ष होते हैं।

(v) सरकार द्वारा नियुक्ति—प्रत्येक स्थानीय मण्डल में रिजर्व बैंक की सलाह के 6 सदस्य सरकार द्वारा नियुक्त किए जाते हैं।

(vi) स्टेट बैंक द्वारा नियुक्त—मण्डल का कोषाध्यक्ष एवं सचिव पदेन सदस्य होते हैं, जो कि स्टेट बैंक द्वारा नियुक्त किए जाते हैं।

स्टेट बैंक के उद्देश्य

स्टेट बैंक की स्थापना के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित थे—

(1) बैंकिंग विकास—स्टेट बैंक का मुख्य उद्देश्य भारत के ग्रामीण क्षेत्रो में अधिकाधिक शाखाएं खोलकर बैंकिंग सुविधाओं का विकास करना था। धारा 16 (5) के अनुसार यह निश्चित किया गया कि स्टेट बैंक प्रथम 5 वर्षों में देशभर मे 400 नई शाखाएं खोलेगा और इसकी पूर्ति 1 जून, 1960 को हो गयी। बैंक ने भावी विकास के लिए सुझाव देने हेतु प्रो० कर्वे की अध्यक्षता मे एक समिति नियुक्त की जिसने आगामी 5 वर्षों मे 300 नवीन शाखाएं खोलने का सुझाव रखा। इसके लिए कर्मचारियो को प्रशिक्षण देने की व्यवस्था करना था। 1965 मे तीसरी विस्तार योजना प्रारंभ की गई। बैंक की 80% शाखाएं ग्रामीण क्षेत्रो मे खोली गयी। बैंक का विस्तार निम्न प्रकार था—

शाखा विस्तार की प्रगति

वर्ष	स्टेट बैंक	सहायक बैंक	कुल
1972	2,574	1,406	3,980
1965	1,275	658	1,933
1960	908	381	1289
1955	498	—	498

(2) एक शक्तिशाली बैंक—बैंक का उद्देश्य देशी राज्यों को बैंकों को मिलाकर एक शक्तिशाली बैंक की स्थापना करना था।

(3) ग्रामीण साख—बैंक द्वारा ग्रामीण क्षेत्र में साख का विस्तार करने का मुख्य लक्ष्य था।

स्टेट बैंक के कार्य
(Functions of State Bank)

स्टेट बैंक के कार्यों को निम्न दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(क) व्यापारिक बैंक के कार्य

व्यापारिक बैंक के रूप में स्टेट बैंक के प्रमुख कार्य निम्न हैं—

(i) ऋण प्रदान करना—स्टेट बैंक विनिमय बिलों एवं बाडों के आधार पर ऋण प्रदान करता है।

(ii) धन प्राप्त करना—यह बैंक जनता से धन प्राप्त करता, ग्राहकों की ओर से एजेंट के रूप में कार्य करता तथा धन का हस्तांतरण व अन्य बैंकिंग कार्यों को संपन्न करता है।

(iii) विनियोग करना—अन्य व्यापारिक बैंकों की भांति यह बैंक भी अपने धन को सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोग करता है।

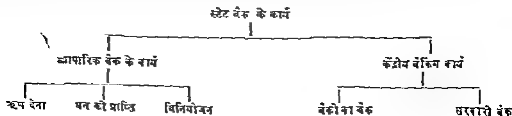
(ख) केंद्रीय बैंकिंग कार्य

स्टेट बैंक केंद्रीय बैंक के एजेंट के रूप में कार्य करता है तथा केंद्रीय बैंकिंग संबंधी कार्य करता है जो कि निम्नलिखित हैं—

(i) बैंकों का बैंक—स्टेट बैंक व्यापारिक बैंकों को ऋण प्रदान करके उन्हें पुनः कटौती की सुविधाएं एवं समाशोधन गृह का कार्य करके बैंकों के बैंक के रूप में कार्य करता है।

(ii) सरकारी बैंक—स्टेट बैंक सरकारी बैंक के रूप में भी कार्य करता है। यह सरकार की ओर से धन वसूल करता तथा सरकार के आदेशानुसार उनका भुगतान करता है। यह बैंक सार्वजनिक ऋणों की भी समुचित व्यवस्था करता है। इस प्रकार सरकार के आदेशों पर इस बैंक द्वारा समुचित कार्य किया जाता है।

स्टेट बैंक के कार्यों को निम्न चार्ट द्वारा भी दिखाया जा सकता है—



स्टेट बैंक के वर्जित कार्य
(Prohibited functions of State Bank)

स्टेट बैंक के वर्जित कार्यों मे निम्न को सम्मिलित किया जाता है—

(i) अचल संपत्ति पर रोक—स्टेट बैंक अपने कार्यालयो एवं पदाधिकारियो के निवास स्थल के अतिरिक्त अन्य अचल संपत्ति को प्राप्त नहीं कर सकता।

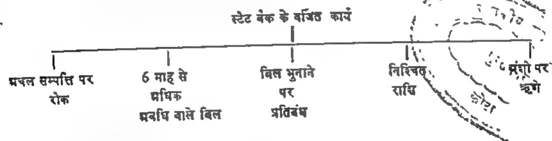
(ii) 6 माह से अधिक अवधिवाले बिल—स्टेट बैंक ऐसे बिलो को नही भुना सकता जिनकी परिपक्वता की अवधि 6 माह व कृषि साख से संबंधित बिलों की अवधि 15 माह से अधिक है।

(iii) बिल भुनाने पर प्रतिबंध—बैंक ऐसे बिलो को नहीं भुना सकता जिन पर दो हस्ताक्षर न हो।

(ix) निश्चित राशि—वह किसी व्यक्ति या फर्म की पूर्व निर्धारित राशि से अधिक के बिल न तो भुना सकता है और न ही ऋण प्रदान कर सकता है।

(v) अंशों पर ऋण—बैंक अपने ही अंशो पर 6 माह से अधिक के लिए ऋण नही दे सकता।

स्टेट बैंक के वर्जित कार्यों को निम्न चार्ट द्वारा दिखाया जा सकता है—



स्टेट बैंक की सफलताएं
(Progress of State Bank)

स्टेट बैंक की प्रमुख सफलताएं निम्न थी—

(1) ग्रामीण साख सुविधा—ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति का सुझाव था कि ग्रामीण साख व्यवस्था सहकारी माध्यम से होनी चाहिए जिसका पालन स्टेट बैंक कर रहा है और कृषि संबंधी सहायता को 4 वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(i) विपणन एवं प्रक्रिया साख—जिन क्षेत्रो मे केंद्रीय सहकारी बैंक विपणन एवं प्रक्रिया के लिए ऋण देने मे असमर्थ हो, वहा स्टेट बैंक सहकारी समितियो को प्रत्यक्ष रूप से ऋण देने की व्यवस्था करता है। यह ऋण प्रायः जमानत पर दिया जाता है।

(ii) भूमि बंधक बैंकों को सहायता—इस संबंध में स्टेट बैंक केंद्रीय भूमि बंधक बैंको के ऋण-पत्रों को क्रय करके उन्हे आर्थिक सहायता प्रदान करता है। स्टेट बैंक अल्पकालीन ऋण की भी समुचित व्यवस्था करता है तथा ग्रामीण साख की व्यवस्था करने वाली सभी संस्थाओ से समन्वय स्थापित करता है।

(iii) सामान्य सहायता—राज्य सहकारी बैंको को सप्ताह में 3 बार धन भेजने की सुविधाएं दी जाती हैं तथा केंद्रीय सहकारी बैंको को 1 बार शाखाओं को धन भेजने की सुविधा दी गई हैं। इसके अतिरिक्त सहकारी प्रतिभूतियो की धरोहर पर ऋण प्रदान किया जाता है तथा यह ऋण सरकारी गारंटी पर भी दिया जाता है।

(iv) गोदामों के लिए वित्त—केंद्रीय गोदाम निगम (Central Warehousing Corporation) मे स्टेट बैंक ने 1 करोड़ रुपए के अंश खरीदकर प्रत्यक्ष सहायता प्रदान की है। स्टेट बैंक समय-समय पर इन निगमों में अपने अधिकारी नियुक्त करके आवश्यक परामर्श देता है। इसके अतिरिक्त गोदामो की रसीद के आधार पर सुविधा दर पर ऋण भी प्रदान किया जाता है।

नवीन योजनाएं—स्टेट बैंक ने कृषि क्षेत्र में आर्थिक सहायता देने के उद्देश्य से निम्न नवीन योजनाओं को प्रारम्भ किया है—

(i) सहकारी संस्थाओं को वित्त—सहकारी संस्थाओं एवं स्टेट बैंक की क्रियाओं में सहयोग व समन्वय स्थापित करना आवश्यक होता है। नगरों में सहकारी बैंकों को स्टेट बैंक प्रत्यक्ष सहायता देता है। सहकारी संस्थाओं को 300 करोड़ रु० तक ऋण दिए गए हैं।

(ii) ग्रामों को गोद लेना—लघु कृषक योजना की सफलता के लिए स्टेट बैंक कुछ ग्रामों को गोद ले लेता है और उनमें रहने वाले कृषकों को कृषि कार्यों के लिए आर्थिक सहायता दी जाती है।

(iii) लघु कृषक योजना—स्टेट बैंक ने 1969 में छोटे कृषकों को चालू पूंजी संबंधी आवश्यकता पूरी करने हेतु एक योजना लागू की है, जिसमें पशुपालन तथा कुटीर उद्योगों के लिए ऋण प्रदान किया जाता है।

(iv) कृषि विकास शाखाएं—स्टेट बैंक ने देश-भर में कृषि विकास हेतु 150 कृषि विकास शाखाएं खोलने का निश्चय किया है। स्टेट बैंक ने अभी तक 50 शाखाएं खोल ली हैं।

(2) बैंकिंग सुविधाओं की व्यवस्था एवं विकास—स्टेट बैंक का उद्देश्य विशेषकर ग्रामीण क्षेत्र में अधिकाधिक शाखाएं खोलकर बैंकिंग सुविधाओं की व्यवस्था एवं विकास करना है। स्टेट बैंक ने यह निश्चित किया कि ग्रामीण क्षेत्रों में 400 नवीन शाखाएं प्रारंभ की जाएंगी और यह कार्य 1 जून, 1960 को पूर्ण कर लिया गया। प्रारंभिक 5 वर्षों में बैंक ने 286 शाखाएं खोलीं। प्रायः नवीन शाखा के खोलने में प्रारंभिक अवस्था में हानि उठानी पड़ती है, जिसे पूर्ति करने के उद्देश्य से 'समन्वय एवं विकास कोष' (Integration and Development Fund) का निर्माण किया गया जिसमें से 5 वर्षों तक होने वाली हानि को पूर्ण करने की व्यवस्था की गई है। 1 जून, 1960 को 400 शाखाएं खोलने के उपरांत भावी विकास हेतु सुझाव देने के उद्देश्य से श्री डी० जी० कार्वे (Shri D. G. Karve) की अध्यक्षता में एक समिति बनाई गई, जिसने आगामी 5 वर्षों में 300 नवीन शाखाएं खोलने की सलाह दी तथा पुरानी शाखाओं को और अधिक शक्तिशाली बनाया जाना चाहिए।

(3) सहायक बैंक—ग्रामीण साख जांच समिति का मत था कि स्टेट बैंक में 10 राजा-महाराजाओं द्वारा स्थापित किए गए बैंकों का विलयन करके इसे शक्तिशाली बैंक में परिणत कर दिया जाए। परंतु काफी प्रयास के उपरांत 8 बैंकों ने सहायक होना ही स्वीकार किया। अतः सहायक बैंकों की योजना के अंतर्गत सभी बैंकों के नाम के साथ स्टेट (State) शब्द को जोड़ दिया गया और प्रत्येक ऐसे बैंक में कम से कम 55% अंश स्टेट बैंक द्वारा लिए गये तथा कोई भी 200 अंशों से अंश खरीद नहीं सकता था तथा किसी को भी (स्टेट बैंक को छोड़कर) 5% से अधिक मतदान का अधिकार नहीं दिया गया। सहायक बैंकों की प्रबंध व्यवस्था संचालक मंडल करता है जिसका अध्यक्ष स्टेट बैंक का अध्यक्ष होता है। इस प्रकार 31 दिसंबर 1968 को स्टेट बैंक के कुल कार्यालयों की संख्या 1547 हो गई।

कठिनाइयां—प्रारंभिक काल में स्टेट बैंक को शाखा विस्तार में कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, जो कि निम्नलिखित हैं—

(i) भवन का अभाव—प्रायः सभी स्थानों पर उपयुक्त भवन के अभाव में कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

(ii) प्रशिक्षित कर्मचारियों का अभाव—नवीन शाखाओं के खोलने में कर्मचारियों का अभाव अनुभव किया गया।

(iii) स्थान चयन में कठिनाई—यह ज्ञात करना कठिन था कि किन स्थानों पर बैंकों की शाखाएं खोली जानी चाहिए।

(iv) उपकरण प्राप्ति में कठिनाई—नवीन शाखाओं में काम में आने वाले उपकरणों को प्राप्त करने में भी अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

(4) लघु उद्योगों को वित्तीय सुविधाएं—भारत में उत्पादन बढ़ाने, रोजगार में वृद्धि करने एवं देश के आर्थिक विकास की दृष्टि से लघु उद्योगों के विकास के महत्त्व को स्वीकार करते हुए इनके लिए वित्तीय सुविधाओं पर विशेष ध्यान दिया गया क्योंकि व्यापारिक बैंकों द्वारा लघु उद्योगों को वित्तीय सुविधाएं पर्याप्त मात्रा में प्राप्त नहीं

होती थी। अतः इस उद्देश्य से स्टेट बैंक ने अप्रैल 1956 मे निदेशक योजना (Pilot Plan) प्रारम्भ करके 9 शाखाओं द्वारा ऋण देने का कार्यक्रम बनाया गया। 1 जनवरी, 1959 से संतोषप्रद प्रगति देखकर इसे सार्वजनिक रूप से ग्रहण किया गया तथा वर्तमान समय मे स्टेट बैंक द्वारा लघु उद्योगों को ऋण देने की व्यवस्था की जाती है। अतः लघु उद्योगों को अल्पकालीन ऋण स्टेट बैंक द्वारा तथा मध्यकालीन व दीर्घकालीन ऋण सरकारी उद्योग विभाग एवं राज्य वित्त निगम द्वारा देने का प्रबंध किया गया। इस संबंध मे स्टेट बैंक निगम के प्रतिनिधि के रूप मे कार्य करता है तथा प्रार्थना-पत्रों की जांच-पड़ताल करके ऋण देने के संबंध मे सिफारिशें भी करता है। ऋण देने के संबंध मे स्टेट बैंक ने अपनी नीति को काफी उदार व सरल बना लिया है। इन ऋणो पर 6% वार्षिक ब्याज लिया जाता है, परंतु ऋण देने मे प्रायः देरी होने की शिकायतें की जाती है। निदेशक योजना के अंतर्गत लघु उद्योगों को मध्यम तथा दीर्घकालीन ऋण राज्य सरकारों के उद्योग विभाग तथा राज्य वित्त निगम द्वारा अल्पकालीन ऋण देने की व्यवस्था की गई है। ऋण देने मे सहायता देने की दृष्टि से स्टेट बैंक वित्त निगम के एजेंट का काम करता है। उदार योजना के अंतर्गत लघु उद्योगों को किसी भी वस्तु की धरोहर पर ऋण दिया जा सकता है। माल न होने पर स्थायी संपत्ति की जमानत पर ऋण दिया जा सकता है। 1967 मे साहसी योजना के अंतर्गत एक योजना बनायी गयी, जिसमें तकनीकी श्रेष्ठता तथा आर्थिक दृष्टि से ठोस आधार पर ऋण दिए जाते हैं। ग्रामीण उद्योग परियोजना के अंतर्गत कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास के लिए कारीगरों को बिना जमानत के 500 रुपए तक ऋण दिया जा सकता है। निर्यातक योजना के अंतर्गत स्टेट बैंक ऐसी लघु इकाइयों को ऋण देने मे प्राथमिकता देता है जो भारत से निर्यात करके विदेशी मुद्रा अर्जित करते है। रिजर्व बैंक का ग्रामीण साख का कार्य स्टेट बैंक को सौंप दिया जाना चाहिए क्योंकि—

(i) रिजर्व बैंक का सीमित कार्यक्षेत्र है और उसके कार्यालय भी सीमित मात्रा मे ही हैं।

(ii) रिजर्व बैंक को केवल महत्त्वपूर्ण कार्यों को स्वयं करना चाहिए तथा ग्रामीण साख के कार्य को स्टेट बैंक को सौंप देना चाहिए।

(iii) रिजर्व बैंक की मुद्रा, साख एवं विदेशी विनिमय संबंधी समस्याएं ही अत्यन्त गंभीर हो गई हैं जिससे इन्ही समस्याओं के समाधान पर ही अपना ध्यान केंद्रित करना चाहिए तथा अन्य कार्यों को स्टेट बैंक को सौंप देना चाहिए।

(5) एक व्यक्ति ग्राम कार्यालय (One Man Village Office)—स्टेट बैंक ने 'एक व्यक्ति ग्राम कार्यालय' की योजना का निर्माण किया है जिसमे प्रारंभ मे सहायक बैंकों द्वारा चुने हुए ग्रामीण केंद्रों पर धन जमा करने के लिए गतिशील कार्यालयों (mobilising offices) की स्थापना की गई है जो वहां जाकर ग्रामीणों से धन स्वीकार करेंगे।

(6) विदेशी विनिमय व्यवस्था—स्टेट बैंक विश्व की अनेक महत्त्वपूर्ण मुद्राओं मे लेन-देन संबंधी व्यवस्था करता है तथा ग्राहकों एवं सरकार को विदेशी भुगतान संबंधी सेवाएं प्रदान करता है। इस कार्य के लिए समंक सूचना देने के उद्देश्य से केंद्रीय कार्यालय मे समंक सूचना सेवा की स्थापना की गई है। स्टेट बैंक विदेशी यात्रियों के लिए यात्री चैकों की भी व्यवस्था करता है जिसकी मात्रा मे निरंतर वृद्धि हो रही है।

(7) प्रशिक्षण व्यवस्था—स्टेट बैंक मे समय-समय पर कुशल कर्मचारियों की कमी अनुभव की जाती है। अतः इस कमी को दूर करने के उद्देश्य से अनेक शाखाओं पर प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई। क्लर्कों के प्रशिक्षण के लिए 9 केन्द्र कार्यरत हैं। वरिष्ठ अधिकारियों के प्रशिक्षण के लिए 2 दिसम्बर 1961 को 'स्टाफ प्रशिक्षण महाविद्यालय' (Staff Training College) की स्थापना हैदराबाद मे की गई, जहां प्रत्येक प्रकार के प्रशिक्षण की सुविधाएं प्रदान की जाती हैं।

(8) किस्त साख योजना (Instalment Credit Scheme)—स्टेट बैंक ने 1962 मे किस्त साख योजना को प्रारंभ किया जिसमे मशीनें एवं सुरक्षा संबंधी सामान के निर्माण के लिए ऋण प्रदान किए जाते हैं तथा 5 वर्षों की अवधि मे इसका भुगतान किस्तों मे किया जाता है। ऋण की राशि भी 5 लाख रुपए से अधिक नहीं होगी। ऋण संबंधी नियम अत्यन्त लोचदार बनाए गए हैं, जिससे अधिक से अधिक व्यापारी इस योजना के अंतर्गत लाभ प्राप्त कर सकें।

(9) निर्यात हेतु ऋण—स्टेट बैंक द्वारा विदेशों से कच्चा माल आयात करके उसे निर्मित रूप मे परिवर्तित

करके निर्यात करने के लिए भी आवश्यक ऋण सुविधाएं प्रदान की जाती हैं। यह ऋण रियायती ब्याज दरों पर प्रदान किया जाता है, जिससे देश से निर्यात में वृद्धि की जा सके तथा व्यापार व भुगतान सतुलन को पक्ष मे किया जा सके। इस संबंध मे स्टेट बैंक ने उल्लेखनीय कार्य किया है। स्टेट बैंक द्वारा रिजर्व बैंक की साख गारंटी योजना के अतर्गत काफी मात्रा मे ऋण प्रदान किए जाते हैं। स्टेट बैंक का देश-भर मे शाखाओं का एक जाल-सा बिछा होने के कारण वह अपनी शाखाओं के माध्यम से सारे देश की कृषि समस्याओं से पूर्ण परिचित होने के कारण ग्रामीण साख का व्यवस्थाधिकार सपूर्ण रूप मे स्टेट बैंक को देना सर्वथा उचित माना गया है।

(10) मत देने का अधिकार—सरकार ने यह निश्चित किया है कि सार्वजनिक क्षेत्र के बैंक गिरवी रखे गए अंशों को अपने नाम हस्तांतरित कर सकेंगे, तथा जनता के हित को ध्यान में रखते हुए इन अंशों के मताधिकार को प्रयोग करेगा। यह अधिकार बैंकों द्वारा अंशों के केंद्रीयकरण पर प्रतिबंध लगाने के उद्देश्य से दिया गया। इसके अतिरिक्त सार्वजनिक क्षेत्र का कोई भी बैंक ऐसे अंशों के बदले अग्रिम नहीं देगा तथा मताधिकार प्राप्त नहीं करेगा। यह निर्णय उन परिस्थितियों में लागू नहीं होगा, जबकि एक बैंक की इन अंशों के विरुद्ध अधिविकर्ष सीमा 50,000 रुपए से अधिक नहीं होगी। इसी प्रकार यह व्यवस्था अंश-दलालों के संबंध मे भी लागू नहीं होगी।[1]

स्टेट बैंक की प्रगति

1955 मे स्टेट बैंक की कुछ शाखाएं 497 थी जो 1975 तक बढ़कर 4,000 से भी अधिक हो गयी। कृषि साख के सबंध मे स्टेट बैंक की बकाया राशि लगभग 225 करोड़ रुपये थी। लघु उद्योगों की उदार साख योजना के अंतर्गत 63000 औद्योगिक इकाइयों को 400 करोड़ रु० से अधिक के ऋण स्वीकृत किए और उनमें से 250 करोड़ रु० के ऋण शेष थे। जमा के क्षेत्र मे 1969 में स्टेट बैंक मे 1239 करोड़ रु० जमा थे जो जून 1974 में बढ़कर 3007 करोड़ रु० हो गया। जून 1974 मे स्टेट बैंक की 1167 ग्रामीण क्षेत्र मे शाखाएं, 1124 अर्द्धनगरीय शाखाएं, 437 नगरीय शाखाएं तथा 344 शाखाएं औद्योगिक क्षेत्रों मे हैं। इसकी सहायक बैंकों के 737 सहायक शाखाएं, 566 अर्द्धनगरीय शाखाएं, 1[illegible] नगरीय शाखाएं, 160 शहरी शाखाएं हैं।[2] सहकारी संस्थाओं को दिए जाने वाले ऋण की संख्या मे 63.0% से वृद्धि हुई और यह ऋण मात्रा 63.8 करोड़ रुपये से बढ़कर 110 5 करोड़ रुपये हो गई। प्रदत्त राशि की मात्रा मे 226.5% से वृद्धि हुई तथा यह राशि 16 8 करोड़ रुपये से बढ़कर 54.8 करोड़ रुपये हो गई। सहकारी बैंकों को प्रदत्त अग्रिम राशि की मात्रा 7.7 करोड़ रुपये के स्थान पर 27.1 करोड़ रुपये हो गयी। बैंक द्वारा लघु उद्योगों को साख की मात्रा 69.0 करोड़ रुपये से बढ़कर 191.1 करोड़ रुपये सीमा के रूप मे तथा प्रदत्त के रूप में यह राशि 37.5 करोड़ रुपये से बढ़कर 103 4 करोड़ रुपये हो गयी। वित्तीय सहायता प्राप्त करने वाली इकाइयों की संख्या 1969 मे 6419 (41.5%) से बढ़कर 21,892 हो गयी। हथकरघा इकाइयों को 1.3 करोड़ रुपया स्वीकृत किया गया था। बैंक की 379 निर्यात लघु उद्योग इकाइयां थी। साख सीमा इन इकाइयों की 7.0 करोड़ से बढ़कर 10 6 करोड़ रुपये तथा प्रदत्त राशि 3.9 करोड़ से बढ़कर 6.8 करोड़ रुपये हो गयी। देश में स्टेट बैंक की 4000 से भी अधिक शाखाएं हैं, और इसके कुल निक्षेप 2500 करोड़ रु० हैं। यह बैंक अपने विशाल आकार के कारण ही न्यूयार्क, फ्रैंकफर्ट तथा बैरुत मे अपने कार्यालय स्थापित कर सका है। आशा है स्टेट बैंक अपनी विशालता का लाभ देश की ग्रामीण अर्थव्यवस्था को प्रदान करके देश को सुख-समृद्धि प्रदान करेगा।

1. Announced by Mr. Vidya Charan Shukla, Ex-Minister of State for Finance.
2. The financial express July 8, 1975.

38

भारत में व्यापारिक बैंक

(Commercial Banking in India)

प्रारंभिक

भारत में व्यापारिक बैंकों का इतिहास अति प्राचीन नहीं है। 19वीं शताब्दी के प्रारंभ से ही इनका इतिहास प्रारंभ होता है। प्रारंभ में अंग्रेजों द्वारा स्थापित एजेंसी गृह असफल हो गए ये जिससे अधिकोषण व्यवसाय करने वाली संस्थाओं की स्थापना की गयी और देश में व्यापारिक बैंकों की स्थापना प्रारंभ हो गयी। 20वीं शताब्दी से देश में वाणिज्यिक अधिकोषों के विकास को गति मिली और वे प्रगति के पथ पर अग्रसर होते गए। जिन बैंकों की स्थापना भारतीय कम्पनी अधिनियम के अंतर्गत हो, उन बैंकों को व्यापारिक बैंक या मिश्रित पूंजी वाले बैंक कहते हैं। इन बैंकों में पूंजी एक से अधिक व्यक्तियों या संस्थाओं द्वारा प्रदान की जाती है। इसमें रिजर्व बैंक, स्टेट बैंक एवं विनिमय बैंकों को सम्मिलित नहीं किया जाता।

वर्गीकरण
(Classification)

व्यापारिक बैंकों को दो आधारों पर वर्गीकृत किया जा सकता है जो कि निम्न है—



(अ) अनुसूची के आधार पर—अनुसूची के आधार पर व्यापारिक बैंकों को निम्न भागों में विभाजित किया जा सकता है—

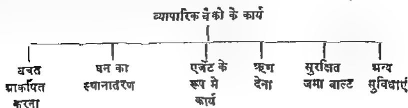
(1) अनुसूचित बैंक (Scheduled Bank)—जिन बैंकों को रिजर्व बैंक ने अपनी सारिणी नं॰ 2 में सम्मिलित कर लिया है उन्हें अनुसूचित बैंक कहते हैं। इस श्रेणी में वे बैंक सम्मिलित किए जाते हैं, जिनके संबंध में यह पूर्ण विश्वास हो कि समस्त कार्य जमाकर्त्ताओं के हित में किया जाएगा।

विशेषताएं

अनुसूचित बैंकों की प्रमुख विशेषताएं निम्न हैं—

को यानी चैक जारी किए जाते हैं तथा समय-समय पर उन्हें आर्थिक सलाह व परामर्श भी दिया जाता है। बैंक ग्राहक की ओर से किराए वसूल करना, प्रतिभूतियों पर ब्याज प्राप्त करना आदि अनेक कार्यों संबंधी सेवाएं प्रदान करते हैं।

व्यापारिक बैंकों के कार्यों को निम्न चार्ट द्वारा दिखाया जा सकता है—



व्यापारिक बैंकों की वर्तमान स्थिति

भारत में व्यापारिक बैंकों ने अपार प्रगति की है। *रिजर्व बैंक का प्रमुख उद्देश्य देश में बैंकिंग प्रणाली का* विकास करना है जिससे बढ़ती हुई मांग एवं आवश्यकता की पूर्ति की जा सके। वर्तमान समय में ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधाओं के प्रसार पर बल दिया जा रहा है। बैंकों को यह सुझाव दिया जाता है कि तुलनात्मक दृष्टि से उन राज्यों एवं क्षेत्रों में बैंकों का विस्तार किया जाना चाहिए कि जहां बैंकिंग सुविधाएं अविकसित अवस्था में हैं या जहां बैंकिंग सुविधाओं का पूर्णतया अभाव है। अनुसूचित बैंकों के बैंक निक्षेप की मात्रा 1974 तक 11,440 करोड़ रुपये हो गई थी। सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोग की मात्रा 1163.81 करोड़ रुपये हो गई थी। विकासशील अर्थव्यवस्था में बैंकों का महत्व काफी अधिक है तथा बैंकों को सामाजिक आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति करनी होती है। बैंकों ने अभी तक कृषि एवं लघु उद्योगों को वित्तीय सुविधाएं प्रदान नहीं की हैं, परंतु ब्रिटिश ढांचे पर निर्मित बैंकों ने व्यापार एवं वाणिज्य की आवश्यक ताओं को ही पूर्ण किया है। योजनाकाल में विशेषकर द्वितीय एवं तृतीय योजना काल में उद्योगों के उत्पादन में तीव्र गति से वृद्धि होने के कारण बैंकों ने अपना ध्यान उद्योगों की वित्तीय व्यवस्था की ओर लगाया। इसके विपरीत व्यापारिक बैंकों ने कृषि क्षेत्र में कोई सहायता नहीं की और *यह कार्य सहकारी क्षेत्र को छोड़ दिया गया।* परंतु कृषि क्षेत्र में यंत्रीकरण एवं उसमें विकास होने के फलस्वरूप अधिक मात्रा में वित्त की आवश्यकता पड़ेगी जिसे अकेले सहकारी संस्थाओं द्वारा पूर्ण करना संभव नहीं होगा। अत: व्यापारिक बैंकों को इस ओर भी ध्यान देना होगा। इसके अतिरिक्त अन्य सहायक कार्यों जैसे विपणन, प्रक्रिया एवं परिवहन आदि के विकास के लिए भी व्यापारिक बैंकों का योगदान प्राप्त होना अत्यावश्यक है। परंतु लघु उद्योग, लघु कृषक आदि की वित्तीय आवश्यकताओं की ओर बैंकों द्वारा कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। बैंकों की क्रियाओं में सुधार करने, उन्हें आधुनिकीकरण करने आदि के संबंध में सुझाव देने हेतु श्री आर० जी० सरैया (R. G. Saraiya) की अध्यक्षता में बैंकिंग कमीशन की नियुक्ति की गई। 14 बैंकों के राष्ट्रीयकरण से सामाजिक नियंत्रण की ओर विशेष प्रयास किया गया है। बैंकों ने संचालकों को दिए जाने वाले ऋणों की सीमाएं निश्चित कर दी हैं।

व्यापारिक बैंकों ने 1974 में 18,180 नवीन कार्यालय खोले, जबकि 1973 में 16.503 शाखाएं खोली गयी थी। इनमें से 1057 शाखाएं ग्रामीण क्षेत्र में खोली गयी। राष्ट्रीयकरण के पश्चात् व्यापारिक बैंकों के ढांचे में तेजी से परिवर्तन हो रहा है। बैंक की शाखा विस्तार को निम्न प्रकार से रखा जा सकता है—

शाखा विस्तार

.	1969	1970	1971	1972	1973	1974	1980
ग्रामीण	8262	10,131	12013	13622	15362	16936	27000
अर्द्ध-ग्रामीण	1833	3.363	4280	4817	5561	6166	11200
शहरी	3342	3718	4040	4401	4751	5116	8500
औद्योगिक	1584	1,744	1949	2504	2764	3087	7600
जनसंख्या प्रति कार्यालय	1503	1606	1744	1900	2286	2567	

(Source : The Financial Express August 27, 1975)

शाखा विस्तार 22% वार्षिक से हुआ। जून 1969 में कुल शाखाएं 8262 थी जो 1974 में बढ़कर 18,180 हो गयी। ग्रामीण क्षेत्रों में शाखा विस्तार $3\frac{1}{2}$ गुना हो गया। ग्रामीण क्षेत्रों का अंशदान 22.3% के स्थान पर बढकर 36.4% हो गया और जनसंख्या के प्रति शाखा 65000 से घटकर 30000 रह गयी है। 1980 तक शाखाओं की संख्या 27000 हो जाएगी। सरकार 50 क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों की स्थापना करेगी। 1980 तक 40% शाखाएं ग्रामीण क्षेत्रों में होंगी। 1980 में ग्रामीण शाखाएं 1974 में 6631 से बढ़कर 11,200 होंगी।

राष्ट्रीयकरण के पश्चात् बैंक निक्षेप में तेजी से वृद्धि हुई है जिसे निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

बैंक निक्षेप

	1969	1970	1971	1972	1973	1974	1980
जमा (करोड़ रु०)	4646	5275	6216	7610	9165	10706	26,000
जमाप्रति शाखा (लाख रु०)	58	53	52	56	60	63	96
प्रतिव्यक्ति निक्षेप	88	98	113	125	167	195	388
राष्ट्रीय आय से प्रतिशत	15.3	15.9	18.3	21.3	23.5	20.5	25

(Source : The Financial express August 27,1975)

जून 1975 तक निक्षेप की मात्रा 12,250 करोड़ रु० हो गयी। वर्तमान में प्रति 9 माह में 1000 करोड़ रु० से वृद्धि हो रही है। औसत जमा प्रति शाखा जून 1969 में 58 लाख रु० से बढ़कर दिसंबर 1974 में 63 लाख रु० हो गयी है। प्रति व्यक्ति जमा 88 रु० से बढ़कर 209 रु० हो गया है जिसमें 137% से वृद्धि हुई है। स्थायी जमा 50% से बढ़कर 53% हो गया है। 1980 में यह बढ़कर 56% होगा। घरेलू जमा में ह्रास हुआ है। 1972-73 में 1418 करोड़ रु० से घटकर 1350 करोड़ रु० हो गयी। 1973-74 में कुल वित्तीय संपत्ति में यह हिस्सा 45% से घटकर 39% रह गया। प्राथमिक क्षेत्रों में अग्रिम मात्रा में वृद्धि हुई है। जो 1969 में 14.9% से बढ़कर 1974 में 25.3% हो गयी। अग्रिम विवरण को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

अग्रिम

	1969	1970	1971	1972	1973	1974	1980
साख (करोड़ रु०)	3599	4213	4763	5480	6412	7827	18200
साख प्रति शाखा (लाख रु०)	45	42	40	40	42	46	
प्रति व्यक्ति साख	68	78	87	97	117	143	270
प्राथमिक क्षेत्रों में साख	439	761	897	15.8	1292	1688	5460
(करोड़ रु०)							6370
प्राथमिक क्षेत्र का अंश (% में)	14.9	31.2	22.1	23.0	23 8	25.3	30 0
साख-जमा अनुपात	77.5	79.9	76.6	72.0	70.0	73.1	70 0
विनियोग-जमा अनुपात	29.3	28.5	29.1	30.5	32.1	30 8	30.0

(Source . The Financial Express Aug. 27, 1975)

1969 व 1974 की अवधि में कुल साख एवं प्रति व्यक्ति साख में दुगुने से वृद्धि हुई है। सार्वजनिक क्षेत्र में दिए गए ऋण की मात्रा में वृद्धि हुई है। 1969 में सार्वजनिक क्षेत्र का अंशदान 8.1 प्रतिशत था जो 1973 में बढ़कर 17.4 प्रतिशत हो गया। आशा है 1980 तक सार्वजनिक, निजी एवं प्राथमिक क्षेत्र में कोष की मांग में अपार वृद्धि होगी। भविष्य में साख पर कठोर नियंत्रण लगाया जाएगा, जिसने विभिन्न क्षेत्रों की मांग की पूर्ति संभव हो सकें। वर्तमान तरलता जो कि लगभग 30% है, के आधार पर 1980 में साख का अनुमान 16800 करोड़ रु० है।

1980 में विभिन्न क्षेत्रों में साख के वितरण को निम्न प्रकार से रखा जा सकता है।

1980 में क्षेत्रानुसार साख वितरण

(करोड़ रु० में)

क्षेत्र	सार्वजनिक	निजी	प्राथमिक	योग
साख (प्रथम)	4,550	8,190	5,460	18,200
साख (द्वितीय)	4,550	7,280	6,370	18,200

(Source : The Financial Express Aug. 27, 1975)

सीमित साधनों का अधिकतम उपयोग करने की दृष्टि से व्यापारिक बैंकों को साख पर उचित नियंत्रण रखना होगा। वर्तमान समय में साख वितरण के क्षेत्र में बैंकर का महत्त्व परिवर्तित हो रहा है। अब बैंक को ऋणों की जरूरत के अतिरिक्त इस बात पर भी ध्यान देना है कि लिए गए ऋण का उपयोग उसी कार्य में हो रहा है, जिस उद्देश्य से ऋण लिए थे। बैंकों की शाखा के तीव्र विस्तार, निक्षेप गतिशीलता, अग्रिम में वृद्धि, अनेक प्रकार की सेवाएं आदि के कारण अनेक ग्राहकों को असंतुष्ट होना पड़ा है। यह कहा जाता है कि बैंक की सेवाएं घट गयी हैं। बैंकों के बड़े ग्राहक भी संतुष्ट नहीं कर पाते। बैंकों पर प्रधान कार्यालय का नियंत्रण कम हो गया है तथा पुराने ढंग से कार्य करने से बैंकों के व्यवसाय पर बुरे प्रभाव पड़ सकते हैं।

ऋण नीति—उत्पादन को प्रेरित करने वाली ऋण नीति में निम्न 3 बातों का होना अति आवश्यक है—

(i) ऋण की पर्याप्तता—बैंकों को पूर्णरूप से वित्तीय आवश्यकताओं को पूर्ण करके ऋण की पर्याप्तता की ओर ध्यान देना चाहिए। ऋण की अपर्याप्तता गैर-उत्पादक उपयोग को प्रोत्साहित करेगी।

(ii) पर्याप्त निरीक्षण—बैंकों द्वारा प्रदान किए जाने वाले ऋणों पर पर्याप्त रूप से निरीक्षण रखना आवश्यक है, जिससे यह निश्चित रूप से कहा जा सके कि ऋणों को उत्पादक कार्यों में ही लगाया जा रहा है।

(iii) रचनात्मक परामर्श—बैंकों द्वारा प्रदान किए जाने वाले समस्त ऋणों पर परामर्श देना आवश्यक है। यह परामर्श वित्तीय एवं तकनीकी दो मामलों में लिया जा सकता है। यदि ऋणी लघु उद्योगपति है तो उसे कच्ची सामग्री के क्रय करने या विपणन समस्याओं के संबंध में परामर्श लेने की आवश्यकता पड़ेगी। कृषक को फसल उगाने से लेकर विपणन करने तक अनेक स्थानों पर वित्त की आवश्यकता होती है जिसकी पूर्ति व्यापारिक बैंकों द्वारा की जानी चाहिए। ऋण देने की प्रक्रिया सरल एवं सुविधाजनक होनी चाहिए तथा ऋण की मात्रा के स्थान पर उसके गुण की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। विभिन्न प्रकार की शाखाओं को खोलने के प्रयास करने चाहिए तथा जमा करने वालों को विभिन्न प्रकार की नवीन सुविधाएं प्रदान की जानी चाहिए। इस संबंध में बचत खाते में जमा करने वालों को चैक, मुक्त साख हस्तांतरण, मुक्त यात्री चैक आदि की सुविधाएं प्रदान करनी चाहिए। व्यापार के विकास के लिए स्टाफ प्रशिक्षण, अनुसंधान, विज्ञापन आदि सुविधाओं का विस्तार करना चाहिए।

व्यापारिक बैंकों को विशेष स्टाफ भी नियुक्त करना चाहिए जो लघु उद्योगों की साख आवश्यकताओं का अध्ययन करके उसे पूर्ण कर सकें। भविष्य में बैंकिंग दृष्टिकोण में परिवर्तन लाकर ही बैंकिंग का विकास किया जा सकता है।

व्यापारिक बैंकों के दोष
(Defects in Commercial Bank)

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् भारत में बैंकों का विकास अत्यंत तीव्र गति से हुआ है, फिर भी हमारे देश में बैंकों एवं बैंकिंग सुविधाओं में अनेक दोष पाए जाते हैं, जिन्हें निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(1) बैंकों का असफल होना—भारत में समय-समय पर बैंकिंग संकट आए हैं तथा बैंक असफल हुए हैं जिससे बैंकों में जनता का विश्वास कम हो गया है। 1949 में बैंकिंग कम्पनी अधिनियम के पारित होने से रिजर्व बैंक ने

इन बैंकों का नियमन व नियंत्रण किया है, जिससे बैंकों का असफल होना कठिन हो गया है।

(2) विदेशी विनिमय बैंक—विदेशी व्यापार अधिक समय तक विदेशियों के हाथों में रहने से समस्त लेन-देन इंपीरियल बैंक या विदेशी विनिमय बैंकों द्वारा किया गया, जिससे व्यापारिक बैंक पनप नहीं सके। विनिमय बैंक, व्यापारिक बैंकों से प्रतिस्पर्द्धा करके उनके व्यवसाय में रुकावटें डालते रहे तथा तीव्रगति से विकास संभव न कर सके।

(3) बैंकिंग [redacted] असंतुलित विकास—बैंकिंग के असंतुलित विकास के कारण बैंकों का तीव्र गति से विकास संभव न हो सका। बैंकों की स्थापना प्रायः बड़े-बड़े औद्योगिक केंद्रों तक सीमित रही, जिससे पारस्परिक प्रतियोगिता बढ़ी, परंतु ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकों का विकास संभव न हो सका।

(4) बैंकिंग आदत का अभाव—प्रायः निवासियों की आय बहुत कम है तथा उनमें बचत न होने से बैंकिंग आदत का अभाव पाया जाता है, जिससे बैंकों को पर्याप्त मात्रा में धन प्राप्त नहीं हो पाता तथा बैंकों का समुचित विकास संभव नहीं हो पाता।

(5) सरकार की उदासीन नीति—सरकार एवं अन्य सरकारी संस्थाओं की बैंकों के प्रति नीति उदासीन रही है और इन्होंने अपने खाते बैंकों में न खोलकर उन्हें प्रोत्साहन नहीं दिया है। इसके अतिरिक्त बैंकों के विकास की ओर सरकार ने विशेष ध्यान नहीं दिया जिससे बैंकिंग सुविधाओं का विकास संभव न हो सका।

(6) संगठित बिल बाजार का अभाव—भारत में संगठित बिल बाजार के अभाव के कारण बैंकिंग विकास में अनेक बाधाएं आईं तथा बैंकों का विकास संभव न हो सका।

(7) बैंकों की दोषपूर्ण कार्यप्रणाली—भारतीय बैंकों की कार्यप्रणाली में अनेक दोष पाए जाने से बैंकों का समुचित ढंग से विकास संभव न हो सका। ये दोष निम्नलिखित थे—

(i) दोषपूर्ण विनियोग नीति—बैंकों ने अपने धन का अधिकांश भाग सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोग कर दिया है जिससे संगठित बिल बाजार का विकास नहीं हो पाया है और बैंकों का विकास संभव नहीं हो पाया।

(ii) व्यक्तिगत जमानत पर ऋण का अभाव—भारत में व्यक्तिगत जमानत पर ऋण नहीं दिया जाता, जिससे साख-सुविधाओं का प्रसार नहीं हो पाता है और बैंकिंग व्यवसाय में विशेष वृद्धि नहीं हो पाई है।

(iii) योग्य संचालकों का अभाव—भारत में योग्य संचालकों का अभाव पाया जाने से व्यापारिक बैंकों से जनता का विश्वास उठ गया है और वे विकास नहीं कर सके।

(iv) लाभ का दोषपूर्ण वितरण—बैंकों ने लाभ का अधिकांश भाग अंशधारियों में विभाजित कर दिया है, जिससे बैंकों में आर्थिक स्थिरता का अभाव पाया जाता है।

(v) पूंजी का अभाव—प्रायः व्यापारिक बैंकों की पूंजी एवं जमा राशि इतनी कम रही है कि वे अपने व्यवसाय को लाभप्रद ढंग से नहीं चला पाए हैं, जिससे बैंकों का विकास नहीं हो सका है।

(vi) अनियमित रिजर्व बैंक नियंत्रण—रिजर्व बैंक का व्यापारिक बैंकों पर नियंत्रण अनियमित एवं दुर्बल रहा है जिससे बैंकों की वास्तविक आर्थिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त नहीं हो पाता। प्रायः निरीक्षण भी उचित ढंग से नहीं होता था, क्योंकि निरीक्षण से पूर्व ही बैंकों को सूचना भेज दी जाती थी जिससे वे सतर्क हो जाते और स्थिति का सही ज्ञान प्राप्त नहीं हो पाता।

दोषों को दूर करने के सुझाव
(Suggestions to Remove the Defects)

बैंकों के दोषों को दूर करने के लिए समय-समय पर अनेक सुझाव दिए गए हैं, जो कि निम्न प्रकार हैं—

(i) विनिमय बैंकों पर रोक—विनिमय बैंकों का कार्य विदेशी व्यापार में विदेशी विनिमय तक ही सीमित कर देना चाहिए, जिससे व्यापारिक बैंकों को विकास के अवसर प्राप्त हो सकें।

(ii) एक व्यक्ति एक बैंक पद्धति—विदेशों की भांति भारत में भी 'एक व्यक्ति एक बैंक पद्धति' को प्रोत्साहित करना चाहिए, जिससे व्यक्तियों का पूरा ज्ञान प्राप्त करके उन्हें व्यक्तिगत साख के आधार पर प्रदान किए जा सकें तथा बैंकिंग व्यवसाय में भी वृद्धि संभव हो सके।

39

बैंकों का राष्ट्रीयकरण

(Nationalisation of Banks)

प्रारंभिक

नियोजित अर्थव्यवस्था में एक अच्छी व विकसित बैंकिंग व्यवस्था का होना अपरिहार्य है। राष्ट्र की सुदृढ़ अर्थव्यवस्था के लिए एक सुदृढ़ एवं शक्तिशाली संगठित बैंक व्यवस्था का होना अत्यन्त ही आवश्यक है। वर्तमान समय में भारतीय अर्थव्यवस्था एक ऐसे मोड़ पर आ गयी है जहां सामाजिक तथा आर्थिक नीति के उद्देश्यों, आर्थिक चुनौतियों एवं देश की संस्थागत संरचना में विरोधाभास पाया जाता है। जहां एक ओर देश को मुद्रा स्फीति का सामना करना पड़ता है, वहां दूसरी ओर रिजर्व बैंक की परम्परागत नीतियां स्फीतिक प्रवृत्तियों को नियंत्रित करने में असमर्थ रही हैं। देश में बढ़ती हुई गरीबी, आर्थिक असमानताएं, अनिवार्य वस्तुओं का भारी अभाव, बढ़ते हुए मूल्य आदि से देशवासियों के मन में आर्थिक अस्थिरता का वातावरण छा गया है। ऐसी परिस्थिति में देश में कृषि एवं लघु उद्योगों के विकास पर अधिक ध्यान दिया जाना आवश्यक है। देश में बैंकों द्वारा साख का 85% भाग बड़े उद्योगों को तथा 4% भाग लघु उद्योगों व 0.2% कृषि क्षेत्र को प्राप्त होता है जबकि कृषि का राष्ट्रीय आय में भाग 53% है। अतः स्पष्ट है कि देश के बैंक आर्थिक विकास के लिए निर्धारित प्राथमिकताओं के अनुरूप साख की व्यवस्था करने में असमर्थ रहे जिससे देश के व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण किए जाने की मांग जोर पकड़ती गयी।

बैंकों पर सामाजिक नियंत्रण

प्रारंभ में सरकार ने बैंकों के राष्ट्रीयकरण की मांग को अस्वीकार करके 14 दिसम्बर, 1967 को सामाजिक नियंत्रण लागू किए जाने की घोषणा की। 23 दिसम्बर, 1967 को अधिकोषण नियमन (संशोधन) विधेयक पारित किया गया और इसे 1 फरवरी, 1969 से पूरे देश में प्रभावशील किया गया।

उद्देश्य

सामाजिक नियंत्रण के प्रमुख उद्देश्य निम्न थे—

(1) साख सुविधाएं कृषि, लघु उद्योगों एवं निर्यात के क्षेत्रों को भी उपलब्ध की जाएं।
(2) संचालक मण्डल में सभी क्षेत्रों के प्रतिनिधियों को सम्मिलित किया जाए।
(3) बैंकिंग का अध्ययन करने हेतु बैंकिंग आयोग की नियुक्ति की जाए।
(4) बैंकिंग नीति में परिवर्तन करके उसे योजनाओं के उद्देश्यों के अनुरूप बनाया जाए।
(5) ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकों का विकास करके देश में साख असंतुलन को दूर करना चाहिए।

सामाजिक नियंत्रण योजना की विशेषताएं

बैंकों पर सामाजिक नियंत्रण की मुख्य विशेषताएं निम्न थीं—

(1) साखनियोजन एवं राष्ट्रीय साख परिषद्—सामाजिक नियंत्रण योजना के अंतर्गत देश में साखनियोजन

एवं राष्ट्रीय साख परिषद् की स्थापना करनी थी जो ऋण एवं विनियोग नीतियों मे समन्वय, बैंकिग साख की माग का अनुमान एवं ऋणों व अग्रिमो की प्राथमिकताओं को निश्चित करेगा।

(2) रिजर्व बैंक का अधिक नियंत्रण—बैंको मे अकेक्षक, अध्यक्ष एवं अन्य पदाधिकारी की नियुक्ति से पूर्व रिजर्व बैंक से अनुमति लेना आवश्यक कर दिया गया जिससे रिजर्व बैंक के नियत्रण मे वृद्धि हो गयी है।

(3) संचालक मंडल का पुनर्गठन—संचालक मडल मे 59% सदस्य, बैंकिग व्यवसाय, कृषि, ग्रामीण अर्थव्यवस्था, वित्त, लघु उद्योग, सहकारिता क्षेत्र से होंगे। अध्यक्ष का कार्यकाल 5 वर्ष होगा।

(4) निर्देशक—औद्योगिक इकाई मे 90% से अधिक अंश रखने वाला व्यक्ति बैंक का निर्देशक नहीं बन सकता। बैंक के निर्देशक को ऋण नही दिया जा सकता।

(5) ऋण पर प्रतिबंध—बैंक अपने ही अंशो की प्रतिभूति पर ऋण नही दे सकता।

(6) बैंक को लेना—आवश्यकता पडने पर सरकार किसी भी बैंक को ले सकती है।

सामाजिक नियत्रण को अधूरा कदम बताया गया और बैंको के राष्ट्रीयकरण की माग बढ़ती गयी, फलस्वरूप देश के प्रमुख बैंको का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया।

व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण के पक्ष व विपक्ष में तर्क
(Arguments for and against of Nationalisation of Commercial Banking)

जब व्यापार, उद्योग या वाणिज्य का स्वामित्व सरकार अपने हाथो मे ले ले तो उसे राष्ट्रीयकरण कहते हैं। इसमे संचालन सरकार के हाथों मे आ जाता है तथा नीतियो का निर्धारण भी सरकार द्वारा ही किया जाता है। इस प्रकार राष्ट्रीयकरण मे उद्योग का स्वामित्व, संचालन, नियत्रण एवं नीति निर्माण का कार्य सभी सरकार के हाथों में आ जाते हैं। लंका एवं बर्मा मे बैंको के राष्ट्रीयकरण होने से भारत मे भी राष्ट्रीयकरण की भावना प्रबल होती गई, परंतु कुछ व्यक्तियों ने राष्ट्रीयकरण को अनुचित बताया। इस प्रकार राष्ट्रीयकरण के पक्ष व विपक्ष मे निम्न तर्क दिए जा सकते हैं।

पक्ष में तर्क—राष्ट्रीयकरण के पक्ष में निम्न तर्क रखे जा सकते हैं—

(I) बैंको की असफलता से सुरक्षा—रिजर्व बैंक की स्थापना के पश्चात् भी व्यापारिक बैंको का असफल होना बद नही हुआ जो कि उनकी असंतोषजनक स्थिति की द्योतक है। जमा बीमा निगम की स्थापना से 5,000 रुपए तक ही सुरक्षा मिलती है और इसमे अधिक की जमाएं अब भी असुरक्षित रहती हैं। अतः बैंको की असफलता से सुरक्षा करने के लिए राष्ट्रीयकरण होना आवश्यक माना गया।

(ii) सरकारी नीति की सफलता—सरकारी नीति की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि शोषण के संपूर्ण साधन सरकारी नियंत्रण मे हो। देश के बैंकिग विकास के लिए बैंको का राष्ट्रीयकरण करना आवश्यक है। राष्ट्रीयकरण होने से बैंको का विस्तार ग्रामीण क्षेत्र मे होगा, बचत को प्रोत्साहन मिलेगा तथा देश मे समाजवादी समाज की स्थापना होगी।

(iii) विदेशी व्यापार की वित्त व्यवस्था—विदेशी व्यापार की वित्त व्यवस्था अधिकांशतया विदेशी बैंकों के पास है। बैंको के राष्ट्रीयकरण होने से पर्याप्त मात्रा मे धन की व्यवस्था संभव हो सकेगी तथा विदेशी व्यापार के समस्त लाभ प्राप्त हो सकेंगे। बीजक कम मूल्य के बनाकर जो विदेशी मुद्रा की चोरी की जाती है उस पर रोक लगा दी जाएगी।

(vi) ग्रामीण क्षेत्रों में सेवाएं—ग्रामीण क्षेत्र से राशि प्राप्त करके बचत को प्रोत्साहित करना आवश्यक है, अतः ग्रामीण क्षेत्रों मे बैंक सुविधाओं का विस्तार राष्ट्रीयकरण द्वारा ही संभव हो सकेगा।

(v) सट्टे पर रोक—देश के अनेक बैंक पूंजीपतियों के हाथों मे हैं जो इस धन को व्यक्तिगत स्वार्थ मे उपयोग करते तथा सट्टे को प्रोत्साहित करते हैं। बैंको के राष्ट्रीयकरण से सट्टे पर रोक लगाई जा सकती है।

(vi) साख का प्रसार करना—देश के औद्योगिक विकास के लिए समुचित मात्रा मे साख का प्रसार होना आवश्यक है जो कि बैंको के राष्ट्रीयकरण के अभाव मे संभव नहीं होगा।

संबंधी धारणा भ्रमित है क्योंकि केवल 2000 करोड़ रुपए तक ही यह पूंजी संभव हो सकेगी, जो कि आवश्यकताओं को देखते हुए पर्याप्त नहीं है। अतः इस भ्रमित लाभ के लिए बैंकों का राष्ट्रीयकरण करना उचित नहीं जान पड़ता।

(x) निजी उद्योगों को कठिनाइयां—बैंकों का राष्ट्रीयकरण करने से पूंजी का विनियोजन प्रायः सरकारी उद्योगों में किया जाएगा, जिससे निजी उद्योगों को पूंजी प्राप्त न हो सकेगी तथा उन्हें अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। अतः इस आधार पर बैंकों का राष्ट्रीयकरण करना उचित प्रतीत नहीं होता।

(xi) अकुशलता एवं अनियमितता—बैंकों का राष्ट्रीयकरण करने पर अकुशलता एवं अनियमितताओं में वृद्धि होगी जिससे सरकार को विशेष लाभ प्राप्त नहीं हो सकेंगे। इस समस्या का समाधान रिजर्व बैंक द्वारा सतर्कता एवं सावधानी बरतकर दूर किया जा सकता है और इसके लिए राष्ट्रीयकरण करना आवश्यक नहीं होगा।

(xii) रिजर्व बैंक द्वारा तत्परता—भारतीय बैंकिंग अधिनियम के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को अत्यन्त व्यापक अधिकार दिए गए हैं, जिसके अन्तर्गत वह बैंकों पर उचित ढंग से नियमन एवं नियंत्रण करके बैंकों के दोषों को दूर कर सकता है और इसके लिए राष्ट्रीयकरण की नीति अपनाने की कोई आवश्यकता न होगी।

(xiii) शीर्ष संगठन का अभाव—सरकार का राष्ट्रीयकरण करने के बाद भी शीर्ष संगठन बनाने का कोई विचार नहीं है तथा प्रत्येक बैंक का वर्तमान अस्तित्व ही चालू रखा जाएगा तथा इन बैंकों का एक या दो निगमों में विलीनीकरण करने का विचार किया गया है। अतः ऐसा विलयन करने से बैंकों की आपसी प्रतियोगिता समाप्त हो जाएगी तथा वे अपने ग्राहकों को कुशल सेवाएं प्रदान नहीं कर सकेंगे।

(xiv) राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति—आलोचकों का यह कथन रहा कि बैंकों का राष्ट्रीयकरण करना केवल राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति करना है और इसका देश के आर्थिक विकास पर विशेष अच्छा प्रभाव नहीं पड़ेगा।

(xv) विदेशी सहायता पर बुरा प्रभाव—राष्ट्रीयकरण करने से भारत में विदेशी विनियोग हतोत्साहित होगा जिससे विदेशी सहायता पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा। बैंकों में विदेशी पूंजीपति अपनी पूंजी लगाने में हिचकिचाएंगे और बैंकों को पर्याप्त मात्रा में पूंजी उपलब्ध न हो सकेगी।

(xvi) सामाजिक नियंत्रण की नीति—सरकार ने 1 फरवरी, 1969 से सामाजिक नियंत्रण की नीति अपना ली थी जिसमें सरकार को यह विस्तृत अधिकार प्राप्त थे कि नियंत्रण नीति का उल्लंघन करने पर बैंकों को अपने अधिकार में लिया जा सकता था। अतः इसी में और अधिक सुधार करके स्थिति को सुदृढ़ बनाया जा सकता था, परन्तु राष्ट्रीयकरण करना अनुचित एवं अव्यावहारिक बताया गया।

(xvii) कार्य प्रणाली में परिवर्तन—यह आश्वासन दिया गया कि राष्ट्रीयकरण करने से बैंकों की कार्य प्रणाली में कोई परिवर्तन नहीं आएगा और बैंक एवं ग्राहक के संबंध यथावत् ही बने रहेंगे। परंतु आलोचकों का मत है कि राष्ट्रीयकरण का पालन करने में बैंकों की कार्य प्रणाली में परिवर्तन अवश्य आएंगे जिससे ग्राहकों के साथ संबंधों में बिगाड़ अवश्य होगा।

(xviii) उद्योगों पर बुरा प्रभाव—राष्ट्रीयकरण करने से देश के उद्योगों को पर्याप्त मात्रा में वित्तीय सहायता प्राप्त न हो सकेगी और व्यापार एवं उद्योग का विकास पहले की तुलना में पिछड़ जाएगा जो आर्थिक विकास के लिए हानिप्रद होगा।

भारत में 14 बैंकों का राष्ट्रीयकरण
(Nationalisation of 14 Banks in India)

1 फरवरी, 1969 से बैंकों पर सामाजिक नियंत्रण की नीति प्रारंभ की गई थी। इसके प्रभावों का अध्ययन भी नहीं किया गया था कि अखिल भारतीय कांग्रेस समिति का अधिवेशन बंगलौर में हुआ जिसमें प्रधानमंत्री ने समाजवादी व्यवस्था लाने के कार्यक्रम प्रस्तुत किए। परंतु इस अधिवेशन में कांग्रेस दल में मतभेद हो गया और राष्ट्रपति के चुनाव को लेकर यह मतभेद और तीव्र हो गया। अचानक सरकार ने एक अध्यादेश जारी करके 19 जुलाई, 1969 को 14 प्रमुख बड़े बैंकों के राष्ट्रीयकरण करने की घोषणा की जिनकी पूंजी 50 करोड़ रुपए थी। 25 जुलाई,

को इसी आशय का लोक सभा में एक अध्यादेश (Bill) पेश किया गया, जिस पर 9 अगस्त, 1969 को राष्ट्रपति के हस्ताक्षर हो गए।

बैंकों के राष्ट्रीयकरण के लक्ष्य

बैंको के राष्ट्रीयकरण के मुख्य लक्ष्य निम्न थे—

(1) साधन उपलब्ध कराना—राष्ट्रीयकरण करने से सरकार को 5000 करोड रु० की जमा पर नियंत्रण प्राप्त होने से साधनो का प्रयोग साख निर्माण में सम्भव हो सकेगा जिससे योजना के लक्ष्यो को प्राप्त किया जा सकेगा।

(2) लघु उद्योगो को प्रोत्साहन—बैंको के राष्ट्रीयकरण से लघु उद्योगो के साथ भेदभाव नहीं किया जाएगा और विकास के लिए उन्हे पर्याप्त धन प्राप्त हो जाएगा।

(3) सार्वजनिक आय में वृद्धि—राष्ट्रीयकरण से अर्जित लाभ निजी व्यापारियो के हाथो में न जाकर सरकार को प्राप्त होगा, जिसे राष्ट्रीय विकास कार्यों में विनियोजित किया जा सकेगा।

(4) राष्ट्रीय बचत—व्यापारिक बैंक ग्रामीण क्षेत्रो में शाखाएं खोलने मे कोई रुचि नहीं दिखाते थे, जब कि राष्ट्रीय बचत मे ग्रामीण क्षेत्रो मे बैंकिग सुविधाओ का विस्तार आवश्यक था, जिसे बैंको का राष्ट्रीयकरण करके ही प्राप्त किया जा सकता था।

(5) कृषि क्षेत्र को पर्याप्त साख—सरकार ने कृषि को प्राथमिक क्षेत्र घोषित किया, परन्तु देश के व्यापारिक बैंक कृषि साख मे विशेष रुचि नही दिखा रहे थे। कृषि को प्राप्त होने वाला साख 100 रु० के पीछे 21 पैसा था। बैंको का राष्ट्रीयकरण करके ही कृषि को पर्याप्त साख प्राप्त हो सकती थी।

(6) केंद्रीयकरण की समाप्ति—देश के व्यापारिक बैंक कुछ गिने-चुने उद्योगपतियो के हाथो में हैं जो बैंकों का धन अपने उद्योगो मे लगाते हैं जिससे आर्थिक शक्ति का केंद्रीयकरण होता है। अतः राष्ट्रीयकरण से आर्थिक विषमता को कम किया जा सकेगा और आर्थिक शक्ति का विकेंद्रीयकरण सम्भव होगा।

(7) बैंकिंग सुविधाओं का विस्तार—देश मे व्यापारिक बैंको का विस्तार संतुलित ढंग से संभव नहीं हो पाया है। आपस मे प्रतियोगिता बढ़ी और सभी व्यक्तियो को बैंकिंग सुविधाएं उपलब्ध नहीं हो सकी हैं। इस असंतुलन को बैको के राष्ट्रीयकरण द्वारा ही दूर किया जा सकता है।

(8) अन्य उद्देश्य—(i) बैंको मे योग्य कर्मचारियो की नियुक्ति सम्भव हो सकेगी।
(ii) बैंको के प्रबंध एवं प्रशासन में सुधार लाना,
(iii) नवीन उद्योगपतियो को प्रोत्साहित किया जाना है।

राष्ट्रीयकरण की विशेषताएं
(Characteristics of Nationalisation)

14 बैंको के राष्ट्रीयकरण संबंधी प्रमुख विशेषताएं निम्न थी—

(1) सरकारी अधिकारी—भारत में 14 बड़े बैंको का स्वामित्व सरकारी अधिकार मे चला गया जिसकी जमा पूंजी लगभग 50 करोड़ रुपए थीं। ये बैंक इस प्रकार थे—(i) बैंक ऑफ इंडिया, (ii) बैंक ऑफ बड़ौदा, (iii) कनारा बैंक, (iv) देना बैंक, (v) यूनियन बैंक ऑफ इंडिया, (vi) इंडियन बैंक, (vii) इंडियन ओवरसीज़ बैंक, (viii) बैंक ऑफ महाराष्ट्र, (ix) इलाहाबाद बैंक, (x) सिंडीकेट बैंक, (xi) यूनाइटेड बैंक ऑफ इंडिया, (xii) यूनाइटेड कमर्शियल बैंक, (xiii) पंजाब नेशनल बैंक, (xiv) सेंट्रल बैंक ऑफ इंडिया।

(2) क्षतिपूर्ति का निर्धारण—बैंको को आपसी समझौते या न्यायाधिकरण के निर्णय के आधार पर क्षतिपूर्ति दी जाएगी जो प्राय. सरकारी प्रतिभूति के रूप में होगी।

(3) संचालक मंडल—इन बैंकों के समस्त संचालकों के पद समाप्त करके संचालक मंडल को भंग कर दिया जाएगा।

(4) सरकार द्वारा नियम—इन बैंकों के सचालन के लिए सरकार द्वारा नियम बनाए जाएगे।

(5) सरकारी कर्मचारी—बैंकों के कर्मचारी अपने पदो पर ही रहेंगे, परतु वे सरकारी कर्मचारी माने जाएगे।

(6) परररक्षक (Custodian) की नियुक्ति—बंक के मुख्य अधिकारी को उसका परररक्षक नियुक्त किया गया है।

(7) सरकारी अधिकार—इन बैंको की संपत्ति, कोष एवं दायित्वो पर सरकारी अधिकार रहेगा।

(8) समाजवादी नीति—प्राय. सभी राष्ट्रो मे राष्ट्रीयकरण समाजवादी नीति के कारण किया गया और यही बात भारत के लिए भी सत्य है।

(9) विदेशी प्रभुत्व को कम करना—विदेशी प्रभुत्व को कम करने के उद्देश्य से भी बंको का राष्ट्रीयकरण करना आवश्यक समझा गया।

(10) सरकारी नीति का पालन—कुछ राष्ट्र सरकारी नीति का उचित पालन करने की दृष्टि से व्यापारिक बैंको का राष्ट्रीयकरण करते हैं।

सरकारी दायित्व

इन बैंको के दायित्वो की सीमा इनकी पूजी एव कोष की मात्रा पर निर्भर करती है। 31 दिसम्बर, 1968 को इन बैंको की कुल पूजी 67 20 करोड रुपए थी। इन बंको को प्रदत्त पूजी, जमाएं, विनियोग, कोष, अग्रिम एव कार्यालयो की सख्या आदि को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

बैंकों की स्थिति—31 दिसम्बर, 1968

(करोड़ रुपए मे)

बैंक का नाम	प्रदत्त पूंजी	कोष	विनियोग	अग्रिम	जमाएं	कार्यालय संख्या
1. बैंक ऑफ इंडिया	4 05	6.52	102	253	395	250
2. बैंक ऑफ बड़ौदा	2.50	3.41	84	196	314	333
3. कनारा बैंक	1.50	1 53	40	97	146	323
4 देना बैंक	1.25	1.61	38	74	122	214
5. इलाहाबाद बैंक	1 05	1.49	34	70	113	128
6. इडियन ओवरसीज बैंक	1 00	1.15	23	58	93	188
7. बैंक ऑफ महाराष्ट्र	1.48	0.64	23	50	73	137
8. इडियन बैंक	0.98	1.14	20	57	85	233
9. सिंडीकेट बंक	1.36	1.58	31	71	112	254
10 यूनियन बंक ऑफ इंडिया	1.25	1.15	25	68	115	213
11. यूनाइटेड बैंक ऑफ इडिया	2.69	1.34	34	100	144	185
12. यूनाइटेड कमर्शियल बंक	2 80	4.38	77	144	241	323
13. पंजाब नेशनल बंक	2.00	5 02	130	209	356	544
14. सेंट्रल बंक ऑफ इंडिया	4.79	7.63	120	296	433	504
योग	28 70	38.59	781	1743	2742	3829

सरकार को प्रबंध व्यवस्था का भार स्वयं सहन करना पड़ेगा तथा सरकार को उसके लिए अध्यक्ष एवं अन्य अधिकारियों की नियुक्ति करनी होगी व साथ ही संचालक मंडल के लिए नवीन संचालकों की नियुक्ति करना आवश्यक होगा। परंतु यह सब कार्य रिजर्व बैंक एवं स्टेट बैंक की सलाह एवं परामर्श से ही किया जाएगा।

बैंकों के राष्ट्रीयकरण के उद्देश्य

बैंकों के राष्ट्रीयकरण करने का मुख्य उद्देश्य देश में आर्थिक असमानता को दूर करना एवं कृषि क्षेत्र में साख का विस्तार करना था। भारत में 14 बैंकों के राष्ट्रीयकरण करने के प्रमुख उद्देश्यों को प्रधान मंत्री द्वारा 21 जुलाई, 1969 को संसद में रखे विवरण के अनुसार निम्न प्रकार बताया गया—

बैंकों के राष्ट्रीयकरण के उद्देश्य

बचत को गतिशील बनाना	प्राकृतिक साधनों का विकास	व्यापार की वैध साख की पूर्ति	उत्पादक क्षेत्र की पूर्ति	विकास के नवीन अवसर	बैंक साख का सही उपयोग	प्रबंध का पर्याप्त वातावरण	हितों की सुरक्षा

(1) जनता की बचत को योजना व प्राथमिकता के आधार पर गतिशील बनाने के लिए राष्ट्रीयकरण जन-नियंत्रण का एक महत्वपूर्ण उपाय है।

(2) सरकार का विश्वास है कि प्रमुख बैंकों पर जनता का स्वामित्व होने से प्राकृतिक साधनों के विकास एवं गतिशीलता में सहायता प्राप्त होकर उद्देश्यों की प्राप्ति निश्चितता के साथ संभव हो सकेगी।

(3) राष्ट्रीयकरण के पश्चात् निजी उद्योगों एवं व्यापार की वैध साख आवश्यकता की पूर्ति संभव हो सकेगी।

(4) अर्थव्यवस्था के उत्पादक क्षेत्र, विशेषकर कृषक, लघु स्तरीय उद्योगों आदि की उत्पादक आवश्यकताओं की पूर्ति करना।

(5) राष्ट्रीयकृत बैंकों का यह प्रमुख उद्देश्य होगा कि नवीन व प्रगतिशील उपक्रमों को विकास के नवीन अवसर प्रदान करें तथा राष्ट्र के विभिन्न अछूते क्षेत्रों के विकास की ओर पर्याप्त ध्यान दें।

(6) बैंकों के राष्ट्रीयकरण से बैंक साख का उपयोग सट्टे एवं अन्य अनुत्पादक कार्यों में संभव न हो सकेगा।

(7) बैंकिंग क्षेत्र में व्यावसायिक प्रबंध के विकास का पर्याप्त वातावरण उत्पन्न होगा।

(8) जमाकर्ताओं के हितों को सुरक्षित रखने के साथ-साथ उनके हितों को बैंक के कर्मचारियों का पूर्ण सहयोग भी प्राप्त होता रहेगा।

दिसंबर 1974 को अनुसूचित व्यापारिक बैंकों की जमा राशि 11.440 करोड़ रु० थी जबकि 1973 में यह राशि 107.6 करोड़ रु० थी। गुणात्मक दृष्टि से बैंक यूनियन का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है जो कि कर्मचारियों के दृष्टिकोण में परिवर्तन लाकर बैंकों के राष्ट्रीयकरण को सफल बनाएंगे।

जमा की राशि में कमी होने के प्रमुख कारण थे—(i) स्फीति से राष्ट्र की बचत करने की क्षमता में कमी हो गई, व कर में वृद्धि तथा अन्य शक्ति के हस्तांतरण से यह राशि और कम गई, (ii) बैंकों की शाखाओं में तीव्र गति से वृद्धि होने के कारण जमा वृद्धि की राशि में वृद्धि न हो सकी, (iii) इसके अतिरिक्त बैंकों को अनेक जटिल समस्याओं का सामना करना पड़ा जैसे जमा राशि के लिए ब्याज दरों की उपयुक्तता, ग्रामीण क्षेत्रों में ग्राहकों की सेवाओं का पुनर्निरीक्षण, तथा विकास बैंकों की स्टाफ संबंधी व उनके परीक्षण आदि संबंधी समस्याएं। व्यापारिक बैंकों द्वारा दी गई अग्रिम राशि में पूर्व की अपेक्षा अधिक वृद्धि हुई।

ऋण का विवरण

(लाख रुपये में)

विवरण	30-6-1969			31-12-1969		
	खाता की संख्या	सीमा	शेष	खाता की संख्या	सीमा	शेष
1. फुटकर व्यापार	12,323	169	145	14,800	223	201
2. कलाकार	363	3	3	400	4	4
3. बढ़ई	236	1	1	307	1	1
4. नाई	330	1	1	453	2	2
5. दर्जी	670	5	4	1042	6	5
6. इंजीनियर	93	3	3	155	5	5
7. डाक्टर	657	22	21	893	31	30
8. वकील	362	8	7	431	9	9
9. ड्राइवर नाविक	401	25	25	797	69	69
10. बुनकर	210	1	1	270	3	3

1. The Financial Express, July 2, 1975.

11. मोची	89	1	1	120	1
12. मछियारे	942	12	12	928	19
13. मुर्गी वाले	437	2	2	462	3
14. सुनार	232	1	1	244	2
15. कृषक	2447	43	42	5529	72
16. डेयरी वाले	131	3	2	164	3
17. बर्तन वाले	3	—	—	7	—
18. लघु उद्योग	28	4	2	39	3
19. अन्य	651	10	9	987	15
(अ) योग	20,870	314	232	28,042	471
(ब) 30-6-1970 की योजना : (शाखाओं की संख्या में 30% व ऋण में 50% से वृद्धि)	36,400				
(स) 31-12-1970 की योजना : (शाखाओं की संख्या में 40% व ऋण में 40% से वृद्धि)	43,650				

राष्ट्रीयकरण के पश्चात् बैंकों ने छोटे परंतु व्यावसायिक व्यक्तियों को ऋण देना प्रारंभ करके उन्हें स्वतंत्र रूप से व्यापार करने को प्रोत्साहित किया है। राष्ट्रीयकरण से पूर्व इस ओर बैंकों द्वारा विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था। ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकों की शाखाओं को आरंभ करने के लिए कुशल एवं प्रशिक्षण प्राप्त कर्मचारियों का सर्वथा अभाव पाया गया है जिसे अच्छे प्रशिक्षित कर्मचारियों की व्यवस्था करके दूर किया जा सकता है। भारत में व्यापारिक बैंकों के ग्रामीण कार्यालय 1969 में 1833 थे जो 1975 में बढ़कर 6754 हो गए। इसे निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

ग्रामीण कार्यालय

वर्ष	ग्रामीण कार्यालयों की संख्या प्रतिशत
1969	1833 (22.1)
1970	3063 (30.2)
1971	4250 (35.6)
1972	4715 (35.4)
1973	5561 (36.2)
1974	6166 (36.5)
1975	6754 (36.2)

Source : The Economic Times, Sept. 19, 1975.

नियुक्त किये गये अध्ययन समुदाय (Study Group) के अनुसार देश में 2700 में से 617 ऐसे नगर थे जो व्यापारिक बैंकों द्वारा उपेक्षित थे। इनमें से भी 444 नगर ऐसे थे जहां सहकारी बैंकिंग सुविधाएं भी नहीं थीं। देश में 6 लाख गांवों में से लगभग 5000 गांवों में ही व्यापारिक बैंकों की सेवाएं उपलब्ध हैं, भारत में 1974 तक 32,000 जनसंख्या के पीछे व्यापारिक बैंकों की सेवाएं उपलब्ध थीं, जबकि ब्रिटेन में यह संख्या 4000 व सं० रा० अमेरिका में 7000 है। राष्ट्रीयकरण के पश्चात् बैंकों का ग्रामीण क्षेत्रों की ओर विस्तार होने की सम्भावना है। बैंकों की साख अधिकांशतया औद्योगिक क्षेत्र की ओर रही है जो आज भी कुल साख का 61.7% है। उद्योगों का असमान विकास होने से औद्योगिक साख भी असमान ढंग से वितरित की गयी है। 1973 तक कृषि क्षेत्र में बैंक साख 9.4% था। औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े क्षेत्रों में बड़ी मात्रा में कृषि साख देकर इस असमान वितरण की समस्या का समाधान किया जा सकता है। रिजर्व बैंक ने 5 राज्यों—आन्ध्रप्रदेश, मैसूर, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश एवं हरियाणा के 81 जिलों में कार्यरत प्राथमिक कृषि साख समितियों को व्यापारिक बैंकों द्वारा वित्तीय सहायता देने का प्रस्ताव रखा। इन स्थानों पर सहकारी बैंकों ने रिजर्व बैंक की सम्पूर्ण साख सुविधाओं का वित्तीय एवं प्रशासनिक दृष्टि से उपयोग नहीं किया है। इस प्रस्ताव का समर्थन अध्ययन समुदाय एवं रिजर्व बैंक के गवर्नर द्वारा नियुक्त राष्ट्रीयकृत बैंकों के कार्यरत समुदाय (Working Group) ने किया है। इस कार्यक्रम के अनुसार कृषकों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर वित्तीय प्रबंध किया जा सकेगा। तकनीशियन, कलाकार एवं अन्य योग्य व्यक्तियों को वित्तीय सहायता देने से पूर्व उनका रोजगार पाना आवश्यक है जिससे वह प्राप्त धन का सदुपयोग कर सकें। डाक्टर एवं वकीलों को भी उपकरण खरीदने के लिए वित्तीय सहायता प्रदान की जाती है। ग्रामीण क्षेत्रों में योग्य कृषकों को ट्रेक्टर या पपसैट आदि के मरम्मत हेतु या खाद, बीज आदि की पूर्ति के लिए डिपो खोलने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। कुछ व्यापारिक बैंकों ने बेरोजगार इंजीनियर को काम देने की योजनाओं का निर्माण किया है।

बैंकों की प्रगति

जमा के क्षेत्र में स्टेट बैंक व उसकी सहायक बैंकों में 1969 में 1239 करोड़ रु० जमा थे और 14 राष्ट्रीयकृत बैंकों में 2633 करोड़ रु० जमा थे जो 1974 में बढ़कर क्रमशः 3007 करोड़ रु० व 5927 करोड़ रु० हो गई। 1974 में समस्त अनुसूचित बैंकों में कुल जमा का 84% भाग सार्वजनिक क्षेत्र की बैंकों में था। प्रति कार्यालय में कुल जमा 1969 में 59 लाख रु० से बढ़कर 1974 में 65 लाख रु० हो गया। 1969 में स्टेट बैंक व राष्ट्रीयकृत बैंकों ने अग्रिम के रूप में क्रमश: 1185 करोड़ रु० व 1832 करोड़ रु० दिया जो 1974 में बढ़कर क्रमशः 1875 करोड़ रु० व 3459 करोड़ रु० हो गया। जून 1974 तक कुल अग्रिम का 84.7% सार्वजनिक क्षेत्र की बैंकों द्वारा दिया गया, परंतु प्रति बैंक साख में कमी हो गयी जो 1969 में 46 लाख रु० से घटकर 1973 में 39 लाख रु० हो गयी। बैंकों द्वारा 1969 में प्राथमिक एवं अधूरे क्षेत्र को दिये गये ऋण का विवरण निम्न प्रकार था—

प्राथमिक क्षेत्र को ऋण (करोड़ रुपये में)

	स्टेट बैंक	14 राष्ट्रीयकृत बैंक
कृषि (प्रत्यक्ष)	11	29
कृषि (अप्रत्यक्ष)	89	33
लघु उद्योग	103	148
सड़क व जल परिवहन	—	5
फुटकर व्यापार	—	19
शिक्षा	—	—

Source : The Financal Express July 8, 1975.

सितंबर 1973 तक प्राथमिक क्षेत्र को कुल अग्रिम 1560 करोड़ रु० था जिसमें से सार्वजनिक क्षेत्र का भाग 1367 करोड़ रु० (88%) था। लघु उद्योगों का भाग महत्त्वपूर्ण था जो 1969 में 57% करोड़ था और गिर-कर 1973 में 48% रह गया। लघु उद्योगो पर अग्रिम राशि 1973 में 665 करोड़ रु० थी जो जून 1974 में बढ़कर 868 करोड़ रु० हो गई। प्रत्यक्ष कृषि अग्रिम की कुल मात्रा 24 करोड रु० से बढ़ गयी जबकि वसूली में वृद्धि 6 करोड़ रु० से थी। बैंकों के राष्ट्रीयकरण से बैंकों ने सामाजिक दायित्व को पूर्ण करने के प्रयास किये हैं। अग्रिम राशि 1972 में 26,202 खातों पर 87.26 लाख रु० थी जो 1974 में बढ़कर 2,56,236 खातों पर 10.85 करोड़ रु० हो गयी। इस प्रकार प्रति खाते में औसत वृद्धि 1972 में 333 रु० के स्थान पर 1973 में 423 रु० हो गयी।[1]

व्यापारिक बैंक जमा में वृद्धि

वर्ष	कुल बैंक जमा (मि० रुपए में)	प्रतिशत परिवर्तन	बैंक जमा सकल राष्ट्रीय उत्पादन में प्रतिशत
1950–51	8,810	—	8.5
1955–56	11,100	26.0	10.0
1960–61	17,890	61.2	11.9
1965–66	29,740	66.2	12.5
1966–67	34,490	16.0	12.6
1967–68	38,810	12.5	12.2
1968–69	43,650	12.5	13.4
1970	52,750	—	15.9
1971	62,160	—	18.3
1972	76,100	—	21.3
1973	91,650	—	23.5
1974	1,14,400	—	21.9

(Source : The Financial express July 4,1975)

राष्ट्रीयकरण के पश्चात् बैंकों के शाखा विस्तार में विशेष वृद्धि हुई है। 1969 में बैंकों की कुल शाखाएं 8,321 थीं जो 1974 तक बढ़कर 18,180 हो गयीं। शाखा विस्तार को निम्न प्रकार रखा जा सकता है —

शाखा विस्तार

	जून 1969	जून 1970	जून 1971	जून 1972	जून 1973	जून 1974	दिसम्बर 1974
शाखा-संख्या	8262	10131	12013	13622	15362	16936	18180
ग्रामीण क्षेत्र	1833	3363	4280	4817	5561	6166	6631
अर्ध-नगरीय क्षेत्र	3342	3718	4010	4401	4751	5116	5434
नगरीय क्षेत्र	1584	1744	1949	2504	2764	3087	3144
बंदरगाह क्षेत्र	1503	1606	1744	1900	2286	2567	2971
प्रति कार्यालय जनसंख्या (हजारों में)	65	54	46	40	36	32	30

Source : The Financial Express July 4, 1975.

1. The Financial Express July 8, 1975.

8. देना बैंक	2.93	121.88
9. यूनियन बैंक	2.56	115.22
10. इलाहाबाद बैंक	2.54	112.72
11. सिंडीकेट बैंक	2.66	112.19
12. इंडियन ओवरसीज बैंक	2.15	93.22
13. इंडियन बैंक	2.06	84.59
14. बैंक ऑफ महाराष्ट्र	2.02	73.02
योग	66.01	2741.75

इन 14 बैंकों की प्रदत्त पूंजी 28.5 करोड़ रुपये थी तथा शेष राशि इनकी कोष राशि थी। इन बैंकों को अपने लाभ का 20% भाग कोषों में हस्तांतरित करना आवश्यक था तथा शेष लाभ को ही लाभांश के रूप में घोषित कर सकते थे। इस प्रकार इन बैंकों के स्वयं के कोष अल्प हैं तथा समस्त कार्य ऋण पूंजी एवं जमा के बल पर ही किया जाता है। इसी कारण इन बैंकों द्वारा जमा राशि में अधिकाधिक वृद्धि करने के प्रयास किए जाते हैं। ये बैंक मुद्रा बाजार, जीवन बीमा निगम, यूनिट ट्रस्ट एवं रिजर्व बैंक से भी सहायता प्राप्त करते रहते हैं। गत वर्ष रिजर्व बैंक द्वारा प्रतिबंध लगाने के उपरांत भी इन बैंकों को जमा राशि कमजोर हो रही। यह बात अत्यंत महत्त्वपूर्ण है कि बैंकों की संस्थापन व्यय एवं शाखा विस्तार के कारण व्ययों में वृद्धि होने पर भी राष्ट्रीयकृत बैंकों ने उल्लेखनीय लाभ अर्जित किए। निम्न तालिका में बैंकों द्वारा अर्जित लाभ एवं उसमें से केंद्र सरकार को हस्तांतरित लाभ (बैंकिंग कंपनी अधिनियम 1970 की धारा 10 के अनुसार) को दिखाया गया है—

लाभ व सरकार को हस्तांतरित भाग

(करोड़ रु० में)

	1969		1970		1971		1972		1973	
	लाभ	सरकार	लाभ	सरकार	लाभ	सरकार	लाभ	सरकार	लाभ	सरकार
1. इलाहाबाद बैंक	0.40	0.08	0.43	0.21	0.54	0.13	0.52	0.07	0.50	0.01
2. बैंक आफ बड़ौदा	0.56	0.27	1.43	0.47	2.19	0.54	2.41	0.54	2.38	0.53
3. बैंक आफ इंडिया	1.61	0.38	1.99	0.81	2.35	0.84	2.40	0.85	2.65	0.86
4. महाराष्ट्र बैंक	0.47	0.07	0.28	0.15	0.31	0.16	0.17	—	0.17	0.02
5. कनारा बैंक	0.71	0.12	1.03	0.28	1.39	0.31	1.46	0.27	1.47	0.23
6. सेंट्रल बैंक	1.09	0.38	2.08	0.32	2.89	0.34	2.17	0.32	2.95	0.16
7. देना बैंक	0.31	0.08	0.51	0.16	0.65	0.20	0.63	0.20	0.44	0.04
8. इंडियन बैंक	0.09	0.06	0.23	0.05	0.24	0.02	0.50	0.13	0.69	0.14
9. इंडियन ओवरसीज बैंक	0.09	0.03	0.37	0.08	0.39	0.08	0.37	0.01	0.66	0.10
10. पंजाब नेशनल बैंक	1.59	0.30	2.44	0.61	2.45	0.61	2.46	0.61	2.40	0.55
11. सिण्डीकेट बैंक	0.29	0.10	0.65	0.22	0.90	0.23	1.01	0.23	1.19	0.23
12. यूनियन बैंक	0.32	0.08	0.49	0.17	0.74	0.19	0.93	0.19	1.11	0.19
13. यूनाइटेड बैंक	0.26	0.12	0.72	0.23	0.93	0.26	0.93	0.23	0.87	0.02
14. यूनाइटेड कमर्शियल बैंक	0.89	0.25	1.42	0.47	1.80	0.53	1.81	0.53	1.81	0.46

Source : The Financial Express July 4, 1975

बंगलौर में 10 सूत्री कार्यक्रम प्रस्तुत करते समय प्रधानमंत्री ने आशा व्यक्त की थी कि यदि बैंकों के रिजर्व अनुपात को 5% से बढ़ा दिया जाए तो सार्वजनिक क्षेत्र में विनियोग के लिए 200 करोड़ रुपये अतिरिक्त प्राप्त हो सकेंगे, जबकि वास्तव में रिजर्व बैंक को यह अधिकार प्राप्त है कि वह इस अनुपात को 40% तक, बैंकिंग नियमन अधिनियम एवं रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया अधिनियम के अन्तर्गत बढ़ा सकता है, जबकि वर्तमान आवश्यकता को देखते हुए इस अनुपात को 28% से बढ़ाकर 32% तक कर दिया गया है। यदि देश में आय अर्जित करने वाले प्रत्येक व्यस्क सदस्य से किसी भी उद्देश्य से केवल 1/- ही अंशदान के रूप में लिया जाए तो पर्याप्त राशि प्राप्त की जा सकती है। देश में बैंकिंग आदत एवं चैक के उपयोग द्वारा मुद्रा पूर्ति को कम किया जा सकता है। बैंकिंग का विस्तार किया जा रहा है और प्रतिवर्ष 1500 शाखाएं खोलने का लक्ष्य रखा गया है, जिससे देश के प्रत्येक भाग में बैंकिंग सुविधाएं प्रदान की जा सकें। चतुर्थ योजनाकाल में बैंक जमा राशि का लक्ष्य 10,000 करोड़ रुपये तक हो जाने का रखा गया था। ग्रामीण क्षेत्रों में पर्याप्त मात्रा में धन उपलब्ध है, केवल उन्हें प्राप्त करना शेष है जिसे ग्रामीण सुविधाएं देकर प्राप्त किया जा सकता है। जमा के लिए युद्ध-रूपी प्रयास करना गरीबी के विरुद्ध एक चुनौती है, जिसमें हमें हार नहीं माननी होगी।

राष्ट्रीयकरण संबंधी समस्याएं
(Problems relating to Nationlisation)

बैंकों के राष्ट्रीयकरण से संबंधित जो विभिन्न समस्याएं उत्पन्न हुई हैं, वे निम्नलिखित हैं—

(1) **लालफीताशाही**—बैंकों के राष्ट्रीयकरण से संचालन व्यवस्था में नौकरशाही एवं लालफीताशाही पनपेगी, जिससे कागजी कार्यवाहियां बढ़ जाएंगी तथा कार्य करने में देरी होगी।

(2) **छोटे वर्गों की मांग बढ़ना**—राष्ट्रीयकरण होने से छोटे वर्ग के व्यक्ति ऋण प्राप्त करने की आशाएं लगाए बैठे हैं जिससे इनकी मांग में वृद्धि होने की सम्भावना है जिनके लिए बैंकों को अनुकूल योजनाओं का निर्माण करना होगा।

(3) **संचालन में राजनीति का भय**—बैंकों के संचालक मंडल में राजनीतिज्ञों के प्रवेश होने का भय बना हुआ है जिसमें प्रबंध कार्य कुशलतापूर्वक संपन्न नहीं हो सकेगा तथा अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना होगा।

(4) **एकता एवं क्षेत्रीय संतुलन का अभाव**—संचालक मंडल में राज्य सरकारों का कितना प्रतिनिधित्व होगा तथा बैंक के कोषों का उपयोग किस प्रकार किया जाएगा यह एक क्षेत्रीय सरीखता के बढ़ने की सम्भावना सदैव बनी रहती है। इसी प्रकार समस्त राशि का उपयोग किस क्षेत्र में किया जाएगा तथा अविकसित राज्य अपने ही राज्यों में पूंजी के अधिकाधिक विनियोजन की मांग करेंगे, जो अन्य राज्यों के लिए समस्या उत्पन्न करेगा तथा एकता को सदैव खतरा बने रहने का भय बना रहेगा। अतः राष्ट्रीयकरण से समस्याएं अधिक उत्पन्न होने की संभावनाएं बढ़ जाएंगी।

(5) **ग्राहक सेवाओं में कमी**—राष्ट्रीयकरण के पश्चात् बैंकिंग उद्योग में ग्राहक सेवाओं में कमी हो गयी है तथा बैंकों की उत्पादकता भी घट गयी है। इसका मुख्य कारण तीव्र गति से बैंक शाखाओं में वृद्धि होने से योग्य व्यक्तियों की नियुक्ति का अभाव है।

(6) **संचालन लागत में वृद्धि**—ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकों द्वारा कार्य करने से उनके संचालन व्यय में वृद्धि होकर बैंकों के लाभों में कमी हो जाएगी।

(7) **अधिकारों पर अधिक ध्यान**—राष्ट्रीयकरण से कर्मचारियों में कर्तव्य के स्थान पर अधिकारों की मनोभावना अधिक घर कर गयी है, जिससे वे ग्राहकों को अधिकतम संतुष्ट करने में कोई रुचि नहीं दिखाते हैं।

राष्ट्रीयकरण संबंधी समस्याओं को निम्न चार्ट के रूप में रखा जा सकता है—

राष्ट्रीयकरण संबंधी समस्याएं

लाल फीताशाही	छोटे वर्गों की मांग बढ़ना	संचालन में राजनीति का भय	एकता एवं क्षेत्रीय संतुलन का प्रभाव	ग्राहक सेवाओं में कमी	संचालन लागत में वृद्धि	अधिकारों पर अधिक ध्यान

सुझाव

राष्ट्रीयकरण की योजना को सफल बनाने के लिए निम्न सुझाव दिए जा सकते हैं—

(1) **जमा वृद्धि के प्रयास**—इन बैंकों को अपनी जमा पूंजी में वृद्धि करने के प्रयास करने चाहिए तथा कर्मचारियों के व्यवहार में परिवर्तन लाना आवश्यक है। इस संबंध में ग्रामीण क्षेत्रों में नवीन शाखाएं खोली जानी चाहिए जिससे जमा में वृद्धि की जा सके।

(2) **लघु उद्योगों को उदारतापूर्वक ऋण**—भारत में लघु उद्योगों का काफी महत्त्व है और लगभग 1 लाख से भी अधिक औद्योगिक इकाइयां हैं जिनमें 30 लाख व्यक्ति रोजगार पाते हैं। अतः यह आवश्यक है कि लघु उद्योगों को बैंकों द्वारा उदारतापूर्वक ऋण प्रदान किया जाना चाहिए।

(3) **साख नीति को समायोजित करना**—*व्यापारिक बैंकों को अपनी साख नीति को पंचवर्षीय योजनाओं* के आधार पर समायोजित करने का प्रयास किया जाना चाहिए, जिससे योजनाएं सफलतापूर्वक कार्य कर सकें।

(4) **सेवा-लागत में कमी**—बैंकिंग सेवाओं में सुधार लाने के लिए यह आवश्यक है कि बैंकों की सेवा-लागत में कमी की जाए तथा कुछ सेवाओं का उचित ढंग से यंत्रीकरण करना आवश्यक है। बैंकों का ग्रामीण क्षेत्रों में खोले जाने में सेवा-लागत में वृद्धि होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि वहां पर प्रशिक्षित कर्मचारियों की सेवाएं प्राप्त करना कठिन हो जाता है।

(5) **सेवाओं में सुधार**—बैंकों की सेवाओं में पर्याप्त सुधार करना आवश्यक है और इसके लिए निम्न उपायों का प्रयोग किया जा सकता है—

(i) **अतिरिक्त भत्ता**—कर्मचारियों के कार्यों में कुशलता को बढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें कार्य के बदले अतिरिक्त भत्ता दिया जाना चाहिए। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि कर्मचारियों के लिए भी न्यूनतम कार्य का निर्धारण किया जाना चाहिए।

(ii) **नवीन योजनाएं**—ग्राहकों की बचतों को प्रोत्साहित करने के लिए नवीन योजनाओं को प्रारंभ किया जाना चाहिए।

(iii) **चयन प्रणाली में सुधार**—बैंकों के कर्मचारियों की चयन प्रणाली में भी आवश्यक सुधार लाने चाहिए तथा श्रेष्ठ व योग्य कर्मचारियों को ही रखा जाना चाहिए।

(iv) **ग्राहकों से सम्पर्क**—बैंकों की सेवाओं के संबंध में समय-समय पर ग्राहकों से सम्पर्क स्थापित करना चाहिए तथा कमियों को दूर करने के प्रयास करने चाहिए।

(6) **निर्यातों को सहायता**—चतुर्थ पंचवर्षीय योजना का लक्ष्य 7% वार्षिक से निर्यातों में वृद्धि करके 1973-74 में 1900 करोड़ रुपये वार्षिक व 1980-81 में 3020 करोड़ रुपये वार्षिक तक निर्यात बढ़ाने हैं। अतः इस संबंध में बैंकों द्वारा भी यथासंभव आर्थिक सहायता प्रदान करनी चाहिए तथा निर्यातों को प्रोत्साहित करने के सफल प्रयास करने चाहिए।

(7) **कृषि को ऋण देना**—व्यापारिक बैंकों द्वारा कृषि वित्त की ओर ध्यान ही नहीं दिया गया। बैंकों द्वारा कृषि मांग का केवल 4% भाग ही पूर्ण किया जाता है तथा शेष के लिए उसे सहकारी बैंकों एवं संस्थाओं पर निर्भर

रहना पड़ता है। अतः कृषि व्यवसाय को अधिकाधिक ऋण प्रदान करने की सुविधाएं दी जानी चाहिए। कृषि के लिए बीज, उर्वरक, ट्रैक्टर आदि के लिए व्यापारिक बैंकों द्वारा ही वित्तीय सुविधाएं प्रदान की जानी चाहिए जिससे इस उपेक्षित क्षेत्र का विकास किया जा सके।

(3) **कर्मचारियों की प्रवृत्ति में परिवर्तन**—बैंक के कर्मचारी अपने-आपको जनता का सेवक न समझकर अधिकारी समझते हैं और जनता से अच्छा व्यवहार नहीं करते, जिससे जन-सेवा की भावना ही प्रायः समाप्त हो जाती है। इसी प्रकार धन जमा करने एवं निकालने में अनेक जटिल प्रणालियों का प्रयोग किया जाता है जिसे सरलतम बनाना आवश्यक है। ग्राहक के साथ अच्छा व्यवहार करने की मनोवृत्ति होनी चाहिए जिससे अधिकाधिक ग्राहक आकर्षित हो सके।

रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया ने समस्त व्यापारिक बैंकों को परामर्श दिया है कि ऋण स्वीकृत करते समय संचालकों की व्यक्तिगत गारंटी पर अधिक जोर न दें। ऐसी गारंटी आवश्यकता पड़ने पर ही प्राप्त की जानी चाहिए तथा ऋण लेने वाली संस्था से कोई पारिश्रमिक संचालकों को प्राप्त नहीं होना चाहिए। इस संबंध में ऋण लेने वाली कंपनी एवं प्रत्याभूति देने वाले से एक प्रतिज्ञा-पत्र लिया जाएगा कि ऋण की गारंटी के समय कोई भी कमीशन प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार नहीं किया जाएगा। रिजर्व बैंक ने ऋण स्वीकृत करने हेतु मार्गदर्शक का निर्माण किया है। गारंटी केवल निम्न परिस्थितियों में ही दी जानी चाहिए—

(i) ऐसी कंपनियां जिनके अंश प्राप्त किए गए हैं।

(ii) जहां कंपनी में प्रबंध की निरंतरता की आवश्यकता हो।

(iii) सार्वजनिक सीमित कंपनियों को भी ऋण स्वीकृत किया जा सकता है।

(iv) ऐसी सार्वजनिक कंपनियां जिनकी वित्तीय स्थिति ऋण प्राप्त करने के पश्चात् भी सुदृढ़ न हो।

(v) सहायक कंपनियां जिनकी स्वयं वित्तीय स्थिति संतोषप्रद न हो।

(vi) जहां कंपनी की स्थिति विवरण या वित्तीय विवरण अपने कोषों को किसी अन्य कंपनी में लगा हुआ दिखाता हो।

अभी हाल में राष्ट्रीयकृत बैंकों ने निम्न-मध्यम-वर्ग के व्यक्तियों के लिए गृह-निर्माण के लिए ऋण प्रदान करने की योजना का निर्माण किया है। यह ऋण अधिक से अधिक व्यक्तियों को दिया जाएगा। इस संबंध में शर्तों के निर्धारण के लिए रिजर्व बैंक ने एक समिति का निर्माण किया है। जीवन बीमा निगम 4.5 से 8.5% पर गृह निर्माण के लिए ऋण प्रदान करता है। 8.5% पर निगम ने 17.31 करोड़ रुपये ऋण दिए हैं जो विभिन्न वर्ग के व्यक्तियों को दिए गए हैं। इसके अतिरिक्त बैंकों द्वारा भी यह ऋण प्रदान किया जाएगा। राष्ट्रीयकृत बैंकों ने इस बात के भरसक प्रयास किए हैं कि उनके कार्य देश की योजनाओं के साथ संबंधित हो जाएं। अपने साख-कार्यों के आधार पर बैंक विभिन्न उत्पादक संस्थाओं को अधिकतम लाभ प्रदान करने के प्रयास कर रहे हैं। राष्ट्रीयकरण के पश्चात् 6 वर्षों में बैंकों के कोष में गुणात्मक परिवर्तन आए हैं जो निम्न प्रकार हैं—

(i) बैंकों द्वारा ऋण प्राथमिक क्षेत्रों को दिया जाने लगा है जैसे कि कृषि, लघु उद्योग, छोटे व्यवसाय, सड़क व जल परिवहन, व्यावसायिक सेवाएं आदि। पिछले समय में बैंक इस ओर ध्यान नहीं देते थे।

(ii) प्राथमिक क्षेत्र में भी निम्न आय के व्यक्तियों को ऋण देने में अधिक जोर दिया जाता है और विशेष रियायती दरों पर ब्याज की व्यवस्था की जाती है।

(iii) उपक्रमों के कोष के प्रवाह में वृद्धि हुई है, जिसमें सार्वजनिक क्षेत्र में खाद्यान्न प्राप्ति एजेंसी भी सम्मिलित है।

(iv) बैंक साख में बड़े एवं मध्यम श्रेणी के उद्योगों को दिए जाने वाले हिस्से में पर्याप्त कमी आई है।

(v) बैंकों द्वारा छोटे ऋणों पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा है।

(vi) निर्यात व्यापार को अर्थव्यवस्था का एक महत्वपूर्ण अंग मानने से बैंकों द्वारा इस क्षेत्र को प्राथमिकता से ऋण दिया जाता है।

वर्तमान बैंकिंग ढांचा
(Modern Banking Structure)

यद्यपि देश में औद्योगिक क्रान्ति एवं संवैधानिक परिवर्तन हो चुके हैं, फिर भी सरकार ने देश में बैंकिंग ढांचे की ओर कोई निश्चित कदम नहीं उठाया है। अधिकारियों का ध्यान समय-समय पर इस ओर गया है तथा चतुर्थ योजना में बैंकिंग कमीशन इस ओर महत्त्वपूर्ण कार्य करेगा। इस समस्या की ओर आवश्यक रूप से ध्यान देना इसलिए आवश्यक है, क्योंकि गत 150 वर्षों से भारत में बैंकों का विकास सुनिश्चित ढंग से संभव नहीं हो सका है। द्वितीय, सरकार ने बैंकिंग पद्धति पर उसकी जमा पर 83% भाग पर आधिपत्य प्राप्त करके अच्छी स्थिति प्राप्त कर ली है। इस प्रकार का प्रमुख उद्देश्य बैंकिंग पद्धति को सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति में लगाना है, जिससे राष्ट्रीय प्राथमिकता एवं नीति के आधार पर देश के सभी वर्गों की माँग की पूर्ति की जा सके।

1935 के रिजर्व बैंक अधिनियम के अन्तर्गत देश में संगठित बैंकिंग पद्धति का निर्माण हुआ जिसमें इंपीरियल बैंक, 105 भारतीय संयुक्त-स्कंध बैंक एवं 17 विनिमय बैंकों, जिनकी जमाराशि 234 करोड़ रुपये थी, पर केंद्रीय बैंक का अधिकार हो गया। कृषि साख विभाग के द्वारा रिजर्व बैंक ने सहकारी बैंकों पर भी अपना अधिकार रखा। द्वितीय विश्वयुद्ध ने बैंकिंग के विकास को प्रोत्साहित किया। बैंकों की सरल साख सुविधा के कारण युद्धोपरान्त अनेक बैंक असफल हो गए। 1956 के बाद देश में बैंकों का तीव्र गति से विकास हुआ। परंतु उस समय देश में 334 गैर-अनुसूचित बैंक जिनकी 1,101 शाखाएं एवं 74 करोड़ रुपये जमा राशि थी, देश में कार्य कर रहे थे। 30 जून, 1970 तक सार्वजनिक क्षेत्र में बैंक ने 1456 शाखाएं स्थापित कीं, जिनका 3/4 भाग ग्रामीण क्षेत्रों में स्थापित किया गया।

वर्तमान स्थिति

जून 1969 में भारत में बैंकों के कुल 8187 कार्यालय थे जिनमें 166519 लाख रुपया जमा थे और बैंकों द्वारा 360886 लाख रुपये अग्रिम के रूप में दिए गए थे जो 1974 में बढ़कर क्रमशः 16812, 1071354 लाख रुपये एवं 803944 लाख रुपये हो गए। परन्तु यह विकास समस्त राज्यों में समान रूप से संभव न हो सका। राज्य आधार पर बैंकों की वर्तमान स्थिति को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

लाख रुपये में

	जून 1969			जून 1974		
राज्य	कार्यालय	जमा	अग्रिम	कार्यालय	जमा	अग्रिम
1. आन्ध्रप्रदेश	567	16279	14667	1234	44190	37630
2. आसाम	63	3429	1401	178	9069	4144
3. बिहार	272	16936	5227	671	49767	17890
4. गुजरात	753	40197	19543	1436	81753	50372
5. हरियाणा	171	5336	2622	390	15102	10642
6. हिमाचल प्रदेश	42	1406	382	159	6137	1054
7. जम्मू-कश्मीर	35	2886	545	164	7496	2332
8. कर्नाटक	755	23635	17462	1620	52887	47952
9. केरल	543	15202	9871	1063	33909	24534
10. मध्यप्रदेश	343	11116	6528	819	29660	18570
11. महाराष्ट्र	1114	112442	107062	1999	234941	213025
12. नागालैंड	2	107	6	7	318	78

13. उड़ीसा	100	3113	1663	255	8955	4903
14. पंजाब	345	20308	5818	869	50275	22271
15 राजस्थान	364	8497	4426	743	21121	12589
16. तमिलनाडु	1060	29349	38063	1783	76532	84029
17. उत्तर प्रदेश	738	36490	17295	1660	95399	46789
18. प० बंगाल	503	64345	69971	988	136959	116768
19. चंडीगढ़	21	3620	6465	44	6818	17327
20. देहली	274	44925	29122	501	94955	69267
21. गोवा,दामन,दियु	85	4940	1981	133	9958	4474
22 अन्य	27	1911	766	91	5153	1804
योग	8187	466519	360886	16812	1071354	808944

(Source : The Financial Express, July 4, 1975)

व्यापारिक बैंकों ने प्रतिवर्ष 1800 नवीन कार्यालय खोले। 1969-70 मे 1869 कार्यालय व 1974-75 मे 1701 नवीन कार्यालय खोले गए। इसे निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

व्यापारिक बैंकों द्वारा खोले गए कार्यालय

वर्ष	कार्यालय	प्रतिशत वृद्धि
1969-70	1869	22.6
1970-71	1882	18 6
1971-72	1607	13 3
1972-73	1742	12.8
1973-74	1574	10.2
1974-75	1701	10.1

(Source : The Economic Times, Sept. 19, 1975)

देश में बैंकिंग का विकास सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र मे होता है। सार्वजनिक क्षेत्र मे बैंकों के कार्यालयों की संख्या निजी क्षेत्र की तुलना मे अधिक है। इसी प्रकार बैंक की जमा व बैंक साख को राशि निजी क्षेत्र की अपेक्षा सार्वजनिक क्षेत्र मे अधिक है। सार्वजनिक एवं निजी दोनो क्षेत्रों को मिलाकर बैंक कार्यालयो की संख्या जमाराशि एवं साख की मात्रा मे निरंतर वृद्धि हुई है।

सहकारी साख आंदोलन को ग्रामीण विकास का एक महत्त्वपूर्ण साधन माना गया, परंतु इसने देश के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान नही दिया। इसी कारण से देश के प्रत्येक क्षेत्र मे सहकारी एवं संयुक्त स्कंध दोनों ही एजेंसियों को विकास के अवसर प्रदान गए। वर्तमान समय मे सहकारी साख ढाचा तीन रूपों में कार्य करके साख विस्तार मे महत्त्वपूर्ण योगदान देता है।

राष्ट्रीयकरण के पश्चात् बैंकों ने प्राथमिक क्षेत्र को ऋण देने मे प्राथमिकता अपनाई। अनुसूचित बैंकों द्वारा प्राथमिक क्षेत्र मे 1969 में 3599 करोड़ रु० ऋण के रूप मे दिए गए जो 1974 मे बढ़कर 7914 करोड़ रु० हो गए। इसे निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

अनुसूचित बैंकों द्वारा दिए गए अग्रिम

	जून 1969	1970	1971	1972	1973	1974	दिसंबर 1974
साख (करोड़ रु० में)	3599	4213	4763	5480	6412	7827	7914
प्रतिशाखा साख (लाख रु० में)	45	42	40	40	42	46	44
प्रतिव्यक्ति साख	68	78	87	97	117	143	144
प्राथमिक क्षेत्र को ऋण	439	761	897	1058	1292	1688	—
प्राथमिक क्षेत्र का भाग (प्रतिशत में)	14.9	21.2	22.1	23	23.8	25.3	—
साख-जमा अनुपात	77.5	79.9	76.6	72	70	73.1	69.2
विनियोग-जमा अनुपात	29.3	28.5	29.1	30.5	32.1	30.8	33.2

(Source : The Financial Express, July 4, 1975)

बैंकिंग सुधार

राष्ट्रीयकरण के पश्चात् बैंकों के कार्य में पर्याप्त सुधार हुआ है। (i) बैंकों के ऋण शहरों से हटकर क्षेत्रों को दिए जाने लगे हैं, (ii) ऋण प्राथमिक क्षेत्रों की ओर परिवर्तित हो गया है, (iii) धन की सुरक्षा के स्थान पर योजना को महत्त्व दिया जाता है। इन सुधारों से बैंकों के पुराने विनियोग सिद्धांत जैसे तरलता, सुरक्षा लाभ आदि के स्थान पर कार्य-बजट को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है। सामाजिक परिवर्तन लाने के उद्देश्य से बैंकों के संबंध में राष्ट्रीय नीति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। इससे पूर्व बैंकिंग व्यवस्था आर्थिक नियोजन से संबंधित नहीं थी। विकास के कार्यों में समस्त साधनों का सहयोग प्राप्त होना आवश्यक है, जिसमें से व्यापारिक बैंक भी एक महत्त्वपूर्ण साधन है, जिसे हमारी पंचवर्षीय योजनाओं में ध्यान नहीं दिया गया। वर्तमान समय में बैंकिंग को आर्थिक विकास का महत्त्वपूर्ण हथियार माना गया है जो बचतों को प्राप्त करके विभिन्न क्षेत्रों को साख की व्यवस्था करने में मदद करता है।

अग्रणी बैंक योजना के अंतर्गत बैंकों को दो कार्य करने होते हैं—(i) पिछड़े क्षेत्रों में ऋण की व्यवस्था करके विकास में सहायता देना, (ii) जिले में कार्यरत सहकारिता एवं अन्य वित्तीय संस्थाओं के लिए लीडर के रूप में कार्य करके विकास में मदद करना। इस योजना में देश के 336 जिलों को (बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, चण्डीगढ़, देहली एवं गोवा को छोड़कर) सार्वजनिक क्षेत्र की 22 बैंकों व निजी क्षेत्र की 2 बैंकों में वितरित कर दिया गया है। समस्त जिलों में जिला परामर्श समितियां बना दी गई हैं। बैंकिंग सेवाएं भौगोलिक एवं कार्य दृष्टि से बढ़ रही हैं। देश के समस्त जिलों को बैंकों की शाखाओं से ढक दिया गया है और एक साधारण व्यक्ति भी बैंक की सेवाओं से लाभ प्राप्त कर सकता है। व्यावहारिक बैंकों ने राष्ट्रीयकरण की चुनौती को स्वीकार कर लिया है तथा नवीन भार को सरलता से सहन कर लिया है। बैंकों को साख-नियोजन के कार्य को सफलतापूर्वक सम्पन्न करना है। विकास योजनाओं का निर्माण व निष्पादन कार्य सरकार का है और बैंक सरकार द्वारा निर्मित योजनाओं में सहायता देते हैं। साख-योजना का बनाना ही आर्थिक विकास के लिए आवश्यक माना गया है। बैंकर एवं नियोजक अधिकारी के संयुक्त प्रयासों से ही तीव्र विकास सम्भव हो सकता है। अतः बैंक साख योजना एवं जिले की आर्थिक योजना को साथ-साथ चलना चाहिए जिससे विकास शीघ्रता से सम्भव हो सके।

भारत में वर्तमान बैंकिंग ढांचे व व्यवस्था को निम्न चार्ट द्वारा दिखाया जा सकता है।

विदेशी विनिमय बैंक
(Foreign Exchange Banks)

प्रारंभिक

जो बैंक विदेशी विनिमय में व्यवसाय करें एवं विदेशी व्यापार की वित्त व्यवस्था का प्रबंधन करें, उन्हें विदेशी विनिमय बैंक कहते हैं। वर्तमान समय में कोई भी राष्ट्र न तो अपनी संपूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति एकमात्र अपने उत्पादन से कर पाता है और न ही अपने उत्पादन को खपत स्वयं ही करके संतुष्ट रह सकता है। अतः प्रत्येक देश को आयात एवं निर्यात पर निर्भर रहना पड़ता है और विदेशी व्यापार के क्षेत्र में प्रवेश करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक देश को विदेशी मुद्रा से संबंधित बैंकिंग व्यवहार करने होते हैं, जिसमें विशिष्ट बैंकिंग तकनीकों का उपयोग किया जाता है। भारत में इन बैंकों का उद्गम ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन काल से प्रारंभ हुआ। ब्रिटिश सरकार ने इनकी स्थापना को प्रोत्साहित किया। इनके प्रधान कार्यालय इंग्लैंड में तथा अन्य शाखाएं भारत में रहती थीं जो भारत के विदेशी व्यापार का अर्थ-प्रबंधन किया करते थे। भारत सरकार द्वारा इन बैंकों को अनेक प्रकार की आर्थिक सहायता प्रदान की जाती थी, जिससे अल्पकाल में अनेक बैंक स्थापित हो गए तथा धीरे-धीरे यही बैंक अधिक शक्तिशाली हो लोगों द्वारा गए। ये बैंक प्रायः विदेशी संचालित किए जाते थे।

भारतीय बैंकों द्वारा विदेशी विनिमय के क्षेत्र में प्रवेश न करने के कारण—विदेशी विनिमय बैंक बहुत अधिक शक्तिशाली हो गए थे। स्वतंत्रता से पूर्व भारतीय बैंकों ने विदेशी विनिमय व्यवसाय में प्रवेश करने के प्रयास किए, परन्तु वे इस कार्य में सफल न हो सके। इस असफलता के प्रमुख कारण निम्नलिखित थे—

(i) शाखाओं का अभाव—विदेशी विनिमय बैंकों की शाखाएं विदेशों में थीं, परन्तु भारतीय बैंकों की शाखाएं प्रायः इंग्लैंड तक ही सीमित रहती थीं जिससे विदेशी व्यापार को सुगमतापूर्वक करना संभव न हो सका।

(ii) सरकार द्वारा उपेक्षा—भारत में व्यापार करने पर विदेशी बैंकों को सरकार द्वारा अनेक प्रकार की सुविधाएं प्रदान की जाती थीं, परंतु भारतीय बैंकों को विदेशों में व्यापार करने पर यह सुविधाएं प्राप्त नहीं होती थीं तथा उनके कार्यों में अनेक प्रकार की बाधाएं पहुंचाई जाती थीं।

(iii) विदेशियों का स्वामित्व—प्रायः विदेशी व्यापार पर विदेशियों का ही स्वामित्व रहता था जिससे केवल विदेशी विनिमय बैंक ही इसका अर्थ प्रबंधन कर सकते थे। भारतीय बैंकों के पास विदेशी व्यापार का कार्य कम रहने से वे विदेशी बैंकों की सहायता प्राप्त न कर सके।

(iv) पूंजी का अभाव—भारतीय बैंकों की पूंजी विदेशी बैंकों की तुलना में कम रहने से प्रतियोगिता में ठहरना कठिन था। इसके अतिरिक्त विदेशी बैंकों का विदेशी मुद्रा बाजार से घनिष्ठ संबंध होने से वे विदेशों से आवश्यक पूंजी एकत्रित कर लेते थे जबकि भारतीय बैंकों को यह सभी सुविधाएं उपलब्ध न होने से वे विदेशी व्यापार की समुचित अर्थ-व्यवस्था करने में असमर्थ थे।

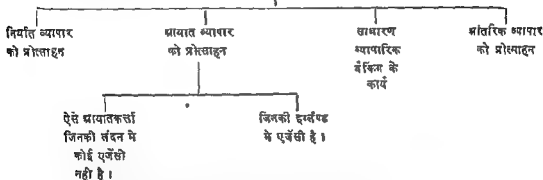
(v) योग्य कर्मचारियों का अभाव—भारतीय बैंकों के पास कार्य करने के लिए कुशल कर्मचारियों का अभाव था जिससे वे अपने कार्य को संगठित ढंग से नहीं कर सके थे। इसके विपरीत विदेशी बैंकों में कुशल कर्मचारी होने से उनका कार्य सुगठित एवं व्यवस्थित ढंग से किया जाता था और उन्हें ख्याति प्राप्त थी। परन्तु भारतीय बैंकों को ऐसी

ख्याति प्राप्त न होने से वे विदेशी बैंकों से प्रतियोगिता न कर सके और सफल भी न हो सके।

अरुचि—भारतीय बैंक विदेशी व्यापार क्षेत्र में बैंकिंग कार्यों के क्षेत्र में कभी भी दिलचस्पी नहीं दिखाते थे क्योंकि वे आंतरिक व्यापार में ही अपनी पूंजी से पर्याप्त लाभ अर्जित कर लेते थे जिससे इन बैंकों का व्यवसाय इस क्षेत्र में पनप नहीं सका।

विदेशी विनिमय बैंकों के कार्य
(Functions of Foreign Exchange Banks)

विदेशी विनिमय बैंकों के कार्यों को निम्न चार्ट द्वारा दिखाया जा सकता है—



विदेशी विनिमय बैंकों के प्रमुख कार्यों को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(1) **निर्यात व्यापार को सहायता**—इस संबंध में विदेशी व्यापार के विकास के लिए विदेशी बैंक विदेशी विनिमय बिलों की स्वीकृति अथवा कटौती करके आर्थिक सहायता प्रदान करते हैं इससे वस्तुओं का आयात-निर्यात सरल हो जाता है। भारतीय व्यापारी द्वारा माल निर्यात करने पर विदेशी ग्राहक या उसके बैंक पर भुगतान बिल या दर्शनी स्वीकृति बिल जारी करता है। यह बिल प्राय. 3 माह की अवधि के होते हैं जो आयातकर्त्ता द्वारा साख की व्यवस्था करने पर ही लिखा जाता है। निर्यातक इस बिल को भारत में स्थित विदेशी बैंक की शाखा से भुना लेता है तथा इस प्रकार क्रय किए गए बिल को विदेशी विनिमय बैंक विदेश में स्थित अपनी शाखा को भेज देता है। यह बैंक उस बिल को परिपक्वता की अवधि तक अपने पास रखकर आयातकर्त्ता से धन प्राप्त कर लेता है या उस बिल को तुरत मुद्रा बाजार में बेचकर धन प्राप्त कर लेता है। यदि निर्यातकर्त्ता इस बिल को विनिमय बैंक के पास संग्रह के लिए भेजता है तो उसे रुपये का भुगतान बिल की अवधि समाप्त होने पर प्राप्त होता है। इस प्रकार विनिमय बैंक भारतीय विदेशी व्यापार में निर्यात को प्रोत्साहित करके अपने सीमित कोषों का अधिकतम उपयोग करते हैं।

(2) **आयात व्यापार को सहायता**—विदेशी विनिमय बैंक आयात व्यापार को सहायता प्रदान करते हैं। प्राय. आयातकर्त्ता दो प्रकार के होते हैं और दोनों को ही यह बैंक आर्थिक सहायता प्रदान करते हैं। यह आयातकर्त्ता निम्न प्रकार के होते हैं—

(i) **ऐसे आयातकर्त्ता जिनकी लंदन में कोई एजेंसी नहीं है**—ऐसी स्थिति में निर्यातकर्त्ता बिल एवं संबंधित विपत्रों को उनकी कटौती करके ऐसे बैंक द्वारा करता है, जिसकी भारत में शाखा है। इस बिल को भारत स्थित शाखा को भेज दिया जाएगा। इस बिल के बदले राशि प्राप्त होने पर उसे प्रधान कार्यालय को भेज दिया जाएगा। इन बिलों की अवधि प्राय. 60 दिनों की होती है।

(ii) **जिनकी इंग्लैंड में एजेंसी है**—ऐसी परिस्थिति में निर्यातकर्त्ता लंदन के किसी विनिमय बैंक पर बिल

लिखकर उसे आयातक की लंदन स्थित शाखा से स्वीकृत कराकर विनिमय बैंक में कटौती करा लेगा। इस बिल को स्वीकार करके भारत स्थित शाखा को भेज दिया जाता है जो 60 दिनों की अवधि समाप्त होने पर उसकी राशि को आयातकर्ता से वसूल कर लेता है तथा उसे लंदन स्थित शाखा को भेज देता है, जिससे निर्यातकर्ता को तुरंत राशि प्राप्त हो जाती है।

इस प्रकार विदेशी विनिमय बैंक आयात व्यापार को प्रोत्साहित करके विदेशी व्यापार में अत्यंत सहायक सिद्ध होते हैं। विदेशी व्यापार में विनिमय बैंकों के अभाव में कार्य करना कठिन हो जाता है।

(3) **साधारण व्यापारिक बैंकिंग के कार्य**—विदेशी विनिमय बैंक देश में साधारण व्यापारिक बैंकिंग संबंधी व्यवसाय को भी करते हैं, जो देशी एवं विदेशी बिलों का लेन-देन भी करते हैं तथा व्यापारिक बैंकों की भांति जनता से धन प्राप्त करके ऋण प्रदान करते हैं, धन के हस्तांतरण की सुविधा देते एवं एजेंसी का कार्य करते हैं। ये बैंक व्यापारिक बैंकों से प्रतिस्पर्धा करते हैं तथा जनता से धन भी स्वीकार करते हैं।

(4) **आंतरिक व्यापार को सहायता**—विदेशी विनिमय बैंक देश के आंतरिक व्यापार में भी आर्थिक सहायता देकर उसे विकसित करने का प्रयास करते हैं। इस संबंध में इन बैंकों द्वारा देश के विभिन्न भागों में अपनी शाखाएं स्थापित की जाती हैं जो व्यापारिक लेन-देन में अनेक प्रकार की सुविधाएं प्रदान करते हैं। इस प्रकार विदेशी बैंक देश के आंतरिक व्यापार में भी देशी बैंकों से प्रतियोगिता करते हैं। देश के आंतरिक व्यापार में काफी धन इन्हीं बैंकों में लगा हुआ है।

भारत स्थित विनिमय बैंकों की वर्तमान स्थिति—भारत में विदेशी विनिमय बैंक प्राचीन समय से ही कार्य कर रहे हैं जिनका भारत स्थित शाखाओं में काफी मात्रा में धन विनियोजित है। इन बैंकों की अधिकांश शाखाएं देश के बड़े-बड़े नगरों में स्थित हैं। ये बैंक विदेशी व्यापार के अतिरिक्त देश के आंतरिक कार्यों एवं व्यापार में भी महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। वर्तमान समय में देश में कुल 15 विदेशी विनिमय बैंक कार्य कर रहे हैं, जिनकी कुल 125 शाखाएं हैं। इन बैंकों ने अपने विदेशी शाखाओं से धन मंगाकर विदेशी विनिमय की कठिनाई को दूर करने में सहायता प्रदान की है। ये बैंक अपने विनियोग का 15% भाग देशी एवं विदेशी बिलों में विनियोजित करते हैं। यह बैंक निर्यात व्यापार का 70% तथा आयात व्यापार का 90% विदेशी व्यापारिक बैंकिंग कार्य संभालते हैं। वर्तमान समय में भारत में 13 विदेशी विनिमय बैंक हैं जिनमें से 4 ब्रिटिश, 3 अमेरिका, 2 जापानी, 1 नीदरलैंड, 1 हांगकांग तथा फ्रांस के हैं। 2 पाकिस्तानी बैंक 26 फरवरी, 1966 में कस्टोडियन ऑफ एनीमी प्रापर्टी द्वारा ले लिए गए। नेशनल ऐंड ग्रिण्डले बैंक, फर्स्ट नेशनल सिटी बैंक तथा चार्टर्ड बैंक सबसे बड़े बैंक हैं। इनके कुल निक्षेप समस्त निक्षेप के ⅞ हैं तथा समस्त बैंकों के निक्षेपों का 7.3% है।

विदेशी बैंकों की प्रगति एवं वर्तमान स्थिति को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

विदेशी विनिमय बैंकों की स्थिति

(करोड़ रु० में)

वर्ष	बैंकों की संख्या	शाखाएं	निक्षेप	ऋण शेष कुल
1951-52	16	65	162	158
1955-56	17	67	185	189
1960-61	15	70	218	234
1965-66	15	95	349	282
1968-69	15	125	478	408
1972	13	131	686	492

विनिमय बैंकों की मुख्य विशेषता यह रही है कि भारत में कुल विनियोग राशि निक्षेपों से अधिक रही है। 1972 में इन बैंकों में 686 करोड़ रु० की जमाएं थीं, जबकि इनके 492 करोड़ रु० ऋणों में, 205 करोड़ रु० सरकारी प्रतिभूतियों में एवं 24 करोड़ रु० याचना राशि में विनियोजित थे तथा 42 करोड़ रु० नकद थे। इस प्रकार कुल विनियोजन 763 करोड़ रु० था। विदेशी विनिमय बैंक भारतीय व्यापार में 25-30 करोड़ रु० तथा विदेशी व्यापार में 50-60 करोड़ रुपए मासिक तो विनियोग करते हैं। यह कुल निक्षेपों का 15% विदेशी व देशी बिलों में विनियोजित करते हैं, जबकि भारतीय अनुसूचित बैंक बिलों में 11% ही विनियोजन करते हैं।

महत्वपूर्ण अवस्था—वर्तमान समय में भारत में विदेशी विनिमय बैंकों की अत्यंत महत्वपूर्ण अवस्था है जिसके मुख्य कारणों को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(i) **व्यापार विदेशियों के हाथों में**—भारत का अधिकांश विदेशी व्यापार विदेशियों के हाथों में रहने के कारण समस्त कार्य इन्हीं बैंकों द्वारा किया जाता है।

(ii) **साधनों की प्रचुरता**—विदेशी विनिमय बैंकों के पास वित्तीय साधनों की प्रचुरता पाई जाती है जिसका उपयोग विदेशी व्यापार में करने से वे अधिक शक्तिशाली बन गए हैं।

(iii) **कुशल कर्मचारियों प्रबंध**—विदेशी विनिमय बैंकों का संचालन एवं प्रबंध कुशल कर्मचारियों द्वारा किया जाता है, जिससे देश में उन्होंने शक्तिशाली स्थान बना लिया है।

(iv) **दीर्घकालीन कार्य**—भारत में ये बैंक दीर्घकाल से कार्य करते आ रहे हैं जिससे इन्होंने जनता में विश्वास उत्पन्न कर लिया है तथा इनकी ख्याति बढ़ गई है।

(v) **सरकार की उदार नीति**—भारत सरकार की उदार नीति के कारण विनिमय बैंकों ने पहले से काफी विकास किया है तथा देश की अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है।

विदेशी विनिमय बिलों की सफलता के कारण

विदेशी विनिमय बिलों की सफलता के मुख्य कारण निम्न हैं—

(1) **नियन्त्रण का अभाव**—स्वतंत्रता से पूर्व इन बैंकों पर किसी भी प्रकार का कोई नियंत्रण नहीं था और इन्हें अतिरिक्त सुविधाएं प्राप्त होती थीं जो भारतीय बैंकों को प्राप्त नहीं थीं।

(2) **व्यापार पर आधिपत्य**—भारत के विदेशी व्यापार पर विदेशियों का आधिपत्य होने से वे विदेशी बैंकों को ही अपना कार्य अधिक देते थे, जिससे वे उन्नति करते गए।

(3) **विशाल साधन**—विदेशी विनिमय बैंकों के वित्तीय साधन भारतीय बैंकों की तुलना में बहुत अधिक थे। अतः ये बैंक विदेशी विनिमय के कार्यों को सरलता से कर पाते थे।

(4) **दीर्घकाल से कार्य करना**—यह बैंक भारत में दीर्घकाल से कार्य करते आ रहे थे, जिससे भारत में इनकी जड़ें मजबूत हो गईं।

(5) **कुशल प्रबंध**—विदेशी विनिमय बैंक भारतीय बैंकों की तुलना में अधिक कुशल रहे जिससे जनता का विश्वास इन बैंकों में अधिक जम गया।

विशेषताएं

भारत में कार्य कर रहे विदेशी बैंकों की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं—

(i) **विदेशी पूंजी का आयात**—इन बैंकों ने अपने विदेश स्थित कार्यालयों एवं शाखाओं से पर्याप्त मात्रा में विदेशी पूंजी का आयात करके विदेशी विनिमय की समस्या के समाधान में सहायता प्रदान की है।

(ii) **बन्दरगाह केंद्र**—विनिमय बैंकों के अधिकांश कार्यालय बंदरगाह केंद्रों में स्थित होने के कारण विदेशी व्यापार के वित्त की मांग की पूर्ति सरलता से पूर्ण करने में सहायक सिद्ध होते थे।

(iii) **ब्रिटिश बैंकों का प्रभुत्व**—भारत में स्थित समस्त विदेशी बैंकों में से ब्रिटिश बैंकों की संख्या अधिक

होने से उनका प्रभुत्व अब भी पाया जाता है।

विनिमय बैंकों के दोष
(Defects of Foreign Exchange Banks)

भारत के हित को ध्यान में रखते हुए विदेशी विनिमय बैंकों के प्रमुख दोषों को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(i) भारत विरोधी नीति—इन बैंकों ने प्रारंभ से ही भारत विरोधी नीति का पालन करके भारतीय व्यापारियों को विदेशी व्यापार के लिए हतोत्साहित किया। उदाहरणार्थ भारतीय आयातकर्ता का साखपत्र का 10-15% भाग नकद जमा करने पर ही खोलने की अनुमति दी जाती थी। इसी प्रकार बिलों के संबंध में वे सुविधाएं प्राप्त नहीं हो पाती थीं जो कि यूरोपियन व्यापारियों को दी जाती थीं। कभी-कभी असंतोषजनक आर्थिक स्थिति वाले यूरोपियन व्यापारी की आर्थिक स्थिति संतोषजनक बताकर भारतीय व्यापारियों को धोखा दिया जाता रहा। आयातों से यह अनुरोध किया जाता था कि वे अपने समस्त व्यापारिक लेन-देन विदेशी संस्थाओं द्वारा ही करें। इस प्रकार अनेक वर्षों से भारत विरोधी नीति अपनाकर भारतीय बैंकों को हतोत्साहित किया तथा विदेशी विनिमय बैंकों को प्रगति के अवसर प्राप्त हुए।

(ii) पूंजी का विदेशी हित में उपयोग—भारत के विदेशी व्यापार का अर्थप्रबंधन भारतीय पूंजी से होने के कारण भारतीय पूंजी का उपयोग विदेशी व्यापारियों के हित में किया जाता है, जिससे उस पूंजी से प्राप्त होनेवाला लाभ विदेशियों को चला जाता है जिससे विदेशी भुगतान संतुलन पर विपरीत प्रभाव पड़कर देश की अर्थव्यवस्था दुष्प्रभावित हो जाती है।

(iii) भारतीय बैंकों से प्रतिस्पर्धा—विदेशी विनिमय बैंकों ने प्राय: भारतीय बैंकों से प्रतिस्पर्धा करके भारतीय बैंकों के विकास को हतोत्साहित किया है। ये बैंक अपनी अच्छी साख के कारण कम ब्याज दर पर जनता से धन आकर्षित करते हैं। इसके अतिरिक्त देश के आंतरिक व्यापार में भी इनका महत्त्व बढ़ता जा रहा है। परिणामस्वरूप अनेक भारतीय बैंक असफल हो गए तथा उन्होंने विकास नहीं किया।

(iv) विदेशी कर्मचारी—विदेशी विनिमय बैंकों में प्राय: विदेशी कर्मचारी ही रखे जाते हैं, जिससे भारतीय कर्मचारियों को काम सीखने के अवसर प्राप्त नहीं हो पाते तथा उन्हें विकास करने के अवसर प्राप्त नहीं हो पाते।

(v) अनुचित भेदभाव—विदेशी विनिमय बैंक अनुबंधों को पूर्ण करने में देरी होने से अनुचित हर्जाना वसूल करते हैं तथा भेदभाव की नीति अपनाते हैं। इससे भारतीयों के विदेशी व्यापार पर अनुचित प्रभाव पड़ता है।

(vi) रिजर्व बैंक के प्रभाव का अभाव—विदेशी विनिमय बैंकों का संबंध प्राय: लंदन मुद्रा बाजार से बना रहता है जिससे रिजर्व बैंक द्वारा इनके कार्यों पर न्यूनतम प्रतिबंध लगाया जाता है। परिणामस्वरूप मुद्रा बाजार का उचित संगठन संभव नहीं हो पाता।

(vii) विदेशों द्वारा नीति निर्धारण—प्राय: विनिमय बैंकों के प्रधान कार्यालय विदेशों में स्थित हैं जिससे इन बैंकों की नीतियों का निर्धारण विदेशी हितों को ध्यान में रखते हुए किया जाता है जो प्राय: भारतीयों के हितों में नहीं होती। इससे विदेशी व्यापार भी उन्नत नहीं हो पाता तथा भारतीयों को लाभ से वंचित होना पड़ता है।

(viii) अनुचित दंड से दंडित—यह बैंक भारतीय व्यापारियों को सामान्य त्रुटियों के लिए अनुचित दंड से दंडित करते रहे और विदेशियों को छोड़ दिया करते थे।

(ix) विदेशी कंपनियों को प्रोत्साहन—यह बैंक भारतीय व्यापारियों पर अनुचित प्रभाव डालकर विदेशी व्यापार का बीमा एवं जहाजी कंपनियों को लाभ दिलाते रहे, जिससे भारतीय कंपनियों को हानि का सामना करना पड़ा।

(x) भारतीय हितों की उपेक्षा—यह बैंक भारतीय आयातकर्ताओं के हितों की उपेक्षा करते रहे, जिससे उन्हें भारी हानि उठानी पड़ी।

(xi) गलत सूचनाएं देना—ये बैंक भारतीय व्यापारियों एवं कम्पनियों की आर्थिक स्थिति के बारे में सदैव गलत सूचनाएं देकर प्रतिष्ठा पर आघात करते रहे।

(xii) कार्यों की गोपनीयता—यह बैंक अपने कार्यों एवं नीतियों को गोपनीय रखते थे, जिससे भारतीय व्यापारी अंधकार में रहते थे। यह न तो अंकेक्षण कराते थे और न ही आर्थिक स्थिति विवरण प्रकाशित कराते थे।

(xiii) शोधन बिल के लिए बाध्य करना—ये बैंक भारतीय व्यापारियों को स्वीकृत बिल के आधार पर माल निर्यात करने की सलाह देते रहे, और दूसरी ओर भारतीय आयातकर्त्ता को विदेशों के माल का आयात शोधन बिलों के आधार पर करने के लिए प्रेरित करते रहे हैं, जिससे यह नीति भारतीय व्यापारियों के लिए उपयोगी नहीं रही।

विनिमय बैंकों पर नियंत्रण
(Regulation of Exchange Banks)

1949 में भारतीय बैंकिंग अधिनियम ने विदेशी विनिमय बैंकों पर अनेक प्रतिबंध लगाए, उन प्रतिबंधों को ध्यान में रखते हुए विनिमय बैंकों के दोषों को दूर करने के निम्न उपाय बताए जा सकते हैं—

(1) अनुज्ञा-पत्र लेना—भारत में स्थित समस्त विदेशी विनिमय बैंकों को अनुज्ञा-पत्र लेना अनिवार्य कर देना चाहिए तथा नियमों का पालन न करने पर उनके अनुज्ञा-पत्रों को रद्द कर देना चाहिए। लाइसेंस देते समय इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि वे भारतीय हितों के विरुद्ध में न हों।

(2) भारतीय मुद्रा में चिट्ठा बनाना—प्रत्येक विदेशी विनिमय बैंक को अपना वार्षिक चिट्ठा तैयार करके उसे भारतीय मुद्रा में प्रदर्शित करके प्रकाशित करना चाहिए। इस चिट्ठे की एक प्रतिलिपि अंकेक्षक की रिपोर्ट सहित रिजर्व बैंक को भेज देनी चाहिए।

(3) रिजर्व बैंक द्वारा प्रतिबंध—विदेशों में स्थित समस्त विदेशी विनिमय बैंकों को अपनी चुकता पूंजी एवं कोष की मात्रा 15 लाख रुपये करनी होगी और यदि इनके व्यवसाय कलकत्ता एवं बम्बई में है तो यह मात्रा 20 लाख रुपये होनी चाहिए तथा यह समस्त राशि रिजर्व बैंक के पास नकद या प्रतिभूति के रूप में जमा करनी चाहिए।

(4) रिजर्व बैंक के पास जमा धन—विदेशी विनिमय बैंकों को भारत में स्थित शाखा की जमा राशि का कम से कम 75% भाग भारत में रखना चाहिए तथा अपनी कुल माग दायित्व एवं काल दायित्व का 3% भाग अन्य व्यापारिक बैंकों की भांति नकद में रिजर्व बैंक के पास जमा करना होगा।

(5) कोष निर्यात पर प्रतिबंध—विदेशी विनिमय बैंक अपने कोषों का अधिकांश भाग विदेशों को निर्यात कर देते थे जिससे अधिकांश पूंजी भारत से बाहर चली जाती थी। अतः भारत में व्यवसाय करने वाले समस्त विदेशी विनिमय बैंकों को अपने दायित्व का कम से कम 75% भाग भारत में ही रखना चाहिए।

(6) निरीक्षण व्यवस्था—रिजर्व बैंक को यह अधिकार प्राप्त है कि वह भारत में स्थित किसी भी विदेशी विनिमय बैंक का निरीक्षण इच्छानुसार कर सकता है तथा उसके आधार पर उचित आदेश भी दे सकता है। इस प्रकार रिजर्व बैंक विदेशी विनिमय बैंकों की अनुचित कार्यवाहियों पर प्रतिबंध लगा सकता है।

(7) भारतीयकरण—इन बैंकों में अधिक मात्रा में भारतीयों की नियुक्ति की जानी चाहिए तथा उनके प्रशिक्षण का उचित प्रबंध करना चाहिए। 1947 के पश्चात् इन बैंकों में भारतीयों को ही अधिकांशतया नियुक्त किया गया है जिससे देश के हित में कार्य किया जा सके।

(8) भारतीय सदस्यों का सलाहकार मंडल—1 फरवरी, 1969 से भारतीय बैंकों पर सामाजिक नियंत्रण होने से विदेशी विनिमय बैंकों के सलाहकार मंडल में भारतीयों को नियुक्त करना आवश्यक हो गया है, इससे देश के विकास में नीतियों का निर्माण हो गया तथा कृषि, लघु उद्योग एवं निर्यात कार्य के लिए पर्याप्त मात्रा में ऋण व आर्थिक सहायता उपलब्ध हो सकेगी।

(9) पूंजी व कोष रिजर्व बैंक के पास रखना—बैंकिंग विधान की धारा 11 (2) के अनुसार भारत में शाखा खोलने वाले प्रत्येक विदेशी बैंक को कम से कम 15 लाख रुपये रिजर्व बैंक में रखना अनिवार्य कर दिया गया, और इनकी शाखाएं कलकत्ता व बम्बई में भी होने पर उन्हें 20 लाख रुपए जमा कराने होते हैं। इसके अतिरिक्त

वार्षिक शुद्ध लाभ का 20% रिजर्व बैंक के पास और जमा कराना पड़ता है।

(10) भारतीय सलाहकार मंडल—1 फरवरी, 1969 से भारतीय बैंकों पर सामाजिक नियंत्रण होने एवं 19 जुलाई, 1969 को व्यापारिक बैंको का राष्ट्रीयकरण होने से विदेशी बैंको के लिए यह अनिवार्य कर दिया गया कि वे अपने भारतीय व्यवसाय के लिए सलाह देने के लिए पूर्णतः भारतीय सदस्यों का सलाहकार मंडल नियुक्त करें जिससे भारत के प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रो को अधिक राशि प्राप्त होने मे सुविधा बनी रहे।

भारत में विनिमय बैंकों की उपयोगिता
(Importance of Foreign Exchange Banks in India)

भारत में विदेशी विनिमय बैंको की उपयोगिता निम्न दृष्टि से है—

(i) अच्छे संबंध—विदेशी विनिमय बैंक के कारण व्यापारियो एवं भारतीय बैंको के मध्य अच्छे संबंध स्थापित हो जाते हैं जिसमे विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है तथा देश में अच्छी व स्वस्थ व्यापारिक परपराएं स्थापित हो जाती हैं। इससे भारत एवं अन्य देशों के मध्य व्यक्तिगत संबंध स्थापित हो जाते हैं।

(ii) ग्राहकों को उच्चस्तरीय सेवा—विदेशी विनिमय बैंक ग्राहको को उच्चस्तरीय सेवाएं प्रदान करते हैं। इससे ग्राहको को सबसे अधिक संतुष्टि प्राप्त होती है।

(iii) कुशल कर्मचारी—विदेशी विनिमय बैंको में कुशल कर्मचारियो की नियुक्ति की जाती है, जो बैंकिंग सेवाओ के स्तर में उन्नति करने के प्रयास करते हैं।

(iv) यथेष्ट राशि की व्यवस्था—ये बैंक आवश्यक मात्रा में पूजी एवं राशि की व्यवस्था कर लेते हैं तथा आवश्यकता पड़ने पर विदेशो में स्थित शाखाओ से भी विदेशी पूजी का आयात करते हैं।

भारतीय विनिमय बैंकों का अभाव

भारत में भारतीय विनिमय बैंकों का सदैव से ही अभाव रहा है, जिसके प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं—

(i) सीमित कोष—भारतीय विनिमय बैंकों के पास सीमित मात्रा मे कोष होने से तथा उनका धन विदेशी विनिमय के कार्यों में ही फंसा रहने से उनके लिए विदेशी विनिमय कार्य बहुत ही असुविधाजनक हो गया है।

(ii) राजनैतिक कठिनाइयां—विदेशो मे शाखाएं स्थापित करने मे एव उन्हें सफलतापूर्वक सचालन करने मे अनेक राजनीतिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, जिससे भारतीय विनिमय बैंको की स्थापना संभव न हो सकी।

(iii) लाभ का अभाव—प्राय: आंतरिक व्यापार के अर्थ प्रबंधन मे ही बैंको को काफी लाभ प्राप्त होते हैं, जिससे वे विदेशी व्यापार मे कोई विशेष रुचि नही दिखाते।

(iv) कुशल कर्मचारियों का अभाव—विदेशी विनिमय बैंकों की सफलता के लिए कुशल कर्मचारियो का होना आवश्यक है परतु भारत में सदैव से ही कुशल कर्मचारियो का अभाव बना रहता है जिससे भारतीय विनिमय बैंको की स्थापना अधिक मात्रा में सभव न हो सकी।

इस प्रकार यह आवश्यक है कि एक ओर तो विदेशी विनिमय बैंको के कार्यों पर उचित नियंत्रण लगाया जाए तथा दूसरी ओर भारतीय विनिमय बैंको को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए तथा उन्हें हर प्रकार की आर्थिक सहायता दी जानी चाहिए। भविष्य में विदेशी व्यापार का अर्थ प्रबंधन केवल भारतीय बैंकों को ही सौंपा जाना चाहिए। 1949 के बैंकिंग विधान के द्वारा विदेशी बैंको पर पर्याप्त नियत्रण लग चुके हैं। आशा है भविष्य मे विदेशी विनिमय बैंक भारतीय बैंकिंग प्रणाली के पृथक् अस्तित्व के रूप मे न रहकर देश की बैंकिंग प्रणाली को सुदृढ़ बनाने मे सहयोग देंगे।

· षष्ठम भाग

भारत में वित्तीय व्यवस्था

FINANCIAL ARRANGEMENT IN INDIA

41

भारत में कृषि-वित्त
(Agricultural Finance in India)

प्रारंभिक

भारत एक कृषिप्रधान राष्ट्र है जिसकी अर्थव्यवस्था मे मुख्यतया कृषि का ही महत्त्वपूर्ण भाग रहा है। आज भी भारतीय राष्ट्रीय आय का 50% से भी अधिक भाग कृषि एवं कृषि से संबंधित उद्योगों से प्राप्त होता है। भारतीय कृषि प्राय: मानसून पर निर्भर रहती है। यदि मानसून समय पर आ गया तो कृषक की स्थिति ठीक रहती है। इसके विपरीत मानसून के असफल होने पर उसे ऋण लेकर ही अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करनी होती है। भारत मे सिचाई के साधनो के पर्याप्त मात्रा मे विकास होने पर भी समय-समय पर सूखा पड़ने तथा बाढ़ आने की घटनाएं घटित होती रहती हैं, जिनका भारतीय कृषि पर व्यापक एवं विपरीत प्रभाव पड़ता है।

भारत में बंक साख से 61.7% औद्योगिक क्षेत्र को प्राप्त होता है जबकि कृषि कार्यों के लिए 9.6% ही प्राप्त हो पाता है। कुल कृषि ऋण, प्रति व्यक्ति कृषि साख एव विभिन्न राज्यों मे प्रति हेक्टर साख आदि को पृष्ठ 546 व 547 पर दी गई तालिका के समान रखा जा सकता है—

देश के विकसित एवं अविकसित भागो में कृषि साख भिन्न-भिन्न है। विकसित राज्यों में कुल साख का 61.4% दिया जाता है तथा विकसित जिलो में 72.1% तक ऋण दिया गया है। देश के 27 विकसित जिलो में कुल कृषि साख का ⅓ भाग दिया गया है। कृषि साख के वितरण को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

कृषि साख का वितरण

राज्य	कुल का प्रतिशत			खाद्यान्न मूल्य प्रति हेक्टर	समस्त फसलों का मूल्य प्रति हेक्टर	सकल सिंचित क्षेत्र 1970-71	कृषि साख जून 1973
	खाद्यान्न मूल्य 1969-70	समस्त फसलों का मूल्य	कुल क्षेत्रफल				
(1) औद्योगिक विकसित राज्य	42.2	45.8	41.7	302.65	1075.8	24.0	48.9
(2) अविकसित राज्य	57.8	54.2	58.3	664.27	912.2	22.4	51.6
योग	100.0	100.0	100.0	712.22	980.4	23.0	49.3

(Source : The Financial Express) July 11, 1975

कृषि वित्त व्यवस्था

राज्य	[illegible] पर कुल कृषि योग्य क्षेत्र हेक्टर मे दिसम्बर 1973	दिसम्बर 1972	जून 1973	दिसंबर 1973+	दिसंबर 1972 विकसित जिले	दिसंबर 1972 पिछड़े जिले	जून 1973 विकसित जिले	जून 1973 पिछड़े जिले	कृषि शोध समिति द्वारा पुन धन का खर्च जुलाई 1963 से 1974 तक
विकसित									
गुजरात	48(32)	15(9)	17(10)	18(12)	20(11)	10(8)	23(12)	11(8)	16
हरियाणा	21(14)	7(5)	8(6)	10(7)	9(6)	4(4)	10(7)	5(3)	31
कर्नाटक	60(27)	17(7)	19(9)	22(10)	27(9)	11(7)	31(11)	12(8)	9
केरल	88(39)	9(3)	10(4)	12(5)	10(3)	7(4)	12(4)	8(4)	2
महाराष्ट्र	52(27)	14(8)	16(9)	20(11)	22(12)	3(3)	24(13)	5(4)	6
पंजाब	29(23)	8(7)	10(8)	12(10)	10(8)	5(5)	12(10)	5(4)	25
तमिलनाडु	93(56)	14(8)	16(9)	17(10)	21(7)	10(8)	22(8)	12(10)	10
प० बंगाल	96(16)	13(2)	12(2)	15(3)	28(2)	6(2)	18(3)	9(2)	Neg.
चंडीगढ़	— —	1190(4)	1778(5)	830(3)	1190(4)	— —	1778(5)	— —	— —
देहली	826(673)	13(5)	11(6)	24(19)	13(5)	— —	11(6)	— —	Neg.
योग	60(30)	14(6)	16(7)	18(9)	22(8)	7(5)	34(9)	10(6)	9
पिछड़े									
मध्य प्रदेश	50(37)	10(8)	10(7)	15(12)	13(11)	8(6)	16(10)	7(5)	8
आसाम	134(3)	18(Neg.)	22(Neg)	25(Neg)	23(Neg.)	15(1)	22(Neg)	22(Neg)	1
बिहार	13(10)	1(1)	2(1)	3(2)	1(1)	2(1)	2(1)	2(2)	2

हिमाचल प्रदेश	9(7)	1(Neg.)	2(1)	2(2)	1(Neg.) —	— (Neg.)	1(1)	2(2)	Neg.
जम्मू और काश्मीर	6(2)	Neg.(Neg.)	1(Neg.)	1(Neg.)	— —	— (Neg.)	—(—)	1(Neg.)	2
मध्य प्रदेश	8(7)	2(2)	3(3)	4(3)	3(2)	3(2)	5(3)	3(2)	3
मणिपुर	5(5)	Neg.(Neg.)	1(1)	1(1)	— —	Neg.(Neg.)	— —	1(1)	—
मेघालय	5(5)	1(1)	1(1)	1(1)	— —	1(1)	9(9)	Neg (Neg)	—
नागालैंड	10(Neg.)	Neg.(Neg.)	Neg.(Neg.)	2(–)	— —	Neg.(Neg)	— —	Neg (Neg)	1
उड़ीसा	4(3)	1(1)	1(1)	2(1)	1(1)	1(Neg.)	1(1)	1(1)	Neg.
राजस्थान	10(9)	3(4)	5(5)	6(6)	6(5)	3(3)	7(6)	4(3)	1
त्रिपुरा	20(3)	1(Neg.)	4(Neg.)	5(1)	— —	1(Neg.)	— —	4(Neg.)	—
उत्तर प्रदेश	30(13)	5(3)	6(3)	8(3)	11(4)	3(3)	13(5)	2(2)	4
अण्डमान	— —	— —	— —	— —	— —	— —	— —	— —	—
अरुणाचल प्रदेश	— —	— —	— —	— —	— —	— —	— —	— —	—
दादर	— —	1(Neg.)	2(1)	— —	— —	1(Neg)	— —	2(1)	—
गोवा	111(15)	13(2)	14(2)	18(2)	— —	13(2)	— —	14(2)	Neg.
लक्षद्वीप	— —	1(Neg.)	1(Neg.)	— —	— —	1(Neg.)	— —	1(Neg.)	—
मिजोरम	— —	— —	— —	— —	— —	— —	— —	— —	—
पांडेचरी	337(288)	28(26)	32(28)	36(31)	— —	28(26)	— —	32(28)	2
अन्य	7(2)								
	23(13)	5(3)	6(3)	8(4)	7(4)	3(2)	9(4)	4(2)	3
	38(20)	9(4)	10(5)	15(6)	15(6)	5(3)	17(6)	6(4)	6

(Source : The Financial, Express July 11, 1975)

भारत में ग्राम्य साख के अनुमान

भारत में ग्राम्य साख की आवश्यकता 700 करोड़ रु० वार्षिक है। यह अनुमान 1951 में ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति द्वारा किया गया। 1964-65 के अनुमान के आधार पर यह आवश्यकता 1400 करोड़ रु० वार्षिक थी। ग्राम्य साख समीक्षा समिति 1969 के अनुसार 1973-74 में वार्षिक आवश्यकता 4000 करोड़ रु० थी। यह अनुमान निम्न प्रकार से विभाजित किए जा सकते हैं—

ग्राम्य साख की आवश्यकता

	(करोड़ रु० में)
1. दीर्घकालीन	1,500
2. अल्पकालीन	2,000
3. मध्यकालीन	5,00
योग	4,000

साख समीक्षा समिति का अनुमान था कि दीर्घकालीन साख का प्रयोग सिंचाई, भूमि की सफाई, बिजली व्यवस्था व संरक्षण पर होगा। मध्यकालीन ऋण का नए पशु खरीदने तथा गाड़ी व औजार खरीदने में उपयोग होगा।

इन ऋणों में 1951-52 में साहूकारों का योगदान 68.6 था जो 1961-62 में घटकर 46.6% रह गया।

ग्राम्य साख का स्वभाव

1895 में सर फ्रेडरिक निकल्सन का मत था कि विश्व के आर्थिक इतिहास से स्पष्ट होता है कि कृषकों के लिए ऋण लेना अनिवार्य है। यदि ऋण का दुरुपयोग किया जाए तो ऋणग्रस्तता विपत्ति का द्योतक बन जाती है। अतः ग्राम्य साख सरलता से उपलब्ध होनी चाहिए, उत्पादक एवं बचतों को प्रोत्साहन देना चाहिए तथा साख का दुरुपयोग नहीं होना चाहिए। इस बात का भी ध्यान रखा जाना उचित है कि साख महँगी, कठिन एवं अनुपयोगी न हों।

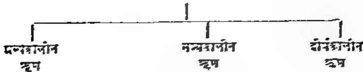
कृषि साख की आवश्यकता
(Need for Agricultural Finance)

कृषक को अनेक कार्यों के लिए ऋण प्राप्त करने होते हैं। यह ऋण उत्पादक एवं अनुत्पादक दोनों ही प्रकार का हो सकता है। कृषि साख की आवश्यकता को निम्न भागों में रखा जा सकता है—

(1) अल्पकालीन ऋण—प्रायः 15 मास तक की अवधि के ऋण को अल्पकालीन ऋण की श्रेणी में रखा जाता है। इस ऋण का उपयोग बीज खरीदने, फसल बोने, खाद डालने एवं अन्य दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जाता है। ऐसे ऋणों की उपलब्धि सरल होनी चाहिए तथा इनका भुगतान भी फसल कटने के पश्चात् ही किया जाना चाहिए।

(2) मध्यकालीन ऋण—यह ऋण प्रायः 15 मास से 5 वर्ष की अवधि के लिए प्राप्त किए जाते हैं। इन ऋणों का उपयोग कृषि में सुधार करने, उपकरण क्रय करने, सिंचाई की समुचित व्यवस्था करने एवं पशु खरीदने में किया जाता है। यह ऋण प्रायः अधिक मात्रा में लिए जाते हैं।

(3) दीर्घकालीन ऋण—यह ऋण प्रायः 5 वर्ष से अधिक अवधि के लिए प्राप्त किए जाते हैं। इन ऋणों का उपयोग भूमि, महँगे उपकरण, कुएँ बनवाने आदि में किया जाता है। इन ऋणों की राशि अधिक होती है तथा इनका भुगतान भी लंबे समय के बाद किया जाता है तथा किस्तों में ही भुगतान किया जाता है। कृषि साख की आवश्यकता को निम्न चार्ट द्वारा दिखाया जा सकता है—



कृषि साख के लक्षण
(Characteristics of Agricultural Finance)

भारत में कृषि साख के प्रमुख लक्षणों को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(i) मानसून पर निर्भरता—भारत में कृषि प्रायः मानसून पर निर्भर रहती है, जो स्वयं अनिश्चित है। परिणामस्वरूप कृषि पदार्थों की पूर्ति प्रायः अनिश्चित बनी रहती है। कृषि में प्रकृति का प्रभाव अधिक होने से अधिक जोखिम रहती है, जिससे कृषि के लिए साख प्राप्त करना कठिन होता है।

(ii) कृषक की रूढ़िवादिता एवं स्वभाव—भारतीय कृषक अशिक्षित एवं रूढ़िवादी होता है, तथा सामाजिक पिछड़ेपन के कारण समय पर उसे पर्याप्त मात्रा व उचित दर पर साख प्राप्त नहीं हो पाती।

(iii) अनुत्पादक व्यय—भारतीय कृषक मृत्युभोज, विवाह आदि अनेक अवसरों पर अनुत्पादक व्यय करता है जिससे वह सदैव ऋणी बना रहता है और उसकी साख बहुत कम हो जाती है।

(iv) छोटी इकाइयाँ—भारत में उत्पादन इकाइयाँ बहुत छोटी एवं अनार्थिक हैं, जिन पर प्रायः एक व्यक्ति का ही अधिकार होता है, जिससे पूँजी प्राप्त करना अत्यंत कठिन होता है तथा समय पर साख भी प्राप्त नहीं हो पाती।

(v) मुद्रा बाजार से संबंध का अभाव—कृषि का प्रायः मुद्रा बाजार से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं रहता, जिससे अभाव की दशा का लाभ कृषक को प्राप्त नहीं होता है। भूमि एवं फसल के उचित मूल्यांकन के अभाव में उन्हें उचित ऋण प्राप्त नहीं हो पाते।

(vi) भुगतान में विलंब—भारतीय कृषक अपने ऋण का समय पर भुगतान नहीं कर पाता, जिससे व्यापारिक बैंक प्रायः अल्पकालीन ऋण देना पसंद करते हैं, वे अपना धन कृषकों को देकर उसमें अनिश्चितता उत्पन्न नहीं करना चाहते।

कृषि साख के प्रमुख स्रोत
(Main Resources of Agricultural Finance)

कृषि साख के प्रमुख स्रोतों को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(i) ग्रामीण साहूकार (Money Lender); (ii) देशी बैंकर (Indigenous Bankers); (iii) तकावी ऋण (Taccavi Loans); (iv) ऋण कार्यालय (Loan Offices); (v) व्यापारिक बैंक (Commercial Banks); (vi) निधियाँ एवं चिट फंड (Nidhis and Chit Funds); (vii) सहकारी बैंक (Cooperative Banks); और (viii) सरकार (Government)।

(i) ग्रामीण साहूकार
(Money Lender)

ग्रामीण साहूकार प्रायः वह व्यक्ति होता है जो अपने ग्राहकों को समय-समय पर ऋण प्रदान करता रहता है। इनके साधन अत्यंत सीमित होते हैं तथा ये प्रायः बिना जमानत के ही ऋण प्रदान करते हैं। ये उत्पादक कार्यों के लिए भी ऋण दे देते हैं तथा उनका समय पर भुगतान प्राप्त नहीं हो पाता।

वर्गीकरण

ग्रामीण साहूकारों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(अ) पेशेवर साहूकार—ये केवल लेन-देन का ही व्यवसाय करते हैं और उसी पर पूर्ण रूप से निर्भर रहते हैं। (ब) गैर-पेशेवर साहूकार—इन व्यक्तियों का मुख्य कार्य लेन-देन का नहीं होता, बल्कि ये समाज में अन्य कार्य करते हैं तथा साथ ही साथ ऋण देने का कार्य भी करते हैं।

ऋण प्रदान करने वाले व्यक्तियों में जमींदार, व्यापारी एवं कृषक मुख्य रूप से आते हैं। अन्य वर्गों में वकील, अध्यापक, पठान, विधवाएं, पेंशन पाने वाले व्यक्ति आदि सम्मिलित किए जाते हैं। साहूकारों को भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न नामों से जाना जाता है। साहूकारों का अपना कोई संगठन नहीं होता तथा समस्त क्रियाएं केवल व्यक्तिगत संपर्क एवं व्यवहार के आधार पर ही की जाती हैं तथा समस्त लेन-देन व्यक्तिगत सपर्कों पर ही आधारित रहते हैं। बड़े-बड़े नगरों को छोड़कर जहां साहूकारों ने अपने संघ निर्माण कर लिए हैं जैसे शिकारपुरी महाजन संघ, श्राफ संघ आदि; छोटे स्थानों पर इनके कोई संगठन एवं सामूहिक व्यवस्था नहीं है तथा कोई निश्चित नियम नहीं अपनाए जाते।

ऋण पद्धतियां

• साहूकारों द्वारा प्रदान की जाने वाली प्रमुख ऋण पद्धतियां निम्नलिखित हैं—

(अ) गिरवी रखना—इसमें कीमती सामान को गिरवी रखकर ऋण प्रदान किया जाता है तथा वस्तु के मूल्य का 75% तक ऋण प्रदान कर दिया जाता है। यदि यह ऋण समय पर भुगतान न किया जाए तो गिरवी रखी गई वस्तुएं साहूकार की संपत्ति बन जाती हैं।

(ब) ऋण अधिविक्रय—जब एक साहूकार को थोड़े समय के लिए धन की आवश्यकता होती है तो वह दूसरे साहूकार से ऋण प्राप्त कर लेता है जिसे ऋण अधिविक्रय के नाम से जानते हैं।

(स) धरोहर—जब अचल संपत्ति को रखकर ऋण प्राप्त किया जाए तो उसे धरोहर कहते हैं। इसमें प्रायः भूमि एवं अन्य उपकरणों को रखा जाता है।

(द) किश्त पद्धति—इस विधि में ऋणी को निश्चित राशि दे दी जाती है और वह इस ऋण का भुगतान किश्तों के रूप में करता है जो साप्ताहिक, मासिक या वार्षिक हो सकती है। यदि किश्त का भुगतान समय पर नहीं किया जाता तो कुछ राशि दंड के रूप में भी वसूल की जाती है।

(य) बंधक—जब भूमि, मकान, दुकान आदि को रखकर ऋण प्रदान किए जाएं तो उसे बंधक कहते हैं। इसमें प्रायः संपत्ति का कब्जा ऋणी को नहीं दिया जाता। यदि कब्जा दिया जाता है तो ऋणदाता उस संपत्ति का उपयोग कर सकता है तथा उसे किराए पर उठाकर आय प्राप्त कर सकता है।

(र) बाढ़ी व्यवस्था—जब साहूकार नकद के स्थान पर अनाज या अन्य वस्तुओं में ऋण प्रदान करे तो उसे बाढ़ी व्यवस्था कहते हैं।

साहूकार की उपयोगिता

भारतीय अर्थव्यवस्था में ग्रामीण साहूकार का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। अनुमान लगाया गया है कि कुल ग्रामीण साख का 60-70 प्रतिशत भाग साहूकारों द्वारा पूर्ण किया जाता है तथा आवश्यकता के समय हर प्रकार के कार्य के लिए कृषक को सरलता से ऋण प्राप्त हो जाता है। उत्पादक एवं अनुत्पादक कार्यों के लिए भी ऋण सरलता से प्राप्त होने से साहूकारों की उपयोगिता में वृद्धि हो रही है।

साहूकारों के दोष
(Defects of Money Lenders)

साहूकारों के कार्यों की कटु आलोचनाएं की जाती हैं और उसके प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं—

(1) प्रतिज्ञा-पत्र—साहूकारों द्वारा जो ऋण प्रदान किए जाते हैं उनके बदले अधिक राशि के प्रतिज्ञा-पत्र लिखवा लिए जाते हैं। प्रायः राशि का स्थान रिक्त छोड़ दिया जाता है। और उसे बाद में मर्जी अनुसार अधिक राशि से भर दिया जाता है।

(2) अग्रिम ब्याज—साहूकारों द्वारा ब्याज अग्रिम लिया जाता है तथा उसे मूल राशि देते समय ही काट लिया जाता है।

(3) फसल खरीदने की शर्त—साहूकार ऋण देते समय कृषक से सस्ते भाव पर फसल खरीदने का सौदा कर लेते हैं और प्रायः उसी शर्त पर ऋण प्रदान करते हैं। परिणामस्वरूप कृषक को मजबूर होकर अपनी फसल कम दामों पर साहूकार को बेचकर हानि उठानी पड़ती है।

(4) बेगार—साहूकार ऋणी से अपने घर या व्यापार के फालतू कार्य कराके उनसे बेगार लेते रहते हैं तथा उसके बदले में कुछ भी मूल्य नहीं दिया जाता।

(5) शुल्क वसूल करना—ऋण प्रदान करते समय धर्मादा, गिरह खुलाई, गद्दी, सलामी, प्याऊ आदि के नाम से कुछ राशि ऋण में से ही काट ली जाती है।

(6) हिसाब में गड़बड़—साहूकार हिसाब में गड़बड़ करने में बदनाम हैं जो ऋणी द्वारा चुकाए गए हिसाब को ठीक ढंग से नहीं रखते और न ही उन्हें रसीद देते हैं तथा वापिस किया गया धन ठीक से जमा नहीं करते।

(7) ऊंची ब्याज दर—साहूकारों द्वारा 12 से 75% तक ब्याज दर वसूल की जाती है जो सामान्यतया अधिक होती है और कृषकों पर उसका अधिक भार पड़ता है। अनाज तथा वस्तुओं के ऋणों पर बहुत ऊंचा ब्याज देना पड़ता है, क्योंकि सवाई एवं ड्योढ़ी की प्रचलित व्यवस्था के अनुसार 25 से 50 प्रतिशत तक ब्याज लिया जाता है। साहूकार ऊंची ब्याज लेने में इस कारण सफल हो जाता है कि ऋणी सामाजिक, आर्थिक एवं शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ होता है तथा उसे कहीं और से ऋण प्राप्त होना संभव नहीं हो पाता। इन्हें उधार देने में अधिक जोखिम रहती है तथा ऋण की वसूली के लिए काफी प्रतीक्षा करनी होती है, जिसका मूल्य अधिक ब्याज लेकर वसूल किया जाता है।

सुझाव—साहूकारों के दोषों को दूर करने के उद्देश्य से निम्न सुझाव दिए जा सकते हैं—

(1) पर्याप्त स्टाफ—साहूकारों की कार्य प्रणाली की जांच करने के लिए पर्याप्त मात्रा में स्टाफ की व्यवस्था की जानी चाहिए जो समय-समय पर उनके कार्यों का उचित मूल्यांकन कर सके।

(2) व्यवहारों का नियमन—विधि द्वारा ऋणदाताओं के पारस्परिक व्यवहारों का नियमन किया जाना चाहिए जिससे वे उचित ढंग से खाते रख सकें तथा ब्याज की दर भी उचित ढंग से निर्धारित की जानी चाहिए।

(3) बैंकिंग ढांचा—साहूकारों की स्थिति में सुधार करके उन्हें बैंकिंग ढांचे में समायोजित किया जाना चाहिए जिसे उनके कार्यों से एकरूपता लाई जा सके।

(4) व्यापार का लाइसेंसिंग—साहूकार को लाइसेंस दिए जाने चाहिए तथा उनके कार्यों पर प्रतिबंध लगाये जाने चाहिए, जिससे ब्याज की अधिकतम दर का निर्धारण हो सके, खाते उचित ढंग से रखे जा सकें तथा सभी भुगतानों के लिए रसीदें प्राप्त की जाएं। इस सबंध में प्रत्येक ऋणी का पृथक् से खाता रखा जाना चाहिए जिससे हिसाब में गड़बड़ी न की जा सके।

(5) अनुत्पादक ऋणों पर रोक—साहूकारों द्वारा केवल उत्पादक कार्यों के लिए ही ऋण दिया जाना चाहिए तथा अनुत्पादक कार्यों के लिए ऋणों को हतोत्साहित करना चाहिए।

(6) बिक्री व्यवस्था—कृषकों को अपनी फसल सहकारी समितियों द्वारा ही बेचनी चाहिए जिससे उन्हें

(2) कार्य प्रणाली पर प्रतिबंध—इन बैंकरों की पूंजी एवं कार्य प्रणाली पर रिजर्व बैंक द्वारा सख्त प्रतिबंध लगाने चाहिए तथा आवश्यकता पड़ने पर सुविधाएं भी प्रदान करनी चाहिए।

(3) आधुनिक ढग पर व्यवसाय—देशी बैंकरो को अपना व्यवसाय आधुनिक ढगों पर ही सचालित करना चाहिए, समस्त खातों को व्यवस्थित ढग से रखकर, निरीक्षण व प्रकाशित करना चाहिए तथा जनता का विश्वास बढाना चाहिए।

(4) लाइसेंस प्रणाली—देशी बैंकरों को लाइसेंस देकर उनके कार्यों को व्यवस्थित ढग से करने को प्रोत्साहित करना चाहिए, जिससे उनमे सहयोग प्राप्त हो सके।

(5) अखिल भारतीय बैंकिंग संघ की सदस्यता—स्वदेशी बैंकरों को अन्य बैंको की भांति अखिल भारतीय स्तर पर बैंकिंग संघ की सदस्यता प्रदान करनी चाहिए।

(6) नियमों का निर्माण—सरकार द्वारा प्राय. ऐसे नियमों का निर्माण किया जाना चाहिए जिससे ऋणियों का शोषण से बचाव हो सके तथा वे उचित शर्तों पर ऋण प्राप्त कर सके।

(7) बिल बाजार का विकास—व्यवसाय में बिलों की दलाली को भी सम्मिलित करना चाहिए जिससे देश मे बिल बाजार को विकसित किया जा सके।

(8) धन हस्तांतरण की सुविधा—रिजर्व बैंक को अन्य बैंको की भांति देशी बैंकरो को भी धन के हस्तांतरण की सुविधा प्रदान करनी चाहिए।

(9) हुंडियों की पुनःकटौती—देशी बैंकरों द्वारा निर्गमित की गई हुडियो को व्यापारिक बैंको द्वारा पुन.कटौती की सुविधाए दी जानी चाहिए।

(10) रिजर्व बैंक का एजेंट—देशी बैंकरों को रिजर्व बैंक से सबधित करके उन्हें यथास्थानो पर रिजर्व बैंक का एजेंट नियुक्त किया जाना चाहिए।

देशी बैंकर का भविष्य—साहूकारो का जो स्थान देश की कृषि साख व्यवस्था मे है, देशी बैंकर को वही स्थान भारत के आतरिक व्यापार मे प्राप्त है। आाफ समिति का मत था कि देश के आतरिक व्यापार की वित्त व्यवस्था मे 75 से 90 प्रतिशत अंश देशी बैंकर का है। हुडियो मे मुल्तानी हुंडी बहुत प्रचलित रही। हुंडियो का महत्त्व वर्तमान में कम हो गया है क्योंकि इन्हें रिजर्व बैंक से पुनर्कटौती के लिए मान्यता प्राप्त नही है। इनके स्थान पर बैंक ड्राफ्ट तथा विशेष साख हस्तान्तरण की रीतिया अधिक सस्ती व लोकप्रिय हो गई हैं।

रिजर्व बैंक का नियत्रण

देशी बैंकरों को रिजर्व बैंक द्वारा अनेक बार नियत्रित करने की प्रयास किए गए। सर्वप्रथम मई 1937 मे रिजर्व बैंक ने देशी बैंकरो को निम्न शर्तों को पूर्ण करने पर ऋण देने एवं हुडियो की पुन.कटौती करने की सुविधाए देना निश्चित किया—

(i) अन्य व्यवसाय का त्याग—देशी बैंकर बैंकिंग व्यवसाय के अतिरिक्त अपने अन्य व्यवसाय को त्यागने को तत्पर हों।

(ii) पूंजी व्यवस्था—इसे अपनी पूंजी कम से कम 2 लाख रुपए तथा आगे चलकर 5 लाख रुपए करनी होगी।

(iii) अंतिम खातों की प्रतियां—उसे अपने अन्तिम खातो की प्रतिया रिजर्व बैंक के पास भेजनी होगी।

(iv) हिसाब आधुनिक ढंग से रखना—इन्हें अपने समस्त खाते व हिसाब आधुनिक ढंग से रखने के प्रयास करने चाहिए तथा उन्हें प्रकाशित भी कराना चाहिए।

(v) पृथक् व्यापार—देशी बैंकरो को अन्य व्यापार को बैंकिंग व्यापार से पृथक् कर देना चाहिए।

परन्तु इन शर्तों को देशी बैंकर द्वारा पालन न करने पर यह योजना कार्यान्वित न हो सकी। पुनः 1941 मे इस प्रस्ताव को दोहराया गया, परन्तु इसका पहले जैसा ही परिणाम निकला।

वर्तमान समय मे स्टेट बैंक एवं सहकारी समितियो के विकास के फलस्वरूप देशी बैंकरों के महत्त्व मे कमी

हो गई है जिससे भविष्य उज्ज्वल प्रतीत नहीं होता। यदि देशी बैंकर हुंडियों का प्रमापीकरण, बैंकिंग व्यवसाय को अन्य व्यवसाय से पृथक् करके रिजर्व बैंक की अन्य शर्तों को मान लें तो देश की अर्थव्यवस्था में इनका महत्त्व बढ़ सकता है तथा कृषि एवं व्यापार को वित्तीय सुविधाएं प्रदान की जा सकती हैं।

(iii) तकावी ऋण
(Taccavi Loans)

भूमि सुधार ऋण अधिनियम 1883 (Land Improvement Loans Act 1883) एवं कृषक ऋण अधिनियम 1884 (Agriculturists' Loans Act 1884) के अंतर्गत सरकार द्वारा कृषकों को तकावी ऋण प्रदान किए जाते हैं। ये ऋण प्रारंभ में बाढ़, सूखा आदि संकट से बचने हेतु प्रदान किए गए थे, परंतु कालांतर में यह सरकार का एक नियमित अंग बन गया। तकावी ऋण का उपयोग कृषकों द्वारा बैल, बीज क्रय करने एवं उपभोग्य आवश्यकताओं की पूर्ति में भी किया जाने लगा है। प्रायः इस प्रकार के ऋणों के वितरण का कार्य पंचायत को सौंप दिया गया है जो विकास अधिकारी या तहसीलदार द्वारा प्रदान किए जाते हैं। इन ऋणों का उद्देश्य कृषि संबंधी आवश्यकताओं को पूर्ण करना होता है। ये ऋण प्रायः फसल के बाद ही चुकाए जाते हैं। तकावी का इतिहास अपर्याप्तताओं का इतिहास रहा है क्योंकि मात्रा व वितरण की दृष्टि से अपर्याप्त होने के अतिरिक्त उनका नियंत्रण व निरीक्षण भी असंतोषजनक रहा है। ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति के अनुसार कृषि ऋण में सरकार का भाग केवल 3% था।

लाभ—तकावी ऋण का लाभ यह है कि ये ऋण दीर्घकालीन अवधि के लिए प्राप्त किए जाते हैं तथा इन पर ब्याज दर भी बहुत कम ली जाती है। इनसे कृषि संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सकती है तथा फसल प्राप्त होने के उपरांत ही इन्हें चुकाया जाता है।

कमियां—तकावी ऋणों की प्रमुख कमियों को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(1) बड़े-बड़े कृषकों को मिलना—तकावी ऋण प्रायः बड़े बड़े कृषकों अथवा जमींदारों को ही प्राप्त हो पाता है तथा छोटे कृषक वंचित रह जाते हैं; जिन्हें आवश्यकता पड़ने पर ऋण के लिए साहूकार से ही ऋण प्राप्त करना पड़ता है।

(2) देरी से मिलना—तकावी की राशि का निर्धारण बहुत देरी से किया जाता है तथा आवश्यकता के समय ऋण प्राप्त नहीं हो पाता। यदि तकावी ऋण स्वीकृत हो जाए तो उनके वितरण में काफी समय लगा दिया जाता है।

(3) राजस्व विभाग में घूसखोरी—ऋण को स्वीकृत कराने एवं प्राप्त करने में कृषक को राजस्व अधिकारी को ऋण का एक भाग घूस के रूप में देना पड़ता है।

(4) भ्रष्टाचार—यदि ऋण पंचायत द्वारा वितरित किया जाए तो सरपंच भी बिना घूस लिए ऋण स्वीकार नहीं करता। इससे समस्त स्थानों पर भ्रष्टाचार फैला हुआ है।

(5) धनराशि व्यय करना—कृषक को ऋण प्राप्त करने में गवाहों आदि के रूप में भारी धनराशि व्यय करनी होती है जिसमें उसे बहुत कठिनाई होती है।

(6) अपर्याप्त व्यवस्था—तकावी ऋणों का स्वीकृत होना एवं उसका वितरण होना भी सदैव ही अपर्याप्त एवं असंतोषजनक रहा है। सरकार द्वारा कृषि मांग का 3-4% भाग ही पूर्ण किया जाता है तथा शेष के लिए उसे साहूकारों आदि पर ही निर्भर रहना पड़ता है।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट होता है कि न केवल सरकारी ऋणों की अपर्याप्तता पायी जाती है बल्कि उनकी स्वीकृति से लेकर वितरण तक अनियमितताएं भी दृष्टिगोचर होती हैं।

सुझाव—तकावी ऋण के दोषों को दूर करने के लिए निम्न सुझाव दिए जा सकते हैं—

(1) सरकारी बैंक की शाखा—प्रत्येक तहसील में सरकारी बैंक की शाखा खोली जानी चाहिए जो भूमि की जमानत पर दीर्घकालीन ऋणों की व्यवस्था कर सके।

(2) सरकार द्वारा सहायता—अविकसित राष्ट्रों में सरकार द्वारा कृषि साख की उचित व्यवस्था करनी

चाहिए तथा प्रत्यक्ष रूप से ऋण प्रदान करने चाहिए।

(3) मितव्ययी प्रबंध—तकावी ऋणों की प्रबंध व्यवस्था में मितव्ययता लाने के प्रयास किए जाने चाहिए।

(4) उदार शर्तें—तकावी ऋणों को उदार शर्तों पर प्रदान करने की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(5) विलंब न करना—ऋण स्वीकृत करने एवं प्राप्त होने तक कोई विलंब नहीं होना चाहिए तथा कृषक को उसकी आवश्यकता के अनुरूप तुरंत ऋण प्राप्त होना चाहिए।

(6) छोटे कृषकों का ध्यान—ऋण प्रदान करते समय बड़े कृषकों के स्थान पर छोटे कृषकों की आवश्यकताओं को ही ध्यान में रखना चाहिए तथा जहां तक संभव हो इन्हें शीघ्रता से ऋण प्राप्त होना चाहिए।

(7) भ्रष्टाचार पर रोक—ऋण स्वीकृत करने एवं भुगतान करने में भ्रष्टाचार को समाप्त करके के प्रयास करने चाहिए।

(iv) ऋण कार्यालय
(Loan Offices)

बंगाल में मुख्यतया ऐसे ऋण कार्यालयों की स्थापना की गई है जो जमा स्वीकार करके वास्तविक भूमि के स्वामी को भूमि की जमानत पर एवं अन्य मूल्यवान वस्तुओं की जमानत पर ऋण प्रदान करते हैं इनकी सहायता से आवश्यक व्यक्तियों को ऋण प्राप्त हो जाता है।

(v) व्यापारिक बैंक
(Commercial Banks)

भारत में व्यापारिक बैंक प्रायः व्यापार एवं वाणिज्य के कार्यों को ही ऋण प्रदान करते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में इनकी शाखाएं कम होने से इन बैंकों द्वारा कृषि साख को पूर्ण नहीं किया जाता है। कृषि विकास में व्यापारिक बैंकों का योगदान प्रत्यक्ष रूप से नगण्य के बराबर है। परंतु प्रत्यक्ष रूप से ये बैंक साहूकारों को ऋण प्रदान करते हैं जो कि कृषकों को ऋण प्रदान करते हैं तथा फसल के समय कृषि पदार्थों की धरोहर पर कृषकों को ऋण प्रदान किए जाते हैं। इस प्रकार से अप्रत्यक्ष रूप से ऋण प्रदान करना काफी महंगा सिद्ध होता है। कृषक की उपज को बैंक अपने गोदामों में रखते हैं जिसका बीमा कराना आवश्यक होता है तथा बैंक अधिकारी समय-समय पर उसका निरीक्षण करते रहते हैं। इन समस्त प्रतिबंधों से घबराकर कृषक व्यापारिक बैंकों से ऋण लेने के स्थान पर देशी बैंकरों से लेना अधिक सरल एवं सुविधाजनक मानता है।

राष्ट्रीयकृत बैंक कृषि क्षेत्र को ऋण प्रदान करने लगी है और इन्होंने दिसम्बर 1974 तक कृषि उत्पादन के लिए 781 करोड़ रु० का ऋण प्रदान किया है। जून 1974 तक राष्ट्रीयकृत व्यापारिक बैंकों की देश-भर में कुल 17,000 शाखाएं थीं जिनमें से 6,000 शाखाएं ग्रामीण क्षेत्रों में हैं। सहकारी संस्थाओं एवं राष्ट्रीयकृत बैंकों के मध्य यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उत्पादन कार्य के लिए कुल कृषि आवश्यकता का 40% तक इनसे पूरा किया जाता है। इससे स्पष्ट है कि कुल कृषि मांग का भारी भाग अभी भी पूर्ण होना शेष है। अतः कृषि वित्त में 60% का अंतर है जिसे पूर्ण करना आवश्यक है परन्तु ऋण की सुविधाएं न तो सीमांत कृषक और न ही कृषि श्रमिक को ही प्राप्त हो पाती हैं। अतः बहुत अविकसित क्षेत्रों में नवीन साख संस्थाओं की आवश्यकता है। इस कार्य के लिए दो नवीन संस्थानों की स्थापना की गयी है। यह संस्थान हैं—

लघु कृषक विकास एजेंसी (Small Farmer's Development Agencies) एवं सीमांत कृषक एवं कृषक श्रमिक विकास एजेंसी (Marginal Farmers and Agricultural Labourer's Development Agencies) हैं। यह दोनों संस्थाएं देश के क्रमशः 46 चुने क्षेत्रों एवं 41 योजना क्षेत्रों में कार्यरत हैं। कबीले क्षेत्रों (Tribal areas) की मांग को पूर्ण करने हेतु कबीले विकास निगमों (Tribal Development Corporations) की स्थापना की गयी है जो

कि अपने क्षेत्रों में साख एवं विपणन सुविधाएं प्रदान करेंगे। आशा है सहकारी आंदोलन एवं राष्ट्रीयकृत बैंक अपना कार्य क्षेत्र ग्रामीण क्षेत्रों में भी बढ़ा लेंगे। 1968 में व्यापारिक बैंकों द्वारा कृषि साख के रूप में 20 करोड़ रु० दिए थे जिसकी मात्रा 1974 में बढ़कर 781 करोड़ रु० हो गई। इसका विवरण निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

अनुसूचित व्यापारिक बैंकों के ऋण

(करोड़ रु० में)

वर्ष	राशि
1968	20
1969	188
1972	440
1974	781

दोष—व्यापारिक बैंकों के दोषों को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(1) सीमित ऋण—कृषकों को प्रायः दीर्घकालीन ऋणों की आवश्यकता होती है, परंतु ये बैंक केवल अल्पकालीन ऋण ही प्रदान करते हैं तथा निश्चित अवधि के लिए ही ऋण प्रदान करते हैं तथा कृषकों की आवश्यकताओं को ध्यान नहीं दिया जाता।

(2) जानकारी का अभाव—शहरों में स्थित व्यापारिक बैंकों को प्रायः ग्रामीण परिस्थितियों की जानकारी नहीं होती है जिससे वे फसलों का उचित ढंग से मूल्यांकन करने में असमर्थ होते हैं।

(3) संपर्क [redacted] प्रभाव—व्यापारिक बैंकों के लिए प्रायः यह संभव नहीं होता कि वे गांवों में कृषकों से संपर्क स्थापित कर सकें।

सुझाव—व्यापारिक बैंकों की कार्यप्रणाली को सुधारने के लिए निम्न सुझाव दिए जा सकते हैं—

(1) विपणन क्षेत्र में सहायता—व्यापारिक बैंकों को विपणन के क्षेत्रों में अपने कार्यों को बढ़ाने के प्रयास करने चाहिए तथा इस क्षेत्र को दी जाने वाली साख की मात्रा में वृद्धि करने के प्रयास करने चाहिए।

(2) ग्रामीण क्षेत्र में शाखाएं—व्यापारिक बैंकों को अपनी नवीन शाखाएं ग्रामीण क्षेत्र में स्थापित की जानी चाहिए तथा इसके विकास के लिए देश में अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण करना होगा।

(3) फसलों पर ऋण—व्यापारिक बैंकों को कृषकों की फसलों पर ऋण देने में प्राथमिकता देनी चाहिए तथा ये ऋण लंबे काल के लिए दिए जाने चाहिए जिससे कृषकों की मांग को सरलता से पूर्ण किया जा सके।

बैंकों पर सामाजिक नियंत्रण लागू होने एवं 14 बड़े बैंकों के राष्ट्रीयकरण होने से व्यापारिक बैंकों ने कृषि क्षेत्र को ऋण देने में प्राथमिकता के नियम को स्वीकार कर लिया है। इस संबंध में बैंकों द्वारा रासायनिक खाद एवं जंतुनाशक दवाओं के लिए ऋण प्रदान किए जाते हैं। भविष्य में आशा है कि बैंकों द्वारा अधिक मात्रा में कृषि साख के लिए ऋण प्रदान किए जा सकेंगे।

(vi) निधियां एवं चिट फंड
(Nidhis and Chit Funds)

मद्रास में प्रायः निधियों एवं चिट फंड का अधिक विकास हो पाया है। निधियां अर्द्ध-बैंकिंग संस्थाओं के रूप में स्थापित हुई हैं, जिनका प्रमुख उद्देश्य बचत को प्रोत्साहित करके पुराने ऋणों से छुटकारा दिलाना है।

कठिनाइयां—निधियों की कार्यप्रणाली में आने वाली कठिनाइयों को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

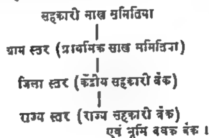
(1) कानून की अवहेलना—इन निधियों द्वारा अपने कानून का पालन नहीं किया जाता है तथा कानून के अनुरूप धन को जमा नहीं करते।

(4) क्षेत्र का अंतर—ग्राम्य समितियों का क्षेत्र प्रायः एक या दो ग्रामों तक सीमित होता है, जबकि नागरिक समितियां विस्तृत क्षेत्र के लिए बनाई जाती हैं।

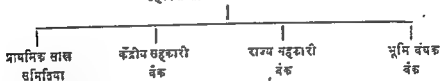
(5) दायित्व—ग्राम्य समितियों का दायित्व असीमित तथा नागरिक समितियों का दायित्व सीमित होता है।

(6) प्रबंध—ग्राम्य समितियों का प्रबंध अवैतनिक होता है, और नागरिक समितियों को नियमित वेतन दिया जाता है।

भारत में सहकारी साख आंदोलन स्तूपाकार (Pyramidical) रूप में है, जिसमें ग्राम्य आधार पर प्राथमिक साख समितियां जिला स्तर पर केंद्रीय सहकारी बैंक एवं राज्य स्तर पर राज्य सहकारी बैंक व भूमि बंधक बैंक हैं। इसे निम्न चार्ट द्वारा दिखाया जा सकता है—



इसे निम्न प्रकार भी दिखा सकते हैं—



सहकारी साख समितियों के प्रकार

साख समितियों को निम्न रूप में रखा जा सकता है—

(1) प्राथमिक साख समितियां; (2) केंद्रीय सहकारी बैंक; (3) राज्य सहकारी बैंक; (4) भूमि बंधक बैंक।

(1) प्राथमिक साख समितियां

एक क्षेत्र या गांव के 10 व्यक्ति मिलकर एक प्राथमिक साख समिति का निर्माण एवं पंजीयन कर सकते हैं, जिसमें समान हित वाले एवं सहकारिता के सिद्धांतों को समझने वाले व्यक्तियों को ही सदस्य बनाया जाता है, परंतु इनका कार्यक्षेत्र सीमित रखा जाता है। मेहता समिति 1958 के सुझावों के आधार पर इन समितियों का सामान्य आकार रखा जाता है जिससे सदस्यों की आवश्यकताओं को पूर्ण किया जा सके तथा वे स्वयं भी संपन्न हों। इन समितियों की व्यवस्था निम्न प्रकार होती है—

(i) पूंजी व्यवस्था—समितियों की पूंजी अंश बेचकर, निक्षेप प्राप्त करके एवं सरकार से ऋण लेकर वित्तीय व्यवस्था की जा सकती है। प्रत्येक सदस्य को केवल 1 मत देने का ही अधिकार प्राप्त होता है।

(ii) ऋण व्यवस्था—ये समितियां केवल अपने सदस्यों को ही ऋण प्रदान कर सकती हैं। ऋण की मात्रा अंश पूंजी एवं निक्षेप पर निर्भर करती है। ये ऋण प्रायः व्यक्तिगत जमानत पर दिए जाते हैं, जिस पर 9 से 12% तक ब्याज लिया जाता है। ये ऋण अल्पकालीन दिए जाते हैं जो प्रायः उत्पादक कार्यों के लिए ही प्राप्त होते हैं। ऋण लेते

समय भूमि धरोहर के रूप में रखकर, दो अन्य व्यक्तियों की जमानत दिलानी पड़ती है। समितियों की ऋण नीति का निर्धारण सरकार द्वारा किया जाता है।

(iii) रूप—प्राथमिक साख समितियों के तीन रूप प्रमुख हैं—(अ) कृषि साख समितियां, (ब) अनाज समितियां, (स) गैर-कृषि साख समितियां। ये तीनों ही समितियां भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए ऋण की व्यवस्था करती हैं।

(iv) प्रबंध व्यवस्था—प्रबंध के लिए प्रबंध समिति निर्मित की जाती है, जिसमें साधारण नीतियों का निर्माण किया जाता है। समिति का मन्त्री, समिति की क्रियाओं के प्रति उत्तरदायी होता है।

(v) लाभ-वितरण व्यवस्था—लाभ का एक अंश अनिवार्य रूप से निधि में डालकर शेष लाभ को अंशधारियों में वितरित कर दिया जाता है। लाभांश की अधिकतम सीमा 10% निश्चित की गई है।

नगरों में सहकारी बैंक ने अधिक प्रगति की है। निम्न तालिका में नगरीय सहकारी बैंक की स्थिति का तुलनात्मक अध्ययन अन्य सहकारी बैंकों के साथ किया गया है—

तुलनात्मक अध्ययन

संस्था का प्रकार	संस्था की संख्या	सदस्यों की संख्या	जमा राशि (रुपए में)
1 राज्य सहकारी बैंक	26	21,000	179.59 करोड़
2 केंद्रीय सहकारी बैंक	344	3,55,000	300 62 "
3. प्राथमिक साख समितियां	1,55,000	3,40,00,000	110.04 "

प्राथमिक सहकारी बैंक (नगरीय बैंक) रिजर्व बैंक के अतर्गत आते हैं, क्योंकि मार्च 1966 में 'बैंकिंग नियमन अधिनियम 1949' को संशोधित करके उसे ऐसे नगरीय बैंको पर लागू कर दिया, जिनकी पूंजी व कोष की राशि 1 लाख रुपए से कम नहीं थी। भारत में नगरीय सहकारी बैंक केवल कुछ राज्यों में ही केंद्रित हैं, जो निम्न प्रकार हैं—

नगरीय सहकारी बैंक

राज्य का नाम	संख्या
1. महाराष्ट्र	219
2. मैसूर	216
3. तमिलनाडु	145
4. आंध्र प्रदेश	142
5. प० बंगाल	125
6. गुजरात	122
7. अन्य राज्य	158
योग	1127

भारत में सहकारी समितियों ने तीव्र गति से प्रगति की। यदि कोई साख समिति स्वयं 1000 रुपए की पूंजी प्राप्त करती है तो राज्य सरकार भी 1000 रु० के मध्य अन्न कर लेती है।

विशेषताएं—इन बैंकों की प्रमुख विशेषताएं निम्न प्रकार हैं—

(i) यह बैंक आधार में एक स्थानीय संगठन रूप में है जिनने समाजवादी नीति का पालन करके सामान्य व्यक्ति की साख की आवश्यकता को पूर्ण किया है तथा अपने क्षेत्र में बैंकिंग आदत का प्रचार किया है।

(ii) इन बैंकों के जमा व अग्रिम इकाइयां व्यापारिक बैंकों की तुलना में छोटी हैं क्योंकि इनमें जमा करने वाले व्यक्ति निम्न व मध्यम आय श्रेणी के व्यक्ति हैं।

(iii) बैंक अन्य सहकारी संस्थाओं एवं सरकार पर कम से कम निर्भर रहता है तथा इन्होंने साधनों को अपने पास में ही प्राप्त किया है।

(iv) इन बैंकों द्वारा कुशल व प्रशिक्षित स्टाफ की सेवाएं प्राप्त न होने से इनकी कार्यकुशलता में कमी आ गई है। इसके विपरीत व्यापारिक बैंकों ने सम्मिश्रण करके अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाया है। 1951 में देश में 92 अनुसूचित एवं 474 गैर-अनुसूचित बैंक थे जो 1969 में घटकर क्रमशः 73 व 17 रह गए।

वर्तमान स्थिति—प्राथमिक सहकारी बैंकों की वर्तमान स्थिति को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

प्राथमिक सहकारी साख समितियां

(करोड़ रु० में)

	1950-51	1970-71
1. प्रदत्त पूंजी	8	206
2. निक्षेप	4	[illegible]
3. कोषनिधि	9	60
4. ऋण कोष	29	784
5. संख्या (लाखों में)	1.15	1.61
6. सदस्य संख्या (लाखों में)	52	340

इससे स्पष्ट है कि योजनाकाल में इन समितियों की प्रदत्त पूंजी में 25 गुनी, निक्षेप राशि में 17 गुनी, ऋण देयों में 30 गुनी व सदस्य संख्या में 6 गुनी वृद्धि हुई है। प्राथमिक सहकारी साख समितियों ने 1972-73 में 911 करोड़ रु० का ऋण दिया है।

लघु उद्योगों को दिए जाने वाले ऋणों पर सरकार ने साख गारंटी योजना के अंतर्गत गारंटी देने की व्यवस्था की है, जिसके लिए थोड़ी-सी फीस वसूल करने की व्यवस्था की गई है। अतः प्राथमिक सहकारी बैंकों को लघु उद्योगों के लिए ऋण स्वीकृत करने एवं उसे वितरित करने की समुचित व्यवस्था करनी होगी। उत्पादक कार्यों के लिए ऋण देने में प्राथमिकता का पालन करना होगा। रिजर्व बैंक द्वारा राज्य सरकार को ऋण का प्रबंध करके प्राथमिक सहकारी बैंक की अंश पूंजी में पर्याप्त मात्रा में अंशदान करना चाहिए।

दोष—प्राथमिक साख समितियों के दोषों को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(i) दोषपूर्ण कार्य—समितियों का संचालन, निरीक्षण एवं अन्य देखभाल संबंधी कार्य दोषपूर्ण होते हैं।

(ii) अनुत्पादक ऋण—ऋण प्रायः अनुत्पादक कार्यों के लिए दिए जाते हैं जिससे उनका भुगतान ठीक समय पर नहीं हो पाता है तथा कभी-कभी ऋण वसूल करना कठिन हो जाता है।

(iii) सीमित साख—समिति अपने सदस्यों को सीमित मात्रा में ही ऋण प्रदान कर पाती है जिससे आवश्यकता के समय उसे साहूकारों पर ही निर्भर रहना पड़ता है।

(iv) ऊंची ब्याज दर—समिति द्वारा ऊंची ब्याज दर वसूल की जाती है।

सुझाव—समिति के दोषों को दूर करने के लिए निम्न सुझाव दिए जा सकते हैं—

(i) खुली सदस्यता—समिति की सदस्यता प्रत्येक व्यक्ति के लिए स्वतंत्र होनी चाहिए तथा किसी पर कोई प्रतिबंध नहीं लगाया जाना चाहिए।

(ii) अंश पूंजी – कार्य को व्यवस्थित ढंग से चलाने के लिए समिति के पास प्रारंभ में ही एक न्यूनतम अंश पूंजी होनी चाहिए।

(iii) केंद्रीय बैंक के पास कोष—समितियों को अपना कोष केंद्रीय बैंक के पास जमा करना चाहिए, जिस पर प्रचलित दर से ब्याज प्राप्त हो सके।

(iv) ऋण सीमा—इन समितियों की ऋण सीमा को अंश पूंजी एवं कोष तक सीमित कर देना चाहिए।

(v) साख राशनिंग—इन समितियों में कोषों का अभाव पाया जाता है और कोषों का अभाव होने पर साख का राशनिंग किया जा सकता है।

(vi) आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति—इन समितियों को अपने सदस्यों की आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति करने की जिम्मेदारी लेनी चाहिए तथा समय पर उसकी पूर्ति करनी चाहिए।

(vii) विपणन समितियों से सम्पर्क—समितियों द्वारा कृषकों को इस शर्त पर साख दी जानी चाहिए कि वे अपनी फसल को विपणन समितियों के माध्यम से ही बेचेंगे।

(viii) राज्य समितियों से सहयोग—अच्छी साख व्यवस्था के लिए यह आवश्यक होगा कि इन समितियों को राज्य समितियों से निरंतर सहयोग प्राप्त होता रहे।

(ix) राज्य साझेदारी—प्रतियोगिता से बचाव करने हेतु यह आवश्यक है कि इन समितियों में राज्य की साझेदारी हो।

(x) सहायता क्षेत्र—इन समितियों को उन क्षेत्रों में सहायता प्रदान करनी चाहिए जहां पर अन्य सहकारी बैंकों द्वारा सहायता प्रदान नहीं की जाती।

(xi) प्रशिक्षित सचिव—समिति के प्रबंध के लिए योग्य एवं प्रशिक्षित सचिव की नियुक्ति की जानी चाहिए जो कुशलतापूर्वक प्रबंध व्यवस्था कर सके।

(xii) ऋण व्यवस्था—समितियों द्वारा ऋण स्वर्ण जेवरों या अन्य प्रतिभूतियों के आधार पर दिया जा सकता है।

(xiii) उत्पादक ऋण—समिति द्वारा उत्पादक कार्यों के लिए ही ऋण दिया जाना चाहिए तथा यह ऋण अल्पकालीन न होकर मध्यकालीन या दीर्घकालीन होना चाहिए।

(xiv) खड़ी फसल पर ऋण—कृषकों को आवश्यकता पड़ने पर खड़ी फसलों पर भी ऋण दिए जाने चाहिए तथा ऋण वसूल करने का उचित प्रबंध होना चाहिए।

(xv) कोष का निर्माण—समितियों को अनिवार्य रूप से कोष का निर्माण करना चाहिए जिससे आवश्यकता पड़ने पर उसका उपयोग किया जा सके।

(xvi) स्थायी जमा—समितियों द्वारा केवल स्थायी जमा ही स्वीकार की जानी चाहिए।

(xvii) सीमित दायित्व—समितियों के सदस्यों का दायित्व अपने अंशों तक ही सीमित होना चाहिए।

(xviii) वृहत् आकार—इन समितियों का बड़ा आकार होना चाहिए, जिससे व्यापार करने के लिए पर्याप्त मात्रा में पूंजी एकत्रित की जा सके।

(2) केंद्रीय सहकारी बैंक
(Central Cooperative Bank)

देश में केंद्रीय सहकारी बैंकों की रचना समान नहीं है। ये बैंक प्रायः दो प्रकार के होते हैं—(i) जिनकी सदस्यता केवल प्राथमिक सहकारी ग्राम्य समितियों को ही प्राप्त है। (ii) ऐसी समितियां जिनमें व्यक्ति एवं समितियां

सदस्य बन सकती है।

भारत में प्राय: मिश्रित सदस्यता वाले बैंक पाए जाते हैं। प्रत्येक जिले में कम से कम एक बैंक की स्थापना करने का कार्यक्रम बनाया जाता है। भारत के सभी राज्यों में मिश्रित सदस्यता वाले केंद्रीय सहकारी बैंक पाए जाते हैं। अभी कुछ वर्षों से सहकारी बैंकों का विकेंद्रीकरण किया गया है और प्रत्येक जिले में एक ही बैंक स्थापित करने की योजना को कार्यान्वित किया गया, जिसके परिणामस्वरूप योजनाकाल में केंद्रीय सहकारी बैंकों की संख्या 505 से घटकर 340 रह गई। इस पुनर्संगठन का मूल उद्देश्य दुर्बल बैंकों को शक्तिशाली बनाना है। इन बैंक की व्यवस्था निम्न प्रकार है—

(i) संचालन व्यवस्था—इसमें प्राय: प्राथमिक सहकारी समितियों के प्रतिनिधि होते हैं जिसमें नीतियों का निर्धारण सहकारी विभाग के नियमानुसार होता है। इसके समस्त कर्मचारी सर्वेतनिक होते हैं तथा इनके कार्यों पर प्रतिबंध सचिव द्वारा लगाया जाता है।

(ii) कार्य प्रणाली—यह बैंक प्राय: व्यापारिक बैंकों के समस्त कार्यों को करते हैं। इस क्षेत्र की समस्त सहकारी समितियों को अपनी पूंजी अनिवार्य रूप से इसी बैंक में जमा करनी होती है। यह बैंक जनता से भी जमा स्वीकार कर लेते हैं तथा व्यापारिक बैंकों की तुलना में अधिक मात्रा में ब्याज देते हैं, जिससे अधिकतम जमा को आकर्षित किया जा सके।

(iii) ऋण व्यवस्था—राज्य सहकारी बैंक से ऋण लेकर पूंजी में वृद्धि करके सहकारी समितियों को ऋण प्रदान किए जाते हैं। यह ऋण तीन वर्षों तक 8% ब्याज तक दिया जाता है। कृषि ऋण प्राय: विनिमय-पत्रों के आधार पर दिए जाते हैं। शुद्ध लाभ का 25% भाग रिजर्व कोष में रखना आवश्यक होता है।

(iv) प्रगति—इन बैंकों की पूंजी एवं ऋण-राशियों में सर्वाधिक वृद्धि हुई है तथा इनके द्वारा कृषि कार्यों के लिए बहुत अधिक मात्रा में ऋण प्रदान किए गए हैं।

दोष—केंद्रीय सहकारी बैंक के प्रमुख दोषों को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(i) निर्भरता—राज्य सहकारी बैंकों पर ऋणों के लिए निर्भर रहना पड़ता है।

(ii) बिना अध्ययन के ऋण देना—इस बैंक द्वारा प्रारंभिक साख समितियों को बिना किसी अध्ययन के ऋण प्रदान किए जाते थे।

(iii) कम ऋण—प्राथमिक समितियों को व्यक्तियों की तुलना में कम मात्रा में ऋण प्रदान किया जाता था।

(iv) ऊंची ब्याज दर—बैंक द्वारा जमानत कम होने पर ऊंची दर से ब्याज लिया जाता था।

(v) देरी करना—प्राय: ऋणों को स्वीकृत करने में देरी कर दी जाती है तथा समय पर ऋण प्राप्त नहीं हो पाता।

(vi) पूंजी का अभाव—इन बैंकों में प्राय: पर्याप्त पूंजी का अभाव पाया जाता है जिससे आवश्यकता के समय पर्याप्त मात्रा में ऋण प्रदान नहीं किया जाता तथा कृषि साख की व्यवस्था नहीं हो पाती।

सुझाव—केंद्रीय बैंकों के दोषों को सुधारने के लिए निम्न सुझाव दिए जा सकते हैं—

(i) ग्रामीण बचतों का लाभ—इन बैंकों को ग्रामीण बचतों से अधिकाधिक लाभ प्राप्त करने के प्रयास करने चाहिए।

(ii) साख समितियों को प्राथमिकता—ऋण प्रदान करते समय व्यक्तियों के स्थान पर साख समितियों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

(iii) सुरक्षित कोष—डूबते ऋण के लिए बैंक में सुरक्षित कोष का प्रबंध होना चाहिए।

(iv) कार्यक्षेत्र—प्रत्येक बैंक का कार्यक्षेत्र प्राय: एक जिला होना चाहिए। इस सुझाव को मानकर इन बैंकों का पुनर्संगठन किया गया है जिसमें दुर्बल बैंकों को सबल बैंकों के साथ मिला दिया गया है।

(v) ऋण व्यवस्था—बैंक के सदस्यों को समय पर पर्याप्त मात्रा में ऋण प्रदान करना चाहिए जिससे कृषि साख की मांग को पूर्ण किया जा सके।

(vi) सिद्धांतों का पालन—इन बैंकों में सहकारिता, ऋण-नीति एवं बैंकिंग के सिद्धांतों का पालन किया जाना चाहिए।

व्यापारिक एवं सहकारी बैंकों को समान नीतियों एवं प्रक्रिया का पालन करना होगा। इस संबंध में यह उचित माना जाएगा कि व्यापारिक बैंक ऋण देते समय राज्य एवं केंद्रीय सहकारी बैंकों की सलाह अवश्य लें। देश के स्वस्थ विकास के लिए राष्ट्रीय, राज्य एवं जिला स्तर पर समन्वय स्थापित करना आवश्यक है। इसके लिए यह आवश्यक होगा कि व्यापारिक एवं सहकारी बैंकों के मध्य कृषि वित्त संबंधी योजनाओं पर सूचनाओं का आदान-प्रदान स्वतंत्रतापूर्वक हो सके। परंतु इस संबंध में व्यक्तिगत व्यापारिक बैंकों की नीतियों में समन्वय व समझौता संभव नहीं हो सका है। अतः व्यापारिक एवं सहकारी बैंकों में अच्छा समन्वय स्थापित करने के उद्देश्य से रिजर्व बैंक के कृषि साख बोर्ड (Agricultural Credit Board) ने जिला एवं राज्य स्तर पर समन्वय समिति निर्माण करने का निश्चय किया है। कृषि वित्त के लिए पर्याप्त मात्रा के स्थान पर उसका नियोजित ढंग से उपयोग होना आवश्यक है, और इसी कारण से जिला-स्तर पर साख नियोजन (credit planning) प्रारंभ करना आवश्यक होता है। अतः विकास कार्यक्रमों का निर्माण करके उन्हें पूर्ण करने की जिम्मेदारी विशिष्ट बैंकों पर डालनी होगी। अतः जिला केंद्रीय सहकारी बैंक अग्रणी बैंकों के सहयोग से विभिन्न जिलों में साख नियोजन कार्यक्रम में प्रोत्साहन दे रहे हैं। यही उपयुक्त समय है जबकि केंद्रीय सहकारी बैंक ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में प्रोत्साहन दे सकें तथा अन्य राज्यों के अनुभव के आधार पर, विशेषकर महाराष्ट्र, यह कहा जा सकता है कि सहकारी बैंक ग्रामीण साख में महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान कर सकेंगे।

(3) राज्य सहकारी बैंक
(State Co-operative Bank)

मारत के प्रत्येक राज्य में एक राज्य सहकारी बैंक की स्थापना की गई है जिसमें प्रायः केंद्रीय सहकारी बैंक ही अंशधारी होता है। अनेक राज्यों के सहकारी बैंकों में प्राथमिक साख समितियां सदस्य थीं, परंतु धीरे-धीरे उन्हें इसकी सदस्यता से मुक्त कर दिया गया है। राज्य सहकारी बैंक, रिजर्व बैंक तथा प्राथमिक साख समितियों के मध्य एक महत्त्वपूर्ण वित्तीय कड़ी का कार्य करते हैं। इन बैंकों की व्यवस्था निम्न प्रकार है—

(i) पूंजी व्यवस्था—ये बैंक अंशों को बेचकर जनता से निक्षेप प्राप्त करके तथा ऋण लेकर पूंजी की व्यवस्था करते हैं; ये प्रायः रिजर्व बैंक से ऋण लेकर उसे केंद्रीय सहकारी बैंकों को प्रदान करते हैं।

(ii) ऋण व्यवस्था—बैंक द्वारा ऋण प्रायः विनिमय बिलों के आधार पर या रिजर्व बैंक की गारंटी पर प्रदान किए जाते हैं। ऋणों की अवधि 1 वर्ष होती है तथा ब्याज दर 4-6% तक होती है।

(iii) कार्य—राज्य सहकारी बैंक के प्रमुख कार्य निम्न हैं—

(अ) द्रव्य बाजार से संबंध—बैंक द्वारा सरकारी आंदोलन का द्रव्य बाजार से संबंध स्थापित किया जाता है।

(ब) संतुलन बनाए रखना—प्रत्येक राज्य में स्थापित जिला स्तर के केंद्रीय सहकारी बैंकों के मध्य संतुलन स्थापित करने का कार्य राज्य सहकारी बैंक द्वारा किया जाता है।

(स) वित्त व्यवस्था करना—इन बैंकों द्वारा संपूर्ण सहकारी आंदोलन के लिए पर्याप्त मात्रा में वित्तीय व्यवस्था की जाती है।

(द) राष्ट्रीय आंदोलन से संबंधित—सहकारी आंदोलन को राष्ट्रीय आंदोलन से संबंधित करने का कार्य इसी बैंक द्वारा किया जाता है।

(य) समन्वय एवं नियंत्रण—राज्य के समस्त केंद्रीय सहकारी बैंकों के कार्यों में समन्वय एवं नियंत्रण लाने के प्रयास किए जाते हैं।

दोष—राज्य सहकारी बैंकों के प्रमुख दोष निम्नलिखित थे—

(i) गैर-कृषि कार्य—इन बैंकों की अधिकांश पूंजी गैर-कृषि कार्यों में लगा दी जाती है जिससे कृषि विकास के लिए पर्याप्त मात्रा में साख उपलब्ध नहीं हो पाती है।

(ii) गैर-सदस्यों को ऋण—ये बैंक गैर-सदस्यों को भी ऋण प्रदान कर देते हैं जिससे सदस्यगण आवश्यकता के समय ऋण प्राप्त नहीं कर पाते।

(iii) ऋण समय पर वसूल न होना—प्राथ. केंद्रीय साख समितियाँ एवं अन्य साख- संस्थाओं को जो ऋण प्रदान किए जाते हैं, वह समय पर वसूल नहीं हो पाते।

(iv) दीर्घकालीन ऋण—बैंकों द्वारा अल्पकालीन जमा प्राप्त की जाती है, परन्तु ऋण दीर्घकालीन अवधि के लिए दिए जाते हैं, जिससे धन का उचित समायोजन सम्भव नहीं हो पाता।

(v) संगठन की दुर्बलताएं—इनके संगठन में अनेक प्रकार की दुर्बलताओं के पाए जाने के कारण आंदोलन के विभिन्न कार्यों में समन्वय स्थापित करना संभव नहीं हो पाता।

(vi) दुर्बल पूंजी व्यवस्था—बैंकों की दुर्बल पूंजी व्यवस्था से इनकी वित्तीय व्यवस्था सुदृढ़ नहीं हो पाती जिससे धन का अभाव बना रहता है और कृषि कार्यों के लिए पर्याप्त मात्रा में धन प्राप्त नहीं हो पाता। वर्तमान समय में देश में कुल 26 राज्य सहकारी बैंक कार्य कर रहे हैं।

सुझाव—बैंकों के दोषों को दूर करने के लिए निम्न सुझाव दिए जा सकते हैं—

(i) कार्यों का पृथक्करण—इन बैंकों के व्यापारिक कार्यों को उसके बैंकिंग कार्यों से पृथक कर देना चाहिए।

(ii) धन वसूली में सुधार—जो ऋण प्रदान किए जाते हैं उनकी वसूली में सुधार किया जाना आवश्यक है।

(iii) प्रशिक्षण—बैंक के कर्मचारियों एवं अधिकारियों को प्रशिक्षण की पर्याप्त सुविधाएं प्रदान की जानी चाहिए।

(iv) संस्थाओं को ऋण—बैंक द्वारा व्यक्तियों के स्थान पर संस्थाओं को अधिक मात्रा में ऋण प्रदान करना चाहिए।

(v) पूंजी रचना में सुधार—बैंकों की पूंजी रचना में सुधार करके उसमें निरंतर वृद्धि करने के उपाय काम में लाये जाने चाहिए।

प्रगति—भारत में राज्य सहकारी बैंकों ने महत्त्वपूर्ण प्रगति की। इनकी प्रदत्त पूंजी 160 लाख रुपये से बढ़कर 3500 लाख रुपये हो गई, इस प्रकार पूंजी में लगभग 23 गुना से वृद्धि हुई। 30 जून, 1975 तक देश में 26 राज्य सहकारी बैंक थे जिनके पास 140 कार्यालय थे। इनकी प्रदत्त पूंजी 35 करोड़ रुपये थी। योजनाकाल में राज्य सहकारी बैंकों ने उल्लेखनीय प्रगति की है, इनकी निक्षेप राशि में 8 गुना से वृद्धि हुई है तथा ऋण देने में 18 गुना से वृद्धि हुई।

भूमि बंधक बैंक
(Land Mortgage Banks)

देश में कृषक को मध्यकालीन एवं अल्पकालीन ऋण प्रदान करने वाली अनेक संस्थाएं थीं परन्तु कृषकों की दीर्घकालीन ऋण की मांग को पूर्ण करने वाली संस्था का अभाव था। कृषक प्रायः भूमि में स्थायी सुधार करने के उद्देश्य से दीर्घकालीन ऋण की मांग करता है। सहकारी संस्थाओं के साधन प्रायः अल्पकालीन होने से वे इस मांग को पूर्ण करने में असमर्थ रहते हैं। अतः कृषकों की दीर्घकालीन मांग को पूर्ण करने के उद्देश्य से बंधक बैंकों की स्थापना की गई जो कृषकों की भूमि को बंधक रखकर दीर्घकालीन ऋण की व्यवस्था करते हैं। भारत में सर्वप्रथम 1920 में झंग नामक स्थान पर भूमि बंधक बैंक की स्थापना की गई। तत्पश्चात् 1925 में मद्रास तथा 1929 में बम्बई में भूमि बंधक बैंकों की स्थापना की गई। भूमि बंधक बैंकों का नाम बदलकर भूमि विकास बैंक कर दिया गया है। वर्तमान समय में देश में 855 भूमि विकास बैंक हैं जो कि जून 1973 तक 1838 करोड़ रु० का कृषि ऋण प्रदान कर चुके हैं। 1972-73 में इन बैंकों ने 310 करोड़ रु० का कृषि ऋण दिया।[1]

महत्त्व—भारत में भूमि बंधक बैंकों का काफी महत्त्व है जिसे निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(i) कृषि उत्पादन में वृद्धि—भूमि बंधक बैंकों की स्थापना से कृषकों को दीर्घकालीन ऋण प्राप्त होगा तथा देश के कृषि उत्पादन को बढ़ाने के सफल प्रयास किए जा सकेंगे।

1. The Financial Express, Sept. 23, 1975.

(ii) ब्याज दर में गिरावट—भूमि बंधक बैंकों द्वारा प्रतियोगिता करने पर ग्रामीण क्षेत्रों में अन्य संस्थाओं द्वारा दिए जाने वाले ऋण के लिए ब्याज की दर में कमी हो जाएगी।

(iii) सहकारी संगठन पर अच्छा प्रभाव—कृषकों को ऋण के लिए देशी साहूकारों पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं रहेगी, जिससे सहकारी संगठन पर अच्छा तथा प्रभावी प्रभाव पड़ेगा।

(iv) सहयोग में वृद्धि—कृषकों की मांग की पूर्ति होने पर कृषकों का सहकारिता में अधिकाधिक सहयोग प्राप्त होगा।

(v) साख में वृद्धि—कृषकों द्वारा पर्याप्त मात्रा में प्रतिभूति देना सम्भव हो सकेगा, जिससे कृषकों की साख में वृद्धि हो जाएगी।

(vi) प्रकृति पर कम निर्भरता—कृषकों को अपनी भूमि पर सुधार करने के अवसर प्राप्त होंगे, जिससे कृषि पर निर्भरता में कमी हो जाएगी।

(vii) ऋण भार में कमी—भूमि बंधक बैंकों की स्थापना से यह आशा की जा सकती है कि ऋण भार में कमी होकर कृषकों की आय में वृद्धि होगी।

संगठन व्यवस्था—भूमि बंधक बैंकों को निम्न भागों में रखा जा सकता है—



(i) मिश्रित व्यवस्था—ये ऋण लेने वाले एवं देने वालों के सम्मिलित संघ माने जाते हैं, जिसमें अंश पूंजी होती है तथा जो सीमित दायित्व के आधार पर कार्य करते हैं।

(ii) सहकारी बैंक—इनमें कोई पूंजी नहीं होती तथा केवल ऋण लेने वाले व्यक्ति ही सम्मिलित किए जाते हैं। धन की आवश्यकता पड़ने पर बंधक ऋण निर्गमित किए जाते हैं।

(iii) गैर-सहकारी बैंक—ये बैंक लाभ की भावना से कार्य करते हैं तथा इनके कार्यों पर सरकार का पूर्ण नियंत्रण रहता है।

(iv) संघात्मक एवं एकात्मक—भारत में प्रायः संघात्मक व्यवस्था ही अपनाई जाती है जो ऋणियों से निरंतर संपर्क स्थापित करके भूमि-सुधार संबंधी परामर्श देते हैं।

वास्तविक योजना
(Realistic Plan)

कृषि में दीर्घकालीन विनियोग करके अच्छे परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं। वित्त की व्यवस्था खेतों की मांग के आधार पर की जानी चाहिए। इस उद्देश्य के लिए साख नीति एवं व्यवहार वास्तविक व वैज्ञानिक योजना के आधार पर निर्धारित होना चाहिए, विशेषकर वित्त का स्तर, भुगतान करने की क्षमता का निर्धारण आदि। इन समस्त प्रयासों से भारत में कृषि उत्पादन को बढ़ाया जा सकता है, जो कि जापान एवं अन्य राष्ट्रों की तुलना में प्रति एकड़ 20% कम है।

वर्तमान समय में कृषि साख देने के सिद्धांत में भी परिवर्तन किया गया है। पहले भूमि या प्रतिभूति के आधार पर ही कृषकों को ऋण दिए जाते थे, परंतु अब संभावित फसल के आधार पर ऋण दिए जाते हैं, इसे फसल ऋण पद्धति (Crop Loan System) के नाम से जानते हैं। यह व्यवस्था सर्वप्रथम बम्बई में प्रारंभ की गयी जिसे

बाद में अन्य राज्यों ने भी अपनाया। इसने पुरानी अग्रिम पुनर्भुगतान आधार पद्धति को बदलकर नवीन व्यवस्था लागू की।

साधन आवंटन का उपयोग

भारत सरकार एवं रिजर्व बैंक ने उत्पादन-वृद्धि के लिए नीति का निर्माण करके उदार कृषि साख व्यवस्था, विशेषकर अल्पकालीन एवं मध्यकालीन उद्देश्यों की है। गत 10 वर्षों में रिजर्व बैंक द्वारा स्वीकृत अल्पकालीन साख सीमा का पूर्ण लिए, उपयोग नहीं हो पाया है। इसके विपरीत दीर्घकालीन कृषि साख संस्थाएं विपरीत व भिन्न स्थिति को प्रदर्शित करते हैं। 1966-67 तक भूमि विकास बैंकों के लिए कोई भी वार्षिक ऋण-पत्र आवंटन कार्यक्रम का निर्माण नहीं किया गया। 1965-66 तक 150 करोड़ रुपये तक लक्ष्य निर्धारित किया गया था, जबकि भूमि विकास बैंकों की ओर प्रदत्त ऋण की मात्रा 1965-66 तक 163 करोड़ रुपये थी। परन्तु 1972-73 के उपरान्त जबकि ऋण-पत्र कार्यक्रम वार्षिक आधार पर बनाए गए, प्राप्ति अपने लक्ष्यों से भी अधिक रही, जिसे निम्न रूप में रखा जा सकता है—

ऋण-पत्र कार्यक्रम[1]

(करोड़ रुपए में)

वर्ष	लक्ष्य	प्राप्ति
1966-67	46.65	52.08
1967-68	66 00	71.00
1968-69	91.00	102.07
1969-70	113 00	121.44
1972-73	810.00	810.00

प्रारम्भ में कृषि की अल्पकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर ही अधिक ध्यान दिया गया तथा दीर्घकालीन विनियोग की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया, परंतु दीर्घकालीन ढाँचे के साधनों का उपयोग सदैव से ही अच्छा व उपयुक्त रहा। चतुर्थ योजना में भूमि विकास बैंकों के लिए 700 करोड़ रुपए का प्रावधान किया गया, जबकि अखिल भारतीय ग्रामीण साख निरीक्षण समिति ने चतुर्थ योजना में दीर्घकालीन साख आवश्यकता की मात्रा 1500 करोड़ रुपये बताई है, अतः 800 करोड़ रुपए की कमी को अन्य संस्थाओं जैसे व्यापारिक बैंक आदि द्वारा पूर्ण किया जाएगा।

अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने 1973-74 तक अल्पकालीन ऋण की माँग 2000 करोड़ रुपये निश्चित की है, जबकि सहकारी क्षेत्र द्वारा 752 करोड़ रुपये ही प्राप्त किये जा सकेंगे तथा 1300 करोड़ रुपये की कमी अन्य संस्थाओं जैसे व्यापारिक बैंक आदि द्वारा पूर्ण की जा सकेगी। अतः व्यापारिक बैंकों के साधनों को सुदृढ़ बनाना होगा। व्यापारिक बैंकों ने दिसम्बर 1974 में कृषि साख के रूप में 781 करोड़ रुपये प्रदान किए हैं। भविष्य में यह बैंक और अधिक ऋण प्रदान करेंगे।

विभिन्न राष्ट्रों में भुगतान अवधि

भारत में दीर्घकालीन कृषि साख के भुगतान की अवधि प्रायः 10-15 वर्ष है। विश्व के प्रत्येक राष्ट्र में अवधि के स्थान पर दीर्घकालीन ऋणों को ही प्राथमिकता प्रदान की जाती है। भुगतान क्षमता प्रायः (i) लघु सिंचाई सुविधाओं द्वारा प्रदान की गई निरंतर जल पूर्ति की उपलब्धता, (ii) पक्षपूर्ण कृषि मूल्यों या मूल्यों में उच्चावचन का अभाव, (iii) सीमान्त कृषक या जीवन-स्तर आदि पर निर्भर करती है। विभिन्न राष्ट्रों में दीर्घकालीन ऋण के भुगतान की अवधि भिन्न-भिन्न है जो कि निम्न प्रकार है—

1. Neelkanth A. Kalyani, President, The Bombay State Cooperative Land Mortgage Bank Ltd. Bombay.

भुगतान अवधि

राष्ट्रों का नाम	अवधि (वर्षों में)
फ्रांस	75
इंग्लैंड	60
इटली	50
जापान	50
स्वीडेन	40
सं० रा० अमेरिका	30
जर्मनी	30
कनाडा	25
भारत	20

उपर्युक्त आंकड़ों से स्पष्ट है कि भारत में भुगतान अवधि सबसे कम है, जबकि विदेशों में यह अवधि 60 से 75 वर्षों तक निर्धारित की गई है।

ऋण नीति—बैंकों की ऋण संबंधी नीति की विशेषताएं निम्न हैं—

(i) **ब्याज दर**—बैंकों द्वारा प्रदान किए जाने वाले ऋणों पर ब्याज दर 6 से 9% तक वसूल की जाती है तथा ऋण उत्पादक कार्यों के लिए ही दिए जाते हैं।

(ii) **संपत्ति का मूल्यांकन**—बैंक गिरवी रखी गई संपत्ति का समय-समय पर मूल्यांकन करते रहते हैं जिसके लिए प्रशिक्षित स्टाफ रखा जाता है।

(iii) **ऋण की राशि**—भूमि के मूल्य के 50% तक ही प्रायः ऋण दिया जाता है।

(iv) **स्वस्थ नीति**—बैंक स्वस्थ नीति का पालन करते हुए भूमि की जमानत पर ही ऋण प्रदान करते हैं।

(v) **अधिकतम सीमा**—ऋण की अधिकतम सीमा 5000 रुपये से 10,000 रुपये तक ही निर्धारित की गई है और उससे अधिक ऋण प्रदान नहीं किया जा सकता।

(vi) **वार्षिक किस्तों में वसूली**—ऋणों को वार्षिक किस्तों में वसूल किया जाता है तथा बैंकों को ऋण वसूल करने के विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं।

प्रगति—भारत में केवल 19 केंद्रीय भूमि बंधक बैंक तथा 570 प्राथमिकता भूमि बंधक बैंक हैं। 1973 तक इन बैंकों की संख्या बढ़कर 855 हो गयी थी तथा कृषि कार्यों के लिए अग्रिम के रूप में 1838 करोड़ रु० प्रदान किए गए। योजनाकाल में बैंकों ने सराहनीय प्रगति की तथा सदस्य-संख्या में अधिक वृद्धि हो गई है। इस प्रकार बैंक देश की दीर्घकालीन व्यवस्था को पूर्ण करने में योग्य एवं सक्षम हैं।

धीमी प्रगति के कारण—भारत में भूमि बंधक बैंकों की प्रगति अत्यंत धीमी गति से हुई है। इसके प्रमुख कारणों को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(i) **आंकड़ों का अभाव**—कृषि से प्राप्त होनेवाली आय तथा उससे संबंधित व्ययों संबंधी आंकड़ों का अभाव पाए जाने से कृषक की क्षमता का सही अनुमान लगाना कठिन हो जाता है, फलस्वरूप किस्त का निर्धारण कृषक की अर्जन शक्ति के अनुरूप निर्धारित नहीं हो पाता तथा कृषक को भूमि के स्वामित्व से भी हाथ धोना पड़ता है।

(ii) **जनता का कम विश्वास**—बैंक अपने कोषों की पूर्ति पर्याप्त मात्रा में ऋण-पत्र निर्गमित करके करता है। परन्तु जनता का ऋण-पत्रों पर कम विश्वास होने से उसे पर्याप्त मात्रा में धन प्राप्त नहीं हो पाता।

(iii) **प्रोत्साहन का अभाव**—कृषक भूमि खरीदने को तैयार थे, परन्तु उनके पास वित्तीय साधनों का अभाव था तथा भूमि बंधक बैंक भी आर्थिक सहायता प्रदान नहीं कर रहे थे जिससे कृषकों में भूमि खरीदने के लिए प्रोत्साहन

का अभाव बना रहा।

(iv) युद्ध का अच्छा प्रभाव—युद्धकाल में कृषक की स्थिति काफी सुधर गई थी जिससे भूमि बंधक बैंकों की सहायता संबंधी कोई विशेष कार्य नहीं करने पड़े, परिणामस्वरूप बैंकों की विशेष प्रगति संभव न हो सकी।

(v) त्रुटिपूर्ण व्यवस्था—बैंकों द्वारा ऋण देने में देरी करना, अपर्याप्त ऋण व्यवस्था, नियमों में लोच का अभाव, कठोर शर्तें आदि अनेक दोष अब भी पाए जाते हैं। इसके अतिरिक्त पहले ऋण का भुगतान होने पर दूसरा ऋण दिया जाता है, जो कृषकों को बहुत कष्टदायक सिद्ध होता है।

(vi) पुराने ऋण के परिशोध पर बल—भूमि बंधक बैंकों ने भूमि के सुधार एवं उन्नति के स्थान पर पुराने ऋणों के परिशोध पर अधिक बल दिया है जिससे कृषि में सुधार संभव नहीं हो सका है।

(vii) अकुशल कार्य व्यवस्था—बैंकों की कार्य प्रणाली अत्यंत अकुशल एवं खर्चीली है। इनका संगठन भी आधुनिक ढंग पर नहीं होता तथा इनमें 'पहल' का अभाव प्रायः पाया जाता है। इनके पास स्टाफ भी प्रशिक्षित एवं योग्य नहीं होता जिससे भूमि का मूल्यांकन उचित ढंग से संभव नहीं हो पाता।

(viii) उत्पादक कार्यों पर कम बल—इन बैंकों द्वारा ऋण प्रदान करते समय इस बात का ध्यान नहीं रखा जाता था कि यह ऋण उत्पादक कार्यों पर ही व्यय हो।

सुझाव—भूमि बंधक बैंकों के सुधार के लिए निम्न सुझाव दिए जा सकते हैं—

(i) भूमि का सही मूल्यांकन—बैंकों की सफलता भूमि के सही मूल्यांकन पर निर्भर करती है, जिसके लिए कुशल एवं योग्य कर्मचारियों को नियुक्त करना आवश्यक होगा। इस संबंध में कर्मचारियों को पर्याप्त शिक्षा भी दी जानी चाहिए।

(ii) उत्पादक ऋण—बैंकों द्वारा ऋण केवल उत्पादक कार्यों के लिए ही दिया जाना चाहिए। ऋण के सही उपयोग की जांच के लिए बैंकों के स्टाफ एवं ग्रामीण सहकारी समितियों द्वारा आवश्यक देखरेख की जानी चाहिए।

(iii) भूमि की उन्नति—कृषकों की आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए भूमि की उन्नति करना आवश्यक होता है। इसके लिए कृषि विभाग एवं इन बैंकों के मध्य परस्पर संपर्क स्थापित किया जाना चाहिए। अतिरिक्त भूमि सुधार के लिए सस्ती दरों पर ऋणों का प्रबंध करना चाहिए।

(iv) समन्वय—भूमि बंधक बैंकों का अन्य सहकारी संगठनों के साथ उचित समन्वय स्थापित किया जाना चाहिए। इस संबंध में विभिन्न सहकारी समितियों को कृषक की आवश्यकता को पूर्ण करने में सहायता प्रदान करनी चाहिए।

(v) ऋण-पत्रों का निर्गमन—देश में ऋण-पत्रों के निर्गमन को सरल बनाकर जनता का विश्वास प्राप्त करने के प्रयास किए जाने चाहिए। इसके लिए भूमि बंधक बैंकों की कार्यप्रणाली में पर्याप्त सुधार होना चाहिए। रिजर्व बैंक का इन बैंकों में प्रत्यक्ष संबंध स्थापित किया जाना चाहिए। ऋण-पत्रों के शोधन का भी उचित प्रबंध होना चाहिए।

(vi) किश्तों की वसूली—इस बात का सदैव प्रयास करना चाहिए कि कृषकों से वसूल की जाने वाली किश्त की राशि को समय पर प्राप्त कर लिया जाए।

(vii) आंकड़ों का संग्रह करना—कृषि संबंधी आवश्यक आय एवं व्यय संबंधी आंकड़ों को संग्रह करने के प्रयास किए जाने चाहिए जिससे कृषक की वास्तविक स्थिति को ज्ञात करके उसकी किश्त राशि को निश्चित किया जा सके।

(viii) व्यापक विस्तार—देश में भूमि बंधक बैंकों का तीव्रगति से विस्तार किया जाना चाहिए। कृषकों की दीर्घकालीन ऋण का प्रबंध करके कृषि में स्थायी रूप से सुधार लाया जा सकता है।

सहकारी संस्थाओं की वर्तमान स्थिति

भारत में प्रधानमंत्री द्वारा घोषित 20 सूत्री आर्थिक प्रोग्राम को देश के समस्त वर्गों द्वारा स्वीकार किया गया। इस कार्यक्रम में ग्रामीण जनता का विकास भी सम्मिलित है जिसके लिए संस्थागत साख की व्यवस्था सहकारी

16 औद्योगिक बस्तियां	135	9,071
17. मछली संस्थाएं	3,784	3,95,125
18 अन्य गैर-कृषि संस्थाएं	11,720	12,15,786
19. बीमा संस्थाएं	7	13,456
20. निरीक्षण संघ	779	44,670
21. राज्य एवं जिले संघ व संस्थाएं	224	99,588

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत में गैर-साख सहकारी संस्थाओं की संख्या में अपर्याप्त वृद्धि हुई है। इसके अतिरिक्त सदस्य-संख्या में भी उल्लेखनीय प्रगति हुई है। देश में औद्योगिक सहकारी संस्थाओं की संख्या सबसे अधिक है जो कि 35,472 है। परन्तु सदस्यता उपभोक्ता भंडार में सर्वाधिक है जो कि 42,75,434 है। सबसे कम संख्या बीमा संस्थाओं की है, और सबसे कम सदस्यता औद्योगिक बस्तियों की है।

सहकारी साख आंदोलन के दोष

भारत में सहकारी साख आंदोलन की प्रगति संतोषप्रद नहीं रही है और उसके प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं—

(1) **सिद्धांतों की अज्ञानता**—भारतीय जनता अशिक्षित एवं अपढ़ होने के कारण सहकारिता के सिद्धांत से अपरिचित एवं अज्ञान बनी रहती है, जिससे कार्यकर्ताओं का अभाव पाया जाता है जो इस दिशा में आवश्यक रूप से प्रचार कर सकें।

(2) **अनियमित हिसाब-किताब**—समितियों के हिसाब-किताब नियमित ढंग से नहीं रखे जाते, फलस्वरूप पूंजी का पूर्ण रूप से सदुपयोग संभव नहीं हो पाता क्योंकि इसके लिए प्रशिक्षित कर्मचारियों का अभाव पाया जाता है।

(3) **दीर्घकालीन साख की कमी**—सहकारी संस्था द्वारा कृषकों को दीर्घकालीन आधार पर ऋण प्रदान करने की कोई समुचित व्यवस्था नहीं है जिससे दीर्घकालीन मांगों की पूर्ति के लिए साहूकारों पर निर्भर रहना पड़ता है।

(4) **दोषी ऋण नीति**—सहकारी संस्थाओं की ऋण नीति दोषपूर्ण है। ये आवश्यकतानुसार ऋण प्रदान नहीं कर पाते तथा ऊंची दर से ब्याज वसूल करते हैं तथा कृषकों को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

(5) **अपर्याप्त वित्तीय साधन**—इन समितियों को अपनी पूंजी के लिए प्रायः केंद्रीय सहकारी बैंकों पर ही निर्भर रहना पड़ता है, तथा वित्तीय व्यवस्था उचित ढंग से संभव नहीं हो पाती है। जनता से जमा आकर्षित करने में भी ये संस्थाएं प्रायः असफल रही हैं तथा साधनों के अभाव में इन संस्थाओं का उचित ढंग से वांछित विकास संभव नहीं हो पाया है।

(6) **गैर-साख संस्थाओं का अभाव**—भारत में गैर-साख सहकारी संस्थाओं का तीव्रगति से विकास संभव नहीं हो पाया है क्योंकि कृषक की आय अस्थिर होने से वह इन संस्थाओं के विकास में योगदान नहीं दे पाता।

(7) **अकुशल प्रबंध व्यवस्था**—समितियों के प्रबंध के लिए प्रायः कुशल एवं योग्य व्यक्तियों का सर्वथा अभाव पाया जाता है। प्रायः प्रबंधक सदस्यों में से ही चुने जाते हैं, जिन्हें बैंकिंग कार्यों का ज्ञान नहीं होता।

(8) **अनुचित व्यवहार**—समितियों के अनुचित व्यवहारों की संख्या में तीव्र वृद्धि हो गई है क्योंकि ऋण प्रायः संचालकों को ही प्रदान किए जाते हैं जिनकी वसूली की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता तथा ऋण भी अपर्याप्त मात्रा में प्रदान किए जाते हैं।

(9) **सरकारी हस्तक्षेप**—अत्यधिक सरकारी हस्तक्षेप के कारण सहकारी संस्थाएं सफल नहीं हो पाई हैं, क्योंकि इनके संगठन में सरकारी अफसरों द्वारा अधिक हस्तक्षेप किया जाता है, जिससे जनता का सहयोग प्राप्त नहीं हो पाता और सहकारी संस्थाएं विकास नहीं कर पातीं।

(10) **असंतोषप्रद प्रगति**—सहकारिता का उद्देश्य कृषकों को सस्ती ब्याज पर अधिकतम ऋण प्रदान करना है, परन्तु 1904 में सहकारिता अधिनियम पारित होने के उपरांत भी ये संस्थाएं ग्रामीण साख की मांग को पूर्ण करने में

रु० है जिसमें से 3,921 करोड़ रु० ग्रामीण घरों पर, 3,448 करोड़ रु० कृषकों पर, 473 करोड रु० गैर-कृषकों पर, 186 करोड रु० कृषि श्रमिकों पर, 49 करोड़ रु० कलाकारों पर तथा 239 करोड रु० गैर-कृषकों पर हैं।[1]

ग्रामीण बैंक का विचार 1945 में गेडगिल समिति ने दिया था। वर्तमान स्वरूप की ग्रामीण बैंक का विचार सर मनीलाल बी० नानावटी ने दिया था और ऐसी बैंक ...दीनार (सौराष्ट्र) में कार्य भी कर चुकी है। इसी प्रकार की एक अन्य बैंक अलातुरु (आंध्र प्रदेश) में भी कार्य कर रही है। सरैया आयोग (Saraiya Commission) ने ग्रामीण बैंकों के बारे में यह सुझाव दिया था कि ग्रामीण बैंकों को बैंकिंग कार्यों के अतिरिक्त कुछ अन्य गैर-बैंकिंग कार्य भी करने चाहिए जैसे कि (i) स्वयं के गोदाम निर्माण कराना, (ii) एजेंट की भांति कार्य करना, (iii) कृषि उपकरणों को पट्टे पर देना, (iv) कृषि उपज विपणन में सहायता करना, (v) गांव के विकास में सहयोग देना।

इसी आधार पर सरकार ने देश में अभी 5 क्षेत्रीय बैंकों की स्थापना की है जो प्राथमिक संस्थाओं या कृषक सेवा संस्थाओं को वित्तीय सहायता देंगे। यह 1 करोड की जनसंख्या वाले क्षेत्र पर कार्य करेगी और इन्हें ब्याज दर में सहकारी संस्थाओं की भांति छूट मिलेगी तथा रिजर्व बैंक से तरलता अनुपात बनाए रखने में भी छूट मिलेगी। यह संस्था छोटे कृषकों, व कृषक श्रमिकों को सहायता प्रदान करेंगे। यह बैंक किसी राष्ट्रीयकृत बैंक या शीर्ष द्वारा सहायता प्राप्त करेगी जो मुख्य बैंक या प्रेरक बैंक कहलाएगी। यह बैंक अपनी शाखाएं भी खोलेगा। ग्रामीण क्षेत्रों की बैंकों में स्वर्ण की धरोहर पर ऋण दिया जाएगा। यह कार्य क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों द्वारा प्रारम्भ किया जाएगा। ऋण की सीमा अभी 10,000 रु० रखी गई है जिसे बाद में बढा दिया जाएगा।[2]

(ब) कृषि पुनर्वित्त निगम
(Agricultural Refinance Corporation)

गाडगिल समिति 1945 ने यह सुझाव दिया था कि देश के प्रत्येक प्रांत में कृषि साख निगम की स्थापना की जानी चाहिए, परंतु इस सुझाव का अन्य ग्रामीण समितियों द्वारा समर्थन न करने से इसे कार्य रूप में परिणत नहीं किया जा सका। परन्तु देश में सहकारी संस्थाओं एवं भूमि-बंधक बैंकों को आर्थिक सहायता देने के उद्देश्य से एक विशेष संस्था के निर्माण की आवश्यकता को अनुभव करते हुए 1 जुलाई, 1963 को कृषि पुनर्वित्त निगम की स्थापना की गई। इस निगम की अधिकृत पूंजी 25 करोड रुपए है जो 10-10 हजार रुपये के 25,000 अंशों में विभाजित है। निगम की निर्ग-मित पूंजी 5 करोड रुपये है। इस निगम को सरकार ने 5 करोड़ रुपये का ऋण प्रदान किया है जिसका भुगतान 15 वर्षों के बाद होगा और उस पर कोई ब्याज नहीं लिया जाएगा।

इस निगम ने मद्रास राज्य में ऋण प्रदान करने के लिए भूमि के मूल्यांकन के नवीन विचार को स्वीकार कर लिया है। निगम द्वारा सिंचाई कार्यों के लिए 3,000 रुपये का ऋण प्रदान किया जाता था, परंतु 3 एकड़ भूमि के स्वामी को 3500 रुपये से अधिक का ऋण प्राप्त नहीं होता था। गत वर्ष कृषकों को 14.5 करोड़ रुपये का ऋण दिया गया। इस वर्ष कृषकों को 24 करोड़ रुपए के ऋण दिए जाने की सम्भावना है। विश्व बैंक द्वारा विकास कार्यों के लिए तमिल-नाडु को 72 करोड रुपये प्रदान करने की योजना बनाई गई है।

कृषि पुनर्वित्त निगम के कार्यों में परिवर्तन करके लघु कृषकों को अधिक महत्त्व दिया जाएगा। 'लघु कृषक विकास एजेंसियों' द्वारा प्रारम्भ की गई योजनाओं को 100% पुनर्वित्त की सुविधाएं दी जाएगी, इनकी स्थापना विभिन्न राज्यों में की गई है। ऊंची फसल वाले क्षेत्रों में जहां सहकारी साख संस्थाएं असफल हो गई हैं, वहां व्यापारिक बैंकों द्वारा लघु कृषकों को अल्पकालीन ऋण की व्यवस्था की जाएगी।

इस निगम का प्रमुख कार्य सदस्यों द्वारा कृषि कार्य के ऋणों के लिए पुनर्वित्त की उचित व्यवस्था करना है। निगम द्वारा कम-से-कम 1 लाख रुपये की पुनर्वित्त व्यवस्था की जाती है। ये ऋण प्राय: 15 वर्ष के लिए दिए जाते हैं जिस पर 6% वार्षिक की दर से ब्याज लिया जाता है। निगम ने कृषि विकास के लिए लगभग 160 करोड़ रुपए

1. The Financial Express, Sept. 25, 1975.
2. Ibid, 23 & 28, 1975.

की स्वीकृति प्रदान की है।

(स) रिजर्व बैंक एवं कृषि साख
(Reserve Bank and Agricultural Credit)

देश में ग्रामीण साख का महत्व होने के कारण रिजर्व बैंक ने प्रारम्भ से ही कृषि साख विभाग की स्थापना कर दी थी जिसे निम्न कार्य सौंपे गए—

(1) कृषि साख के लिए रिजर्व बैंक, राज्य सरकारी बैंक एवं अन्य बैंकों में समन्वय स्थापित करना।

(2) कृषि समस्याओं के समाधान के लिए विशेषज्ञ कर्मचारियों का दल रखा जाएगा जो परामर्श देगा।

(3) ग्रामीण वित्त ऋणग्रस्तता व सहकारिता अधिनियमों का अध्ययन करके अपना मत प्रकट करेगा।

(4) कृषि साख से संबंधित केंद्रीय एवं राज्य सरकारों को तकनीकी सलाह देना।

(5) रिपोर्ट प्रकाशित करके कृषि अर्थ प्रबंधन पर प्रकाश डालना।

(6) केवल बैंकिंग का ही कार्य करने पर रिजर्व बैंक द्वारा बिलों की कटौती की सुविधाएं प्रदान करना।

(7) प्रांतीय सहकारी बैंकों को आर्थिक सहायता प्रदान करना, बशर्ते उन्होंने अपनी स्थायी व चालू जमा का $2\frac{1}{2}\%$ रिजर्व बैंक में जमा कर दिया हो।

(8) 1951 में अखिल भारतीय साख सर्वेक्षण समिति की सिफारिशों को केंद्रीय सरकार ने स्वीकार कर लिया।

कृषि साख संबंधी कार्य—रिजर्व बैंक राज्य सहकारी बैंकों के माध्यम से कृषि साख संबंधी निम्न कार्य करता है—

(1) रिजर्व बैंक राज्य सहकारी बैंकों के 15 माह की अवधि के कृषि बिलों की पुनः कटौती करता है।

(2) भूमि-बंधक बैंकों के ऋण-पत्रों को क्रय करके उन्हें कार्यशील पूंजी प्रदान की जाती है।

(3) गोदामों में रखी कृषि उपज की आड़ में भी ऋण दिए जाते हैं।

(4) यह 90 दिन का अल्पकालीन ऋण राज्य सहकारी बैंकों एवं भूमि-बंधक बैंकों की स्वीकृत प्रतिभूतियों पर देना।

(5) राज्य सरकारों को सहकारी साख संस्थाओं की अंश पूंजी के लिए दीर्घकालीन ऋण देता है।

रिजर्व बैंक के कोष

फरवरी, 1956 में मध्यकालीन व दीर्घकालीन ऋणों के लिए रिजर्व बैंक ने निम्न दो कोषों की स्थापना की है—

(1) **राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष**—इस कोष में प्रारंभ में 10 करोड़ रु० जमा किए व आगे 5 वर्षों तक 5 करोड़ रु० वार्षिक देने का निश्चय किया। कोष ने अपना कार्य 30 जून, 1956 से प्रारम्भ किया। कोष का प्रयोग निम्न कार्यों हेतु होगा—

(i) केंद्रीय भूमि-बंधक बैंकों के ऋण पत्रों पर राज्य सहकारी बैंक की गारंटी होने पर उन्हें क्रय करना।

(ii) राज्य सहकारी बैंकों को 15 माह से 5 वर्ष तक के लिए ऋण देना।

(iii) राज्य की सहकारी साख समितियों के अंश क्रय करने हेतु 20 वर्ष के लिए ऋण देना।

(iv) केंद्रीय भूमि-बंधक बैंकों को 20 साल तक के लिए दीर्घकालीन ऋण देना।

इस कोष के 143 करोड़ रु० जमा थे तथा प्रदत्त ऋण 57 करोड़ रु० था जिसमें से राज्य सरकारों को 32 रु० राज्य सहकारी बैंकों को करोड़ 15 करोड़ रु० व भूमि-बंधक बैंकों को 10 करोड़ रु० ऋण के रूप में दिए गए थे।

(2) **राष्ट्रीय कृषि साख (स्थायित्व) कोष**—इस कोष का निर्माण 30 जून, 1956 को किया गया। इस कोष का प्रयोग प्रांतीय सहकारी समितियों को ऋण देने में किया जाता है जो 15 माह से 5 वर्ष तक दिए जाते हैं। ये ऋण दो शर्तों पर दिए जाते हैं—

(i) राज्य सरकार इन ऋणों की गारंटी करें, (ii) ऋण लेने वाले प्रांतीय सहकारी बैंक इस कोष में से ली गई ऋण की राशि का प्रयोग विपत्रों के शोधन करने में करें।

इस कोष का उद्देश्य प्रांतीय सहकारी बैंकों को मध्यकालीन ऋण देना है। इस कोष में 33 करोड़ रु० जमा थे और इसमें से 6 करोड़ रु० के ऋण बकाया थे।

(द) स्टेट बैंक एवं ग्रामीण साख
(State Bank and Rural Credit)

ग्रामीण साख के क्षेत्र में स्टेट बैंक एवं अन्य सहायक बैंकों द्वारा दी गई सहायता को 4 वर्गों में रखा जा सकता है—

(i) विपणन एवं प्रक्रिया साख—स्टेट बैंक उत्पादन कार्यों में संलग्न सहकारी समितियों को प्रत्यक्ष ऋण प्रदान करता है।

(ii) लघु उद्योगों को वित्त—स्टेट बैंक व सहायक बैंक लघु व कुटीर उद्योगों को आर्थिक सहायता प्रदान करते हैं। इस संबंध में अग्रगामी योजना (Pilot Scheme) लघु उद्योग निगम एवं कृषि पुनर्वित्त निगम आदि की स्थापना की गई है।

(iii) सामान्य सहायता—धन भेजने की निःशुल्क सुविधा, सामान्य ब्याज से 1% कम ब्याज पर केंद्रीय सहकारी बैंकों को ऋण देना, सहकारी बैंकों के बैंक आदि रियायती दरों पर भुनाना आदि को इसमें सम्मिलित करते हैं।

(iv) माल गोदामों हेतु वित्त—स्टेट बैंक माल गोदाम निगम की अंश पूंजी में विनियोग करता है, माल गोदाम की रसीदों पर रियायती निगम की दर पर ऋण प्रदान करना, सरकारी गोदाम के स्थान पर नई शाखाएं खोलना आदि।

(इ) कृषि वित्त निगम
(Agricultural Finance Corporation)

बैंकों पर सामाजिक नियंत्रण लगाने के फलस्वरूप यह आशा की गई कि वे निर्यात, कृषि एवं उद्योगों के विकास के लिए पर्याप्त धन की व्यवस्था करेंगे। इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु 10 अप्रैल, 1968 को कृषि वित्त निगम की स्थापना की गई, जिसने अपना समस्त कार्य प्रारंभ कर दिया है। इस निगम की पूंजी 10 करोड़ रुपए है, जिसे व्यापारिक बैंकों द्वारा ही खरीदा गया है। निगम की प्रदत्त पूंजी 5 करोड़ रुपये है। यह निगम मुख्यतया कृषि विकास के लिए ही ऋण प्रदान करेगा।

वर्तमान समय में सहकारी एवं अन्य संस्थाओं के विकास करने एवं राष्ट्रीयकृत बैंकों का कृषि-वित्त में सहयोग देने में कृषि साख सुविधाओं में निरंतर वृद्धि होने की संभावना है। कृषि में विकास करने एवं कृषि समस्याओं के समाधान के लिए 'कृषि आयोग' के निर्माण पर विचार किया जा रहा है।

चार-सूत्री योजनाएं—अभी हाल ही में सरकार के अनेक प्रकार के विशिष्ट उपायों द्वारा कृषकों को प्राप्त होने वाली साख सुविधाओं के लिए बैंकों की सुविधाओं को प्रयोग करने की व्यवस्था की है। राष्ट्रीयकृत बैंकों से साख प्राप्त करने के उद्देश्य से एक चार-सूत्री कार्यक्रम का निर्धारण किया गया है। कृषकों को आसान शर्तों पर ऋण सुविधाएं प्रदान करने के लिए निम्न उपायों को अपनाया जाएगा—

(i) नवीन शाखाएं—सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों द्वारा दिसम्बर, 1970 तक गैर-बैंकिंग क्षेत्रों में 1,139 शाखाएं खोली जानी हैं।

(ii) दक्ष समुदाय—एक दक्ष समुदाय (Expert Group) की स्थापना की गई है जो बैंकों द्वारा कृषि साख संबंधी घटकों का अध्ययन करेंगे, विशेषकर ऋण सुविधाओं व भूमि सुधार संबंधी विद्यमान अधिनियमों को ध्यान में रखते हुए यह अध्ययन किया जाएगा।

(iii) चल कार्यालय—कुछ बैंकों ने चल कार्यालयों (Mobile Offices) की स्थापना, ग्रामीण स्वीकृत योजना एवं क्षेत्र का अध्ययन आदि का अनुभव किया।

(iv) आवश्यकताओं का अध्ययन—कृषकों की मांग को अध्ययन करने के उद्देश्य से क्षेत्रीय अधिकारियों की नियुक्ति की गई जो स्थान-स्थान का अध्ययन करते हैं।

इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक ने व्यापारिक बैंकों द्वारा जिलों में प्राथमिक कृषि संस्थाओं को वित्तीय सुविधाएं देने की योजना का निर्माण किया है, जहां केंद्रीय सहकारी बैंक प्रशासनिक एवं वित्तीय दृष्टि से कमजोर होने से प्राथमिक सहकारी संस्थाओं को वित्तीय सुविधाएं देने में असमर्थ हैं।

इस योजना को प्रारंभ में देश के 5 राज्यों—आंध्र प्रदेश, हरियाणा, मध्य प्रदेश, मैसूर एवं उत्तर प्रदेश में परीक्षण के रूप में प्रयोग किया जा रहा है। इन राज्यों के 50 चुने हुए जिलों में व्यापारिक बैंकों की शाखाएं लगभग 2000 प्राथमिक साख समितियों को, जो कि बैंक की शाखा से 16 व 24 किलोमीटर की दूरी पर स्थित हैं। वित्तीय सुविधाएं प्रदान करती हैं।

गैर-बैंकिंग क्षेत्रों को राष्ट्रीयकृत बैंकों को अग्रणी बैंक योजना (Lead Bank Scheme) के अंतर्गत सौंप दिया गया है, जिसमें जमा संभावनाएं एवं साख आवश्यकताओं संबंधी सर्वेक्षण किये जाएंगे। अखिल भारतीय ग्रामीण निरीक्षण समिति (All India Rural Credit Review Committee) की सिफारिशों के आधार पर एक लघु कृषक विकास एजेंसी का निर्माण किया गया है जो छोटे कृषकों की समस्याओं का अध्ययन करके उन्हें बैंकों एवं सहकारी समितियों से ऋण प्राप्ति में सहायता करेगा। इस संबंध में 46 प्रारंभिक योजनाएं (Pilot Projects) 1 से 2 हेक्टर वाली जोत के 40,000 से 50,000 कृषकों को सम्मिलित करेंगी।

इसके अतिरिक्त कृषि वित्त निगम (Agricultural Finance Corporation) ने 1969-70 के लिए 92.78 करोड़ रुपये की 142 योजनाएं स्वीकृत की हैं। इस प्रकार जून 30, 1970 तक कुल मिलाकर 259.51 करोड़ रुपये की 371 योजनाएं स्वीकृति की जा चुकी हैं।

भारत में 1951-52 व 1961-62 के मध्य ग्रामीण साख के साधनों को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

ग्रामीण साख के साधन

(प्रतिशत में)

साख संस्थाएं	1951-52	1961-62
1. सरकार	3.3	2.6
2. सहकारी संस्थाएं	3.1	15.5
3. रिश्तेदार	14.2	8.8
4. भूस्वामी	1.5	0.6
5. कृषक-साहूकार	24.9	36.0
6. व्यावसायिक साहूकार	44.8	13.2
7. व्यापारी एवं कमीशन एजेंट	5.5	8.8
8. व्यापारिक बैंक	0.9	0.6
9. अन्य	1.8	13.9
योग	100.0	100.0

देश की अर्थ-व्यवस्था में विभिन्न साधनों का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रहता है और सबकी सहायता से ही ग्रामीण साख के साधनों को सरलता से प्राप्त किया जा सकता है। इन संस्थाओं में सहकारी संस्थाओं व कृषक साहूकारों का महत्त्व काफी बढ़ गया है तथा व्यावसायिक साहूकार का महत्त्व घट गया है।

सरकार की स्वयं ग्रामीण क्षेत्रों के विकास की विशेष योजनाएं पिछड़े क्षेत्रों के विकास की ओर विशेष ध्यान नहीं दे रही हैं। उदाहरणार्थ 51 लघु कृषक विकास एजेंसी योजना (Small Farmers Development Agency Project) में से आधी विकसित राज्यों में खोली गयी। इसी प्रकार 153 जिलों को चार विशेष कार्यक्रमों हेतु चुना गया था जिसमें से 59 जिले आठ विकसित राज्यों के थे। चार विशेष ग्रामीण विकास योजनाएं हैं—(i) लघु कृषक विकास एजेंसी योजना, (ii) सीमांत कृषक एवं कृषि श्रमिक एजेंसी, (iii) ग्रामीण कार्य प्रोग्राम, (iv) योजना गहन ग्रामीण विकास योजना। इस प्रकार विकसित जिलों में से 46% व अविकसित जिलों का 37% इस योजना से लाभान्वित होंगे। 153 जिलों में से 47 जिलों को ही औद्योगिक विकसित जिलों से चुना गया। कृषि विकास हेतु देहली, गुड़गांव, बड़ौदा, विशाखापट्टनम व पूना जैसे विकसित जिलों को चुना गया है।[1] भविष्य में ग्रामीण साख के लिए अन्य संस्थाओं द्वारा भी सरल शर्तों पर ऋण प्राप्त होने की संभावनाएं हैं।

1. The Financial Express, July. 11, 1975.

42

भारत में औद्योगिक वित्त-व्यवस्था

(Industrial Finance in India)

प्रारम्भिक

अविकसित राष्ट्रों में औद्योगिक विकास की गति प्राय शिथिल होती है। इन राष्ट्रों में वृहत् पैमाने के उद्योगों का अभाव पाया जाता है, परंतु लघु उद्योग भी लाभकारी नहीं होते। प्राय. दीर्घकालीन पूंजी की सुविधाएं उपलब्ध न होने से वृहत् पैमाने पर उद्योगों की स्थापना करना संभव नहीं हो पाता। लघु उद्योगों की वित्तीय आवश्यकताएं सीमित एवं अल्पकालीन होती हैं, परंतु साख व धरोहर का अभाव पाया जाता है। देश के औद्योगिक विकास के आधार पर ही आर्थिक विकास निर्भर करता है। उद्योगों का विकास वित्त की उपलब्धता पर निर्भर करता है। सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों की वित्तीय व्यवस्था सरकार द्वारा की जाती है, परन्तु निजी क्षेत्र के उद्योगों के सम्मुख समस्याएं उदय हो जाती हैं। भारत में विभिन्न साधनों से प्राप्त होने वाली पूंजी की मात्रा अत्यंत सीमित है। देश में पूंजी बाजार के अविकसित अवस्था में होने से उद्योगों की दीर्घकालीन आवश्यकताओं को पूर्ण करना सम्भव नहीं हो पाता। देश में वित्तीय सुविधाओं के अभाव के कारण ही कुटीर एवं छोटे पैमाने के उद्योगों का विकास सम्भव नहीं हो सका है। देश के औद्योगिक विकास के लिए अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन वित्त की व्यवस्था होना आवश्यक है। इसके लिए देश में *अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन वित्त प्रदान करने वाली संस्थाओं की स्थापना करना आवश्यक होगा।*

औद्योगिक वित्त की आवश्यकता

श्रॉफ समिति के अनुसार उद्योगों को तीन प्रकार की पूंजी की आवश्यकता होती है। उद्योगों के विकास के लिए वित्त की आवश्यकता को निम्न प्रकार से विभाजित किया जा सकता है—

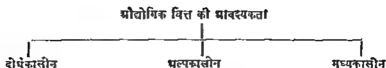
(1) दीर्घकालीन—उद्योगों को दीर्घकालीन अवधि के लिए ऋणों की आवश्यकता होती है, व भूमि, मकान, मशीन, खरीदने आदि के लिए उसे उपयोग किया जाता है। जो ऋण 10 वर्ष से अधिक की अवधि के लिए प्राप्त किए जाएं, उन्हें दीर्घकालीन ऋण में सम्मिलित करते हैं।

(2) अल्पकालीन—कच्चे माल का क्रय करने, निर्मित माल का विक्रय करने एवं उत्पत्ति के विभिन्न साधनों को पारिश्रमिक चुकाने के लिए अल्पकालीन पूंजी की आवश्यकता होती है। जो ऋण 1 वर्ष से कम की अवधि के लिए प्राप्त किए जाएं, उन्हें अल्पकालीन ऋणों में सम्मिलित करते हैं।

(3) मध्यकालीन—उद्योगों में कभी-कभी मशीन आदि के किसी भाग को बदलने एवं औद्योगिक विस्तार के लिए मध्यकालीन पूंजी की आवश्यकता होती है। जो ऋण 1 से 10 वर्ष की अवधि के लिए प्राप्त किए जाएं उसे मध्यकालीन ऋण में सम्मिलित करते हैं।

प्राय: 1 वर्ष तक लिए गए ऋणों को अल्पकालीन ऋण, 1 से 10 वर्ष तक की अवधि के लिए प्राप्त ऋणों को मध्यकालीन एवं 10 वर्ष से अधिक अवधि के लिए प्राप्त ऋणों को दीर्घकालीन ऋण के नाम से जानते हैं।

इसे निम्न चार्ट द्वारा दिखाया जा सकता है—



औद्योगिक वित्त के साधन
(Sources of Industrial Finance)

भारत मे औद्योगिक वित्त के प्रमुख स्रोत निम्नलिखित है—(i) जनता; (ii) विनियोजक संस्थाएं; (iii) देशी बैंकर एवं साहूकार, (iv) विदेशी पूजी; (v) प्रबन्ध अभिकर्ता; (vi) केंद्रीय एवं राज्य सरकार; (vii) औद्योगिक सहकारी समितिया; (viii) व्यापारिक बैंक; (ix) बीमा कंपनिया; एवं (x) वैधानिक वित्त निगम। औद्योगिक वित्त के साधनो को निम्न चार्ट द्वारा दिखाया जा सकता है—

औद्योगिक वित्त के साधन

- जनता
- विनियोजक संस्थाएं
  - विनियोग प्रन्यास
    - इकाई प्रन्यास
    - विनियोग प्रबध प्रन्यास
  - यूनिट ट्रस्ट ऑफ इंडिया
- देशी बैंकर एव साहूकार
- विदेशी पूजी
- प्रबध अभिकर्ता
- केंद्रीय एवं राज्य सरकार
- औद्योगिक सहकारी समितिया
- व्यापारिक बैंक
- बीमा कंपनिया
- वैधानिक वित्त निगम
  - औद्योगिक वित्त निगम
  - राज्य वित्त निगम
  - औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम
  - राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम
  - औद्योगिक विकास बैंक
  - राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम
  - राज्य लघु उद्योग निगम
  - औद्योगिक पुनर्वित्त निगम
  - यूनिट ट्रस्ट ऑफ इंडिया
  - जीवन बीमा निगम

(i) जनता
(Public)

जनता द्वारा अपनी बचत का विनियोजन सुरक्षित प्रतिभूतियों में किया जाता है। विनियोजन की मात्रा जनता की बचत करने की शक्ति एवं विनियोजन की सुविधाओं पर निर्भर करेगी। जनता प्रायः अंशों एवं ऋण-पत्रों में विनियोजन करना चाहती है। प्रत्येक व्यक्ति ऋण-पत्रों में ही विनियोग करना अधिक सुरक्षित समझता है क्योंकि अधिकांश ऋण-पत्रों पर सरकार की गारंटी होती है तथा उन पर निश्चित दर से ब्याज प्राप्त होता है। मई, 1943 में भारत रक्षा नियम 93-अ के अंतर्गत पूंजी निर्गमन नियंत्रण आदेश के अंतर्गत पूंजी को उपयुक्त क्षेत्रों में विनियोजित करने को प्रोत्साहित किया गया। युद्ध के पश्चात् भी इसे लागू करके स्थायी रूप दे दिया गया। 1951 में प्रथम पंचवर्षीय योजना का निर्माण किया गया और उसके उपरान्त कंपनियों ने अपार मात्रा में पूंजी का निर्गमन किया। योजनाकाल में भारतीय कंपनियों द्वारा कुल 1400 करोड़ रुपये की नवीन पूंजी विनियोजित की गयी। पूंजी बाजार में ब्याज दर में वृद्धि होने एवं सरकार द्वारा प्रतिवर्ष ऋण लेने से विनियोग पर प्रभाव पड़ा है, फिर भी जनता की बचत का एक महत्त्वपूर्ण अंश नियमित रूप से निजी क्षेत्र में विनियोग किया जाता है।

(ii) विनियोजक संस्थाएं
(Invetment Trusts)

विनियोग प्रन्यासों द्वारा विनियोगों की मात्रा में अपार वृद्धि की जाती है, जो निजी बचतों को विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतियों में विनियोजित करते हैं। इन संस्थाओं के द्वारा जनता की बचत को गतिशील बनाकर आवश्यक प्रतिभूतियों में विनियोजित कर दिया जाता है। विनियोग संस्थाओं में विनियोग प्रन्यास एवं यूनिट ट्रस्ट ऑफ इंडिया को सम्मिलित करते हैं।

(क) विनियोग प्रन्यास

विनियोग प्रन्यास विनियोजक की छोटी-से-छोटी राशि को अनेक ढंग से विनियोग करने की सुविधाएं प्रदान करते हैं तथा विनियोजकों को समस्त आवश्यक प्रतिभूतियों संबंधी सूचनाएं प्रदान करते हैं। इन प्रन्यासों द्वारा प्रायः वे ही प्रतिभूतियां क्रय की जाती हैं जो लाभप्रद एवं पूर्ण रूप से सुरक्षित हों। भारत में सर्वप्रथम विनियोग प्रन्यास की स्थापना 1869 में हुई थी।

भेद—विनियोग प्रन्यास दो प्रकार के होते हैं—

(अ) इकाई प्रन्यास (Unit Trusts)—ये प्रन्यास एक निश्चित अनुपात में अंश एवं ऋण-पत्रों को क्रय करते हैं तथा उसके समान विभाग बनाकर, उन्हें एक इकाई में विभाजित करके उनके स्वत्वाधिकार को जनता को बेच देते हैं। इनकी प्रबंध व्यवस्था एक निश्चित प्रतिफल के बदले प्रबंधक कंपनी द्वारा की जाती है तथा प्राप्त लाभ को इकाईधारियों में विभाजित कर दिया जाता है।

(ब) विनियोग प्रबंध प्रन्यास (Management Investment Trusts)—ये प्रन्यास सामान्य संयुक्त स्कंध प्रमंडल की भांति होते हैं जो साधारण एवं पूर्वाधिकार अंश बेचकर अपनी पूंजी प्राप्त करते हैं तथा उस पूंजी का उपयोग अन्य संस्थाओं के ऋण-पत्रों को क्रय करने में करते हैं तथा उनसे प्राप्त लाभों को एक निश्चित अनुपात में अपने अंशधारियों में विभाजित कर देते हैं। इस प्रकार ऋण-पत्रों का प्रबंध सम्बंधी कार्य इनके द्वारा किया जाता है।

(ख) यूनिट ट्रस्ट ऑफ इंडिया
(Unit Trust of India)

भारत में सामान्य विनियोजकों को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से 1 फरवरी, 1964 को यूनिट ट्रस्ट ऑफ इंडिया की स्थापना की गई जिसने 10-10 रुपये की इकाइयां बेचनी प्रारंभ की हैं। इसकी प्रारंभिक पूंजी 5 करोड़

रुपये है जिसमे से 2.5 करोड़ रुपये रिजर्व बैंक, 75 लाख रुपये जीवन बीमा निगम, 1 करोड़ रुपये व्यापारिक बैंकों एवं अन्य संस्थाओं एवं 75 लाख रुपये स्टेट बैंक एवं उसके सहायक बैंको ने लगाए हैं। इकाई प्रन्यास के समस्त आर्थिक साधन 46 करोड़ रुपये हैं। इस ट्रस्ट ने अपना धन अंशों, ऋण-पत्रों, सरकारी बैंको एवं कोषागार बिपत्रों आदि में विनियोग किया है। यूनिट ट्रस्ट ने देश के विभिन्न उद्योगों मे पूंजी का विनियोजन किया है। इस प्रकार उद्योगों को आवश्यकता के समय पर्याप्त मात्रा मे पूंजी उपलब्ध हो जाती हैं। इस ट्रस्ट ने 1972 तक 105 करोड़ रुपये की शुद्ध राशि बेची। पूंजी तथा विभिन्न प्रकार के कोष मिलाकर प्रन्यास के कुल साधन 110 करोड़ रुपये हैं। इसमे से 105 करोड़ रुपये से उद्योगों के अंश व ऋण-पत्र खरीदे गए हैं। कुल विनियोजित राशि मे 53 करोड़ रु० की अंश पूंजी तथा 41 करोड़ रु० के ऋण-पत्र सम्मिलित हैं। प्रन्यास के कुल विनियोग का 70% भाग उद्योगो मे लगा हुआ है।

लाभ—यूनिट ट्रस्ट से प्राप्त होने वाले लाभो को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(1) छोटी इकाई—प्रत्येक इकाई केवल 10 रुपये की होती है जिसे कोई भी छोटे से छोटा विनियोक्ता सरलता से क्रय कर सकता है। इसमे यूनिट खरीदने की कोई अधिकतम सीमा निर्धारित नही की गई है और वह कितनी ही मात्रा तक इन इकाइयों को क्रय कर सकता है।

(2) हस्तातरण की सुविधा—धन की आवश्यकता पड़ने पर कोई भी इकाई धारी अपनी इकाइयो को बैंक को हस्तांतरित करके आवश्यक धनराशि प्राप्त कर सकता है।

(3) प्रशासन व्यय—इस संस्था के प्रशासन पर 5% से अधिक धनराशि व्यय नही की जा सकती तथा प्राप्त आय का कम से कम 90% भाग क्रेता को अवश्य दिया जाता है।

(4) कर-मुक्त आय—इन इकाइयो से प्राप्त होने वाली 1000 रुपये तक की आय कर-मुक्त होती है जिस पर अधि-कर नही लगता।

(5) खरीदने की सुविधा—इन इकाइयो को घर के सदस्य मिलकर पृथक् या संयुक्त रूप से क्रय कर सकते हैं। अवयस्कों के लिए इन्हें संरक्षकों द्वारा क्रय किया जा सकता है।

(6) प्राप्ति स्थान—ये इकाइयां स्टेट बैंक एवं अन्य प्रमुख व्यापारिक बैंकों से सरलता से प्राप्त की जा सकती हैं।

(7) सरल एवं सुविधाजनक—यूनिट खरीदने के लिए आवेदन-पत्र भरना होगा तथा अपनी इच्छानुसार इकाइयों को क्रय किया जा सकेगा। इस प्रकार इकाइयां खरीदना सरल एवं सुविधाजनक है।

(8) भाव जानने में सुविधा—सरकार द्वारा यूनिट के क्रय एवं विक्रय करने के भावों की सूचना अखबारों एवं रेडियो द्वारा दी जाती है जिससे उन्ही निश्चित दरों पर इन्हे खरीदा जा सकता है।

(9) लाभ की मात्रा—इसमे प्रत्येक यूनिट क्रेता को कम से कम 6% लाभ प्राप्त होने की गारंटी दी जाती है।

(10) बिक्री की सुविधा—अपना धन वापिस लेने के लिए खरीदार अपनी इकाइयो को पुनः ट्रस्ट को ही बेच सकता है। परन्तु यह उसी दर पर लिए जाएगे जो दर बिक्री की तिथि को प्रचलित होगी। इसमे लाभ एवं हानि के लिए विक्रेता को ही जिम्मेदार ठहराया जाता है तथा सरकार इसके लिए जिम्मेदार नही मानी जाती। इस प्रकार प्रत्येक छोटा विनियोक्ता अपनी छोटी बचत का अच्छा उपयोग कर सकता है।

(iii) देशी बैंकर एवं साहूकार
(Indigenous Bankers and Money Lenders)

भारत मे ग्रामीण क्षेत्रों के छोटे एवं मध्यम श्रेणी के व्यक्ति अपने व्यवसाय एवं कारखानों के लिए देशी बैंकर एवं साहूकारों से ही ऋण प्राप्त करते हैं। रिजर्व बैंक द्वारा संचालित साख गारंटी योजना के अतर्गत व्यापारिक बैंको द्वारा लघु उद्योगों को वित्त व्यवस्था की गई है, फिर भी वे समस्त आवश्यकता की पूर्ति करने मे असमर्थ होने से देशी बैंकर के महत्त्व को भुलाया नही जा सकता। प्रायः ऋण लेने वाला व्यक्ति जमानत नही दे पाता तथा बैंक-ऋणों

की क्रियाओं से अभ्यस्त न होने के कारण वह बैंकों से ऋण प्राप्त करने में उदासीन रहता है। अतः ऋण प्राप्त करने में देशी बैंकर एवं साहूकारों की सहायता ही प्राप्त की जाती है। इनकी सरलता के कारण अधिक ब्याज पर भी सरलता से ऋण ले लिए जाते हैं। इन लोगों द्वारा दिए गए ऋणों की मात्रा लगभग 100 करोड़ रुपये से भी अधिक मानी गई है। इस प्रकार वर्तमान अर्थव्यवस्था में देशी बैंकर एवं साहूकारों के महत्त्व को कम नहीं किया जा सकता। ग्रामीण क्षेत्रों में छोटे एवं मध्यवर्गीय कारोबार के लिए ऋण अधिकांशतया देशी बैंकर से ही प्राप्त किए जाते हैं। लघु उद्योगों की 90% पूंजी व्यक्तिगत साधनों से प्राप्त की जाती है तथा 10% पूंजी की व्यवस्था बैंक तथा सरकार करते हैं। भारत में बुनकर, लोहार, चमार, तेली व छोटे कारीगर आज भी साहूकार से ही धन की व्यवस्था करते हैं।

(iv) विदेशी पूंजी
(Foreign Capital)

भारतीय योजनाओं की सफलता एवं औद्योगिक विकास के लिए विदेशी पूंजी की सहायता पर निर्भर रहना आवश्यक होगा। द्वितीय योजना मुख्यतया उद्योग प्रधान होने से विदेशी पूंजी पर पूर्ण रूप से निर्भर रहा गया क्योंकि देश में पर्याप्त मात्रा में पूंजी का प्रबंध नहीं हो सका था। देश में विदेशी मुद्रा का संकट आने पर भी विदेशी पूंजी की आवश्यकता को अनुभव किया गया। तृतीय योजना में विदेशी सहायता की राशि में वृद्धि हुई। भारत में विदेशी पूंजी की सहायता से अनेक औद्योगिक संस्थान चल रहे हैं। देश में ब्रिटेन, अमेरिका, रूस, जापान, फ्रांस, इटली आदि राष्ट्रों से विदेशी पूंजी आयात की गई है। विश्व में विदेशी विनियोग की मात्रा 7 बड़े औद्योगिक राष्ट्रों द्वारा 1200 करोड़ रु० से प्रारंभ होकर 50,200 करोड़ रु० तक है। भारत में कुल विदेशी पूंजी व विनियोग की मात्रा 1967 में 1,137 करोड़ रु० से बढ़कर 1974 में 6,824 करोड़ रु० हो गयी। आंतरिक एवं बाह्य ऋण दोनों मिलाकर भारत सरकार का दायित्व 24,826 करोड़ रु० हो गया।

(v) प्रबंध अभिकर्त्ता
(Managing Agents)

भारत में बड़े पैमाने के उद्योगों के विकास में प्रबंध अभिकर्त्ताओं ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। प्रबंध अभिकर्त्ता ने प्रवर्तक के रूप में देश में अनेक नवीन कारखानों की स्थापना की, पूंजी की समुचित व्यवस्था करके, प्रबंध कार्य में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। प्रबंध अभिकर्त्ता पूंजी का अभिगोपन करते हैं तथा न्यूनतम राशि प्राप्त न होने पर कंपनियों के अंशों एवं ऋण-पत्रों को स्वयं ही क्रय कर लेते हैं। जनता से प्रत्यक्ष रूप से निक्षेप भी प्राप्त किए जाते हैं। भारतीय कंपनियों में उद्योगों के लिए पूंजी प्राप्त करने में इनका योगदान सदैव से ही महत्त्वपूर्ण रहा है। डॉ० बसु का अनुमान था कि 1,720 कंपनियों की 215 करोड़ रु० की पूंजी में से 30 करोड़ रुपये (14%) प्रबंध अभिकर्त्ताओं द्वारा क्रय की गयी थी। इस प्रकार प्रबंध अभिकर्त्ता पूंजी प्रदान करने का एक अच्छा स्रोत रहे हैं। प्रारंभ में प्रबंध अभिकर्त्ता कंपनी के अंतर्विनियोग में धन लगाए जाते थे, इस दोष को कंपनी अधिनियम 1956 ने दूर कर दिया। नवीन अधिनियम के अंतर्गत कोई भी व्यक्ति या संस्था एकसाथ 10 से अधिक कंपनियों का प्रबंध अभिकर्त्ता नहीं बन सकता तथा पारिश्रमिक के रूप में लाभ के 11% से अधिक राशि प्राप्त नहीं कर सकता। नवीन कंपनियों में प्रबंध अभिकर्त्ताओं की नियुक्ति पर प्रतिबंध लगाए गए थे। इनकी नियुक्ति पर सरकार से अनुमति लेना आवश्यक कर दिया गया। प्रबंध अभिकर्त्ता देश के उद्योगों के विकास के लिए आवश्यक अंग माने गए थे। परंतु प्रबंध अभिकर्त्ता के अवांछनीय व्यवहारों के कारण इनकी प्रणाली अलोकप्रिय बन गई। यह कंपनी से लाभ के रूप में बहुत अधिक धन प्राप्त करते थे तथा संस्था के हित के स्थान पर अपने हितों को अधिक ध्यान देते थे। औद्योगिक संस्थाएं निजी वित्त-साधनों का कभी भी विकास न कर सकीं। कंपनी के कोषों का प्रयोग अपने निजी लाभ के लिए किया जाता रहा। प्रबंध अभिकर्त्ता की कटु आलोचना एवं दोष को ध्यान में रखते हुए 1969 में संसद में विधेयक बिल पास करके यह निश्चित किया गया कि उद्योगों से प्रबंध अभिकर्त्ता प्रणाली को 3 अप्रैल, 1970 से समाप्त कर दिया गया है।

प्रबंध एवं दीर्घकालीन ऋण देने से व्यवस्था बिगड़ जाती थी। परंतु देश के व्यापारिक बैंकों ने उद्योगों के विकास के लिए अल्पकालीन साख को व्यवस्था की जो चल संपत्ति की जमानत पर दी जाती है। ब्रिटिश बैंकों की भांति ये बैंक भी अल्पकालीन ऋण प्रदान करते हैं क्योंकि इनमें जोखिम उठाने का साहस नहीं होता तथा उद्योगों की संपत्ति का उचित मूल्यांकन करना संभव नहीं हो पाता। परंतु कभी-कभी इन बैंकों द्वारा मध्यकालीन एवं दीर्घकालीन ऋण भी प्रदान किए जाते हैं। इन बैंकों ने कंपनियों के अंशों व ऋण-पत्रों को खरीदा है। बैंक द्वारा विभिन्न निगमों में भी धन का विनियोजन किया जाता है। भारतीय बैंक अधिकांशतया अल्पकालीन ऋण प्रदान करते हैं तब ये मध्यकालीन व दीर्घकालीन ऋण देने बचना चाहते हैं।

इंग्लैंड तथा अमेरिका जैसे देशों में बैंकों द्वारा अवधि ऋण प्रदान किए जाते हैं। इंग्लैंड में जहां पर बैंक व्यवस्था का विकास सुरक्षावादी सिद्धांतों पर हुआ है वहां पर साख ऋण देने की प्रथा प्रचलित है। यह ऋण उद्योगों एवं व्यापारिक संस्थाओं को सभी अवधि के लिए दिए जाते हैं। अमेरिका के बैंक उद्योगों को मध्यकालीन ऋण 1 से 8 वर्ष तक के लिए दे रहे हैं। वर्तमान समय में न्यूयार्क एवं अन्य बड़े नगरों में औद्योगिक ऋणों का 50 प्रतिशत दिया जाता है। भारत में बैंकों द्वारा माध्यम या दीर्घकालीन ऋणों का सदैव विरोध किया जाता रहा है।

दीर्घकालीन ऋण न देने के कारण—व्यापारिक बैंकों द्वारा मध्यकालीन एवं दीर्घकालीन ऋण न देने के प्रमुख कारण निम्न हैं—

(1) **मांग पर देय**—बैंकों के जमा अधिकांशतया मांग पर देय होते हैं तथा दायित्व भी अल्पकालीन होते हैं, अतः दीर्घकालीन ऋण देना सदैव जोखिमपूर्ण होता है।

(2) **अनुभवी कर्मचारियों का अभाव**—बैंकों के पास योग्य एवं अनुभवी कर्मचारियों का अभाव होने से दीर्घकालीन ऋणों की व्यवस्था करना संभव नहीं रहता।

(3) **सिंडीकेट का अभाव**—विदेशों में जोखिम को बांटने के लिए सिंडीकेट बनाए गए हैं, परंतु भारत में ऐसी संस्थाओं के अभाव के कारण दीर्घकालीन ऋण प्रदान करना संभव नहीं हो पाता।

(4) **ऊंचे ऋण-निक्षेप अनुपात**—भारत में ऋण-निक्षेप अनुपात बहुत ऊंचे हैं, और यदि दीर्घकालीन ऋण प्रदान किए गए तो कोषों की तरलता में कमी हो जाएगी।

(5) **सीमित साधन**—बैंकों के साधन अत्यंत सीमित होने से वे बढ़ती हुई मांग को पूर्ण करने में असमर्थ रहते हैं तथा दीर्घकालीन ऋण देना संभव नहीं होता।

(6) **संपर्क का अभाव**—बैंकों एवं उद्योगों के मध्य निकट संपर्क के अभाव के कारण उद्योगों की जानकारी प्राप्त नहीं हो पाती और वे उद्योगों को दीर्घकालीन ऋण देने में असमर्थ रहते हैं।

(7) **सट्टे में भाग लेना**—भारतीय बैंकों ने सट्टे के कार्य में अनेक भाग लिया, जिससे इनका अधिकांश धन सट्टे में लगे रहने के कारण वे उद्योगों को दीर्घकालीन ऋण देने में असमर्थ रहते हैं।

विदेशों में अवधि ऋण दिए जाते हैं, परंतु भारत में भिन्न परिस्थिति होने से अवधि ऋण प्रदान करना संभव नहीं हो पाता।

उद्योगों की बढ़ती हुई मांग को ध्यान में रखते हुए रिजर्व बैंक ने रामानुजम की अध्यक्षता में वित्त विशेषज्ञ समिति की नियुक्ति की जिसने अपनी रिपोर्ट 1961 में प्रस्तुत की। समिति का मत था कि अवधि ऋण प्रत्येक बैंक द्वारा नहीं दिया जा सकता।

अवधि ऋण का मापदंड

वित्त विशेष समिति ने अवधि ऋण के लिए निम्न मापदंड बताए—

(1) **उचित जमानत**—दीर्घकालीन ऋणों के लिए जमानत की राशि का निर्धारण करना उचित रहता है। इस प्रकार के ऋणों के लिए औद्योगिक संपत्तियों को जमानत के रूप में प्रयोग करना चाहिए।

(2) **योजना की लागत का अनुमान**—दीर्घकालीन अवधि ऋण देने से पूर्व योजना की लागत का अनुमान

करके उसके कार्यान्वयन की सम्भावना को ज्ञात करना चाहिए। इस संबंध में योजना की आय को ज्ञात करके उसकी भुगतान करने की क्षमता का पता लगाना चाहिए।

(3) पर्याप्त प्राविधिक जानकारी—यद्यपि ऋण स्वीकृत करने के पूर्व उसकी स्थिति, भूमि, कच्ची सामग्री, आवागमन सुविधाओं आदि का अध्ययन करना आवश्यक है। विदेशी माल मंगाने पर विदेशी विनिमय एवं प्राविधिक ज्ञान वाले प्रशिक्षित कर्मचारी का अध्ययन करना आवश्यक है।

(4) प्रबंध व्यवस्था—औद्योगिक इकाई की सफलता कुशल प्रबंध व्यवस्था पर निर्भर करती है। यदि उच्च कोटि का प्रबंध नहीं है तो ऋण वसूल करना कठिन होगा अन्यथा नहीं।

(5) अर्जन शक्ति—ऋणी की अर्जन शक्ति का अनुमान लगाकर उसकी माग का अनुमान लगाना चाहिए। रुचि एवं आय पर पड़ने वाले प्रभावों का भी अध्ययन करना चाहिए।

(6) पूंजी व ऋण में संतुलन—ऋण लेने वाली संस्था की पूंजी एवं ऋण में उचित संतुलन बनाए रखना चाहिए। यदि ऋण पहले से ही अधिक है तो और ऋण देना न्यायसंगत नहीं होगा।

व्यापारिक बैंक भी उद्योगों के लिए ऋण प्रदान करने लगे हैं जिसे निम्न प्रकार से रखा जा सकता है—

बैंकों द्वारा दिए गए ऋण

	1956	1961	1969
कुल ऋण	770	1305	2718
उद्योगों को ऋण	285	665	1770
प्रतिशत	37	51	65

उद्योगों को दिए गए ऋण का प्रतिशत 1956 में 37 प्रतिशत से बढ़कर 65 प्रतिशत हो गया है।

गत वर्षों में सरकार एवं रिजर्व बैंकों द्वारा लघु उद्योगों को ऋण देने की ओर प्रोत्साहित किया जा रहा है। बैंकों द्वारा वृहत् एवं लघु दोनों प्रकार के विकास के लिए ऋण प्रदान किए जाते हैं। रिजर्व बैंक द्वारा लघु उद्योगों को बैंकों द्वारा ऋण देने की गारंटी दी जाती है। सरकार ने साख गारंटी योजना को अधिक उदार बनाकर ऋण की मात्रा में अधिकाधिक वृद्धि की है। जमा बीमा निगम की स्थापना से लघु जमाकर्त्ताओं के हित सुरक्षित होने से उद्योगों को ऋण देना सरल हो गया है। लघु उद्योगों को ऋण देने में स्टेट बैंक ऑफ इंडिया ने उल्लेखनीय प्रगति की है। इसी प्रकार जुलाई 1960 से सरकार ने साख गारंटी योजना प्रारंभ की जिसमें लघु उद्योगों की कार्यशील पूंजी के लिए ऋणों की गारंटी दी जाती है, जिससे हानियों से सुरक्षा बनी रहती है। इस योजना का लाभ बैंक, राज्य सहकारी बैंक एवं वित्त निगम उठा रहे हैं। कृषि ऋणों में कमी हुई है, परंतु सहकारी बैंकों ने इस कमी को पूर्ण किया है।

नवीन परिवर्तन

1 फरवरी, 1970 से साख गारंटी योजना को अधिक उदार बना दिया गया है और इसमें निम्नलिखित नवीन परिवर्तन किए गए हैं—

(1) गारंटी की अधिकतम सीमा 2 लाख रु० से बढ़ाकर 7.5 लाख रुपए कर दी गई है व 2.5 लाख रु० सावधि ऋण के रूप में दिए जा सकते हैं। इस प्रकार कुल 10 लाख रुपये उधार दिए जा सकते हैं।

(2) निर्यात करने वाले लघु उद्योगों को भी ऋण दिया जा सकता है। इस योजना से साख-पत्र, स्वीकृति साख आदि के लाभ उठाए जा सकते हैं।

(3) रिजर्व बैंक ऋण की राशि के 75% तक गारंटी करेगा व 25% ऋण देने वाले बैंक को ही वहन करना होगा।

(ix) बीमा कंपनिया
(*Insurance Companies*)

बीमा कंपनिया एवं जीवन बीमा निगम उद्योगो के अंशों एवं ऋण-पत्रो को खरीदकर उद्योगो को वित्त प्रदान करते हैं। ये कंपनिया अंशों के अभिगोपन का कार्य भी करती हैं। जीवन बीमा निगम की स्थापना से उद्योगो के अर्थ-प्रबन्धन मे वृद्धि हो गई है। जीवन बीमा निगम प्राय दीर्घकालीन ऋण प्रदान करता है। निगम का विनियोजन अंशो एव ऋण-पत्रो के रूप मे होता है। *जीवन बीमा निगम के कुल वित्तीय साधन 3000 करोड रुपए से भी अधिक हैं* इसका अधिकांश भाग विभिन्न क्षेत्रो मे विनियोजित कर दिया गया है। निगम का कुल विनियोग का 70% भाग सरकारी प्रतिभूतियो मे विनियोजित है तथा 20% भाग निजी क्षेत्र के उद्योगों मे विनियोजित है। निगम नवीन अंशों के अभिगोपन का कार्य करता है। परन्तु बीमा कंपनियों के विनियोग पर कठोर प्रतिबंध होने से इनके साधनो का एक बड़ा भाग सरकारी प्रतिभूतियो मे विनियोजित करना आवश्यक होता है, जिससे उद्योगो के अंशों एव ऋण-पत्रो मे बहुत कम विनियोग सम्भव हो सकेगा।

(x) वैधानिक वित्त निगम
(Statutory Financial Institutions)

स्वतंत्रता के पश्चात् भारत मे सरकार द्वारा अनेक संस्थाओं की स्थापना की गई है जो उद्योगों को वित्तीय व्यवस्था प्रदान करती है। इन संस्थाओं का वर्णन निम्न प्रकार है—

(1) औद्योगिक वित्त निगम
(Industrial Finance Corporation)

उद्योगों को दीर्घकालीन आर्थिक सहायता प्रदान करने के उद्देश्य से औद्योगिक वित्त निगम का निर्माण किया गया। इसका वर्णन निम्न प्रकार है—

I. स्थापना—भारत मे औद्योगिक वित्त निगम की स्थापना औद्योगिक वित्त निगम अधिनियम 1948 के अतर्गत की गई। इसकी स्थापना 1 जुलाई, 1948 को हुई। यह एक केंद्रीय इकाई है और किसी भी राज्य मे स्थापित औद्योगिक संस्था द्वारा ऋण प्राप्त किया जा सकता है। सार्वजनिक कंपनिया एव सहकारी संस्थाएं निगम से ऋण प्राप्त कर सकती हैं। निगम का उद्देश्य उद्योगो के लिए मध्यकालीन एवं दीर्घकालीन पूंजी की व्यवस्था करना है। निगम एक केंद्रीय संस्था है जिससे किसी भी राज्य में स्थापित औद्योगिक इकाई ऋण प्राप्त कर सकती है।

II. पूंजी व्यवस्था—निगम की अधिकृत पूंजी 10 करोड रुपये है जो 5-5 हजार रुपये के 20,000 अंशों मे विभाजित है। इसकी प्रदत्त पूंजी 9 करोड़ रुपये से अधिक है। यह पूंजी सरकार रिजर्व बैंक, अनुसूचित बैंक, सहकारी बैंकों एवं बीमा कंपनियो द्वारा क्रय की गई। मार्च 1962 मे निगम ने 4,000 नए अंश 5,000 रु० मूल्य के निर्गमित *किए। इसके पश्चात् 2,692 अंश और निर्गमित किए गए।* वर्तमान समय मे पूंजी का वितरण निम्न वर्गों मे है—

सहकारी बैंक	8%
अनुसूचित बैंक	20%
बीमा संस्थाएं	22%
औद्योगिक विकास बैंक	50%
योग	100%

पूंजी पर अधिक लाभ न होने की आशंका से सरकार ने पूंजी के भुगतान तथा 2½% वार्षिक लाभांश की

घोषणा की। 1948 के पश्चात् मुद्रा बाजार में ब्याज की दरों में वृद्धि होने से मार्च 1962 के पश्चात् निर्गमित किए गए अंशों पर सरकार ने 4% लाभांश की गारंटी दी है। लाभांश की अधिकतम दर 5% निश्चित की गई है जो सरकार का ऋण वापस करने एवं प्रदत्त पूंजी के बराबर कोष हो जाने पर ही घोषित किया जा सकता है। सरकार ने अंशों को कभी भी खरीदने के अधिकार को सुरक्षित रखा है। निगम को ऋण-पत्र निर्गमित करने का अधिकार है। वित्तीय साधनों की पूर्ति के लिए खुले बाजार से ऋण लिए जा सकते हैं। यह निगम केंद्रीय सरकार की अनुमति से विश्व बैंक से भी विदेशी मुद्रा में ऋण प्राप्त कर सकता है। यह जनता से 5 वर्ष की अवधि के लिए 10 करोड़ रुपये तक जमा प्राप्त कर सकता है। निगम को प्रारंभ में अपनी चुकता पूंजी एवं कोष के 5 गुने तक ऋण प्राप्त करने की अनुमति थी जिसे बाद में बढ़ाकर 10 गुना कर दिया गया। निगम के वित्तीय साधन 21 करोड़ रुपए से भी अधिक हैं।

III. प्रबंध व्यवस्था—निगम का प्रबंध संचालक मंडल द्वारा किया जाता है जिसमें सरकार द्वारा नियुक्त अवैतनिक अध्यक्ष एवं 12 संचालक होते थे, परंतु बाद में कृपलानी समिति की सिफारिशों पर सरकार ने अध्यक्ष का पद वैतनिक तथा संचालकों की संख्या 13 कर दी। इनमें से 4 संचालक औद्योगिक विकास बैंक, 2 संचालक सहकारी बैंकों, 2 संचालक अनुसूचित बैंकों, 2 संचालक केंद्रीय सरकार, 2 संचालक अन्य वित्तीय संस्थाओं द्वारा नियुक्त किए जाते हैं। इस मंडल की सहायता के लिए एक केंद्रीय समिति की स्थापना की गई है जिसमें अध्यक्ष एवं 4 संचालक होते हैं। यह केंद्रीय समिति किसी भी कार्य को करने की सक्षम है तथा निगम के समस्त अधिकारों का प्रयोग किया जा सकता है। इस प्रकार दैनिक कार्यों के संचालन के लिए केंद्रीय समिति कार्य करती है जिसमें 2 सदस्य चुने हुए संचालकों से लिए जाते हैं तथा 2 संचालक मनोनीत संचालकों में से चुने जाते हैं। इसके अतिरिक्त निगम की 5 विशेष परामर्श समितियां होती हैं, जिनमें 41 सदस्य होते हैं। ये परामर्श समितियां रसायन, वस्त्र, शक्कर, इंजीनियरिंग एवं विविध उद्योगों के लिए स्थापित की गई हैं। इन समितियों में संबंधित क्षेत्रों के विशेषज्ञों को सदस्य बनाया जाता है। उद्योगों को ऋण देने से पूर्व संबंधित समिति से आवश्यक परामर्श प्राप्त कर लिया जाता है। निगम का प्रधान कार्यालय दिल्ली में है, तथा सहायक कार्यालय कलकत्ता, बम्बई एवं मद्रास में हैं।

IV. निगम के कार्य—औद्योगिक वित्त निगम के कार्यों को निम्न तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—(अ) गारंटी करना, (ब) ऋण प्रदान करना, एवं (स) अभिगोपन करना।

(अ) गारंटी करना—गारंटी के संबंध में निगम निम्न कार्य करता है—

(i) ऋण की गारंटी देना—निगम को यह अधिकार है कि वह उद्योगों द्वारा खुले बाजार से प्राप्त किए जाने वाले ऋणों की गारंटी दे। ये ऋण 25 वर्षीय अवधि के लिए प्राप्त किए जाते हैं। ऋण के लिए प्रार्थनापत्र निगम के बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, नई देहली, अहमदाबाद आदि कार्यालय में दिए जा सकते हैं। प्रार्थना पत्रों में ऋण की मात्रा, प्रयोग की योजना, लाभ-हानि विवरण एवं संपत्ति विवरण भेजना होता है। कार्यालय जांच के बाद उसे अपनी सिफारिश के साथ केंद्रीय कार्यालय देहली भेजकर उसकी स्वीकृति प्राप्त करता है।

(ii) ऋण-पत्रों की गारंटी—निगम उद्योगों द्वारा निर्गमित किए जाने वाले ऋण-पत्रों का मूलधन एवं ब्याज को वापस करने की गारंटी देता है, जिससे उद्योगों को सरलता से ऋण प्राप्त हो जाएं।

(iii) स्थगित भुगतान की गारंटी—भारत में विदेशी विनिमय की कठिनाइयों एवं विदेशी विनिमय बैंकों द्वारा सीमित मात्रा में कार्य किए जाने से भारतीय उद्योगों को विदेशों से माल आयात करना अत्यंत कठिन हो रहा था जिससे आवश्यक मशीनें व अन्य पदार्थों का आयात करना संभव नहीं हो रहा था। इस कठिनाई को ध्यान में रखते हुए 21 दिसंबर, 1957 को निगम के विधान में संशोधन करके उद्योगों द्वारा विदेशों से पूंजीगत सामान के आयात पर स्थगित भुगतानों की गारंटी देने की व्यवस्था की गई। परिणामस्वरूप निगम की गारंटी के आधार पर भारतीय उद्योग सरलता से विदेशों से अपनी आवश्यक वस्तुओं का आयात करके औद्योगिक विकास में योगदान दे सकते हैं। आयात के भुगतान की गारंटी देते समय निगम योजना की लागत, अर्जित शक्ति, राष्ट्रीय महत्त्व, लाइसेंस व्यवस्था एवं अन्य आवश्यक बातों की छानबीन करता है। तत्पश्चात् एक गारंटी समझौता लिखा जाता है, जिसमें समस्त बातों का उल्लेख किया जाता है।

(iv) विदेशी मुद्रा ऋणों की गारंटी—निगम द्वारा विदेशों से प्राप्त ऋणों के बदले गारंटी भी दी जाती है। निगम अभी तक 5 प्रार्थनापत्रों पर कुल 23 करोड़ रुपये की गारंटी स्वीकार कर चुका है।

(ब) ऋण प्रदान करना—यह निगम उद्योगों को मध्यकालीन एवं दीर्घकालीन ऋण प्रदान करने की व्यवस्था करता है। ऋण प्राप्त करने के लिए उद्योग द्वारा निगम के किसी भी कार्यालय को प्रार्थना-पत्र देना होगा जिसमें ऋण की मात्रा, प्रयोजन, 2-3 वर्षों की संपत्ति व लाभ-हानि का विवरण भी भेजना होता है। इस प्रार्थना-पत्र मे उल्लिखित बातो की जाच करके उसे केंद्रीय कार्यालय को भेज देते हैं जहा सलाहकार समिति द्वारा समस्त अधिकार-पत्रों एव कागजो की जाच की जाती है तथा संतुष्टि होने पर ऋण की स्वीकृति दे दी जाती है। ऋण प्राप्त करने वाली सस्था को अपने अंतिम खातो की प्रतिया नियमित रूप से निगम के पास भेजनी आवश्यक होगी। निगम उद्योग के संचालक मंडल मे अपना प्रतिनिधि भी नियुक्त कर सकता है। उद्योग द्वारा किस्त व ब्याज न चुकाने पर उद्योग के प्रबंध को निगम अपने हाथों में ले सकता है। निगम द्वारा दिए जाने वाले ऋण की न्यूनतम मात्रा 10 लाख रुपए एवं अधिकतम मात्रा 2 करोड़ रुपये निर्धारित की गई है। निगम द्वारा नवीन मशीनें खरीदने एव सस्था का विस्तार करने आदि के लिए ऋण प्राप्त किया जा सकता है। ऋण प्रदान करने से पूर्व उद्योग की स्थायी संपत्ति को धरोहर के रूप में रखा जा सकता है। निगम द्वारा ऋण रुपये एव विदेशी मुद्रा मे दिए जा सकते हैं। विदेशो मे साख-पत्रो के आधार पर विदेशी भुगतान में सुविधाएं दी जा सकती हैं। निगम द्वारा देश के विभिन्न उद्योगो को ऋण प्रदान किए गए जिसमें सहकारी संस्थाओं को प्राथमिकता प्रदान की गई। परंतु ऋण की मात्रा अविकसित राज्यो की अपेक्षा विकसित राज्यों को अधिक मात्रा मे दी गई। इन ऋणो पर ब्याज की दर $5\frac{1}{2}\%$ निश्चित की गई है जिसे बाद मे बढाकर $8\frac{1}{2}\%$ कर दिया गया। विदेशी मुद्रा में दिए गए ऋणों पर 9% ब्याज लिया जाता है।

ऋण देने की शर्तें—निगम द्वारा ऋण निम्न शर्तों पर दिया जाता है—

(i) बंधक—ऋण उद्योगों की स्थायी एवं अचल संपत्ति के प्रथम बंधक पर दिया जाता है।

(ii) संचालकों की नियुक्ति—अपने हितो की रक्षा के लिए निगम उद्योग मे दो संचालक नियुक्त कर सकता है।

(iii) ऋण अवधि—ऋण प्रायः 15 वर्षों की अवधि के लिए प्रदान किए जाते हैं।

(iv) बीमा—रहन रखी गई संपत्ति का बीमा कराना आवश्यक होगा।

(v) समान किश्तें—ऋणों का भुगतान समान किश्तो मे किया जाएगा। किश्तों की संख्या का निर्धारण पारस्परिक सहमति से होगा।

(vi) लाभांश—ऋण का भुगतान न करने तक ऋण लेने वाला उद्योग 6% वार्षिक से अधिक लाभांश घोषित नहीं कर सकेगा।

(vii) व्यक्तिगत जमानत—लिए गए ऋण का सदुपयोग हो, इस बात की गारंटी के लिए उद्योग के संचालकों की व्यक्तिगत जमानत ली जाएगी।

1975 तक निगम ने 379 करोड़ रुपये विभिन्न कार्यों के लिए दिए। वित्त निगम द्वारा ऋण रुपये या विदेशी मुद्रा में दिए जा सकते हैं। शक्कर उद्योग मे अधिकांश ऋण सरकारी समितियो को दिए जाते हैं।

त्रुटि करने पर कार्यवाहियां—ऋण लेने वाली सस्था ऋण के भुगतान के संबंध में त्रुटि करे या नियमों का पालन न करे तो निगम निम्न कार्यवाहियां कर सकता है—

(i) कपनी की प्रबंध व्यवस्था को अपने हाथो में लेना।

(ii) समय पूर्ण होने से पूर्व ही अपना ऋण वापिस लेना।

(iii) ऋण लेने वाली कंपनी के प्रबंध मंडल मे अपने प्रतिनिधि भेजना।

(स) अभिगोपन करना—यह निगम उद्योगों के अंशो एवं ऋण-पत्रों का अभिगोपन भी करता है। अभिगोपन का कार्य निगम ने अपनी स्थापना के कई वर्ष पश्चात् प्रारंभ किया था। प्रारंभ मे अभिगोपन का कार्य जीवन बीमा निगम एव औद्योगिक साख एवं बीमा निगम की साझेदारी मे किया गया था। जो अंश बाजार मे नही बिक पाते, उन्हें निगम द्वारा क्रय किया जाता है।

गत वर्षों में वित्त निगमों की ऋण क्रियाओं में तीव्र गति से वृद्धि हुई। स्वीकृत ऋणों में 5 गुनी एवं ऋण शेष में 30 गुनी वृद्धि हुई जो वित्त निगम की प्रगति की ओर इंगित करती है। 1973-74 में निगमों ने कुल 101.76 करोड़ रुपये के ऋण प्रदान किए, जिसमें से 96 61 करोड़ रुपये के ऋण रुपये में, 4.43 करोड़ रुपये के ऋण विदेशी मुद्रा में तथा 0.72 करोड़ रुपये के ऋण अभिगोपन एवं प्रत्यक्ष चंदे के रूप में थे। इसी प्रकार से 1974-75 में कुल ऋण 138 67 करोड़ रुपये स्वीकृत किए गए जिनमें से 129 [illegible] करोड़ रुपये के ऋण 8.36 करोड़ रुपये के विदेशी मुद्रा में ऋण एवं 0 49 करोड़ रुपये ऋण अभिगोपन के रूप में थे। मार्च 1975 तक निगम के 608.7 करोड़ रुपये के ऋण शेष थे।

आलोचनाएं—वित्त निगम की प्रमुख आलोचनाएं निम्न हैं—

(1) **अल्प साख**—निगम का कार्यक्षेत्र विस्तृत होने पर भी इसका कार्य-क्षेत्र अत्यन्त सीमित मात्रा में रहा है। निगम के वित्तीय साधन सीमित होने से लघु उद्योगों की साख आवश्यकताओं को पूर्ण करना संभव न हो सका। निगम ने ठोस सम्पत्तियों के आधार पर ही ऋण प्रदान किया है, इस प्रकार अल्प मात्रा में ही साख प्रदान की है।

(2) **दोषपूर्ण प्रबंध**—निगम द्वारा साख प्राप्त करनेवाली संस्था की क्षमता का अध्ययन करके ऋण प्रदान किए जाते हैं। परंतु इस कार्य के लिए निगम के पास विशेषज्ञों की सेवाओं के अभाव के कारण प्रबंध व्यवस्था दोषपूर्ण बनी रहती है, जिससे निगम के कार्यों में बाधाएं उत्पन्न होती हैं।

(3) **ऊंची ब्याज दर**—निगम के द्वारा जो ब्याज दर ली जाती है वह लघु उद्योगों के दृष्टि से ऊंची मानी जाती है, परिणामस्वरूप उद्योग पर्याप्त मात्रा में ऋण प्राप्त नहीं कर पाते।

(4) **अनावश्यक देरी**—निगम द्वारा उद्योगों को जो ऋण स्वीकृत किए जाते हैं, उसमें अनावश्यक रूप से देरी कर दी जाती है तथा आवश्यकता के समय ऋण प्राप्त नहीं हो पाते।

(5) **निगमों का समान स्वरूप**—देश में समस्त निगमों के लिए समान नियम बनाए गए थे जो कि त्रुटिपूर्ण हैं, क्योंकि देश में अनेक विभिन्नताएं पाई जाती हैं और सभी स्थानों पर समान ढंग से निगम की स्थापना नहीं की जा सकती। निगम के कार्यों का निर्धारण राज्य विशेष की आवश्यकताओं एवं परिस्थितियों को ध्यान में रखकर ही किया जाना चाहिए।

राज्य वित्त निगम अधिनियम 1956 में संशोधित किया गया जो अक्तूबर 1, 1956 से लागू हुआ। इस अधिनियम में निम्न व्यवस्था की गई—

(i) **संयुक्त निगम**—दो या दो से अधिक राज्यों के लिए संयुक्त निगम की स्थापना हो सकेगी। जिन राज्यों के निगमों ने विशेष प्रगति नहीं की हो, उन्हें आपस में एकीकृत करके एक निगम की स्थापना कर दी जाएगी।

(ii) **वित्तीय सुविधाएं**—राज्य सरकार, अनुसूचित बैंक या राज्य सहकारी बैंक की गारंटी पर वित्तीय सुविधाएं प्रदान की जा सकती हैं।

(iii) **निरीक्षण**—रिजर्व बैंक द्वारा निगम का निरीक्षण किया जा सकता है।

(iv) **एजेंट**—यह निगम केंद्रीय या राज्य सरकार के एजेंट के रूप में कार्य करेगा।

(v) **अल्पकालीन ऋण**—निगम सरकारी प्रतिभूतियों के आधार पर रिजर्व बैंक से अल्पकालीन ऋण प्राप्त कर सकेगा।

(3) भारत का औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम
(Industrial Credit and Investment Corporation of India)

भारत सरकार, अमरीकी सरकार एवं अंतर्राष्ट्रीय बैंक के त्रि-सदस्यीय मिशन ने आपसी परामर्श द्वारा भारत में निजी क्षेत्र के उद्योगों को दीर्घकालीन वित्तीय सहायता देने के लिए एक निगम की स्थापना की ओर ध्यान दिया गया क्योंकि औद्योगिक वित्त निगम निजी क्षेत्र के उद्योगों को कोई सहायता प्रदान नहीं करता था। फलस्वरूप सार्वजनिक सीमित कंपनी के रूप में 5 जनवरी, 1955 को औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम की स्थापना की गई।

उद्देश्य—इस निगम के प्रमुख उद्देश्य निम्न थे—

(i) निजी पूंजी को प्रोत्साहन—निगम का उद्देश्य निजी पूंजी को उद्योगों में भाग लेने को प्रोत्साहित करना है।

(ii) विनियोग बाजार को विकसित करना—निगम का उद्देश्य देश में विनियोग बाजार को विकसित करना है।

(iii) निजी उपक्रम को सहायता—देश में निजी उपक्रमों की स्थापना, विस्तार एवं उसके आधुनिकीकरण के लिए निगम प्रयास करेगा।

(iv) निजी स्वामित्व—देश में औद्योगिक विनियोग के लिए निजी स्वामित्व को प्रोत्साहित किया जाना है।

पूंजी व्यवस्था

निगम की अधिकृत पूंजी 25 करोड़ रुपये है जो 100-100 रुपये के अंशों में विभाजित है। निगम की प्रदत्त पूंजी 5 करोड़ रुपये है। इस पूंजी में से 2 करोड़ रुपये भारतीय बैंकों, संचालकों एवं बीमा कंपनियों द्वारा, 1.5 करोड़ रुपये भारतीय जनता द्वारा; 50 लाख रुपये अमरीकी पूंजीपतियों द्वारा तथा 1 करोड़ रुपये इंग्लैंड के पूंजीपतियों द्वारा दी गई है।

निगम को सरकार ने 7½ करोड़ रुपये का ऋण दिया है जिसका 15 वर्ष पश्चात् 15 किस्तों में भुगतान होगा। ऋण पर ब्याज 15 वर्ष बाद लगाया जाएगा। विश्व बैंक से 1 करोड़ डालर का ऋण मिला। इस प्रकार निगम के कुल वित्तीय साधन 298 करोड़ रुपये थे। यह निगम तीन देशों तथा विश्व बैंक के सहयोग से स्थापित हुआ और उसके प्रारंभिक साधन 17.5 करोड़ रुपये थे। निगम के वर्तमान साधन 298.3 करोड़ रुपये हैं जो कि निम्न प्रकार हैं—

1. अंश पूंजी	10.0	करोड़ रुपये
2. कोष	11.3	" "
3. भारतीय मुद्रा में ऋण	60.0	" "
3. विदेशी मुद्रा में ऋण	217.0	" "
योग	298.3	" "

निगम अपनी पूंजी एवं कोष के तीन गुने के बराबर ऋण प्राप्त कर सकता है। 5 वर्ष पश्चात् निगम अपने लाभों का 25% भाग प्रतिवर्ष रिजर्व कोष में डालेगा।

निगम के कार्य

निगम के प्रमुख कार्य निम्न हैं—

(1) ऋण प्रदान करना—यह निगम निजी क्षेत्र के उद्योगों को 15 वर्षों के लिए सुरक्षित ऋण प्रदान कर सकता है।

(2) स्थगित भुगतान की गारंटी—निगम रुपया क्षेत्र से खरीदे गए पूंजीगत समान के लिए स्थगित भुगतान की गारंटी देता है।

(3) परामर्श देना—निजी क्षेत्र के उद्योगों के प्रबंध, प्राविधिक एवं प्रशासनिक विषयों पर परामर्श देना एवं इनकी सेवाएं प्राप्त करने में सहायता देना।

(4) पुनः विनियोग—कोषों को पुनः विनियोग के लिए उपलब्ध कराने के प्रयास करना।

(5) ऋणों की गारंटी—उद्योगों द्वारा अन्य किसी साधन से ऋण प्राप्त होने पर उसकी गारंटी करना।

(6) विदेशी मुद्रा में ऋण—विदेशों से आवश्यक पूंजीगत सामान आयात करने के लिए निगम उद्योगों को विदेशी मुद्रा में ऋण प्रदान करता है।

(7) अभिगोपन—निगम उद्योगों के अंशों एवं ऋण-पत्रों के अभिगोपन का कार्य करता है तथा न बिके

गए अंशों को स्वयं क्रय कर लेता है। आवश्यकता पड़ने पर उद्योगों के अंशों की न्यूनतम राशि का प्रबंध भी करता है।

निगम के कार्यों की सीमाएं

निगम के कार्यों पर निम्न सीमाएं लगाई गई हैं—

(1) **एकाकी व्यापार व साझेदारी पर प्रतिबंध**—यह निगम निजी क्षेत्र के एकाकी व्यापार एवं साझेदारी संस्थाओं को ऋण प्रदान नहीं करेगा।

(2) **न्यूनतम सहायता राशि**—एकाकी व्यापार के लिए न्यूनतम राशि 5 लाख रुपये निर्धारित की गई है। यदि किसी समय निगम ऋण का प्रबंध करने में जो असमर्थ हो तो वह अन्य संस्थाओं की सहायता ले सकता है।

(3) **स्थायी पूंजी के लिए ऋण**—निगम प्रायः संस्थाओं को स्थायी पूंजी के लिए ही ऋण प्रदान करता है।

(4) **जांच पड़ताल**—ऋण स्वीकृत करने से पूर्व निगम आर्थिक उपक्रम की योजना, वित्त व्यवस्था आदि की पूर्ण रूप से जांच-पड़ताल करता है।

(5) **ब्याज दर निश्चित करना**—ऋण पर ब्याज दर, एवं अन्य सेवाओं आदि के बदले कमीशन की दर को पहले से निर्धारित कर दिया जाता है।

निगम की प्रगति—निगम की स्थापना के पश्चात् इसके कार्यों में पर्याप्त वृद्धि हुई है। निगम ने अपने कार्यालय में लगभग 230 करोड़ रुपये के ऋण स्वीकृत किए हैं, जिनमें से 155 करोड़ रुपये के ऋण वितरित किए जा चुके हैं। वितरण करने वाले ऋणों का लगभग 70% भाग विदेशी मुद्रा में दिया गया है। अभिगोपन के क्षेत्र में निगम ने महत्वपूर्ण कार्य नहीं किया है। निगम ने प्रारंभ में $3\frac{1}{2}\%$ लाभांश घोषित किया जो बाद में बढ़कर 9% तक पहुंच गया। निगम ने अपने अनेक नवीन क्षेत्रों में जोखिम उठाकर धन का विनियोजन किया तथा उद्योगों को प्रोत्साहित किया।

1973-74 व 1974-75 में निगम ने कुल 61.12 करोड़ रुपये व 62.86 करोड़ के ऋण स्वीकृत किए जिनमें से 1973-74 के लिए 19.76 करोड़ रुपये के ऋण, 34.68 करोड़ रुपये विदेशी मुद्रा में ऋण एवं 6.68 करोड़ रुपये अभिगोपन एवं प्रत्यक्ष चंदे के ऋण के रूप में था। इसी प्रकार 1974-75 में 62.86 करोड़ रुपये की ऋण में से 16.00 करोड़ रुपये में ऋण, 41.29 करोड़ रुपये विदेशी मुद्रा में ऋण एवं 5.57 करोड़ रुपये अभिगोपन ऋण के रूप में था। मार्च 1975 तक इस निगम ने कुल 511.0 करोड़ रुपये के ऋण दिए जिन्हें निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

दिए गए ऋण 1975 तक

(करोड़ रु० में)

	स्वीकृत	वितरित
1 रुपये में ऋण	117.7	87.7
2 विदेशी मुद्रा में ऋण	305.7	228.1
3 अभिगोपन ऋण	87.6	49.7
योग	511.0	365.5

एक अन्य अनुमान के अनुसार निगम ने 1975 तक 508 करोड़ के कुल ऋण दिए। इन ऋणों का प्रत्येक राज्य में वितरण असमान रहा। सबसे कम ऋण पंजाब (0.3%) व सबसे अधिक ऋण महाराष्ट्र (34.6%) को दिया गया। अन्य आधार ऋणों पर का वितरण निम्न प्रकार रहा—

राज्य-आधार ऋण का वितरण

(करोड़ रु० में)

राज्य का नाम	राशि	प्रतिशत
1. आंध्रप्रदेश	15.74	3.1
2. आसाम	4.93	1.0
3. बिहार	33.33	6.5
4. गुजरात	62.99	12.4
5. हरियाणा	13.59	2.7
6. हिमाचल प्रदेश	—	—
7. जम्मू व कश्मीर	—	—
8. कर्नाटक	34.89	6.8
9. केरल	9.88	1.9
10. मध्यप्रदेश	10.08	2.0
11. महाराष्ट्र	175.68	34.6
12. मनीपुर	—	—
13. मेघालय	—	—
14. नागालैंड	—	—
15. उड़ीसा	9.71	1.9
16. पंजाब	1.51	0.3
17. राजस्थान	9.58	1.9
18. तमिलनाडु	55.71	11.0
19. त्रिपुरा	—	—
20. उत्तरप्रदेश	24.41	4.8
21. प० बंगाल	32.51	6.4
22. केंद्रशासित क्षेत्र	13.55	2.7
योग	508.10	100.0

(4) राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम लि०
(National Industrial Development Corporation Ltd.)

भारतीय कंपनी अधिनियम के अंतर्गत एक निजी कंपनी के रूप में राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम लि० की स्थापना 1954 में की गई। इसकी स्थापना मुख्यतया एक विकास एजेंसी के रूप में की गई थी जिसका उद्देश्य देश में सरकारी एवं निजी क्षेत्रों में औद्योगिक विकास को प्रोत्साहित करना है। यह निगम नवीन उद्योगों की संभावनाओं पर विचार करके उसे आवश्यक वित्तीय तकनीकी सहायता प्रदान करता है।

पूंजी व्यवस्था—निगम की अधिकृत पूंजी 1 करोड़ रुपये है जिसे संपूर्ण रूप से सरकार ने खरीद लिया है। अन्य वित्तीय साधनों के रूप में यह निगम केंद्रीय सरकार से ऋण व अनुदान प्राप्त कर सकता है, तकनीकी सहायता प्राप्त कर सकता है तथा जनता से निक्षेप भी स्वीकार कर सकता है।

प्रबंध व्यवस्था—निगम का प्रबंध एक संचालक मंडल द्वारा किया जाता है जिसमें केंद्रीय सरकार के मनोनीत 20 सदस्य होते हैं जो विभिन्न क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

निगम के कार्य

निगम के प्रमुख कार्यों को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(1) उपक्रमों को आर्थिक सहायता—यह निगम निजी क्षेत्र मे, नवीन उपक्रमो को स्थापित करने एवं पुराने उपक्रमो को और अधिक विकसित होने संबंधी आर्थिक सहायता प्रदान करता है।

(2) सरकार की एजेंसी—किसी भी उद्योग को ऋण देने के उद्देश्य से यह निगम सरकार की स्वीकृति प्राप्त करके एजेंसी के रूप मे कार्य करता है।

(3) योजनाएं बनाना—निगम देश के औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक योजना ए निर्मित करता है एवं उन्हे व्यावहारिक रूप प्रदान करता है।

(4) उद्योग स्थापित करना—यदि निजी उद्योगपति उद्योगो के निर्माण करने मे असमर्थ हैं तो यह निगम अपनी ओर से उद्योगों की स्थापना करके उनका संचालन करेगा।

(5) पूंजी उद्योग—सरकार की ओर से पूंजीगत एवं आधारभूत उद्योगो की स्थापना करके उन्हे बाद मे निजी साहसी को हस्तांतरित कर सकता है। इस प्रकार देश में पूंजीगत उद्योगो की स्थापना करने मे सहायता प्राप्त होती है तथा देश का औद्योगिक ढांचा सुदृढ बन जाता है।

निगम की प्रगति

निगम ने विदेशी विशेषज्ञों की सहायता से अनेक प्रकार के उद्योगो के लिए रिपोर्ट तैयार करके उन्हें कार्यरूप में परिणत किया है। कुछ नवीन उद्योगो की स्थापना की है तथा विदेशी सहयोग, तकनीकी सहायता एवं आवश्यक मशीनरी का आयात संभव बनाया है। सरकारी एजेंसी के रूप मे कुछ उद्योगों को ऋण प्रदान किए गए है। यह निगम दीर्घकालीन एवं अल्पकालीन ऋण की व्यवस्था करता है। किराया क्रय पद्धति के आधार पर स्वदेशी मशीनों एवं उपकरणों की उचित व्यवस्था की जाती है। ऋण की राशि को किश्तो मे चुकाने की सुविधाए दी जाती हैं। निगम ने उद्योगों के विकास के लिए सलाहकार समितियों की नियुक्ति की है तथा प्राविधिक सहायता देने के उद्देश्य से 1960 मे तकनीकी सलाहकार ब्यूरो (Technological Consultancy Bureau) की स्थापना की है जो सार्वजनिक एवं निजी दोनों क्षेत्रों के उद्योगों को प्राविधिक सलाह देता है।

(5) औद्योगिक विकास बैंक
(Industrial Development Bank)

देश मे अनेक प्रकार की वित्तीय संस्थाओं की स्थापना के उपरांत भी यह अनुभव किया गया कि देश मे अन्य वित्तीय संस्थाओं का नेतृत्व करने एवं उन्हें आर्थिक सहायता प्रदान करने वाला कोई वित्त संघ नहीं है। स्थापित किए गए निगमो से उद्योगों को पर्याप्त मात्रा मे आर्थिक सहायता प्राप्त न हो सकी, क्योंकि इनके संबंध मे अनेक वैधानिक रुकावटें हैं, इनकी ऋण देने की शर्तें कठोर एवं बेलोचदार हैं, तथा इन संस्थाओं के साधन अत्यंत सीमित हैं, जिससे बड़े पैमाने के उद्योगों को सरल शर्तों पर दीर्घकालीन ऋण देना संभव नहीं था। अतः एक नवीन संस्था को स्थापित करना निश्चित किया गया, परिणामस्वरूप 27 फरवरी, 1964 को संसद् मे औद्योगिक विकास बैंक की रूपरेखा संसद् मे रखी गई और 1 जुलाई, 1964, को इसकी स्थापना कर दी गई।

उद्देश्य—औद्योगिक बैंक की स्थापना का मुख्य उद्देश्य औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन देना तथा विकास परियोजनाओं मे सक्रिय भाग लेना है। इस बैंक के मुख्य उद्देश्य निम्न हैं—

(i) देश के आधारभूत एवं राष्ट्रीय महत्त्व के उद्योगो के विकास को प्रोत्साहित करना।

(ii) विभिन्न औद्योगिक वित्त संस्थाओं की नीतियों एवं कार्यों मे समन्वय स्थापित करना।

पूंजी व्यवस्था—प्रारंभ मे बैंक की अधिकृत पूंजी 50 करोड़ रुपये थी जिसे बाद मे बढ़ाकर 100 करोड़ रुपए

कर दिया गया। इसकी प्रदत्त पूंजी 20 करोड़ रुपये है जो सब रिजर्व बैंक द्वारा खरीदी गई है। इस बैंक को भारत सरकार ने 156 करोड़ रुपये, पुनर्वित्त निगम से 34 करोड़ रुपये, रिजर्व बैंक से 6 करोड़ रुपये ऋण के रूप में प्राप्त हुए हैं तथा इसकी स्वयं की पूंजी एवं कोष की मात्रा 30 करोड़ रुपये है। इस प्रकार बैंक के समस्त वित्तीय साधन 190 करोड़ रुपये हैं। बैंक को वित्तीय साधन सुदृढ़ बनाने के लिए 'राष्ट्रीय औद्योगिक साख (दीर्घकालीन) कोष' [National Industrial Credit (long-term operations) Fund] की स्थापना की गई है, जिसमें प्रारंभ में रिजर्व बैंक ने 50 करोड़ रुपए की राशि रखी है और आगामी 5 वर्षों में इस कोष में 5 करोड़ रुपये वार्षिक जमा किए जाएंगे। इस कोष का उपयोग बैंक द्वारा वित्तीय संस्थाओं के ऋण-पत्र आदि क्रय करने में किया जाएगा। सरकार ने मार्च 1965 में विकास सहायता कोष की भी स्थापना की है जो उद्योगों को ऋण एवं अनुदान प्रदान करेगा।

प्रबंध व्यवस्था—विकास बैंक रिजर्व बैंक के सहायक के रूप में कार्य करता है, अतः रिजर्व बैंक का केंद्रीय संचालक मंडल इसकी भी प्रबंध व्यवस्था करता है। विकास बैंक के अधिकारी रिजर्व बैंक द्वारा ही मनोनीत किए जाते हैं।

विकास कोष

वित्तीय साधनों को सुदृढ़ बनाने हेतु बैंक ने निम्न दो कोषों की स्थापना की है—

(1) विकास सहायता कोष—इसकी स्थापना सरकार की आय से की जाती है। इसका उद्देश्य ऐसे उद्योगों का निर्माण करना है, जिन्हें अन्य साधनों से पूंजी प्राप्त करना संभव न हो।

(2) औद्योगिक साख (दीर्घकालीन) कोष—इस कोष की स्थापना रिजर्व बैंक अधिनियम में संशोधन करके की गई है जिसमें रिजर्व बैंक प्रतिवर्ष अपने लाभ में से 5 करोड़ रु० देगा। इस कोष का उपयोग उस समय होगा, जब उसके पास प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष वित्तीय सहायता देने के साधन न हों।

विकास बैंक के कार्य

विकास बैंक के प्रमुख कार्य निम्न हैं—

(1) प्रत्यक्ष सहायता—यह बैंक उद्योगों को प्रत्यक्ष ऋण देकर, स्थगित भुगतान की गारंटी देकर, व्यापारिक बिलों की कटौती करके एवं प्रत्यक्ष रूप से अंशों एवं ऋण-पत्रों को क्रय करके एवं उनका अभिगोपन करके प्रत्यक्ष रूप से सहायता प्रदान करता है।

(2) तकनीकी सहायता—यह बैंक उद्योगों के विकास के लिए उन्हें तकनीकी सहायता भी प्रदान करता है तथा माल के विक्रय आदि के संबंध में शोध एवं सर्वेक्षण का कार्य भी करता है।

(3) पुनर्वित्त सुविधा—यह बैंक वित्तीय संस्थाओं के 3 से 25 वर्षों तक के लिए ऋण, निर्यात हेतु 6 माह से 10 वर्ष के लिए ऋण एवं राज्य सहकारी बैंकों एवं अनुसूचित बैंकों के ऋणों पर 3 से 10 वर्ष के लिए ऋणों पर पुनर्वित्त सुविधाएं प्रदान कर सकता है।

(4) अंशों का अभिगोपन—बैंक द्वारा औद्योगिक कम्पनियों के अंशों का अभिगोपन किया जाता है तथा न बिके गए अंशों को स्वयं खरीद लेता है।

(5) सहायता—बैंक उन औद्योगिक संस्थाओं को सहायता देता, जिन्हें किसी अन्य साधनों से ऋण अथवा प्राप्त नहीं हो पाती है।

(6) योजनाएं बनाना—बैंक औद्योगिक विकास से संबंधित आवश्यक योजनाएं बनाता है तथा उन्हें तकनीकी सहायता प्रदान करता है।

बैंक की प्रगति—इस बैंक ने 31 मार्च, 1975 तक विभिन्न उद्योगों को 1145.2 करोड़ रुपये का ऋण स्वीकृत किया। 1973-74 में इस बैंक ने 171.96 करोड़ रु० का ऋण व 1974-75 में 231.79 करोड़ रु० का ऋण स्वीकृत किया जिसमें से क्रमशः 118.19 करोड़ रु० व 167.38 करोड़ रु० का ऋण वितरित किया गया। स्वीकृत व वितरित ऋण का

विवरण निम्न प्रकार है—

स्वीकृत व वितरित ऋण

(करोड़ रु० में)

	1973-74		1974-75	
	स्वीकृत	वितरित	स्वीकृत	वितरित
1. रुपये में ऋण	163.75	113.40	222.79	164 67
2. विदेशी मुद्रा में ऋण	—	—	—	—
3. अभिगोपन ऋण	8.21	4.79	9.00	2.71
योग	171.96	118.19	231.79	167.38

(Source . The Economic Times, Sept. 26, 1975)

इस प्रकार 31 मार्च, 1975 तक इस बैंक ने कुल 1,146.2 करोड़ रु० स्वीकृत किए जिसमें से 835.5 करोड़ रु० ही वितरित किए जा सके। कुल स्वीकृत राशि में से 1085.1 करोड़ रु० में ऋण, व 61.1 करोड़ रु० अभिगोपन व प्रत्यक्ष अंशदान के रूप में था। इसी प्रकार से वितरित राशि में 803.0 करोड़ रु० में ऋण व 32.5 करोड़ रु० अभिगोपन ऋण के रूप में था।

एक अन्य अनुमान के आधार पर इस बैंक ने समस्त राज्यों में 909.44 करोड़ रु० वितरित किए जिसमें से सबसे कम ऋण मनीपुर (0.0%) व सबसे अधिक ऋण महाराष्ट्र (27.3%) को दिया गया। इसका विवरण निम्न प्रकार है—

राज्य-आधार पर ऋण का वितरण

(करोड़ रु० में)

राज्य	राशि	प्रतिशत	राज्य	राशि	प्रतिशत
1. आन्ध्र प्रदेश	37.25	4.1	12. मनीपुर	0.01	—
2. आसाम	23.06	2.5	13. मेघालय	0.14	—
3. बिहार	41.63	4.6	14. नागालैंड	0.50	0.1
4. गुजरात	65.10	10.5	15. उड़ीसा	11.80	1.3
5. हरियाणा	10.92	2.2	16. पंजाब	9.95	1.1
6. हिमाचल प्रदेश	2.01	0.2	17. राजस्थान	20.05	2.2
7. जम्मू कश्मीर	0.95	0.2	18. तमिलनाडु	126.06	13.9
8. कर्नाटक	64.07	7.0	19. त्रिपुरा	—	—
9. केरल	24.98	2.8	20. उत्तरप्रदेश	37.14	4.1
10. मध्यप्रदेश	30.59	3.4	21. प० बंगाल	97.76	10.7
11. महाराष्ट्र	248.84	27.3	22. केन्द्रशासित क्षेत्र	17.61	1.0
योग				909.44	100.0

(Source : The Financial Express, June 10, 1975)

आलोचनाएं

विकास बैंक की प्रमुख आलोचनाएं निम्नलिखित हैं—

(1) **कार्य संभालने में असमर्थ**—ऐसा अनुमान लगाया गया कि केंद्रीय संस्था के रूप में यह बैंक ठीक प्रकार से कार्य का संचालन करने में असमर्थ रहेगा।

(2) **सहायता में वृद्धि न होना**—इस बैंक की स्थापना से औद्योगिक विकास के नियमन में कोई सहायता प्राप्त न होने से उद्योगों का विकास संभव न हो सकेगा।

(3) **अनावश्यक भार**—औद्योगिक विकास बैंक के उद्देश्यों की प्राप्ति औद्योगिक वित्त निगम या किसी अन्य वित्त निगम का विकास करके पूर्ण किया जा सकता था। इस कार्य के लिए रिजर्व बैंक पर अनावश्यक रूप से भार डालना उचित नहीं माना गया क्योंकि रिजर्व बैंक देश की केंद्रीय संस्था होने के कारण देश के अन्य महत्वपूर्ण कार्यों को करने में व्यस्त रहता है।

(4) **अनुभव का अभाव**—इस बैंक की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य देश में स्थापित किए गए वित्त निगमों का उचित नेतृत्व एवं मार्ग दर्शन करना था, परंतु आलोचकों का मत था कि जिन संस्थाओं के नेतृत्व के लिए इसकी स्थापना की गई है वे संस्थाएं इस बैंक की अपेक्षा अधिक कुशल एवं अनुभवी हैं जिससे बैंक का उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सकेगा।

(6) राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम
(National Small Scale Industries Corporation)

फोर्ड फाउंडेशन के सुझावों पर सरकार ने लघु उद्योगों को सहायता पहुंचाने के उद्देश्य से सन् 1955 में राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम की स्थापना की।

पूंजी व्यवस्था—निगम की प्रारंभिक अधिकृत पूंजी 10 लाख रुपये थी जिसे बाद में बढ़ाकर 50 लाख रुपये कर दिया गया। निगम की प्रदत्त पूंजी 40 लाख रुपये थी जो संपूर्णतया भारत सरकार द्वारा प्रदान की गई है।

निगम के कार्य—निगम उन लघु उद्योगों को आर्थिक सहायता प्रदान करता है, जिनकी पूंजी 5 लाख रुपये तक सीमित हो तथा जिसमें 50 या 100 व्यक्ति कार्य करते हों। यह निगम लघु उद्योगों को मशीनें देकर भुगतान किस्तों में प्राप्त करता है जिन पर 6% तक ब्याज दर ली जाती है। यह राशि किस्तों के रूप में 7 वर्षों में वसूल की जाती है। यह निगम लघु उद्योगों की उत्पत्ति का विपणन करने में भी सहायता देता है, उत्पादन की किस्म सुधारता है, औद्योगिक बस्तियों का निर्माण करता, प्रशिक्षण केंद्रों का संचालन करके प्रतिस्पर्धा समाप्त करके बड़े एवं लघु उद्योगों में समन्वय स्थापित करता है।

प्रगति—निगम की 4 शाखाएं दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता एवं मद्रास में खोली गई हैं जोकि लघु उद्योगों को दीर्घकालीन आधार पर ऋण प्रदान करके विकास की सुविधाएं प्रदान करती हैं।

(7) राज्य लघु उद्योग निगम
(State Small Scale Industries Corporation)

राज्य एवं राष्ट्रीय स्तर पर लघु उद्योग निगम लघु उद्योगों को मध्यकालीन एवं दीर्घकालीन आर्थिक सहायता देते रहे हैं फिर भी इनकी सेवाएं अधिक प्रभावशील सिद्ध नहीं हुईं। अतः लघु उद्योगों को आर्थिक सहायता देने के उद्देश्य से राज्य लघु उद्योग निगम स्थापित करने का सुझाव दिया गया, जिसे सरकार ने स्वीकार कर लिया और प्रत्येक राज्य में लघु उद्योग निगम की स्थापना की गई। इस निगम का प्रमुख उद्देश्य लघु उद्योगों की वित्तीय कठिनाइयों को दूर करना है।

पूंजी व्यवस्था—निगम अपने अंशों की बिक्री करके पूंजी प्राप्त करते हैं तथा आवश्यकता पड़ने पर ऋण-पत्रों

प्रबंध व्यवस्था—निगम का प्रबंध संचालक मंडल द्वारा होता है जिसमें 7 सदस्य होते हैं। निगम के संचालक मंडल का अध्यक्ष रिजर्व बैंक का गवर्नर होता है। अन्य सदस्यों में रिजर्व बैंक का उप-गवर्नर जीवन बीमा निगम का अध्यक्ष, अनुसूचित बैंकों के प्रतिनिधि एवं स्टेट बैंक का अध्यक्ष होता है।

निगम के कार्य—यह निगम वित्तीय संस्थाओं को पुनर्वित्त सुविधाएं प्रदान करता है जिससे वे उद्योगों को मध्यकालीन ऋण सुविधापूर्वक प्रदान कर सकें। वित्तीय संस्थाओं के पास अल्पकालीन निक्षेप होते हैं जिससे वे मध्यकालीन ऋण देने में असमर्थ रहती हैं। निगम पुनर्वित्त की सुविधाएं प्रदान करके वित्तीय संस्थाओं को मध्यकालीन ऋण देने की सुविधाएं उपलब्ध करता है। निर्धारित अवधि से पूर्व धन की आवश्यकता पड़ने पर ऋण संबंधी कागज-पत्रों को निगम से भुनाकर धन प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु ये सुविधाएं मध्यम आकार के उद्योगों को ही प्राप्त हो सकेंगी। पुनर्वित्त की सुविधा 3-7 वर्ष के लिए ही दी जाती है। पुनर्वित्त पर ब्याज दर 5% ली जाती है। केवल वे उद्योग ही सम्मिलित किए जाते हैं जो कि पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत विकसित होने वाले हैं। निर्यात के लिए भी साख व्यवस्था की जाती है जिससे विदेशी विनिमय का सदुपयोग किया जा सके। एक इकाई पर निर्यातों के संबंध में पुनर्वित्त की सुविधा न्यूनतम 1 लाख रुपये तथा अधिकतम 50 लाख रुपये निर्धारित की गई है।

प्रगति—निगम ने अपने जीवन काल में अनेक वित्तीय संस्थाओं को पुनर्वित्त की सुविधाएं प्रदान कीं। 1975 के अंत तक निगम 17.8 करोड़ रुपये वितरित कर चुका था। पुनर्वित्त सुविधा से लाभान्वित होने वाले उद्योग मुख्यतया मशीन, परिवहन, कागज, वस्त्र, बिजली उत्पादन करने वाले आदि उद्योग हैं। निगम ने प्रायः लाभांश की दर 4% ही रखी। निगम का प्रबंध मंडल देश की आवश्यकता व हितों को ध्यान में रखते हुए अपनी ऋण नीति को समय-समय पर समायोजित करता रहता है। 1973-74 में इस निगम ने 7.21 करोड़ रुपये स्वीकृत व 5.15 करोड़ रुपये वितरित किया। 1974-75 में निगम ने 7.59 करोड़ रुपये स्वीकृत व 8.05 करोड़ रुपये वितरित किया। यह समस्त धन रुपये ऋण के रूप में दिया गया था। 31 मार्च, 1975 तक इस निगम ने कुल 27.5 करोड़ रुपये स्वीकृत तथा 17.8 करोड़ रुपये वितरित किए।

(9) यूनिट ट्रस्ट ऑफ इंडिया
(Unit Trust of India)

स्थापना—भारत में सामान्य विनियोजकों द्वारा उद्योगों में धन लगाने की सुविधा देने की दृष्टि से 1 फरवरी, 1964 को यूनिट ट्रस्ट ऑफ इंडिया की स्थापना की गई।

पूंजी—इसकी प्रारंभिक पूंजी 5 करोड़ रुपये है, जिसमें से 2.5 करोड़ रुपये रिजर्व बैंक, 75 लाख रुपये जीवन बीमा निगम, 75 लाख रु० स्टेट बैंक व 1 करोड़ रु० अनुसूचित बैंकों द्वारा दिए गए।

उद्देश्य—इस ट्रस्ट के निम्न उद्देश्य हैं—

(i) औद्योगिक लाभों में निम्न व मध्यम आय के लोगों को भी हिस्सा देना।

(ii) मध्यम व निम्न आय के लोगों की बचत को प्रोत्साहित करना।

कार्य—यह ट्रस्ट निम्न कार्य करता है—

(i) इकाइयां क्रय करने वालों को लाभांश वितरित करना।

(ii) अधिक से अधिक विनियोजकों को इकाइयां बेचना।

(iii) इकाइयों से प्राप्त पूंजी को औद्योगिक संस्थानों में लगाना।

लाभ—यूनिट ट्रस्ट के मुख्य लाभ निम्न हैं—

(i) यह इकाइयां अत्यंत सरल हैं, क्योंकि विनियोजक सरलता से उन्हें नकदी में बदल सकता है।

(ii) इकाईधारियों को अच्छी आय प्राप्त होने के अवसर प्राप्त हो जाते हैं।

(iii) जोखिम को विभिन्न प्रतिभूतियों में बांटने से इन इकाइयों में किया गया विनियोग सुरक्षित रहता है।

(iv) ट्रस्ट से 3,000 रु० तक लाभांश पर कोई आयकर नहीं लगता है।

सुझाव—यूनिट के कार्यों को अधिक प्रभावी बनाने के लिए निम्न सुझाव दिए जा सकते हैं—

(i) अन्य वित्त संस्थाओं से जनता की विनियोग आदतों का अध्ययन किया जाना चाहिए।

(ii) ट्रस्ट को ब्याज रहित ऋण प्रदान किया जाना चाहिए।

(iii) विभिन्न प्रकार की यूनिट योजनाएं बनाई जानी चाहिए।

(iv) पोर्टफोलियो विनियोग का अधिक प्रचार किया जाना चाहिए।

प्रगति—1974-75 में इस ट्रस्ट ने 6.17 करोड़ रु० के ऋण स्वीकृत व 7.43 करोड़ रु० वितरित किए। इसी प्रकार 1973-74 में इस ट्रस्ट ने 7.92 करोड़ रु० स्वीकृत एवं 7.78 करोड़ रु० वितरित किए। 31 मार्च, 1975 तक इस ट्रस्ट ने कुल 73.8 करोड़ रु० के ऋण स्वीकृत तथा 48.1 करोड़ रु० के ऋण वितरित किए।

(10) भारतीय जीवन बीमा निगम
(Life Insurance Coporation of India)

जीवन बीमा निगम भारत में वित्तीय विनियोग की एक प्रमुख संस्था है। इस निगम को प्रीमियम के रूप में दीर्घकाल के लिए राशि प्राप्त होती है, जिसे निगम महत्वपूर्ण क्षेत्रों में विनियोग कर सकता है। इस निगम की स्थापना 1956 में की गई थी। यह निगम औद्योगिक कंपनियों के अंशों एवं ऋण पत्रों का अभिगोपन भी करता है।

प्रगति—1974-75 में इस निगम ने 45.48 करोड़ रु० के ऋण स्वीकृत तथा 55.77 करोड़ रु० के ऋण वितरित किए। 1973-74 में 25.93 करोड़ रु० के ऋण स्वीकृत तथा 19.96 करोड़ रु० के ऋण वितरित किए गए। 31 मार्च, 1975 तक निगम ने कुल 296.8 करोड़ रु० के ऋण स्वीकृत एवं 232.7 करोड़ रु० के ऋण वितरित किए। निगम की प्रगति को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

जीवन बीमा निगम की प्रगति

(करोड़ रु० में)

	1973-74		1974-75		कुल-ऋण	
	स्वीकृत	वितरित	स्वीकृत	वितरित	स्वीकृत	वितरित
1. रुपए में ऋण	17.08	10.65	24.96	45.49	127.5	95.8
2. विदेशी मुद्रा में ऋण	—	—	—	—	—	—
3. अभिगोपन कार्य	8.85	9.31	20.52	10.28	169.3	136.9
	25.93	19.96	45.48	55.77	296.8	232.7

(Source The Economic Times, Sept. 26, 1975)

भारत में केंद्रीय उपक्रमों में विनियोग

प्रथम पंचवर्षीय योजना को प्रारंभ करते समय केंद्रीय सरकार की 4 गैर-विभागीय इकाइयां थी, जिसमें 29 करोड़ रुपये की पूंजी विनियोजित थी। मार्च 1969 तक इन इकाइयों की संख्या बढ़कर 85 हो गई, जिसमें 3,902 करोड़ रुपये की पूंजी विनियोजित है। विनियोग वृद्धि की इस प्रवृत्ति को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

विनियोग वृद्धि

वर्ष	इकाइयों की संख्या	कुल विनियोग (करोड़ रु० में	वृद्धि		
			करोड़ रुपये में	प्रतिशत में	औसत वार्षिक वृद्धि दर
— 1950-51	5	29	—	—	—
प्रथम योजना	21	81	52	179.3	22.7
द्वितीय योजना	48	953	872	1076.5	62.5
तृतीय योजना	74	2415	1462	153.4	20 4
1966-67	77	2841	426	17.6	17.6
1967-68	83	3333	492	17.3	17.3
1968-69	85	3902	569	17.1	17.1
औसत वार्षिक वृद्धि दर	—	—	215	—	.133

केंद्रीय सरकार ने यह निर्णय लिया है कि कुल विनियोग का 50% भाग साधारण अंशों व शेष 50% भाग ब्याज सहित ऋण के रूप में होना चाहिए। 31 मार्च, 1969 तक इन उपक्रमों में 3902 करोड़ रुपये के विनियोग में से 1824 करोड़ रुपये या 47% भाग साधारण पूंजी के रूप में तथा शेष 2078 करोड़ रुपये या 53% भाग दीर्घकालीन ऋण के रूप में था। इन उपक्रमों में कुल विनियोग का 86% भाग केंद्रीय सरकार व शेष राज्य सरकार व भारतीय एवं विदेशी निजी संस्थाओं का था। कार्यशील पूंजी का 6% भाग स्टेट बैंक द्वारा प्रदान किया गया था। उपक्रमों के वित्तीय साधनों को निम्न प्रकार रखा जा सकता है –

वित्तीय साधन

विवरण	करोड़ रुपए में	प्रतिशत
1. केंद्रीय सरकार	3,540.3	85.5
2. राज्य सरकार	8 6	0.2
3. भारतीय निजी संस्थाएं	34 0	0.8
4. विदेशी निजी संस्थाएं	319.2	7.7
योग	3,902.1	94.2
5. बैंक अधिविकर्ष	236.1	5 8
योग	4,138.2	100

वित्त मंत्रालय द्वारा इन उपक्रमों को 4 भागों में विभाजित किया गया है—(i) निर्माणाधीन (ii) चालू व्यवसाय, (iii) विकासात्मक, एवं (iv) वित्तीय संस्थाएं। प्रत्येक उपक्रम की संख्या एवं विनियोग को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

विनियोग की वितरण व्यवस्था

उपक्रम का वर्ग	उपक्रमों की संख्या	विनियोग	
		करोड़ रुपये में	प्रतिशत
1. निर्माणाधीन	11	313.7	8 0
2. चालू व्यवसाय	61	3,533.2	90.5
3. विकासात्मक	10	48.2	1.2
4. वित्तीय संस्थाएं	3	7.0	0.3
योग	85	3,902.1	100

9. मध्य प्रदेश	543.2	15.7
10. महाराष्ट्र	100.9	2.9
11. मैसूर	79.6	2.3
12. उड़ीसा	423.2	12.2
13. पंजाब	32.6	1.0
14. राजस्थान	27.2	0.8
15. तमिलनाडु	262.2	7.6
16. उत्तर प्रदेश	137.0	4.0
17. प० बंगाल	411.4	11.9
18. गैर-आबंटित (a)	464.7	13.4
योग	3,463.1	100.0

संस्थागत वित्त का वितरण

(Distribution of Institutional Finance)

भारत में तीन प्रमुख संस्थाओं की स्थापना अखिल भारतीय स्तर पर इस कारण से की गई थी कि वे देश के औद्योगिक विकास में प्रत्यक्ष रूप से सहायता प्रदान करें। ये तीन संस्थाएं हैं—(i) भारत की औद्योगिक विकास बैंक (I D B I), (ii) भारतीय औद्योगिक वित्त निगम (I F C I), (iii) भारतीय औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम लि० (I C I C I)। देश के क्षेत्रीय विकास की दृष्टि से ये संस्थाएं अपने कार्यालय अन्य स्थानों पर भी खोल रही हैं। I D B I का प्रमुख कार्यालय बंबई व क्षेत्रीय कार्यालय कलकत्ता, मद्रास व देहली तथा 12 शाखा कार्यालय हैं। I F C I का प्रधान कार्यालय देहली, क्षेत्रीय कार्यालय बंबई, कलकत्ता व मद्रास तथा 9 शाखा कार्यालय हैं। I C I C I के प्रधान कार्यालय बंबई, क्षेत्रीय कार्यालय कलकत्ता, मद्रास व देहली तथा शाखा कार्यालय कम मात्रा में हैं *31 दिसम्बर 1974 तक तीनों संस्थाओं द्वारा विभिन्न राज्यों के दिए गए ऋण में समानता का अभाव पाया जाता है।* तीनों संस्थाओं द्वारा विभिन्न राज्यों को दिए गए ऋण को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

कुल दिए गए ऋण

(करोड़ रुपये में)

राज्य	कुल ऋण	प्रतिशत	राज्य	कुल ऋण	प्रतिशत
1. आन्ध्र प्रदेश	83.58	4.4	12. मनीपुर	0.1	—
2. आसाम	36.54	1.9	13. मेघालय	1.09	0.1
3. बिहार	100.44	5.3	14. नागालैंड	1.00	0.1
4. गुजरात	191.35	10.1	15. उड़ीसा	33.87	1.8
5. हरियाणा	48.80	2.6	16. पंजाब	19.98	1.1
6. हिमाचल प्रदेश	2.01	0.1	17. राजस्थान	47.05	2.5
7. जम्मू व कश्मीर	0.96	—	18. तमिलनाडु	243.72	12.9
8. कर्नाटक	132.19	7.0	19. त्रिपुरा	—	—
9. केरल	49.82	2.6	20. उत्तर प्रदेश	105.87	5.6
10. मध्य प्रदेश	50.88	2.7	21. प० बंगाल	173.10	9.1
11. महाराष्ट्र	530.09	28.0	22. केंद्र शासित क्षेत्र	39.09	2.1
योग				1891.44	100.0

(Source : The Financial Express, June 10, 1975)

अंतर्राष्ट्रीय विकास बैंक ने महाराष्ट्र को सबसे अधिक ऋण प्रदान किया जो कुल ऋण का 27.3% था। इसी प्रकार औद्योगिक वित्त निगम ने महाराष्ट्र को 22.3% ऋण दिया, व औद्योगिक साख व विनियोग निगम ने महाराष्ट्र को 34.6% ऋण दिया व शेष ऋण अन्य राज्यों को दिए गए। देश के 6 राज्यों को इन तीनों संस्थाओं से कुल ऋण का 77.7% ऋण प्राप्त हुआ व शेष 22.3% ऋण शेष 16 राज्यों को प्राप्त हुआ। तीनों संस्थाओं ने महाराष्ट्र को कुल ऋण का 28% दिया। महाराष्ट्र व गुजरात को ही समस्त ऋण में से अधिकांश भाग दिया गया जिससे अन्य राज्यों को आवश्यक मात्रा में ऋण प्राप्त न हो सके। ऋण की स्वीकृति एवं वितरण में भारी अंतर पाए जाते हैं, जिसे यह संस्थाएं ही कम कर सकेंगी।

भारत में औद्योगिक वित्त की कमी के कारण

भारत में सदैव से ही औद्योगिक वित्त का अभाव रहा है जिसके प्रमुख कारण निम्न हैं—

(1) **विनियोग प्रन्यास का अभाव**—देश में विनियोग प्रन्यास के अभाव के कारण उद्योगों में पूंजी का विनियोजन संभव नहीं हो सका है।

(2) **व्यापारिक बैंकों द्वारा उपेक्षा**—व्यापारिक बैंकों ने सदैव ही अल्पकालीन ऋण प्रदान किए हैं, जबकि उद्योगों की दीर्घकालीन ऋण की आवश्यकता को ये बैंक पूर्ण करने में असमर्थ रहे।

(3) **निर्धनता**—जनता की आय कम होने के कारण देश में पूंजी का निर्माण संभव नहीं हो सका है तथा उद्योगों में विनियोग नहीं हो सका।

(4) **औद्योगिक बैंकों का अभाव**—देश में औद्योगिक बैंकों के अभाव के कारण उद्योगों में दीर्घकालीन पूंजी का विनियोजन संभव नहीं हो सका तथा उद्योगों में वित्त की कमी बनी रही।

(5) **अभिगोपन गृहों का अभाव**—देश में विदेशों की भांति ऐसी संस्थाओं का अभाव था जो कि अंशों का का कार्य करके उद्योगों को पूंजी उपलब्ध करा सकें।

(6) **स्कंध विपणि का अभाव**—देश में स्कंध विपणियों के अभाव के कारण अंशों को बेचने व खरीदने की सुविधाएं प्राप्त नहीं हुईं व उद्योगों को पर्याप्त मात्रा में अंशों के बदले पूंजी प्राप्त हो सकी।

(7) **कुशल प्रबंधकों का अभाव**—कुशल प्रबंधकों के अभाव के कारण वित्तीय साधनों का पूर्ण रूप से सदुपयोग संभव न हो सका तथा जनता अपनी पूंजी का विनियोग न कर सकी।

(8) **अन्य दोष**—गांवों में बैंकिंग सुविधाओं का अभाव, बैंकिंग आदत का विकसित न होना, संगठित पूंजी बाजार का अभाव सरकार की उपेक्षापूर्ण नीति आदि कारणों से भी औद्योगिक वित्त का अभाव बना रहा।

सुझाव—औद्योगिक वित्त की कमी को दूर करने के लिए निम्न सुझाव दिए जा सकते हैं—

(1) **संघ का निर्माण**—जर्मनी की भांति भारत में भी बैंकों को मिलाकर एक संघ का निर्माण किया जाए जो अंशों व ऋण-पत्रों में पूंजी का विनियोजन कर सके।

(2) **औद्योगिक बैंकों की स्थापना**—दीर्घकालीन मांग को पूर्ण करने के लिए देश में औद्योगिक बैंकों की स्थापना की जानी चाहिए।

(3) **निगम द्वारा सहायता**—देश में स्थापित किए गए वित्त निगमों के कार्यक्षेत्र को बढ़ाना चाहिए जिससे उद्योगों को अधिकाधिक आर्थिक सहायता प्राप्त हो सके।

(4) **अभिगोपन गृह की स्थापना**—अंशों व ऋण-पत्रों के अभिगोपन का कार्य करने के लिए देश में अभिगोपन गृह की स्थापना की जानी चाहिए जिससे उद्योगों को वित्तीय सुविधाएं प्राप्त हो सकें।

(5) **जमानत पर ऋण**—विदेशों की भांति भारत में भी व्यक्तिगत जमानत के आधार पर ऋण प्रदान करने की व्यवस्था होनी चाहिए जिससे उद्योगों को सरलता से पर्याप्त मात्रा में पूंजी उपलब्ध हो सके।

(6) **विनियोग प्रन्यास की स्थापना**—देश में विनियोग प्रन्यास की स्थापना करके जनता में विनियोग प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करना चाहिए जिससे उद्योगों को भी आवश्यक मात्रा में पूंजी उपलब्ध हो सके।

(7) अन्य सुझाव—बिल बाजार का विकास, ग्रामीण क्षेत्र में बैंकिंग सुविधाएं, धन हस्तांतरण की सुविधाएं, स्कंध विपणि का विकास आदि उपायों द्वारा औद्योगिक वित्त की समस्या का समाधान किया जा सकता है।

औद्योगिक वित्त की प्रवृत्तियां
(Trends in Industrial Finance)

विभिन्न प्रकार की वित्तीय संस्थाओं ने 31 मार्च, 1975 तक 6 वर्षों में निजी क्षेत्र में औद्योगिक उपक्रमों में 149 करोड़ रु० वार्षिक का विनियोजन किया। इन संस्थानों ने कुल वितरण 1177 करोड़ रु० किया जिसमें से 3/4 अर्थात् 892 करोड़ रु० निजी क्षेत्र को दिया गया। इन संस्थानों की स्थापना का मुख्य उद्देश्य ही निजी क्षेत्र में विनियोग को प्रोत्साहित करना था। परन्तु अब इन्होंने सहकारी क्षेत्र, लोक क्षेत्र या संयुक्त क्षेत्र में भी ऋण देना स्वीकार किया है। इन संस्थानों में IDBI, IFCI, ICICI, IRCI, राज्य वित्त एवं औद्योगिक विकास निगम, एवं जीवन बीमा निगम आते हैं। निजी क्षेत्र में भी इंजीनियरिंग उद्योग को सबसे अधिक ऋण (591 करोड़ रु०) दिए गए जबकि सीमेंट, रबड़ एवं कागज उद्योग तीनों को 6 वर्षों में 101 करोड़ रु० ही दिए गए। कुल स्वीकृत व वितरित राशि का 3/4 भाग नवीन योजनाओं को दिया गया। 1915 तक विभिन्न संस्थानों द्वारा स्वीकृत व वितरित ऋण को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

स्वीकृत व वितरित ऋण

(करोड़ रुपए में)

संस्था	वर्ष	रुपए में ऋण	विदेशी	मुद्रा में ऋण		अभिगोपन		योग	
		स्वीकृत	वितरित	स्वीकृत	वितरित	स्वीकृत	वितरित	स्वीकृत	वितरित
IDBI	1964	1085.1	803.0	—	—	61.1	32.5	1146.2	835.5
IFCI	1948	343.8	302.3	56.7	48.4	42.7	28.2	443.2	378.8
ICICI	1955	117.7	87.7	305.7	228.1	87.6	49.7	511.0	365.5
IRCI	1971	27.5	17 8	—	—	—	—	27.5	17.8
SFCS	—	579.6	403.3	13.6	1.8	15.5	12.6	608.7	417.7
SIDCS	—	121.7	83.5	—	—	52.9	36 2	174.6	119.7
UTI	1964	—	—	—	—	73.8	48.1	73.8	48.1
LIC	1956	127.5	95.8	—	—	169 3	136.9	296.8	232.7
योग		2402.9	1793.4	376.0	278 3	502 9	344 2	3281 8	2415 9

(Source : The Economic Times, Sept. 26, 1975)

समस्त वित्तीय संस्थानों द्वारा 31 मार्च, 1975 तक 3281 8 करोड़ रु० स्वीकृत किए गए, जिसमें से 2415.9 करोड़ रु० (73 6%) वितरित किए गए। 1974-75 में कुल सहायता 555.7 करोड़ रु० थी जो 1973-74 (445.8 करोड़ रु०) की तुलना में 25% अधिक थी। इस अवधि में वितरित राशि 301.7 करोड़ रु० से बढ़कर 428.1 करोड़ रु० (42% वृद्धि) हो गई। पिछले $2\frac{1}{2}$ दशाब्दि से निजी औद्योगिक क्षेत्र के वित्तीय ढांचे में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। प्रथम योजना के प्रारंभ में (1951) कुल पूंजी में अंश पूंजी का भाग 40% था जो 1973-74 में घटकर 20% रह गया। अन्य वित्तीय संस्थाओं के अतिरिक्त यूनिट ट्रस्ट व जीवन बीमा निगम भी दीर्घकालीन ऋणों के रूप में बड़े पैमाने के उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करते हैं। समस्त वितरित ऋण में रुपये में ऋण 74 2% विदेशी मुद्रा में ऋण 11.5% व शेष अभिगोपन व प्रत्यक्ष चंदे के रूप में था जिसकी राशि 1975 तक 344 2 करोड़ रु० थी। अभिगोपन कार्य में जीवन बीमा निगम का अंशदान सर्वाधिक था जो 39.8% था। इस क्षेत्र में ICICI का अंशदान 14 4%, UTI का अंशदान 14%, SIDC का अंशदान 10.5%, IDBI का अंशदान 9 4%, IFCI का

अंशदान 8.2% व SFC का अंशदान 3.7% था। 1974-75 में अभिगोपन ऋण 31 करोड़ रु० था जिसमें से जीवन बीमा निगम (LIC) का अंशदान 10.3 करोड़ रु० था, UTI का अंशदान 7.4 करोड़ रु० व SIDC का भाग 6.8 करोड़ रु० था। शेष अंशदान अन्य समस्त संस्थाओं का था। 1975 तक विदेशी मुद्रा में ऋण की मात्रा 376 करोड़ रु० थी, जिसमें से ICICI का अंशदान 305.7 करोड़ रु० था, जो विदेशी विनिमय की प्रतिकूल स्थिति होने पर भी विदेशी मुद्रा में दीर्घकालीन ऋण दिलाने की व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण योगदान देता रहा। विदेशी मुद्रा ऋण के रूप में IFCI का अंशदान 56.7 करोड़ रु० व समस्त SFC का अंशदान 13.6 करोड़ रु० रहा। विदेशी मुद्रा ऋण का वितरण 1974-75 में 34.4 करोड़ रु० था। जबकि 1973-74 में यह अंशदान 29.4 करोड़ रु० था। इन दोनों वर्षों में ICICI का भाग क्रमशः 84.6% व 89.7% था।

पिछले 10 वर्षों के ऋण स्वीकृत एवं वितरित की प्रवृत्ति का विश्लेषण करने से स्पष्ट होता है कि तीन वार्षिक योजनाओं में वार्षिक वृद्धि दर 6 से 8% थी और बाद के वर्षों में ऋण में 20% से वृद्धि हुई। इस वर्ष के बाद वार्षिक वृद्धि दर 12% रही। पिछड़े क्षेत्रों में तीव्र गति से औद्योगीकरण करने के उद्देश्य से 1970 से ही वित्तीय संस्थाएं रियायती दरों पर प्रत्यक्ष आर्थिक सहायता प्रदान कर रही हैं। पिछले 5 वर्षों में पिछड़े क्षेत्रों को 240 करोड़ रु० की सहायता दी गई। अखिल भारतीय वित्तीय संस्थाओं ने गत 5 वर्षों में अधिकांश सहायता विकसित राज्यों को दी जिसमें महाराष्ट्र, प० बंगाल, गुजरात, कर्नाटक व तमिलनाडु हैं। गत 6 वर्षों में कुल ऋण का 1/4 भाग महाराष्ट्र में स्थित उद्योगों को दिया गया। गुजरात को 11.9%, तमिलनाडु का 11.8%, प० बंगाल को 8.5% व कर्नाटक को 7.5% ऋण दिया गया। इस प्रकार 5 राज्यों को कुल ऋण का 64.2% वितरित किया गया। गत 6 वर्षों में कुल 1177.4 करोड़ रु० वितरित हुए, जिसमें से 1/4 भाग मशीनरी उत्पादक कंपनियों द्वारा लिया गया। 1/6 भाग विद्युत मशीनरी, उपकरण व लोहा व इस्पात कंपनियों को, सीमेंट, रबड़ कंपनियों को 3% से कम दिया गया, परंतु रसायन उद्योगों को अच्छा भाग प्राप्त हुआ। कुल सहायता राशि का 3/4 भाग नवीन योजनाओं एवं पुराने कारखानों के विस्तार के लिए दिया गया है। शेष राशि का उपयोग आधुनिकीकरण, विविधीकरण आदि पर हुआ। वित्तीय संस्थाओं का धन प्राथमिक उद्योगों पर व्यय किया गया। क्षेत्र के आधार पर विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि 6 वर्षों में 3/4 सहायता राशि निजी क्षेत्र की कंपनियों को दी गई, 1/6 राशि सार्वजनिक क्षेत्र को व शेष सहकारी क्षेत्र को दी गई। 1974-75 में सरकारी क्षेत्र की इकाइयों को 59.4 करोड़ रु० की सहायता दी गयी। 1974-75 में इन संस्थाओं के वित्तीय कोष में 1/3 भाग सहायता राशि का ही पुनर्भुगतान थी। जनता से निक्षेप व ऋण 59% थे तथा शेष राशि नकद व तरल साधनों से थी। 1974-75 में औद्योगिक विकास बैंक ने 2.8 करोड़ रु० से 6 राज्य वित्त निगमों की अंश पूंजी खरीदी थी। इसने 1.4 करोड़ रु० से औद्योगिक साख व विनियोग निगम के ऋण लिए तथा 1.9 करोड़ रु० के विशेष ऋण पत्र खरीदे। औद्योगिक वित्त निगम के 50% अंश पूंजी विकास बैंक के पास है। इसी प्रकार औद्योगिक पुनर्वित्त निगम की पूंजी का 50% भाग इसी बैंक ने लिया है। अखिल भारतीय वित्तीय संस्थानों का 1969-70 से 1974-75 तक क्षेत्रों के आधार पर ऋण की स्वीकृति एवं वितरण व्यवस्था निम्न प्रकार थी—

क्षेत्र आधार पर ऋण व्यवस्था—1969-70 से 1974-75

(करोड़ रु० में)

	स्वीकृत	वितरित
1. सार्वजनिक क्षेत्र	141.27	110.77
2. संयुक्त क्षेत्र	139.63	79.79
3. सहकारी क्षेत्र	106.77	95.08
4. निजी क्षेत्र	1235.70	891.71
योग	1623.37	1177.35

उद्योग के आधार पर वित्तीय संस्थानों द्वारा दी गई आर्थिक सहायता राशि निम्न प्रकार है—

उद्योग आधार पर ऋण 1969-70 से 1974-75

(करोड़ रु० में)

उद्योग	स्वीकृत	वितरित राशि	उद्योग	स्वीकृत	वितरित राशि
1. खाद्यान्न उत्पादन	115.17	87 63	9. लोहा व इस्पात	168.87	100.41
2. वस्त्र	95.24	76.44	10. अलोह धातु	17.53	18.44
3. कागज	64.91	49.41	11. अन्य धातु	37.65	22.69
4. रबड़ उत्पादन	70.79	32 96	12. मशीनरी उत्पादक	369 95	291.15
5. आधार औद्योगिक रसायन	95 23	59 33	13 विद्युत मशीनरी	112 84	94.24
6 उर्वरक	85 19	53 17	14. परिवहन उपकरण	88 32	63.53
7. अन्य उर्वरक	57.90	59.06	15. सड़क परिवहन सेवाएं	70.77	49.38
8. सीमेंट	16.35	18.11	16. अन्य	156 66	99.40
योग				1623.37	1177.35

(Source : The Economic Times, Sept 26, 1975)

1974-75 मे दी गयी सहायता के आधार पर एवं ऋण के लिए आई हुई प्रार्थना-पत्रों के आधार पर 1975-76 के लिए यह अनुमान लगाया जा सकता है कि औद्योगिक विकास बैंक पूर्व की तुलना मे अधिक मात्रा मे ऋण स्वीकृत एव वितरित करेगा।

विभिन्न वित्तीय संस्थाओं में समन्वय
(Coordination between different Financial Institutions)

भारत मे विकास बैंकिंग की उत्तम आतरिक सरचना है। अखिल भारतीय स्तर पर 1948 मे सार्वजनिक क्षेत्र मे स्थापित औद्योगिक वित्त निगम (IFC), विश्व बैंक के अतर्गत निजी क्षेत्र में स्थापित 1955 में औद्योगिक साख एव विनियोग निगम (ICICI), 1964 जुलाई मे स्थापित भारत का औद्योगिक विकास बैंक (IDBI) उच्चकोटि की संस्था है जो अन्य दीर्घकालीन वित्तीय सस्थाओं मे समन्वय स्थापित करता है जिसमे राज्य वित्त निगम (SFC) भी सम्मिलित किया गया है। औद्योगिक ढाचे की कमी को दूर करने के उद्देश्य से औद्योगिक विकास बैंक एक विकास एजेंसी के रूप में कार्य करता है। राज्य स्तर पर विभिन्न राज्यो मे 18 राज्य वित्त निगम कार्यरत हैं। राज्य सरकार ने औद्योगिक विकास कार्य को निश्चित ढग से करने के उद्देश्य से औद्योगिक विकास निगम (State Industrial Development Corporations) की स्थापना की है। इसके अतिरिक्त जीवन बीमा निगम एवं भारत का यूनिट ट्रस्ट मुख्यतया विनियोग संस्थाएं होने पर भी उद्योगो को आर्थिक सहायता प्रदान करते हैं।

औद्योगिक वित्त निगम एवं औद्योगिक साख विनियोग निगम विदेशी मुद्रा ऋण एवं रुपए मे सहायता प्रदान करते हैं। औद्योगिक विकास बैंक केवल रुपये की माग को पूर्ण करता है। अखिल भारतीय स्तर की वित्तीय संस्थाएं जैसे IDBI, IFCI एवं ICICI प्रत्यक्ष ऋण, अशो का अभिगोपन एवं ऋण की गारंटी व अस्थगित भुगतान की सुविधाएं प्रदान करती हैं। ये सुविधाएं प्राय: मध्यम व बड़े आकार के उद्योगों को ही दी जाती हैं। इसी प्रकार राज्य वित्त निगम विभिन्न राज्यों मे बड़े एवं मध्यम उद्योगो को ऋण सुविधाएं प्रदान करते हैं। राज्य वित्त निगम द्वारा सार्वजनिक सीमित कंपनी को अधिकतम 20 लाख रुपये तथा निजी सीमित कंपनी को अधिकतम 10 लाख रुपए ऋण के रूप मे दिए जा सकते हैं। औद्योगिक विकास बैंक व्यापारिक बैंको एवं राज्य वित्त निगम को मध्यमकालीन एव पुनर्वित्त सुवि-

धाएं प्रदान करता है। यह बैंक 50 लाख रुपये तक अस्थगित भुगतान आधार पर बिलों के पुनर्कटौती की सुविधाएं भी प्रदान करता है। अभी तक केवल निजी क्षेत्र के उद्योगों को ही ऋण सुविधाएं दी गई हैं। परन्तु केंद्रीय सरकार ने अभी हाल में नीति निर्णय लिया है कि सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों को भी वित्तीय सुविधाएं प्रदान की जा सकती हैं। विभिन्न प्रकार की वित्तीय संस्थाओं की स्थापना से उनमें आपस में प्रतिस्पर्द्धा होने का भय बना रहता है। परंतु यह सत्य नहीं है, बल्कि इनमें आपस में पूर्ण सहयोग व समन्वय पाया जाता है। उदाहरणार्थ सार्वजनिक सीमित कंपनियों को 20 लाख रुपए तक ऋण राज्य वित्त निगम द्वारा तथा 20 लाख रुपये से अधिक के ऋणों पर औद्योगिक वित्त निगम कार्यवाही करता है। यदि किसी इकाई को राज्य वित्त निगम ऋण देने में असमर्थ है तो 20 लाख रुपये से कम के ऋणों को औद्योगिक वित्त निगम ऋण स्वीकृति दे सकता है। सैद्धांतिक रूप से औद्योगिक वित्त निगम सार्वजनिक सीमित कंपनी एवं सहकारी संस्थाओं को ही ऋण प्रदान करता है और निजी कंपनियों, साझेदारी संस्थाओं व एकाकी व्यापार को ऋण प्रदान नहीं किया जा सकता। अतः व्यवहार में औद्योगिक वित्त निगम एवं राज्य वित्त निगम में प्रतिस्पर्द्धा होने का प्रश्न उत्पन्न ही नहीं होता। प्रायः इन दोनों संस्थाओं के कार्यों में समन्वय पाया जाता है। 20 लाख रुपए तक के ऋण राज्य वित्त निगम द्वारा व शेष ऋण की राशि औद्योगिक वित्त निगम द्वारा प्रदान की जाती है। कुछ बड़े आकार के उद्योगों, जैसे खाद कारखाना जिसने 50-60 करोड़ रुपये की पूंजी लागत का प्रबंध करना होता है, की वित्त व्यवस्था किसी एक वित्तीय संस्था द्वारा होना संभव न होने से समस्त वित्तीय संस्थाओं एवं व्यापारिक बैंक के सहयोग से ऋण प्रदान करने की व्यवस्था की जाती है। अतः औद्योगिक विकास बैंक के नेतृत्व में ऐसा समन्वित कार्यक्रम निर्मित करके औद्योगिक वित्त की मांग को पूर्ण करने के प्रयास किए जाते हैं। बड़े आकार के उद्योगों को 15-20% अंशदान प्रवर्तक द्वारा किया जाता है तथा शेष का प्रबंध भारतीय व विदेशी वित्तीय संस्थाओं द्वारा किया जाता है। अभिगोपन का कार्य विभिन्न वित्तीय संस्थाओं द्वारा किया जाता है। पिछले कुछ वर्षों से मंदी एवं श्रमिक संघर्ष के कारण उद्योगों द्वारा समय पर किश्त व ब्याज की राशि वापस नहीं की जा सकी है। अतः ऐसे प्रयास किए जाते हैं जिससे उद्योग उचित ढंग से कार्य कर सकें व किश्त व ब्याज की राशि का समय पर भुगतान किया जा सके।

43
हीनार्थ प्रबंधन
(Deficit Financing)

प्रारंभिक

विश्व के सभी विकसित कहे जाने वाले राष्ट्रों का आर्थिक विकास नियोजन के आधार पर ही किया गया है। विकसित राष्ट्रों की ही भांति अविकसित राष्ट्रों का आर्थिक विकास भी आर्थिक नियोजन के आधार पर किया जाने लगा है। नियोजन में बड़े पैमाने पर धन व्यय किया जाता है। नियोजन की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि योजना का निर्माण करके व्यय एवं आय के साधनों को स्पष्ट ढंग से दिखाया जाए। प्रायः आर्थिक विकास एवं युद्ध वित्त का समान आधार पर अध्ययन किया जाता है, क्योंकि युद्ध एवं विकास दोनों ही परिस्थितियों में मनुष्य एवं साधनों की मांग बढ़ जाती है तथा देश की श्रम एवं पूंजी शक्ति को युद्ध के कार्य अथवा विकास के कार्य में लगा दिया जाता है, जिससे आर्थिक विकास के दीर्घकालीन लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सके। समाज में श्रम व पूंजी की मांग बढ़ जाती है जिससे इनके मूल्यों में तीव्रता से वृद्धि हो जाती है। देश का आर्थिक विकास साधनों की उपलब्धता पर निर्भर करता है। अतः समस्त आर्थिक साधनों को अधिकतम मात्रा में उपयोग करने के प्रयास किए जाते हैं। विकास कार्यों में केवल सरकार ही उत्तरदायी नहीं होती, बल्कि विकास का कार्य निजी क्षेत्र को भी सौंप दिया जाता है, जबकि युद्ध-वित्त का कार्य पूर्णरूप से सरकार का ही होता है। आर्थिक विकास से उत्पादकता, आय एवं उपभोग स्तर में वृद्धि हो जाती है। विश्व का प्रत्येक विकसित एवं अविकसित राष्ट्र देश के आर्थिक विकास की ओर अधिकाधिक ध्यान देता है जिससे जीवन स्तर एवं राष्ट्रीय आय में वृद्धि संभव हो सके।

विकास वित्त एवं युद्ध वित्त में अंतर
(Difference between Development Finance and War Finance)

विकास वित्त एवं युद्ध वित्त में अंतर को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(1) पहल—युद्ध वित्त के लिए पहल सरकार की ओर से करनी होती है जबकि विकास वित्त हेतु सरकार एवं जनता दोनों की ओर से पहल की जा सकती है।

(2) व्यय एवं मूल्यों में वृद्धि—विकास एवं युद्ध दोनों में श्रम एवं सामग्री की मांग में वृद्धि हो जाती है, जिससे राज्य को उन्हें प्रचलित मूल्य पर खरीदना होता है, फलस्वरूप समाज के व्यय में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है।

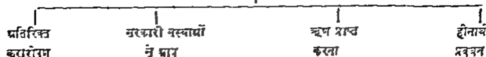
(3) जिम्मेदारी का अंतर—युद्ध वित्त एवं उसके व्यय को पूर्ण करने की सम्पूर्ण जिम्मेदारी सरकार की मानी जाती है, परंतु विकास वित्त के लिए सरकार एवं जनता दोनों को ही जिम्मेदार ठहराया जाता है।

वित्तीय साधन

योजना के अर्थप्रबंधन के लिए निम्न वित्तीय साधनों का प्रयोग किया जाता है—

(1) अतिरिक्त करारोपण—योजना को कार्यान्वित करने के लिए सामान्य से अधिक ही व्यय करना होता

योजना का प्रबंधन (वित्तीय साधन)



हीनार्थ प्रबंधन
(Deficit-Financing)

वर्तमान समय में हीनार्थ प्रबंधन राजकोषीय वित्तीय साधन का एक महत्वपूर्ण स्रोत माना जाता है। भूतकाल में हीनार्थ प्रबंधन का प्रयोग देश को विभिन्न प्रकार के संकटों जैसे युद्धकाल या अवसाद से बचने के लिए किया जाता था। सर्वप्रथम हीनार्थ प्रबंधन का उपयोग मंदी के समय रोजगार एवं उत्पादन स्तर को ऊंचा उठाने के लिए किया गया। द्वितीय विश्वयुद्ध काल में उत्पन्न स्फीति परिस्थितियों के लिए भी हीनार्थ प्रबंधन का प्रयोग किया गया। मंदी के समय इसका उपयोग विश्व के विकसित राष्ट्रों ने किया, परन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध में इसका उपयोग प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होने वाले समस्त राष्ट्रों ने किया। वर्तमान समय में इसका उपयोग अर्द्धविकसित राष्ट्रों द्वारा देश की अर्थव्यवस्था को सुधारने एवं देश के आर्थिक विकास लिए किया जाता है। इस प्रकार विकसित एवं अविकसित दोनों ही राष्ट्रों द्वारा हीनार्थ प्रबंधन का उपयोग किया गया। अमरीका में हीनार्थ प्रबंधन से आशय सार्वजनिक ऋण से लिया जाता है। भारत में हीनार्थ प्रबंधन का अर्थ अधिक नोटों की निकासी से होता है।

हीनार्थ प्रबंधन का अर्थ

इसका प्रयोग निम्न अर्थों में किया जाता है—

(1) सार्वजनिक ऋण विचार—जब सरकार का कुल व्यय उसकी कुल आय से अधिक हो तो इस घाटे को पूर्ण करने के लिए प्राप्त ऋण को हीनार्थ प्रबंधन कहते हैं।

(2) कुल घाटा विचार—जब सरकार की कुल आय उसके व्यय से कम हो तथा इस कमी को पूर्ण करने के लिए सरकार रिजर्व बैंक से नकद कोष निकाले अथवा नोटों को छापकर उचित प्रबंध करे तो उसे हीनार्थ प्रबंधन कहेंगे। इसमें दो बातों पर ध्यान दिया जाता है—

(i) केंद्रीय एवं राज्य दोनों सरकारों के बजटों को ध्यान में रखा जाना चाहिए।

(ii) इसमें मुद्रा की मात्रा में अवश्य वृद्धि होनी चाहिए।

(3) शुद्ध पूंजी विचार—जब सरकार संपत्ति में वृद्धि करने हेतु बजट के घाटों या शुद्ध संपत्ति में होनेवाले ह्रास को पूर्ण करने हेतु ऋणों का सहारा ले तो उसे हीनार्थ प्रबंधन कहेंगे। इसमें चालू आय व व्यय का अंतर शुद्ध ऋणों की मात्रा के बराबर होता है।

हीनार्थ प्रबंधन की परिभाषा
(Definition of Deficit Financing)

डा० राव के अनुसार—"जब सरकार जानबूझकर किसी उद्देश्य से अपनी आय से अधिक व्यय करे और घाटे की पूर्ति देश में मुद्रा की मात्रा बढ़ाकर करे तो उसे घाटे की वित्त-व्यवस्था कहते हैं।

हीनार्थ प्रबंधन की सफलता

देश में हीनार्थ प्रबंधन की सफलता निम्न बातों पर निर्भर करती है—

(i) पूंजी की आवश्यकता—उत्पादन कार्यों के लिए पूंजी की आवश्यकता जितनी कम होगी, हीनार्थ प्रबंधन

जाती है तथा सरकार की वास्तविक आय में कमी हो जाती है व अधिक मात्रा में घाटे के बजट बनाने से स्थिति बिगड़ जाती है।

(iii) हीनार्थ प्रबंधन का प्रयोग—हीनार्थ प्रबंधन का प्रयोग अनुत्पादक कार्यों की अपेक्षा उत्पादक कार्यों में सफलता के साथ संभव हो सकता है और पूर्ति में वृद्धि होने से मूल्य में वृद्धि नहीं हो पाती।

(iv) क्रय शक्ति को निष्क्रिय करना—सरकार द्वारा राशनिंग या मूल्य नियंत्रण करके अतिरिक्त क्रय-शक्ति को निष्क्रिय बनाने से जनता सीमित वस्तुओं का ही प्रयोग कर पाती है। इसी प्रकार बैंकों के नकद कोष में वृद्धि करके भी क्रय शक्ति को निष्क्रिय किया जा सकता है।

(v) अमौद्रिक अर्थव्यवस्था—अर्थव्यवस्था का जितना अधिक भाग अमौद्रिक होगा उतनी ही अधिक मात्रा में हीनार्थ प्रबंधन संभव हो सकता है। मुद्रा के विकास के साथ-साथ हीनार्थ प्रबंधन की मात्रा भी कम हो सकती है।

(vi) अतिरिक्त क्रय शक्ति की प्राप्ति—हीनार्थ प्रबंधन सरकार द्वारा अतिरिक्त क्रय शक्ति प्राप्त करने पर निर्भर करेगी। यदि सरकार बचत द्वारा धन प्राप्त करती है तो बड़ी मात्रा में हीनार्थ प्रबंधन किया जाएगा, अन्यथा नहीं।

(vii) जनता की मनोवृत्ति—हीनार्थ प्रबंधन जनता की मनोवृत्ति पर निर्भर होता है। जनता जितना त्याग करने को तत्पर होगी, उतना ही अधिक हीनार्थ प्रबंधन संभव हो सकेगा। देश में अनुकूल वातावरण उत्पन्न करके जनता को कष्ट सहन करने के लिए तैयार करके अधिक मात्रा में हीनार्थ प्रबंधन संभव हो सकता है।

हीनार्थ प्रबंधन के प्रभाव

हीनार्थ प्रबंधन देश की अर्थव्यवस्था को निम्न प्रकार से प्रभावित करता है—

(1) उपभोग की प्रवृत्ति—उपभोग की प्रवृत्ति कम होने पर हीनार्थ प्रबंधन की सफलता उतनी ही बढ़ जाती है। उपभोग प्रवृत्ति जीवन-स्तर एवं प्रति व्यक्ति आय पर निर्भर करती है। प्रायः आय बढ़ने पर उपभोग की प्रवृत्ति में वृद्धि हो जाती है व वस्तुओं व सेवाओं की मांग बढ़ने से मूल्यों में भी वृद्धि हो जाती है।

(2) साख उपयोग में वृद्धि—देश में साख उपयोग में वृद्धि होने से स्फीतिक प्रभाव भी बढ़ जाते हैं। हीनार्थ प्रबंधन के लिए केंद्रीय बैंक से ऋण लेने से द्रव्य की मात्रा में वृद्धि हो जाती है जो साख में वृद्धि को प्रोत्साहित करती है। साख का उपयोग कम होने से स्फीतिक प्रभाव भी कम हो जाते हैं।

(3) सरकारी व्यय—यदि सरकारी व्यय से जनता की मौद्रिक आय में वृद्धि होती है तो मूल्यों में वृद्धि होगी और हीनार्थ प्रबंधन के उद्देश्य प्राप्त न हो सकेंगे। इसके विपरीत यदि सरकार द्वारा अतिरिक्त कर आदि की व्यवस्था करके जनता से पुनः धन प्राप्त कर लिया जाए तो मूल्य वृद्धि की संभावना नहीं रहेगी तथा वांछित परिणाम प्राप्त हो सकेंगे।

(4) धन संचय—देश में धन संचय की प्रवृत्ति कम होने पर हीनार्थ प्रबंधन सफल नहीं होगा। इसके विपरीत यदि जनता में धन संचय करने की प्रवृत्ति है तो अतिरिक्त धन बचत हो जाएगा और स्फीति का भय नहीं रहेगा।

(5) घाटे का अनुपात—राष्ट्रीय आय में घाटे का अनुपात जितना कम होगा, मुद्रा स्फीति का प्रभाव उतना ही कम होगा। इसके विपरीत यदि अनुपात अधिक है तो प्रभाव भी अधिक हो पड़ेगा।

(6) आय में मुद्रा का अनुपात—यह अनुपात जितना अधिक होगा, हीनार्थ प्रबंधन का प्रभाव उतना ही कम होगा। इसके विपरीत यदि यह अनुपात कम है तो स्फीतिक संकट उत्पन्न हो जाएगे।

(7) विदेशी मुद्रा की मात्रा—देश में विदेशी मुद्रा की मात्रा अधिक होने पर हीनार्थ प्रबंधन के प्रभाव हानिकारक न होंगे, क्योंकि आयात अधिक होने पर भी भुगतान सरलता से किया जा सकेगा। इसके विपरीत परिस्थितियों में मूल्यों में वृद्धि होने पर संतुलन बनाए रखना कठिन हो जाएगा।

(8) साधनों का विदोहन—यदि साधनों का विदोहन नहीं किया जा रहा हो तो नई मुद्रा का उपयोग साधनों के विदोहन में किया जाएगा, जिससे उत्पादन में वृद्धि होकर स्फीतिक प्रभाव कम हो जाएगे। इसके विपरीत साधनों का विदोहन होते रहने पर उत्पादन में वृद्धि संभव न होने से असंतुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी और स्फीतिक प्रभावों को प्रोत्साहन मिलेगा।

जनता का दृष्टिकोण—यदि व्यक्ति वर्तमान को अधिक महत्त्व देता है तो हीनार्थ प्रबंधन से मूल्यों की वृद्धि को रोकने के प्रयास किए जाएंगे।

(10) सरकारी नियंत्रण—देश में सरकारी नियंत्रण प्रभावपूर्ण होने पर, हीनार्थ प्रबंधन से मूल्यों की वृद्धि पर नियंत्रण सरलता से लगाया जा सकेगा। इसके विपरीत सरकारी नियंत्रण प्रभावपूर्ण न होने पर मूल्यों पर नियंत्रण लगाना कठिन होगा।

(11) जनता का सहयोग—जनता का सहयोग उचित समय पर प्राप्त होने पर हीनार्थ प्रबंधन के प्रभावों को कम किया जा सकेगा। इसके विपरीत यदि जनता का सहयोग प्राप्त नहीं होता है तो इसके प्रभावों को कम करना सरल एवं संभव न हो सकेगा।

विकसित राष्ट्रों में हीनार्थ प्रबंधन

यदि विकसित राष्ट्र मंदी के चक्कर में फंस गया हो तो हीनार्थ प्रबंधन का सहारा लेकर ही उस मंदी को समाप्त किया जा सकेगा। इस परिस्थिति में हीनार्थ प्रबंधन द्वारा माग में वृद्धि निम्न प्रकार से संभव हो सकेगी—

(i) नवीन नोट छापकर—नवीन मुद्रा छापने से देश में क्रय शक्ति बढ़ जाती है, जिसकी सहायता से नवीन उद्योगों को प्रारंभ किया जा सकता है। उद्योगों के लिए विभिन्न प्रकार की वस्तुओं की आवश्यकता होती है, जिससे माग में वृद्धि हो जाती है।

(ii) ऋण अथवा बचत प्राप्त करके—यदि हीनार्थ प्रबंधन ऋण अथवा बचत से किया गया है तो देश का बेकार पड़ा धन एकत्रित होकर विशाल रूप धारण करके उद्योगों की स्थापना में सहायता करता है, जिससे माग में वृद्धि हो जाती है।

अविकसित राष्ट्रों में हीनार्थ प्रबंधन

अविकसित राष्ट्रों में कुछ ऐसी परिस्थितिया पाई जाती हैं, जिसके कारण हीनार्थ प्रबंधन करना कठिन हो जाता है। यह परिस्थितिया प्रायः निम्नलिखित हैं—

(i) सरकारी शासन का अप्रभावपूर्ण होना—यदि सरकारी शासन प्रभावपूर्ण नहीं है तो मूल्य ऊंचे होने पर आवश्यक वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाते हैं तथा निश्चित आय पाने वाले व्यक्तियों को हानि होती है। अतः मूल्य वृद्धि पर सरकार का नियंत्रण होना आवश्यक है।

(ii) कृषि पर निर्भरता—अविकसित राष्ट्र प्रायः कृषि पर निर्भर होते हैं, अतः हीनार्थ प्रबंधन करने पर कारखानों के अभाव के कारण पूर्ति बढ़ाना संभव नहीं होगा, फलस्वरूप वस्तुएं महंगी हो जाएंगी, कृषकों को लाभ होगा, जो उसे उपभोग में व्यय कर देंगे जिससे माग में वृद्धि होकर मूल्यों में और अधिक वृद्धि होगी।

(iii) अज्ञानता—जिस देश में पिछड़े व बिना पढ़े-लिखे व्यक्ति होंगे, वहां पर हीनार्थ प्रबंधन करने से वस्तुओं के मूल्यों में सरलता से वृद्धि संभव होगी।

उपयुक्त परिस्थितियां

अविकसित राष्ट्रों में उपयुक्त परिस्थितियां होने पर ही हीनार्थ प्रबंधन को अधिक सफल बनाया जा सकता है। यह परिस्थितिया निम्न हैं—

(i) बैंकिंग सुविधाओं की कमी—इन राष्ट्रों में बैंकिंग सुविधाओं के अभाव के कारण अधिकांशतया कार्य नकदी में होता है और साख का प्रयोग न्यूनतम होता है। अतः हीनार्थ प्रबंधन द्वारा मुद्रा प्रसार करने पर भी अर्थ-व्यवस्था पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ेगा।

(ii) परिवहन के साधनों का अभाव—अविकसित राष्ट्रों में परिवहन के साधनों के अभाव के कारण वस्तुओं की पूर्ति को सरलता से बढ़ाना संभव न हो सकेगा। ऐसी स्थिति में मुद्रा प्रसार करने पर भी देश के बड़े भाग

(अ) सुधारात्मक उपाय (Remedial Measures)—इसमें मुद्रा स्फीति को रोकने के लिए समस्त सरकारी उपायों को सम्मिलित किया जाता है। देश में मुद्रा स्फीति के चिह्नों के प्रकट होते ही इन उपायों का उपयोग किया जाता है, जिसका प्रमुख उद्देश्य माग को नियंत्रित करके वस्तुओं की पूर्ति के प्रवाह का नियंत्रित करना है। इसमें निम्न उपायों को सम्मिलित किया जाता है—

(1) पूंजी व विनियोग पर नियंत्रण—जिन वस्तुओं का देश में अभाव हो, उनके उत्पादन को प्रोत्साहित करने के लिए सरकार द्वारा पूजी व विनियोग पर ऐसे नियंत्रण लगाए जाते हैं कि जिससे पूंजी उन्ही उद्योगो मे आकर्षित हो सकें। इसी प्रकार, सरकार असाभकारी उद्योगो मे विनियोग को नियन्त्रित कर सकती है।

(2) कर नीति—देश में उचित कर नीति की सहायता से माग के दबाव व पूर्ति के प्रवाह को एक साथ नियंत्रित किया जा सकता है। विशेष उपक्रम मे पूजी आकर्षित करने के लिए करों मे छूट देकर उत्पादन को प्रोत्साहित किया जा सकता है। मुद्रा प्रसार जनता की क्रय शक्ति में वृद्धि लाकर मांग मे वृद्धि लाता है। यदि कर द्वारा अतिरिक्त आय को एकत्रित कर लिया जाए तो बढती हुई माग को सरलता से नियन्त्रित किया जा सकता है।

(3) पूर्ति के वितरण को नियंत्रित करना—देश मे उपलब्ध पूर्ति के वितरण को नियन्त्रित करके स्फीतिक प्रभावों को कम किया जा सकता है। इसमें मूल्य नियंत्रण राशनिंग एवं वितरण पर नियंत्रण आदि को सम्मिलित किया जाता है।

(4) विनिमय नियंत्रण—विनिमय नियत्रण द्वारा भी मुद्रा स्फीति को नियन्त्रित किया जा सकता है। विदेशी विनिमय नियत्रण की नीति से अनावश्यक विदेशी उपभोग वस्तुओ के आयात को कम करके आवश्यक पूजीगत सामान के लिए विदेशी विनिमय उपलब्ध हो सकते हैं जिससे स्फीतिक प्रभावो को रोका जा सकेगा।

(5) उचित मौद्रिक नीति—उचित मौद्रिक नीति को अपनाकर साख व मुद्रा पूर्ति पर नियंत्रण करके आवश्यक एवं उपयोगी कार्यों मे ही विनियोग को प्रोत्साहित किया जा सकता है तथा सीमित विनियोग साधनो को अनावश्यक व कीमती योजनाओ मे लगाने से रोका जा सकेगा, जैसे बड़े भवन व विलासपूर्ण रेस्टोरेंट के निर्माण आदि पर व्यय के स्थान पर सार्वजनिक उपयोग की वस्तुओं के निर्माण पर व्यय करना अधिक लाभकारी सिद्ध होगा जैसे कि पार्क, अस्पताल, वाचनालय, कालिज आदि का निर्माण करना आदि।

(ब) प्रतिबंधात्मक उपाय (Preventive Measures)—इन उपायो मे निम्न को सम्मिलित किया जाता है—

(1) विनियोग व उत्पादन में समय अंतराल को कम करना—प्राय: विनियोग करने पर वस्तुओ के उत्पादन मे तुरत वृद्धि नही हो पाती और विनियोग करने व माल के उत्पादन करने मे समय लग जाता है, जिससे पूर्ति के अभाव मे मूल्य वृद्धि से स्फीतिक परिस्थितिया उत्पन्न हो जाती हैं। अत: ऐसे उपाय काम मे लाए जाते है जिससे समय अंतराल कम हो जाय। इसी उद्देश्य को ध्यान मे रखते हुए कृषि मे सुधार, लघु उद्योग, खाद्यान्न मे वृद्धि आदि मे विनियोगों को प्रोत्साहित किया जाता है जो कि शीघ्र उत्पादन बढ़ाते हैं।

(2) साधनों को उत्पादन में लगाना—यदि हीनार्थ प्रबंधन से उत्पन्न वास्तविक साधनो को वस्तुओ के उत्पादन में लगा दिया जाए तो स्फीतिक प्रभावो को रोका जा सकता है।

(3) उपभोग वस्तुओं की पूर्ति बढ़ाकर—हीनार्थ प्रबंधन से आय में वृद्धि होकर माग मे वृद्धि हो जाती है, परतु उसके उत्पादन में समानातर वृद्धि न होने से स्फीतिक परिस्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं। अत. स्फीति को रोकने के लिए प्रारभ से ही ऐसे प्रयास किए जाने चाहिए कि हीनार्थ प्रबंधन के साथ-साथ देश मे उपभोक्ता वस्तुओं की पूर्ति में भी वृद्धि संभव हो सके।

(4) विदेशी विनिमय तक सीमित—यदि देश मे उपलब्ध विदेशी विनिमय की मात्रा के बराबर ही हीनार्थ प्रबंधन किया जाए तो स्फीतिक प्रभावों को रोका जा सकेगा। भारत मे प्रथम पंचवर्षीय योजनाकाल में सरकार ने द्रव्य से रिजर्व बैंक से स्टलिंग क्रय करके हीनार्थ प्रबंधन किया जिससे देश मे स्फीतिक परिस्थितियां उत्पन्न न हो सकीं।

प्रतिबंधात्मक उपाय, सुधारात्मक उपाय से अच्छे माने जाते हैं, परतु अर्द्ध विकसित राष्ट्रों मे यह अधिक सफल नही हो पाए हैं।

भारत में हीनार्थ प्रबंधन
(Deficit Financing in India)

प्रथम योजना—प्रथम योजना के निर्माण में कोरियाई युद्ध से उत्पन्न स्फीति को ध्यान में रखते हुए कुछ आवश्यक समस्याओं के समाधान को ध्यान में रखा गया। योजना का निर्माण करते समय यह सोचा गया था कि इससे समाज के साधनों पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। इस योजना में 290 करोड़ रुपये से हीनार्थ प्रबंधन करने का प्रावधान रखा गया, परंतु योजना के अंत तक वास्तविक रूप में 420 करोड़ रुपये से हीनार्थ प्रबंधन किया गया जो कि कुल योजना के व्यय का लगभग 21% भाग था। इस काल में हीनार्थ प्रबंधन होने पर भी वस्तुओं के मूल्यों में विशेष वृद्धि नहीं हुई क्योंकि (i) स्टर्लिंग शेष के कारण आयात के बदले में निर्यात नहीं करना पड़ता था, (ii) मानसून एवं जलवायु अनुकूल होने से कृषि में पर्याप्त वृद्धि हुई।

द्वितीय योजना—प्रथम योजना की सफलता को ध्यान में रखते हुए द्वितीय योजना का निर्माण विनियोग के ऊँचे लक्ष्यों को ध्यान में रखकर किया गया। यह योजना 7200 करोड़ रुपये की बनाई गई थी जिसमें से 4800 करोड़ रुपये सार्वजनिक क्षेत्र में व्यय करने थे। इस योजना में 1200 करोड़ रुपये से हीनार्थ प्रबंधन करने का प्रावधान रखा गया, जिसमें से 200 करोड़ रुपये स्टर्लिंग कोष से तथा 1000 करोड़ रुपये की अतिरिक्त मुद्रा का सृजन करना था। परन्तु वास्तव में 948 करोड़ रुपये से ही हीनार्थ प्रबंधन किया गया जो कि कुल योजना के व्यय का 21% भाग था। इस योजना में मुद्राप्रसार को रोकने हेतु योजना आयोग ने कुछ सुझाव दिए—(i) भेदपूर्ण करनीति को लागू किया जाना चाहिए, (ii) राशनिंग द्वारा उपभोग को नियंत्रित किया जाए, (iii) स्टाक का निर्माण करके खाद्यान्न व कपड़े का मूल्य स्थिर रखना।

तृतीय योजना—द्वितीय योजना के अंत में देश की आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए इस बात पर जोर दिया गया कि तृतीय योजना में हीनार्थ प्रबंधन की राशि कम रखी जाएगी। इस योजना में 550 करोड़ रुपये ही हीनार्थ प्रबंधन के लिए रखे गए थे, परन्तु वास्तव में 1150 करोड़ रुपये से हीनार्थ प्रबंधन किया गया जो कि कुल व्यय का 13% भाग था। इस योजना में हीनार्थ प्रबंधन का उपयोग कम-से-कम करना था, परन्तु ऐसा संभव न हो सका और लक्ष्य से 600 करोड़ रुपये का अधिक हीनार्थ प्रबंधन किया गया। इससे मुद्रा की वास्तविक कीमत में कमी हो गई तथा वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि हो गई, आवश्यक वस्तुओं का अभाव हो गया, सट्टेबाजी को प्रोत्साहन मिला तथा देश की अर्थव्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गई।

वार्षिक योजनाएं—1966-67 की एकवर्षीय योजना में 13 करोड़ रुपये से ही हीनार्थ प्रबंधन करना था, परंतु वास्तव में यह राशि 223 करोड़ रुपये रही। 1967-68 की द्वितीय एकवर्षीय योजना में घाटे की व्यवस्था 14 करोड़ रुपये रखी गई परन्तु वास्तव में यह घाटा 193 करोड़ रुपये रहा। 1968-69 में 307 करोड़ रुपये घाटे की वित्त व्यवस्था का अनुमान था, परन्तु वास्तविक राशि 260 करोड़ रुपये रही।

चतुर्थ योजना—प्रथम तीन योजनाओं में 2518 करोड़ रुपये का हीनार्थ प्रबंधन किया जा चुका था, जिससे देश में वस्तुओं के मूल्यों में काफी वृद्धि हो गई थी तथा देश के आर्थिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। तृतीय योजना के मध्य से देश की स्थिति बहुत खराब हो गई। 1965 के पाकिस्तानी आक्रमण के समय विदेशी सहायता मिलनी बंद हो गई, देश में खाद्यान्न का अभाव होने से स्थिति खराब हो गई। निर्यात घट रहे थे तथा मूल्यों में निरंतर वृद्धि हो रही थी। इन समस्त बातों को ध्यान में रखते हुए चतुर्थ योजना में 24,398 करोड़ रुपये की व्यय राशि में से केवल 850 करोड़ रुपये से ही हीनार्थ प्रबंधन करने का लक्ष्य रखा गया जो कुल व्यय का केवल 3½% है। वास्तव में 1969-70 से 1973-74 तक कुल घाटे की व्यवस्था 1,203 करोड़ रुपये रही। चतुर्थ योजना में कुल हीनार्थ प्रबंधन 1,840 करोड़ रुपये से हुआ।

पंचम योजना—यह योजना 53,411 करोड़ रुपये की बनाई गई जिसमें से 37,250 करोड़ रुपये सार्वजनिक क्षेत्र तथा 16,161 करोड़ रुपये निजी क्षेत्र में व्यय होंगे। इस योजना में आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के प्रयास किए जाएंगे। अतः हीनार्थ प्रबंधन पर न्यूनतम ध्यान दिया जाएगा और इसकी मात्रा शून्य रखी गई है।

विभिन्न योजनाओं के हीनार्थ प्रबंधन की राशि को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

योजनाओं में हीनार्थ प्रबंधन

(करोड़ रुपये में)

योजना (सार्वजनिक क्षेत्र)	कुल व्यय	हीनार्थ प्रबंधन लक्ष्य	वास्तविक हीनार्थ	प्रतिशत
प्रथम योजना	1,960	290	420	21
द्वितीय योजना	4,600	1200	948	21
तृतीय योजना	8,577	550	1,133	13.2
तीन एकवर्षीय योजनाएं	6,756	334	682	10.1
चतुर्थ योजना	15,902	850	1,840	5 3
पंचम योजना	37,250	Nil	—	—

भविष्य में हीनार्थ प्रबंधन पर निर्भरता समाप्त प्रायः हो जाएगी ।

भारत में विदेशी पूंजी
(Foreign Capital in India)

प्रारंभिक

एक विकासशील राष्ट्र अपने विकास कार्यक्रमों को पूर्णतया घरेलू बचतों से ही पूर्ण नहीं कर सकता, क्योंकि इसमें विदेशों से आयात किया गया सामान भी सम्मिलित रहता है। अर्द्धविकसित राष्ट्रों में प्रायः पूंजी, मशीनों एवं तकनीकी ज्ञान का अभाव पाया जाता है और इसकी पूर्ति विदेशी पूंजी से ही की जाती है। प्रायः यह माना जाता है कि विदेशी पूंजी के अभाव में अर्द्धविकसित राष्ट्र उन्नति नहीं कर सकते। विश्व के अर्द्धविकसित एवं अविकसित राष्ट्रों में जनता के रहन-सहन का स्तर निम्न होता है, वहां औद्योगीकरण का अभाव पाया जाता है परंतु कृषि देश का प्रधान व्यवसाय होता है। अतः वहां देश के आर्थिक विकास संबंधी योजनाओं को कार्यान्वित करने एवं विकास की गति को तीव्र करने के लिए विदेशी पूंजी की आवश्यकता होती है। इन राष्ट्रों में प्रति व्यक्ति आय कम होने से बचत में वृद्धि संभव नहीं हो पाती और इस कमी को पूर्ण करने के लिए विदेशी पूंजी का सहारा लेना पड़ता है। विदेशी पूंजी की सहायता से विनियोग स्तर को बढ़ाया जा सकता है। अर्द्धविकसित राष्ट्रों के विकास की प्रारंभिक अवस्था में कच्चे माल का निर्यात कम करके मशीनों व तकनीकी ज्ञान का आयात अधिक करने से भुगतान संतुलन विपक्ष में हो जाता है। इसे विदेशी ऋणों एवं विदेशी अनुदानों से पूर्ण किया जाता है इस प्रकार देश के विकास के लिए विदेशी पूंजी का प्राप्त करना आवश्यक हो जाता है। विदेशी पूंजी के साथ विदेशी तकनीकी प्राप्त होने से आर्थिक विकास की गति में तीव्रता आ जाती है। इसकी प्राप्ति से विदेशी विनिमय भुगतान की कठिनाइयां भी दूर हो जाती हैं। भारत की सभी पंचवर्षीय योजनाओं के सफल संचालन में विदेशी सहायता का बहुत बड़ा हाथ रहा है। वर्तमान समय में विकसित राष्ट्रों के हित में यह है कि वे अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों को उनके आर्थिक विकास के प्रयासों में सहायता करें। गरीबी विश्व की संपन्नता के लिए एक महान खतरा है और उसे दूर करने हेतु ही अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों को आर्थिक सहायता दी जा रही है। पंचम योजना का मुख्य लक्ष्य देश से गरीबी हटाना है, जिससे आय की असमानता को समाप्त करके विकास की संभावनाओं को बढ़ाया जा सके।

विदेशी पूंजी का महत्त्व

विश्व के प्रायः सभी विकसित कहे जाने वाले राष्ट्र किसी न किसी सीमा तक विदेशी पूंजी एवं सहायता पर निर्भर रहे हैं। विदेशी पूंजी के अभाव में कोई भी राष्ट्र उन्नति नहीं कर सका है। विदेशी पूंजी के महत्त्व को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(1) विनियोग की आवश्यकता को पूर्ण करना—कम आय वाले राष्ट्रों में घरेलू बचत की राशि कम होने से सरकार द्वारा करों व आंतरिक ऋणों के रूप में राशि विनियोग की मांग को पूर्ण करने में असमर्थ रहती है। अतः बाह्य साधनों से सहायता प्राप्त करके इस कमी को पूर्ण किया जाता है।

(2) साधनों की प्राप्ति—विकास कार्यों के लिए घरेलू एवं बाह्य साधनों के अपर्याप्त होने पर विदेशी

सहायता लेकर उसे पूर्ण किया जा सकता है। कर या मुद्रा प्रसार द्वारा जो बचत प्राप्त की जाती है उससे वास्तविक साधनों में वृद्धि नहीं होती। वित्तीय साधनों का अधिकांश भाग घरेलू वस्तुओं के उपभोग पर व्यय किया जाता है। इस प्रकार सरकार द्वारा एकत्रित किए गए वित्तीय साधनों में से केवल वह भाग जो विदेशी वस्तुओं को प्राप्त करके उपयोग हो सकता था, वह अतिरिक्त विदेशी विनिमय द्वारा ही प्राप्त हो सकता है।

(3) **घरेलू अर्थव्यवस्था पर भार में कमी**—विनियोग के साधनों में वृद्धि करने के लिए आंतरिक उपभोग को कम करना होगा जिसका जनता पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। परन्तु विदेशी पूंजी की सहायता से उपभोग स्तर को उच्चतम स्तर पर रखा जा सकता है। इससे उत्पादन में वृद्धि होगी तथा विदेशी पूंजी का आयात बढ़ाकर उपभोग वस्तुओं की पूर्ति में वृद्धि संभव करके घरेलू अर्थव्यवस्था के भार में सरलता से कमी की जा सकेगी व विकास संभव हो सकेगा।

(4) **आर्थिक विकास को बढ़ावा**—अविकसित राष्ट्र बाह्य व्यापार की सहायता से पर्याप्त मात्रा में विदेशी विनिमय अर्जित करने में असमर्थ रहता है, परंतु विदेशी पूंजी की सहायता से नवीन योजनाओं को प्रोत्साहित किया जा सकता है। विदेशी पूंजी से घरेलू साधनों के प्रयोग की सुविधा प्राप्त होगी तथा देश में पूंजी प्रधान विकास कार्यक्रमों में सहायता प्राप्त होगी। विदेशी पूंजी की निश्चित मात्रा होने पर देश में आर्थिक विकास की दीर्घकालीन योजनाओं का निर्माण किया जा सकता है।

(5) **भुगतान संतुलन को ठीक करना**—विदेशी पूंजी भुगतान संतुलन को ठीक करती है। अर्द्धविकसित राष्ट्रों में तीव्र विकास प्रायः भुगतान संतुलन की कमी को उत्पन्न करता है जिसे विदेशी पूंजी की सहायता से सुधारा जा सकता है। देश के तीव्र आर्थिक विकास के लिए विदेशों से मशीनरी एवं अन्य आवश्यक सामान आयात करना पड़ता है जिसे विदेशी पूंजी की सहायता से सरलता से सुधारा जा सकता है।

(6) **जीवन-स्तर में वृद्धि**—विकसित एवं अविकसित राष्ट्रों के नागरिकों के जीवन-स्तर में अंतर पाया जाता है जो विश्व शांति को खतरा उत्पन्न करता है। अतः अविकसित राष्ट्रों में तीव्र विकास होना आवश्यक है, जो विदेशी पूंजी की सहायता से ही संभव हो सकता है।

(7) **जोखिम उठाना**—विदेशी पूंजी द्वारा जोखिम में कमी होकर नवीन उद्योगों के प्रारंभ होने का साहस बढ़ता है। यदि नवीन उद्योग असफल हो जाते हैं तो भारी हानि उठानी पड़ती है। विदेशी पूंजी नवीन उद्योगों को प्रारंभ करके भारी हानि सहन करने का साहस करती है, जिससे घरेलू पूंजीपति बिना प्रारंभिक हानि उठाए, उस व्यवसाय से लाभ अर्जित करते हैं।

(8) **प्राविधिक ज्ञान व योग्यता को प्राप्त करना**—अविकसित राष्ट्रों में प्रायः प्राविधिक ज्ञान एवं प्रबंध योग्यता का अभाव पाया जाता है, जिसे विदेशी पूंजी की सहायता से दूर किया जा सकता है। क्योंकि विदेशी पूंजी के साथ-साथ प्राविधिक ज्ञान एवं प्रबंध योग्यता का आयात भी हो जाता है।

विदेशी पूंजी के खतरे

विदेशी पूंजी से उत्पन्न होने वाले प्रमुख खतरे निम्न हैं—

(1) **देश की सुरक्षा का खतरा**—विदेशी पूंजी पर निर्भर रहना सुरक्षा को खतरे उत्पन्न करता है क्योंकि संकटकालीन परिस्थितियों में, जब देश को अधिक पूंजी की आवश्यकता होती है, उस समय विदेशी पूंजीपति अपनी पूंजी की रक्षा के लिए उसे विदेशों के वापस ले जाने का प्रयास करते हैं। यदि यह पूंजी सुरक्षा एवं आधारभूत उद्योगों में विनियोजित है तो स्थिति और भी अधिक गंभीर हो जाती है।

(2) **घरेलू पूंजी को खतरा**—अर्द्धविकसित राष्ट्रों को पूंजी प्रायः उन्हीं राष्ट्रों से प्राप्त होती है, जिनका प्राविधिक स्तर काफी ऊंचा होता है। उनसे घरेलू पूंजी को सदैव खतरा उत्पन्न रहता है और वह विदेशी प्रतियोगिता में ठहर नहीं पाती।

(3) **पक्षपात एवं भेदभावपूर्ण नीति**—विदेशी सहयोग से जो औद्योगिक संस्थाएं स्थापित की जाती हैं, उनमें उच्च पदों पर प्रायः विदेशी व्यक्तियों को ही नियुक्त करके पक्षपात की नीति का पालन किया जाता है जिससे भारतीय प्रशिक्षण से वंचित रह जाते हैं।

(4) अधिक मूल्य लेना—अर्द्धविकसित राष्ट्रों में पूंजी एवं प्राविधिक ज्ञान का अभाव होने से, विकास कार्यक्रमों पर विदेशी पूंजी पर निर्भर रहना पड़ता है तथा विदेशी मशीनों एवं प्राविधिक सेवाओं के लिए अधिक मूल्य वसूल करते हैं, जिससे वस्तुओं के मूल्य अनावश्यक रूप से बढ़ जाते हैं।

(5) पूंजी निर्माण को खतरा—देश को ब्याज एवं लाभ के रूप में एक बड़ी धनराशि विदेशों को भुगतान करनी पड़ती है जिससे देश में पूंजी निर्माण को सदैव खतरे उत्पन्न हो जाते हैं और आवश्यकता के समय देश में पूंजी का अभाव बना रहता है।

(6) राजनीतिक प्रभुत्व—व्यापार के साथ ध्वजा चलती है, अतः विदेशी पूंजी राजनीतिक प्रभुत्व को उत्पन्न करता है। विश्व के अनेक राष्ट्रों का इतिहास इस बात का साक्षी है कि विदेशी पूंजी के आयात से आर्थिक विकास भले ही हुआ हो, परन्तु वह राष्ट्र राजनीतिक दृष्टि से पराधीन हो जाते हैं और इन पर विदेशी शासकों का प्रभुत्व बना रहता है।

(7) शक्ति का विदेशियों के हाथों में केंद्रीकरण—विदेशी पूंजी से उद्योग विदेशियों के हाथों में केंद्रित हो जाते हैं जो देश के हितों की अवहेलना करते हुए लाभ की आशा से उनका संचालन करते हैं तथा शोषण करने के प्रयास करते हैं।

(8) देश का असंतुलित विकास—विदेशी पूंजी प्रायः उन्हीं उद्योगों में विनियोजित की जाती है, जिसमें लाभ मिलने की अधिक सम्भावना हो। इसमें आवश्यक उद्योगों की उपेक्षा की जाती है, परिणामस्वरूप देश का औद्योगिक विकास संतुलित ढंग से नहीं हो पाता और आवश्यक उद्योगों का अभाव हो जाता है।

विदेशी पूंजी संबंधी सावधानियां—

विदेशी पूंजी का उपयोग करते समय निम्न सावधानियों का प्रयोग करना चाहिए—

(1) विधि अनुसार उपयोग—विदेशी पूंजी का उपयोग अपने देश की विधि के अनुरूप ही करना चाहिए तथा शोषण के प्रति सख्त प्रतिबंध लगाए जाने चाहिए।

(2) बचत को प्रोत्साहन—विदेशी पूंजी को इस प्रकार प्रोत्साहित किया जाए जिससे देश की आतंरिक बचत को प्रोत्साहन मिलकर पूंजी का निर्माण सम्भव हो सके। बचत की दर 1973-74 में सकल राष्ट्रीय उत्पादन के रूप में 12.2% थी जिसे 1978-79 में बढ़ाकर 15.4% रखा गया है। सरकारी बचत की दर 1972-73 में 11.2% थी जो 1978-79 में बढ़कर 22.8% होगी।

(3) उचित उपयोग—विदेशी पूंजी का उपयोग देश की आवश्यकताओं के अनुसार ही किया जाना चाहिए तथा लाभ पर न्यूनतम ध्यान दिया जाना चाहिए।

(4) आर्थिक विकास में सहायक—विदेशी पूंजी प्रायः लाभकारी उद्योगों में ही विनियोजित की जाती है तथा देश की मांग पर ध्यान नहीं दिया जाता। अतः आर्थिक विकास को ध्यान में रखकर ही विदेशी पूंजी का उपयोग करना चाहिए।

(5) प्राविधिक सहयोग—विदेशी पूंजी का उपयोग उपभोक्ता सामग्री एवं प्राविधिक सहयोग के रूप में प्राप्त करने के प्रयास करने चाहिए जिससे उसका उपयोग देश के विकास में सरलता से किया जा सके।

(6) तत्काल लाभ की योजनाएं—विदेशी पूंजी की सहायता से ऐसी योजनाएं बनाई जानी चाहिए जिससे देश को तत्काल लाभ प्राप्त हो सके तथा अन्य कार्यक्रमों में उनका उपयोग किया जा सके।

(7) ऋणों की वापसी का प्रबंध करना—ऋण लेने के पश्चात् ऋण व ब्याज दोनों को वापस करने की जिम्मेदारी रहने से उस संबंध में उचित प्रबंध करने के प्रयास करने चाहिए जिससे अल्पावधि में ऋण की अदायगी सरलता से की जा सके।

(8) निर्यात को प्रोत्साहन—जिन राष्ट्रों से विदेशी पूंजी प्राप्त की जाती है, उनको अधिकाधिक मात्रा में माल निर्यात किया जाना चाहिए जिससे ऋण के भार को सरलता से कम किया जा सके।

विदेशी पूजी की सीमाएं

विदेशी पूजी उन राष्ट्रों के विकास में सहायक सिद्ध नही होगी, जहा पूजी सोखने की शक्ति का अभाव हो। यह अभाव अनेक कारणो से होता है। इस प्रकार विदेशी पूजी की प्रमुख सीमाएं निम्न हैं—

(1) सुनिश्चित योजना का अभाव—यदि राष्ट्र मे पूर्वनिश्चित योजना का अभाव पाया जाता है तो देश में विदेशी पूजी का पूर्णरूपेण व सही उपयोग संभव न हो सकेगा।

(2) प्रशिक्षण की कठिनाई—यदि देशी श्रमिकों को प्रशिक्षण देना कठिन हो तो विदेशी पूजी का उपयोग संभव न हो सकेगा।

(3) परिवहन व संचार का अभाव—देश मे परिवहन व संचार के अभाव विद्युत व अन्य जनोपयोगी सेवाओ के अभाव के कारण, विदेशी पूजी को उत्पादक कार्यों मे विनियोग करना संभव न हो सकेगा।

(4) कुशल प्रबंधकों का अभाव—यदि देश मे योग्य एवं कुशल प्रबंधको का अभाव पाया जाय तो विदेशी पूजी का उचित उपयोग सभव न होगा। अविकसित एवं अर्द्धविकसित देशो मे प्रायः कुशल प्रबधको का अभाव पाया जाता है, जिससे विदेशी पूजी प्राप्त होने पर भी उसका उचित उपयोग संभव नही हो सकेगा।

(5) नवीन प्रणालियां अपनाने में असमर्थ—देश की सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थाए उत्पादन की नवीन प्रणालिया अपनाने मे असमर्थ हो तो विदेशी पूजी का उपयोग संभव न हो सकेगा।

विदेशी पूजी की हानिया

विदेशी पूजी के उपयोग से देश को अनेक प्रकार की हानियों के होने की संभावना बनी रहती है। यह हानियां निम्न प्रकार हैं—

(1) घरेलू विनियोक्ताओ को बाहर करने का भय—अनियंत्रित स्वतंत्रता प्रदान करने से यह भय बना रहता है कि कहीं विदेशी विनियोक्ता स्वदेशी विनियोक्ताओ को क्षेत्र से बाहर न कर दें और अपना आधिपत्य जमा लें।

(2) निर्भरता में वृद्धि—यदि विदेशी पूजी देश के प्रमुख एव आधारभूत उद्योगो मे विनियोजित की जाती है तो देश की अर्थव्यवस्था विदेशी पूजीपतियो पर निर्भर हो जाएगी। अतः पूजी उधार देने वाले राष्ट्र के व्यापार चक्र का प्रभाव ऋण लेने वाले राष्ट्र की अर्थव्यवस्था पर भी अवश्य पड़ेगा।

(3) खदानों में केंद्रीयकरण—विदेशी पूजी प्रायः खदानो आदि मे ही केंद्रित रही, क्योंकि खानो के उत्पादन को प्रायः निर्यात किया जाता है, जो स्वयं विदेशी मुद्रा अर्जित करता है। यदि विदेशी पूजी का विनियोग ऐसे उद्योगो मे हो, जिसका माल स्वदेशी बाजार मे बिकता हो तो आयात पर निर्भरता कम होकर विदेशी विनिमय की बचत होगी।

(4) राष्ट्र का शोषण—भूतकाल मे विदेशी पूंजी ने देश का शोषण किया तथा प्राप्त लाभों को विदेशों में भेज दिया जाता था। प्रायः विदेशी पूजी का विनियोग ऐसे उद्योगो में किया जाता है जिससे कच्ची सामग्री का उत्पादन बढ़े और उसे विदेशी राष्ट्रों के उद्योगो के लिए निर्यात किया जा सके। विदेशी पूजी ने देश के संतुलित विकास को हतोत्साहित किया क्योंकि उद्योग प्रायः विदेशी विनियोक्ताओ के हाथों मे रहे तथा स्वदेशी पूजीपति खाद्यान्न व कच्ची सामग्री के उत्पादन में ही लगे रहे।

(5) बुरा अनुभव—भूतकाल मे विदेशी पूजी का अनुभव खराब रहा है और उससे देश की अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ा है। यदि स्वदेशी सरकार विदेशी पूजी को नियंत्रित ढग से आमन्त्रित करें तो बुरे प्रभावो से बचा जा सकता है।

(6) निर्यातक उद्योगों में विनियोग—विदेशी पूजी प्राय. निर्यातक उद्योगो मे ही विनियोग होती है क्योंकि अविकसित राष्ट्रो मे प्रायः आतंरिक परिवहन के साधनों का अभाव पाया जाता है। विदेशी शासक भी आतंरिक परिवहन के विकास पर कोई ध्यान नहीं देते तथा बंदरगाहो एवं व्यापारिक केंद्रो के विकास तक ही सीमित रहते हैं।

(7) अवसर का अभाव—विदेशी पूंजी देश के सर्वाधिक लाभदायक कार्यों में विनियोग होने से स्वदेशी पूंजीपति को पूंजी के विनियोजन के अवसर प्राप्त नहीं हो पाते और वह अपनी पूंजी को उपयोगी कार्यों में विनियोजित नहीं कर पाता।

(8) राजनीति में हस्तक्षेप—विदेशी पूंजी प्रायः देश की राजनीति में हस्तक्षेप करती है। यह भी संभव हो सकता है कि विदेशी विनियोक्ता राजनीतिक पार्टियों को वित्तीय सहायता देकर अपने हितों की रक्षा करें। प्रायः व्यापार के साथ-साथ ध्वजा भी आती है तथा राजनीति के क्षेत्र में हस्तक्षेप किया जाता है।

(9) घरेलू मांग की अवहेलना—विदेशी पूंजी का उपयोग प्रायः घरेलू मांग की पूर्ति हेतु न किया जाकर विदेशी हित में किया जाता है। विदेशी पूंजी का विनियोजन लघु व छोटे उद्योगों में नहीं किया जाता, जिससे राष्ट्र के हितों पर हानिकारक प्रभाव पड़ता है।

(10) भेदभावपूर्ण व्यवहार—विदेशी पूंजीपति भेदभावपूर्ण व्यवहार करते हैं तथा देश के श्रमिकों व अन्य योग्य व्यक्तियों को अपने राष्ट्र के लाभार्थ ही उपयोग करते हैं। देश के व्यक्तियों को ऊंचे प्रशासनिक कार्यों से दूर रखा जाता है जो अस्वस्थ एवं हानिकारक है।

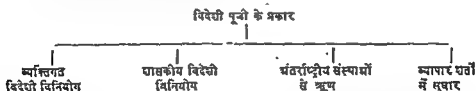
(11) लाभ की ऊंची दर—विदेशी पूंजी प्रायः उन्हीं उद्योगों में विनियोजित की जाती है, जिनमें लाभ की दर काफी ऊंची होती है। इससे उत्पादन लागत केवल बढ़ जाती है और वस्तुओं के मूल्य बढ़कर देश के नागरिकों को हानि सहन करनी पड़ती है।

विदेशी पूंजी के प्रकार

विदेशी पूंजी को निम्न भागों में विभाजित किया जा सकता है—(1) व्यक्तिगत विदेशी विनियोग, (2) शासकीय विदेशी विनियोग, (3) अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं से ऋण, एवं (4) व्यापार शर्तों में सुधार।

विभिन्न प्रकार से विदेशी पूंजी प्राप्त करके देश के विकास में उपयोग किया जा सकता है। सार्वजनिक सहायता के रूप में जर्मनी ने काफी योगदान दिया है। इस राशि में 11% वार्षिक से वृद्धि हुई है। अनुमान है कि 1980 तक सार्वजनिक सहायता की मात्रा सकल राष्ट्रीय उत्पादन का 0.7% होगी। इसके अतिरिक्त भविष्य में पूंजी की अपेक्षा प० जर्मनी द्वारा तकनीकी सहायता अधिक मात्रा में दी जाएगी। इस नीति के आधार पर प० जर्मनी के विशेषज्ञ विकासशील राष्ट्रों में 1975 तक दुगुने हो गए।

विदेशी पूंजी के प्रकार को निम्न चार्ट द्वारा दिखाया जा सकता है—



सरकारी नीतियां

स्वतंत्रता के पश्चात् देश की औद्योगिक नीति 1948 में घोषित करते समय विदेशी पूंजी की उपयोगिता को स्वीकार किया गया। परंतु इस नीति में स्पष्टतया यह घोषित किया गया कि जिन उद्योगों में विदेशी पूंजी विनियोजित होगी उन पर स्वामित्व एवं नियंत्रण भारतीयों का ही रहेगा। औद्योगिक नीति की घोषणा करते समय सरकार ने अनेक महत्वपूर्ण उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की घोषणा की, जिससे विदेशी पूंजी के आगमन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा और विदेशी पूंजी हतोत्साहित हो गई, फलस्वरूप योजनाओं को कार्यान्वित करने में अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ा। अतः अप्रैल 1949 में सरकार ने विदेशी पूंजी के संबंध में अपनी नीति घोषित करते हुए निम्न आश्वासन दिए—

(1) भेदभाव का अभाव—सरकार ने स्पष्ट किया कि देशी एवं विदेशी पूंजी में कोई भेदभाव नहीं किया

जाएगा और विदेशी पूंजी को समान सुविधाएं दी जाएंगी ।

(ii) हानिपूर्ति—यदि सरकार किसी उद्योग के राष्ट्रीयकरण की योजना बनाती है तो उस समय उचित हानिपूर्ति करके ही सरकार ऐसे उद्योगों को अपने स्वामित्व में ले सकेगी ।

(iii) लाभ ले जाने की सुविधा—विदेशी पूंजी के विनियोजन से जो लाभ अर्जित किए जाएंगे, उसे विदेशों में ले जाने की सुविधाएं दी जाएंगी, बशर्ते देश में पर्याप्त मात्रा में विदेशी विनिमय उपलब्ध हो तथा ऐसा करने से देश की अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ेगा ।

इस नीति को सरकार ने अपनी पंचवर्षीय योजना का एक अंग मान लिया और देश के विकास में विदेशी पूंजी का स्वागत किया गया । योजनाओं में देश की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए विदेशों से पूंजीगत सामान, विशेषज्ञ एवं विदेशी तकनीकी आदि का आयात करके लाभ प्राप्त किए गए तथा देश के आर्थिक विकास के प्रयास किए गए ।

2 जून, 1950 को सरकार ने घोषित किया कि विदेशी अपनी पूंजी को विदेश ले जा सकेंगे एवं लाभ व विनियोग की मात्रा को पुनः विनियोग या अपने देश में वापस ले जा सकेंगे । विदेशी पूंजी को देश में विनियोग करते समय निम्न बातों को ध्यान में रखा जाएगा—

(i) विदेशी पूंजी का विनियोग केवल उन्हीं उद्योगों में किया जाय जिसमें पूंजी व तकनीकी ज्ञान का अभाव है ।

(ii) विदेशी पूंजी को निर्माण कार्यों में ही विनियोजित किया जाय ।

(iii) ऐसी पूंजी के उपयोग से विदेशी मुद्रा की बचत होनी चाहिए ।

(iv) विदेशी पूंजी से उद्योगों की उत्पादकता में वृद्धि होनी चाहिए ।

पांचवीं योजना के अंत तक विदेशी निर्भरता को घटाकर शून्य रखा गया है जिससे देश से ही वित्तीय साधनों की पूर्ति संभव हो सके ।

विनियोजन सिद्धांत

विदेशी पूंजी का विनियोजन करते समय निम्न सिद्धांतों का पालन करना होगा—

(1) व्यापार संतुलन पक्ष में—विदेशी पूंजी के विनियोग से निर्यात में वृद्धि एवं आयात में कमी होकर व्यापार संतुलन पक्ष में होना चाहिए ।

(2) भारतीयों को प्रशिक्षण—विदेशी पूंजी का विनियोग ऐसे उपक्रमों में किया जाना चाहिए, जिससे भारतीयों को प्रशिक्षण की पर्याप्त सुविधाएं उपलब्ध हो सकें ।

(3) आर्थिक कल्याण में वृद्धि—विदेशी पूंजी का उपयोग ऐसे उद्योगों में हो, जिससे देश के आर्थिक कल्याण में वृद्धि हो तथा तकनीकी व प्राविधिक ज्ञान का विस्तार हो सके ।

(4) सुरक्षा व आधारभूत उद्योग—विदेशी पूंजी का विनियोजन देश के सुरक्षा व आधारभूत उद्योगों में नहीं होना चाहिए, क्योंकि इससे देश की सुरक्षा को खतरा बना रहता है ।

(5) नियंत्रण—विदेशी पूंजी जिन उपक्रमों में विनियोजित की जाए, उन पर भारतीयों का ही पूर्ण नियंत्रण होना चाहिए, जिससे विकास देश के अनुरूप किया जा सके ।

(6) उत्पादन कार्यों में विनियोग—विदेशी पूंजी का उपयोग उत्पादन कार्यों में ही करना चाहिए तथा बैंकिंग व वित्तीय प्रकृति के उपक्रमों में उनका विनियोग नहीं होना चाहिए ।

(7) संयुक्त समझौते—विदेशी पूंजी को भारतीय एवं विदेशी पूंजीपतियों के संयुक्त समझौते के आधार पर ही प्रोत्साहित करना चाहिए ।

(8) उत्पादकता में वृद्धि—जिस उद्योग में विदेशी पूंजी का उपयोग किया जाए उसकी उत्पादकता में वृद्धि होनी चाहिए ।

विदेशी पूंजी के लक्षण

विदेशी पूंजी प्राप्त करने एवं उपयोग करने से निम्न लक्षण दिखाई देते हैं—

(i) ऋण में वृद्धि व अनुदान में कमी—विकसित राष्ट्रों द्वारा दिए जाने वाले धन में अनुदान की अपेक्षा ऋण में अधिक वृद्धि हुई है जिससे निर्धन राष्ट्रों में ऋणभार व ब्याज भार में वृद्धि हो गई है।

(ii) राष्ट्रीय आय मे वृद्धि—विदेशी सहायता देने से विकसित राष्ट्रों की राष्ट्रीय आय में वृद्धि हुई है।

(iii) आर्थिक सहायता में कमी—अर्द्धविकसित राष्ट्रों को दी जाने वाली आर्थिक सहायता की राशि में कमी हुई है और यह सहायता विकसित राष्ट्रों की कुल सपत्ति व राष्ट्रीय आय के 1% से भी कम है। अनुमान लगाया गया है कि भविष्य में इस सहायता में और कमी होने की संभावना है।

भारत में विदेशी पूंजी की वर्तमान स्थिति

वर्तमान समय में भारत को विदेशों से पर्याप्त मात्रा में विनियोग के रूप में धन प्राप्त हो रहा है। विश्व के औद्योगिक राष्ट्रों द्वारा निर्यात के पश्चात् द्वितीय स्थान विदेशों मे विनियोग को दिया जाता है। विदेशी विनियोग की मात्रा 7 बड़े औद्योगिक राष्ट्रों द्वारा 1200 करोड़ रुपये से बढ़कर 50,200 करोड़ रुपये तक है। जापान ने 1200 करोड़ रुपये व अमरीका ने 50,200 करोड़ रुपये का विनियोग विश्व के राष्ट्रों मे किया है। विश्व मे विदेशी विनियोग को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

विश्व में विदेशी विनियोग

		(करोड़ रुपये मे)
1.	जापान	1,200
2.	नीदरलैंड	1,900
3.	जर्मनी	2,900
4.	स्विटजरलैंड	3,500
5.	फ्रांस	24,000
6.	ग्रेटब्रिटेन	11,100
7.	स० रा० अमरीका	50,200

विदेशी पूंजी जो सार्वजनिक क्षेत्र मे प्राप्त हुई, उसका उपयोग मुख्यतया आर्थिक अधसंरचना (Economic Infra-structure) के निर्माण मे किया गया, जिसमे परिवहन, सवहन, बंदरगाहों का विकास, विद्युत योजनाएं आदि सम्मिलित की जाती हैं। निजी एवं गैर-सरकारी क्षेत्र मे विदेशी साधनों का उपयोग उत्पादक उद्योगो एवं व्यापार आदि के विनियोग मे किया गया।

गैर-सरकारी क्षेत्र में विदेशी पूंजी

स्वतंत्रता से पूर्व निजी विदेशी विनियोग का उपयोग रेलो के विकास, अन्य जनोपयोगी सेवाएं, बगीचा उद्योग, खान एवं उत्पादक उद्योगों आदि मे किया जाता रहा। द्वितीय विश्वयुद्ध तक निजी विदेशी विनियोग की मात्रा 9500 मि० रुपये आकी गई। 1948 में कुल विदेशी व्यापार मे विनियोग की राशि 2558 मि० रुपये थी जिसका 4/5 भाग प्रत्यक्ष विनियोग के रूप में था। 1948 व 1959 की अवधि में विदेशी व्यापारिक विनियोग मे 2550 मि० रुपये से वृद्धि हुई।

श्री ए० के० केनक्रोस (A. K. Caincross) के अनुसार 1870 व 1914 के मध्य ब्रिटेन की पूंजी के निर्यात की मात्रा 2400 मि० पौंड थी, जबकि ब्याज लाभांश, अधिकार शुल्क आदि के रूप मे आय का आयात

4100 मि० पौंड था। इसके विपरीत अमरीका की पूंजी का निर्यात अधिक परंतु आयात नगण्य रहा है। संयुक्त राष्ट्र वाणिज्य विभाग के अनुसार, 1950-1961 की अवधि में अमरीकन नियम की विदेशी संपत्ति 11,800 मि० डालर से बढ़कर 34,700 मि० डालर अर्थात् 22,900 मि० डालर से वृद्धि हुई। इसी अवधि में अमरीका के बाहर जाने वाले शुद्ध विनियोग की मात्रा 13,700 मि० डालर थी, परंतु इसे प्रत्यक्ष विनियोग के रूप में 23,200 मि० डालर की आय प्राप्त हुई। अन्य शब्दों में संयुक्त राष्ट्र ने अन्य राष्ट्रों से 9500 मि० डालर की आय अधिक प्राप्त की और उसकी विदेशी संपत्तियों के मूल्य में 22,500 मि० डालर से वृद्धि हुई। वर्तमान समय में निजी विदेशी विनियोग के स्थान पर विदेशी ऋणों को अच्छा समझा जाने लगा है।

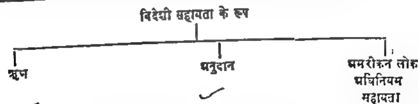
सरकारी क्षेत्र में विदेशी पूंजी

1950 के पश्चात् सरकारी क्षेत्र में विदेशी पूंजी का आगमन नियोजित विकास के साथ-साथ रहा और योजना में विदेशी विनिमय आवश्यकताओं की पूर्ति में इसका उपयोग किया गया। सरकारी क्षेत्र में विदेशी दायित्व 1955 में 2008 मि० रुपये था जो 1959 में बढ़कर 9466 मि० रुपये व मार्च 1974 तक 17,058 करोड़ रुपये थी, जिसमें से आंतरिक ऋण 11,228 करोड़ रुपये (65%) व बाह्य ऋण 5,830 करोड़ रुपये (35%) था। यह ऋण कुल राष्ट्रीय उत्पादन का 37% था। सरकार का कुल दायित्व 1975 तक 24,851 करोड़ रुपये था जबकि 1974 में यह राशि 22,969 करोड़ रुपये थी। आंतरिक ऋणों में से 85%भाग व्यापारिक बैंकों, जीवन बीमा निगम तथा प्रॉवीडेंट फंड से प्राप्त हुआ। अतर्राष्ट्रीय विकास संघ ने औद्योगिक आयात के लिए 75 मि० डालर का ऋण स्वीकार किया है जो ऐसी संस्थाओं को प्राप्त होगा जहा पर 1.6 लाख व्यक्ति रोजगार पाते हैं और जहां 1 बिलियन डालर का माल उत्पादित होता है। कनाडा से भी व्याजरहित 11.8 करोड़ रुपये का ऋण प्राप्त हुआ है जो भारत के लिए 5वां ऋण है। कनाडा से प्राप्त कुल ऋण की मात्रा 43 2 करोड़ रुपये है। भारत में कुल विदेशी विनियोग की मात्रा 1967 तक 1137 करोड़ रुपये थी जिसमें ब्रिटेन का स्थान सर्वप्रथम (56%) था। 1967 के बाद ऋण की मात्रा में निरंतर वृद्धि होती गई और 1974 तक यह मात्रा बढ़कर 6,824 करोड़ रुपये हो गई।

विदेशी सहायता

भारत को प्राप्त होने वाली विदेशी सहायता को निम्न भागों में रखा जा सकता है—(i) ऋण (Loan) (ii) अनुदान (Grants) (iii) अमरीकन लोक अधिनियम सहायता (American Public Law Assitance)

विदेशी सहायता के रूप को निम्न प्रकार रख सकते हैं—



पंचवर्षीय योजनाओं में विदेशी सहायता
(Foreign Aid in Five-year Plans)

प्रथम योजना

इस योजनाकाल में 377.68 करोड़ रुपये की विदेशी धनराशि स्वीकृत की गई, परंतु 188 करोड़ रुपये ही उपयोग किए जा सके तथा शेष राशि को द्वितीय योजना के लिए सुरक्षित रख दिया गया। इस योजनाकाल में कुल अधिकरण राशि 2964 मि० रुपये थी जिसमें से 1,881 मि० रुपये का उपयोग किया गया और 1,080 मि० रुपये का

उपयोग न हो सका, जिसे आगे ले जाया गया। विदेशी सहायता की राशि को निम्न प्रकार दिखाया जा सकता है—

प्राप्त व उपयोग की गई राशि

(मिलियन रुपये में)

विवरण	प्राप्त की गई राशि	उपयोग की गई राशि
1. ऋण	1,421	1,024
2. सहायता (कोलम्बो योजना से)	518	275
3. भारत संयुक्त राष्ट्र सहायता कार्यक्रम	1,025	582
कुल योग	2,964	1,881

(Source : First Plan : Planning Commission, Govt. of India, New Delhi, May, 1957, p. 30.)

द्वितीय योजना

इस योजनाकाल में 800 करोड़ रुपये प्राप्त करने का लक्ष्य रखा गया था, परंतु इससे अधिक धन प्राप्त हुआ और कुल 1,090 करोड़ रुपये विदेशी सहायता के रूप में प्राप्त हुए, जिसमें प्रथम योजना की वह राशि भी सम्मिलित है जो प्रथम योजना में उपयोग न की जा सकी। यह राशि कुल व्यय की 24% भाग थी। योजना में 76% भाग का वित्त प्रबंध आंतरिक साधनों से ही किया गया।

इस योजना में विदेशी सहायता एवं विदेशी ऋण आदि के रूप में 27,615 मि० रुपये प्राप्त होने थे, परंतु इसमें से 14,664 मि० रुपये का ही उपयोग किया गया और 12,951 मि० रुपये का उपयोग संभव न हो सका। प्रथम योजना में 1,960 करोड़ रुपए व्यय हुए थे जिसमें 188 करोड़ रुपये का ही उपयोग संभव हो सका था। द्वितीय योजना 4,800 करोड़ रुपये की बनायी गयी, जबकि वास्तविक व्यय 4,600 करोड़ रुपये ही हुआ। इस काल में अनुमान से अधिक राशि विदेशी सहायता के रूप में प्राप्त हुई।

प्रथम योजना में कुल व्यय का 9% भाग विदेशी सहायता व ऋण के रूप में मिला, जबकि द्वितीय योजना में यह प्रतिशत बढ़कर 32% हो गया। यह बढ़ता हुआ प्रतिशत दीर्घकालीन आर्थिक विकास के लिए उपयुक्त नहीं माना जाता।

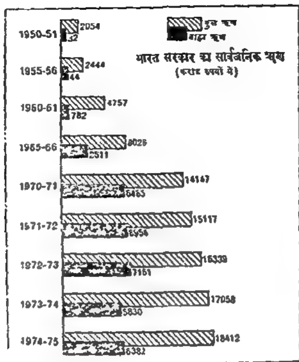
तृतीय योजना

इस योजना में 2,200 करोड़ रुपये विदेशी सहायता के रूप में प्राप्त होने थे, परंतु वास्तव में 2,455 करोड़ रुपये प्राप्त हुए। द्वितीय योजना के अंत तक के 10 वर्षों की अवधि में 1,278 करोड़ रुपए प्राप्त हुए और तृतीय योजना के अंत तक 3,733 करोड़ रुपए विदेशी सहायता के रूप में प्राप्त हुए थे। इस प्रकार प्रथम योजना में कुल व्यय का 10%, द्वितीय योजना में 24%, व तृतीय योजना में 33% भाग विदेशी सहायता के रूप में प्राप्त हुए। सार्वजनिक क्षेत्र में इस योजना में 7,500 करोड़ रुपये व्यय करने थे, जिसमें से 6,025 मि० डालर विदेशी सहायता के रूप में प्राप्त होने थे, परतु वास्तव में 4,884 मि० डालर ही प्राप्त हो सके।

चतुर्थ योजना

इस योजनाकाल में 4,700 करोड़ रुपये विदेशी सहायता के रूप में प्राप्त होने का अनुमान लगाया गया, जिसमें पी० एल० 480 की सहायता भी सम्मिलित है। बाह्य सहायता के रूप में 3,760 करोड़ रुपये प्राप्त होने की

भारत के सार्वजनिक ऋण की स्थिति को निम्न चित्र द्वारा भी दिखाया जा सकता है—



1950-51 में बाह्य ऋण 32 करोड़ रु० थे जो 1974-75 में बढ़कर 6,382 करोड़ रु० हो गया। इसी प्रकार से आंतरिक ऋण 1950-51 में 2,022 करोड़ रु० से बढ़कर 1974-75 में 12,030 करोड़ रु० हो गया। प्रारंभ में बाह्य ऋण सीमित मात्रा में रहते थे तथा देश के विकास के लिए आंतरिक ऋणों पर ही निर्भर रहते थे। पंचम योजना में विदेशी ऋणों पर निर्भरता में कमी होगी।

विदेशी सहायता पर निर्भरता कम करने के उपाय

चीनी व पाकिस्तानी आक्रमण ने हमारी आँखें खोल दीं, क्योंकि आक्रमण के समय विदेशी राष्ट्रों ने फौजी सहायता देना कम या बंद कर दिया। अतः यह अनुभव किया गया कि विदेशी सहायता पर निर्भर रहकर देश का विकास संभव नहीं हो सकेगा। परंतु ताशकंद समझौते से यह विश्वास होने लगा कि भविष्य में विश्व के राष्ट्र भारत के विकास के लिए अधिक उत्साह से सहायता प्रदान करेंगे। फिर भी देश की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए विदेशी सहायता पर निर्भरता कम करनी होगी। विदेशी सहायता पर निर्भरता में कमी करने के लिए निम्न सुझाव दिए जा सकते हैं—

(1) मितव्ययता—योजना के समस्त कार्यों को मितव्ययता से करना चाहिए जिससे सीमित धन का सदुपयोग किया जा सके।

(2) बचत का अधिकतम उपयोग—देश में बचत करने की भावना को बढ़ाकर घरेलू पूंजी निर्माण में वृद्धि करके उसका अधिकतम उपयोग उत्पादक कार्यों में किया जाना चाहिए, जिससे विदेशी पूंजी पर निर्भरता कम हो सके।

(3) निजी क्षेत्र में मितव्ययता—देश में निजी क्षेत्र में भी मितव्ययता से काम लेना चाहिए जिससे विदेशी सहायता पर निर्भर न रह सके।

(4) साधनों को गतिशील बनाना—देश के समस्त आंतरिक साधनों को गतिशील बनाने के प्रयास किए जाने चाहिए तथा नवीन साधनों की खोज करने के सफल उपाय अपनाए जाएं।

(5) कर व बचत प्रणालियों में परिवर्तन—देश की परिस्थितियों में परिवर्तन होने पर कर लगाने एवं बचत करने की प्रणालियों में भी परिस्थितियों के अनुसार आवश्यक परिवर्तन कर देना चाहिए।

(6) अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में वृद्धि—विश्व आज दो गुटों में बंटा हुआ है। परंतु भारत किसी भी गुट में सम्मिलित न होकर विश्व के सभी राष्ट्रों के साथ अच्छे अंतर्राष्ट्रीय संबंध बनाने के प्रयास करने में संलग्न है।

(7) विकास कार्यों पर महत्त्व—देश की राष्ट्रीय सरकार द्वारा विकास कार्यों पर पर्याप्त ध्यान दिया जाना चाहिए तथा विकास का समय-समय पर मूल्यांकन भी करते रहना चाहिए।

(8) दीर्घकालीन निर्यात नीति—विदेशी विनिमय की समस्या के समाधान के लिए देश में दीर्घकालीन नीति का निर्माण करना आवश्यक है। इस नीति की सहायता से निर्यात में वृद्धि एवं आयात में कमी करने के प्रयास किए जाने चाहिए। देश से परंपरागत निर्यात के साथ-साथ गैर-परंपरागत वस्तुओं के निर्यात को बढ़ाने के प्रयास करने चाहिए। निर्यात वृद्धि के लिए निम्न उपायों को अपनाना होगा—

(i) बाजार विस्तार—विदेशी बाजारों के विस्तार की ओर ध्यान देना चाहिए जिससे माल सरलता से निर्यात किया जा सके।

(ii) नवीन प्रवृत्तियां—निर्यात में नवीन प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करने के प्रयास किए जाने चाहिए।

(iii) आर्थिक सहायता—निर्यातकों को आर्थिक सहायता देकर प्रोत्साहित करना चाहिए।

(iv) बैंकिंग व अन्य सुविधाएं—निर्यातकों को जहाज, बीमा व बैंकिंग संबंधी सुविधाएं देने के प्रयास करने चाहिए।

(v) गैर-परंपरागत वस्तुएं—देश से परंपरागत वस्तुओं के अतिरिक्त गैर-परंपरागत वस्तुओं के निर्यात पर अधिक ध्यान देना चाहिए।

(vi) अनुभव व ज्ञान—निर्यात व्यापार उन व्यापारियों को सौंप दिया जाए, जिन्हें अच्छा अनुभव व ज्ञान प्राप्त हो।

(vii) सांस्कृतिक संबंधों में वृद्धि—विश्व के अधिकांश राष्ट्रों के साथ सांस्कृतिक संबंधों में वृद्धि करने के प्रयास किए जाने चाहिए।

(viii) लाभप्रद व्यवसाय—निर्यात को एक लाभप्रद व्यापार बनाया जाना चाहिए, जिससे अधिकाधिक व्यापारी इस व्यापार की ओर आकर्षित हो सकें।

45

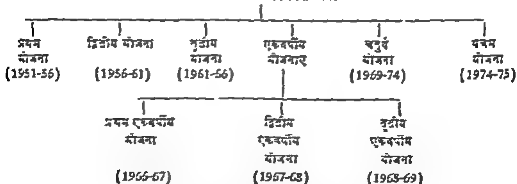
भारतीय पंचवर्षीय योजनाओं की वित्त-व्यवस्था

(Financing the Indian Five-year Plans)

प्रारंभिक

1947 से पूर्व भारत अंग्रेजों के अधीन होने पर भी उस समय देश में महान अर्थशास्त्री थे, जिन्होंने देश की प्रगति के लिए अनेक योजनाओं का निर्माण किया। इन योजनाओं में थे विश्वेश्वरैय्या योजना 1934; बंबई योजना 1944; जन-योजना 1944; गांधीवादी योजना 1944; प्रमुख थीं। ये योजनाएं माप के स्तर को पूर्ण न कर सकीं और असफल रहीं। स्वतंत्रता के पश्चात् अनेक योजनाएं बनाई गयीं जैसे सर्वोदय योजना 1950, कोलम्बो योजना 1950, आदि।

15 मार्च, 1950 को योजना आयोग की स्थापना की गयी। इसकी स्थापना से देश में वास्तविक नियोजन का कार्यक्रम आरंभ किया गया, तथा योजनाओं की सहायता से बेरोजगार में कमी, उत्पादन में वृद्धि, आय व धन की असमानताओं को दूर करने के प्रयास किए गए। योजना आयोग का अध्यक्ष भारत का प्रधान मंत्री होता है। वर्तमान समय में श्रीमती इन्दिरा गांधी इसकी अध्यक्ष हैं। अब तक भारत में चार पंचवर्षीय योजनाएं एवं तीन एकवर्षीय योजनाएं सफलतापूर्वक कार्य कर चुकी हैं तथा पंचम योजना को 1 अप्रैल, 1974 से आरंभ कर दी गयी है, जिसने 1974-75 का अपना प्रथम वर्ष पूर्ण कर लेने के बाद 1975-76 में द्वितीय वर्ष पूरा किया है।



प्रथम पंचवर्षीय योजना 1951-56

(First Five Year-Plan 1951-56)

प्रथम पंचवर्षीय योजना का निर्माण व आरंभ 1 अप्रैल, 1951 से हुआ। इसकी अवधि 1951 से 1956 तक

रही। प्रारंभ में इस योजना पर 2,069 करोड़ रुपये व्यय करने का प्रावधान था, परंतु बाद में यह राशि बढ़ाकर 2,356 करोड़ रुपये कर दी गयी। इस योजना का वास्तविक व्यय 1960 करोड़ रुपये हुआ।

योजना के उद्देश्य—इस योजना के प्रमुख उद्देश्य निम्न थे—

(i) देश में युद्ध व विभाजन के फलस्वरूप उत्पन्न असंतुलन को ठीक करना।

(ii) योजना में प्रत्येक क्षेत्र के संतुलित आर्थिक विकास को महत्त्व दिया गया और उसके लिए जीवन-स्तर में वृद्धि, राष्ट्रीय आय में वृद्धि एवं अर्थव्यवस्था में विकास लाना था।

(iii) देश में उपलब्ध मानवीय एवं भौतिक साधनों का अधिकतम उपयोग करना।

(v) देश में आय, संपत्ति एवं अवसरों की असमानता को दूर करना।

व्यय कार्यक्रम—प्रथम योजना 2378 करोड़ रुपये की थी जिसमें से 1,960 करोड़ रुपये ही व्यय हो सके। व्यय व्यवस्था निम्न प्रकार थी—

प्रथम योजना में व्यय कार्यक्रम

(करोड़ रुपये में)

विवरण	प्रस्तावित राशि		संशोधित राशि		वास्तविक राशि	
	राशि	प्रतिशत	राशि	प्रतिशत	राशि	प्रतिशत
1. सिंचाई व शक्ति	585	29.1	647	27.2	570	29
2. परिवहन व संवहन	532	26.4	571	24.0	523	27
3. सामाजिक सेवाएं	423	21.0	532	22.4	—	
4. कृषि व सामुदायिक विकास	299	14.8	354	14.9	291	15
5. उद्योग व खानें	100	5.0	188	7.9	74	4
6. विविध	74	3.7	86	3 6	459	23
7. ग्रामीण व लघु उद्योग	—	—	—	—	43	2
योग	2,013	100.0	2,378	100	1,960	100

वित्त व्यवस्था—योजना में 2,378 करोड़ रुपये के स्थान पर 1960 करोड़ रुपये ही वास्तव में व्यय किए गए थे जिसकी वित्त व्यवस्था निम्न प्रकार रही—

प्रथम योजना में वित्त-व्यवस्था

(करोड़ रुपये में)

आय का साधन	राशि	प्रतिशत
1. करारोपण एवं रेलवे बचत	752	38
2. अल्प बचत एवं अन्य ऋण	304	16
3. बाजार से ऋण	205	10
4. बाह्य सहायता	188	10
5. अन्य पूंजीगत प्राप्तियां	91	5
6. हीनार्थ प्रबंधन	420	21
योग	1,960	100

योजना के अर्थ प्रबंधन साधनों को निम्न वर्गों में रखा जा सकता है—

(1) **आन्तरिक स्रोत**—योजना में करों से 175 करोड़ रुपये प्राप्त हुए तथा रेलों से 115 करोड़ रुपये प्राप्त हुए, जबकि 170 करोड़ रुपये प्राप्त होने की संभावना थी। राज्य सरकारों से 269 करोड़ रुपये प्राप्त हुए, जबकि प्रावधान 410 करोड़ रुपये का रखा गया था। इसी प्रकार राज्य सरकारों से अतिरिक्त करों के रूप में 230 करोड़ रुपये प्राप्त होने की सम्भावना थी, जबकि 80 करोड़ रुपये ही प्राप्त हुए। अल्प बचत से 237 करोड़ रुपये प्राप्त हुए व 67 करोड़ रुपये अन्य ऋणों के रूप में प्राप्त हुए। इसी प्रकार पूंजीगत प्राप्ति 91 करोड़ रुपये व बाजार ऋण 205 करोड़ रुपये लिये।

(2) **विदेशी साधन**—योजनाकाल में 296 करोड़ रुपये विदेशी सहायता के रूप में प्राप्त होने थे, परंतु वास्तव में 183 करोड़ रुपये ही प्राप्त हो सके तथा शेष 103 करोड़ रुपये अगली योजना के लिए सुरक्षित रखे गए। इन विदेशी साधन का अधिकांश उपयोग गेहूं एवं विकास कार्यों के लिए किया गया।

(3) **हीनार्थ प्रबंधन**—योजना में 290 करोड़ रुपये से हीनार्थ प्रबंधन करने का प्रावधान था, परंतु वास्तव में 420 करोड़ रुपये से हीनार्थ प्रबंधन किया गया, जो कुल व्यय का 21% भाग था। हीनार्थ प्रबंधन का लगभग 60% भाग योजना के अंतिम दो वर्षों में किया गया, जिससे मूल्यों में वृद्धि हो गई फिर भी देश की अर्थव्यवस्था में विशेष उतार-चढ़ाव नहीं आए।

इस प्रकार योजनाकाल में 17.5% से राष्ट्रीय आय में वृद्धि हुई व प्रति व्यक्ति आय में यह वृद्धि 10.5% थी, जबकि उपभोग स्तर में 8% से ही वृद्धि हो सकी।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना
(Second Five-year Plan)

यह योजना 1 अप्रैल, 1956 से 1961 तक की अवधि के लिए बनायी गयी थी जिसमें व्यय की राशि को दुगुना कर दिया गया। यह योजना अधिक महत्त्वाकांक्षी थी जिसमें आधारभूत उद्योगों के विकास को अधिक महत्त्व दिया गया। 1955 में नवीन औद्योगिक नीति की घोषणा के साथ सार्वजनिक क्षेत्रों को अधिक विस्तृत बनाया गया। इस योजना में समाजवादी समाज की स्थापना की ओर अधिक ध्यान दिया गया।

योजना के उद्देश्य

योजना के प्रमुख उद्देश्य निम्न थे—

(i) राष्ट्रीय आय में 5% वार्षिक से वृद्धि करना, जिससे जनता के जीवन-स्तर को ऊंचा उठाया जा सके।

(ii) देश में तीव्र गति से औद्योगीकरण करना तथा भारी व आधारभूत उद्योगों के विकास पर विशेष ध्यान देना।

(iii) बेरोजगारी की समस्या को हल करने के लिए देश में रोजगार के अवसरों में वृद्धि करना।

(iv) देश में आय एवं संपत्ति की विषमता को दूर करना तथा आर्थिक शक्तियों का उचित वितरण करना।

आय एवं विनियोग वृद्धि

योजना आयोग ने आय एवं विनियोग में वृद्धि करने की योजना का निर्माण किया जिसे निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

आय व विनियोग वृद्धि 1951-56 से 1971-76 तक (1952-53 मूल्यों पर)

विवरण	पंचवर्षीय योजनाए				
	प्रथम	द्वितीय	तृतीय	चतुर्थ	पंचम
1. राष्ट्रीय आय (करोड़ रु० में)	10,800	13,480	17,260	21,680	27,270
2. कुल विनियोग करोड़ रु० में)	3,100	6,200	9 900	14,800	20,700
3. विनियोग (राष्ट्रीय आय का प्रतिशत)	7 3	10 7	13 7	16 0	17.0
4. जनसंख्या (करोड़ में)	38.4	40 8	43 4	46.5	50.0
5. पूंजी-उत्पाद-अनुपात	1·8·1	2 3 1	2.6.1	3.4.1	3.7.1
6. प्रति व्यक्ति आय (रु० में)	281	331	396	446	546

(Source : Second Five-Year Plan, 1956, Summary, p. 5.)

योजना में प्राथमिकताएं

द्वितीय योजना काल में उद्योगों व खनिज पर अधिक महत्त्व दिया गया जो कुल व्यय का 18.5% भाग था। उद्योगों पर अधिक महत्त्व देने के प्रमुख कारण निम्न थे—

(i) कृषि पर प्रथम योजना में महत्त्व दिया जा चुका था, अतः उद्योगों पर महत्त्व देना आवश्यक समझा गया।

(ii) निर्मित उद्योगों की समस्या जो प्रथम योजनाकाल में थी उस पर ध्यान देना आवश्यक था।

(iii) देश के सतुलित आर्थिक विकास के लिए औद्योगीकरण करना आवश्यक था।

(iv) प्रति व्यक्ति एवं राष्ट्रीय आय में वृद्धि करने के लिए उद्योगों का विकास करना आवश्यक था।

योजना में व्यय

कुल 7,200 करोड़ रु० व्यय करने थे (4800 सार्वजनिक क्षेत्र एवं 2400 निजी क्षेत्र), परन्तु वास्तविक व्यय सार्वजनिक क्षेत्र में 4,600 करोड़ रु० जिसे निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

द्वितीय योजना की व्यय राशि (करोड़ रुपये में)

मदें	प्रथम योजना		द्वितीय योजना			
			प्रस्तावित व्यय		वास्तविक व्यय	
	कुल व्यय	प्रतिशत	कुल व्यय	प्रतिशत	कुल व्यय	प्रतिशत
1. कृषि व सामुदायिक विकास	357	15.1	568	11.8	530	11.0
2. सिंचाई व विद्युत	661	28 1	913	19.0	865	19.0
3. उद्योग व खनिज	179	7.6	890	18.5	1,075	24.0
4. परिवहन व संवहन	557	23.3	1,385	28.5	1,300	28.0
5. सामाजिक सेवाएं	533	22.6	945	19.7	830	18.0
6. विविध	69	3.0	99	2.1	—	—
योग	2,356	100	4,800	100	4,600	100

(Source : Second Five-year Plan, Govt. of India, Planning Commission, 1956, p. 21.)

इस योजना में उद्योग व खनिज पर 24%, परिवहन व संवहन पर 28% व कृषि पर 11% व्यय किया गया।

योजना की वित्तीय व्यवस्था

सार्वजनिक क्षेत्र में योजना की वित्तीय व्यवस्था निम्न प्रकार थी—

सार्वजनिक क्षेत्र में वित्तीय व्यवस्था

(करोड़ रुपये में)

साधन	प्रस्तावित राशि	वास्तविक राशि
1. चालू आगम से शेष	350	–50
2. रेलवे का अंशदान	150	150
3. जनता से ऋण	700	780
4. लघु बचत	500	400
5. प्रॉवीडेंट फंड, इस्पात फण्ड व विविध पूंजीगत प्राप्तियां	250	230
6. अतिरिक्त करारोपण	450	1,052
7. बाह्य सहायता	800	1,090
8. हीनार्थ प्रबंधन	1,200	948
योग	4,800	4,600

(Source : Third Five-year Plan, Govt. of India, Planning Commission, p. 95.)

योजना के वित्तीय साधनों का निम्न प्रकार अध्ययन किया जा सकता है—

(1) बचत व्यवस्था—वर्तमान करों से 350 करोड़ रुपये व अतिरिक्त करारोपण से 450 करोड़ रुपये प्राप्त होने थे, परंतु वास्तव में 1,000 करोड़ रुपये प्राप्त हुए, जो राष्ट्रीय आय का 3% थी। जनता से ऋण व लघु बचत के रूप में 1,200 करोड़ रुपये प्राप्त होने थे, परंतु वास्तव में 1,180 करोड़ रुपये ही प्राप्त हुए। इसके अतिरिक्त रेलवे से 150 करोड़ रुपये एवं प्रॉवीडेंट फंड से 250 करोड़ रुपये प्राप्त होने थे, परंतु फंड से वास्तव में 230 करोड़ रुपये ही प्राप्त हुए।

(2) विदेशी सहायता—इस योजना में 800 करोड़ रुपये विदेशी सहायता के रूप में प्राप्त होने की संभावना थी, परंतु वास्तव में मात्रा से अधिक राशि मिली, जो 1090 करोड़ रुपये थी। प्रथम योजना की बची हुई राशि को भी इसमें सम्मिलित कर लिया गया।

(3) घाटे की वित्त-व्यवस्था—इस योजना में 1,200 करोड़ रुपये से हीनार्थ प्रबंधन करना था जिसके लिए 1,000 करोड़ रुपये अतिरिक्त नोटों का प्रकाशन करके तथा 200 करोड़ रुपये स्टर्लिंग शेष से प्राप्त करने थे। यह राशि कुल वित्तीय व्यवस्था का 25% थी, जबकि प्रथम योजना में यह प्रतिशत 21% था। वास्तविक हीनार्थ प्रबंधन 948 करोड़ रुपये में हुआ।

वित्तीय संकट के कारण

द्वितीय योजना में अनेक वित्तीय संकट उपस्थित हुए जिसके प्रमुख कारण निम्न थे—

(1) श्रम लागत में वृद्धि—देश में श्रम लागतों में वृद्धि होने से योजना की लागत में 20% से वृद्धि होने की संभावना थी।

(2) दिशा में परिवर्तन—जो साधन योजना कार्य के लिए प्रयोग किए जाने थे, उन्हें कारणवश योजना के बाहर विकासात्मक कार्यों की ओर मोड़ना पड़ा जिससे योजना में संकट उत्पन्न हो गया।

(3) हस्तांतरण—राज्यों को 160 करोड़ रुपये हस्तांतरित करने से योजना में वित्तीय असंतुलन उत्पन्न हो गया।

(4) साधनों व मांग में असंतुलन—जिन साधनों का अनुमान लगाया जा रहा था वे उपलब्ध नहीं हो रहे थे जिससे साधनों एवं मांग में असंतुलन बढ़ रहा था।

(5) पूंजीगत वस्तु के मूल्य में वृद्धि—विदेशों से प्राप्त होने वाली पूंजीगत वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि हो रही थी जिससे साधनों का अभाव होने का अनुमान लगाया गया।

संकट दूर करने के उपाय

इस वित्तीय संकट को दूर करने के लिए निम्न सुझाव दिए गए—

(1) अतिरिक्त कर—कमी को पूर्ण करने के उद्देश्य से योजना आयोग ने अतिरिक्त कर लगाने के सुझाव दिए।

(2) ऋणों व लघु बचत—योजनाकाल में ऋणों व लघु बचत के रूप में अधिकाधिक धन प्राप्त करने के प्रयास किए जाने चाहिए।

(3) मितव्ययता—करों को वसूल करने एवं व्ययों में मितव्ययता से काम लेना चाहिए जिससे वित्तीय संकट का सामना किया जा सके।

तृतीय पंचवर्षीय योजना

(Third Five-year Plan)

यह योजना 1961-66 की अवधि के लिए बनायी गयी थी। योजना में स्वयं स्फूर्ति लाने के प्रयास किए गए तथा विदेशी निर्भरता में कमी लाना आवश्यक समझा गया।

योजना के उद्देश्य

इस योजना के प्रमुख उद्देश्य निम्न थे—

(1) राष्ट्रीय आय में 5% वार्षिक से वृद्धि करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया और इसी प्रकार विनियोग व्यवस्था इस प्रकार रखनी थी कि विकास की यह गति भविष्य में भी बनी रहे।

(2) योजना में खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता प्राप्त करने का उद्देश्य रखा गया, उसके लिए उत्पादन में वृद्धि करना था, जिससे उद्योग व निर्यात की आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके।

(3) देश में आधारभूत उद्योगों की स्थापना एवं विस्तार करना जिससे भावी औद्योगीकरण की मांग की पूर्ति 10 वर्षों की अवधि में देश के साधनों द्वारा की जा सके।

(4) रोजगार के अवसरों में वृद्धि करने हेतु उपलब्ध मानवीय साधनों का अधिकतम उपयोग करना।

(5) धन व आय की विषमता को दूर करके, आर्थिक शक्तियों का समान वितरण करना तथा अवसरों में समानता लाने के प्रयास करना।

प्राथमिकताएं

योजना में प्राथमिकता का क्रम निम्न प्रकार रहा—

(1) योजना में कृषि को उच्च प्राथमिकता दी गयी, जो संपूर्ण व्यय का 14% भाग था।

(2) ग्रामीण क्षेत्र में उपलब्ध मानवीय साधनों का पूर्णरूप से विदोहन किया जाएगा। इसके लिए विभिन्न प्रकार के विकास कार्यक्रम प्रारंभ किए जाएंगे तथा सेवा सहकारिता एवं सहकारी कृषि को महत्त्व दिया जाएगा।

(3) देश के तीव्र आर्थिक विकास के लिए इस्पात, ईंधन, शक्ति व मशीन निर्माण आदि आधारभूत उद्योगों के विकास को प्राथमिकता दी जाएगी।

(4) छोटे एवं बड़े उद्योगों में समन्वय लाने के उद्देश्य से ग्रामीण क्षेत्रों में लघु उद्योगों के निर्माण पर ध्यान दिया जाएगा।

योजना में व्यय कार्यक्रम

इस योजना में सार्वजनिक क्षेत्र में 6,300 करोड़ रुपये एवं निजी क्षेत्र में 4,100 करोड़ रुपये व्यय करने थे। कुल योजना में 10,400 करोड़ रुपये व्यय करने के अतिरिक्त, 1,200 करोड़ रुपये चालू व्यय के लिए रखे गए। इस योजना के व्यय को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

योजना का व्यय कार्यक्रम

(करोड़ रुपये में)

मदें	सार्वजनिक क्षेत्र	निजी क्षेत्र	योग	प्रतिशत
1. संगठित उद्योग व खनिज	1,520	1,050	2,570	25
2. परिवहन व संवहन	1,486	250	1,736	17
3. कृषि व सामुदायिक विकास	660	800	1,460	14
4. विद्युत	1,012	50	1,062	10
5. इंवेंटरीज	200	600	800	8
6. सिंचाई	650	—	650	6
7. ग्रामीण व लघु उद्योग	150	275	425	4
8 सामाजिक सेवाएं व विविध	622	1,075	1,696	16
योग	6,300	4,100	10,400	100

(Source : चतुर्थ योजना, पृ० 30।)

योजना में अर्थ-प्रबंधन

तृतीय योजना की वित्त-व्यवस्था के स्वरूप को निम्न प्रकार से रखा जा सकता है—

योजना के वित्तीय साधन

(करोड़ रुपये में)

साधन	मूल व्यवस्था	संशोधित अनुमान
1. कराधान	550	—470
2. रेलवे अंशदान	100	80
3. सरकारी उपक्रम	450	395
4. जनता से ऋण	800	915
5. अल्पबचत	600	585
6. अनिधिक ऋण	265	340
7. अनिवार्य जमा	—	115

8. इस्पात समीकरण निधि	105	35
9. पूंजीगत प्राप्तियां	170	150
10. विदेशी सहायता	2,200	2,455
11. अतिरिक्त कराधान	1,710	2,880
12. हीनार्थ प्रबंधन	550	1,150
योग	7,500	8,630

(Source : चौथी पंचवर्षीय योजना—प्रारम्भिक रूपरेखा, योजना आयोग, पृ० 58।)

अतिरिक्त करों से 1,710 करोड़ रुपये की आय होने के अनुमान लगाए गए, जबकि वास्तव में 2,880 करोड़ रुपये की आय प्राप्त हुई। 5 वर्षों की इस अवधि में केंद्रीय व राज्य सरकारों को 1,150 करोड़ रुपये का बजट घाटा रहा। योजना में 2,455 करोड़ रुपये की विदेशी सहायता प्राप्त हुई।

प्रथम एकवर्षीय योजना 1966-67
(First One-year Plan 1966-67)

चीन एवं पाकिस्तान के साथ युद्ध होने से प्रतिरक्षा के सामानों में आत्मनिर्भरता प्राप्त करना आवश्यक समझा गया। युद्ध के कारण विदेशी सहायता प्राप्त करने में कठिनाइयां आयीं। सूखे के कारण देश में भारी खाद्यान्न संकट उत्पन्न होने से अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ा। कीमतों में निरंतर वृद्धि हुई तथा चतुर्थ योजना के लिए वित्तीय साधनों को एकत्रित करना कठिन समझा गया। अत: देश के उत्पादन में वृद्धि करने एवं अर्थव्यवस्था में स्थायित्व लाने के उद्देश्य से स्व० प्रधानमंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने यह निर्णय किया कि जब तक देश में आर्थिक स्थायित्व न हो जाए, उस समय तक एकवर्षीय योजनाओं का निर्माण किया जाए। इसी बात को ध्यान में रखते हुए 1966-67 से पृथक् योजनाएं निर्माण की गयी, जिन्हें एकवर्षीय आधार पर बनाया गया और चतुर्थ योजना जो 1 अप्रैल, 1966 से प्रारंभ की जानी थी, उसे कुछ समय के लिए स्थगित कर दिया गया। एकवर्षीय योजना का निर्माण देश में सूखे की स्थिति एवं युद्ध के खतरे को ध्यान में रखकर किया गया है।

1966-67 की एकवर्षीय योजना में 2,082 करोड़ रुपये व्यय करना निश्चित किया गया, जिसमें से 1,149 करोड़ रुपये केंद्रीय स्तर पर एवं 933 करोड़ रुपये राज्य स्तर पर व्यय करने थे।

योजना के उद्देश्य

इस योजना के प्रमुख उद्देश्य निम्न थे—

(i) तृतीय योजना की कमियों को ध्यान में रखते हुए वर्तमान संकटों को दूर करने के प्रयास करना।
(ii) भावी विकास के लिए एक उपयुक्त एवं स्थिर मार्ग का निर्धारण करना।
(iii) मुद्रा स्फीतिक स्थिति को दूर करने के प्रयास करना।
(iv) वर्तमान कठिनाइयों को दूर करके भावी विकास के लिए स्थिर स्थल का निर्माण करना।

योजना का व्यय कार्यक्रम

योजना का व्यय कार्यक्रम निम्न प्रकार निर्धारित किया गया—

व्यय कार्यक्रम

(करोड़ रुपये में)

व्यय मदें	केंद्र	राज्य	राज्य-शासित	योग
1. उद्योग एवं खदान	476.59	45.72	2.46	524.77
2. परिवहन व संचार	351.89	65 17	11.37	428.43
3. समाज सेवा	147.70	133 49	19.69	300.88
4. सिंचाई एवं शक्ति	54.28	396.25	14.17	464.70
5. कृषि एवं सामुदायिक विकास	43 54	278 56	10 45	332.55
6. विभिन्न	15 37	12 53	2.31	30.21
योग	1,089 37	931 27	60 45	2,081.54

वित्तीय व्यवस्था

2,082 करोड़ रुपये की योजना में से 1,488 करोड़ रुपये आंतरिक साधनों एवं 581 करोड़ रुपये विदेशी सहायता से प्राप्त होने थे। घाटे की व्यवस्था 13 करोड़ रुपये ही रखी गयी। इसी प्रकार राज्यों के 930 करोड़ रुपये के प्रावधान में से 509 करोड़ रुपये केंद्र द्वारा तथा शेष व्यवस्था राज्य स्वयं ही करेंगे।

द्वितीय एकवर्षीय योजना 1967-68
(Second One-year Plan 1967-68)

1967-68 की एकवर्षीय योजना के लिए 2,246 करोड़ रुपये की योजना का निर्माण किया गया जो प्रथम एकवर्षीय योजना की तुलना में 25 करोड़ रुपये अधिक थी। इस राशि में से 1,172 करोड़ रुपये केंद्र एवं 1,010 करोड़ रुपये राज्यों व 64 करोड़ रुपये केंद्रशासित प्रदेशों को दिया जाना निश्चित किया गया।

योजना का उद्देश्य

राष्ट्रीय आय में 20% से वृद्धि करने का उद्देश्य रखा गया। अनुमान लगाया गया कि राष्ट्रीय आय में 1967-68 में 1966-67 की अपेक्षा 4,600 करोड़ रुपये से अधिक वृद्धि होगी।

प्राथमिकताएं

इस योजना में कृषि एवं कृषि उपकरणों के उत्पादन को प्राथमिकता प्रदान की गयी व साथ ही परिवार नियोजन कार्यक्रम को भी प्राथमिकता की श्रेणी में रखा गया।

योजना का व्यय कार्यक्रम

इस योजना के व्यय कार्यक्रम को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

व्यय कार्यक्रम

(करोड़ रुपये में)

मदें	व्यय राशि
1. उद्योग	521
2. परिवहन एवं संचार	418
3. कृषि	523
4. विद्युत	384
5. शिक्षा	112
6 परिवार नियोजन	75
7. लघु-उद्योग	44
8. जल की पूर्ति	36
9. आवास	26
10. अनुसंधान	19
11. पिछड़ी जाति कल्याण	19
12. पुनर्वास	16
13. मजदूर कल्याण	15
14. ग्रामीण कार्य	7
15. सामाजिक कल्याण	5
16. अन्य कार्य	26
योग	2,246

12. सिंचाई	154.69
13. संगठित उद्योग	539.33
14. परिवहन एवं संदेशवाहन	426.19
15. अनुसंधान	22.03
16. जन-पूर्ति	33.81
17. पिछड़ी जातियों का कल्याण	20.02
18. श्रम-कल्याण एवं मिस्त्री प्रशिक्षण	13.73
19. पुनर्वास	14.65
20. अन्य कार्य	21.85
योग	2,337.41

योजना में वित्तीय व्यवस्था

2,337 करोड़ रुपये में से 1,154 करोड़ रुपये आंतरिक बजट साधनों एवं 876 करोड़ रुपये विदेशी साधनों से प्राप्त करने थे तथा शेष 301 करोड़ रुपये घाटे की व्यवस्था द्वारा पूर्ण करने थे। देश की माँग को ध्यान में रखते हुए इस राशि से कम राशि की योजना का निर्माण करना श्रेयस्कर नहीं समझा गया।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना
(Fourth Five-year Plan)

प्रथम पंचवर्षीय योजना में काफी सफलता मिली, द्वितीय योजना की प्रगति असंतोषप्रद रही और तृतीय योजना असाधारण रही। इस प्रकार नियोजन के 15 वर्षों की आर्थिक प्रगति का इतिहास सफलताओं एवं असफलताओं की मिश्रित कहानी है।

चतुर्थ योजना 1969 से 1974 तक की अवधि के लिए बनायी गयी। इस योजना में कुल 24,882 करोड़ रु० व्यय होंगे, जिसमें से 15,902 करोड़ रु० सरकारी क्षेत्र तथा 8,980 करोड़ रु० निजी क्षेत्र में व्यय करने थे।

योजना के उद्देश्य

चतुर्थ योजना के प्रमुख उद्देश्य निम्न थे—

(1) चौथी योजना (1969-74) में प्रगति दर की वृद्धि का लक्ष्य प्रतिवर्ष 5 से 6% रखा गया है। इस प्रकार 4 वर्षों की अनिश्चितता एवं वार्षिक योजना के बाद 5 वर्षों की योजना निश्चित हो पाई है, वह 1969 में शुरू हो गई थी।

(2) देश में स्थिरता निश्चित करके विकास की रुचि उत्पन्न करके अनिश्चितता को समाप्त करना व आत्म-निर्भरता प्राप्त करना।

(3) कृषि उत्पादन में उच्चावचन एवं विदेशी सहायता की अनिश्चितता को दूर करना।

(4) कृषि उत्पादन में वृद्धि के साथ-साथ देश में बफर स्टॉक का निर्माण करना तथा मूल्यों में स्थिरता लाने के प्रयास करना।

(5) समानता व सामाजिक न्याय में वृद्धि करके सामाजिक एवं आर्थिक प्रजातन्त्र स्थापित करना।

(6) धन व आय के केन्द्रीयकरण, तकनीकी बेरोजगारी एवं अर्द्ध-बेरोजगारी को रोकना।

(7) प्रशुल्क उपायों द्वारा आय की असमानता को दूर करने के प्रयास करना।

(8) आर्थिक व सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति करने हेतु अर्थव्यवस्था का तीव्र विकास उत्पादन के अधिक अवसर प्रदान करना।

(9) भूमिरहित कृषकों को उत्पादक-वर्ग में परिवर्तित करने के कुछ कार्यक्रमों को प्रारंभ करना।

(10) 14 वर्ष की आयु तक के बच्चों के लिए मुफ्त शिक्षा की सुविधाएं दी जाएंगी।

(11) औद्योगिक विकास कार्यक्रमों को पूर्ण करना, बाकी तकनीकी सहायता प्राप्त करना तथा औद्योगिक क्रियाओं में वृद्धि करना।

(12) देश में सहकारी ढांचे की व्यवस्था करना एवं पंचायतराज की स्थापना करना।

(13) सार्वजनिक उपक्रम के प्रबंध-व्यवस्था का पुनर्गठन करना।

योजना में व्यय-व्यवस्था

योजना में कुल 24,882 करोड़ रुपये व्यय करने होंगे। सार्वजनिक क्षेत्र के 15,902 करोड़ रुपये में से 13,655 करोड़ रुपये विनियोग पर तथा 2,247 करोड़ रुपये चालू मदों पर व्यय किए जाएंगे। निजी क्षेत्रों में 8,980 करोड़ रुपये विनियोग होंगे। इस प्रकार सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र में कुल विनियोग 22,635 करोड़ रुपये होगा। इसके अतिरिक्त 2,247 करोड़ रुपये चालू व्यय के सम्मिलित करते हुए कुल योजना का व्यय 24,882 करोड़ रुपये है। इस व्यय को पृष्ठ 648 पर दी गई तालिका द्वारा दिखाया जा सकता है।

योजना की वित्त-व्यवस्था

चतुर्थ योजना में 15,902 करोड़ रुपये में से 12,438 करोड़ रुपये घरेलू बजटरी साधनों, 2,614 करोड़ रुपये बाह्य सहायता और 850 करोड़ रुपये हीनार्थ प्रबंधन से प्राप्त किए जाएंगे। पिछली योजनाओं से तुलनात्मक अध्ययन करने पर इसे निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

वित्तीय व्यवस्था

(करोड़ रुपये में)

विवरण	तृतीय-योजना		तीन एकवर्षीय योजनाएं 1966-69		चतुर्थ योजना	
	राशि	प्रतिशत	राशि	प्रतिशत	राशि	प्रतिशत
1. घरेलू बजटरी साधन	5021	58.5	3648	54.0	12,438	78.2
2. बाह्य सहायता	2423	28.3	2426	35.9	2,614	16.5
3. हीनार्थ प्रबंधन	1133	13.2	682	10.1	850	5.3
योग	8577	100	6756	100	15,902	100

पंचम पंचवर्षीय योजना
(Fifth Five-year Plan)

यह योजना 1974 से 1979 तक की अवधि के लिए बनायी गयी थी। इस योजना में कुल व्यय 53,411 करोड़ रुपये होंगे, जिसमें से 37,250 करोड़ रुपये सार्वजनिक क्षेत्र एवं 16,161 करोड़ रुपये निजी क्षेत्र में व्यय होंगे। सार्वजनिक क्षेत्र में भी 31,670 करोड़ रुपये विनियोग पर एवं 5,580 करोड़ रुपये चालू व्ययों पर व्यय होंगे।

योजना के उद्देश्य

पंचम योजना के मुख्य उद्देश्य निम्न हैं—

(i) देश से गरीबी को दूर करना।

(ii) आर्थिक आत्मनिर्भरता प्राप्त करना।

विकास व्यय कार्यक्रम

(करोड़ रुपये में)

मद	सार्वजनिक क्षेत्र		निजी	सार्वजनिक व निजी क्षेत्र		
	चालू व्यय	विनियोग	विनियोग	कुल विनियोग	कुल व्यय	प्रतिशत
1. कृषि व सहायक क्षेत्र	610	2,118	1,600	3,718	4,323	17.4
2. सिंचाई व बाढ़ नियन्त्रण	14	1,073	—	1,073	1,087	4.4
3. शक्ति	—	2,448	75	2,523	2,523	10.1
4. ग्रामीण व लघु उद्योग	107	186	560	746	853	3.4
5. उद्योग व खनिज	40	3,298	2,000	5,298	5,338	21.4
6. परिवहन एवं संवहन	40	3,197	920	4,117	4,157	16.7
7. शिक्षा	545	278	50	328	873	3.5
8. वैज्ञानिक अनुसंधान	45	95	—	95	140	0.6
9. स्वास्थ्य	303	132	—	132	435	1.7
10. परिवार नियोजन	262	53	—	53	315	1.3
11. जल पूर्ति व सफाई	2	404	—	404	406	1.6
12. गृह, शहरी व क्षेत्रीय विकास	2	235	2,175	2,410	2,412	9.7
13. पिछड़ी जाति कल्याण	142	—	—	—	442	0.6
14. समाज कल्याण	41	—	—	—	41	0.2
15. श्रम-कल्याण	20	20	—	20	40	0.2
16. अन्य कार्यक्रम	74	118	—	118	192	0.8
17. इंवेंटरीज	—	—	1,600	1,600	1,600	6.4
योग	2,247	13,655	8,980	22,635	24,882	100

(iii) आर्थिक शक्ति के केंद्रीयकरण को रोकना।

(iv) आय व संपत्ति की असमानता को रोकना।

(v) क्षेत्रीय विकास को संतुलित करना।

(vi) एक स्वतंत्र व उचित समाज की स्थापना करना।

1974-75 से 1980-81 तक विकास दर 6.2% व उसके पश्चात् 6.5% रहेगी। जनसंख्या की वृद्धि जो 2.5% है यह घटकर 1.7% रह जाएगी।

योजना में व्यय-व्यवस्था

पंचम योजना में सार्वजनिक क्षेत्र में 37,250 करोड़ रुपये व्यय होंगे, जिसमें से 19, 17,073 करोड़ रुपये राज्य में तथा 600 करोड़ रुपये केंद्रीय क्षेत्र में व्यय होंगे।

सार्वजनिक क्षेत्र की व्यय-व्यवस्था को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

सार्वजनिक क्षेत्र में व्यय-व्यवस्था

विकास मदें	राशि	
1. कृषि व सिंचाई	7,411	
2. विद्युत	6,190	
3. खान व उत्पादन	8,939	
4. निर्माण	25	
5. परिवहन व संचार	7,115	
6. व्यापार एवं संग्रहण	205	0 6
7. आवास एवं जायदाद	600	1 6
8 बैंकिंग एवं बीमा	90	0.2
9. जन प्रशासन एवं सुरक्षा	98	0.3
10. अन्य सेवाएं	6,209	16.6
योग	36,882	100.0

भौतिक लक्ष्य

पांचवीं योजना के भौतिक लक्ष्य निम्न प्रकार हैं—

उत्पादन के भौतिक लक्ष्य

मद	इकाई	1973-74	1978-79
1. खाद्यान्न	लाख टन	1140	1,400
2. तैयार स्पात	„	54.4	94
3. मोटर गाड़िया	(संख्या)	90,000	1,00,000
4. स्कूल जाने वाले बच्चे	(लाखों में)	873	1,090
5. डॉक्टर एवं नर्सें	(हजारों में)	138+88	176+123
6. मोटरसाइकिल व स्कूटर	(संख्या)	1,84,000	5,70,000